CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

शार्ङ्गदेवकृत

संगीतरत्नाकर

'सरस्वती' व्याख्या और अनुवाद सहित

तृतीय खण्ड

व्याख्या और अनुवादकर्त्री

सुभद्रा चौधरी

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

१३वीं शताब्दी में लिखित शार्ङ्गदेव का 'संगीतरत्नाकर' भारतीय संगीत का अनुपम शास्त्रग्रन्थ है जिसमें सिद्धान्तों का ऐसा व्यवस्थित, सूक्ष्म और प्रामाणिक निरूपण हुआ है जैसा संगीत के किसी दूसरे ग्रन्थ में नहीं है। यह बाद के सभी ग्रन्थकारों को सर्वाधिक प्रभावित करने वाला, ग्रन्थ रचना का आदर्श नमूना, आलोचना का पात्र और सबसे ज़्यादा अध्ययन किया जाने वाला ग्रन्थ रहा है।

संस्कृत में लिखे गए संगीत के सबसे लम्बे ग्रन्थों में से एक, जिस पर सबसे ज़्यादा टीकाएँ लिखी गईं, जिसके कई संस्करण प्रकाशित हुए, उसका कई भाषाओं में अनुवाद हुआ और जिसके बिना संगीत के प्राचीन सिद्धान्तों को समझना संभव नहीं, ऐसे संगीतरत्नाकर के व्याख्या-सहित प्रामाणिक हिन्दी अनुवाद की, संगीत के छात्रों, शिक्षकों और शोधार्थियों के लिए, पिछले ३५ साल से ज़रूरत महसूस की जा रही थी जिसे प्रस्तुत ग्रन्थमाला पूरा करेगी।

चार खण्डों में प्रकाशित होने वाली इस ग्रन्थमाला का पहला खण्ड सन् २००० में और दूसरा खण्ड २००२ में निकल चुका है। पहले खण्ड में पहला स्वराध्याय और दूसरे खण्ड में दूसरे, तीसरे, चौथे अध्याय—क्रम से रागाध्याय, प्रकीर्णकाध्याय और प्रबंधाध्याय—मूल श्लोक, अन्वयसहित हिन्दी अनुवाद और लेखिका की 'सरस्वती' व्याख्या है।

यों तो ये सभी अध्याय वर्तमान संगीत से सीधे संबद्ध हैं और उस पर इनका गहरा प्रभाव भी है; इसलिए ये खण्ड संगीत की क्रिया और शास्त्र के अध्ययन में प्रवृत्त तथा रुचि रखने वाले छात्रों, शिक्षकों और अध्येताओं के लिए उपयोगी हैं। लेकिन पाँचवें और छठे अध्याय भी वर्तमान संगीत के लिए विशेष महत्त्व रखते हैं। भारतीय संगीत की दो सर्वोपरि विशेषताओं—राग और ताल—में से ताल पाँचवें अध्याय का विषय है जिसमें ताल का सांगोपांग निरूपण हुआ है। नाट्यशास्त्र की परम्परा से चले आये मूल तत्त्वों और सिद्धान्तों का मार्गताल प्रकरण में विवेचन करके देशीतालों का स्वरूप और उन्हें जानने के उपायों के रूप में 'प्रत्ययों' का ग्रंथकार ने निरूपण किया है। इससे एक ओर तो ताल के प्राचीन स्वरूप का और १३वीं सदी तक हुए परिवर्तनों का रूप और संबंध उजागर होता है और दूसरी ओर भावी विकास का मार्ग खुलता है। संगीतरत्नाकर तक के इस मूल तने से कितने विविध प्ररोह विकसित हुए यह भारत के विभिन्न प्रदेशों और अंचलों के वर्तमान ताल प्रयोग में लक्षित होता है जो भारतीय संस्कृति की अनेकता में एकता की विशेषता के प्रमाण देते हैं।

अवनद्ध वाद्यों की वादनशैली भारत की निजी और अप्रतिम विशेषता है जो विशिष्ट और सामान्य तथा भारतीय और भारतेतर सभी प्रकार के श्रोताओं के लिए आकर्षक और आश्चर्यजनक रही है। छठे वाद्याध्याय में अवनद्ध के अलावा तत, सुषिर और घन वाद्यों का भी ग्रन्थकार ने उनके स्वरूप और वादनविधि सहित निरूपण किया है। हमें विश्वास है कि पिछले दो खण्डों की तरह इस तीसरे खण्ड का भी संगीत जगत् में स्वागत होगा।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

5.2

AUTHOR COPY

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

संगीतरत्नाकर

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

शार्ङ्गदेवकृत

संगीतरत्नाकर

('सरस्वती' व्याख्या और अनुवाद सहित)

तृतीय खण्ड

पाँचवाँ, छठा अध्याय

AUTHOR COPY

व्याख्या और अनुवादकर्त्री

सुभद्रा चौधरी

राधा पब्लिकेशन्स

नई दिल्ली

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

© लेखिका

प्रथम संस्करण—२००६
ISBN 81–7487–409–7

राधा पब्लिकेशन्स
4231/1बी अंसारी रोड,
दरियागंज, नई दिल्ली-2
फ़ोन : 23261839, 23254306

नितिन गर्ग द्वारा राधा पब्लिकेशन्स के लिए प्रकाशित।
जे० आर० टाइपसैटर, खजानी नगर, जौहरीपुर, दिल्ली-94
द्वारा शब्द संयोजन तथा दीपक ऑफ़सेट प्रिंटर्स में मुद्रित।

SANGĪTARATNĀKARA : *by Subhadra Chaudhary*

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

मेरी मित्र

भगिनिवत्, प्राध्यापिका और शोधनिर्देशिका

उन

परम आदरणीया

स्व० प्रो० प्रेमलता शर्मा

को समर्पित

जिन्होंने मुझे

'बलात्' संगीतशास्त्र के क्षेत्र में खींच कर

मेरे कार्य को दिशा दी

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अनुक्रमणिका

		पृष्ठसंख्या
१. भूमिका		(९-२१)
२. संकेत-सूची		(२२)
३. विषय-सूची		(२३-४२)
४. मूलपाठ, अन्वय, व्याख्या		१-५५०
पाँचवाँ अध्याय	१-२४६	
छठा अध्याय	२४७-५५०	
५. संदर्भग्रन्थ-सूची		(५५१)

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

भूमिका

संगीतरत्नाकर के दूसरे खण्ड की भूमिका में भारतीय संगीत की राग और ताल—इन दो विशेषताओं का उल्लेख किया गया है। भारतीय संगीत में गायन की प्रमुखता रही है। लक्षणबद्ध हुए गायन की मुख्य सामग्री स्वर, स्वरसमूह (स्थाय), गमक, राग, आलप्ति, गीत (प्रबन्ध) आदि हैं जिनका निरूपण ग्रन्थकार ने पहले से चौथे अध्यायों में किया।

गायन, वादन और नृत्य को आधार और प्रतिष्ठा की प्राप्ति ताल में ही होती है और वही इनकी क्रिया को काल की सीमा में बाँध कर रखता है, इन्हें नापता है इसलिए ताल प्रतिष्ठापक है, मापक है। इस दृष्टि से वह इन तीनों के लिए अनिवार्य है। यही कारण है कि शार्ङ्गदेव ने वादन और नर्तन का निरूपण शुरू करने से पहले पाँचवें अध्याय में ताल और उससे संबद्ध विषयों का निरूपण किया।

संगीत के लक्षण 'गीतं वाद्यं तथा नृत्तं त्रयं संगीतमुच्यते' में गीत के बाद वाद्य को विशेष कारण से स्थान दिया गया है। यद्यपि संगीत की अभिव्यक्ति मूलतः मनुष्य कण्ठ से होती है और वाद्य उसके अनुगामी, अनुकरणात्मक अथवा सहयोगी के रूप में कार्य करता है; लेकिन गीत यानी गायन अकेला, स्वतन्त्र रूप में पूरी तरह संपन्न नहीं होता। उसके संपूर्ण उत्कर्ष के लिए वादन आवश्यक है। इसलिए शार्ङ्गदेव ने ताल के बाद वाद्य को लिया। संगीतरत्नाकर के प्रस्तुत खण्ड में इन्हीं दोनों विषयों से संबद्ध दो अध्याय हैं—पाँचवाँ तालाध्याय, जिसमें ४१०$\frac{१}{२}$ श्लोक हैं और छठा वाद्याध्याय, जिसमें १२२१ श्लोक हैं। इस प्रकार प्रस्तुत खण्ड में १६३१$\frac{१}{२}$ श्लोक हैं।

किसी वस्तु का नीचे रहने वाला भाग तल कहलाता है जो वस्तु को अपने ऊपर धारण करता है जैसे, पदतल, पृथ्वीतल आदि। संगीत की किसी भी क्रिया में आधार रहने के कारण 'तल' शब्द ताल के संदर्भ में सार्थक है। ताल गीत, वाद्य आदि से अलग रहकर नहीं बल्कि इनमें अनुस्यूत रूप में अपना कार्य करता है। मूलतः हाथ की क्रियाओं और घनवाद्य के द्वारा ही ताल संपन्न होता है इसलिए भरत ने नाट्यशास्त्र (ना०शा०) में तालाध्याय के पहले श्लोक में काललक्षण घनवाद्य और हाथ की कला-पात आदि क्रियाओं के द्वारा दिया।

शार्ङ्गदेव का मुख्य प्रतिपाद्य देशी संगीत है। लेकिन देशी के सारे मौलिक तत्त्व मार्ग में हैं इसलिए मार्ग और देशी—यों ताल दो प्रकार का कहकर ताल के सारे तत्त्वों का निरूपण मार्ग में करके उसके बाद देशीताल को लिया। देशी में कोई नया तत्त्व या सिद्धान्त नहीं कहा लेकिन देशीतालों के लक्षण दिये और 'प्रत्यय' कहे जो तालभेदों के स्वरूप आदि को जानने के सरल उपाय कहे गये।

मार्गताल प्रकरण में काललक्षण, क्रिया, पात (सशब्द क्रिया), कला (निःशब्द क्रिया), मार्ग, मार्गकला, मात्रा, चतुरश्र-त्र्यश्र ताल, पाँच मार्गताल, उनके एककल आदि भेद, संकीर्ण और खण्ड भेद, आवृत्ति, त्रिविधलय, यति, ग्रह, चौदह प्रकरणगीत—इतने विषयों का निरूपण ग्रन्थकार ने किया है।

मार्ग-देशी में ताल की इकाइयों के नाम लघु, गुरु, प्लुत छंद से आए लेकिन ताल और छन्द की इन इकाइयों के नाप में भिन्नता है। ताल में ये छन्द से पाँच गुनी होती हैं। पहले इनमें से हर इकाई का अपना स्वतन्त्र नाप था लेकिन ये आनुपातिक रूप में परस्पर संबद्ध थीं। भाषा के ५ लघु अक्षर के उच्चारण में लगने वाले काल के नाप वाली इकाई लघु थी, १० अक्षर के बराबर गुरु और १५ के बराबर प्लुत (यानी लघु की दुगनी गुरु और लघु की तीन गुनी प्लुत) इकाई थी। इनमें से किसी भी

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

एक का मूल काल कम या ज़्यादा होने पर शेष दो का काल उसी अनुपात में कम-ज़्यादा हो जाता था। लेकिन आज उत्तर भारतीय और कर्णाटक दोनों पद्धतियों में सारी इकाइयाँ बराबर हैं। कर्णाटक पद्धति में सैद्धान्तिक रूप से इनके नाप भिन्न हैं लेकिन प्रयोग में समान हैं।

पाश्चात्य और दूसरी संगीत पद्धतियों में घात (beat) को लय माना जाता रहा है। लेकिन भारतीय संगीत में लय की धारणा को अलग ढंग से परिभाषित किया है। शार्ङ्गदेव ने लय को क्रिया के साथ जुड़ी हुई विश्रान्ति अर्थात् एक क्रिया और दूसरी क्रिया के बीच के काल के रूप में, जो पहली क्रिया का विस्तार होता है, व्यक्त किया। वास्तव में इस क्रिया या विस्तार के बिना क्रिया का अस्तित्व ही संभव नहीं है। यह विश्रान्ति जितनी कम हो लय उतनी ही द्रुत होती है और विश्रान्ति जितनी ज़्यादा हो लय उतनी ही धीमी यानी विलंबित होती है। लय तीन कही गईं—द्रुत, मध्य और विलंबित जो उक्त अर्थ में क्रमशः दुगनी-दुगनी होती हैं। लयों का कई क्रमों में प्रयोग हो सकता है। इन क्रमों को यति कहा गया। यतियों में द्रुत से सीधे विलंबित या विलंबित से सीधे द्रुत लय का प्रयोग मार्ग पद्धति में दिखाई नहीं देता। आज भी ताल की उत्तरभारतीय और कर्णाटक पद्धतियों में इसका पालन होता है।

गीत, वाद्य आदि के साथ ताल की उठान को ग्रह कहा गया जो दो तरह से हो सकता है—एक साथ यानी समग्रह और आगे-पीछे यानी विषमग्रह। विषम में ताल की उठान पहले या बाद में हो सकती है इसलिए पहले ग्रहण वाले ग्रह को अतीत कहा क्योंकि ताल उठने यानी बीतने (अतीत होने) पर गीतादि का ग्रहण होता है। और बाद में ताल के ग्रहण वाला ग्रह अनागत कहा गया क्योंकि ताल आया नहीं और गीत पहले ही उठ गया। यह पक्ष गीतादि के बिल्कुल प्रारंभस्थान के साथ ताल के ग्रहण के संबन्ध का सूचक प्रतीत होता है। इसका एक पक्ष और भी है। एक ही गीत में अलग-अलग तालों के प्रयोग के समय एक ताल के समाप्त होने पर दूसरे ताल के प्रयोग में सम, अतीत, अनागत जैसा ग्रहण हो सकता है। भरतोक्त गीतकों में एक ही गीतक में अलग-अलग खण्डों में अलग-अलग तालों का प्रयोग कहा गया है। उनमें संभवतः इस तरह एक ही गीतक में ग्रह के इन प्रकारों का प्रयोग होता हो। ना०शा० में ग्रह शब्द के स्थान पर पाणि शब्द प्रयुक्त हुआ है जिसके तीन प्रकार हैं—समपाणि, अवपाणि और उपरिपाणि। ग्रह के तीन प्रकार इनके समकक्ष हैं। लेकिन इसका तीसरा पक्ष भी है। एक ही गीत में बलस्थान के परिवर्तन से भी ग्रहभेद की अनुभूति करना संभव है जिसे वर्तमान लक्ष्य में भी देखा जा सकता है।

ताल के तत्त्वों और स्वरूप का प्रत्यक्षीकरण गीतकों में होता है इसलिए शार्ङ्गदेव ने मार्गताल प्रकरण में गीतकों का लक्षण-निरूपण भी किया जो भरत के अनुसार है। गीतकों में लक्षण के अंतर्गत विभिन्न आचार्यों के मत-मतान्तरों का निर्देश भी किया है और लगभग सभी प्रमुख गीतकों के प्रस्तार भी दिए हैं।

संगीतसंबन्धी प्राप्त ग्रन्थों में ना०शा० पहला ग्रंथ है जिसमें गीतकों का विस्तृत निरूपण है। स्वर, ताल और पदबद्ध गीतों के रूप में सर्वप्रथम गेय रचनाएँ गीतक ही हैं। पूर्वरंग में गीतकों का नृत्त, अभिनय तथा वाद्य के साथ प्रयोग होता था और इसके दो प्रयोजन थे—एक, ईशस्तुति यानी अदृष्ट फल की प्राप्ति और दूसरा, विभिन्न परिस्थितियों में से आए सामाजिकों के चित्त को नाट्य के प्रति एकाग्र करके उनका रंजन करना यानी दृष्ट फल की प्राप्ति। स्वर और शिवस्तुति के पद गीतकों का अनिवार्य अंग होते हुए भी इनमें ताल ही प्रधान है क्योंकि उनका पूरा ढाँचा ताल के द्वारा दिया गया है जो अपरिवर्तनीय है, स्वररचना और पदयोजना में प्रयोक्ता स्वतन्त्र है। इसीलिए भरत और शार्ङ्गदेव ने इनका निरूपण तालाध्याय में ही किया। वास्तव में गीतक और ताल परस्पर अवलंबित और एक दूसरे के स्वरूप के पूरक हैं।

शार्ङ्गदेव द्वारा दिए गए गीतकों के स्वरूप या लक्षणों में भरत से कोई तात्त्विक अन्तर नहीं है लेकिन ना०शा० में नाट्य के प्रयोग पक्ष के द्वारा लक्षणनिरूपण हुआ है और संगीतरत्नाकर (सं०र०) लक्षणग्रन्थ है इसलिए सीधे लक्षण का निरूपण हुआ है। ना०शा० में गीतकों के लक्षण कई अध्यायों में फैले हुए हैं, सं०र० में तालाध्याय में ही पूरे लक्षण एक साथ और बहुत स्पष्ट रूप में दिए गए हैं। लेकिन गीतकों के प्रस्तार बहुत अशुद्ध हैं और अधिकांशतः शाब्दी लक्षणों के अनुरूप नहीं हैं।

जैसे वर्तमान रागपद्धति प्राचीन राग से संबद्ध है उसी तरह वर्तमान ताल-प्रयोग भी प्राचीन पद्धति से जुड़ा हुआ है, यद्यपि कुछ शब्द बदल कर नये शब्द आ गए हैं या उनके अर्थ किसी अंश में बदल गए हैं। क्रियात्मक रूप में भी कुछ भिन्नता आई

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

है। ताली, घातम् के रूप में सशब्द क्रिया; खाली, उँगली गिनना या विसर्जितम् आदि में निःशब्द क्रिया; उठान में ग्रह; अवनद्ध के वादन में विविध लयों के प्रयोग में यति; मात्रा, आवृत्ति या आवर्तन, त्रिविध लय आदि आज भी प्रयुक्त होते हैं। मार्ग पद्धति में जैसे बड़ी मात्रा को धारण करने के लिए ध्रुवका, सर्पिणी आदि क्रियाएँ की जाती थीं उसी तरह आज भी लम्बी मात्रा को भरने के लिए वाद्यों में कई आघात किए जाते हैं, अवनद्ध में 'बोल' भरे जाते हैं या हाथ पर ताल की मूल ताली-ख़ाली या घातम् के बाद उँगलियों से गिनना आदि क्रियाएँ की जाती हैं।

तबला आदि अवनद्ध वाद्यों के वादन में उत्तर में दो रूपों में यति प्रयोग स्पष्ट दिखाई देता है—१. पेशकार, क़ायदे, रेले के वादन में और २. त्रिपल्ली, चौपल्ली जैसी रचनाओं में। पेशकार विलंबित में और उसके प्रकार मध्य लय में; क़ायदा मध्य लय में तथा उसके 'पल्टे' द्रुत में; रेला द्रुत में और उसके पल्टे द्रुततर लय में बजाए जाते हैं। त्रिपल्ली, चौपल्ली में एक ही रचना में तीन या चार लयों में वादन विलंबित से मध्य और द्रुत की ओर तथा उसके उल्टे क्रम में भी होता है।

भरत ने ताल का प्रयोग हाथ की क्रियाओं और घनवाद्य के द्वारा कहा। शार्ङ्गदेव ने देशीताल प्रकरण के शुरू में ही कहा कि देशीताल का प्रयोग कांस्यताल (घनवाद्य) के द्वारा माना गया है। मार्गप्रकरण में यह भी कहा कि गायक को भूल से बचाने के लिए गान्धर्व (संगीत) की पद्धति में कुशल एक कांस्यतालधर को गायक की सहायता करनी चाहिए। अभिनवगुप्त ने यह पक्ष भी रखा कि हाथ से की जा रही तालक्रियाओं को गायक, वादक, नर्तक द्वारा देखते रहना संभव नहीं और ऐसा होने पर सबके प्रयोग यानी सबकी क्रियाओं में साम्य न रहे, यह संभव है। अभिनव के कथन को यों समझें कि व्यावहारिक रूप में गायक-वादक हर समय हाथ की क्रियाओं को देखते नहीं रह सकते; नर्तक-नर्तकी तो देख ही नहीं सकते। दूसरे, हाथ की सशब्द क्रियाओं की ध्वनि उतनी स्पष्ट नहीं सुनाई देती जितनी घनवाद्य की। सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि संगीत का प्रयोजन रंजन है जो हस्तक्रियाओं से नहीं हो सकता लेकिन अनुरणन के कारण घनवाद्य का नाद तो स्वतः रंजक ही होता है। इस प्रकार घनवाद्य रंजक रूप में संगीत के काल को नापने और उसे समय से बाहर न होने देने का कार्य करता है।

मार्गताल ५ ही थे—चच्चत्पुट, चाचपुट, षट्पितापुत्रक, संपक्वेष्टाक और उद्घट्ट। लेकिन अभिनव ने भंग, उपभंग, लय आदि अनेक तालों का उल्लेख किया जिनका उपयोग ध्रुवाओं (नाट्य के अंतर्गत गाए जाने वाले छन्दबद्ध गीतों) में होता था। भरत के अनुसार प्रस्तारविधि (किसी ताल-अवयव को खंडित करके उन्हें उलट-पुलट करके नए तालों की रचना की विधि) से सिर्फ़ चच्चत्पुट के ही लाखों भेद बन सकते थे। शार्ङ्गदेव ने चच्चत्पुट आदि के अवयवों को खंडित करने से बनने वाले भेदों को खण्डताल कहकर स्पष्ट रूप से देशीताल संज्ञा दी क्योंकि अवयव खंडित करके प्राप्त नए अवयवों का स्वेच्छानुसार संयोजन किया जा सकता था जो देशीसंगीत का धर्म है।

मध्ययुगीन विभिन्न ग्रन्थों में देशीतालों की संख्या कम-ज़्यादा दिखाई देती है। सबसे अधिक भावभट्ट के अनूपसंगीतविलास में २४४ ताल हैं। शार्ङ्गदेव ने सिर्फ़ १२० तालों के लक्षण दिए हैं। उनमें भी अपने उपनाम या नाम से अंकित निःशंकलील, निःशंक और शार्ङ्गदेव ताल हैं जो इस तथ्य को प्रकट करता है कि देशी में तालों की संख्या घटती-बढ़ती रही और विभिन्न ग्रन्थकारों ने ज़्यादा प्रचलित तालों के या अपनी रुचि के अनुसार काललक्षण दिये। इससे यह भी व्यक्त होता है कि देशी में स्वेच्छानुसार प्रयोग की छूट के कारण प्रयोक्ता नए तालों की रचना और नामकरण भी कर सकते थे।

सं०र० में दिए गए देशीतालों के प्रस्तारों में वर्तमान मात्रा के अनुसार डेढ़, पौने दो, सवा दो, ढाई, साढ़े तीन, सवा चार, पौने पाँच, सवा पाँच, साढ़े पाँच आदि भिन्नांक वाले कई ताल हैं। उनमें से कुछ ऐसे भी हैं जिनमें मात्रासंख्या तो बराबर है लेकिन उनका विभाजन अलग और विषम है। जैसे—डेढ़ मात्रा वाले ताल में $\frac{३}{४} + \frac{३}{४} = १\frac{१}{२}$ और $\frac{१}{२} + १ = १\frac{१}{२}$।

प्रत्ययों के द्वारा ताल के इन विविध पक्षों का बोध होता है—एक या ज़्यादा अवयवों के आधार पर बनने वाले अधिकतम भेदों की संख्या, किसी अवयव के कुल प्रस्तारों में से कितने-कितने किस-किस अवयव से अंत होते हैं, किसी ताल के कुल प्रस्तारों में से किसी विशेष संख्या के प्रस्तार का स्वरूप और उसे जानना, प्रस्तार विशेष की संख्या और उसे जानना, किसी अवयव के सारे प्रस्तारों में कुल द्रुत, कुल लघु आदि जानना और प्रस्तारों में द्रुतहीन और द्रुतयुक्त, लघुहीन और लघुयुक्त, गुरुहीन और गुरुयुक्त, प्लुतहीन और प्लुतयुक्त प्रस्तारों की संख्या, किसी ताल के प्रस्तारों की संख्या और उसमें एक या ज़्यादा अवयवों से

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

बनने वाले प्रस्तारों की संख्या दोनों का एक साथ बोध, द्रुत आदि मेरुओं में से किसी के खण्ड के आधार पर किसी अवयव के प्रस्तार बनाना आदि। लेकिन इनका निरूपण ग्रन्थकार ने इतने संक्षेप में किया है कि सिर्फ़ मूल के आधार पर उन्हें समझना असंभव है। दोनों टीकाकारों ने उदाहरण के साथ व्याख्या की है लेकिन कहीं-कहीं सिर्फ़ भाषांतर किया है और कई अंश सुगम कहकर व्याख्या नहीं की इसलिए कई शंकाओं और समस्याओं का समाधान टीकाओं से भी नहीं होता।

इनके अलावा भी ताल संबंधी अनेक पक्षों का निरूपण हुआ है। यहाँ जो संक्षिप्त रूपरेखा दी गई उससे यह अनुभव किया जा सकता है कि संगीत के कालमान संबन्धी सभी मूल तत्त्वों का बड़ा सूक्ष्म विश्लेषण भारतीय शास्त्रग्रन्थों में किया गया है और उसके लिए प्रतिष्ठित पारिभाषिक शब्दावली रही है। शार्ङ्गदेव ने सभी उपलब्ध ग्रन्थों और ग्रन्थकारों के मतों का सार निकाल कर सं०र० में निरूपण किया है।

बहुत प्राचीन काल से भारत में वाद्यों के ४ वर्ग मान्य रहे हैं—तत, सुषिर, अवनद्ध और घन। ना०शा० में, जो संगीत संबन्धी सभी विषयों का निरूपण करने वाला प्राचीनतम उपलब्ध ग्रन्थ है, यही चार प्रकार के वाद्य कहे गये हैं हालाँकि ये वर्ग ना०शा० से पहले से चले आ रहे हैं। सं०र० के वाद्याध्याय के शुरू में इन्हीं का उल्लेख है।

पश्चिमी देशों में वाद्यों को तीन वर्गों में रखा गया—strings (तंत्री वाले वाद्य), winds (फूँक वाले वाद्य) और percussions (चमड़े से मढ़े हुए अवनद्ध और ठोस यानी घन वाद्य)। लेकिन यह वर्गीकरण अलग-अलग प्रकार के वाद्यों में ध्वनि की उत्पत्ति के माध्यम से संबन्धित नहीं था। १९वीं शताब्दी के मध्य में अमेरिका में नए दृष्टिकोण से ४ वर्गों में वाद्यों का वर्गीकरण हुआ—chordophones, aerophones, membranophones और ideophones। इसका आधार था ध्वनि-उत्पादक माध्यम यानी किस साधन पर आघात से ध्वनि उत्पन्न होती है। chord यानी तार पर आघात से, air यानी, नली में भरी वायु पर आघात से, membrane यानी चमड़े या झिल्ली पर आघात से, ideophone यानी ठोस माध्यम पर आघात से, Electrophones का एक और वर्ग २०वीं शताब्दी में जोड़ा गया, electricity यानी बिजली के माध्यम से आघात होने पर। क्रम से उक्त पाँच वर्ग कहे गए। यह वर्गीकरण सबसे ज़्यादा वैज्ञानिक माना गया।

भारतीय और अमेरिकी वर्गीकरण पर दृष्टि डालें तो अमेरिका का वर्गीकरण; electrophone को छोड़ कर, ठीक भारतीय वर्गीकरण के समकक्ष है। इससे यह प्रमाणित होता है कि भारतीय वर्गीकरण विश्व का प्राचीनतम और पूरी तरह वैज्ञानिक वर्गीकरण है।

शार्ङ्गदेव ने वाद्यों के तीन प्रयोजन बताये—१. गीत यानी सांगीतिक रचना के स्वर पक्ष (स्वररचना) को उत्पन्न करना; २. गीत का रंजन करना यानी उसे ज़्यादा रंजक बनाना, समृद्ध करना, उसमें उत्कर्ष लाना, आनन्ददायक बनाना; और ३. गीत के काल का माप करना। ये तो हुए अलग-अलग वर्ग के प्रयोजन। लेकिन सामान्य रूप से सभी वाद्यों के दो प्रयोजन और भी कहे—रंगस्थल पर गायक-नर्तक आदि को विश्रान्ति देना। आज भी गायक और नर्तक बीच में जब रुकते हैं तो वादक अपने वादन द्वारा बीच के काल को भरते हैं। दूसरा प्रयोजन यह है कि गान और नृत्त में कोई भूल होने या कमी आने पर उसे ढकना और उभरने न देना। इन प्रयोजनों के अलावा लोकजीवन में अनेक कार्यों और विभिन्न प्रसंगों के साथ वाद्यों का सहचार बताया गया। जैसे—राजाओं के राज्याभिषेक में, जुलूस, उत्सव, मंगल कार्य, उपनयन आदि संस्कार, उत्पात की सूचना, अव्यवस्था, युद्ध, नाटक में विभिन्न रसस्थितियों आदि में। प्राचीन शिल्पों और भित्तिचित्रों में इनमें से कुछ को स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। लेकिन यह भी कहा गया कि लोकधर्म यानी लोक में होने वाले वाद्य प्रयोग का अतिक्रमण कहीं नहीं होना चाहिए।

भारत जैसे विशाल देश के विभिन्न प्रदेशों में इतने वाद्य प्रचलित रहे हैं कि सबका निरूपण सं०र० जैसे ग्रन्थ में संभव नहीं क्योंकि यह संग्रह ग्रन्थ नहीं, लक्षण ग्रन्थ है। इसलिए शार्ङ्गदेव ने चारों वर्गों के प्रमुख वाद्यों के लक्षण दिये हैं। यद्यपि वाद्य की बनावट के छोटे-से छोटे ब्योरे भी ग्रन्थकार की नज़र से नहीं छूटे हैं लेकिन इतने संक्षेप में लक्षण दिये हैं कि आज उन्हें पूरा-पूरा समझना बहुत कठिन है।

वाद्यों के विभिन्न अवयवों के नाप पर्व (अँगूठे या उँगली की पोर), अंगुल, वितस्ति (बालिश्त/बित्ता), हस्त (हाथ) आदि के द्वारा दिये हैं जो शरीर के विभिन्न अवयवों के सूचक हैं। ये शब्द दैनिक व्यवहार के हैं और इनके नाप व्यक्तिभेद से भिन्न

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

हो सकते हैं। इसलिए नाप के संदर्भ में इनकी प्रामाणिकता क्या है, यह प्रश्न उठता है। इस बारे में यह उल्लेखनीय है कि शिल्पशास्त्र और वैदिक अनुष्ठान में यज्ञवेदी के निर्माण में भी अंगुल आदि नापसूचक शब्द हैं। उनके नियत नाप ज़रूर रहे होंगे अन्यथा मन्दिर आदि विशाल आकारों और उनके अपेक्षित स्वरूप का निर्माण संभव नहीं था। अंग्रेज़ी में प्रयुक्त foot शब्द का अर्थ है पैर जिसका अंगुल, पोर आदि की तरह भिन्न-भिन्न नाप हो सकता है। लेकिन foot भी एक निश्चित नाप को सूचित करता है।

सं०र० में वाद्य प्रयोग के सभी पक्षों को लिया गया है। वाद्यों का प्रयोग चार प्रकार का बताया गया है—१. गीत, नृत्त के बिना केवल वाद्य 'शुष्क' कहा गया है, क्योंकि अकेला वाद्य रूखा यानी सम्मिलित प्रयोग के समान आनन्दायक नहीं समझा गया। २. गान का अनुगत 'गीतानुग', ३. नृत्त का अनुगत 'नृत्तानुग' और ४. दोनों का उत्कर्ष समान होने की स्थिति में उसके साथ होने वाला वाद्य 'द्वयानुग'।

गीत (गायन) और वाद्य (वादन) के एक साथ प्रयोग में कभी गीत का और कभी वाद्य का उत्कर्ष ज़्यादा होता है। इसे प्रधानता-गौणता के रूप में तीन 'वृत्तियों' के द्वारा लक्षित किया। वाद्य की प्रधानता से चित्रावृत्ति, गीत की प्रधानता से दक्षिणा वृत्ति और दोनों की समान स्थिति में 'वृत्ति' नामक वृत्ति होती है।

गायन के साथ वादन के इस पक्ष का विश्लेषण भी 'गीतानुगवाद्य' के द्वारा किया गया कि वाद्य गीत का अनुसरण किस प्रकार करता है। अगर वाद्य गीत के लय, ताल, विराम, गीति (स्वरपक्ष), गीत के शब्द आदि के ठीक साथ-साथ बिल्कुल वैसा ही वादन करे जिससे वादन में गीत की ही अनुभूति हो तो 'तत्त्व' वाद्य कहलाता है। उदाहरण के लिए—वाद्य पर राष्ट्रगीत 'जनगणमन' बजाए जाते समय वाद्य में वही गीत सुनाई देता है। अगर गीत का पूरा-पूरा यानी ठीक वैसा ही नहीं बल्कि कुछ-कुछ अनुसरण करे तो वह 'अनुगत' वाद्य होता है। जैसे—गीत में जहाँ शब्दों की मध्यलय हो वहाँ वाद्य में द्रुत लय में आघात हों। यदि गीत के हर अक्षर का नहीं बल्कि समूह का अनुकरण करके लगातार द्रुत आघात करते हुए गीत का कहीं-कहीं अनुकरण हो तो वह 'ओघ' वाद्य होता है।

'निर्गीत' के रूप में ऐसी दस वाद्य रचनाएँ भी वाद्याध्याय में दी गई हैं जो मूलतः गेय थीं लेकिन बाद में उनमें से सार्थक पद निकालकर उन अक्षरों के स्थान पर नियत आघात प्रयुक्त करके उनका स्थूल रूप प्रस्तुत किया गया। ना०शा० में ये गेय रूप में निरूपित हैं लेकिन सं०र० में ये विशुद्ध वाद्य रचनाएँ हैं। इन्हें 'बर्हिर्गीत' भी कहा गया।

ऊपर कहे गये वाद्य के जिन पक्षों का निरूपण हुआ उनसे गायन-वादन के परस्पर संबन्ध पर प्रकाश पड़ता है और यह भी प्रकट होता है कि वाद्यों और वादन का बहुत विकास होने के बावजूद गायन की प्रमुखता रही।

तत या तन्त्री वाद्य

तन्त्री वर्ग में विभिन्न प्रकार के वाद्य हैं जिनमें लकड़ी, बाँस आदि की डाँड वाले, चार कोने वाले चपटे बक्स जैसे आकार वाले, धनुष के आकार वाले आदि। प्राचीन व मध्ययुगीन ग्रन्थों में तंत्री वाद्यों के लिए एक सामान्य संज्ञा 'वीणा' है इसलिए प्रायः तत वाद्यों के लिए वीणा शब्द का ही प्रयोग होता आया है।

एकतन्त्री डाँड पर बँधे ताँत के एक तार, एक तूँबे, बिना सारिका (पर्दे) वाली वीणा है जो प्राचीन शिल्प और चित्रों में बहुत अंकित हुई है। ग्रन्थकार ने इसका निरूपण सबसे पहले किया है जिसमें एक ही तार के विभिन्न स्थानों पर दबाकर अलग-अलग स्वर उत्पन्न किए जाते हैं। इस वर्ग में सारिका वाली और बिना सारिका वाली दोनों तरह की वीणा हैं, तूँबे वाली और बिना तूँबा लगी हुई भी हैं।

आलापिनी बाँस की डाँड, एक तूँबे, बकरे की आँत की एक तन्त्री और संभवतः बिना सारिका वाली है। मानसोल्लास और संगीतसमयसार में दिये गये लक्षणों से प्रतीत होता है कि इसका प्रचलित नाम आलवणी था। छठी से आठवीं शताब्दी के बीच बृहद्देशी के रचयिता मतंग किंनरी के आविष्कारक और किंनरीवादक माने जाते हैं। इस वीणा को मतंगकिंनरी भी कहा जाता है। बृहद्देशी का वाद्याध्याय आज उपलब्ध नहीं है इसलिए मतंग की किंनरी का क्या स्वरूप रहा होगा यह जानना संभव नहीं है। लेकिन शार्ङ्गदेव ने एकतन्त्री और किंनरी का लक्षण सबसे ज़्यादा विस्तार से दिया है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

किंनरी दो तरह की है—मार्गकिंनरी और देशीकिंनरी। इनमें मुख्य अन्तर नाप का है, देशी की अपेक्षा मार्ग बड़ी होती हैं। मार्ग लघ्वी में दो और बृहती में तीन तूँबे होते हैं। देशी किंनरियों में दो तूँबे होते हैं। भारतीय तंत्रीवाद्यों में यह सारिका वाली पहली वीणा मानी जाती है जिसमें सारिकाएँ अचल होती हैं। पर्दे अचल होने से किंनरी पर रागादि के वादन में मार्गरागों के स्वरों में अपरिवर्तनीय श्रुतिविभाजन को ज्यों का त्यों रखना संभव न होने के कारण रागों के स्वरूप में अन्तर आया और मार्ग संगीत में देशीत्व के तत्त्व तेज़ी से पनपने लगे, ऐसा बृहद्देशी, सं०र० व परवर्ती ग्रन्थों से प्रतीत होता है। पिनाकी धनुष के आकार की डाँड वाली होती है जैसा कि इसके नाम से ही प्रकट है।

मत्तकोकिला वर्तमान स्वरमण्डल की तरह की वीणा है जिसमें तीनों सप्तकों के ७-७ स्वरों के लिये स्वतन्त्र तार यानी कुल २१ तार होते हैं। यह भरतकालीन प्रमुख वीणा थी।

एकतन्त्री में तंत्रीवाद्यों की वादनविधि को विस्तार से लक्षणबद्ध किया है। इसमें दाहिने और बायें हाथ के अलग-अलग और दोनों हाथों के सम्मिलित व्यापार (क्रियाएँ) कहे हैं। इन्हें 'हस्त' भी कहा गया है। इनके संयोग से १० प्रकार के वाद्य यानी हस्तों के नियत संनिवेशों के रूप में वादन सामग्री भी दी गई है।

मत्तकोकिला की वादनविधि में मुख्य और अंगवीणा के वादन में किस पर क्या बजाया जाय इसका निरूपण भी हुआ है। इनमें प्रहारविशेष से उत्पन्न स्वरों के रूप में सबसे पहले 'धातु' कही गई हैं।

'धा' धातु से बनने वाला 'धातु' शब्द व्याकरण, आयुर्वेद और संगीत में लगभग समान रूप से 'धा' के मूल अर्थ 'धारण करना' को अन्तर्भूत करता है। व्याकरण की दृष्टि से सारे पद (अर्थवान् शब्द) धातु में ही प्रत्यय ('सुप्', 'तिङ्' आदि) लगा कर निष्पन्न होते हैं और धातु ही उनके अर्थ को धारण करती है। आयुर्वेद में वात-पित्त-कफ और त्वचा आदि को धातु कहा गया है क्योंकि यही देह को धारण करती हैं। संगीत में वीणा के वाद्य को भी प्रहारविशेष-रूप धातुएँ ही धारण करती हैं इसीलिए प्रहारों और उनसे उत्पन्न स्वरों को धातु कहा गया। सं०र० के तीसरे अध्याय में 'शब्द' (कण्ठभेद) और चौथे अध्याय में प्रबन्ध में भी धातु आ चुकी है। 'शब्द' में वात, पित्त आदि धातुएँ कंठ के गुण को धारण करती हैं क्योंकि धातु के गुण के अनुसार ही कंठ का गुण बनता और निर्धारित होता है। प्रबन्ध के 'अंग' और 'धातु' में से धातु यानी स्वरयोजना ही प्रबन्ध के पद को धारण करती है इसलिए स्वरयोजना को धातु कहा गया। वाद्याध्याय में वाद्यनिर्माण के लिये उपयुक्त लकड़ी के गुण-दोष वात, पित्त आदि धातुओं के आधार पर ही बताये हैं।

एकतन्त्री के हस्तव्यापारों और धातुओं का विभिन्न वीणाओं में यथासंभव प्रयोग कहा गया है। धातुओं का प्रयोग अभिनव द्वारा ततवाद्यों में ही नहीं बल्कि यथासंभव सुषिर, अवनद्ध आदि सभी वाद्यों में भी कहा गया है। इसका आशय यह है कि जिस वाद्य पर जिसका प्रयोग संभव हो उसके अनुरूप उसका प्रयोग करना चाहिये क्योंकि हस्तव्यापार और धातुएँ आघात के ही प्रकार हैं। और चारों वर्ग के वाद्यों में आघात के द्वारा ही ध्वनि उत्पन्न होती है।

धातुविशेष की प्रधानता वादन का गुण या प्रभाव निर्धारित करती है इसलिए शार्ङ्गदेव ने धातुओं की चार जातियों का उल्लेख किया जो ना०शा० में भी कही गई हैं। विस्तार में उदात्तता (ऊपर उठना) होती है इसलिए उदात्ता जाति, करण धातु में लघु-गुरु समूह के कारण घनता से घना जाति, आविद्ध में लघुओं के समूह से रिभिता और व्यंजन धातु सुकुमार होने से उसकी जाति ललिता कही है।

सुषिर

सुषिर वाद्यों में सं०र० का प्रमुख वाद्य वंश है। वंश का अर्थ है बाँस। मूलतः वंश वाद्य बाँस की नली से बनता था इसलिये वह वंश कहलाया। सं०र० में बाँस के अलावा खैर, चंदन, लाल चन्दन की लकड़ी, हाथी दाँत, लोहा, काँसा, चाँदी या सोने का वंश भी कहा गया है। वंश की नली में मुखरन्ध्र (मुँह से फूँक भरने वाले छेद) औरताररन्ध्र (तारस्थान के स्वर व्यक्त करने वाले पहले छेद) के बीच की दूरी बढ़ाते हुए १५ प्रकार के वंशों के लक्षण दिये गये हैं। यह दूरी बढ़ने से वंश की लंबाई बढ़ती है फलतः वंश का मूल स्वर क्रमशः नीचा-नीचा हो जाता है। इसका अर्थ यह है कि कुल लंबाई कम होने पर वंश ऊँची ध्वनि

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

वाला और लंबाई ज्यादा होने से नीची ध्वनि वाला होता है। वंश के छेदों पर कौन सी उँगलियाँ किस तरह रखने से द्विश्रुति आदि स्वर उत्पन्न होते हैं, फूँक वाले छेद और मुँह के बीच की दूरी घटने-बढ़ने से तार-मन्द्र आदि स्थानों के स्वरों की उत्पत्ति और वादन-विधि के अन्य ब्योरे दिये हैं। विभिन्न मतों और आचार्यों के अनुसार वंशों के भिन्न नाप और तदनुसार वंशों की व्यवस्था का निरूपण, उन पर ग्रन्थकार की आपत्ति और आलोचना, शास्त्र में अमान्य लेकिन लक्ष्य में प्रचलित वंशों का उल्लेख, स्वमत से वंशों के लक्षण ग्रन्थकार ने विस्तारपूर्वक दिये हैं। अपने मत से भिन्न नाप के आधार पर तीन प्रकार से वंशलक्षण दिये हैं— गणितशास्त्र से सिद्ध नाप के आधार पर, एक भिन्न नाप से 'अनुपमा वंशश्रेणी' कह कर २२ वंशों के लक्षण और 'शार्ङ्गविद्या' नाम से १४ वंशों के लक्षण।

वंश, वीणा और कंठ तीनों स्वरोत्पत्ति का कारण हैं लेकिन वंश अपने लालित्य, माधुर्य, स्निग्धता के कारण श्रेष्ठ कहा गया। वंश, वीणा और कंठ के 'एकीभाव' (एकरूपता अर्थात् पूरी तरह मिल जाने) से उत्पन्न नाद को विशेष रंजकता का प्रमाण कहा गया। स्वर मूलतः मनुष्य कंठ से उत्पन्न होता है और तत (वीणा) और सुषिर वाद्य गीत के स्वर को उत्पन्न करते हैं इसीलिए ग्रन्थकार ने कंठ, वीणा और वंश का एकीभाव कहा है।

शार्ङ्गदेव ने वंश का विनियोग यानी किन परिस्थितियों व प्रसंगों में इसका प्रयोग किया जाता है, इसका निरूपण भी मतंग के अनुसार किया। पथिकों के प्रवास में, स्त्री द्वारा प्रणय अस्वीकृत हुए पुरुषों में, शोक से व्याकुल हुए लोगों में कोमल और मध्य लय में; शृंगार में द्रुत लय और रम्य ध्वनि में तथा क्रोध और अभिमान में कंपित और स्फुरित ध्वनि वाला द्रुत लय के आश्रित वादन करना चाहिये। इस विनियोग में दैनिक जीवन में वंश बजाये जाने के अवसर और तदनुरूप नाट्य के अन्तर्गत वंश का प्रयोग भी समझना चाहिये।

कंठ और वंश दोनों में स्वरोत्पत्ति वायु के द्वारा ही होती है इसलिये दोनों में बड़ी निकटता है। वंश के वादन में मुँह से जो फूँक भरी जाती है वह प्राणवायु ही होती है। इसलिये फूँक का बड़ा महत्त्व है। अपेक्षित तीव्रता के कम-ज्यादा होते ही स्वर बेसुरा हो जाता है इसलिये फूँक भरने में बहुत एकाग्रता और नियंत्रण जरूरी है। ग्रन्थकार ने सही फूँक से उत्पन्न ध्वनि के गुण और फूत्कार के दोष भी बताये हैं।

किंनरी की तरह वंश में भी कुछ प्रचलित देशी रागों के वादन की विधि दी है और उनके लक्षण और लक्ष्य में अन्तर का निरूपण भी किया है जो इस तथ्य को प्रकट करता है कि मार्ग की अपेक्षा देशीरागों के स्वरूप में तो अन्तर आ ही गया था लेकिन देशीरागों के ग्रन्थोक्त लक्षणों की अपेक्षा उनके प्रयोगगत रूप भी काफ़ी भिन्न हो गये थे।

वंश के अलावा शार्ङ्गदेव ने पाव, पाविका, मुरली, मधुकरी, काहला, तुंडकिनी, चुक्का; शृंग, शंख सुषिर वाद्यों का भी निरूपण किया। मधुकरी के धतूरे के फूल के आकार के मुँह, मुखरन्ध्र में ताँबे की नली, हाथी दाँत या सीप से बनी चक्रिका और कास नामक घास या देवनल से बनी मालती की अधखिली कली की आकृति की सीपी डालने के विधान में वर्तमान शहनाई और नागस्वरम् आदि वाद्यों का मूल देखा जा सकता है जो आज क्रमशः उत्तर और दक्षिण के प्रमुख शास्त्रीय सुषिर वाद्य हैं। पाव, पाविका, तुंडकिनी, शृंग के लक्षणों से उनका लोकवाद्य होना सूचित होता है।

शार्ङ्गदेव ने एकाधिक बार स्वयं को लक्ष्य और लक्षण का ज्ञाता कहा है। लेकिन तन्त्रीवाद्यों में निःशंकवीणा आदि का निर्माण और स्वमत से वंश की एक भिन्न श्रेणी (set) की रचना तथा वंश की वादनविधि का जैसा निरूपण ग्रन्थकार ने किया है उससे यह प्रकट होता है कि शार्ङ्गदेव कुशल वैणिक और वांशिक भी थे।

अवनद्ध

भारत में प्राचीन काल से ही संख्या और वादनविधि की दृष्टि से अवनद्ध वाद्य विशेष रहे हैं। भरत ने ना०शा० में १०० तो मुख्य अवनद्ध वाद्य ही कहे हैं। आज भी देश के विभिन्न प्रदेशों के कुल मिलाकर अवनद्धों की ही सबसे ज्यादा संख्या है।

शार्ङ्गदेव, ने पटह, मर्दल, हुडुक्का, करटा, घट, घडस, ढवस, ढक्का, कुडुक्का, कुडुवा, रुंजा, डमरू, डक्का, मण्डिडक्का, डक्कुली, सेल्लुका, झल्लरी, भाण, त्रिवली, दुन्दुभी, भेरी, निःसाण और तुम्बकी—इन २३ वाद्यों के लक्षण दिये हैं जो दूसरे वर्ग के वाद्यों की अपेक्षा बहुत अधिक हैं।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

इस वर्ग में पटह शार्ङ्गदेवकालीन प्रमुख वाद्य था जिसके अन्तर्गत अवनद्धों की वादनविधि और वादनसामग्री का उदाहरणों के साथ निरूपण किया गया है। बनावट संबन्धी छोटे-मोटे परिवर्तनों के साथ पटह, आज ढोलक के रूप में जीवित है और कुछ समय पहले तक लोक वाद्य के रूप में प्रचलित यह वाद्य अब कर्णाटक पद्धति में शास्त्रीय संगीत में स्थान बना रहा है। सं०र० में पटह दो प्रकार का निरूपित हुआ है—मार्गपटह और देशीपटह जिनमें मुख्य अन्तर नाप का है। देशी की अपेक्षा मार्गपटह बड़ा होता है।

पटह दो मुँह वाला बीच में कुछ मोटे पात्र वाला वाद्य है। तबले आदि की तरह गजरे, चाँटी, स्याही आदि से रहित, दोनों मुखों पर रखी चमड़े की झिल्लियाँ उनमें किये छेदों में से आर-पार डोरी डाल कर खींच कर कसे हुए पटह में वादन शैली और सामग्री दी गई है। विभिन्न उँगलियों और हथेली के विभिन्न भागों के द्वारा विभिन्न प्रकार के आघातों से अलग-अलग तरह की ध्वनियाँ उत्पन्न करने का और उनके द्वारा निबद्ध रचनाओं का जैसा स्पष्ट निरूपण सं०र० में हुआ है वह अवनद्ध की भरतोक्त वादनशैली की विविधता और विचित्रता का परिचय देता है। ऐसी विकसित वादनशैली भारत की अपनी निजी विशेषता है जो किसी भी दूसरे देश में नहीं है।

भारतीय संगीत में गेय प्रबन्धों में तो पद का अनिवार्य स्थान रहा ही है, वाद्यों में ख़ास तौर पर अवनद्ध वाद्यों में भी अक्षरों, वर्णों की योजना की गई। अभिनवगुप्त ने भाण्ड में वर्णयोजना को 'अनुहार' (अनुकरण) कहा क्योंकि मुँह से उच्चारण करने पर अक्षरों की जैसी स्पष्ट प्रतीति होती है वैसी अवनद्ध में नहीं होती। इस संबन्ध में यह महत्त्वपूर्ण है कि अवनद्ध में इतनी तरह के आघात बताये गये कि उन्हें अक्षरों से संबद्ध किये बिना शिक्षण, अभ्यास और वादन संभव ही नहीं। दूसरे, ध्वनि-सामान्य में भी कुछ भिन्नता की अनुभूति तो वाद्य में अक्षर के बिना भी संभव है लेकिन उनके विश्लेषण, गुण और प्रभाव को भाषा के माध्यम से ही व्यक्त किया जा सकता है इसलिये अक्षर ज़रूरी हैं। उद्धत, कोमल गुणसूचक शब्द हैं इनमें कैसा वादन अपेक्षित है इसे घोष-अघोष वर्णों से जोड़कर बताना सरल है। उद्धत ध्वनि वाले आघातों का दीप्तनृत्त में और सुकुमार वर्णों वाले आघातों का लास्यनृत्त में प्रयोग कहा जो कोमल होता है। कल्लिनाथ ने स्पष्ट किया कि घोष वर्णों से उत्पन्न ध्वनि उद्धत होती है इसलिये आघात भी ज़ोरदार होने चाहियें। वास्तव में अक्षरों के द्वारा आघात का प्रकार सूचित होता है। लेकिन किसी-किसी वाद्यविशेष के साथ कुछ विशिष्ट वर्ण जोड़े, जैसे—करटा में टि रि कि या ति रि कि क्योंकि इस वाद्य की बनावट और विशेष प्रकार की डंडियों से प्रहार के कारण इन वर्णों का आभास देने वाली कड़ी ध्वनि उत्पन्न होती है। इसलिये वर्णों के द्वारा वाद्य से उत्पन्न ध्वनि का प्रभाव भी व्यक्त होता है।

अवनद्ध में जो रचना बजाई जा रही हो उसका 'भाण्डिक' यानी 'भाण्ड' (अवनद्ध वाद्य) के वादक के द्वारा मुँह से उच्चारण करना भी अवनद्ध की वादन शैली की विशेषता है जिसे 'उद्घट्टन' और इसमें पटु वादक को 'उद्घट्टनपटु' कहा है। यह आज भी 'पढ़न्त' के रूप में ज़ीवित है और इसके द्वारा रचना की विशेषता की स्पष्ट प्रतीति होती है।

भरत ने पुष्कर (अवनद्ध) में १६ अक्षर कहे। सं०र० में अक्षरों को पाट क़हा गया है। इनके विभिन्न प्रकार के संयोग से बनने वाले प्रकार हस्तपाट या तलपाट कहलाते हैं जिनकी संख्या ८८ है। ८८ हस्तपाटों के विभिन्न संयोगों से २५ वाद्य लक्षणबद्ध हुए हैं जो निबद्ध रचनाएँ हैं। इन वाद्यों के संयोग से ४३ वाद्य प्रबंध बनते हैं जिनमें से कुछ प्रबन्ध काफ़ी बड़े हैं और कुछ छोटे हैं। इनमें से अनेक में लय की काट दिखाई देती है और कई में विषम संख्या में योजित पाटसमूहों का सामान्य रूप से उच्चारण करने में भी बड़ा आनन्द मिलता है जिनसे उनके वादन और 'उद्घट्टन' से प्राप्त होने वाले आनन्द की कल्पना की जा सकती है।

सं०र० के प्रबन्धाध्याय में गेय प्रबन्धों में उनके खण्डों को सूचित करने वाली उद्ग्राह, मेलापक, ध्रुव, आभोग और अन्तर धातु कही जा चुकी हैं। अवनद्ध के वाद्य प्रबन्धों के लक्षण भी उन्हीं धातुओं के आधार पर दिये गये हैं।

वाद्य प्रबन्धों पर दृष्टिपात करने पर उनमें कुछ ऐसे पक्ष दिखाई देते हैं जो वर्तमान वादन में जीवित हैं। जैसे—१. लक्षणबद्ध देशी में द्रुत से तेज़ लय प्रायः नहीं कही गई। लेकिन लक्ष्य में द्रुत से भी द्रुततर का तुडुका वाद्यप्रबन्ध में उल्लेख हुआ है। आज भी वादन में द्रुततर लय प्रयुक्त होती है। २. गीत-वाद्य के संयुक्त प्रयोग में कभी-कभी कोई अंश केवल गेय और कोई केवल

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

वाद्य होता है। इनकी सन्धि में आज कभी-कभी सिर्फ़ अवनद्ध वाद्य बजाया जाता है। यह अन्तर नामक वाद्य प्रबन्ध का रूप है। ३. निबद्ध यानी बँधी हुई रचनाएँ तबला आदि पर बजाते समय बीच-बीच में अनिबद्ध वादन यानी बिना बँधा हुआ तत्काल अपनी कल्पनाजनित अंश भी बजाया जाता है। अन्तरपाट नामक प्रबन्ध के लक्षण में यह देखा जा सकता है। ४. आज नियत 'बोलों' (पाटों) की किसी रचना को खण्डित करके नये प्रकारों के वादन का मूल खण्डपाट, खण्डक आदि वाद्यप्रबन्धों में है। ५. नृत्य के कुछ हस्तों यानी हाथ की मुद्राओं में वादन कहा गया है, जैसे—पताक, सर्पहस्त, अलपद्म आदि। इसका कारण यह है कि एक तो नृत्तहस्त कह देने से वाद्य पर हाथ रखने की मुद्रा सूचित हो जाती है और दूसरे, वादन के समय वादक में अंग-सौष्ठव होना भी व्यक्त होता है। गायक और सभी वाद्य वर्ग के वादक के गुणों में अंग-सौष्ठव कहा गया है क्योंकि संगीत केवल श्रव्य ही नहीं दृश्य भी होता है। आज के वादन में भी तबला आदि बजाने में हाथ को वाद्य पर रखने में इन मुद्राओं का प्रयोग होता है चाहे वादक को प्रायः इनका बोध नहीं होता। ६. आज भी अवनद्ध की निबद्ध रचनाएँ होती हैं जो गुरु-शिष्य परंपरा से सीखी जाती हैं। ये प्रायः स्वतन्त्र वादन में बजती हैं। लेकिन उनके साथ ही बीच में वादक अनिबद्ध रचना भी बजाते हैं जैसा घत्ता 'वाद्य' में कहा गया है। ७. त्रिगुणा प्रबन्ध में विभिन्न खण्डों की अलग-अलग तरह से तीन बार आवृत्ति होती है। इस आवृत्ति को आज 'तिहाई' कहा जाता है। त्रिगुणा के आठों प्रकार इन तिहाइयों में देखे जा सकते हैं। ८. उँगलियों, अँगूठों, पूरी हथेली और हथेली के किसी विशेष भाग से प्रहारों के जो विविध प्रकार दिये गये हैं उनमें से बहुतों का प्रयोग आज भी होता है। लेकिन कुछ प्रकार लुप्त या अल्पप्रचलित हो गये प्रतीत होते हैं। वर्तमान वाद्यों की बनावट और उन प्रकारों को उन वाद्यों में बजाने की संभावना को ध्यान में रख कर उनके प्रयोग से वादन में ज़्यादा विविधता और रंजकता लाई जा सकती है।

मर्दल बीजपूर की लकड़ी से बना, दो मुँह वाला, पात्र बीच से कुछ मोटा, दोनों मुँहों पर चमड़े, उनमें किये गये ४० छेदों में सिलाई की प्रक्रिया से चमड़े की बद्धी डाल कर कसा हुआ—ऐसी बनावट वाला वाद्य है। इसे मृदंग, मर्दल और मुरज कहा जाता था। भरत ने मृदंग शब्द से पुष्करत्रय कहा है। यह उल्लेखनीय है कि आलिंगक, ऊर्ध्वक और आंकिक पुष्करत्रय कहे गये हैं और ये तीनों विशेष स्वरों में मिलाये जाते थे। शार्ङ्गदेव के मर्दल के लक्षण में इसके मुँह को स्वरविशेष में मिलाने का कोई संकेत नहीं है लेकिन मर्दल के बायें मुँह पर राख और भात को खूब मसल कर चिकना बना कर पूरी के आकार की 'बोहण' कही जाने वाली पिण्डी और दाहिने मुँह पर वैसी ही पतली सी झिल्ली बना कर उसका लेप करने का निर्देश है। इससे मर्दल की ध्वनि बादल की ध्वनि जैसी गंभीर उत्पन्न होती है। आज उत्तर भारतीय पखावज में, जो मर्दल का ही एक रूप है, बायें मुँह पर इसी तरह आटे की पिण्डी लगाई जाती है जिससे उस मुँह का नाद गंभीर और गूँजदार हो जाता है। कुशल मर्दलवादक के लिये यह कहा गया है कि जैसे प्रतिभावान् कवि मनोहर छन्दों से आनन्द देने वाले श्लोकों की रचना करता है उसी तरह मर्दलवादक मनोहर वर्णों के द्वारा वाद्य प्रबन्धों को निबद्ध करने में समर्थ होता है और ऐसे प्रबन्धरचयिता मर्दलवादक को कवितकार वादक कहा जाता है। भारतीय परम्परा में किसी भी कलारचना के रचयिता को कवि कहा गया है तदनुरूप ही यहाँ वाद्यप्रबन्ध के रचयिता को कवितकार कहा है।

सं०र० का हुडुक्का सीधी-सादी बनावट, आकार, धारण करने और बजाने की विधि में आज भी लगभग वैसा ही है जो मुख्यतः पूर्वी उत्तर प्रदेश और साथ ही पश्चिमी बिहार के लोक संगीत में बजाया जाने वाला प्रमुख वाद्य है। गजरे आदि की व्यवस्था न होने के कारण हालाँकि इसे किसी विशेष स्वर में मिलाना या मूल स्वर में परिवर्तन करना संभव नहीं है। लेकिन उदरपट्टी को बायें हाथ से दबा कर या ढीला छोड़ कर ऊँचा-नीचा नाद साधारण वादक भी उत्पन्न कर लेते हैं। दाहिने हाथ से दाहिने मुँह पर वादन होता है। एक कुशल हुडुक्का वादक-गायक को लोकगीत गायकों के साथ हुडुक्का बजाते समय खिंचाव पर नियंत्रण करके गीत के साथ-साथ उन्हीं स्वरों को उत्पन्न करते हुए पैंतीस साल पहले मैंने स्वयं सुना था।

सं०र० में ऐसे अवनद्ध वाद्य भी कहे गये हैं जिनके भीतर तार लगे होते हैं। जैसे करटा में विशेष यह है कि दोनों मुँहों के अन्दर वलयों के साथ तीन-तीन तार होते हैं। डक्का के दोनों मुँहों के भीतर दो-दो और सेल्लुका के बायें मुँह के भीतर एक तार होता है। चमड़े पर आघात होने पर तार भी अनुनादित होकर अपनी ध्वनि उत्पन्न करके इन वाद्यों की ध्वनि और प्रभाव को विशेष स्वरूप अवश्य देते होंगे।

भीतर काँसे के पात्र भरे हुए, बड़े और छोटे आकार के वाद्य भी हैं। जैसे—दुन्दुभी मोटे चमड़े के कोण से बजाई जाती है जिसमें बादलों के गर्जन जैसे गंभीर घोंकार की प्रधानता होती है। भेरी ताँबे से बनी सिर्फ़ तीन वितस्ति लम्बी यानी छोटी होती

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

है। इसका बड़ा और गंभीर नाद शत्रुओं को भय देने वाला कहा गया है। निःसाण काँसे या लोहे का, एक मुँह वाला, अर्धयवाकृति, भीतर काँसे के पात्र भरा हुआ, चमड़े से मढ़े मुँह पर चमड़े के कोण से जोड़ी में बजाया जाने वाला वाद्य है जो अपनी भयंकर ध्वनि से भीरुओं के हृदय को छेदने वाला और युद्धवीरों के शरीर को रोमांचित करने वाला होता है। तुम्बकी निःसाण जैसी ही लेकिन उससे छोटे आकार वाली होती है।

जिन अवनद्धों में भीतर काँसे के पात्र भरे हों उनमें पात्रों के कारण भयंकर झनझनाहट होती है इसीलिये दुन्दुभी, भेरी, निःसाण, तुम्बकी युद्धवाद्य होते हैं। काव्यों, नाटकों आदि में इनका उल्लेख युद्ध के प्रसंग में होता रहा है। दुन्दुभी को मंगल प्रसंग और मन्दिरों में बजाने का भी ग्रन्थकार ने उल्लेख किया है।

अवनद्ध वाद्य विभिन्न आकृतियों के हैं—समाकृति जिनमें पूरे वाद्य का पात्र समान आकार का होता है; यवाकृति यानी जौ के आकार का जिनमें बीच का भाग मोटा होता है; अर्धयवाकृति जो बीच से काट कर टुकड़े किये हुए आधे जौ के आकार के होते हैं; बीच से पतले भाग वाले; एक मुँह या दो मुँह वाले; भीतर तार वाले; पिण्डी लगाये हुए; हाथ, लकड़ी या चमड़े के कोण से अथवा उँगली में डंडी बाँधकर या उँगलियों पर लेप करके बजाये जाने वाले आदि।

अवनद्ध वाद्य के निर्माण के लिये उपयुक्त लकड़ी भी बताई गई है। सूखी-ऊँची ज़मीन से उत्पन्न, पुराने और हवा से आन्दोलित पेड़ को काट कर भीतर से खोखली की गई लकड़ी उपयुक्त मानी गई। पहले अंकुर को काटने पर दुबारा उत्पन्न अंकुर से बढ़े पेड़ की लकड़ी सर्वोत्तम कही गई। जलाशय के पास की जल वाली ज़मीन के पेड़ की और काटने से पहले सूख गये वृक्ष की लकड़ी वर्जित मानी गई।

अवनद्ध वाद्य की प्रमुख सामग्री चमड़ा है जो वाद्य के मुँह पर लगाया जाता है और जिस पर आघात से ध्वनि उत्पन्न होने के कारण अवनद्ध नाम है। इसलिये चर्म के गुण-दोष भी कहे।

घन

स्वतः रंजक, अपने मूल स्वर पर टिका रहने वाला, गीत-वाद्य, नृत्त के काल का नाप रखते हुए उनकी रंजकता में वृद्धि करने वाला, आग में तपा कर शोधन किये हुए ठोस काँसे का बना घन वाद्य है। दो ठोस (घन) आकृतियों के परस्पर टकराने से उत्पन्न ध्वनि के कारण 'घन' कहलाता है। इसमें देर तक जो अनुरणन (गूँज) होता है उसका काव्यशास्त्र के ग्रन्थों में शब्द की तीन शक्तियों—अभिधा, लक्षणा, व्यंजना—में से व्यंजना की धारणा का प्रत्यक्ष कराने के लिए उदाहरण के रूप में उल्लेख होता रहा है। व्यंजना के प्रतिष्ठापक आनन्दवर्धन के 'ध्वन्यालोक' और अभिनवगुप्त की अभिनवभारती में इसका उदाहरण दिया गया है।

मार्ग और देशी दोनों प्रकार के संगीत में घनवाद्य अनिवार्य रहा है। ना०शा० में ताल का लक्षण घनवाद्य के द्वारा दिया है और सं०र० के तालाध्याय में देशीतालों का प्रयोग काँस्यताल के द्वारा ही कहा गया है। मन्दिरों में आज भी मँजीरे के बिना गान नहीं होता।

घन वर्ग में सं०र० में ताल, कांस्यताल, घण्टा, क्षुद्रघण्टिका, जयघण्टा, कम्रा, शुक्ति, पट्ट वाद्यों के लक्षण दिये हैं। इस वर्ग के सं०र० के प्रमुख वाद्य ताल को वर्तमान मँजीरा समझ सकते हैं जो आज छोटे-बड़े कई आकारों में प्राप्त होता है। इसका नाद श्रुति-मनोहर (अत्यन्त कर्णप्रिय) कहा गया है। यह छोटा सा ताल वाद्य गीत, वाद्य, नृत्त के काल को नापने और उन्हें अपनी कालसीमा में रहने के लिये आधार प्रदान करने का महत् कार्य करता है। ताल की जोड़ी में से एक को शिव और दूसरे को शक्ति कहा गया है। इसे सही रीति से धारण करके बजाने से अश्वमेध यज्ञ का फल प्राप्त होता है।

कांस्यताल भी एक से दो हिस्सों में काँसे का बना कमल के पत्ते के आकार का वाद्य है। यह भी ताल जैसा ही होता है लेकिन आकार उससे बड़ा होता है। क्षुद्रघण्टिका या घर्घरिका वर्तमान घुँघरू जैसा है जिसके पात्र में छोटी जाति के बेर का बीज डालने का उल्लेख है। घंटा आठ अंगुल ऊँचा, बड़े मुँह और छोटे मूल वाला वाद्य है। यह दो तरह का होता है—१. शलाका (सींखचे) के सहारे मन्दिर की छत से लटकाया जाने वाला जिसके पात्र के बीच के खोखले भाग में नीचे लटकता हुआ दोलक पात्र से टकरा कर बजाया जाता है। २. घंटे के मूल में लगे दंड को हाथ में पकड़ कर हिला कर बजाया जाता है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

जयघण्टा के लक्षण से यह स्पष्ट है कि यह बिना उठे किनारे वाली चपटी थाली के आकार का आधा अँगुल मोटे ठोस काँसे का बना वाद्य है जिसके एक किनारे पर दो छेदों में मोटी मज़बूत डोरी डाल कर डोरी को बायें हाथ में पकड़ा जाता है और दाहिने हाथ के कोण से उस पर प्रहार किया जाता है। मंदिरों में आज भी इसी तरह बजाया जाता है लेकिन उस पर प्रहार लकड़ी की मोटी डंडी से किया जाता है।

घन वर्ग में लकड़ी के दो वाद्य भी हैं—पट्ट और कम्रां। कम्रा खैर की लकड़ी या ठोस बाँस से दो अँगुल चौड़े और बारह अँगुल लंबे, दोनों सिरे बीच की अपेक्षा कुछ कम मोटे चार टुकड़ों में बना वाद्य है जिसके दो-दो हिस्से एक-एक हाथ में पकड़े जाते हैं। बिल्कुल सादा आयताकार लकड़ी के चार टुकड़ों का यह वाद्य आज भी भारत के विभिन्न प्रदेशों में अलग-अलग नाम और पकड़ने के ढंग में थोड़े-बहुत अन्तर से लोकवाद्य के रूप में बजाया जाता है। राजस्थान की संगीतजीवी जातियों में ख़ड़ताल के नाम से बहुत प्रचलित है और वादनशैली बड़ी विविधता वाली और अत्यन्त आकर्षक है। इसे छोटे-छोटे लड़के भी इतनी कुशलता से बजाते हैं कि उनके द्वारा वादन केवल श्रवणीय ही नहीं दर्शनीय भी होता है।

चारों वर्ग के वाद्यों के लक्षण-निरूपण के बाद ग्रन्थकार ने वादक के गुण-दोष भी कहे हैं जो गीत, वाद्य, नृत्त तीनों से संबद्ध हैं क्योंकि वादन इन तीनों के साथ होता है, यद्यपि विभिन्न वर्ग के कुछ प्रमुख वाद्यों के वादकों के गुण-दोष उन वाद्यों के लक्षण निरूपण के साथ भी दिये हैं।

वाद्याध्याय के अन्त में हाथ के गुणों (हस्तगुण) का भी निरूपण हुआ है क्योंकि वाद्य का सारा क्रियाकलाप हाथों पर निर्भर है। इसलिये वादक के हाथ उसकी इच्छा के अनुसार चलने वाले, दृढ़, स्पष्टता से वादन करने वाले, स्निग्ध यानी आवश्यकतानुसार कोमलता से चलने वाले, दृढ़ नख वाले, वादक के स्वाधीन अंगुलिसंचालन करने वाले, वादन के समय पसीने से रहित, बजाने के श्रम से न थकने वाले और सही प्रहार करने वाले होने चाहियें।

वाद्याध्याय के इस संक्षिप्त विवरण से यह स्पष्ट हो जाता हैं कि वाद्य, वादन सामग्री, वादन विधि और संबन्धित पक्षों का उदाहरणों के साथ इतनी सूक्ष्मता से निरूपण हुआ है कि प्रायः कोई पक्ष छूटा नहीं है। ऐसा निरूपण इसके पूर्ववर्ती किसी उपलब्ध ग्रन्थ में प्राप्त नहीं होता। इसके लगभग समकालीन सं०स० सार में कुछ वाद्यों के संक्षिप्त लक्षण हैं। परवर्ती संगीतराज और राधागोविन्दसंगीतसार—ये दो ग्रन्थ ऐसे हैं जिनमें सं०र० के विषयविस्तार को समेटा तो गया है लेकिन संगीतराज में तो अधिकतर सं०र० और दोनों टीकाकारों की व्याख्याओं का रूपान्तरण है और राधागोविन्दसंगीतसार में १८वीं सदी के वाद्यरूपों के निरूपण में रत्नाकर के कुछ वाद्यों के परिवर्तित रूपों के लक्षण हैं।

सं०र० के इस खण्ड में तालाध्याय और वाद्याध्याय—दोनों के कार्य में कई तरह की समस्याएँ आई। मुख्यतः स्वरपक्ष के तत्त्वों, सिद्धान्तों और प्रस्तुति से संबद्ध सं०र० के पहले चार अध्यायों का काफ़ी अध्ययन हो चुका है। तालाध्याय का भी अध्ययन तो काफ़ी हुआ और उसे अधिकांशतः समझना भी संभव हो पाया लेकिन लक्षण बहुत संक्षेप में दिये हैं, गीतकों के प्रस्तारों का पाठ बहुत अशुद्ध है, गीतकों के शाब्दी लक्षणों और उनके साथ दिये गये प्रस्तारों में सामंजस्य नहीं है, तालप्रत्यय इतने कम शब्दों में बताये गये हैं कि केवल मूल श्लोकों के द्वारा उन्हें समझ पाना लगभग असंभव है। सिंहभूपाल की सुधाकर टीका और कल्लिनाथ की कलानिधि टीका सहायक अवश्य हैं लेकिन सिंहभूपाल ने ज़्यादातर भाषान्तर किया है और कल्लिनाथ ने कई ऐसे मूल अंशों को स्पष्टार्थ कह कर छोड़ दिया है जो आज स्पष्ट नहीं होते।

वाद्याध्याय में भी लगभग यही स्थिति है। इस पूरे अध्याय का प्रस्तुत कार्य हिन्दी में पहला है। इसलिये इसके अध्ययन में बहुविध समस्याएँ खड़ी हुईं। ग्रन्थकार द्वारा वाद्यों की बनावट-संबन्धी छोटे से छोटे ब्योरे देने से लक्षणों में तो सम्पूर्णता है लेकिन लक्षण इतने कम शब्दों में दिये हैं कि शाब्दी लक्षण से बनावट को पूरा-पूरा समझ पाना असंभव सा है। उनमें सारिका, सारणा, कम्रा आदि जैसे अनेकार्थक शब्दों का प्रयोग हुआ है और यह स्पष्ट नहीं होता कि कौन-सा शब्द कहाँ किस अर्थ में प्रयुक्त है। तन्त्री वाद्यों के विभिन्न अवयवों को व्यक्त करने के लिये ककुभ, शंकु, पत्रिका, मेढक आदि पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग हुआ है। आज न तो वे शब्द प्रचलित हैं और न ही उनके निश्चित अर्थ ज्ञात या स्पष्ट हैं। दोनों टीकाएँ भी इसमें बहुत सहायक नहीं है। तालाध्याय की तरह इस अध्याय में भी कल्लिनाथ ने अधिकांश जगह ग्रन्थोक्त लक्षण को स्पष्टार्थ कह कर

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

छोड़ दिया है। इसका कारण संभवतः यह है कि ये शब्द, उनके अर्थ और वाद्य उस समय इतने प्रचलित थे कि उनकी व्याख्या करने की ज़रूरत नहीं थी। कहीं-कहीं वाद्यों के अंगों के नाप में, विशेष रूप से वंशलक्षण में समासयुक्त ऐसे पदों का प्रयोग हुआ है जिनके दो अर्थ निकल सकते हैं। ऐसे स्थानों पर पूर्व और पर नापों की अपेक्षा से तय करना पड़ा कि कौन सा अर्थ संगत हो सकता है। लेकिन इसमें भूल की संभावना है। सं०र० में लक्षणबद्ध हुए वाद्य और उनकी वादनपरम्परा आज प्राप्त ही नहीं है; वाद्यों के लक्षण समझने में यह सबसे बड़ी बाधा है। ग्रन्थगत लक्षणों के आधार पर कुशल वाद्यनिर्माताओं के द्वारा उन वाद्यों को बनवा कर लक्षण और लक्ष्य का संबन्ध स्थापित करना और परखना एक उपाय हो सकता है। इसमें प्राचीन चित्रों और शिल्पों से कुछ मदद भी मिल सकती है। लेकिन इस सारे सम्मिलित प्रयत्न के लिये बड़े धैर्य, परिश्रम और लक्षणज्ञ प्रयोक्ता तथा वाद्य के कुशल निर्माता में सहयोग और सामंजस्य अपेक्षित है।

यद्यपि सं०र० का पाठ अखण्डित रूप में प्राप्त है और पूर्ववर्ती ग्रन्थों की अपेक्षा शुद्ध भी है लेकिन इसकी विभिन्न पाण्डुलिपियों में अनेक अंशों के पाठभेद प्राप्त हैं जिनमें से कुछ का उपयोग प्रस्तुत कार्य में भी हुआ है। पाठ-संशोधन या विभिन्न पाठों में से पाठचयन अन्वय अनुवाद के कार्य की सीमा में नहीं आता लेकिन ग्रन्थोक्त लक्षण के औचित्य और संगत अर्थ प्राप्त करने के लिये कई जगह यह कार्य भी करना पड़ा।

संस्कृत की समासयुक्त और हिन्दी की समासरहित शैली के अन्तर के कारण वाद्याध्याय में और विशेष रूप से तालाध्याय में प्रत्ययों के श्लोकों के अन्वय के अनुसार हिन्दी अनुवाद करने में भी कठिनाई उत्पन्न हुई। इस कारण अनुवाद के अन्तर्गत कोष्ठकों में कहीं-कहीं बड़े-बड़े अंश जोड़ने पड़े ताकि पाठक अनुवाद के आधार पर अर्थ को संगतरूप में प्राप्त कर सके।

इन कारणों से सं०र० के इस खण्ड का कार्य काफ़ी चुनौती भरा और पहले दोनों खण्डों की तुलना में कठिन सिद्ध हुआ। पिछले लगभग एक साल की मेरी अस्वस्थता भी सही दिशा में इस कार्य की प्रगति में बाधक रही। लेकिन मित्रों, हितैषियों की सदिच्छाओं और इस कार्य को पूरा करने के मेरे संकल्प को ईश्वर की स्वीकृति के कारण ही यातनादायक शारीरिक कष्ट की स्थिति में भी कार्य को संपन्न करने की इच्छाशक्ति बनी रही और, कछुए की गति से ही सही, काम आगे बढ़ता रहा। इस काम के अन्तिम ६ महीनों में, घोर अस्वस्थता में भी काम कर पाने में, सबसे बड़ा योगदान मेरी पुत्री श्रीमती प्रज्ञा नोपानी का है जिन्होंने अथक सेवा करते हुए मेरा मनोबल बनाये रखा। मैं उन्हें निरन्तर उत्कर्ष के लिये पूरे अन्तस्तल से आशीर्वाद देती हूँ।

सं०र० का यह तीसरा खण्ड पूरा कर पाने पर मैं परम सन्तोष का अनुभव कर रही हूँ और प्रभु से यही प्रार्थना करती हूँ कि मुझे इतना जीवन और दे कि इस ग्रन्थमाला के अन्तिम चौथे खण्ड को पूरा कर सकूँ और मेरा संकल्प खण्डित न हो।

पिछले दो खण्डों की तरह इस खण्ड में भी सामग्री का यह क्रम है—संस्कृत शीर्षक, श्लोक, हिन्दी शीर्षक, अन्वयसहित अर्थ (अ०) और मेरी सरस्वती व्याख्या (सर०)। आधार सं०र० का मुख्यतः १९८६ का संस्करण और आवश्यकतानुसार पूर्व संस्करण तथा आनन्दाश्रम का पाठ है। पाठ संशोधन के संबन्ध में पिछले पृष्ठों में कहा जा चुका है। पिछले खण्डों की तरह इस खण्ड में भी दृष्टि छात्रों की आवश्यकता पर केन्द्रित रही है।

नई दिल्ली, चैत्र शुक्ल नवमी (रामनवमी) सुभद्रा चौधरी
वि० संवत् २०६२
सोमवार
१८ अप्रैल ई० सन् २००५

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

कृतज्ञता-ज्ञापन

प्रस्तुत खण्ड में अन्वय और पाठभेद के चयन में डॉ०ग०हा० तारळेकर के सं०र० के मराठी अनुवाद से मुझे काफ़ी मदद मिली। इसके लिये उन दिवंगत विद्वान् के प्रति आभारी हूँ।

वाद्याध्याय में एकतन्त्री, आलापिनी वीणाओं और वंश को समझने में काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के महिला महाविद्यालय में संगीत विभाग के प्रौफ़ेसर सुधाकर भट्ट के सहयोग के लिये उनका आभार मानती हूँ।

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के संगीत संकाय में तबला संगतकार और प्रख्यात तबलावादक श्री ईश्वरलाल मिश्र 'लल्लू' और तबला संगतकार श्री भोलानाथ मिश्र से ढोलक (पटह) और हुडुक्का की रचना को समझने में मिली मदद के लिये उनकी आभारी हूँ।

तालाध्याय की कुछ समस्याओं के समाधान में मद्रास विश्वविद्यालय के संगीत विभाग के प्रौफ़ेसर ऐंन्० रामनाथन् की पुस्तक Musical forms in Saṅgītaratnākara से काफ़ी सहायता मिली। इसके लिये उनका आभार व्यक्त करती हूँ।

डॉ० अनिल बिहारी ब्योहार, रीडर, संगीतशास्त्र विभाग, इन्दिरा कला संगीत विश्वविद्यालय, खैरागढ़ द्वारा दिये गये उपयोगी सुझावों के लिये आभार व्यक्त करते हुए उन्हें हार्दिक आशीर्वाद देती हूँ।

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय स्थित संस्कृत विद्या एवं धर्म विज्ञान संकाय के वैदिक दर्शन विभाग में कार्यरत प्रौ० कृष्णकान्त शर्मा द्वारा अन्वय-अनुवाद के परिष्कार में दिये गये अमूल्य सहयोग के लिये उनके प्रति अत्यन्त आभारी हूँ।

प्रकाशक राधा पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली द्वारा प्रस्तुत खण्ड को सुरुचिपूर्ण ढंग से प्रकाशित करने के लिये श्री नितिन गर्ग और सुन्दर सैटिंग के लिये श्री जयवीरसिंह धन्यवाद के अधिकारी हैं।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

संकेत-सूची

अ०	अन्वय (अन्वय और अनुवाद में)
अ०	अध्याय (संदर्भों में)
अनु०	अनुवाक्
अभि०	अभिनवभारती
अष्टा०	अष्टाध्यायी
आड्०	आड्यार संस्करण
आनन्द०	आनन्दाश्रम संस्करण
कल्लि०	कल्लिनाथ
ग०ओ०मै०ला०	गवर्नमेण्ट ओरियंटल मैन्युस्क्रिप्ट्स लाइब्रेरी, मद्रास
तै०उ०	तैत्तिरीय उपनिषद्
दत्ति०	दत्तिलम्
नर्तन०	नर्तनाध्याय
ना०शा०	नाट्यशास्त्र
नान्य०	नान्यदेव
पृ०	पृष्ठ
पं०	पंक्ति
प्र०	प्रथम
बृह०	बृहद्देशी
मान०	मानसोल्लास
याज्ञ०	याज्ञवल्क्यस्मृति
रागा०	रागाध्याय
राधा०	राधागोविन्दसंगीतसार
वाद्या०	वाद्याध्याय
विष्णु०	विष्णुधर्मोत्तरपुराण
शार्ङ्ग०	शार्ङ्गदेव
श्लो०	श्लोक
सर०	सरस्वती व्याख्या
सं०र०	संगीतरत्नाकर
सं०स०सार	संगीतसमयसार
संस्क०	संस्करण
सिंह०	सिंहभूपाल

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

विषय-सूची

	श्लोकसंख्या	पृष्ठसंख्या
पाँचवाँ तालाध्याग		१—२४६
मंगलाचरण	१	
(क) मार्गतालतत्त्वलक्षण प्रकरण		२—४४
ताल शब्द की व्युत्पत्ति	२	
ताल का लक्षण	३क-ग	
ताल के दो प्रकार—मार्ग और देशी	३घ-४ क	
मार्ग की दो प्रकार की क्रिया	४ ख-६	
सशब्द-निःशब्द क्रियाओं के लक्षण	७-१०ख	
चार मार्ग और उनमें क्रियाओं के नाप	१०ग-११	
मात्रा अथवा मार्गकला	१२	
उनके लक्षण	१३-१४	
मार्गों में उनका प्रयोग	१५-१६ख	
मात्रा का लक्षण	१६ग-१७ख	
मार्गताल के दो भेद (चच्चत्पुट-चाचपुट) और उनकी त्रिविधता	१७ग-१९क	
उनके लक्षण	१९क-२१ख	
पारिभाषिकी मात्रा	२१ग-घ	
त्र्यश्रताल के अन्य भेद		
षट्पितापुत्रक	२२-२३	
उद्घट्ट	२४क-ख	
संपक्वेष्टाक	२४ग-२५	
चाचपुट के अन्य तीन भेद	२६	
तालों की कलाविधि		
कलाविधि का प्रयोजन	२७क-ख	
कलाविधि	२७ग-घ	
एककल चच्चत्पुट की कलाविधि	२८-२९ख	
एककल चाचपुट की कलाविधि	२९ग-घ	
एककल षट्पितापुत्रक की कलाविधि	३०क-ख	
द्विकल चच्चत्पुट की कलाविधि	३०ग-घ	
द्विकल चाचपुट की कलाविधि	३१क-ख	
द्विकल षट्पितापुत्रक की कलाविधि	३१ग-घ	
चतुष्कल की कलाविधि	३२	
अंगुली-नियम		
चच्चत्पुट का अंगुली-निग्म	३३-३४ख	

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

	श्लोकसंख्या	पृष्ठसंख्या
चाचपुट का अंगुली-नियम	३४ग-घ	
षट्पितापुत्रक का अंगुली-नियम	३५	
अंगुली-प्रयोग में पाणि का नियम	३६	
उद्घट्ट की कलाविधि	३७क-ख	
संपक्वेष्टाक की कलाविधि	३७ग-३८क	
उद्घट्ट और संपक्वेष्टाक की द्विकल-चतुष्कल कलाविधि	३८ख-घ	
अन्य कांस्यतालधर और उसका प्रयोजन	३९	
संकीर्णभेद	४०-४२ख	
खण्डभेद	४२ग-४३ख	
परिवर्तन	४३ग-घ	
लय	४४क-ग	
लय की त्रिविधता	४४घ-४५	
लयभेदों का भावसंबन्ध	४६क-ख	
अक्षर, पद, वाक्य में लय	४६ग-घ	
यति	४७क-ख	
यति की त्रिविधता	४७ग-घ	
उनके लक्षण		
समा	४८	
स्रोतोगता	४९	
गोपुच्छा	५०	
ग्रह		
ग्रह की त्रिविधता	५१क-ख	
समग्रह	५१ ग-घ	
अतीतग्रह	५२क-ख	
अनागतग्रह	५२ग-५३ख	
(ख) प्रकरण नामक गीत प्रकरण		४४-१५२
प्रकरण गीत	५३ग-५६	
गीतकों के पदाधारित भेद		
१—कुलक और छेद्यक	५७-५८ख	
२—निर्युक्त, पदनिर्युक्त, अनिर्युक्त	५८ख-घ	
उनके लक्षण	५९-६०क	
(अ) सप्तगीतकों के लक्षण		
१—मद्रक	६०ख-६१ख	
एककल मद्रक	६१ग-७७	
वस्तु का प्रमाण	६१ग-घ	
वस्तुओं की समाप्ति का नियम	६२	
पातकलाविधि	६३-६४ख	
शीर्षक	६४ग-६७	

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

	श्लोकसंख्या	पृष्ठसंख्या
गीतांग	६८-७७	
द्विकल मद्रक	७८-८२ख	
चतुष्कल मद्रक	८२ग-८८ख	
२—अपरान्तक	८८ग-घ	
एककल अपरान्तक	८९-९६ख	
द्विकल अपरान्तक	९६ग-१०१	
चतुष्कल अपरान्तक	१०२-१०५	
३—उल्लोप्यक	१०६-१३५ख	
४—प्रकरी	१३५ग-१४४ख	
५—ओवेणक	१४४ग-१६४ख	
६—रोविन्दक	१६४ग-१७५	
७—उत्तर	१७६-१७९ख	
अंगों पर आधारित गीतकों के दो मार्ग	१७९ग-१८०	
(आ) सप्तगीतों के लक्षण		
१—छन्दक	१८१-१८३ख	
२—आसारित	१८३ग-१९९	
(१) कनिष्ठासारित	१८४ग-१८५ख	
(२) लयान्तरासारित	१८५ग-१८६क	
(३) मध्यमासारित	१८६ख-१८७क	
(४) ज्येष्ठासारित	१८७क-घ	
अंगविभाजन संबन्धी लक्षण	१८८-१९९	
३—वर्धमान	२००-२१९	
(१) कण्डिकावर्धमान	२०१-२१०	
(२) आसारिताभास वर्धमान	२११-२१५	
(अ) कनिष्ठासारिताभास वर्धमान	२१२	
(आ) लयान्तराभास वर्धमान	२१३	
(इ) मध्यमासारिताभास वर्धमान	२१४	
(ई) ज्येष्ठासारिताभास वर्धमान	२१५	
(३) वर्धमानाभास आसारित	२१६-२१९	
४—पाणिका	२२०-२२४ख	
५—ऋक्	२२४ग-२२८	
६—गाथा	२२९-२३१ख	
७—साम	२३१ग-२३६	
(ग) देशीताल प्रकरण		१५२-२३८
मंगलाचरण	२३७	
देशीताल का सामान्य लक्षण	२३८-२४०ख	
देशीतालों का उद्देश	२४०ग-२५५	
देशीतालों का खण्डतालत्व	२५६-२५७ख	

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

	श्लोकसंख्या	पृष्ठसंख्या
द्रुत आदि के अन्य नाम	२५७ग-२५९	
द्रुत आदि के देवता	२६०	
द्रुत आदि की लिपि	२६१	
देशीतालों के लक्षण और प्रस्तार	२६२क-३१४ख	
१—आदिताल	२६२ग-घ	
२—द्वितीय	२६२घ	
३—तृतीय	२६३क-ख	
४—चतुर्थ	२६३ख-ग	
५—पंचम	२६३घ	
६—निःशंकलील	२६४क-ख	
७—दर्पण	२६४ग	
८—सिंहविक्रम	२६४घ-२६५क	
९—रतिलील	२६५ख	
१०—सिंहलील	२६५ग-घ	
११—कन्दर्प	२६५घ-२६६ख	
१२—वीरविक्रम	२६६ग-घ	
१३—रंग	२६७क	
१४—श्रीरंग	२६७ख	
१५—चच्चरी	२६७ग-घ	
१६—प्रत्यंग	२६८क	
१७—यतिलग्न	२६८ख	
१८—गजलील	२६८ग-घ	
१९—हंसलील	२६९क-ख	
२०—वर्णभिन्न	२६९ग	
२१—त्रिभिन्न	२६९घ	
२२—राजचूडामणि	२७०क-ख	
२३—रंगोद्योत	२७०ग-घ	
२४—रंगप्रदीप	२७०घ-२७१क	
२५—राजताल	२७१क-ख	
२६—वर्ण	२७१ग-२७३क	
२७—सिंहविक्रीडित	२७३ख-घ	
२८—जय	२७३घ-२७४क	
२९—वनमाली	२७४ख-ग	
३०—हंसनाद	२७४घ-२७५क	
३१—सिंहनाद	२७५क-ख	
३२—कुडुक्क	२७५ग	
३३—तुरंगलील	२७५घ-२७६क	
३४—शरभलील	२७६ख-ग	

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

	श्लोकसंख्या	पृष्ठसंख्या
३५—सिंहनन्दन	२७६घ-२७७ग	
३६—त्रिभंगि	२७७घ	
३७—रंगाभरण	२७८क-ख	
३८—मण्ठ	२७८ख-२८०क	
३९—कोकिलाप्रिय	२८०ख-ग	
४०—निःसारुक	२८०ग-घ	
४१—राजविद्याधर	२८१क-ख	
४२—जयमंगल	२८१ग-घ	
४३—मल्लिकामोद	२८२क-ख	
४४—विजयानन्द	२८२ग-घ	
४५—क्रीडा	२८३क-ख	
४६—जयश्री	२८३ग	
४७—मकरन्द	२८३घ	
४८—कीर्तिताल	२८४क	
४९—श्रीकीर्ति	२८४ख	
५०—प्रतिताल	२८४ग	
५१—विजय	२८४घ	
५२—बिन्दुमाली	२८५क-ख	
५३—सम	२८५ग	
५४—नन्दन	२८५घ	
५५—मण्ठिका	२८६	
५६—दीपक	२८७क	
५७—उदीक्षण	२८७ख	
५८—ढेंकी	२८७ग-घ	
५९—विषम	२८८क-ख	
६०—वर्णमण्ठिका	२८८-ग-घ	
६१—अभिनन्द	२८९क-ख	
६२—अनंग	२८९ग	
६३—नान्दीताल	२८९घ	
६४—मल्लताल	२९०क-ख	
६५—कंकाल	२९०ग-२९१	
६६—कन्दुक	२९२क	
६७—एकताली	२९२ख	
६८—कुमुद	२९२ग-२९३क	
६९—चतुस्ताल	२९३ख-ग	
७०—डोम्बुली	२९३ग-घ	
७१—अभंग	२९४क	
७२—रायवंकोल	२९४क-ख	
७३—वसन्त	२९४ग	

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

	श्लोकसंख्या	पृष्ठसंख्या
७४—लघुशेखर	२९४ग-घ	
७५—प्रतापशेखर	२९५क-ख	
७६—झम्पाताल	२९५ग-घ	
७७—गजझम्प	२९६क-ख	
७८—चतुर्मुख	२९६ग-घ	
७९—मदन	२९७क	
८०—प्रतिमण्ठ	२९७ख-ग	
८१—पार्वतीलोचन	२९७घ-२९८क	
८२—रतिताल	२९८ख	
८३—लीलाताल	२९८ग	
८४—करणयति	२९८घ	
८५—ललित	२९९क	
८६—गारुगि	२९९ख-ग	
८७—राजनारायण	२९९घ-३००क	
८८—लक्ष्मीश	३००ख-ग	
८९—ललितप्रिय	३००घ-३०१क	
९०—श्रीनन्दन	३०१ख	
९१—जनक	३०१ग	
९२—वर्धन	३०१घ	
९३—रागवर्धन	३०२क-ख	
९४—षट्ताल	३०२ग	
९५—अन्तरक्रीडा	३०२घ-३०३क	
९६—हंस	३०३ख	
९७—उत्सव	३०३ग	
९८—विलोकित	३०३घ	
९९—गज	३०४क	
१००—वर्णयति	३०४ख	
१०१—सिंह	३०४ग	
१०२—करण	३०४घ	
१०३—सारस	३०५क-ख	
१०४—चण्डताल	३०५ग-घ	
१०५—चन्द्रकला	३०६क-ख	
१०६—लय	३०६ग-घ	
१०७—स्कन्द	३०७क	
१०८—अड्डताल	३०७ख-घ	
१०९—घत्ता	३०८क	
११०—द्वन्द्व	३०८ख	
१११—मुकुन्द	३०८ग-घ	
११२—कुविन्दक	३०९क-ख	

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

	श्लोकसंख्या	पृष्ठसंख्या
११३—कलध्वनि	३०९ग-घ	
११४—गौरी	३१०क	
११५—सरस्वतीकण्ठाभरण	३१०ख-घ	
११६—भग्नताल	३११क-ख	
११७—राजमृगाङ्क	३११ग-घ	
११८—राजमार्तण्ड	३१२क-ख	
११९—निःशंक	३१२ग-घ	
१२०—शार्ङ्गदेव	३१३क-ख	
तालप्रत्यय	३१४-ग-४१०ख	
१—प्रस्तार	३१७ग-३१९	
२—संख्या	३२०-३२५ख	
३—नष्ट	३२५ग-३३१	
४—उद्दिष्ट	३३२-३३५	
५—पाताल	३३६-३३९ख	
६—द्रुतमेरु	३३९ग-३४८ख	
७—लघुमेरु	३४८ग-३५२ख	
८—गुरुमेरु	३५२ग-३५५	
९—प्लुतमेरु	३५६-३५८ख	
१०—संयोगमेरु	३५८ग-३७८ख	
११—खण्डप्रस्तार	३७८ग-३७९	
१२,१३—द्रुतमेरु का नष्ट और उद्दिष्ट	३८०-३९६	
(१) अधःपंक्ति के समकोष्ठ का नष्ट	३८०-३८५	
(२) अधःपंक्ति के समकोष्ठों का उद्दिष्ट	३८६-३८८ख	
(३) अधःपंक्ति के विषमकोष्ठ का नष्ट	३८८ग-३८९ख	
(४) अधःपंक्ति के विषमकोष्ठ का उद्दिष्ट	३८९ग-३९०ख	
(५) द्रुतनेरु की परपंक्ति का नष्ट	३९०ग-३९४ख	
(६) द्रुतमेरु की परपंक्ति का उद्दिष्ट	३९४ग-३९६	
१४—लघुमेरु का नष्ट	३९७-४०३ख	
(१) अधःपंक्ति का नष्ट	३९७-३९९ख	
(२) परपंक्ति का नष्ट	३९९ग-४०३ख	
१५—गुरुमेरु का नष्ट	४०३ग-४०६ख	
(१) अधःपंक्ति का नष्ट	४०३ग-४०४क	
(२) परपंक्ति का नष्ट	४०४ख-४०६ख	
१६—प्लुतमेरु का नष्ट	४०६ग-४०९	
(१) अधःपंक्ति का नष्ट	४०६ग-घ	
(२) परपंक्ति का नष्ट	४०७-४०९	
१७, १८, १९—लघु, गुरु, प्लुत मेरुओं का उद्दिष्ट	४१०क-ख	
प्रस्तुत संस्करण में शुद्ध किये गये आड्यार सं० के मुद्रित मूल पाठ		२३९-२४६

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

	श्लोकसंख्या	पृष्ठसंख्या
छठा वाद्याध्याय		२४७-५५०
मंगलाचरण	१-२	
वाद्य-निरूपण का प्रयोजन	३	
चतुर्विध वाद्य और उनका प्रयोजनों से संबन्ध	४-५ख	
चतुर्विध वाद्यों के सामान्य लक्षण	५ग-६	
वाद्यों के भेदों का उद्देश		
ततभेद	७-८	
स्वरवीणा के भेदों का उद्देश	९-१०	
सुषिर वाद्यों के भेदों का उद्देश	११-१२ख	
अवनद्ध वाद्य के भेदों का उद्देश	१२ग-१४	
घन वाद्य के भेदों का उद्देश	१५-१६ख	
प्रयोग-भेद से वाद्य-भेद	१६ग-१८ख	
वाद्य का ईश्वरकर्तृकत्व	१८ग-१९ख	
वाद्यप्रयोग के अवसर	१९ग-२३ग	
पदार्थसंग्रह	२३घ-२७	
वाद्यनिर्माण संबन्धी नाप	२८	
वाद्ययन्त्रों के लक्षण		
(अ) ततवाद्य		२५६-३६२
१— एकतन्त्री	२९-१०९	
डाँड का लक्षण	२९-३२ख	
ककुभ का लक्षण	३२ग-३४	
पत्रिका और शंकु का लक्षण	३५-४१	
तूँबे का लक्षण	४२-४५क	
तूँबे का बन्धन और तन्त्री की स्थापना	४५-४९ख	
जीवा का लक्षण	४९ग-५०	
मन्द्र स्वरस्थान की लक्षिका डोरी	५१-५३ख	
एकतन्त्री वीणा की स्तुति	५३ग-५४	
एकतन्त्री में देवताओं का अधिष्ठान	५५-५६	
वीणा की धारण और वादन-विधि	५७-६१	
सारणा के भेद	६२-६४	
हस्तव्यापारों का संग्रह	६५-६९ख	
हस्तव्यापारों का निरूपण		
दाहिने हाथ के व्यापार		
१—घात	६९ग-घ	
२—पात	७०क	
३—संलेख	७०ख	
४—उल्लेख	७०ग-घ	
५—अवलेख	७१-७२	
६—भ्रमर	७३क-ख	

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

	श्लोकसंख्या	पृष्ठसंख्या
७—संधित	७३ग-घ	
८—छिन्न	७४	
९—नखकर्तरी	७५क-ख	
बायें हाथ के व्यापार		
१—स्फुरित	७५ग-घ	
२—खसित	७६क-ख	
दोनों हाथों के व्यापार		
१—घोष	७६ग-७७ख	
२—रेफ	७७ग-७८ख	
३—बिन्दु	७८ग-७९ख	
४—कर्तरी	७९ग-८०ख	
५—अर्धकर्तरी	८०ग-८१ख	
६—निष्कोटित	८१ग-८२ख	
७—स्खलित	८२ग-८३ख	
८—शुकवक्त्रक	८३ग-घ	
९—मूर्च्छना	८४	
१०—तलहस्त	८५	
११—अर्धचन्द्र	८६क-ख	
१२—प्रसारक	८६ग-८७ख	
१३—कुहर	८७ग-८८ख	
वाद्य	८८ग-घ	
दस प्रकार का वाद्य	८९-९०ख	
१—छन्द	९०ग-९१ख	
२—धारा	९१ग-९२ख	
३—कैकुटी	९२ग-९३ख	
४—कंकाल	९३ग-९४ख	
५—वस्तु	९४ग-९५ग	
६—द्रुत	९५ग-९६ख	
७—गजलील	९६ग-९७ख	
८—दण्डक	९७ग-९८ख	
९—उपरिवाद्यक	९८ग-९९ख	
१०—पक्षिरुत	९९ग-घ	
ध्वनि के गुण पर आधरित द्विविध वाद्य	१००क-ख	
सकलवाद्य	१००ग-१०२ख	
निष्कलवाद्य	१०२ग-१०४ख	
२, ३, ४, ५, ६—नकुल आदि पाँच वीणाओं का लक्षण	११०-११४ख	
नकुल, त्रितन्त्री, चित्रा, विपंची	११०-११२ख	
मत्तकोकिला	११२ग-११४ख	

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

	श्लोकसंख्या	पृष्ठसंख्या
करण	११४ग-१२३	
१—रूप	११६-११७	
२—कृतप्रतिकृत	११८क-ख	
३—प्रतिभेद	११८ग-११९	
४—रूपशेष	१२०	
५—ओघ	१२१-१२२ख	
६—प्रतिशुष्का	१२२ग-१२३	
धातुएँ	१२४-१६३	
धातु का लक्षण	१२४-१२५ख	
चार प्रकार की धातुएँ	१२५ग-१२७क	
चतुर्विध धातुओं के भेदों का उद्देश		
१—विस्तार के भेद	१२६-१३०	
२—करण के भेद	१३१	
३—आविद्ध के भेद	१३२क-ग	
४—व्यंजन के भेद	१३२घ-१३४ख	
धातुओं के लक्षण		
१—विस्तार के भेदों के लक्षण		
(अ) विस्तारज	१३४ग-१३६	
(आ) संघातज	१३७-१३९ख	
(१) द्विरुत्तर	१३९ग-घ	
(२) द्विरधर	१४०क-ख	
(३) अधराद्युत्तरान्तक	१४०ग-घ	
(४) उत्तराद्यधरान्तक	१४१	
(इ) समवायज		
(१) त्रिरुत्तर	१४२क-ख	
(२) त्रिरधर	१४२ग-घ	
(३) द्विरुत्तराधरान्त	१४३क-ख	
(४) द्विरधरोत्तरान्त	१४३ग-१४४ख	
(५) उत्तरादिद्विरधर	१४४ग-घ	
(६) अधरादिद्विरुत्तर	१४५क-ख	
(७) मध्योत्तरद्विरधर	१४५ग-घ	
(८) अधरमध्यद्विरुत्तर	१४६	
(ई) अनुबन्ध	१४७	
२—करणभेदों के लक्षण	१४८	
(१) रिभित	१४९क	
(२) उच्चय	१४९ख	
(३) नीरटित	१४९ग	
(४) ह्राद	१४९घ	
(५) अनुबन्ध	१५०क-ख	

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

	श्लोकसंख्या	पृष्ठसंख्या
३—आविद्धभेदों के लक्षण	१५०ग-घ	
(१) क्षेप	१५१क	
(२) प्लुत	१५१ख	
(३) अतिपात	१५१ग	
(४) अतिकीर्ण	१५१घ-१५२क	
(५) अनुबन्ध	१५२ख-१५३ख	
४—व्यंजनभेदों के लक्षण	१५३ग-घ	
(१) पुष्प	१५४	
(२) कल	१५५	
(३) तल	१५६	
(४) बिन्दु	१५७क-ख	
(५) रेफ	१५७ग-घ	
(६) अनुस्वनित	१५८क-ख	
(७) निष्कोटित	१५८ग-घ	
(८) उन्मृष्ट	१५९क-ख	
(९) अवमृष्ट	१५९ग-१६०	
(१०) अनुबन्ध	१६१-१६२	
धातुओं की जातियाँ	१६४	
वृत्तियाँ	१६५	
चित्रा-वृत्ति	१६६क-ख	
वृत्ति-वृत्ति	१६६ग-घ	
दक्षिणा-वृत्ति	१६७क-ख	
गीतानुगवाद्य का लक्षण	१७०ग-१७१ख	
तत्त्व का लक्षण	१७१ग-१७२	
अनुगत का लक्षण	१७३-१७४ख	
ओघ का लक्षण	१७४ग-१७५	
निर्गीतवाद्य का लक्षण	१७८क-ख	
निर्गीतवाद्य के भेद	१७८ग-१८०ख	
निर्गीतवाद्य के भेदों के लक्षण	१८०ग-२४०	
१—आश्रावणा	१८०ग-१९९	
२—आरंभविधि	२००-२०९ख	
३—वक्त्रपाणि	२०९ग-२१५ख	
४—संखोटना	२१५ख-२२०	
५—परिघट्टना	२२१-२२७ख	
६—मार्गासारित	२२७ग-२३१ख	
७—लीलाकृत	२३१ग-२३८ख	
८, ९, १०—तीन आसारित	२३८ग-२४०	
७—आलापिनी	२४१-२५६	
डाँड व ककुभ का लक्षण	२४१ग-२४४	

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

	श्लोकसंख्या	पृष्ठसंख्या
तूँबे का लक्षण	२४५-२४६ख	
तन्त्री का लक्षण	२४६ग-घ	
वादनविधि	२५०-२५६	
८—किंनरी	२५७-३२७	
मार्गकिंनरी	२५७क-ख	
लघ्वी किंनरी	२५७ग-घ	
डाँड का लक्षण	२५८-२५९क	
ककुभ का लक्षण	२५९ख-घ	
पत्रिका का लक्षण	२६०	
सारिका का लक्षण	२६१-२६५	
तूँबे की स्थापना	२६६-२६७ख	
चलशंकु की स्थापना	२६७ग-२६८ख	
मेढक और स्थिरशंकु की स्थापना	२६८ख-२६९ख	
तन्त्री की स्थापना	२६९ग-२७३	
वादनविधि	२७४-२७६ख	
बृहती किंनरी	२७६ग-२७८ख	
देशी किंनरी	२७८ग-२७९	
देशी बृहती किंनरी		
डाँड और ककुभ का लक्षण	२८०-२८३	
पत्रिका का लक्षण	२८४	
लोहे की नली और चलशंकु का लक्षण	२८५-२९१ख	
सारिका का लक्षण	२९१ग-२९८	
तूँबे का लक्षण	२९९-३००	
सारिकाओं की स्थापना	३०१-३०६	
मध्यमा किंनरी		
डाँड का लक्षण	३०७	
ककुभ का लक्षण	३०८-३१०ख	
तार की स्थापना	३१०ग-३११क	
पर्दों की स्थापना	३११ख-३१६	
लघ्वी किंनरी		
डाँड का लक्षण	३१७	
ककुभ का लक्षण	३१८-३२०ग	
पर्दों की स्थापना	३२०घ-३२५	
किंनरी में देशीरागों का वादन	३२८	
रागांग		
१—मध्यमादि	३२९-३३२	
२—बंगाल	३३३-३४४	
३—भैरव	३४५-३४६	
४—वराटी	३४७-३४८	

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

	श्लोकसंख्या	पृष्ठसंख्या
५—गुर्जरी	३४९-३५०	
६—वसन्त	३५१ग-३५२ख	
७—धन्नासी	३५२ग-३५५ख	
८—देशी	३५५ग-३५७	
९—देशाख्या	३५८-३५९	
भाषांग		
१—डोम्बक्री	३६०-३६२ख	
२—प्रथममंजरी	३६२ग-३६४	
३—कामोदा	३६५-३६६ख	
क्रियांग		
१—रामकृति	३६६ग-३६९	
२—गौडकृति	३७०-३७२	
३—देवकृति	३७३-३७५	
उपांग		
१—भैरवी	३७६-३७९ख	
२—छायानट्टा	३७९ग-३८१ख	
३—बहुलीरामक्री	३८१ग-३८३	
४—मल्हार	३८४-३८७ख	
५—कर्णाटगौड	३८७ग-३८९	
६—तुरुष्कगौड	३९०-३९३ख	
७—द्राविडगौड	३९३ग-३९५	
८—ललिता	३९६-३९८	
९— पिनाकी	४०१ग-४११ख	
कम्रा (डाँड) का लक्षण	४०१ग-४०५	
वादनचाप का लक्षण	४०६-४०८ख	
धारण और वादनविधि	४०८ग-४११ख	
१०— निःशंकवीणा	४११ग-४१७	
वीणावादक के गुण	४२१ग-४२३	
(आ) सुषिरवाद्य		३६२-४३८
१— वंश	४२४-६५१	
सामान्य बनावट	४२४-४३१ख	
वंश के भेद	४३१ग-४३९	
स्वरोत्पादन की विधि	४४०-४५५ख	
वंशगतियाँ	४५५ग-४५९	
मतान्तर से वंशव्यवस्था	४६०-४६३	
मतान्तर से वंशों के भिन्न नाप	४६४-५०१	
ग्रन्थकार की आपत्तियाँ	५०२-५२५	
ग्रन्थकार के मत से वंश का लक्षण	५२६-५६१	
स्वमत में भिन्न नाप से वंशनिरूपण	५६२-६५१	

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

	श्लोकसंख्या	पृष्ठसंख्या
वंश का विनियोग	६५२-६५४ख	
फूत्कार के गुण	६५४ग-६५७ख	
फूत्कार के दोष	६५७ग-६६३ख	
वंशीवादक के गुण	६६३ग-६६६ख	
वंशीवादक के दोष	६६६ग-६६७	
वांशिकवृन्द	६६८	
वंशी में कुछ देशीरागों का वादन	६६९	
रागांग		
१—मध्यमादि	६७०-६७७ख	
२—मालवश्री	६७७ग-६८६ख	
३—तोडी	६८६ग-६९१ख	
४—बंगाल	६९१ग-६९५	
५—भैरव	६९६-६९९	
६—वराटी	७००-७०३ख	
७—गुर्जरी	७०३ग-७०५	
८—वसन्त	७०६-७०८ख	
९—धन्नासी	७०८ग-७११ख	
१०—देशी	७११ग-७१३	
११—देशाख्या	७१४-७१६ख	
भाषांग		
१—डोम्बक्री	७१६ग-७१८	
२—वेलावली	७१९-७२४ख	
३—प्रथममंजरी	७२४ग-७२७ख	
४—आडिकामोदी	७२७ग-७३०	
५—शुद्धवराटी	७३१-७३२	
६—शुद्धनट्टा	७३३-७३५	
क्रियांग		
१—रामकृति	७३६-७३८	
२—गौडकृति	७३९-७४२ख	
३—देवकृति	७४२ग-७४४	
उपांग		
१—भैरवी	७४५-७४६	
२—छायानट्टा	७४७-७५३	
३—चिन्धमरामक्री	७५४-७५६ख	
४—नाट्यरामकृति	७५६ग-७६१	
५—मल्हार	७६२-७६३	
६—कर्णाटगौड	७६४-७६६ख	
७—देशवालगौड	७६६ग-७६८ख	
८—तुरुष्कगौड	७६८ग-७७०ख	
९—द्राविडगौड	७७०ग-७७२ख	

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

	श्लोकसंख्या	पृष्ठसंख्या
दो भाषाएँ		
१—कैशिकी	७७२ग-७७४	
२—ललिता	७७५-७७७	
अधुना प्रसिद्ध देशीराग		
श्रीराग	७७८-७८२ख	
२—पाव	७८३ग-७८४ख	
३—पाविका	७८४ग-७८६	
४—मुरली	७८७	
५—मधुकरी	७८८-७९४	
६—काहला	७९५-७९६	
७—तुण्डकिनी	७९७-७९८ख	
८—चुक्का	७९८ग-घ	
९—शृंग	७९९-८०२ख	
१०—शंख	८०२ग-८०५	
(इ) अवनद्ध वाद्य		४३९-५३९
१— पटह	८०६	
मार्गपटह	८०७-८१८ख	
देशीपटह	८१८ग-८२२ख	
पटह के वर्ण	८२२ग-८२४	
हस्तपाट	८२८ग-८४०ख	
नन्दिकेश्वर द्वारा कहे गये पाटभेद	८४०ग-८४१ख	
पटह आदि के हस्तपाट	८४१ग-८४७	
आठ अपाट	८४८-८५०	
शिव के मुँह से उत्पन्न पाटों का स्वरूप	८५१	
सद्योजात से उत्पन्न हस्तपाट		
वामदेव से उत्पन्न हस्तपाट		
अघोर से उत्पन्न हस्तपाट		
तत्पुरुष से उत्पन्न हस्तपाट		
ईशान से उत्पन्न हस्तपाट		
नन्दिकेश्वर के चार हस्तपाट	८५२	
१—कोणाहत	८५२	
२—संभ्रान्त	८५३	
३—विषम	८५४	
४—अर्धसम	८५५क-ख	
पटह आदि के इक्कीस हस्तपाट		
१—उत्फुल्ल	८५५ग-घ	
२—खलक	८५६	
३—पाण्यन्तरनिकुट्टक	८५७-८५८ख	

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

	श्लोकसंख्या	पृष्ठसंख्या
४—दण्डहस्त	८५८ग-८५९ख	
५—पिण्डहस्त	८५९ग-घ	
६—युगहस्त	८६०	
७—ऊर्ध्वहस्त	८६१कं-ख	
८—स्थूलहस्त	८६१ग-८६२ख	
९—अर्धार्धपाणि	८६२ग-घ	
१०—पार्श्वपाणि	८६३क-ख	
११—अर्धपाणि	८६३ग-घ	
१२—कर्तरी	८६४क-ख	
१३—समकर्तरी	८६४ग-घ	
१४—विषमकर्तरी	८६५क-ख	
१५—समपाणि	८६५ग-८६६ख	
१६—विषमपाणि	८६६ग-८६७ख	
१७—पाणिहस्तक	८६७ग-घ	
१८—नागबन्ध	८६८	
१९—अवघट	८६९	
२०—स्वस्तिक	८७०क-ख	
२१—समग्रह	८७०ग-८७१ख	
प्रायः हुडुक्का के सोलह हस्तपाट		
१—उल्लोल	८७१ग-८७३ख	
२—पाण्यन्तर	८७३ग-८७६ख	
३—निर्घोष	८७६ग-घ	
४—खण्डकर्तरी	८७७	
५—दण्डहस्त	८७८	
६—समनख	८७९	
७—बिन्दु	८८०	
८—यमलहस्त	८८१	
९—रेचित	८८२	
१०—भ्रमर	८८३क-ख	
११—विद्युत् विलास	८८३ग-८८४ख	
१२—अर्धकर्तरी	८८४ग-८८५ख	
१३—अलग्न	८८५ग-घ	
१४—रेफ	८८६क-ख	
१५—समपाणि	८८६ग-घ	
१६—परिवृत्त	८८७क-ख	
आठ अपाट		
१—तलप्रहार	८८७ग-८८८ख	
२—प्रहर	८८८ग-घ	

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

	श्लोकसंख्या	पृष्ठसंख्या
३—वलित	८८९	
४—गुरुगुंजित	८९०	
५—अर्धसंच	८९१	
६—त्रिसंच	८९२	
७—विषम	८९३क-ख	
८—अभ्यस्त	८९३ग-घ	
दो अलग पाट		
१—संच	८९४क-ख	
२—विच्छुरित	८९४ग-८९५ख	
दो चित्रपाट		
१—भ्रमर	८९५ग-घ	
२—कुंचित	८९६क-ख	
पाँच संच	८९६ग-९००ख	
पटह आदि के वाद्य	९००ग-घ	
वाद्यों का उद्देश	९०१-९०५	
वाद्यों के लक्षण		
१—वोल्लावणी	९०६-९०९	
२—चल्लावणी	९१०क-ख	
३—उडुव	९१०ग-९११ख	
४—कुचुंबिणी	९११ग-९१२ख	
५—चारुश्रवणिका	९१२ग-९१३	
६—अलग्न	९१४क-ख	
७—परिश्रवणिका	९१४ग-९१५ख	
८—समप्रहार	९१५ग-घ	
९—कुडुवचारणा	९१६	
१०—करचारणा	९१७क-ख	
११—दण्डहस्त	९१७ग-९१८ख	
१२—घनरव	९१८ग-९१९ख	
प्रायः हुडुक्का के वाद्य		
१—वल्लि	९१९ग-९२०ख	
२—वल्लिपाट	९२०ग-९२१ख	
३—घत्ता	९२१ग-९२२	
४—भेद	९२३-९२४ख	
५—झडप्पणी	९२४ग-९२५ख	
६—अनुश्रवणिका	९२५ग-९२६ख	
७—हस्त	९२६ग-९२७	
८—जोडणी	९२८	
९—त्रिगुणा	९२९-९४०	

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

	श्लोकसंख्या	पृष्ठसंख्या
१०—पंचहस्त	९४१क-ख	
११—पंचपाणि	९४१ग-घ	
१२—पंचकर्तरी	९४२क-ख	
१३—चन्द्रकला	९४२ग-९४४	
वाद्य प्रबन्ध	९४५	
वाद्यप्रबन्धों का उद्देश	९४६-९५२	
वाद्यप्रबन्धों का निरूपण		
१—यति	९५३-९५६ख	
२—ओता	९५६ग-९६३ख	
३—गजर	९६३ग-९६७ख	
४—रिगोणी	९६७ग-९७१	
५—कवित	९७२-९७५ख	
६—पद	९७५ग-९७७	
७—मेलापक	९७८-९८०	
८—उपशम	९८१-९८२ख	
९—उद्ग्राह	९८२ग-९८४	
१०—प्रहरण	९८५-९८६ख	
११—अवत्सक	९८६ग-९८८	
१२—छण्डण	९८९क-ख	
१३—तुडुका	९८९ग-९९२ख	
१४—मलप	९९२ग-९९६	
१५—मलपांग	९९७क-ख	
१६—मलपपाट	९९७ग-घ	
१७—छेद	९९८	
१८—रूपक	९९९-१०००ख	
१९—अन्तर	१०००ग-घ	
२०—अन्तरपाट	१००१	
२१—खोज	१००२	
२२—खण्डयति	१००३	
२३—खण्डच्छेद	१००४	
२४—अवयति	१००५	
२५—खण्डपाट	१००६क-ख	
२६—खण्डक	१००६ग-घ	
२७—खण्डहुल्ल	१००७क-ख	
२८—सम	१००७ग-घ	
२९—पाट	१००८क-ख	
३०—ध्रुवक	१००८ग-घ	
३१—अंग	१००९क-ख	
३२—अंगरूपक	१००९ग-१०१०ख	

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

	श्लोकसंख्या	पृष्ठसंख्या
३३—ताल	१०१०ग-घ	
३४—विताल	१०११क-ख	
३५—खलक	१०११ग-१०१२ख	
३६—समुदाय	१०१२ग-घ	
३७—जोडणी	१०१३क-ख	
३८—उडव	१०१३ग-घ	
३९—तलपाट	१०१४क-ख	
४०—उट्टवणी	१०१४ग-१०१५	
४१—तुण्डक	१०१६	
४२—अंगपाट	१०१७क-ख	
४३—पैसार	१०१७ग-घ	
२—मर्दल	१०२०-१०३९	
मर्दलवादकों के भेद	१०४०	
१—वादक	१०४१-१०५८	
२—मुखरी	१०५९-१०६०	
३—प्रतिमुखरी	१०६१क-ख	
४—गीतानुग	१०६१ग-१०६५ख	
मार्दलिक के गुण-दोष	१०६५ग-१०६८ख	
मार्दलिकवृन्द	१०६८ग-१०६९ख	
३—हुडुक्का	१०६९ग-१०७९ख	
४—करटा	१०७९ग-१०८६	
५—घट	१०८७-१०८८ख	
६—घडस	१०८८ग-१०९१	
७—ढवस	१०९२-१०९६ख	
८—ढक्का	१०९६ग-१०९८ख	
९—कुडुक्का	१०९८ग-१०९९ख	
१०—कुडुवा	१०९९ग-११०३	
११—रुंजा	११०४-१११०ख	
१२—डमरुक	१११०ग-१११४ख	
१३—डक्का	१११४ग-११२१ख	
१४—मण्डिडक्का	११२१ग-११२७ख	
१५—डक्कुली	११२७ग-११३३ख	
१६—सेल्लुका	११३३ग-११३८ख	
१७—झल्लरी	११३८ग-११४०	
१८—भाण	११४१	
१९—त्रिवली	११४२-११४६	
२०—दुन्दुभी	११४७-११४९	
२१—भेरी	११५०-११५३ख	

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

	श्लोकसंख्या	पृष्ठसंख्या
२२—नि:साण	११५३ग-११५७	
२३—तुम्बकी	११५८क-ख	
लकड़ी का लक्षण	११५८ग-११६५ख	
लकड़ी के दोष	११६५ग-घ	
चमड़े के गुण	११६६-११६९ख	
चमड़े के दोष	११६९ग-११७०ख	
(ई) घनवाद्य		५३९-५४७
१—ताल	११७२-११८२	
२—कांस्यताल	११८३-११८५ख	
३—घण्टा	११८५ग-११८९ख	
४—क्षुद्रघण्टिका	११८९ग-११९१	
५—जयघण्टा	११९२-११९४ख	
६—कम्रा	११९४ग-११९९	
७—शुक्ति	१२००-१२०३ख	
८—पट्ट	१२०३ग-१२०७	
वाद्य के गुण-दोष	१२०९-१२१५ख	
वादक के गुण-दोष	१२१५ग-१२२०ख	
हाथ के गुण	१२२०ग-१२२१	
संदर्भग्रन्थ-सूची		५५१

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

श्रीनिःशङ्कशार्ङ्गदेवप्रणीतः

संगीतरत्नाकरः

पञ्चमस्तालाध्यायः

श्रीनिःशङ्कशार्ङ्गदेव-प्रणीत

संगीतरत्नाकर

पाँचवाँ तालाध्याय

(मङ्गलाचरणम्)

नानामार्गैर्लयो यत्र यतीनां स्यात् कलानिधौ।
तं दक्षिणं शिवं नौमि चित्रं वृत्तिमयं ध्रुवम्॥ १॥

मंगलाचरण

शंकर पक्ष में

१. (अ०) **यत्र कलानिधौ** जिस कलानिधि (शिव) में **यतीनां** (यम, नियम आदि अष्टांग योग में रत) मुमुक्षुओं का **नानामार्गैः** (सांख्य, योग आदि) अनेक मार्गों से **लयः स्यात्** अन्तर्भाव होता है **तं दक्षिणम्** उस दक्षिणामूर्ति **चित्रं** (सृष्टि के प्रपंच में) नाना रूप वाले, **वृत्तिमयं** सविषय ज्ञान के आकार वाले, **ध्रुवं** (उपाधिरहित होने से) नित्य **शिवं** शिव को **नौमि** नमन करता हूँ।

ताल पक्ष में

यत्र जिस **कलानिधौ** कला (आवापादि निःशब्द और ध्रुव आदि सशब्द क्रिया) के आश्रय (ताल) में **यतीनां** (समा, स्रोतोगता आदि) यतियों की **नानामार्गैः** (चित्र, वार्तिक आदि) अनेक मार्गों से **लयः स्यात्** विश्रान्ति होती है **तम्** उस **ध्रुवं चित्रं वृत्तिमयं दक्षिणं** ध्रुव, चित्र, वार्तिक (और) दक्षिण (मार्गों) वाले **शिवं नौमि** कल्याणदायक (ताल) को नमन करता हूँ।

(सर०) चौथे अध्याय में प्रबन्धों के अन्तर्गत तालों का प्रयोग बताया जा चुका है। वह ताल क्या है और उसकी क्या विशेषताएँ हैं* इस आकांक्षा से ताल का निरूपण करने से पहले उसके अनुरूप मंगलाचरण यहाँ ग्रन्थकार ने किया है, ऐसा सिंह० ने व्याख्या शुरू करते हुए कहा। कल्लि० ने कहा कि प्रबन्ध के अंग के रूप में कहे गये, गीत-वाद्य-नृत्त के आधार रूप ताल का लक्षण देने के लिये उसकें विशेषणों की समानता दिखाते हुए ग्रन्थकार ने शुरू में अपने इष्ट देवता शिव की स्तुति की है।

---

* ताल के विशेष अध्ययन के लिये देखें लेखिका की पुस्तक—भारतीय संगीत में 'निबद्ध'।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

सं०र० के पहले अध्याय के शुरू में किये गये मंगलाचरण की तरह यहाँ भी समासोक्ति अलंकार के द्वारा शिव और ताल में विशेषणों की समानता प्रकट करने वाले दो अर्थ देने वाले शब्दों के द्वारा मंगलाचरण किया है।

सिंह० के अनुसार दक्षिणं का अर्थ 'दाक्षिण्यवन्त' यानी भक्तों के प्रति वत्सल है। उसका पाठ चित्रवृत्तिमयं है, तदनुसार अर्थ किया है चित्र यानी विविध सृष्टि (उत्पत्ति), स्थिति (पालन) और संहार आदि कार्य करने वाली वृत्ति यानी व्यापारमय। यतीनां यानी नियम पालन करने वाले सन्यासी और स्वधर्म में रत गृहस्थ और नानामार्गैः अर्थात् स्वधर्मरूप मार्गों पर चलने वाले, लयः अर्थात् विशेष प्रकार के ध्यान के द्वारा उस शिव में लीन यानी उसी के स्वरूप के हो जाने वाले, कलानिधौ यानी चन्द्रमा की कलाओं के निधि (आश्रय), शिवं यानी कल्याण देने वाले—यह अर्थ करके सिंह० ने कहा कि इस अध्याय का प्रकृत (प्रस्तुत) विषय ताल है इसलिये इसी श्लोक से ताल की व्यवस्था को स्थापित करने वाले कल्याणदायक ध्रुव, चित्र, वार्तिक और दक्षिण मार्गों को नमन किया है। आगे चल कर ग्रन्थकार श्रेयस् के लिए मार्गताल का प्रयोग कहने वाले हैं इसलिये, सिंह० के अनुसार, यहाँ 'शिवं' के द्वारा श्रेयस् या कल्याण कहा गया है। सिंह० ने शिवपक्ष में व्याख्या करते हुए शिव को स्तुत्य कहा है लेकिन तालपक्ष में शिव का अर्थ कल्याणप्रद करके ध्रुव आदि चार मार्गों की स्तुति दिखाई है। वास्तव में शिवपक्ष में शिव यानी महेश की और तालपक्ष में शिव के द्वारा ताल की स्तुति की गई है।

कल्लि० ने, श्लोक में प्रयुक्त कुछ शब्दों का, सिंह० से भिन्न अर्थ किया है। कलानिधौ में कला का अर्थ शिव के आश्रित शक्तियाँ या श्वेत आदि कलाएँ जिसमें रहती हैं ऐसे कलानिधि शिव; यतीनां यानी यम, नियम आदि अष्टांग योग में रत मोक्ष की इच्छा करने वाले (मुमुक्षु); नानामार्गैः सांख्य, योग आदि उपायों के द्वारा; लयः शिव के साथ ऐक्य (एकाकार होना); दक्षिणं दक्षिणामूर्ति कहलाने वाले; चित्रं प्रपंच (सृष्टिरूप) में अनेक रूप वाले; ध्रुवं यानी उपाधियों (विशेषणों) से रहित होने से नित्य—यह अर्थ है।

तालपक्ष में दोनों टीकाकारों की व्याख्या लगभग एकसी है। इस प्रकार इस स्तुति का प्रस्तुत शिव और अप्रस्तुत ताल होने से समासोक्ति अलंकार है जिसका लक्षण है—प्रस्तुत के द्वारा अप्रस्तुत का कथन।

इस मंगलाचरण श्लोक में तालसंबन्धी ये प्रमुख तत्त्व आ गए हैं—लय, कला, मार्ग और यति।

(मार्गतालतत्त्वलक्षणप्रकरणम्)

(तालशब्दस्य व्युत्पत्तिः)

अथ तालः—

तालस्तलप्रतिष्ठायामिति धातोर्घञि स्मृतः।
गीतं वाद्यं तथा नृत्तं यतस्ताले प्रतिष्ठितम्॥ २॥

(क) मार्गतालतत्त्वलक्षण प्रकरण

ताल शब्द की व्युत्पत्ति

२. (अ०) **अथ तालः** अब ताल (का निरूपण किया जा रहा है)।

तालः ताल (शब्द) **प्रतिष्ठायां** प्रतिष्ठा में (आधार अर्थ वाली) **तल इति धातोः** 'तल'—इस धातु से **घञि** 'घञ्' (प्रत्यय) में (अर्थात् घञ् प्रत्यय लगाने पर) **स्मृतः** माना गया (है) **यतः** क्योंकि **गीतं वाद्यं तथा नृत्तं** गीत, वाद्य और नृत्त **ताले** ताल में **प्रतिष्ठितम्** आधार पाये हुए हैं।

(सर०) दोनों टीकाकारों ने यह स्पष्ट किया कि ताल शब्द में 'घञ्' प्रत्यय अधिकरण कारक के रूप में प्रयुक्त है तदनुसार 'जिसमें प्रतिष्ठित हो'—यह अर्थ है। संगीत के तीन अंग—गीत, वाद्य और नृत्त ताल में ही प्रतिष्ठित होते हैं इसलिए उन्हें ताल ही आधार प्रदान करता है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(ताललक्षणम्)

कालो लघ्वादिमितया क्रियया संमितो मितिम्।
गीतादेर्विदधत्तालः,

ताल का लक्षण

३ क-ग. (अ०) लघु-आदिमितया लघु आदि से नापी गई **क्रियया** (सशब्द और निःशब्द) क्रिया के द्वारा **संमितः** सीमित किया गया **गीत-आदेः** गीत आदि के **मितिं** माप को **विदधत्** विशेष रूप से धारण करता हुआ (अर्थात् नापता हुआ) **कालः** काल(खण्ड) **तालः** ताल (है)।

(सर०) ताल की यह बहुत संक्षिप्त लेकिन अपने में पूर्ण परिभाषा है और इसके द्वारा ग्रन्थकार ने ताल का लक्षण दिया है। लघु-आदि में आदि के द्वारा द्रुत, गुरु, प्लुत का ग्रहण करना अभिप्रेत है, यह दोंनों टीकाकारों ने कहा। कल्लि० ने ध्यान दिलाया कि लघु से भी छोटी इकाई द्रुत है इसलिए यहाँ 'लघ्वादि' के बजाय द्रुतादि कहना चाहिए था। लेकिन ऐसा कहने से मार्गताल का ग्रहण नहीं होता क्योंकि उनमें द्रुत नहीं होता और ग्रन्थकार का मन्तव्य मार्ग और देशी दोनों प्रकार के ताल के संदर्भ में लक्षण देना है इसलिए लघ्वादि ही उचित है। कल्लि० ने यह भी कहा कि उक्त विशेष प्रकार का काल ही ताल शब्द का मुख्य अर्थ है, काँसे से बना हुआ ताल नामक घनवाद्य तो आघातों से उत्पन्न ध्वनि के द्वारा उस (कालखण्डरूप) ताल को व्यक्त करता है इसलिए लक्षणा से ताल कहा जाता है। इस व्याख्या में ना०शा० का ताललक्षण ध्वनित होता है जहाँ कहा गया है कि कला, पात और लय से युक्त ताल के योग वाला काल ही घनवाद्य का प्रमाण होता है। यथा—

वाद्यं तु यद् घनं प्रोक्तं कलापातलयान्वितः।
कालस्तस्य प्रमाणं हि विज्ञेयं तालयोगतः॥ (ना०शा०, ३१/१)

इसका आशय यही है कि निःशब्द-सशब्द क्रियाओं के द्वारा बनने वाला तालरूप कालखण्ड घनवाद्य के द्वारा व्यक्त होता है। यही बात ग्रन्थकार ने स्वयं आगे देशीताल के संदर्भ में कही है। (श्लो० २३७)

ताललक्षण में सशब्द-निःशब्द के लिए क्रिया शब्द का प्रयोग हुआ है। यह स्मरणीय है कि ना०शा० में क्रिया शब्द नहीं है बल्कि 'कला' है जो सामान्य रूप से सशब्द-निःशब्द दोनों प्रकार की क्रियाओं का सूचक है। साथ ही उन क्रियाओं की गुरु आदि इकाई को भी सूचित करता है। निःशब्द-सशब्दादि के अर्थ में सबसे पहले अभिनव ने क्रिया शब्द का प्रयोग किया है और शार्ङ्गदेव ने वहीं से यह शब्द ले लिया है।

(द्विप्रकारस्तालः मार्गो देशीति)

स च द्वेधा बुधैः स्मृतः॥ ३॥

मार्गोदेशीगतत्वेन,

ताल के दो प्रकार—मार्ग और देशी

३ घ-४ क (अ०) स च और वह **मार्गदेशीगतत्वेन** मार्ग (और) देशी (संगीत) गत रूप वाला होने से **बुधैः** बुद्धिमानों के द्वारा **द्वेधा स्मृतः** दो प्रकार का माना गया (है)।

(सर०) सं०र० में ताल को मार्ग और देशी इन दो वर्गों में विभाजित किया है। सं०र० के पहले और दूसरे खण्डों की 'सरस्वती' व्याख्या में यह कहा जा चुका है कि सं०र० का प्रतिपाद्य मुख्य रूप से देशी संगीत है। लेकिन देशी संगीत के सारे

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

मूल तत्त्व मार्ग संगीत (भरतोक्त गान्धर्व) से प्राप्त हुए हैं इसलिए गान्धर्व के अन्तर्गत आए तालसंबंधी सभी विषयों का निरूपण ग्रन्थकार ने पहले किया है। मार्ग संगीत में प्रयुक्त ताल मार्गताल कहे गए हैं और देशी संगीत के देशीताल।

(तत्र मार्गस्य द्विधा क्रिया)

तत्राद्यस्य क्रिया द्विधा।
निःशब्दा शब्दयुक्ता च निःशब्दा तु कलोच्यते॥ ४॥

स्यादावापोऽथ निष्क्रामो विक्षेपश्च प्रवेशकः।
निःशब्देति चतुर्धोक्ता सशब्दापि चतुर्विधा॥ ५॥

ध्रुवः शम्या ततस्तालः संनिपात इतीरिता।
पातः कला तु सा ज्ञेया तासां लक्ष्माभिदध्महे॥ ६॥

मार्ग की दो प्रकार की क्रिया

४ ख-६. (अ०) तत्र उनमें से आद्यस्य पहले (मार्गताल) की क्रिया द्विधा क्रिया दो प्रकार की (होती है)—निःशब्दा शब्दयुक्ता च शब्द (ध्वनि) रहित और शब्दयुक्त (ध्वनि सहित अर्थात् सशब्दा)। निःशब्दा तु निःशब्दा तो कला उच्यते कला कही जाती है अथ और निःशब्दा निःशब्दा आवापः निष्क्रामः विक्षेपः प्रवेशकः च आवाप, निष्क्राम, विक्षेप और प्रवेश इति चतुर्धा स्यात् यों चार प्रकार से होती है। सशब्दा अपि सशब्दा भी चतुर्विधा उक्ता चार प्रकार की कही गई (है जो) ध्रुवः शम्या ध्रुव, शम्या ततः उसके बाद तालः संनिपातः ताल (और) संनिपात इति ईरिता यों कही गई (है)। सा तु वह (सशब्द क्रिया) तो पातः कला पात (और) कला (यों दो नामों से) ज्ञेया जानी गई (है)। तासां लक्ष्म उनके लक्षण अभिदध्महे कहे जा रहे हैं।

(सर०) निःशब्द क्रिया से तात्पर्य उन क्रियाओं से है जिनमें से कोई ध्वनि सुनाई नहीं देती और सशब्दा उन्हें कहा है जिनसे उत्पन्न होने वाली ध्वनि को कान से सुना जा सकता है। दोनों ही ४-४ प्रकार की होती हैं। निःशब्द के चार प्रकार ये हैं—आवाप, निष्क्राम, विक्षेप और प्रवेश। सशब्द के चार प्रकार हैं—ध्रुव, शम्या, ताल और संनिपात। निःशब्द को कला कहा जाता है और सशब्द के लिए कला और पात—ये दो संज्ञा हैं। पातः कला तु में तु अव्यय इसी अर्थ को सूचित करता है इस ओर कल्लि० ने ध्यान दिलाया है। ये सभी हाथों पर की जाने वाली क्रियाएँ हैं। इससे यह प्रकट है कि मूलतः ताल का प्रयोग हाथों के द्वारा करना अभिप्रेत है।

ग्रन्थकार ने सशब्द और निःशब्द—ये दो प्रकार की मार्गताल की क्रियाएँ बताईं। लेकिन ध्यान देने की बात है कि देशीतालों में ऐसी कोई क्रिया नहीं कही, जो इसका सूचक है कि देशीताल में हाथ की क्रियाएँ आवश्यक नहीं थीं।

(तासां लक्षणानि)

आवापस्तत्र हस्तस्योत्तानस्याङ्गुलिकुञ्चनम्।
निष्क्रामोऽधस्तलस्य स्यादङ्गुलीनां प्रसारणम्॥ ७॥

क्षेपो दक्षिणपार्श्वस्योत्तानस्य प्रसृताङ्गुलेः।
विक्षेपोऽधस्तलस्यास्य प्रवेशोऽङ्गुलिकुञ्चनम्॥ ८॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

निःशब्द-सशब्द क्रियाओं के लक्षण

७-८. (अ०) तत्र उनमें से **उत्तानस्य हस्तस्य** ऊपर की ओर किए हुए हाथ (हथेली) की **अङ्गुलिकुञ्चनम्** उँगलियों को सिकोड़ना **आवापः** आवाप (है)। **अधःतलस्य** नीचे की ओर हथेली की **अङ्गुलीनां प्रसारणम्** उँगलियों का फैलाव (फैलाना) **निष्क्रामः स्यात्** निष्क्राम होता है। **प्रसृत-अङ्गुलेः उत्तानस्य** फैली उँगलियों वाली ऊपर की ओर (हथेली) की **दक्षिणपार्श्वस्य क्षेपः** दाहिनी बाजू की फेंक (अर्थात् दाहिनी ओर फेंकना) **विक्षेपः** विक्षेप (है)। **अस्य अधःतलस्य** इस नीचे की ओर (की हुई हथेली) की **अङ्गुलिकुञ्चनम्** उँगलियों को सिकोड़ना **प्रवेशः** प्रवेश (है)।

(सर०) उत्तान हस्त का अर्थ है सीधी यानी ऊपर की ओर खुली हथेली और अधस्तल यानी उल्टी हथेली। तदनुसार सीधी हथेली की उँगलियाँ सिकोड़ कर मुट्ठी बनाना आवाप है। उसी मुट्ठीबन्द हथेली को उल्टा करके उँगलियाँ फैला कर मुट्ठी खोलना निष्क्राम है। सीधी खुली हथेली को दाहिनी ओर फेंकना विक्षेप है और उल्टी खुली हथेली की उँगलियाँ सिकोड़ कर मुट्ठी बाँधना प्रवेश है।

ध्रुवो हस्तस्य पातः स्याच्छोटिकाशब्दपूर्वकः।
शम्या दक्षिणहस्तस्य तालो वामकरस्य तु॥ ९॥

उभयोः संनिपातः स्यात् तासां मार्गवशान् मितिः।

९-१० ख. (अ०) छोटिका-शब्दपूर्वकः चुटकी (से उत्पन्न) शब्द पूर्व वाले (अर्थात् चुटकी बजाते हुए) **हस्तस्य पातः** हाथ का नीचे गिरना **ध्रुवः स्यात्** ध्रुव होता है। **दक्षिणहस्तस्य** दाहिने हाथ का (पात) **शम्या** शम्या (और) **वामकरस्य तु** बाएँ हाथ का (पात) तो **तालः** ताल (होता है)। **उभयोः** दोनों (हाथों) का (पात) **संनिपातः** संनिपात (होता है)। **तासाम्** उन (क्रियाओं) की **मार्गवशात् मितिः स्यात्** मार्गों के वश से (अर्थात् अनुसार) मिति (माप) होती है।

(सर०) पिछली दो कारिकाओं में निःशब्द क्रियाओं के लक्षण देने के बाद प्रस्तुत कारिकाओं में सशब्द क्रियाओं के लक्षण दिए हैं।

ध्रुव क्रिया की व्याख्या करते हुए सिंह० ने कहा कि अँगूठे और मध्यमा उँगली के तल (पोर) के संयोग से ध्वनि उत्पन्न करना छोटिका है और इस प्रकार ध्वनि उत्पन्न करके यानी चुटकी बजा कर हाथ को नीचे की ओर ले जाने की क्रिया ध्रुव कहलाती है। दाहिने हाथ को बाएँ हाथ पर गिरा कर ताली बजाने पर शम्या होती है। इसके विपरीत बाएँ हाथ से दाहिने हाथ पर ताली बजाना ताल नामक सशब्द क्रिया होती है और दोनों हाथों का पात संनिपात है। इससे ऐसा समझा जा सकता है कि संनिपात में एक हथेली ऊपर और दूसरी नीचे रखकर दोनों को परस्पर टकराना अथवा एक हथेली बाईं ओर और दूसरी दाहिनी ओर रखकर दोनों को बीच में लाकर मिलाते हुए परस्पर टकराना अन्वित है।

शम्या, ताल और संनिपात तीनों में हाथों को टकराने की क्रिया अन्वित है। लेकिन शम्या और ताल में सिर्फ़ एक ही हाथ से क्रिया की जाती है और दूसरा निष्क्रिय रहता है जबकि संनिपात में दोनों हाथ क्रियाशील होते हैं।

सशब्द-निःशब्द क्रियाएँ मुख्य रूप से अदृष्ट फल की प्राप्ति के लिए गान्धर्व यानी मार्ग पद्धति में अनिवार्य हैं और इनमें अवधान बहुत आवश्यक माना गया। लेकिन अभिनव ने यह भी स्पष्ट किया कि इन्हें सुकर, ललित और रुचिर ढंग से करना चाहिए।

सशब्द-निःशब्द क्रियाओं का नाप क्या हो इस बारे में ग्रन्थकार ने कहा कि मार्गों के अनुसार इनका माप निश्चित होता है। अगली कारिकाओं में मार्गों के नाम और नाप दिए हैं।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(चत्वारः मार्गाः तेषु क्रियाणां मितिः च)

मार्गाः स्युस्तत्र चत्वारो ध्रुवश्चित्रश्च वार्तिकः॥ १०॥

दक्षिणश्चेति तत्र स्याद् ध्रुवके मात्रिका कला।
शेषेषु द्वे चतस्त्रोऽष्टौ क्रमान् मात्राः कला भवेत्॥ ११॥

चार मार्ग और उनमें क्रियाओं के नाप

१० ग-११. (अ०) तत्र इस संबन्ध में ध्रुवः चित्रः च ध्रुव और चित्र, वार्तिकः दक्षिणः च इति वार्तिक और दक्षिण— इस प्रकार चत्वारः मार्गाः स्युः चार मार्ग होते हैं। तत्र उनमें से ध्रुवके ध्रुव (मार्ग) में मात्रिका कला स्यात् एक (प्रमाणभूत नाप वाली) मात्रा की कला (क्रिया) होती है। शेषेषु शेष तीन (चित्र, वार्तिक और दक्षिण) में क्रमात् क्रम से द्वे चतस्त्रः अष्टौ मात्राः दो, चार (और) आठ मात्राओं वाली कला भवेत् कला होती है।

(सर०) ग्रन्थकार ने सीधे चार मार्गों के नाम दे दिए हैं लेकिन मार्ग का लक्षण उसने या दूसरे ग्रन्थकारों ने नहीं दिया है। किन्तु ध्रुवपात की टीका में अभिनव ने कहा—'नियतकालकलासंपातश्च मार्ग उच्यते' अर्थात् नियत काल वाली कला और पातों के समूह को यानी निश्चित क्रम को मार्ग कहते हैं। कलाओं के निश्चित क्रम के द्वारा ही ताल की दूरी तय होती है इसलिए अभिनव का मार्ग का यह लक्षण सार्थक है।

मार्ग शब्द का अर्थ है रास्ता। लोक में जैसे मार्ग दो स्थानों के बीच की दूरी का सूचक होता है उसी तरह ताल में भी मार्ग के द्वारा दूरी यानी ताल के द्वारा नापी जाने वाली दूरी अर्थात् कुल लम्बाई सूचित की जाती है।

भरत ने तीन ही मार्ग कहे—चित्र, वार्तिक और दक्षिण। लेकिन शार्ङ्गदेव के अनुसार मार्ग चार हैं—ध्रुव, चित्र, वार्तिक और दक्षिण। बृह० में इनके अलावा शून्य मार्ग भी है जिसमें कला द्रुत यानी आधी मात्रा की होती है (बृह०, प्रथम खण्ड, अनु० ११३)। लेकिन ध्रुव और शून्य मार्ग स्वतन्त्र रूप से मार्गतालों में प्रयुक्त नहीं होते बल्कि एक मार्ग से दूसरे मार्ग में लय परिवर्तन करते समय या मागधी गीति में ही प्रयुक्त होते हैं।

भरत ने स्पष्टतः ध्रुवमार्ग नहीं कहा लेकिन कई स्थानों पर प्राप्त संकेतों के आधार पर अभिनव ने यह स्थापित किया कि भरत को ध्रुव मार्ग भी मान्य है अन्यथा मूल इकाई लघु को ५ निमेष (५ लघु अक्षर) काल न देकर सीधे चित्रमार्ग में १० निमेष के बराबर एक मात्रा, वार्तिक में दो मात्रा और दक्षिण में चार मात्रा कहा होता। भरत ने ५ निमेष की एक मात्रा से शुरू किया और चित्रमार्ग में २ मात्रा की कला कही इससे यह स्पष्ट है कि चित्रमार्ग से आधी लम्बाई वाला ध्रुवमार्ग भरत के द्वारा मान्य है जो भरत के कई कथनों में संकेतित है (अभि०, ३१/३८-४०)।

ध्रुवमार्ग में अभि० के अनुसार सभी क्रियाएँ समान माप की गुरुरूपा लेकिन ५ लघु अक्षरकाल के बराबर होती हैं जिसे अभिनव ने 'एकरसगुरुप्रस्ताररूपा' कहा है (ना०शा०, ३१/१६० पर अभि०, पृ० २२४, पं० ५)।

ध्रुवमार्ग में कला एक मात्राकाल की, चित्र में दो की, वार्तिक में चार की और दक्षिण में आठ की होती है। इस कथन में कई बातें अन्वित हैं। एक तो यह कि मार्गों में कलाओं का नाप दुगना-दुगना हो जाता है, परिणामतः मार्ग की लम्बाई भी क्रमशः दुगनी हो जाती है। अथवा यों कह सकते हैं कि मार्ग दुगना हो जाता है यानी कला का काल दुगना हो जाता है। इसी अर्थ में ग्रन्थकार ने मार्गों के आधार पर क्रियाओं का नाप तय होना कहा है। दूसरे, कला की मूल या प्रमाणभूत आधार इकाई एक मात्रा है और उसी के द्वारा मार्गों में कला का नाप और मार्ग की लम्बाई निश्चित होती है। तीसरे, मात्रा कला का एकमात्र नियत नाप नहीं बल्कि ऐसा मूल नाप है जो ध्रुवमार्ग में तो सभी कलाओं का प्रमाण होता है क्योंकि ध्रुवमार्ग में सभी कलाएँ एक मात्रा के प्रमाण की ही होती है, लेकिन शेष मार्गों में कलाओं का नाप उसके दुगने, चौगुने और आठ गुने के अनुपात में होता है। शेष मार्गों में भिन्न अनुपात वाली लघु, गुरु, प्लुत—यों तीन तरह की क्रियाएँ होती हैं और तब उनके अनुसार

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

मार्गों में कलाओं का नाप निश्चित होता है। मार्गों में २, ४, ८ मात्रा की कला कहने से यह भी प्रकट होता है कि चित्र आदि तीन मार्गों में एक मौलिक कला का काल उतना होता है जितना २, ४ या ८ मात्राओं में लगता है। तात्पर्य यह है कि चित्र मार्ग में एक कला का काल ध्रुवमार्ग की अपेक्षा दुगना हो जाता है, वार्तिक में ध्रुव की तुलना में चौगुना और दक्षिण में आठ गुना हो जाता है यानी उतने-उतने काल में एक क्रिया होती है, २, ४ या ८ निःशब्द-सशब्द आदि क्रियाएँ नहीं। इसे सिंह० ने मात्रा के लक्षण की व्याख्या में स्पष्ट किया है जिसकी चर्चा श्लोक १६ ख-१७ ग में की जाएगी।

ग्रन्थकार निःशब्द क्रिया को कला और फिर सशब्द क्रिया को कला और पात कह चुके हैं। इसका अर्थ यह है कि कला शब्द का प्रयोग निःशब्द और सशब्द दोनों के लिए हो सकता है। लेकिन निःशब्द को केवल कला कहते हैं और पात सिर्फ़ सशब्द क्रिया के लिये है। अकेले कला शब्द का प्रयोग होने पर वह सशब्द—निःशब्द दोनों का यानी क्रिया मात्र का सूचक हो सकता है और कलापात—यों दोनों शब्द साथ हों तो कला सिर्फ़ निःशब्द को और पात सिर्फ़ सशब्द को सूचित करता है। क्रिया का प्रयोजन काल के खण्ड बनाना है और दोनों तरह की क्रियाएँ यह कार्य करती हैं इसलिए अभिनव ने दोनों को पात भी कहा—'परिच्छेदोपयोगिक्रियामात्र पात इति' (अभि०, पृ० १७४)। लेकिन दोनों की क्रिया में अन्तर के आधार पर निःशब्द क्रियाएँ कला और सशब्द क्रियाएँ पात कहलाती हैं।

ताल के संदर्भ में कला बहुत महत्त्वपूर्ण और प्रमुख शब्द है। ना०शा० के तालाध्याय के पहले श्लोक में (जो श्लोक ३ क-ग की सर० व्याख्या में उद्धृत किया जा चुका है) ताल के तीन मुख्य घटकों—कला, पात और लय—में कला पहला है। कला शब्द ताल के संदर्भ में अनेक अर्थों में प्रयुक्त होता है। मुख्य अर्थ ये हैं—१. क्रियामात्र—सशब्द-निःशब्द क्रियाएँ जो काल के टुकड़े करके एक खण्ड के रूप में ताल को निश्चित आकार देती हैं। 'कलाविधि' में कला दोनों प्रकार की क्रियाओं का सूचक है। २. क्रिया का एक नाप, ५ लघु अक्षर काल जो प्रस्तुत श्लोक में प्रयुक्त 'मात्रिका कला' में संकेतित या अन्वित है और जिसे आगे (श्लो० १६ ग-१७ ख में) मात्रा कहा है। इसी के द्वारा ताल की लघु-गुरु आदि इकाइयों का माप निश्चित होता है। भरत द्वारा चच्चत्पुट ताल को अष्टकल और चाचपुट को षट्कल कहने में कला शब्द लघु का ही सूचक है क्योंकि चच्चत्पुट में ८ और चाचपुट में ६ लघु इकाई या मात्रा होती हैं।

क्रियाओं से ही ताल सिद्ध होता है इसलिए ताल की दृष्टि से क्रिया ही कला का मुख्य अर्थ है। निःशब्द और सशब्द दोनों तरह की क्रियाएँ कला कहलाती हैं क्योंकि दोनों ही काल का विभाजन करती हैं, ताल के माप का साधन भी दोनों हैं और दोनों के द्वारा लय निश्चित होती है।

(मात्राः मार्गकलाः वा)

ध्रुवका सर्पिणी कृष्णा पद्मिनी च विसर्जिता।
विक्षिप्ताख्या पताका च मात्रा स्यात् पतिताष्टमी॥ १२॥

मात्रा अथवा मार्गकला

१२. (अ०) ध्रुवका सर्पिणी कृष्णा पद्मिनी विसर्जिता च ध्रुवका, सर्पिणी, कृष्णा, पद्मिनी और विसर्जिता, **विक्षिप्ता आख्या पताका च** विक्षिप्ता नामक और पताका (तथा) **पतिता अष्टमी मात्रा स्यात्** पतिता आठवीं मात्रा होती है।

(सर०) पदार्थसंग्रह प्रकरण में शार्ङ्ग० ने इनके लिए मार्गकला शब्द का प्रयोग किया है। उन्हीं को यहाँ तालाध्याय में मात्रा कहा गया है। आठ मात्राएँ ये हैं—ध्रुवका, सर्पिणी, कृष्णा, पद्मिनी, विसर्जिता, विक्षिप्ता, पताका और पतिता। भरत और दत्तिल ने इनका उल्लेख नहीं किया। सबसे पहले बृह० में इनके नाम और तालगीतियों में इनके प्रयोग की विधि दी गई है (बृह०, श्लो० १७८-८१)। शार्ङ्ग० ने भी उसी का अनुसरण करते हुए तालगीति में इनका प्रयोग दिखाया है (सं०र०, १/८/२० ख-२४)।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

सं०र० के तालाध्याय के शुरू के ५२ श्लोकों में मार्गताल संबन्धी तत्त्वों का निरूपण है, यह पहले कहा जा चुका है। इसी भाग के अन्तर्गत मार्गकला भी सम्मिलित है। ग्रन्थकार ने आगे चित्र आदि तीन मार्गों में इनके प्रयोग से संबन्धित निर्देश भी किया है और केवल ध्रुवपातों में इनका प्रयोग बताया है। इससे यह प्रकट होता है कि शार्ङ्ग० ने इन मात्राओं को मार्ग ताल का ही अंग माना है।

(तासां लक्षणानि)

सशब्दा तु ध्रुवा ज्ञेया सर्पिणी वामगामिनी।
कृष्णा दक्षिणतो गन्त्री पद्मिनी स्यादधोगता॥ १३॥

विसर्जिता बहिर्याता विक्षिप्ताकुञ्चनात्मिका।
पताका तूर्ध्वगमनात् पतिता करपातनात्॥ १४॥

उनके लक्षण

१३-१४. (अ०) सशब्दा तु सशब्द (क्रिया) तो ध्रुवा ज्ञेया ध्रुवा (के रूप में) जानी गई (है)। सर्पिणी वामगामिनी सर्पिणी बाईं ओर जाने वाली, कृष्णा कृष्णा दक्षिणतः गन्त्री दाहिनी ओर जाती हुई (और) पद्मिनी पद्मिनी अधोगता स्यात् नीचे जाने वाली होती है। विसर्जिता विसर्जिता बहिः याता बाहर की ओर गई हुई, विक्षिप्ता विक्षिप्ता आकुञ्चन-आत्मिका आकुंचन (मुट्ठी के) स्वरूप वाली, पताका तु पताका तो ऊर्ध्वगमनात् ऊपर की ओर जाने से (और) पतिता पतिता करपातनात् हाथ को गिराने से (होती है)।

(सर०) आठ मात्राओं में हाथ से क्रिया क्या होगी यह इन श्लोकों में बताया है। ध्रुवा के लिए कोई निश्चित क्रिया न बताकर सिर्फ़ इतना कहा है कि सशब्द क्रिया ध्रुवा समझी जाती है, शेष सात की अलग-अलग क्रिया कही है। इससे यह समझा जा सकता है कि ध्रुव नामक सशब्द क्रिया को ध्रुवा मात्रा मान लिया गया है और ध्रुवमार्ग में उसी का प्रयोग होता है, दूसरी किसी मात्रा का नहीं।

(मार्गेषु तासां प्रयोगः)

ध्रुवपाते प्रयोज्यास्ता नावापादौ कदाचन।

मार्गों में उनका प्रयोग

१५ क-ख. (अ०) ताः वे (मात्राएँ) ध्रुवपाते ध्रुवपात (सशब्द क्रिया) में प्रयोज्याः प्रयोग करनी चाहियें, आवाप-आदौ आवाप आदि (निःशब्द क्रियाओं) में न कदाचन कभी नहीं।

(सर०) इन मात्राओं का प्रयोग कहाँ किया जाना चाहिए इसका यहाँ निर्देश है। कल्लि० की व्याख्या के अनुसार ध्रुवपात का अर्थ ध्रुव आदि पात है जिसमें उसने सारी सशब्द क्रियाओं का ग्रहण किया है इसलिए उसके अनुसार इन मात्राओं का प्रयोग सभी सशब्द क्रियाओं के साथ विहित है।

ग्रन्थकार ने यह स्पष्ट रूप से कह दिया कि इन मात्राओं का प्रयोग केवल ध्रुवपातों में ही करना चाहिए, आवाप आदि निःशब्द क्रियाओं में कभी नहीं।

ध्रुवका पतिता चित्रे वार्तिके त्वादिमे उभे॥ १५॥

अन्त्ये द्वे च प्रयोक्तव्ये क्रमादष्टौ च दक्षिणे।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

१५ ग-१६ ख. (अ०) **चित्रे** चित्र (मार्ग) में **ध्रुवका पतिता** ध्रुवका (और) पतिता, **वार्तिके तु** वार्तिक (मार्ग) में तो **आदिमे उभे** शुरू की दो (ध्रुवका और सर्पिणी) **अन्त्ये द्वे च** (और) अन्तिम दो (पताका और पतिता) भी **प्रयोक्तव्ये** प्रयुक्त करनी चाहियें **क्रमात् अष्टौ च** और क्रम से आठों **दक्षिणे** दक्षिण (मार्ग) में (प्रयोग करनी चाहियें)।

(सर०) श्लोक ११ में ग्रन्थकार ने कहा कि ध्रुव, चित्र, वार्तिक और दक्षिण मार्ग में क्रम से १,२,४ और ८ मात्रा की कला होती है और उससे अगली कारिकाओं में ८ मात्राओं के नाम व लक्षण देकर प्रस्तुत अंश में यह बताया है कि किस मार्ग में किन मात्राओं का प्रयोग करना चाहिये। चित्र मार्ग में पहली ध्रुवका और अन्तिम पतिता, वार्तिक में शुरू की दो ध्रुवका, सर्पिणी तथा अन्तिम दो पताका और पतिता व दक्षिण मार्ग में क्रम से सभी आठ प्रयुक्त होती हैं।

ग्रन्थकार ने मार्गों में मात्राओं का प्रयोग बताते समय ध्रुवमार्ग को छोड़कर चित्रमार्ग से शुरू किया है। इसे ध्यान में रखकर कल्लि० ने कहा कि ध्रुव मार्ग में शेष ध्रुवपात (यानी ध्रुव सशब्द क्रिया) का प्रयोग होगा ऐसा समझना चाहिये अन्यथा ध्रुव का कहीं भी प्रयोग नहीं होगा क्योंकि तालों की कलाविधि में ग्रन्थकार ने किसी भी ताल में ध्रुव का प्रयोग नहीं दिया है। इसलिये ध्रुवमार्ग में केवल ध्रुवका मात्रा का प्रयोग होगा ऐसा मानकर ही ग्रन्थकार ने पहले (श्लो० ११ ख में) कहा 'ध्रुवके मात्रिका कला' जिसका अर्थ, कल्लि० के अनुसार यह है—ध्रुवके यानी ध्रुवमार्ग में मात्रिका यानी ध्रुवका (ध्रुव) नामक क्रिया होती है। मात्राओं में ध्रुवका पहली है और शब्दयुक्त भी है इसलिये ध्रुवपात के योग्य होने से उसकी उपयोगिता है, कल्लि० ने यह भी कहा।

ध्यान देने योग्य है कि आठ मात्राओं में से केवल ध्रुवका ही सशब्दा है, शेष सात शब्दरहित हैं। संभवतः इसलिये ग्रन्थकार ने ताल की क्रियाओं के संदर्भ में ध्रुवका मात्रा और ध्रुव सशब्द क्रिया को एकरूप मान कर ध्रुवमार्ग में किसी क्रिया का उल्लेख न करके उसमें मात्रिका कला कहा। इससे यह प्रतीत होता है कि ध्रुवमार्ग में सभी कलाएँ समान माप की हैं और उन सभी में सिर्फ़ ध्रुव नामक सशब्द क्रिया की जाती है।

इन मात्राओं का क्या प्रयोजन है इस बारे में शार्ङ्ग० या किसी पूर्ववर्ती ग्रन्थकार ने कुछ नहीं कहा है। लेकिन प्रयोजन को कुछ इस प्रकार समझ सकते हैं। मार्गों में कला का काल बहुत बड़ा होता है—चित्र में २ मात्रा का, वार्तिक में ४ का और दक्षिण में ८ का। केवल एक सशब्द क्रिया के द्वारा इतनी बड़ी कला को धारण करना बहुत कठिन है इसलिये एक मुख्य सशब्द क्रिया के साथ मात्रा के रूप में निःशब्द क्रियाओं का प्रयोग कहा है। वर्तमान प्रयोग में भी ऐसा किया जाता है। बहुत धीमी लय में मात्रा का काल बहुत बड़ा होने पर दो मात्राओं के बीच के काल को बनाये रखने के लिये आज भी मात्रा को कई क्रियाओं से भरा जाता है और यह कार्य हाथ पर तालप्रयोग करते समय उँगलियों के द्वारा, तबला आदि अवनद्ध वाद्यों पर कई बोलों से और तन्त्री वाद्यों पर कई आघातों से किया जाता है। मात्रा अथवा मार्गकला का भी यही प्रयोजन है। तदनुसार चित्र मार्ग में २ मात्राओं वाली कला के पहले भाग में ध्रुवका यानी ताल की (शम्या आदि) अपनी नियत सशब्द क्रिया और दूसरे भाग में पतिता, इसी तरह वार्तिक मार्ग में ४ मात्रा वाली कला के चार भागों में से पहले में ध्रुवका यानी ताल की अपनी नियत सशब्द क्रिया के बाद सर्पिणी, पताका और पतिता तथा दक्षिण मार्ग में ८ मात्रा वाली कला के पहले भाग में अपनी सशब्द क्रिया के रूप में ध्रुवका और शेष ७ भागों में क्रम से सर्पिणी, कृष्णा, पद्मिनी, विसर्जिता, विक्षिप्ता, पताका और पतिता का प्रयोग होता है।

ग्रन्थकार द्वारा ध्रुवका की क्रिया न बताकर उसे सिर्फ़ सशब्दा कहकर छोड़ देने का आशय यह है कि वह दूसरी ७ मात्राओं की तरह निःशब्द नहीं है लेकिन ध्रुव मार्ग में वह ध्रुव, शम्यादि चार सशब्द क्रियाओं में से छोटिका शब्द वाली ध्रुव नामक क्रिया के रूप वाली है और चित्र आदि तीन मार्गों में ताल की अपनी नियत सशब्द क्रिया ही ध्रुवका कहलाती है। इस प्रकार अन्य मात्राओं से उसमें यह विशेष है कि वह सशब्द है और मार्ग के अनुसार ध्रुव, शम्या, ताल अथवा संनिपात बनकर हर मार्ग की कला के प्रथम भाग में रहती है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(मात्रालक्षणम्)

पञ्चलघ्वक्षरोच्चारमिता मात्रेह कथ्यते॥ १६॥

अनया मात्रयात्र स्याल्लघुगुर्वादिकल्पना।

मात्रा का लक्षण

१६ ग-१७ ख. (अ०) **इह** यहाँ (मार्गतालों के संदर्भ में) **मात्रा** मात्रा **पञ्चलघु-अक्षर-उच्चारमिता** पाँच लघु (ह्रस्व) अक्षरों के उच्चारण (के काल) से मापी गई (अर्थात् उतने काल वाली) **कथ्यते** कही जाती है। **अत्र** यहाँ (मार्ग तालों में) **अनया मात्रया** इस (ऐसी) मात्रा के द्वारा **लघुगुरु-आदिकल्पना** लघु गुरु आदि की धारणा **स्यात्** होती है।

(सर०) मार्गकला के रूप में पहले कही गई मात्रा से यह मात्रा भिन्न है। पूर्वोक्त मात्रा हाथ की ध्वनिरहित क्रिया है जबकि प्रस्तुत मात्रा क्रिया का मूल नाप, एक इकाई है।

मात्रा के लक्षण की व्याख्या करते हुए सिंह० ने कहा कि पाँच लघु अक्षरों के उच्चारण में जितना काल लगता है उसके बराबर, उतने काल में होने वाली क्रिया को मात्रा कहा जाता है। स्पष्ट है कि जितने समय में १० लघु अक्षरों का उच्चार होता है उतने समय में होने वाली ताल की एक क्रिया मात्रा कहलाती है। कल्लि० ने इस तरह स्पष्ट किया कि कचटतप जैसे ५ अक्षरों के उच्चारण में लगने वाले समय के सदृश क्रिया का काल हो तो मात्रा होती है। ग्रन्थकार द्वारा मात्रा के लक्षण में प्रयुक्त 'इह' को लक्ष्य करके कल्लि० ने ध्यान दिलाया कि अन्य शास्त्र में एक निमेष के काल को मात्रा कहा गया है उसका अपवाद करने के लिए ग्रन्थकार ने इह के द्वारा मार्गताल के विषय में मात्रा का काल ५ लघु अक्षर के उच्चारण का काल कहा। छन्दशास्त्र में भी १ लघु अक्षर के काल को मात्रा कहा जाता है! लेकिन यह स्मरणीय है कि भरत ने ताल के संदर्भ में लघु अक्षर के बजाय ५ निमेष (पलक झपकना) के द्वारा कला का काल सूचित किया है—'निमेषा पञ्च विज्ञेया गीतकाले कलान्तरम्' (ना०शा०, ३१/३)।

ऐसी मात्रा के द्वारा लघु, गुरु, प्लुत का काल निश्चित होता है। सिंह० ने एक मात्रा से लघु, दो मात्राकाल से गुरु और तीन मात्राकाल से प्लुत कहा और कल्लि० ने क्रम से ५, १० और १५ लघु अक्षरकाल से लघु, गुरु, प्लुत कहा। सिंह० ने यह भी कहा कि द्रुत, अणुद्रुत आदि भी कहे गये हैं लेकिन भरत के प्रयोगों में और ग्रन्थ में अनुक्त होने तथा लक्ष्य में अप्रसिद्ध होने से ग्रन्थकार द्वारा इनकी उपेक्षा की गई है।

आगे कहे जाने वाले चच्चत्पुट ताल में मात्रा के उक्त लक्षण के आधार पर लघु-गुरु आदि का यह रूप होगा। चच्चत्पुट का मूलरूप ऽऽ।ऽ̇ है और इनका मात्राकाल २, २, १, ३ है।

	च	च्च	त्पु	टः	
मात्रा	२	२	१	३	
कला	ऽ	ऽ	।	ऽ̇	
अक्षरकाल	१०	१०	५	१५	चित्रमार्ग
	२०	२०	१०	३०	वार्तिकमार्ग
	४०	४०	२०	६०	दक्षिणमार्ग

चच्चत्पुट की कलाएँ तो तीनों मार्गों में ही ऽ ऽ । ऽ̇ ही रहेंगी और उनका अनुपात भी २, २, १, ३ ही होगा लेकिन हर कला का काल दुगना-दुगना हो जाने से मार्ग की यानी ताल की कुल लम्बाई दुगनी-दुगनी हो जाती है।

सिंह० ने मतंग द्वारा कहे गये १२ भङ्गताल और ६ उपभङ्ग तालों से संबन्धित बृह० का उद्धरण भी दिया है। लेकिन अगले श्लोक की व्याख्या में कहा कि मार्ग में वे उपयोगी नहीं हैं इसलिये मार्गगत तालों का निरूपण करने के लिये चतुरश्र और त्र्यश्र के द्वारा तालों का विभाजन किया। तात्पर्य यह है कि चतुरश्र-त्र्यश्र का विभाजन मार्गतालों से संबन्धित है, देशीतालों से संभवतः नहीं।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(मार्गतालस्य भेदद्वयं तयोः त्रिविधत्वं च)

चतुरश्रस्तथा त्र्यश्र इति तालो द्विधा मतः॥ १७॥

चच्चत्पुटश्चाचपुट इति नाम्नी तयोः क्रमात्।
यथाक्षरश्च द्विकलश्चतुष्कल इति त्रिधा॥ १८॥

प्रत्येकं तौ,

मार्गताल के दो भेद और उनकी त्रिविधता

१७ ग-१९ क. (अ०) चतुरश्रः तथा त्र्यश्रः चतुरश्र और त्र्यश्र इति इस प्रकार तालः द्विधा मतः ताल दो प्रकार का माना गया (है)। तयोः उन दोनों के क्रमात् क्रम से चच्चत्पुटः चाचपुटः इति नाम्नी चच्चत्पुट (और) चाचपुट ये नाम (हैं)। तौ प्रत्येकं दोनों (में से) हरेक यथाक्षरः द्विकलः चतुष्कलः च यथाक्षर, द्विकल और चतुष्कल इति त्रिधा यों तीन प्रकार से (होता है)।

(सर०) ताल के मुख्य दो भेद कहे गये—चतुरश्र और त्र्यश्र और उनके विशिष्ट नाम क्रम से चच्चत्पुट और चाचपुट कहे। चतुरश्र का शब्दार्थ है चार कोने वाला और त्र्यश्र का तीन कोने वाला। चतुरश्र और त्र्यश्र के द्वारा ताल के मूल दो रूपों को प्रतीकात्मक रूप में व्यक्त किया गया है और चच्चत्पुट तथा चाचपुट के द्वारा वे दो प्रतिनिधि ताल कहे हैं जिनमें चतुरश्र और त्र्यश्र साकार होते हैं।

इन दो तालों के चतुरश्रं और त्र्यश्र होने का बोध दो तरह से होता है—एक तो उनके मूल रूपों (यथाक्षर) में लघु-गुरु आदि विभिन्न इकाइयों को गुरु में परिवर्तित करके प्राप्त होने वाली गुरुओं की संख्या के आधार पर और दूसरे, उनके द्विकल-चतुष्कल रूपों में पादभागों की संख्या के आधार पर। चच्चत्पुट के यथाक्षर रूप में कलाएँ ऽऽ।ऽे और चाचपुट में ऽ।।ऽ हैं। इन्हें गुरु इकाइयों में परिवर्तित करने पर चच्चत्पुट में ४ गुरु और चाचपुट में ३ गुरु प्राप्त होते हैं। इसी कारण चच्चत्पुट को चतुरश्र और चाचपुट को त्र्यश्र कहा गया। गुरु इकाई के आधार पर ही चतुरश्रत्व और त्र्यश्रत्व प्रकट होता है इसलिये ग्रन्थकार ने आगे (श्लो० २० क में) कहा कि द्विकल आदि में कला शब्द गुरु का सूचक है। सिंह० ने उसकी व्याख्या में चच्चत्पुट व चाचपुट ताल के द्विकल और चतुष्कल पादभागों (ताल के खण्डों) की क्रम से ४ और ३ संख्या के आधार पर उनका चतुरश्रत्व और त्र्यश्रत्व कहा भी है।

चतुरश्र और त्र्यश्र को अन्य तालों की योनि अर्थात् मूल प्रकृति भी कहा गया है क्योंकि गुरु इकाई के रूप में मूल उपादान एक होते हुए भी उनके आधार पर बनने वाले ये चतुरश्र और त्र्यश्र आकार अन्य तालों के लिए आधार होते हैं (ना०शा०, ३१/७ ग-घ और अभि०, पृ० १५५, पं० १२-१३)।

चतुरश्र सम का और त्र्यश्र विषम का सूचक होता है इसलिये चच्चत्पुट को युग्म (जोड़े वाला) और त्र्यश्र को अयुग्म (जोड़े से रहित) भी कहा जाता है। इन रूपों का बोध चच्चत्पुट और चाचपुट के यथाक्षर रूपों में ही होता है। चच्चत्पुट में ४ गुरु होने से २-२ कलाओं के जोड़े बनते हैं लेकिन चाचपुट में ३ गुरु हैं इसलिये १ ही जोड़ा बनता है दूसरा अधूरा रह जाता है। इसीलिये ये ताल सम और विषम के प्रतीक हैं।

इन दोनों तालों के ३-३ रूप होते हैं—यथाक्षर, द्विकल और चतुष्कल जिनके बारे में अगले श्लोकों में कहा जाएगा।

(तेषां लक्षणानि)

नामगतैर्गलैस्तत्र यथाक्षरः।
अयमेककलश्चच्चत्पुटे त्वन्त्यं प्लुतं विदुः॥ १९॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ऽऽ।ऽ॑ इति यथाक्षरश्चच्चत्पुटः, ऽ।।ऽ इति यथाक्षरश्चाचपुटः॥

गुरुः कलात्र द्विकलेऽष्टावाद्येऽन्यत्र षट्कलाः।

ऽऽ ऽऽ ऽऽ ऽऽ इति द्विकलश्चच्चत्पुटः,

ऽऽ ऽऽ ऽऽ इति द्विकलश्चाचपुटः।

चतुष्कलौ तौ द्विगुणौ

ऽऽऽऽ ऽऽऽऽ ऽऽऽऽ ऽऽऽऽ इति चतुष्कलश्चच्चत्पुटः।

ऽऽऽऽ ऽऽऽऽ ऽऽऽऽ इति चतुष्कलश्चाचपुटः।

द्विकले द्विकलो मतः॥ २०॥

पादभागः कलानां तु चतुष्केण चतुष्कले।

उनके लक्षण

१९ क-२१ ख. (अ०) **तत्र** उनमें से **यथाक्षरः** यथाक्षर **नामगतैः ग-लैः** (ताल के) नाम में रहे हुए (अक्षरों के) लघु, गुरुओं से (होता है)। **अयम् एककलः** यही एककल (है)। **चच्चत्पुटे तु** चच्चत्पुट में तो **अन्त्यं प्लुतं विदुः** अन्तिम (अक्षर) प्लुत जाना जाता है। **ऽऽ।ऽ॑ इति** ऽऽ।ऽ॑ यह **यथाक्षरः चच्चत्पुटः** यथाक्षर चच्चत्पुट (और) **ऽ।।ऽ इति** ऽ।।ऽ यह **यथाक्षरः चाचपुटः** यथाक्षर चाचपुट (है)। **अत्र** इनमें **कला गुरुः** कला (का अर्थ) गुरु (है)। **आद्ये** पहले (चच्चत्पुट के) **द्विकले** द्विकल में **अष्टौ** आठ (और) **अन्यत्र** दूसरे (चाचपुट के द्विकल) में **षट्कलाः** ६ कलाएँ (होती हैं)। **ऽऽ ऽऽ ऽऽ ऽऽ इति द्विकलः चच्चत्पुटः** ऽऽ ऽऽ ऽऽ ऽऽ यों द्विकल चच्चत्पुट (और) **ऽऽ ऽऽ ऽऽ इति द्विकलः चाचपुटः** ऽऽ ऽऽ ऽऽ इस प्रकार द्विकल चाचपुट (होता है)। **तौ** वे दोनों (द्विकल चच्चत्पुट और द्विकल चाचपुट) **द्विगुणौ** दुगने (होने पर) **चतुष्कलौ** चतुष्कल (होते हैं)। **ऽऽऽऽ ऽऽऽऽ ऽऽऽऽ ऽऽऽऽ इति** ऽऽऽऽ ऽऽऽऽ ऽऽऽऽ ऽऽऽऽ इस प्रकार **चतुष्कलः चच्चत्पुटः** चतुष्कल चच्चत्पुट (और) **ऽऽऽऽ ऽऽऽऽ ऽऽऽऽ इति** ऽऽऽऽ ऽऽऽऽ ऽऽऽऽ इस प्रकार **चतुष्कलः चाचपुटः** चतुष्कल चाचपुट (होता है)। **पादभागः** पादभाग **द्विकले** द्विकल में **द्विकलः मतः** दो कला वाला माना गया (है और) **चतुष्कले** चतुष्कल में **कलानां तु** कलाओं के तो **चतुष्केण** चार के समूह से।

(सर०) प्रस्तुत श्लोकों में चच्चत्पुट और चाचपुट के यथाक्षर, द्विकल और चतुष्कल के लक्षण व प्रस्तार दिए हैं।

गलैः में ग और ल गुरु, लघु के संकेताक्षर हैं। यथाक्षर का शब्दार्थ है अक्षर के जैसा या अनुरूप। यानी तालनाम में अक्षरों का जो माप हो उसके अनुरूप ताल की क्रियाएँ हों तो यथाक्षर कहलाता है। जैसे—चच्चत्पुट के च+च्च+त्पु+टः—इन चार अक्षरों का मान ऽऽ।ऽ है। अन्तिम अक्षर गुरु होते हुए भी विशेष निर्देश से प्लुत माना जाता है इसलिये इसका स्वरूप ऽऽ।ऽ॑ होता है। इसके यथाक्षर रूप में क्रियाएँ भी ऽऽ।ऽ॑ यानी गुरु, गुरु, लघु, प्लुत के माप से होती हैं इसीलिये इसे यथाक्षर कहा गया है।

यहाँ यह ध्यान रखना जरूरी है कि छन्द और ताल दोनों में लघु, गुरु, प्लुत संज्ञा हैं लेकिन इनका कालमान दोनों में भिन्न है। छन्द में एक ह्रस्व अक्षर के उच्चारण काल को लघु कहा जाता है और उसके दुगने और तीनगुने को क्रम से गुरु और प्लुत। लेकिन ताल में छंद के ५ लघु अक्षरों का उच्चारण काल लघु कहलाता है और १० और १५ अक्षरकाल गुरु और प्लुत। ग्रन्थकार ने 'ताल के नाम में रहने वाले लघु गुरु के अनुसार'—यथाक्षर का यह लक्षण दिया है। इसके अनुसार नाम के अक्षरों में लघु-गुरु आदि का नाप तो छन्द के आधार पर ग्रहण किया जाएगा लेकिन क्रियाएँ ताल के लघु-गुरु के माप से होती हैं। इसलिये अक्षरों की दृष्टि से चच्चत्पुटः नाम में कुल ७ लघु होते हुए भी इसके यथाक्षर की तालक्रियाओं में १०, १०, ५, १५—यों कुल ४० लघु होते हैं।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

गुरुः कलाऽत्र की व्याख्या में कल्लि० ने अत्र में एककल, द्विकल, चतुष्कल तीनों का ग्रहण किया है जो ग्रन्थकार का अभिप्रेत नहीं है क्योंकि एक तो यह कहा है कि कला का अर्थ गुरु है, जबकि एककल यानी यथाक्षर में सारी कलाएँ गुरु नहीं होतीं। दूसरे, यथाक्षर का लक्षण और प्रस्तार देने के बाद कला को गुरु कहा है और उसके तुरन्त बाद द्विकल, चतुष्कल का लक्षण और प्रस्तार दिये हैं जिनमें सारी कलाएँ गुरु हैं। ग्रन्थकार ने द्विकल और चतुष्कल के लक्षण में भी क्रम से २ और ४ कलाओं से यानी गुरु से पादभाग की रचना कही है। इसलिये 'अत्र' का अर्थ द्विकल और चतुष्कल समझना चाहिये।

अन्यत्र षट्कलाः में अन्यत्र की व्याख्या कल्लि० ने दो तरह से की है। प्रबन्धाध्याय में एला प्रबन्ध के मात्रागण बताते समय मात्रा के पर्याय कला, लघु और ल कहे हैं (४/६३ क)। उसकी याद दिलाते हुए कल्लि० ने कहा कि कला शब्द को लघु के पर्याय के रूप में ग्रन्थकार कह चुके हैं इसलिये यहाँ उसके लिए 'अन्यत्र' कहा। तात्पर्य यह है कि यहाँ द्विकल आदि के संदर्भ में कला का अर्थ गुरु है लेकिन अन्यत्र प्रबन्धाध्याय में कला का अर्थ लघु है। उस अध्याय में प्रबन्ध की पदरचना में लघु वर्णों (अक्षरों) के लिये ग्रन्थकार ने कई बार कला शब्द का प्रयोग किया है।

'षट्कलाः' के साथ अन्वय करके अन्यत्र का अर्थ कल्लि० ने द्विकल चाचपुट दिया है। वास्तव में 'षट्कलाः' के साथ ही उसका अन्वय होना चाहिये क्योंकि 'आद्ये' से द्विकल की कलासंख्या बताकर 'अन्यत्र' से चाचपुट की कलाएँ कहीं। 'अत्र' के साथ 'अन्यत्र' को जोड़ने की सार्थकता नहीं है।

ग्रन्थकार ने यथाक्षर में क्रियाएँ अक्षरों के अनुरूप कहीं और साथ ही यथाक्षर को ही एककल भी कहा। द्विकल और चतुष्कल में कला शब्द ताल के हर पादभाग में दो और चार गुरुओं की संख्या का सूचक है। तदनुसार पादभाग में २ गुरु से द्विकल और ४ गुरु से चतुष्कल होता है। प्रस्तुत श्लोकों में ग्रन्थकार ने इन तीनों का यही लक्षण और तदनुसार प्रस्तार दिये हैं। नीचे दोनों तालों के तीनों रूपों के प्रस्तारों में उनका स्पष्ट स्वरूप देखा जा सकता है।

	च	च्च	त्पु	टः
यथाक्षर	ऽ	ऽ	।	ऽे
द्विकल	ऽ ऽ	ऽ ऽ	ऽ ऽ	ऽ ऽ
चतुष्कल	ऽ ऽ ऽ ऽ	ऽ ऽ ऽ ऽ	ऽ ऽ ऽ ऽ	ऽ ऽ ऽ ऽ
	चा	च	पु	टः
यथाक्षर	ऽ	।	।	ऽ
द्विकल	ऽ ऽ	ऽ ऽ	ऽ ऽ	
चतुष्कल	ऽ ऽ ऽ ऽ	ऽ ऽ ऽ ऽ	ऽ ऽ ऽ ऽ	

यथाक्षर में कलाएँ लघु, गुरु, प्लुत हो सकती हैं लेकिन द्विकल और चतुष्कल में सब गुरु हो जाने पर उनका यथाक्षर के साथ सीधा संबन्ध नहीं दिखाई देता। भरत ने गुरु विश्लेषण के द्वारा यथाक्षर का ही परिवर्तित रूप द्विकल कहा है—'गुर्वक्षरैश्च विश्लिष्टैः स एव द्विकलो भवेत्' (ना०शा०, ३१/३९ ग-घ)। अभिनव ने इसे संक्षिप्त रूप में स्पष्ट किया है। उसके आधार पर प्रक्रिया को इस प्रकार समझ सकते हैं। यथाक्षर की इकाइयों को दुगना करके उन्हें गुरुओं में परिवर्तित कर दिया जाता है और फिर हर पादभाग में २-२ कलाएँ रखी जाती हैं (वही, अभि०, पृ० १७६, पं० ५-६)। तदनुसार चच्चत्पुट और चाचपुट के द्विकल की रचना यों होगी—

	चच्चत्पुट			
यथाक्षर	ऽ	ऽ	।	ऽे
द्वित्व	ऽ ऽ	ऽ ऽ	।।	ऽे ऽे
गुरु विश्लेषण	ऽ ऽ	ऽ ऽ	ऽ	ऽ ऽ ऽ
द्विकल	ऽ ऽ	ऽ ऽ	ऽ ऽ	ऽ ऽ

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

	चाचपुट			
यथाक्षर	ऽ	।	।	ऽ
द्वित्व	ऽ ऽ	। ।	। ।	ऽ ऽ
गुरु विश्लेषण	ऽ ऽ	ऽ	ऽ	ऽ ऽ
द्विकल	ऽ ऽ	ऽ ऽ	ऽ ऽ	

भरत के अनुसार द्विकल को ही दुगना करने से चतुष्कल प्राप्त हो जाता है—'द्विर्भावात् द्विकलस्य' (वही, ३१/४० क-ख)। इसलिये द्विकल पादभाग की २-२ कलाओं को ४-४ कर देने से चतुष्कल बन जाता है।

इस तरह भरत और अभिनव की दृष्टि में यथाक्षर के ही परिवर्तित रूप द्विकल-चतुष्कल हैं। यह रूपान्तरण तालों की द्विकल-चतुष्कल कलाविधि में और अंगुलिनियम में भी दिखाई देता है। शार्ङ्ग० ने यथाक्षर आदि तीनों का संबन्ध न बता कर सीधे उनकी अलग-अलग रचना दी है लेकिन कलाविधि में यह संबन्ध स्पष्ट दिखाई देता है।

ऊपर दिये गये प्रस्तारों में चाचपुट के यथाक्षर में ४ इकाइयाँ हैं और द्विकल में ६ तथा चतुष्कल में १२। लेकिन अगर यथाक्षर की इकाइयों को गुरु में परिवर्तित कर दें तो ३ गुरु प्राप्त होते हैं और उन्हें दुगना और चौगुना करने से ६ और १२ गुरु प्राप्त हो जाते हैं। तदनुसार यथाक्षर, द्विकल, चतुष्कल में गुरुओं की संख्या ३, ६ और १२ प्राप्त होने से यथाक्षर के ही परिवर्तित रूप द्विकल और चतुष्कल कहे जा सकते हैं।

यथाक्षर और एककल के सन्दर्भ में इस तथ्य को भी ध्यान में रखना होगा कि भरत ने इन दोनों का पर्याय के रूप में प्रयोग नहीं किया है क्योंकि दोनों में अन्तर है। द्विकल और चतुष्कल में कला शब्द गुरु का सूचक है यह कहा जा चुका है। तदनुसार इन दोनों रूपों में हर पादभाग में २-२ और ४-४ कलाएँ होती हैं। साथ ही एककल का दुगना द्विकल और उसका दुगना चतुष्कल भी बताया जा चुका है। इसके अनुसार अगर एककल में ४ कला हों तो द्विकल में ८ और चतुष्कल में १६ होनी चाहियें। लेकिन चाचपुट के एककल में ४ इकाई हैं और द्विकल तथा चतुष्कल में ६ और १२। इस तरह इकाइयों की संख्या के आधार पर एककल का ठीक दुगना द्विकल और एककल का चौगुना चतुष्कल नहीं दिखाई देता। कला का मुख्य अर्थ क्रिया है इसलिये एककल में कला का अर्थ क्रिया ही समझना चाहिये। तदनुसार ताल के जिस रूप में हर पादभाग में १-१ क्रिया हो वह एककल होता है। मार्गतालों की कलाविधि बताते समय ग्रन्थकार ने यथाक्षर कलाविधि के बजाय एककल कलाविधि शब्द का ही प्रयोग किया है क्योंकि हर पादभाग में क्रिया की संख्या १-१ ही है। कल्लि० ने भी कहा—'प्रतिपादभागमेकैककलायुक्त इत्यर्थः' यानी हर पादभाग १-१ कला से युक्त होता है।

दूसरे, यद्यपि एककल चाचपुट में इकाई ४ हैं लेकिन गुरु के अर्थ में कला ३ ही हैं। इस दृष्टि से द्विकल उसका ठीक दुगना और चतुष्कल चौगुना है। इस प्रकार कला के दो मुख्य अर्थों—क्रिया और गुरु—के आधार पर यथाक्षर और एककल समान कहे जा सकते हैं। तीसरे, यथाक्षर में क्रियाएँ अक्षरों के अनुरूप तो होती हैं लेकिन उनकी संख्या हर पादभाग में १-१ ही होती है इसलिये भी यथाक्षर को एककल कहना सार्थक है।

किन्तु यथाक्षर और एककल के अन्तर को भी ध्यान में रखना ज़रूरी है। क्रिया की दृष्टि से यथाक्षर शब्द सार्थक है लेकिन द्विकल-चतुष्कल में कला के महत्त्व और द्विकल-चतुष्कल का ताल के मूल रूप के साथ संबन्ध समझने के लिये एककल संज्ञा आवश्यक है। यथाक्षर के द्वारा तालनाम के अक्षरों के मान के अनुसार क्रिया के निष्पादन को व्यक्त किया गया है और एककल के द्वारा ताल की हर इकाई में एक ही क्रिया सम्पन्न करना व्यक्त होता है। इस तरह यथाक्षर में अक्षरों के लघु गुरु क्रम पर और एककल में हर इकाई में क्रिया की संख्या पर बल है। फिर भी ताल के मूल रूप को लघु, गुरु, प्लुत इकाइयों के द्वारा ही कहा जाता है, कलाओं की संख्या के द्वारा नहीं। जैसे—एककल कलाविधि बताते समय चच्चत्पुट में ऽऽ।ऽ ही इकाई कही जाती हैं, ४ गुरु नहीं।

ताल के पूर्वोक्त चित्र, वार्तिक, दक्षिण मार्गों, उनके मात्राकाल और अक्षरकाल तथा यहाँ कहे एककल आदि—ताल के

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

इन दो रूपों का परस्पर संबन्ध है। जातिगीतों में चित्रमार्ग का एककल से, वार्तिक का द्विकल से और दक्षिण का चतुष्कल से निकट का संबन्ध दिखाई देता है। इस संबन्ध को नीचे की सारिणी में दिया है।

चच्चत्पुट

एककल अथवा यथाक्षर

					अक्षरकाल	चित्रमार्ग			
कला	ऽ	ऽ	।	ऽे		ऽ	ऽ	।	ऽे
अक्षर	१०	१०	५	१५	→ ४० ←	१०	१०	५	१५
मात्रा	२	२	१	३		२	२	१	३

द्विकल

कला	ऽ ऽ	ऽ ऽ	ऽ ऽ	ऽ ऽ		ऽ	ऽ	।	ऽे
अक्षर	१० १०	१० १०	१० १०	१० १०	→ ८० ←	२०	२०	१०	३०
मात्रा	२ २	२ २	२ २	२ २		४	४	२	६

चतुष्कल

कला	ऽ ऽ ऽ ऽ	ऽ ऽ ऽ ऽ	ऽ ऽ ऽ ऽ	ऽ ऽ ऽ ऽ		ऽ	ऽ	।	ऽे
अक्षर	१० १० १० १०	१० १० १० १०	१० १० १० १०	१० १० १० १०	→ १६० ←	४०	४०	२०	६०
मात्रा	२ २ २ २	२ २ २ २	२ २ २ २	२ २ २ २		८	८	४	१२

एककल आदि और मार्गों को आमने-सामने रखने पर सामान्य रूप से यह कहा जा सकता है कि ताल का एककल रूप यानी चित्रमार्ग, द्विकल यानी वार्तिक मार्ग और चतुष्कल यानी दक्षिण मार्ग होता है क्योंकि इन जोड़ों में ताल की लम्बाई समान रहती है। लेकिन मार्ग में हर इकाई का काल दुगना हो जाने से ताल की लय और कुल लम्बाई सूचित होती है तथा एककल आदि में एक पादभाग की लम्बाई और उसमें क्रियाओं की संख्या सूचित होती है।

इन दोनों के संबन्ध और अन्तर को संक्षेप में यों कह सकते हैं—

(१) द्विकल आदि में हर क्रिया का नाप गुरु है लेकिन वार्तिक आदि दो मार्गों में क्रियाओं में मूल का अनुपात बना रहता है।

(२) द्विकल आदि में क्रियाओं की संख्या दुगनी और मार्गों में क्रियाओं का नाप दुगना होता है।

(३) द्विकल अदि में लय वही रहती है, मार्गों में लय दुगनी-दुगनी हो जाती है।

(४) एककल और चित्रमार्ग की, द्विकल और वार्तिक मार्ग की तथा चतुष्कल और दक्षिण मार्ग की लम्बाई बराबर है।

(पारिभाषिकी मात्रा)

पादभागैश्चतुर्भिस्तैर्मात्रा स्यान्मद्रकादिषु॥ २१॥

पारिभाषिकी मात्रा

२१ ग-घ. (अ०) मद्रक-आदिषु मद्रक आदि (गीतकों) में तैः चतुर्भिः पादभागैः उन (ऐसे) चार पादभागों से मात्रा स्यात् मात्रा होती है।

(सर०) मद्रक आदि गीतकों का निरूपण इसी अध्याय में किया जाने वाला है जो आकार में बड़े होते हैं। उनके तालाधारित बड़े खण्ड मात्रा कहे जाते हैं। ऊपर कहे गये द्विकल और चतुष्कल प्रकारों के चार पादभागों की बड़ी इकाई को

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

यहाँ मात्रा नाम दिया गया है। मात्रा शब्द का कई अर्थों में प्रयोग होता है, जैसे—५ लघु अक्षर काल की इकाई, छन्द में १ लघु अक्षर का काल, ध्रुवका-सर्पिणी आदि हाथ की विशेष क्रियाएँ, कला का पर्याय आदि। यहाँ मात्रा का इन सबसे अलग विशेष अर्थ है इसलिये कल्लि० ने इसे पारिभाषिकी मात्रा कहा है।

द्विकल में २-२ कलाओं का और चतुष्कल में ४-४ का पादभाग होता है। ऐसे ४ पादभागों को भरत ने मात्रा कहा— 'चत्वारः पादभागास्तु मात्रेति परिचोद्यते' (ना०शा० ३१/५२)। पादभाग की व्याख्या करते हुए अभिनव ने कहा कि पादभाग का अर्थ पादात्मा भाग है। पाद चौथा भाग होता है। इसे यो भी कह सकते हैं कि पादभाग मात्रा का चौथा भाग होता है अथवा यह भी कह सकते हैं कि चार पादभागों से मात्रा होती है। स्पष्ट है कि चच्चत्पुट के द्विकल और चतुष्कल को ही मात्रा कह सकते हैं क्योंकि उनमें ४-४ पादभाग होते हैं लेकिन चाचपुट के द्विकल-चतुष्कल को नहीं क्योंकि इनमें ३-३ पादभाग होते हैं।

(त्र्यश्रतालस्यान्यभेदाः)

(तत्र षट्पितापुत्रकः)

षट्पितापुत्रकस्त्र्यश्रभेदः सोऽपि तथा त्रिधा।
यथाक्षरे विशेषोऽत्र प्लुतमाद्यन्तयोर्भवेत्॥ २२॥

ऽे। ऽऽ।ऽे इति यथाक्षरः षट्पितापुत्रकः।
द्विकले द्वादश कलाः
ऽऽ ऽऽ ऽऽ ऽऽ ऽऽ ऽऽ इति द्विकलः षट्पितापुत्रकः।
द्विगुणस्तु चतुष्कले।
ऽऽऽऽ ऽऽऽऽ ऽऽऽऽ ऽऽऽऽ ऽऽऽऽ ऽऽऽऽ इति चतुष्कलः षट्पितापुत्रकः।
उत्तरः पञ्चपाणिश्च तस्य संज्ञाद्वयं परम्॥ २३॥

त्र्यश्रताल के अन्य भेद

षट्पितापुत्रक

२२-२३. (अ०) षट्पितापुत्रकः त्र्यश्रभेदः षट्पितापुत्रक त्र्यश्र (चाचपुट) का भेद (है और) सः अपि वह भी तथा उस (चाचपुट) की तरह त्रिधा तीन प्रकार से (होता है)। अत्र इसमें यथाक्षरे यथाक्षर (रूप) में विशेषः (कुछ) विशेष (है, इसमें) आद्य-अन्तयोः आदि (शुरू) और अन्त का (अक्षर) प्लुतं भवेत् प्लुत होता है। ऽे। ऽऽ।ऽे इति यथाक्षरः षट्पितापुत्रकः ऽे। ऽऽ।ऽे यह यथाक्षर षट्पितापुत्रक (है)। द्विकले द्विकल में द्वादश कलाः बारह कलाएँ (होती हैं)। ऽऽ ऽऽ ऽऽ ऽऽ ऽऽ ऽऽ इति द्विकलः षट्पितापुत्रकः ऽऽ ऽऽ ऽऽ ऽऽ ऽऽ ऽऽ यह द्विकल षट्पितापुत्रक (है)। चतुष्कले तु चतुष्कल में तो द्विगुणः दुगनी (कलाएँ होती हैं)। ऽऽऽऽ ऽऽऽऽ ऽऽऽऽ ऽऽऽऽ ऽऽऽऽ ऽऽऽऽ इति चतुष्कलः षट्पितापुत्रकः ऽऽऽऽ ऽऽऽऽ ऽऽऽऽ ऽऽऽऽ ऽऽऽऽ ऽऽऽऽ यह चतुष्कल षट्पितापुत्रक (है)। तस्य उसके उत्तरः पञ्चपाणिः च उत्तर और पंचपाणि परं संज्ञाद्वयं दूसरे दो नाम (हैं)।

(सर०) षट्पितापुत्रक में अक्षरों का रूप यह है—ष ट् पि ता पु त्र कः (ऽ । ऽ ऽ । ऽ)। लेकिन शुरू का और अन्तिम अक्षर विशेष नियम से प्लुत माना जाता है। इसलिये इसका यथाक्षर रूप यह होता है—

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ऽ	।	ऽ	ऽ	।	ऽ
ष	ट्पि	ता	पु	त्र	कः

इसकी इकाइयों को गुरु में परिवर्तित करने पर ६ गुरु प्राप्त होते हैं। चाचपुट के तीन रूपों में ३, ६ और १२ गुरु हैं जो त्र्यश्र ताल है। इसीलिये ग्रन्थकार ने षट्पितापुत्रक को त्र्यश्र कहकर चाचपुट का भेद बताया है। इसके द्विकल में १२ और चतुष्कल में २४ गुरु कला होती हैं। यथा—

द्विकल

ऽऽ ऽऽ ऽऽ ऽऽ ऽऽ ऽऽ

चतुष्कल

ऽऽऽऽ ऽऽऽऽ ऽऽऽऽ ऽऽऽऽ ऽऽऽऽ ऽऽऽऽ

भरत ने इस ताल को पञ्चपाणि भी कहा है। दत्तिल और शार्ङ्ग० ने उत्तर और पञ्चपाणि—ये दो नाम कहे हैं।

हालाँकि चतुरश्र और त्र्यश्र में चतुरश्र (चच्चत्पुट) ही प्रधान है और त्र्यश्र का प्रतिनिधि ताल चाचपुट है लेकिन गीतकों में षट्पितापुत्रक ताल का ही सबसे ज़्यादा प्रयोग दिखाई देता है।

(उद्घट्टः)

उद्घट्टोऽपि त्र्यश्रभेदः स प्रस्तारे यथाक्षरः।
ऽऽऽ इति यथाक्षरोद्घट्टः। ऽऽ ऽऽ ऽऽ इति द्विकलोद्घट्टः।
ऽऽऽऽ ऽऽऽऽ ऽऽऽऽ इति चतुष्कलोद्घट्टः।

उद्घट्ट

२४ क-ख. (अ०) उद्घट्टः अपि उद्घट्ट भी त्र्यश्रभेदः त्र्यश्र का भेद है। सः यथाक्षरः वह यथाक्षर प्रस्तारे प्रस्तार में (यों है)—ऽऽऽ इति यथाक्षरः उद्घट्टः ऽऽऽ यों यथाक्षर उद्घट्ट (है), ऽऽ ऽऽ ऽऽ इति द्विकलः उद्घट्टः ऽऽ ऽऽ ऽऽ यों द्विकल उद्घट्ट (और) ऽऽऽऽ ऽऽऽऽ ऽऽऽऽ इति चतुष्कलः उद्घट्टः ऽऽऽऽ ऽऽऽऽ ऽऽऽऽ यों चतुष्कल उद्घट्ट (होता है)।

(सर०) यह ताल भी त्र्यश्र है क्योंकि इसमें ३ गुरु हैं और ३ ही पादभाग हैं। इसके यथाक्षर आदि तीन रूप इस प्रकार हैं—

	उ	द्घ	ट्टः
यथाक्षर	ऽ	ऽ	ऽ
द्विकल	ऽऽ	ऽऽ	ऽऽ
चतुष्कल	ऽऽऽऽ	ऽऽऽऽ	ऽऽऽऽ

इसका द्विकल और चतुष्कल रूप इसके कारणभूत ताल चाचपुट जैसा ही है। उद्घट्ट का प्रयोग सभी गीतकों में नहीं होता, केवल उल्लोप्यक और ओवेणक गीतकों के विशेष गीतांग के छोटे से खण्ड में ही होता है।

(संपक्वेष्टाकः)

संपक्वेष्टाकोऽपि भेदः षट्पितापुत्रकस्य सः॥ २४॥
तद्वद्यथाक्षरः कार्यः प्लुतमाद्यन्तयोर्भवेत्।
ऽ̀ ऽ ऽ ऽ ऽ̀ इति यथाक्षरः संपक्वेष्टाकः।
एतौ स्वयोनिवत् स्यातां द्विकलौ च चतुष्कलौ॥ २५॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ऽऽ ऽऽ ऽऽ इति द्विकलोद्घट्टः।
ऽऽऽऽ ऽऽऽऽ ऽऽऽऽ इति चतुष्कलोद्घट्टः।
ऽऽ ऽऽ ऽऽ ऽऽ ऽऽ ऽऽ इति द्विकलः संपक्वेष्टाकः।
ऽऽऽऽ ऽऽऽऽ ऽऽऽऽ ऽऽऽऽ ऽऽऽऽ ऽऽऽऽ इति चतुष्कलः संपक्वेष्टाकः।

संपक्वेष्टाक

२४ ग–२५. (अ०) संपक्वेष्टाकः अपि संपक्वेष्टाक भी **षट्पितापुत्रकस्य भेदः** षट्पितापुत्रक का भेद (है और) **तत्वत्** उस (षट्पितापुत्रक) की तरह **सः** वह (भी) **यथाक्षरः कार्यः** यथाक्षर करना चाहिये (लेकिन इसमें) **आदि-अन्तयोः** आदि और अन्त का (अक्षर) **प्लुतं भवेत्** प्लुत होता है। **ऽ̍ ऽ ऽ ऽ ऽ̍ इति यथाक्षरः संपक्वेष्टाकः** ऽ̍ ऽ ऽ ऽ ऽ̍ यह यथाक्षर संपक्वेष्टाक (है)। **एतौ** ये दोनों (उद्घट्ट और संपक्वेष्टाक) **द्विकलौ चतुष्कलौ च** द्विकल और चतुष्कल **स्वयोनिवत् स्यातां** अपनी योनि (कारणभूत ताल) जैसे होते हैं। **ऽऽ ऽऽ ऽऽ इति द्विकल-उद्घट्टः** ऽऽ ऽऽ ऽऽ यह द्विकल उद्घट्ट (है और) **ऽऽऽऽ ऽऽऽऽ ऽऽऽऽ इति चतुष्कल-उद्घट्टः** ऽऽऽऽ ऽऽऽऽ ऽऽऽऽ यह चतुष्कल उद्घट्ट (है)। **ऽऽ ऽऽ ऽऽ ऽऽ ऽऽ ऽऽ इति द्विकलः संपक्वेष्टाकः** ऽऽ ऽऽ ऽऽ ऽऽ ऽऽ ऽऽ यह द्विकल संपक्वेष्टाक (है)। **ऽऽऽऽ ऽऽऽऽ ऽऽऽऽ ऽऽऽऽ ऽऽऽऽ ऽऽऽऽ इति चतुष्कलः संपक्वेष्टाकः** ऽऽऽऽ ऽऽऽऽ ऽऽऽऽ ऽऽऽऽ ऽऽऽऽ ऽऽऽऽ यह चतुष्कल संपक्वेष्टाक (है)।

(सर०) तद्वत् यथाक्षरः कार्यः का सामान्य रूप से यह अर्थ निकलता है कि संपक्वेष्टाक का यथाक्षर भी षट्पितापुत्रक के यथाक्षर की तरह करना चाहिये। लेकिन 'तद्वत्' में 'बिल्कुल वैसा ही करना' अभिप्रेत नहीं है बल्कि 'उसकी तरह करना' है जो यह सूचित करता है कि जैसे षट्पितापुत्रक का यथाक्षर रूप होता है उसी तरह संपक्वेष्टाक भी यथाक्षर होता है। दोनों के यथाक्षर में समानता यह है कि दोनों का आदि और अन्त का अक्षर प्लुत होता है। षट्पितापुत्रक में कलाएँ ऽ̍।ऽऽ।ऽ̍ हैं और संपक्वेष्टाक में ऽ̍ऽऽऽऽ̍ इसलिये दोनों के यथाक्षर समान नहीं हो सकते। इस कारण यह समझना चाहिये कि दोनों के यथाक्षर रूप होते हैं और उनका आदिम और अन्तिम अक्षर प्लुत है।

संपक्वेष्टाक के तीनों रूपों की रचना इस प्रकार है—

	सं	प	क्वे	ष्टा	कः	
यथाक्षर	ऽ̍	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ̍	
द्विकल	ऽ ऽ	ऽ ऽ	ऽ ऽ	ऽ ऽ	ऽ ऽ	ऽ ऽ
चतुष्कल	ऽ ऽ ऽ ऽ	ऽ ऽ ऽ ऽ	ऽ ऽ ऽ ऽ	ऽ ऽ ऽ ऽ	ऽ ऽ ऽ ऽ	ऽ ऽ ऽ ऽ

इसके द्विकल और चतुष्कल में षट्पितापुत्रक की तरह हर पादभाग में क्रम से २ और ४ कलाएँ हैं। इसी तरह उद्घट्ट के द्विकल-चतुष्कल भी चाचपुट के समान हैं। इसीलिये ग्रन्थकार ने उद्घट्ट और संपक्वेष्टाक को अपनी योनि यानी चाचपुट और षट्पितापुत्रक के समान कहा।

उद्घट्ट के लक्षण में यथाक्षर के साथ उसके द्विकल और चतुष्कल प्रस्तार भी दिये जा चुके हैं। यहाँ संपक्वेष्टाक के प्रस्तारों से पहले उद्घट्ट के द्विकल और चतुष्कल प्रस्तार पुनरावृत्त प्रतीत होते हैं।

(चाचपुटेऽन्यद्भेदत्रयम्)

अन्यद्भेदत्रयं चाचपुटेऽप्यस्ति चतुष्कलात्।
द्विगुणद्विगुणत्वेन षण्णवत्यवधि क्रमात्॥ २६॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ऽऽऽऽ ऽऽऽऽ ऽऽऽऽ ऽऽऽऽ ऽऽऽऽ ऽऽऽऽ इत्येको भेदः।
ऽऽऽऽ ऽऽऽऽ ऽऽऽऽ ऽऽऽऽ ऽऽऽऽ ऽऽऽऽ ऽऽऽऽ ऽऽऽऽ
ऽऽऽऽ ऽऽऽऽ ऽऽऽऽ ऽऽऽऽ इति द्वितीयो भेदः।
ऽऽऽऽ ऽऽऽऽ ऽऽऽऽ ऽऽऽऽ ऽऽऽऽ ऽऽऽऽ ऽऽऽऽ ऽऽऽऽ
ऽऽऽऽ ऽऽऽऽ ऽऽऽऽ ऽऽऽऽ ऽऽऽऽ ऽऽऽऽ ऽऽऽऽ ऽऽऽऽ
ऽऽऽऽ ऽऽऽऽ ऽऽऽऽ ऽऽऽऽ ऽऽऽऽ ऽऽऽऽ ऽऽऽऽ ऽऽऽऽ इति तृतीयो भेदः।

चाचपुट के अन्य तीन भेद

२६. (अ०) **चतुष्कलात्** चतुष्कल से (शुरू करके) **द्विगुण द्विगुणत्वेन** दुगने-दुगनों के द्वारा **षण्णवति-अवधिक्रमात्** छियानवे (कलाओं) तक (के) क्रम से **चाचपुटे अपि** चाचपुट में भी **अन्यत् भेदत्रयम् अस्ति** अन्य तीन भेदों का समूह है। ऽऽऽऽ ऽऽऽऽ ऽऽऽऽ ऽऽऽऽ ऽऽऽऽ ऽऽऽऽ **इति एकः भेदः।** ऽऽऽऽ ऽऽऽऽ ऽऽऽऽ ऽऽऽऽ ऽऽऽऽ ऽऽऽऽ यह एक भेद (है)। ऽऽऽऽ ऽऽऽऽ ऽऽऽऽ ऽऽऽऽ ऽऽऽऽ ऽऽऽऽ ऽऽऽऽ ऽऽऽऽ ऽऽऽऽ ऽऽऽऽ ऽऽऽऽ ऽऽऽऽ **इति द्वितीयः भेदः** ऽऽऽऽ ऽऽऽऽ ऽऽऽऽ ऽऽऽऽ ऽऽऽऽ ऽऽऽऽ ऽऽऽऽ ऽऽऽऽ ऽऽऽऽ ऽऽऽऽ ऽऽऽऽ ऽऽऽऽ यह दूसरा भेद (है)। ऽऽऽऽ **इति तृतीयः भेदः** ऽऽऽऽ यह तीसरा भेद (है)।

(सर०) चतुष्कल चाचपुट में १२ कला होती हैं। उसका दुगना-दुगना करने पर २४, ४८ और ९६ कलाओं के रूप ग्रन्थकार ने और कहे हैं। सिंह० ने ध्यान दिलाया कि ये भेद भरत मुनि के अनुसार हैं।

चाचपुट के इस पहले भेद और षट्पितापुत्रक के चतुष्कल प्रकार-दोनों में २४-२४ कलाएँ होती हैं इसलिये सिंह० ने यह शंका उठाई कि इनमें क्या भिन्नता है? फिर यह उत्तर दिया कि चतुष्कल में ४ गुरुओं से ही पादभाग होता है लेकिन चाचपुट के भेद में पादभाग का नियम नहीं है। अथवा पातकला के योग से भेद होता है यह समझ लेना (संतोष कर लेना) चाहिये। लेकिन गीतकों में २४, ४८, ९६ कला वाले प्रकारों में भी पादविभाजन है इसलिये सिंह० का यह तर्क सार्थक प्रतीत नहीं होता।

भरत ने त्र्यश्र ताल के ३, ६, १२, २४, ४८, ९६ कला वाले ६ भेद कहे (ना० शा, ३९/२८ ग-२९ ख)। इनमें से पहले तीन के द्वारा चाचपुट के एककल, द्विकल, चतुष्कल की कलासंख्या कही गई है। २४ कला वाला भेद चतुष्कल पंचपाणि (षट्पितापुत्रक) की कलासंख्या को सूचित करता है और ४८ तथा ९६ कला वाले शेष दो भेद गीतकों में प्रयुक्त तालखण्डों के आधार पर कहे गये हैं। इनमें से पहला चतुष्कल मद्रक में और दूसरा प्रकरी में प्रयुक्त होता है। यद्यपि चतुरश्र ताल के भी, इसी तरह कलासंख्या दुगनी-दुगनी करके, कई भेद हो सकते हैं लेकिन गीतकों में ऐसे आकार नहीं हैं। भरत ने गान्धर्व के लक्ष्य और गीतकों के आधार पर ताल के सिद्धान्तों और ताल के प्रकारों का निरूपण किया और पूर्वोक्त प्रकारों से बड़े प्रकारों का प्रयोग गान्धर्व में नहीं होता इसलिये अन्य भेद नहीं कहे।

(तालानां कलाविधिः)

(तत्र कलाविधिप्रयोजनम्)

एषां पातकलायोगं श्रेयसे व्याहरामहे।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

तालों की कलाविधि

कलाविधि का प्रयोजन

२७ क-ख. (अ०) श्रेयसे श्रेयस् (कल्याण) के लिये एषाम् इन (तालों) के पातकलायोगं पात (सशब्द क्रिया और) कला (निःशब्द क्रिया) से संबन्ध को व्याहरामह कहते हैं।

(सर०) सं०र० के पहले अध्याय में संगीत के मार्ग संज्ञा वाले भेद के लक्षण में मार्ग को अभ्युदय (कल्याण) देने वाला कहा जा चुका है (१/१/२३ ख) यहाँ अगले श्लोकों में मार्ग संगीत में प्रयुक्त होने वाले यानी मार्गतालों की सशब्द-निःशब्द क्रियाओं की विधि का निरूपण करने से पहले उसका प्रयोजन बताया है। मार्ग संगीत का अंग होने से उसी की तरह मार्गतालों का प्रयोजन भी कल्याण है।

(कलाविधिः)

आद्यवर्णैः पातकला निःशङ्कः पर्यभाषत॥ २७॥

२७ ग-घ. (अ०) निःशङ्कः शंकारहित (शार्ङ्गदेव) ने आद्यवर्णैः (क्रियाओं की संज्ञा के) पहले-पहले अक्षरों के द्वारा पातकलाः पात और कला पर्यभाषत परिभाषित कीं।

(सर०) सशब्द-निःशब्द क्रियाओं के नाम के पहले अक्षर का ग्रहण करके उसके द्वारा अगले श्लोकों में तालों की कलाविधि ग्रन्थकार देने वाले हैं। तदनुसार उनके संकेताक्षर ये हैं—

शम्या	श
ताल	ता
संनिपात	सं
आवाप	आ
निष्क्राम	नि
विक्षेप	वि
प्रवेश	प्र

ध्रुव सशब्द क्रिया का प्रयोग मार्गतालों में नहीं होता इसलिये उसका संकेत नहीं है।

(एककलचच्चत्पुटकलाविधिः)

चच्चत्पुटे त्वेककले संशताशं यथाक्रमम्।

ऽ ऽ । ऽ̆
सं श ता श

यद्वा शताशता तालः शम्या वा द्विर्भवेदिह ॥ २८॥

ऽ ऽ । ऽ̆ ऽ ऽ । ऽ̆
श ता श ता । ता श ता श ।

आसारितादौ शम्यादिस्तालादिः पाणिकादिषु।

इत्येककलचच्चत्पुटकलाविधिः।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

एकंकल चच्चत्पुट की कलाविधि

२८-२९ ख (अ०) एककले चच्चत्पुटे तु एककल चच्चत्पुट में तो यथाक्रमं संशताशं क्रम के अनुसार संशताश (कलाविधि होती है)।

ऽ ऽ । ऽे   ऽ ऽ । ऽे
सं श ता श   सं श ताश । यत् वा अथवा शताशता शताशता इह तालः शम्या वा अथवा इसमें ताल (और) शम्या द्विः भवेत् दो बार होती है—

ऽ ऽ । ऽे   ऽ ऽ । ऽे   ऽ ऽ । ऽे   ऽ ऽ । ऽे
श ता श ता ; ता श ता श (एक) श ता श ता (और दूसरी) ता श ता श (इस प्रकार)।

आसारित-आदौ आसारित आदि (गीतों) में शम्या-आदिः शम्या है शुरू में जिसके (अर्थात् शम्या से शुरू होने वाली और) पाणिका-आदिषु पाणिका आदि (गीतों) में ताल-आदिः ताल से शुरू होने वाली (कलाविधि होती है)। इति यह एककलचच्चत्पुटकलाविधिः एककल चच्चत्पुट की कलाविधि (है)।

(सर०) चच्चत्पुट के एककल यानी यथाक्षर रूप के लिये तीन तरह की कलाविधि ग्रन्थकार ने बताई—

[ऽ ऽ । ऽे   [ऽ ऽ । ऽे   [ऽ ऽ । ऽे
[सं श ता श   [श ता श ता   [ता श ता श

सामान्य रूप से इनमें से पहली ज्यादा प्रयुक्त होती है। दूसरी का प्रयोग विशेष रूप से आसारित आदि गीतकों में और तीसरी का पाणिका आदि गीतों में होता है।

(एककलचाचपुटकलाविधिः)

अन्यद्भेदद्वयं चाचपुटेऽप्यस्ति मुनेर्मतम्॥ २९॥

ऽ । । ऽ   ऽ । । ऽ
श ता श ता । ता श ता श । इत्येककलचाचपुटकलाविधिः।

एककल चाचपुट की कलाविधि

२९ ग-घ (अ०) चाचपुटे अपि चाचपुट में भी अन्यत् भेदद्वयम् अस्ति दूसरे दो भेद हैं (ऐसा) मुनेः मतं मुनि का मत (है)।

ऽ । । ऽ   ऽ । । ऽ   ऽ । । ऽ   ऽ । । ऽ
श ता श ता ; ता श ता श ; श ता श ता ; ता श ता श इति यह एककल-चाचपुटकलाविधिः एककल चाचपुट की कलाविधि (है)।

(सर०) चाचपुट में क्या क्रिया होंगी यह ग्रन्थकार ने नहीं बताया। लेकिन जो दो अन्य भेद चच्चत्पुट में कहे वे चाचपुट में भी हैं, यह कहा। इससे ग्रह समझा जा सकता है कि चच्चत्पुट की मूल क्रियाएँ—सं शं ता श—चाचपुट में भी होंगी। ग्रन्थकार ने चाचपुट में अन्य दो प्रकार मुनि के मत से कहे। इस पर सिंह० ने कहा कि मुनि का ग्रहण प्रशंसा अर्थ में है, उनका अपना मत नहीं है इसे अन्य प्रकार से कहा है।

भरत ने तीन प्रकार की कलाविधि नहीं कही। अभिनव के अनुसार विशाखिल ने सिर्फ़ पहला प्रकार कहा। (अभि०, खण्ड ४, पृ० १५७, पं० ११-१२)। दत्तिल ने दो अन्य प्रकार सिर्फ़ युग्म (चच्चत्पुट) ताल में कहे (दत्ति०, १२७ क-ख)।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(एककलषट्पितापुत्रककलाविधिः)

उत्तरे सं ततस्तालः शतालौ द्विरनन्तरम्।

ऽ । ऽ ऽ । ऽ
सं ता श ता श ता। इत्येककलषट्पितापुत्रककलाविधिः।

एककल षट्पितापुत्रक की कलाविधि

३० क-ख (अ०) उत्तरे उत्तर (षट्पितापुत्रक) में सं ततः तालः संनिपात, उसके बाद ताल, अनन्तरम् उसके बाद श-तालौ द्वि : शम्या और ताल दो बार (होते हैं)।

ऽ । ऽ ऽ । ऽ ऽ । ऽ ऽ । ऽ
सं ता श ता श ता इति सं ता श ता श ता यह एककलषट्पितापुत्रककलाविधिः एककल षट्पितापुत्रक की कलाविधि (है)।

(द्विकलचच्चत्पुटकलाविधिः)

निशौ निताशप्रनिसं द्विकले युग्मके मताः ॥ ३०॥

ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ
नि श नि ता श प्र नि सं इति द्विकलचच्चत्पुटकलाविधिः।

द्विकल चच्चत्पुट की कलाविधि

३० ग-घ (अ०) द्विकले युग्मके द्विकल युग्म (चच्चत्पुट) में निशौ निताशप्रनिसं मताः नि और श, नि ता श प्र नि सं (कला और पात) माने गये (हैं)।

ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ
नि श नि ता श प्र नि सं नि श नि ता श प्र नि सं इति यह द्विकलचच्चत्पुटकलाविधिः द्विकल चच्चत्पुट की कलाविधि (है)।

(सर०) यहाँ से तालों की द्विकल कलाविधि बताई है। शार्ङ्ग० ने द्विकल कलाविधि का यथाक्षर से कोई संबन्ध नहीं दिखाया, सीधे द्विकल की क्रियाएँ बता दीं। भरत ने द्विकल में निष्क्राम और प्रवेश कहे (ना०शा०, ३१/३५ क-ख)। इससे यह अभिप्रेत है कि यथाक्षर की क्रियाओं में विशेष क्रम से इनका योग होने पर यथाक्षर ही द्विकल हो जाता है। अभि० के अनुसार विधि यह है।

यथाक्षर की एक-एक कला के स्थान पर द्विकल में २-२ कला रखकर पहली कला में निष्क्राम और दूसरी में प्रवेश रखना चाहिये। फिर यथाक्षर की सशब्द क्रियाओं को उनके गुरु-लघु के अनुपात के अनुसार द्विकल में यथास्थान रख देना चाहिये। द्विकल और चतुष्कल में संनिपात वस्तु के अन्त में रखने का नियम है। तदनुसार चच्चत्पुट के आधार पर विधि को इस तरह समझा जा सकता है—

यथाक्षर	च	च्च	त्पु	टः
कला	ऽ	ऽ	।	ऽ
अनुपात	१	१	$\frac{१}{२}$	१$\frac{१}{२}$
क्रियाएँ	सं	श	ता	श

द्विकल में क्रियाओं का क्रम श ता श सं हो जायगा। तदनुसार द्विकल रूप—

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ऽ ऽ	ऽ ऽ	ऽ ऽ	ऽ ऽ
नि प्र	नि प्र	नि प्र	नि प्र
श	ता	श	सं
नि श	नि ता	श प्र	नि सं
२	२	१	३

इस तरह यथाक्षर की सशब्द क्रियाओं के काल में जो १, १, $\frac{१}{२}$, १$\frac{१}{२}$ का अनुपात है वही द्विकल में सशब्द क्रिया से पहले निःशब्द क्रिया जुड़कर क्रियाओं की २, २, १, ३ संख्या के रूप में बना रहा।

(द्विकलचाचपुटकलाविधिः)

निशौ ताशौ निसमिति ज्ञेयाश्चाचपुटे क्रमात्।

ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ
निश ताश निसं इति द्विकलचाचपुटकलाविधिः।

द्विकल चाचपुट की कलाविधि

३१ क-ख (अ०) चाचपुटे चाचपुट में क्रमात् क्रम से निशौ ताशौ निसम् इति नि और श, ता और श, निसं (होते हैं)।

ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ
निश ताश निसं इति निश ताश निसं यह द्विकलचाचपुटकलाविधिः द्विकल चाचपुट की कलाविधि (है)।

(सर०) चच्चत्पुट की तरह चाचपुट के यथाक्षर में भी नि प्र जोड़ने से द्विकल रूप इस तरह प्राप्त होगा—

यथाक्षर	चा	च	पु	टः
कला	ऽ	।	।	ऽ
अनुपात	१	$\frac{१}{२}$	$\frac{१}{२}$	१
क्रियाएँ	सं	श	ता	श
द्विकल	ऽ	ऽ	ऽ	
	नि प्र	नि प्र	नि प्र	
	श	ता श	सं	
	नि श	ता श	नि सं	
	२	१ १	२	

यथाक्षर की क्रियाओं का १, $\frac{१}{२}$, $\frac{१}{२}$, १ का अनुपात यहाँ द्विकल में २, १, १, २ क्रियाओं के रूप में बना हुआ है।

(द्विकलषट्पितापुत्रककलाविधिः)

निप्रताशनितानिशताप्रनिसं तथोत्तरे ॥ ३१॥

ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ
नि प्र ता श नि ता नि श ता प्र नि सं इति द्विकलषट्पितापुत्रककलाविधिः।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

द्विकल षट्पितापुत्रक की कलाविधि

३१ ग-घ (अ०) तथा उसी तरह उत्तरे उत्तर (षट्पितापुत्रक) में निप्रताशनितानिशताप्रनिसं निप्रताशनितानिशताप्रनिसं (द्विकल की कलाविधि होती है)।

ऽ ऽ
नि प्र ता श नि ता नि श ता प्र नि सं इति नि प्र ता श नि ता नि श ता प्र नि सं

यह द्विकलषट्पितापुत्रककलाविधिः द्विकल षट्पितापुत्रक की कलाविधि (है)।

(सर०) षट्पितापुत्रक का द्विकल यों बनेगा–

यथाक्षर	ष	ट्पि	ता	पु	त्र	कः
कला	ऽ	।	ऽ	ऽ	।	ऽ
अनुपात	$१\frac{१}{२}$	$\frac{१}{२}$	१	१	$\frac{१}{२}$	$१\frac{१}{२}$
क्रियाएँ	सं	ता	श	ता	श	ता

द्विकल ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ
नि प्र नि प्र नि प्र नि प्र नि प्र नि प्र
ता श ता श ता सं
नि प्र ता श नि ता नि श ता प्र नि सं
३ १ २ २ १ ३

यथाक्षर का $१\frac{१}{२}$, $\frac{१}{२}$, १, १, $\frac{१}{२}$, $१\frac{१}{२}$ का अनुपात द्विकल में ३, १, २, २, १, ३ क्रियाओं के रूप में बना हुआ है।

(चतुष्कलकलाविधिः)

आदावधिके आवापे क्षिप्ते विक्षपकेऽन्तरा।
द्विकले पादभागः स्यात् पादभागश्चतुष्कले ॥ ३२॥

ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ
आ नि वि श आ नि विं ता आ श वि प्र आ नि वि सं इति चतुष्कलचच्चत्पुटकलाविधिः।

ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ
आ नि वि श आ ता वि श आ नि वि सं इति चतुष्कलचाचपुटकलाविधिः।

ऽ ऽ
आ नि वि प्र आ ता वि श आ नि वि ता आ नि वि श आ ता वि प्र आ नि वि सं

इति चतुष्कलषट्पितापुत्रककलाविधिः।

चतुष्कल की कलाविधि

३२. (अ०) आदौ शुरू में आवापे अधिके क्षिप्ते आवाप अधिक डालने पर (और) अन्तरा बीच में विक्षेपके विक्षेप (अधिक) होने पर द्विकले पादभागः द्विकल में पादभाग (अर्थात् द्विकल का पादभाग) चतुष्कले चतुष्कल में (अर्थात् चतुष्कल का) पादभागः स्यात् पादभाग होता है।

ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ
आ नि वि श आ नि वि ता आ श वि प्र आ नि वि सं इति चतुष्कलचच्चत्पुटकलाविधिः

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ
आ नि वि श आ नि वि ता आ श वि प्र आ नि वि सं यह चतुष्कल चच्चत्पुट की कलाविधि (है)।

ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ
आ नि वि श आ ता वि श आ नि वि सं आ नि वि श आ ता वि श आ नि वि सं

इति चतुष्कलचाचपुटकलाविधिः यह चतुष्कल चाचपुट की कलाविधि (है)।

ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ
आ नि वि प्र आ ता वि श आ नि वि ता आ नि वि श आ ता वि प्र आ नि वि सं

ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ
आ नि वि प्र आ ता वि श आ नि वि ता आ नि वि श आ ता वि प्र आ नि वि सं

इति चतुष्कलषट्पितापुत्रककलाविधिः यह चतुष्कल षट्पितापुत्रक की कलाविधि (है)।

(सर०) हालाँकि शार्ङ्ग० ने भरत की तरह विश्लेषण की प्रक्रिया के आधार पर एककल अथवा यथाक्षर से द्विकल और चतुष्कल रूपों की रचना नहीं बताई और न यथाक्षर व द्विकल की कलाविधि में कोई संबन्ध दिखाया लेकिन चतुष्कल कलाविधि देते समय स्पष्ट रूप से कहा कि द्विकल के पादभाग के शुरू में आवाप और बीच में विक्षेप जोड़ने से द्विकल ही चतुष्कल हो जाता है। तदनुसार चतुष्कल पादभाग की पहली कला में आवाप, उसके बाद द्विकल की पहली क्रिया, फिर विक्षेप और तब चौथी कला में द्विकल की दूसरी क्रिया जोड़ना अपेक्षित है। इस विधि से चतुष्कल चच्चत्पुट, चाचपुट और षट्पितापुत्रक की कलाविधि यह होगी—

चच्चत्पुट

द्विकल ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ
नि श नि ता श प्र नि सं

चतुष्कल ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ
आ नि वि श आ नि वि ता आ श वि प्र आ नि वि सं

चतुष्कल में सशब्द से पहले जुड़ी निःशब्द क्रियाओं के द्वारा संख्या ४, ४, २, ६ हो गई लेकिन अनुपात यथाक्षर का १, १, $\frac{१}{२}$, १$\frac{१}{२}$ बना रहा।

चाचपुट

द्विकल ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ
नि श ता श नि सं

चतुष्कल ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ
आ नि वि श आ ता वि श आ नि वि सं

यहाँ भी कलाओं की संख्या चतुष्कल में दुगनी होकर ४, २, २, ४ हो गई और अनुपात यथाक्षर का १, $\frac{१}{२}$, $\frac{१}{२}$, १ बना रहा।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

षट्पितापुत्रक

द्विकल	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ
	नि	प्र	ता	श	नि	ता	नि	श	ता	प्र	नि	सं

चतुष्कल	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ
	आ	नि	वि	प्र	आ	ता	वि	श	आ	नि	वि	ता	आ	नि	वि	श	आ	ता	वि	प्र	आ	नि	वि	सं

यहाँ भी पूर्ववत् कलासंख्या ६, २, ४, ४, २, ६ में यथाक्षर का अनुपात १ १/२, १/२, १, १, १/२, १ १/२ का है।

प्रस्तारों को देखने से स्पष्ट होता है कि ताल के यथाक्षर की सशब्द क्रियाएँ ही द्विकल और चतुष्कल में भी हैं और अनुपात भी वही है। द्विकल में यथाक्षर के अनुपात के अनुसार सिर्फ़ निष्क्राम और प्रवेश जोड़कर कलाओं में क्रियाओं की पूर्ति की गई है। चतुष्कल में भी यथाक्षर की ही सशब्द क्रिया हैं लेकिन यहाँ द्विकल की पहली क्रिया से पहले आवाप और दूसरी से पहले विक्षेप जोड़ा है। इस तरह ताल के यथाक्षर आदि रूपों की कलाविधि में परस्पर संबन्ध स्पष्ट है। शार्ङ्ग० ने यद्यपि स्पष्टतः यह कहा नहीं लेकिन द्विकल पादभाग में निश्चित क्रम से आवाप और विक्षेप जोड़ने के उसके कथन में द्विकल का ही चतुष्कल में रूपान्तरण या परिवर्धन अन्वित है।

(अङ्गुलिनियमः)

(तत्र चच्चत्पुटेऽङ्गुलिनियमः)

प्रथमे पादभागे स्यात् कलाङ्गुल्या कनिष्ठया
तया चानामयान्यत्र ताभ्यां मध्यमया तथा ॥ ३३ ॥

तृतीये स्याच्चतसृभिस्तुर्ये चच्चत्पुटस्य तु।

अंगुली-नियम

चच्चत्पुट का अंगुली-नियम

३३-३४ ख (अ०) चच्चत्पुटस्य चच्चत्पुट के प्रथमे पादभागे तु पहले पादभाग में तो कला निःशब्द क्रिया कनिष्ठया अङ्गुल्या स्यात् कनिष्ठा उँगली से होती है। अन्यत्र दूसरे में तया अनामया च उससे और अनामिका से, तृतीये तीसरे (पादभाग) में ताभ्यां तथा मध्यमया उन दोनों और मध्यमा के द्वारा (और) तुर्ये चौथे में चतसृभिः चारों (उँगलियों) से (निःशब्द क्रिया) स्यात् होती है।

(सर०) यहाँ से पादभागों में उँगलियों के प्रयोग का निरूपण हुआ है जिसके द्वारा यह बताया गया है कि किस ताल के किस पादभाग में आवाप आदि निःशब्द क्रियाएँ किस उँगली से की जानी चाहियें। कनिष्ठा से शुरू करके हर पादभाग में अगली-अगली एक उँगली जुड़ती जाती है जो यह सूचित करती है कि ताल में कौन-सा पादभाग चल रहा है।

प्रस्तुत कारिकाओं में चच्चत्पुट के द्विकल और चतुष्कल के पादभागों का उँगलियों का नियम बताया गया है। चच्चत्पुट के चार पादभागों में से पहले में कनिष्ठा से, दूसरे में कनिष्ठा और अनामिका से, तीसरे में कनिष्ठा-अनामिका-मध्यमा से और चौथे में तर्जनी को मिलाकर चारों उँगलियों से निःशब्द क्रिया की जाती हैं। इस तरह एक उँगली पहले पादभाग की, दो दूसरे पादभाग की, तीन तीसरे की और चार चौथे पादभाग की बोधक होती हैं।

निःशब्द क्रियाएँ पूरी हथेली से यानी चारों उँगलियों से की जाती हैं लेकिन अँगुलिनियम के अनुसार उन्हें एक, दो, तीन आदि उँगलियों से करने का अर्थ यह समझना होगा कि पादभाग विशेष में जिन उँगलियों से क्रिया का नियम है उनके अलावा शेष उँगलियाँ संभवतः बन्द रहेंगी। उदाहरण के लिये द्विकल चच्चत्पुट के पहले, दूसरे और चौथे पादभाग निष्क्राम से शुरू होते हैं इसलिये नियमानुसार पहले पादभाग में निष्क्राम को कनिष्ठा से, दूसरे में कनिष्ठा-अनामिका से और चौथे में चारों उँगलियों से किया जायेगा। उस स्थिति में

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

बन्द मुट्ठी वाली हथेली उल्टी करके पहले पादभाग में सिर्फ़ कनिष्ठा को, दूसरे में कनिष्ठा-अनामिका को और चौथे में चारों उँगलियों को फैलाया जायगा। तीसरे पादभाग की निःशब्द क्रिया प्रवेश को कनिष्ठा-अनामिका-मध्यमा से किया जायगा और चौथी उँगली तर्जनी बन्द रहेगी।

(चाचपुटेऽङ्गुलिनियमः)

ओजस्य पादभागेषु कला मध्याङ्गुलीं विना ॥ ३४ ॥

चाचपुट का अंगुली-नियम

३४ ग-घ (अ०) **ओजस्य पादभागेषु** ओज (चाचपुट) के पादभागों में **कलाः** निःशब्द क्रियाएँ **मध्य-अङ्गुलीं विना** मध्यमा उँगली के बिना (होती हैं)।

(सर०) ओज का अर्थ विषम है। चाचपुट त्र्यश्र होने से विषम है इसलिये ओज शब्द से चाचपुट सूचित किया गया है। इसके द्विकल और चतुष्कल में ३ पादभाग होते हैं जिनमें मध्यमा उँगली को छोड़कर अंगुलि प्रयोग कहा है। इसलिये ३ पादभागों में क्रम से कनिष्ठा, कनिष्ठा-अनामिका और कनिष्ठा-अनामिका-तर्जनी से कला की जाती हैं। भरत ने चाचपुट के दूसरे पादभाग में उँगली का निर्देश नहीं किया क्योंकि उसके द्विकल के दूसरे पादभाग में सिर्फ़ सशब्द क्रिया हैं। जिस पादभाग में केवल पात हों उसमें अंगुलिनियम लागू नहीं होता। यह नियम केवल निःशब्द क्रियाओं के लिये है।

(षट्पितापुत्रकेऽङ्गुलिनियमः)

पञ्चपाणेः कनिष्ठादिचतुष्केण कनिष्ठया।
तर्जन्या च पृथक्पादभागषट्के क्रमात् कलाः ॥ ३५ ॥

षट्पितापुत्रक का अंगुली-नियम

३५ (अ०) **पञ्चपाणेः** पंचपाणि के **पृथक् पादभागषट्के** अलग-अलग ६ पादभागों में **क्रमात्** क्रम से **कनिष्ठा-आदिचतुष्केण** कनिष्ठा आदि चार (उँगलियों के समूह) से (और) **कनिष्ठया तर्जन्या च** कनिष्ठा तथा तर्जनी से **कलाः** कलाएँ (धारण की जाती हैं)।

(सर०) पंचपाणि में ६ पादभाग होते हैं। शुरू के ४ पादभागों में चच्चत्पुट की तरह क्रम से कनिष्ठा, कनिष्ठा-अनामिका, कनिष्ठा-अनामिका-मध्यमा और कनिष्ठा-अनामिका-मध्यमा-तर्जनी से और शेष दो में से पाँचवें पादभाग में कनिष्ठा से तथा छठे में तर्जनी से निःशब्द क्रिया की जाती हैं। चाच्पुट की तरह द्विकल पंचपाणि के दूसरे पादभाग में भरत ने अंगुलिनिर्देश नहीं किया क्योंकि उसमें सिर्फ़ सशब्द क्रियाएँ हैं।

(अङ्गुलिप्रयोगे पाणिनियमः/विधानम्)

आवापादिः प्रयोक्तव्यो भाविपातस्य पाणिना।
पातयुक्ते पादभागे नाङ्गुल्या क्रियते कला ॥ ३६ ॥

अंगुली-प्रयोग में पाणि का नियम/विधान

३६. (अ०) **आवाप-आदिः** आवाप आदि (निःशब्द क्रियाएँ) **भाविपातस्य पाणिना** भावी पात (अगली सशब्द क्रिया) के हाथ के द्वारा **प्रयोक्तव्यः** प्रयोग करनी चाहियें। **पातयुक्ते पादभागे** (केवल) सशब्द क्रिया वाले पादभाग में **कला** क्रिया **अङ्गुल्या** उँगली के द्वारा **न क्रियते** नहीं की जाती।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(सर०) निःशब्द क्रियाओं के लिये अंगुलिनियम के साथ यह विधान भी है कि जिस हाथ से अगली सशब्द क्रिया की जायगी उसी हाथ से उस सशब्द से पहले की निःशब्द क्रिया की जायगी। ग्रन्थकार के इस विधान का मूल अभि० में इस प्रकार है—'तत्र भाविपातानुसारेणावापनिष्क्रा(मा)दिषु वामदक्षिणविभागः। तद्यथा। शम्यायां भाविन्यां दक्षिणेनैव निष्क्रामः' (चतुर्थ खण्ड, पृ० १७८, पं० २२-२३)।

सिंह० ने यह ध्यान दिलाया कि अंगुलिनियम सिर्फ़ निःशब्द क्रियाओं के लिये है क्योंकि सशब्द क्रिया तो पूरे हाथ से की जाती है। कल्लि० ने यह स्पष्ट किया कि केवल उँगली से पात करने से शब्द उत्पन्न नहीं होता इसलिये उनमें अंगुलिनिषेध किया है।

सशब्द क्रियाओं में शम्या दाहिने हाथ से, ताल बायें से और संनिपात दोनों हाथों से किया जाता है। इसलिये शम्या से पहले होने वाली निःशब्द क्रियाएँ दाहिने हाथ से, ताल से पहले बायें हाथ से और संनिपात से पहले दोनों हाथों से की जायँगी। उदाहरण के लिये द्विकल चच्चत्पुट और चाचपुट में हाथ और उँगलियों का प्रयोग इस तरह होगा। उँगलियों के संकेत यों हैं—

क = कनिष्ठा, अ = अनामिका, म = मध्यमा, त = तर्जनी।

द्विकल चच्चत्पुट की कलाविधि—

	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ
कलाएँ	नि	श	नि	ता	श	प्र	नि	सं
उँगली	क		क+अ			क+अ+म	क+अ+म+त	
हाथ	दाहिना		बायाँ			दोनों	दोनों	

द्विकल चाचपुट की कलाविधि—

	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ
कलाएँ	नि	श	ता	श	नि	सं
उँगली	क				क+अ+त	
हाथ	दाहिना				दोनों	

(उद्घट्टसंपक्वेष्टाककलाविधिः)

(तत्रोद्घट्टकलाविधिः)

उद्घट्टे तु सनिष्क्रामं शम्याद्वन्द्वं च योजयेत्।

ऽ ऽ ऽ
नि श श इत्येककलोद्घट्टकलाविधिः।

उद्घट्ट और संपक्वेष्टाक की कलाविधि

उद्घट्ट की कलाविधि

३७ क-ख. (अ०) उद्घट्टे तु उद्घट्ट में तो सनिष्क्रामं शम्याद्वन्द्वं च निष्क्राम सहित शम्या का जोड़ा भी योजयेत् योजित करना चाहिये। नि श श (ऽ ऽ ऽ) इति एककल-उद्घट्टकलाविधिः नि श श (ऽ ऽ ऽ) यह एककल उद्घट्ट की कलाविधि (है)।

(सर०) एकमात्र उद्घट्ट ऐसा ताल है जिसके मूल रूप में एक निःशब्द क्रिया—निष्क्राम—भी है, दूसरे सभी तालों के यथाक्षर में सिर्फ़ सशब्द क्रियाएँ ही हैं। इसका कारण संभवतः यह है कि उद्घट्ट में तीनों कलाएँ गुरु यानी एकसी होने से ताल

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

का कोई स्पष्ट और निश्चित आकार नहीं बनता। लेकिन उसके शुरू की कला में निःशब्द क्रिया डाल देने से उसका आकार स्पष्ट बन जाता है। इसका यथाक्षर रूप यह है— ऽ ऽ ऽ / नि श श।

(संपक्वेष्टाकः)

संपक्वेष्टाकस्य कलाः षट्पितापुत्रकोदिताः॥ ३७॥

संनिपातस्तु नास्त्यत्र,

ऽ̣ ऽ ऽ ऽ ऽ̣
ता श ता श ता इत्येककलसंपक्वेष्टाककलाविधिः।

संपक्वेष्टाक

३७ ग-३८ क. (अ०) षट्पितापुत्रक-उदिताः कलाः षट्पितापुत्रक में कही गई क्रियाएँ संपक्वेष्टाकस्य संपक्वेष्टाक की (भी होती हैं)। अत्र इस (के एककल) में संनिपातः तु संनिपात तो न अस्ति नहीं हैं। ऽ̣ ऽ ऽ ऽ ऽ̣ / ता श ता श ता इति एककलसंपक्वेष्टाककलाविधिः ऽ̣ ऽ ऽ ऽ ऽ̣ / ता श ता श ता यह एककल संपक्वेष्टाक की कलाविधि (है)।

(सर०) सं०र० के सभी संस्करणों में ३८वें श्लोक में 'योनिवद् द्विकलादिके' के बाद संपक्वेष्टाक की एककल कलाविधि दी गई है। लेकिन कलाविधि 'योनिवद् द्विकलादिके' से पहले रहनी चाहिये क्योंकि इस अंश का अन्वय श्लोक की अगली पंक्ति के साथ है। कलाविधि बीच में आ जाने से अन्वय बाधित होता है। इसलिये हमने मूलपाठ में 'योनिवद् द्विकलादिके' से पहले एककल कलाविधि दी है।

संपक्वेष्टाक में पहली और अन्तिम कला प्लुत मानी जाती है इसलिये इसका यथाक्षर रूप यों बनेगा—

ऽ̣ ऽ ऽ ऽ ऽ̣
सं प क्वे ष्टा कः

कल्लि० ने इस कारिका की व्याख्या में यह शंका उठाई कि तालों के एककल आदि भेदों में शम्या आदि तीन पातों का ही योग दिखाया गया है, ध्रुव का योग तो कहीं भी नहीं हुआ। इसलिये ध्रुव का उद्देश (नाम गिनाना) और लक्षण देना निरर्थक हो जाता है। फिर उत्तर देते हुए कहा कि ध्रुवमार्ग में प्रयोग होने से उसकी सार्थकता है। वह प्रयोग इस प्रकार होता है। एक मात्रा की कला से नापे गये ध्रुवमार्ग की जब गायक गीतकों में चित्र आदि मार्गों में अनुस्यूत रूप से योजना करना चाहता है तब ध्रुवमार्ग का प्रयोग किया जाता है। इसलिये ध्रुवपात और ध्रुवमार्ग के अचल होने से सभी तालों में नित्य रूप से उनका ध्रुवत्व समझना चाहिये। इसीलिये ध्रुव का अलग से प्रयोग नहीं दिखाया गया। लेकिन उपोहनों में ध्रुवपात का प्रयोग दिखाया ही जायगा। एक अन्य मत के अनुसार ध्रुवासारित और यथाक्षर आसारित में ध्रुवमार्ग का प्रयोग भी होता है। इसलिये ध्रुव के उद्देश और लक्षण की अनर्थकता की शंका नहीं करनी चाहिये।

मार्ग संबन्धी व्याख्या में भी कल्लि० ने ध्रुवपात और ध्रुवमार्ग की चर्चा की थी। यहाँ कल्लि० ने जो कुछ कहा है उसका आधार अभि० है।

(द्विकलचतुष्कलोद्घट्टसंपक्वेष्टाककलाविधिः)

योनिवद् द्विकलादिके।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

भेदद्वयेऽस्योद्घट्टाख्यतालस्य च कलाविधिः ॥ ३८ ॥

ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ
नि श ता श नि सं इति द्विकलोद्घट्टकलाविधिः ।

ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ
आ नि वि श आ ता वि श आ नि वि सं इति चतुष्कलोद्घट्टकलाविधिः ।

ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ
नि प्र ता श नि ता नि श ता प्र नि सं इति द्विकलसंपक्वेष्टाककलाविधिः ।

ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ
आ नि वि प्र आ ता वि श आ नि वि ता आ नि वि श आ ता वि प्र आ नि वि सं
इति चतुष्कलसंपक्वेष्टाककलाविधिः ।

उद्घट्ट और संपक्वेष्टाक की द्विकल-चतुष्कल कलाविधि

३८ ख-घ. (अ०) अस्य इस (संपक्वेष्टाक) के उद्घट्ट-आख्यतालस्य च और उद्घट्ट नामक ताल के द्विकल-आदिके भेदद्वये द्विकल आदि दो भेदों में योनिवत् कलाविधिः कारण तालों की तरह कलाविधि (होती है)।

ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ
नि श ता श नि सं इति द्विकल-उद्घट्टकलाविधिः नि श ता श नि सं यह द्विकल उद्घट्ट की कलाविधि (है)।

ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ
आ नि वि श आ ता वि श आ नि वि सं इति चतुष्कल-उद्घट्टकलाविधिः आ नि वि श आ ता वि श

ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ
आ नि वि सं यह चतुष्कल उद्घट्ट की कलाविधि (है)। नि प्र ता श नि ता नि श ता प्र नि सं इति

द्विकलेसंपक्वेष्टाककलाविधिः ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ
नि प्र ता श नि ता नि श ता प्र नि सं यह द्विकल संपक्वेष्टाक की कलाविधि (है)।

ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ
आ नि वि प्र आ ता वि श आ नि वि ता आ नि वि श आ ता वि प्र आ नि वि सं इति चतुष्कल-

संपक्वेष्टाककलाविधिः ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ
आ नि वि प्र आ ता वि श आ नि वि ता आ नि वि श आ ता वि प्र आ नि वि सं

यह चतुष्कल संपक्वेष्टाक की कलाविधि (है)।

(सर०) उद्घट्ट की योनि चाचपुट है और संपक्वेष्टाक की षट्पितापुत्रक। इसलिये उद्घट्ट के द्विकल और चतुष्कल की कलाविधि चाचपुट जैसी है और संपक्वेष्टाक के द्विकल-चतुष्कल की षट्पितापुत्रक जैसी।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(अपरः कांस्यतालधरः तस्य प्रयोजनं च)

गान्धर्वमार्गकुशलः कांस्यतालधरोऽपरः।
गातुः सहायः कर्तव्यः प्रमादविनिवृत्तये॥ ३९॥

अन्य कांस्यतालधर और उसका प्रयोजन

३९. (अ०) गान्धर्वमार्गकुशलः गान्धर्व के मार्ग (पद्धति) में कुशल कांस्यतालधरः कांस्यताल (घनवाद्य) धारण करने वाला अपरः दूसरा (गायक) प्रमादविनिवृत्तये भूल से बचाव के लिये गातुः (मुख्य) गायक की सहायः कर्तव्यः सहायता करे।

(सर०) सिंह० ने प्रमादविनिवृत्तये का यह अर्थ किया कि गान की व्यग्रता से ताल का 'स्खलन' न हो जाय यानी ताल छूट न जाय इसके लिये शुद्धगान के मार्ग का ज्ञाता कांस्यतालधारी होना चाहिये।

कल्लि० ने गान्धर्व में मद्रक आदि १४ गीत, जो इसी अध्याय में निरूपित होंगे, षाड्जी आदि जातियाँ और ग्रामराग आदि ६ प्रकार के रागों का ग्रहण करके कहा कि उनके मार्ग यानी पद्धति में और चित्र आदि मार्गों में कुशल अन्य गायक होना चाहिये। कल्लि० के अनुसार अपरः के द्वारा कांस्यतालधारी का भी गायक होना सूचित होता है।

दूसरी पंक्ति में ग्रन्थकार ने कांस्यतालधर का प्रयोजन बताया है जिस पर कल्लि० ने कहा कि गान्धर्व अत्यन्त नियत स्वरूप वाला होने से अदृष्ट फल की प्राप्ति का साधन है। इसलिये मुख्य गायक अंगुलिकर्म आदि करते हुए यानी नियत विधि करते हुए गाता है। उससे ताल में कोई भूल न हो जाय इसके लिये दूसरा गायक कांस्यताल पर ताल धारण करते हुए मुख्य गायक की सहायता करता है क्योंकि प्रमाद होने से न केवल अदृष्ट फल का नाश होता है बल्कि 'प्रत्यवाय' यानी विपरीत फल भी हो सकता है।

अभिनव ने तालप्रयोग के लिये घनवाद्य के उपयोग की सार्थकता एक और दृष्टि से भी बताई। गान, वादन और नृत्त तीनों के सम्मिलित प्रयोग में अगर नर्तक और वादक गायक द्वारा हाथ से की जाने वाली आवापादि क्रियाओं को देखे बिना उसी के अनुसार और उसी लय में अपना कर्म करें तो यह संभव है कि तीनों के प्रयोग में साम्य न हो (अभि०, चतुर्थ खण्ड, पृ० १५२, पं० ११-१४)। अभिनव के इस कथन का आशय यह है कि एक तो गायक ही अपने हाथ से क्रियाएँ कर सकता है, नर्तक और वादक नहीं। दूसरे, वे हर समय गायक के हाथ की क्रियाओं को देखते नहीं रह सकते और उस स्थिति में तीनों की क्रियाओं के प्रमाण और लय में साम्य न हो पाये यह संभव है। अभिनव ने यह तर्क भी दिया कि हाथ से सशब्द पात करते समय ध्वनि उतनी स्पष्ट नहीं सुनाई देती जितनी घनवाद्य की। ऐसा इसलिये कहा कि घनवाद्य पर ताल का धारण होने पर सभी प्रयोक्ताओं को ध्वनि स्पष्ट सुनाई देने के कारण लय बनाये रखने के लिये वैसा अवधान नहीं रखना पड़ता जैसा स्वयं हाथ से क्रिया करने पर या हाथ पर की जा रही क्रियाओं को देखने-सुनने पर रखना पड़ता है। उस स्थिति में प्रयोक्ताओं को अपने-अपने कर्म में ज़्यादा स्वतन्त्रता रहती है।

(संकीर्णभेदाः)

युग्मस्य ये त्रयो भेदाः षड् वायुग्मस्य कीर्तिताः।
तेषामन्योन्यसंसर्गात् संकीर्णा बहवो मताः॥ ४०॥

संकीर्णभेद

४०. (अ०) युग्मस्य युग्म (चच्चत्पुट) के ये त्रयः भेदाः जो तीन भेद अयुग्मस्य वा षट् और अयुग्म (चाचपुट) के ६ (भेद) कीर्तिताः कहे गये (हैं) तेषाम् उनके अन्योन्यसंसर्गात् परस्पर मिश्रण से बहवः संकीर्णाः बहुत से संकीर्ण (भेद) मताः माने गये (हैं)।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(सर०) चच्चत्पुट के ३ भेद—एककल, द्विकल, चतुष्कल और चाचपुट के एककल, द्विकल, चतुष्कल तथा चतुष्कल के दुगने-दुगने ३ और भेद पहले कहे जा चुके हैं। इन नौ के परस्पर संकर से संकीर्ण भेद बनते हैं जिनके अनेक प्रकार हो सकते हैं।

अन्ये पञ्चैव संकीर्णान् गान्धर्वेऽभिदधुर्बुधाः।
पञ्च सप्त नवापि स्युर्दशैकादश तत्कलाः॥ ४१॥

४१. (अ०) अन्ये बुधाः अन्य बुद्धिमानों ने **गान्धर्वे** गान्धर्व में **पञ्च-एव संकीर्णान्** पाँच ही संकीर्ण **अभिदधुः** कहे हैं। **तत् कलाः** उनमें कलाएँ **पञ्च सप्त नव दश एकादश अपि स्युः** पाँच, सात, नौ, दस और ग्यारह होती हैं।

(सर०) पिछले श्लोक में ग्रन्थकार ने यह कहा कि संकीर्ण भेद बहुत होते हैं। प्रस्तुत श्लोक में बताया कि एक अन्य मत में सिर्फ़ ५ ही संकीर्ण भेद माने जाते हैं जिनमें ५, ७, ९, १० और ११ कलाएँ होती हैं। इस कथन में यह अन्वित है कि शार्ङ्ग० सिर्फ़ ५ भेद स्वीकार नहीं करते बल्कि अनेक भेद मानते हैं।

ना०शा० में भी ये ५ भेद हैं लेकिन यह कहा गया है कि इनका उपयोग सप्तगीतकों में या ध्रुवाओं में नहीं होता बल्कि प्रवृत्त आदि अंगों में (जो गीतकों में प्रयुक्त गीतांगों के प्रकार हैं) बार-बार होता है (ना०शा०, ३१/२४-२५)। इन श्लोकों की अभिनव ने बहुत विस्तृत व्याख्या की है। उसके अनुसार वर्धमान गीतक की विशाला, सुनन्दा आदि कण्डिकाओं के उपोहनों में ५, ७ और ९ कला वाले, ओवेणक गीतक के संपिष्टक नामक अंग में १० कला वाले और एककल मद्रक की १२ कला वाली वस्तु की पहली कला में प्रत्युपोहन के बाद शेष ११ कलाओं में ११ कला वाले संकीर्ण भेद का प्रयोग बार-बार होता है। लेकिन ये गीतांगों की ताल रचना में मिश्र रूप में ही प्रयुक्त होने से मिश्र प्रकार हैं। इसलिये चच्चत्पुट आदि की तरह इन्हें अलग से निश्चित नाम नहीं दिये लेकिन बार-बार प्रयुक्त होने के कारण व्यवहार की सुविधा के लिये ५ कला वाले आदि—ये विशेष संज्ञाएँ दीं (अभि०, वही, पृ० १५९-१६१)।

तालाश्चत्वार इत्यन्ये चतुर्दशकलादिकाः।

४२ क-ख. (अ०) चतुर्दशकला-आदिकाः चौदह कलाओं से शुरू होने वाले **चत्वारः तालाः** चार (संकीर्ण) ताल (होते हैं) **इति** ऐसा **अन्ये** अन्य विद्वान् (कहते हैं)।

(सर०) संकीर्ण भेदों के बारे में ग्रन्थकार ने तीसरा मत दिया है जिसमें चार संकीर्ण भेद चौदह आदि कलाओं से होते हैं। सिंह० और कल्लि० ने इन चार भेदों में क्रम से १४, १५, १६ और १७ कलाएँ कहीं।

(खण्डभेदाः)

चच्चत्पुटादिभेदास्तु सन्ति खण्डाभिधाः परे॥ ४२ ॥
देशीतालप्रपञ्चेन तानपि व्याहरामहे।

खण्डभेद

४२ ग-४३ ख. (अ०) खण्ड-अभिधाः तु खण्ड संज्ञा वाले तो **परे** अन्य **चच्चत्पुट आदिभेदाः** चच्चत्पुट आदि के भेद **सन्ति** होते हैं। **देशीतालप्रपञ्चेन** देशीताल में विस्तार से **तान् अपि** उनको भी **व्याहरामहे** कहते हैं (अर्थात् हम कहेंगे)।

(सर०)ग्रन्थकार ने यहाँ **व्याहरामहे**—इस वर्तमानकालवाची और बहुवचन पद का प्रयोग अपने लिये किया है जबकि खण्डतालों का निरूपण आगे यानी भविष्यकाल में किया जायगा। इस शंका को ध्यान में रखकर कल्लि० ने पाणिनि के **'वर्तमानसामीप्ये वर्तमानवद्वा'** (अष्टा०, ३/३/१३१) सूत्र को उद्धृत किया जिसके अनुसार वर्तमानकाल के पास के भूत या

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

भविष्यकाल के लिये वर्तमानकालवाची प्रत्यय का प्रयोग किया जाता है। तदनुरूप ग्रन्थकार ने भविष्य के लिये यहाँ वर्तमानकाल का प्रयोग किया है। इसी तरह बहुवचन प्रयोग को अष्टा० के १/२/५९ सूत्र 'अस्मदो द्वयोश्च' के आधार पर सार्थक बताया जिसके अनुसार एकवचन या द्विवचन के लिये बहुवचन पद का विकल्प से प्रयोग हो सकता है। इसी के अनुसार ग्रन्थकार ने अपने लिये एकवचन के अर्थ में बहुवचन पद का प्रयोग किया है।

देशी तालों के १९ प्रत्ययों में प्रस्तार नामक प्रत्यय में ग्रन्थकार द्वारा खण्डित करने की विधि कही जाने वाली है (५/३१६-३१८ ख)। उसी का संकेत करते हुए १२० देशीतालों के लक्षण देने से पहले शार्ङ्ग० ने स्पष्ट रूप से गुरु आदि अवयवों को खण्डित करने से बनने के कारण उन्हें खण्डताल कहा है(२५४ ग-२५५)। उसी को लक्ष्य करके ग्रन्थकार ने यहाँ यह कहा कि चच्चपुट आदि के खण्ड नामक भेदों का निरूपण आगे देशी तालों में किया जायगा।

कल्लि० ने सभी यानी मार्ग और देशी तालों को चतुरश्र, त्र्यश्र, संकीर्ण और खण्ड भेदों के आधार पर चार प्रकार का कहते हुए इस ओर ध्यान दिलाया कि भरत ने मिश्र नाम से एक और भेद भी कहा है। कल्लि ने ना०शा० से ये श्लोक उद्धृत किये हैं—

अनयोर्मिश्रभावाच्च मिश्रस्ताल: प्रकीर्तित:।
षट्पितापुत्रकश्चैव पञ्चपाणि: स चेष्यते।।

और

तालादिमिश्रभेदोऽन्य: संपक्वेष्टाकसंज्ञित:।

इनमें से पहला श्लोक बड़ौदा सं० में कुछ भिन्न रूप में इस प्रकार दिया गया है—

षट्कलोष्टकलश्चैव तालो ह्यस्मात् प्रवर्तते॥
द्विप्रकार: पुनश्चायं नि:शब्द: शब्दवांस्तथा।
अनयोर्मिश्रभावात्तु मिश्रस्ताल: प्रकीर्तित:।
शम्यातालप्रवेशेन त्र्यश्रोऽन्योऽपि विधीयते।
षट्पितापुत्रककृत: पञ्चपाणिरुदाहृत:। (३१/१५ख-१७)

यहाँ ८ कला वाले चच्चत्पुट और ६ कला वाले चाचपुट को नि:शब्द और शब्दयुक्त बताकर इनके मिश्रण से मिश्रताल कहा। एक अन्य त्र्यश्रभेद षट्पितापुत्रक यानी पंचपाणि भी कहा।

दूसरा श्लोकांश इस प्रकार है—

तालादिस्त्र्यश्रभेदोऽन्य: संपक्वेष्टाकसंज्ञित:।

इसमें संपक्वेष्टाक को त्र्यश्र का ही एक भेद कहा है। इस तरह मिश्र कोई अलग से पाँचवाँ भेद सिद्ध नहीं होता बल्कि चच्चपुट और चाचपुट की सशब्द-नि:शब्द क्रियाओं के मिश्रण से मिश्र माना।

कल्लि० द्वारा उद्धृत दूसरे श्लोकांश में पाठ 'मिश्रभेद:' है और बड़ौदा सं० में 'त्र्यश्रभेद:' है। अभिनव ने इसी पाठ का ग्रहण करके व्याख्या की है। षट्पितापुत्रक और संपक्वेष्टाक को शार्ङ्ग० ने त्र्यश्र भेद ही कहा है और इस मत के अनुसार तालों की चतुर्विधता ही कही गई है, इस ओर भी कल्लि० ने ध्यान दिलाया।

इस तरह संकीर्ण भेदों के संबन्ध में ये तीन मत हैं—

(१) भरत के अनुसार और उसी का अनुसरण करते हुए शार्ङ्ग० के मत से संकीर्ण भेद अनेक होते हैं। उनमें ५, ७, ९, १० और ११ कला वाले विशिष्ट भेद होते हैं।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(२) एक अन्य मत से ५, ७, ९, १० और ११ कला वाले ये ५ ही संकीर्ण भेद होते हैं।

(३) एक और मत से १४, १५, १६ और १७ कला वाले चार संकीर्ण भेद होते हैं।

खण्ड भेद ना०शा० में प्राप्त नहीं होता क्योंकि, जैसा शार्ङ्ग० ने कहा, वह देशीताल से ही संबन्धित है। गान्धर्व में ५ मार्ग तालों और उनके संकीर्ण भेदों का ही प्रयोग होता है इसलिये ना०शा० में खण्डभेद नहीं हैं। लेकिन अभिनव ने एकाधिक बार यह कहा है कि भंग, लयताल आदि भरतसम्मत हैं और उनका प्रयोग ध्रुवाओं में कहा भी है। प्रस्तारविधि से अवयवों का भंग करके सिर्फ़ चच्चत्पुट के ही लाखों भेद (ना०शा० ३२/४११ पर अभि०, पृ० २८५-८६) और त्र्यश्र, चतुरश्र, मिश्र तालों के भंजन से भंग तालों की प्राप्ति भी अभिनव ने कही। इसी तरह इनके मिश्र और संकीर्ण भेदों व लयभेदों से अनेक ताल बनते हैं जो भंग, उपभंग, विभंग और लय ताल कहलाते हैं।

इन तालों का विस्तार से निरूपण भरतभाष्य में है। शार्ङ्ग० ने देशीतालों को भी चच्चत्पुट आदि के खण्डभेद कहा है। इस तरह देशीताल भी भंग लय आदि तालों से संबन्धित हैं। इस संबन्ध के कारण खण्डतालों का मूल मार्गतालों में ही है यद्यपि उनका प्रयोग गान्धर्व (गीतकों) में नहीं बल्कि देशी संगीत में होता है। ध्रुवा शार्ङ्ग० का विषय नहीं है इसलिये उसने लय, भंग आदि तालों का निरूपण नहीं किया लेकिन खण्डताल देशी से संबद्ध होने के कारण उनका विस्तार से निरूपण किया और वह देशीताल प्रकरण में किया। डॉ० रामनाथन् के अनुसार खण्डतालों का मूल मार्ग संगीत में होने के कारण संभवतः शार्ङ्ग० ने इस भेद का उल्लेख मार्गताल प्रकरण में किया (Musical Forms in Saṅgītaratnākara, पृ० ११९)।

(परिवर्तनम्)

आवृत्तिः पादभागादेः परिवर्तनमिष्यते॥ ४३॥

परिवर्तन

४३ ग-घ. (अ०) पादभाग-आदेः आवृत्तिः पादभाग आदि की आवृत्ति (बार-बार करना) परिवर्तनम् इष्यते परिवर्तन इच्छित होता है (अर्थात् माना जाता है)।

(सर०) पारिभाषिकी मात्रा के चौथे भाग को पादभाग कहा जा चुका है। कल्लि० ने आदि में अवयवी ताल का ग्रहण किया जिसके अवयव पादभाग, मात्रा आदि होते हैं। इस तरह उसने पूरे ताल को बार-बार करना—इसे परिवर्तन कहा। सिंह० ने एक बार ताल समाप्त करके फिर दुबारा आरम्भ करने को आवृत्ति कहा।

गान्धर्व के अन्तर्गत पूरे गीतक में एक ही ताल की आवृत्ति हो यह ज़रूरी नहीं है लेकिन कुछ गीतकों में आवृत्ति भी होती है। गीतक के अलग-अलग खण्डों और अंगों में प्रायः अलग-अलग तरह की ताल योजना होती है। लेकिन देशी संगीत में किसी गीत में प्रायः शुरू से अन्त तक किसी एक ही ताल की आवृत्ति होती है, यह प्रबन्धों के लक्षणों से स्पष्ट है। वर्तमान संगीत में तो पूरी बन्दिश में ताल की आवृत्ति ही होती है।

(लयः)

विश्रान्तियुक्तया काले क्रियया मानमिष्यते।
क्रियानन्तरविश्रान्तिर्लयः,

लय

४४ क-ग. (अ०) विश्रान्तियुक्तया क्रियया विश्रान्ति से युक्त (सशब्द-निःशब्द) क्रिया के द्वारा काले काल में मानम् इष्यते माप इच्छित होता है। क्रिया-अनन्तरविश्रान्तिः क्रिया के अनन्तर (बिल्कुल साथ होने वाली) विश्रान्ति लयः लय (होती है)।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(सर०) ग्रन्थकार ने लय का बहुत संक्षिप्त लक्षण दिया है। समय का माप करने के लिये क्रिया ज़रूरी है और क्रिया के साथ विश्रान्ति अनिवार्य रूप से जुड़ी है। यहाँ क्रिया के बिल्कुल साथ जुड़ी विश्रान्ति को ही लय कहा। इसे यों भी कह सकते हैं कि एक क्रिया और दूसरी क्रिया के बीच का काल, जो पहली क्रिया का विस्तार होता है वही लय है। अनन्तर (अन् + अन्तर) यानी अन्तर के बिना इसलिये कहा कि क्रिया और उसकी विश्रान्ति में अन्तर नहीं होता। वास्तव में क्रिया विश्रान्ति से अभिन्न है क्योंकि विश्रान्ति के बिना क्रिया का अस्तित्व नहीं है। इसीलिये अभिनव ने कहा कि लय के बिना कला का स्वरूप ही नहीं होता (३१/१, पृ० १५३, पं० १६)। लय का अर्थ लीनता है और अभिनव ने लीनता को ही विश्रान्ति कहा (वही, पृ० १५१, नीचे से ५वीं ६ठी पंक्ति)।

लय शब्द संस्कृत में पुल्लिंग और हिन्दी में स्त्रीलिंग है।

(लयत्रैविध्यम्)

स त्रिविधो मतः ॥ ४४ ॥

द्रुतो मध्यो विलम्बश्च द्रुतः शीघ्रतमो मतः ।
द्विगुणद्विगुणौ ज्ञेयौ तस्मान्मध्यविलम्बितौ ॥ ४५ ॥

लय की त्रिविधता

४४ घ-४५. (अ०) सः वह (लय) त्रिविधः मतः तीन प्रकार का माना गया (है) द्रुतः मध्यः विलम्बः च द्रुत, मध्य और विलंबित। द्रुतः द्रुत शीघ्रतमः मतः सबसे जलद माना गया (है)। मध्यविलम्बितौ मध्य और विलम्बित तस्मात् उससे द्विगुण-द्विगुणौ दुगने-दुगने ज्ञेयौ जाने गये (हैं)।

(सर०) द्रुत, मध्य, विलम्बित—लय के ये तीन प्रकार हैं। इनमें से द्रुत सबसे जलद है क्योंकि उसमें क्रियाओं में विश्रान्ति सबसे कम होती है। द्रुत से दुगनी विश्रान्ति होने पर मध्य और मध्य से दुगनी विश्रान्ति हो तो विलम्बित कहलाती है। विश्रान्ति को ही लय माना गया इसलिये विश्रान्ति बढ़ने से लय धीमी होती है। उदाहरण के लिये, अगर ५ लघु अक्षरकाल वाली क्रियाओं की लय को द्रुत मानें तो उसकी दुगनी यानी १० अक्षरकाल वाली मध्य और मध्य की दुगनी २० अक्षर वाली विलम्बित कही जायगी। इस प्रकार दुगनी-दुगनी विश्रान्ति होने से दुगनी-दुगनी लय कहलायेगी।

वर्तमान प्रयोग में भी द्रुत से मध्य और मध्य से विलम्बित लय का आधार विश्रान्ति का बढ़ना ही है। लेकिन ठाह-दुगुन-चौगुन जैसे लय सूचक शब्द-समूह में ठाह यानी मूल धीमी लय की अपेक्षा आधी विश्रान्ति वाली दुगुन और दुगुन से भी आधी विश्रान्ति वाली चौगुन कही जाती है। इस प्रकार इनमें लय का अर्थ उलट गया है।

कल्लि० ने अन्वय और व्यतिरेक के द्वारा शीघ्रतम की व्याख्या की है। उसके अनुसार जब एक क्रिया के बाद विच्छेद के बिना दूसरी क्रिया होती है तो वहाँ विश्रान्ति का अभाव होने से लय नहीं होती। जैसे—गुरु के अवयव दो लघुओं के अन्तराल में या प्लुत के अवयव तीन लघुओं के अन्तराल में विश्रान्ति नहीं होती इसलिये तालों के बीच में ही लय की योजना करनी चाहिये। जिसके होने पर क्रियाओं में विच्छेद दिखाई देता है (अन्वय) और न होने पर विच्छेद दिखाई नहीं देता (व्यतिरेक)—इस प्रकार के संबन्ध का अनुसरण करने वाली जो शीघ्रतम वही द्रुत लय होती है।

इस व्याख्या में जो यह कहा गया कि दो क्रियाओं के बीच विच्छेद न होने से लय नहीं होती वह पूरी तरह सार्थक नहीं है। विच्छेद का अर्थ है दो क्रियाओं का पृथक् रूप से दिखाई देना। विच्छेद के बिना एक के बाद दूसरी क्रिया हो ही नहीं सकती। बीच की विश्रान्ति कितनी भी कम हो सकती है लेकिन बिल्कुल न हो यह असंभव है। ग्रन्थकार के शीघ्रतम का यही अर्थ है कि विश्रान्ति बहुत कम होने पर क्रियाएँ जल्दी-जल्दी होंगी इसलिये वहाँ द्रुत लय कही जायगी। दूसरे, कल्लि० ने गुरु के अवयव दो लघुओं में और प्लुत के अवयव तीन लघुओं में विश्रान्ति न होना कहा। इसका आशय स्पष्ट नहीं है

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

क्योंकि गुरु और प्लुत एक-एक इकाई होती है, उनमें २ यार ३ खण्ड नहीं होते। साथ ही यह भी ध्यान देने की बात है कि लघु का ५ अक्षरकाल, गुरु का १० और प्लुत का १५ अक्षरकाल इन अवयवों के बीच की विश्रान्ति का सूचक ही है। तीसरे, बहुत कम विश्रान्ति के साथ क्रियाएँ निरन्तर होने पर ताल के बिना भी लय तो हो ही सकती है। इसलिये अन्वय और व्यतिरेक के आधार पर शीघ्रतम को द्रुत कहने का औचित्य प्रतीत नहीं होता। कल्लि० की व्याख्या का आशय यह लगता है कि विश्रान्ति बहुत कम होने पर द्रुत लय होती है।

मार्ग और देशी पद्धति में ५ लघु अक्षर विश्रान्ति का काल ही द्रुत लय का प्रमाण माना गया है। हालाँकि इससे आधी और उससे आधी लय का प्रयोग भी कहा गया है लेकिन उन्हें द्रुत, मध्य, विलम्बित के त्रिक में नहीं रखा गया बल्कि इन लयों के अन्तर्गत ही विशेष प्रकार से उनका प्रयोग हो जाता है। इसकी चर्चा आगे की जायगी। वर्तमान संगीत में जैसी आधारभूत अति द्रुतलय का प्रयोग होता है वह प्राचीन पद्धति में सभवतः नहीं होती थी।

द्विगुणद्विगुणौ की टीका में कल्लि० ने कहा कि द्रुतलय से दुगनी विश्रान्ति वाली मध्यलय और उससे भी दुगनी विश्रान्ति वाली विलम्बित लय है। इस प्रकार एककल आदि में एक-एक ही मार्ग में विश्रान्तिकाल के प्रमाण के भेद से तीन लय दिखाईं। जैसे—लोक में एक ही रास्ते पर जाने के लिये तीन व्यक्ति प्रवृत्त होते हैं। उनमें से एक दौड़ता है, उसकी गति शीघ्र होती है। दूसरा उससे मन्द जाता है, उसकी गति मध्य होती है। तीसरा उससे भी मन्द जाता है, उसकी गति विलम्बित होती है। इस तरह पैर रखने की क्रिया में विश्रान्तिकाल की विषमता से गतिभेद होता है। उसी तरह ताल में भी लयभेद होता है।

विश्रान्तिकाल के भेद से होने वाले लयभेदों को चच्चत्पुट ताल के आधार पर इस तरह समझ सकते हैं। इसमें तीन मार्गों में से चित्र में क्रियाएँ १०, १०, ५, १५ अक्षरकाल से होती हैं इसलिये द्रुत लय हुई। वार्तिकं में इसकी अपेक्षा गति दुगनी मन्द होती है क्योंकि क्रियाएँ २०, २०, १०, ३० के अनुसार हैं इसलिये मध्य लय हुई। दक्षिण मार्ग में क्रियाएँ उससे भी दुगनी मन्द ४०, ४०, २०, ६० के माप से होती हैं इसलिये विलम्बित लय होती है। इस तरह तालक्रियाओं के विश्रान्तिकाल में विषमता से लयभेद होता है।

कल्लि० ने मार्गों के साथ एककल आदि को लयभेद के संदर्भ में जोड़कर उचित नहीं किया क्योंकि एककल आदि में विश्रान्तिकाल का भेद न होने से लयभेद नहीं होता ब्लिक पूरे आवर्तन को समाप्त होने में दुगना-दुगना समय लगने के कारण वहाँ द्रुत, मध्य, विलम्ब से समाप्त होने का आभास होता है जबकि मार्गों में क्रमशः इन तीन लयों का योग होता है जैसा कि चच्चत्पुट के उदाहरण से स्पष्ट है।

यह पक्ष अभिनव ने इस तरह रखा कि एककल आदि में वास्तव में लयभेद नहीं होता लेकिन उनकी शीघ्र, मध्य, विलम्ब से समाप्ति को व्यक्त करने के लिये और कोई प्रकार नहीं है इसलिये व्यवहार में एककल आदि को द्रुत आदि कह दिया जाता है। लेकिन इनमें न तो मार्गों जैसी तीन लय होती हैं और न वे दुगनी-दुगनी होती हैं जबकि मार्गभेद में तो द्विगुणता ही होती है (अभि०, खण्ड ४, पृ० १६३, अन्तिम पैरा)।

अभिनव ने तीन लयों के परस्पर संबन्ध को गानक्रिया के आधार पर बड़े स्पष्ट रूप से व्यक्त किया। उसका आशय यह है कि एक गायक जितनी देर में किसी अंश को एक बार गाता है उतनी ही देर में दूसरा गायक उस अंश को दो बार गा लेता है और तीसरा चार बार गा लेता है तो इन तीनों की लय ही क्रम से विलम्बित, मध्य, द्रुत होती है। वर्तमान प्रयोग की ठाह-दुगुन-चौगुन इस उदाहरण के ठीक समकक्ष है क्योंकि दुगुन में मूल की अपेक्षा से दो बार और चौगुन में ४ बार गाया-बजाया जाता है।

(लयभेदानां भावसंबन्धः)

मार्गभेदाच्चिरक्षिप्रमध्यभावैरनेकधा।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

लयभेदों का भावसंबन्ध

४६ क-ख. (अ०) मार्गभेदात् मार्गों के भेद से चिर-क्षिप्र-मध्यभावैः चिर (देर), क्षिप्र (जल्दी) और मध्य भावों के द्वारा (लय) **अनेकधा** अनेक प्रकार का (होता है)।

(सर०) 'भाव' शब्द और लय के संबन्ध के द्वारा शार्ङ्ग० ने नये लगने वाले एक पक्ष को यहाँ प्रस्तुत किया है। इसके अनुसार हर मार्ग में तीन-तीन लयों की योजना करने से उनमें विलम्बित (चिर), मध्य, द्रुत (क्षिप्र) की अनुभूति होने लगती है। यद्यपि इन तीन लयों का जो नियत स्वरूप है वास्तव में वह उनमें नहीं होता लेकिन इन लयों में आधे-आधे या दुगने-दुगने का जो संबन्ध है उसी की प्रतीति होती है। ग्रन्थकार ने यहाँ उसी प्रतीति को भाव शब्द के द्वारा प्रकट किया है।

कल्लि० ने इस श्लोक की लम्बी व्याख्या में कहा कि दक्षिण मार्ग में चिरभाव, वार्तिक में मध्यभाव और चित्र में क्षिप्रभाव होता है। जैसे, चित्रमार्ग में १० लघु अक्षरकाल से जो लय होती है वह द्रुत कहलाती है। वार्तिक मार्ग में वैसी दो कलाओं से होने वाली मध्यलय होती है और दक्षिण मार्ग में वैसी ४ कलाओं से होने वाली विलम्बित कही जाती है। कलाओं में विश्रान्तिकाल एकसा होने पर भी क्रियाओं के प्रमाण (संख्या) से निर्मित मार्गभेद के आधार पर लयभेद समझा जाता है। जैसे, लोक में एक गाँव से गंगा तक जाने वाले तीन मार्गों में से सबसे पास के रास्ते से जाने वाला जल्दी पहुँच जाता है इसलिये शीघ्र आया ऐसा कहा जाता है। उसकी अपेक्षा दुगनी दूरी वाले रास्ते से जाने वाला उससे देर से पहुँचता है इसलिये मध्यभाव से आया हुआ कहा जाता है। उससे भी दुगने लम्बे रास्ते से जाने वाले को उन दोनों की अपेक्षा विलम्ब से आया कहा जाता है। इस तरह चाल में विषमता न होने पर भी रास्ते के भेद से द्रुतादि व्यवहार होता है। उसी तरह ताल में भी समझना चाहिये। जैसे, हर मार्ग में विश्रान्तिकाल के प्रमाण के भेद से तीन लयें योजित करने से द्रुत में द्रुत, द्रुत में मध्य और द्रुत में विलम्बित; मध्य में द्रुत, मध्य में मध्य और मध्य में विलम्बित तथा विलम्बित में द्रुत, विलम्बित में मध्य और विलम्बित में विलम्बित होती है। 'अनेकधा' का यही अर्थ है।

कल्लि० ने इस व्याख्या में मार्ग की मूल लय को भाव माना, हर मार्ग में क्रिया का काल १० लघु अक्षर माना और ऐसी १-१, २-२ और ४-४ क्रियाओं को मार्गभेद का आधार माना। इसीलिये पिछले श्लोक की व्याख्या में 'एककलादिषु एकैकस्मिन्मार्गे' कहकर एककल आदि में और मार्गों में अभेद मान लिया। तीन अलग-अलग लम्बाई वाले मार्गों का लोक से जो उदाहरण दिया और उसमें विश्रान्तिकाल की जो एकरूपता कही वह मार्गों में नहीं बल्कि एककलादि में सार्थक है। इसी तरह मार्गों में क्रिया की संख्या में वृद्धि और विश्रान्ति की एकरूपता बताई जो मार्गों में नहीं एककलादि में होती है। एककलादि में क्रिया का काल भिन्न न होने पर भी संख्या दुगनी होने से कुल लम्बाई दुगनी हो जाने के कारण एककल शीघ्र, द्विकल मध्य और चतुष्कल विलम्ब से समाप्त होता है। इस जल्दी या देर से समाप्त होने में द्रुत, विलम्बित का भाव मान लिया जाता है। लेकिन इनमें न तो लयभेद होता है और न एक ही मार्ग या एककल आदि में से हरेक में चिर, क्षिप्र आदि भावों के आधार पर अनेक लय बनती हैं। हरेक का अपना-अपना भाव यानी एककल में क्षिप्र, द्विकल में मध्य और चतुष्कल में चिरभाव रहता है।

कल्लि० ने हर मार्ग में विश्रान्तिभेद से तीन-तीन लयों की योजना का जो क्रम बताया है उसमें तीन मूल लयों के अलावा न तो कोई नई लय बनती है और न कोई नया भाव उत्पन्न होता है। चिर, क्षिप्र, मध्य भाव से अनेकधा लय में शार्ङ्ग० को यही अभिप्रेत हो ऐसा नहीं लगता। लेकिन बृह० के गीतिप्रकरण में जो नौ लयभेद कहे हैं उनके साथ शार्ङ्ग० के भाव का साम्य दिखाई देता है (बृह०, प्र० खण्ड, अनु० ११३)।

बृह० के संबद्ध अंश में दक्षिण मार्ग से शुरू करके हर मार्ग की मूल लय में आधी-आधी लय करके अन्य दो-दो मार्गों के प्रयोग के द्वारा तीन मार्गों में कुल नौ प्रकार की लय कही गई हैं। तदनुसार चच्चत्पुट ताल में प्रस्तार दिये जा रहे हैं—

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

दक्षिण मार्ग

अक्षरकाल				मार्ग	लय
ऽ	ऽ	।	ऽ̆		
४०	४०	२०	६०	दक्षिण	विलम्ब
२०	२०	१०	३०	वार्तिक	मध्य
१०	१०	५	१५	चित्र	द्रुत

वार्तिक मार्ग

२०	२०	१०	३०	वार्तिक	विलम्ब
१०	१०	५	१५	चित्र	मध्य
५	५	२½	७½	ध्रुव	द्रुत

चित्र मार्ग

१०	१०	५	१५	चित्र	विलम्ब
५	५	२½	७½	ध्रुव	मध्य
२½	२½	१¼	३¾	शून्य	द्रुत

तीन मार्गों में उक्त प्रकार से लय आधी-आधी करके हर मार्ग में बनने वाली ३-३ लयों में से पहली सबसे धीमी है इसलिये उसे विलम्ब मान कर शेष २-२ लयों को लेकर उन तीनों में परस्पर विलम्ब, मध्य, द्रुत का संबन्ध दिखाई देता है।

इन भेदों में ५, १० और २० अक्षरकाल की आवृत्ति होते हुए भी मार्ग की कुल लम्बाई कम-ज़्यादा होने से उनमें पुनरावृत्ति नहीं लगती, केवल भिन्नता दिखाई देती है। जैसे दो समान वृत्तों में से एक के भीतर और दूसरे के बाहर एक-एक वृत्त बना दिया जाय तो पहले वाले वृत्त समान होते हुए भी दूसरे वृत्त की तुलना में बड़े-छोटे दिखाई देते हैं उसी तरह अक्षरकाल समान होने पर भी पूर्व या पर लय की अपेक्षा से एक ही लय मार्ग भेद से द्रुत, मध्य या विलम्बित लगती है। उदाहरण के लिये ऊपर दिये प्रस्तारों में १०, १०, ५, १५ अक्षर वाली लय दक्षिणमार्ग में द्रुत, वार्तिक में मध्य और चित्र में विलम्बित हो जाती है। इसी पक्ष को शार्ङ्ग० ने चिर, क्षिप्र, मध्य भाव कहकर व्यक्त किया है।

इन लय प्रयोगों में दो नये मार्ग ध्रुव और शून्य तथा २½ और १¼ अक्षरकाल वाली दो नई इकाइयाँ और प्राप्त होती हैं। ये इकाइयाँ क्रमशः द्रुत और द्रुत के आधे नाप वाली (अणुद्रुत) हैं और इनका प्रयोग मतंग के शून्य मार्ग में होता है।

(अक्षरपदवाक्येषु लयः)

लयोऽक्षरे पदे वाक्ये योऽसौ नात्रोपयुज्यते॥ ४६॥

अक्षर, पद, वाक्य में लय

४६ ग-घ. (अ०) अक्षरे अक्षर में, पदे पद में (और) वाक्ये वाक्य में यः लयः जो लय (होता है) असौ यह अत्र यहाँ (ताल में) न उपयुज्यते उपयोगी नहीं होता।

(सर०) सिंह० ने अत्र का अर्थ संगीतशास्त्र और कल्लि० ने संगीत दिया है। संदर्भ ताल का है इसलिये यहाँ का आशय ताल है। अक्षर, पद (शब्द) और वाक्य में जो लय होती है उसकी ताल में उपयोगिता नहीं है, वह छन्द से संबन्धित है। ना०शा० में भी गीतकों के संदर्भ में अक्षर, पद आदि की लय का उल्लेख हुआ है लेकिन वहाँ कहा गया कि छन्दों में जो समानता

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri
Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

समझी जाती है उसका आधार अक्षरों और पदों की कलाओं के काल में अन्तर यानी विश्रान्ति है और उसी को लय कहते हैं, (ना०शा०, ३१/३७०ग-३७१ख)। लय के बारे में भरत और शार्ङ्ग० के कथन के संदर्भ भिन्न हैं। भरत ने गीतकों के पद के संदर्भ में अक्षरों के बीच के विश्रान्ति काल के लिए लय शब्द का प्रयोग किया लेकिन शार्ङ्ग० ने ताल के संदर्भ में। इसलिये यह कहा कि ताल में अक्षर आदि की लय उपयोगी नहीं होती। किन्तु बीच का अन्तर या विश्रान्ति ही दोनों की दृष्टि में लय है।

(यतिः)

लयप्रवृत्तिनियमो यतिरित्यभिधीयते।

यति

४७ क-ख. (अ०) **लयप्रवृत्तिनियमः** लय के प्रयोग का नियम **यतिः** यति **इति अभिधीयते** इस प्रकार (इस नाम से) कहा जाता है।

(सर०) लय के प्रयोग से तात्पर्य लय में परिवर्तन का प्रयोग है इसलिये लयों में परिवर्तन के द्वारा किये जाने वाले प्रयोग का नियम यति कहलाता है। तीन लयों का कितने और किन-किन क्रमों में प्रयोग हो सकता है यही यति है।

(यतित्रैविध्यम्)

समा स्रोतोगता चान्या गोपुच्छा त्रिविधेति सा॥ ४७॥

यति की त्रिविधता

४७ ग-घ. (अ०) **सा** वह (यति) **समा** समा, **स्रोतोगता** स्रोतोगता **अन्या च गोपुच्छा** और अन्य गोपुच्छा **इति** यों **त्रिविधा** तीन प्रकार से (होती है)।

(सर०) समा, स्रोतोगता और गोपुच्छा—यति के ये तीन प्रकार हैं। लयों का प्रयोग तीन तरह से हो सकता है—(१) शुरू से अन्त तक एकसी लय, (२) क्रमशः घटती हुई (और) (३) क्रमशः बढ़ती हुई। यही क्रम से समा, स्रोतोगता और गोपुच्छा यति हैं।

तासां लक्षणानि

(तत्र समा)

आदिमध्यावसानेषु लयैकत्वे समा त्रिधा।
लयत्रैधादादिमध्यावसानेषु यथाक्रमात्॥ ४८॥

उनके लक्षण

१—समा

४८. (अ०) **आदि-मध्य-अवसानेषु** शुरू, बीच और अन्त में **लय-एकत्वे** लय एकसी होने पर **समा त्रिधा** समा (यति) तीन प्रकार से (होती है) **आदि-मध्य-अवसानेषु** (जो) शुरू, बीच और अन्त में **यथाक्रमात् लयत्रैधात्** नियत क्रम से तीन प्रकार की लय से (होती है)।

(सर०) शुरू से अन्त तक एक ही लय का प्रयोग हो और लय में कोई परिवर्तन न हो तो समा यति होती है। तीन

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

लयों के इस प्रकार के प्रयोग से वह तीन तरह की होती है—(१) शुरू से अन्त तक द्रुत, (२) शुरू से अन्त तक मध्य और (३) शुरू से अन्त तक विलम्बित।

शुरू से अन्त तक लय समान होने से इसे समा कहा गया है।

(स्रोतोगता)

चिरमध्यद्रुतलया तदा स्रोतोगता मता।
अन्या विलम्बमध्याभ्यां मध्यद्रुतवती परा॥ ४९॥

२—स्रोतोगता

४९. (अ०) चिर-मध्य-द्रुतलया (जब) विलम्बित, मध्य, द्रुत (के क्रम से) लय वाली (हो) तदा तब स्रोतोगता मता स्रोतोगता मानी गई (है)। अन्या दूसरी विलम्बमध्याभ्यां विलम्बित और मध्य से परा दूसरी (और) तीसरी मध्यद्रुतवती मध्य और द्रुत (लय) वाली (होती है)।

(सर०) स्रोतोगता भी तीन प्रकार की होती है—(१) शुरू में विलम्बित, बीच में मध्य और अन्त में द्रुत लय वाली, (२) शुरू में विलम्बित और अन्त में मध्य तथा (३) शुरू में मध्य, अन्त में द्रुत।

सिंह० ने स्रोतोगता और गोपुच्छा यतियों की व्याख्या गीत के तीन भाग मानकर उनमें लयों के संयोजन के आधार पर की है। आड्यार के १९५१ संस्क० की व्याख्या के अनुसार स्रोतोगता के तीनों प्रकारों में पहले भाग में विलंबित, दूसरे में मध्य और तीसरे में द्रुत कही हैं। इनमें तीन प्रकार दिखाई नहीं देते क्योंकि तीनों में तीन भागों में क्रम से विलम्बित, मध्य, द्रुत लय कही। आड्यार के १९८६ संस्क० में दूसरी पाण्डुलिपियों के आधार पर सिंह० की व्याख्या का जो पाठ दिया गया है उसमें क्रम इससे बिल्कुल अलग तरह से हैं। उसके अनुसार गीत के तीन भागों में क्रम से पहले प्रकार में विलम्बित-मध्य-द्रुत, दूसरे प्रकार में विलम्बित-विलम्बित-मध्य और तीसरे में विलम्बित-मध्य-मध्य लय होती हैं। उसमें ३ भेद और भी हैं जिनमें उसी क्रम से मध्य-मध्य-द्रुत, मध्य-द्रुत-द्रुत और विलम्बित-विलम्बित द्रुत लयों के प्रयोग से स्रोतोगता के ३ प्रकार हुए। अन्तिम में विलम्बित के बाद सीधे द्रुत लय है। मार्ग पद्धति में विलम्बित से सीधे द्रुत या द्रुत से सीधे विलम्बित लय का प्रयोग दिखाई नहीं देता। दूसरे, ग्रन्थकार ने तीसरे प्रकार में स्पष्टतः मध्य और द्रुत लय कही हैं, विलम्बित और द्रुत नहीं।

इस व्याख्या में विसंगति तो है लेकिन उसमें यह पक्ष प्रकट किया गया है कि यति का प्रयोग गीत के खण्डों में लय का परिवर्तन करके होता है। भरत ने भी गीत के स्थायी आदि वर्ण और वाद्य के अक्षरों का लयों के द्वारा जो नियमन है उसे यति कहा है (ना०शा० ३१/३७२)। इस प्रकार यति गीत और वाद्य के आश्रित होती है।

'स्रोतोगता' का अर्थ है स्रोत जैसी गति वाली या स्रोत की तरह जाने वाली।

(गोपुच्छा)

द्रुतमध्यविलम्बैः स्याद् गोपुच्छा द्रुतमध्यभाक्।
द्वितीयान्या भवेन्मध्यविलम्बितलयान्विता॥ ५०॥

३—गोपुच्छा

५०. (अ०) गोपुच्छा गोपुच्छा द्रुतमध्यविलम्बैः स्यात् द्रुत, मध्य और विलम्बित (लयों) के द्वारा (पहले प्रकार की) होती हैं। द्वितीया दूसरी द्रुतमध्यभाक् द्रुत और मध्य वाली अन्या तीसरी मध्यविलम्बितलय-अन्विता मध्य (और) विलम्बित लय से युक्त होती है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(सर०) गोपुच्छा शब्द का अर्थ है गाय की पूँछ वाली या जैसी। कल्लि० ने यति के लिये इस संज्ञा की अन्वर्थता इस प्रकार बताई कि जैसे गाय की पूँछ अन्त में विस्तृत होती है उसी तरह यह यति होती है। गाय की पूँछ शुरू में संकीर्ण (पतली) और अन्त में विस्तृत (चौड़ी) होती है। गोपुच्छा यति में भी लय शुरू में संकीर्ण यानी द्रुत और बाद में विस्तीर्ण यानी विलम्बित होती है।

गोपुच्छा यति भी तीन तरह की होती है—(१) शुरू में द्रुत, बीच में मध्य, अन्त में विलम्बित लय वाली, (२) शुरू में द्रुत, अन्त में मध्य लय-वाली और (३) शुरू में मध्य, अन्त में विलम्बित लयवाली।

स्रोतोगता की तरह गोपुच्छा की व्याख्या के भी दो भिन्न पाठ आड्० के दो संस्करणों में हैं। १९५१ के अनुसार पहले प्रकार में द्रुत-मध्य-विलम्बित, दूसरे प्रकार में द्रुत-विलम्बित-विलम्बित और तीसरे में मध्य-विलम्बित-विलम्बित हैं। १९८६ संस्क० के अनुसार पहले प्रकार में द्रुत-मध्य-विलम्बित, दूसरे में द्रुत-मध्य-मध्य और तीसरे में द्रुत-द्रुत-मध्य लय हैं। एक और क्रम में पहले प्रकार में मध्य-मध्य-विलम्बित, दूसरे में द्रुत-विलम्बित-विलम्बित और तीसरे में मध्य-विलम्बित-विलम्बित लय हैं। यहाँ भी उसी तरह की विसंगतियाँ हैं जैसी स्रोतोगता की व्याख्या में हैं।

इसी संस्क० में पादटिप्पणी में दिये गये पाठभेद में गोपुच्छा के दो अन्य भेदों में से एक में पूर्वभाग में द्रुत और पर भाग में विलम्बित लय है और दूसरे में पूर्वभाग में मध्य और परभाग में विलम्बित लय कही गई है। द्रुत से सीधे विलम्बित में जाने की विसंगति तो इसमें भी है लेकिन यहाँ गीत के तीन भाग न मानकर दो भागों में दो-दो लयों की योजना कही है।

उत्तर भारत के वर्तमान प्रयोग में गायन-वादन के स्वराधारित विस्तार में और अवनद्ध के वादन में यति का स्वरूप देखा जा सकता है। गायक-वादक विस्तार में ऐसे स्वरसंनिवेशों का और नर्तक ऐसे बोलों का क्रम से प्रयोग करते हैं जिनमें ठीक दुगने या आधे का संबन्ध होता है। इनमें स्रोतोगता व गोपुच्छा का रूप देखा जा सकता है।

अवनद्ध वाद्यों के वादन में दो तरह से यतियाँ ज़्यादा स्पष्ट रूप में दिखाई देती हैं—१. पेशकार, क़ायदे, रेले के वादन में और २. त्रिपल्ली, चौपल्ली जैसी रचनाओं में। पेशकार विलम्बित लय में और उसके प्रकार मध्य लय में बजाये जाते हैं। क़ायदा मध्य लय में और उसके 'पल्टे' द्रुत लय में होते हैं। रेला द्रुत में और उसके पल्टे उसकी दुगनी यानी द्रुततर में बजते हैं। इन सभी में स्रोतोगता स्पष्ट है।

त्रिपल्ली, चौपल्ली की एक ही रचना में तीन या चार लयों में बजाया जाता है जो विलम्बित से द्रुत के क्रम में और उसके उल्टे क्रम में भी हो सकता है। इनमें स्रोतोगता और गोपुच्छा दोनों यति देखी जा सकती हैं। अवनद्ध वादन के उक्त सभी प्रकारों में लयों में क्रम परिवर्तन दुगने-दुगने या आधे-आधे के अनुपात में ही होता है।

प्राचीन यति के भेदों को देखें तो यह प्रकट होगा कि उनमें से किसी में भी विलम्बित के बाद सीधे द्रुत लय का प्रयोग नहीं है। आज की उत्तर और दक्षिण दोनों पद्धतियों में इसका पालन किया जाता है।*

(ग्रहः)

(ग्रहस्य त्रैविध्यम्)

समोऽतीतोऽनागतश्च ग्रहस्ताले त्रिधा मतः।

ग्रह

ग्रह की त्रिविधता

५१ क-ख. (अ०) ताले ताल में ग्रहः ग्रह (ग्रहण/आरम्भ) समः अतीतः अनागतः च सम, अतीत और अनागत (यों) त्रिधा मतः तीन प्रकार से माना गया है (है)।

---

* विशेष विस्तार के लिये द्रष्टव्य लेखिका की पुस्तक—भारतीय संगीत में 'निबद्ध'।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(सर०) दोनों टीकाकारों ने ग्रह शब्द का अर्थ ताल का ग्रहण कहा है। कल्लि० ने पाणिनि का सूत्र उद्धृत करते हुए पुल्लिंगवाची 'घ' प्रत्यय से ग्रह शब्द को व्युत्पन्न बताया है।

ग्रह शब्द का सामान्य अर्थ है ग्रहण करना या पकड़ना। ताल संबन्धी ग्रह की धारणा गीत, वाद्य, नृत्त के साथ ताल की उठान कब होती है—इस संबन्ध की सूचक है। ताल की उठान दो तरह से हो सकती है—(१) गीतादि के ठीक साथ या (२) आगे-पीछे। तदनुरूप ग्रह भी दो प्रकार का हो सकता है—(१) एक साथ उठने पर समग्रह और (२) आगे-पीछे उठने पर विषम ग्रह। इसी अर्थ में शार्ङ्ग० ने एला प्रबन्ध में विषम ग्रह कहा (४/३९ख)। विषम में पहले और बाद में—यों दो तरह से उठान हो सकती है इसलिये इसके दो भेद किये—अतीत और अनागत। इस तरह ग्रह के तीन प्रकार हुए—सम, अतीत और अनागत।

(समग्रहः)

गीतादिसमकालस्तु समपाणिः समग्रहः॥ ५१॥

१—समग्रह

५१ ग-घ. (अ०) गीत-आदिसमकालः तु गीत आदि (गीत, वाद्य, नृत्त) के समकाल (साथ-साथ ताल के ग्रहण वाला) तो समग्रहः समग्रह समपाणिः (अथवा) समपाणि (कहा जाता है)।

(सर०) आदि में कल्लि० ने वाद्य और नृत्त का ग्रहण करके उनके और ताल के एक साथ ग्रहण को समग्रह बताया। सिंह० ने आदि का प्रारम्भ अर्थ करके गीत के प्रारम्भ के समय ही ताल के ग्रहण को समग्रह बताया। इस तरह उसने गीत को प्रधान रख कर उसके साथ ताल की उठान को ग्रह कहा जबकि कल्लि० ने आदि से गीत, वाद्य, नृत्त तीनों का ग्रहण करके उनके साथ ताल की उठान को ग्रह माना।

ग्रन्थकार ने भरत और दत्तिल का अनुसरण करके ग्रह के लिये पाणि शब्द का भी प्रयोग किया। पाणि तीन तरह का कहा गया है—समपाणि, अवपाणि और उपरिपाणि (ना०शा०, ३१/३७३; दत्ति० १५२)। शार्ङ्ग० ने समग्रह को समपाणि, अतीत ग्रह को अवपाणि और अनागत ग्रह को उपरिपाणि भी कहा है।

कल्लि० ने कहा कि पाणि शब्द से ताल सूचित किया जाता है क्योंकि पाणि (हाथ) की क्रिया से ताल की अभिव्यक्ति होती है। दत्तिल ने प्रयोग परम्परा के आधार पर ताल और पाणि को एक ही बताया (वही, १५३)।

मूलतः पाणि और ताल की धारणा एक ही है क्योंकि दोनों में गीत के साथ किसी दूसरी क्रिया (वाद्य, ताल आदि) के उठान को व्यक्त किया जाता है। पाणि गीत और वीणादि वाद्य, गीत और ताल, गीत और अवनद्ध वाद्य की उठान के संबन्ध का सूचक है। यद्यपि ताल का स्वतन्त्र महत्त्व नहीं है क्योंकि उसका प्रधान प्रयोजन गीत, वाद्य आदि के समय की माप करना है; लेकिन इन्हें ताल ही आधार प्रदान करता है इसलिये उसकी उठान की प्रधानता से ही ग्रहों का निरूपण किया गया है।

(अतीतग्रहः)

सोऽवपाणिरतीतः स्याद् यो गीतादौ प्रवर्तते।

२—अतीतग्रह

५२-क-ख. (अ०) यः जो गीत-आदौ गीत के पहले प्रवर्तते शुरू होता है सः वह अतीतः अतीत (ग्रह) अवपाणिः स्यात् अवपाणि होता है।

(सर०) अतीत का अर्थ है बीता हुआ। सिंह० ने गीतादौ की व्याख्या इस तरह की है—शुरू में गीत होने के बाद जो

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

प्रवृत्त होता है वह अतीत ग्रह है। दूसरी ओर कल्लि० ने इसके ठीक विपरीत अर्थ दिया है। उसके अनुसार जो गीत आदि के आदि में यानी पहले प्रवृत्त होता है वह अतीत ग्रह है। इस तरह सिंह० के अनुसार गीत पहले और ताल बाद में उठे तो अतीत और कल्लि० के अनुसार ताल पहले और गीतादि बाद में हों तो अतीत होता है।

कल्लि० के अनुसार अवपाणि में 'अव' 'अधः' (नीचे) का पर्याय है जो काल की दृष्टि से पहले होता है। ताल गीतादि का पूर्वभावी (पहले होने वाला) होने से अवपाणि है। गीतादि के द्वारा ताल का अतिक्रमण करके ताल उत्तरभावी (बाद में होने वाला) होने से यानी ताल बीत जाने से अतीत होता है।

(अनागत ग्रहः)

अनागतः प्राक्प्रवृत्तग्रहस्तूपरिपाणिकः ॥ ५२ ॥

३—अनागत ग्रह

५२ ग-घ. (अ०) प्राक् प्रवृत्तग्रहः तु पहले प्रवृत्त (शुरू हुआ) ग्रह तो अनागतः अनागत उपरिपाणिकः उपरिपाणि (होता है)।

(सर०) अनागत का शब्दार्थ है 'जो आया नहीं'।

सिंह० और कल्लि० की व्याख्याओं में अतीत के लक्षण में जो वैपरीत्य है वही अनागत में भी है। सिंह० ने अनागत के लिये कहा कि जो गीत के प्रारम्भ से पहले प्रवृत्त हो गया वह अनागत है। कल्लि० के अनुसार ताल गीत का उत्तरकाल-भावी होने से यानी बाद में शुरू होने से अनागत होता है। इसी को उपरिपाणि कहा गया है।

सिंह० ने गीत की प्रधानता से और कल्लि० ने ताल की प्रधानता के आधार पर अतीत और अनागत की व्याख्या की इसलिये दोनों भिन्न हैं। सिंह० ने गीत के 'बीत जाने' के बाद ताल शुरू होने से अतीत ग्रह और गीत 'आये बिना' ताल शुरू होने से अनागत ग्रह कहा। कल्लि० ने ताल के बीत जाने पर गीत का ग्रहण होने से अतीत और ताल आये बिना गीत शुरू हो जाने से अनागत ग्रह कहा।

समपाणि, अवपाणि और उपरिपाणि के भरत द्वारा दिये गये लक्षण की व्याख्या में अभिनव ने कहा कि ताल गीत के समकाल हो तो समपाणि, गीत से पहले (पूर्वकालता) होने पर अवपाणि और गीत के बाद (आगन्तुककालता) हो तो उपरिपाणि समझा जाता है (अभि०, खण्ड ४, पृ० २८५, पं० १०-१२)।

शार्ङ्ग० ने अतीत को अवपाणि और अनागत को उपरिपाणि कहा। इस आधार पर अतीत और अनागत ग्रह संबन्धी कल्लि० की व्याख्या की ही पुष्टि होती है।

लयाः क्रमात् समादौ स्युर्मध्यद्रुतविलम्बिताः।

(इति मार्गतालतत्त्वलक्षणप्रकरणम्)

५३ क-ख. (अ०) सम-आदौ सम आदि (ग्रहों अर्थात् सम, अतीत, अनागत) में क्रमात् क्रम से मध्यद्रुतविलम्बिताः लयाः मध्य, द्रुत और विलम्बित लय होते हैं।

(सर०) 'क्रम से' यानी समग्रह में मध्य, अतीत में द्रुत और अनागत में विलम्बित लय समझनी चाहिये।

भरत के अनुसार अवपाणि में द्रुत और उपरिपाणि में विलम्बित लय होती है। अभिनव ने इस संबन्ध को इस दृष्टान्त के द्वारा स्पष्ट किया है। जब प्रधान तत्त्व पहले आरम्भ होता है तो वह गौण तत्त्व की प्रतीक्षा किये बिना द्रुत लय में आगे बढ़ जाता है इसलिये प्रधानता के कारण प्रधान तत्त्व में उपरिपाणि होता है। लेकिन जब गौण तत्त्व पहले शुरू होता है तो

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

मुख्य तत्त्व से मिलने के लिये विलम्बित गति में चलता है। इस गौणता के आधार पर गौण तत्त्व में अवपाणि होता है (अभि०, खण्ड ४, पृ० २८५, अन्तिम पैरा)।

निर्गीतों में वाद्य की प्रधानता होने पर उपरिपाणि में द्रुत और गौणता होने पर अवपाणि में विलम्बित लय होती है। लकिन गीत की प्रधानता में द्रुत लय का अवपाणि से और विलम्बित का उपरिपाणि से संबन्ध होता है। इससे प्रकट होता है कि तीन लयों का तीन पाणियों से नियत संबन्ध नहीं है बल्कि प्रधानता-गौणता के आधार पर किसी लय का किसी पाणि से संबन्ध बनता है।

प्रस्तुत श्लोक में तीन ग्रहों के साथ तीन लयों का नियत संबन्ध कहा गया है—सम का मध्य से, अतीत का द्रुत से और अनागत का विलम्बित से। इस संबन्ध को कल्लि० ने भी एक दृष्टान्त के द्वारा समझाया है जो अभिनव की पूर्वोक्त व्याख्या से प्रभावित है। उसने कहा कि कोई व्यक्ति किसी मित्र के साथ कहीं जाने के लिये तैयार होता है लेकिन मित्र उसे छोड़कर (अतीत्य) पहले ही चल देता है। यह सुनकर पीछे रहा व्यक्ति मित्र के साथ मिल जाने के लिये तेज़ी से जाता है। अथवा मित्र को आने में देर है इसलिये व्यक्ति चल देता है। लेकिन यह सुनकर कि मित्र पीछे आ रहा है वह मित्र को साथ कर लेने के लिये धीरे-धीरे चलता है। इस दृष्टान्त में व्यक्ति गीत-स्थानीय है और मित्र तालस्थानीय (समकक्ष)। इसलिये पहले उदाहरण से यह स्पष्ट किया गया है कि पहले प्रवृत्त हुए ताल से मिल जाने के लिये गीत द्रुत लय में चलता है और दूसरे उदाहरण से यह कहा गया है पहले शुरू हुए गीत के साथ ताल के ग्रहण के लिये गीत विलम्बित लय में चलता है। ग्रन्थकार ने ग्रह और पाणि का तथा ग्रह और लय का जो संबन्ध बताया उसके अनुसार अतीत का अवपाणि और द्रुत लय से तथा अनागत का उपरिपाणि और विलम्बित लय से नियत संबन्ध दिखाना अभिप्रेत लगता है।

एक ही गीत में बलस्थान के परिवर्तन से भी ग्रहभेद की अनुभूति करना संभव है और यह प्रयोग वर्तमान लक्ष्य में भी देखा जा सकता है। (उदाहरण के लिये देखें—भारतीय संगीत में 'निबद्ध', पृ० ६२)

ग्रह के शार्ङ्ग० के निरूपण से ऐसा लगता है कि ग्रह के द्वारा गान-वादन आदि के बिल्कुल प्रारम्भस्थान के साथ ताल की उठान के संबन्ध अथवा प्रकार को व्यक्त किया गया है।

मार्गतालतत्त्वलक्षण प्रकरण समाप्त

(प्रकरणाख्यगीतप्रकरणम्)

एतैः प्रकरणाख्यानि तालैर्यानि जगुर्बुधाः॥ ५३॥

तानि गीतानि वक्ष्यामः,

(ख) प्रकरण नामक गीत प्रकरण*

५३ ग ५४ क. (अ०) एतैः तालैः इन (मार्ग-)तालों के द्वारा यानि जिन प्रकरण-आख्यानि गीतानि प्रकरण नामक गीतों को बुधाः बुधजनों ने जगुः कहा है तानि उनको वक्ष्यामः (अब) कहेंगे।

(सर०) मार्गतालों के स्वरूप का प्रत्यक्ष प्रकरण गीतों में ही होता है इसलिये उनका उपयोग दिखाने के लिये मद्रक आदि प्रकरण गीतों का निरूपण करने का संकल्प ग्रन्थकार ने प्रकट किया है। बुधाः से आशय भरत आदि से है।

प्रकरण शब्द की व्याख्या करते हुए सिंह० ने कहा कि मार्गतालों के द्वारा जो विशेष रूप से प्रस्तुत किये जाते हैं वे

---

* गीतकों के विशेष अध्ययन के लिये द्रष्टव्य—
१. भारतीय संगीत में 'निबद्ध',
२. Musical Forms in Saṅgītaratnākara

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

मद्रक आदि प्रकरण गीत हैं। उसने यह भी ध्यान दिलाया कि यद्यपि पंचतालेश्वर आदि प्रबन्धों का भी मार्गतालों से संबन्ध है लेकिन उन प्रबन्धों में ताल की प्रधानता नहीं है और न मार्गों के प्रयोग का नियम है इसलिये उन्हें प्रबन्धाध्याय में कहा गया। मद्रक आदि तालप्रधान हैं इसलिये यहाँ यानी तालाध्याय में कह रहे हैं।

गीतानि में सिंह० ने मद्रक, अपरान्तक, उल्लोप्यक, प्रकरी, ओवेणक, रोविन्दक और उत्तर के साथ आसारित को मिला कर इन सात की अन्य संज्ञा 'गीत' कही और छन्दक आदि को मिलाकर चौदह प्रकरण गीत कहे। वास्तव में आसारित पहले ७ के वर्ग में नहीं, छन्दक से शुरू होने वाले दूसरे वर्ग में आता है आसारित को मद्रकादि के साथ मिलाने से संख्या ८ हो जाती है, जबकि ग्रन्थकार ने ७-७ के दो स्पष्ट वर्ग बनाये हैं—पहले वर्ग में मद्रक से उत्तर तक के ७ और दूसरे में छन्दक से साम तक के ७ (जो अगले श्लोकों में कहे जायँगे)।

कल्लि० ने ग्रन्थकार के इन दो वर्गों पर कहा कि मद्रक आदि ७ का गीतक संज्ञा से और छन्दक आदि ७ का सामान्य रूप से गीत से निर्देश किया है।

तेषामाद्यं तु मद्रकम्।
अपरान्तकमुल्लोप्यं प्रकर्योवेणकं ततः॥५४॥

रोविन्दकोत्तरे सप्त गीतकानीत्यवादिषुः।
छन्दकासारिते वर्धमानकं पाणिकं तथा॥५५॥

ऋचो गाथा च सामानि गीतानीति चतुर्दश।
शिवस्तुतौ प्रयोज्यानि मोक्षाय विदधे विधिः॥५६॥

५४ ख-५६. (अ०) तेषाम् उनका (उनमें) आद्यं तु पहला तो मद्रकं मद्रक (है)। अपरान्तकम् अपरान्तक, उल्लोप्यम् उल्लोप्यक, प्रकरी ओवेणकं प्रकरी, ओवेणक ततः उसके बाद रोविन्दक-उत्तरे रोविन्दक और उत्तर इति ये सप्त गीतकानि सात गीतक अवादिषुः कहे गये (हैं)। छन्दक-आसारिते छन्दक और आसारित वर्धमानकं तथा पाणिकं वर्धमान और पाणिक (पाणिका) ऋचः गाथा च सामानि ऋक्, गाथा और साम गीतानि गीत (हैं) इति यों चतुर्दश चौदह (गीत) मोक्षाय मोक्ष के लिये शिवस्तुतौ शिव की स्तुति में प्रयोज्यानि योजित करने चाहियें (इस प्रकार) विधिः ब्रह्मा ने विदधे विधान किया है।

(सर०) ग्रन्थकार ने सामान्य रूप से प्रकरण संज्ञा का प्रयोग किया और फिर गीतकों के दो वर्ग बनाये जिनमें से पहले वर्ग को गीतक और दूसरे को गीत कहा। पहले में मद्रक, अपरान्तक, उल्लोप्यक, ओवेणक, प्रकरी, रोविन्दक और उत्तर कहे और दूसरे में छन्दक, आसारित, वर्धमान, पाणिका, ऋक्, गाथा और साम। यों कुल मिलाकर १४ गीतक हैं।

गीतकों का निरूपण सबसे पहले ना०शा० में हुआ है। वहाँ गीत और गीतक दोनों शब्दों का प्रयोग है। २८वें अध्याय में इन्हें प्रकरण कहा गया और अन्यत्र इनके लिये सप्तरूप और सप्तगीत संज्ञाओं का कई बार प्रयोग हुआ है। प्रकरण संज्ञा विष्णु० में भी है। याज्ञवल्क्य स्मृति की मिताक्षर टीका में मद्रक आदि ७ के लिये प्रकरण संज्ञा है। दत्तिलम् में भी ऐसा ही है। हालाँकि भरत ने सप्तरूप और सप्तगीतक संज्ञाओं का प्रयोग मुख्यतः मद्रक आदि ७ गीतकों के लिये ही किया है लेकिन सामान्य रूप से ये गान्धर्व संबन्धी सारी विधाओं के सूचक हैं। नान्य० ने गीत संज्ञा का प्रयोग करते हुए सप्तगीत ही कहे, चौदह प्रकरणगीत नहीं। कुम्भा ने शार्ङ्ग० की तरह दो वर्ग तो नहीं बनाये लेकिन सिर्फ़ मद्रकादि ७ को गीतक और सबको मिलाकर प्रकरण कहा और इन्हें शुद्धगीत भी कहा। विष्णु० और याज्ञ० में भी गीतकों को 'चोक्ष' (शुद्ध) कहा गया।

मद्रकादि ७ गीतकों के लक्षण देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि इनके लक्षणों में साम्य है। इन ७ का एक समूह या नियत वर्ग परम्परा से मान्य रहा है और स्मृति-पुराणादि में भी इन ७ को एक साथ गिनाया गया है: छन्दक आदि ७ के लक्षणों में समानता न होने से इनका कोई संबद्ध समूह नहीं है बल्कि पहले वर्ग से भिन्न कुछ फुटकर गीतों को एक साथ रखकर बनाया हुआ वर्ग कह सकते हैं।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

संभवतः मद्रकादि ७ गीतक सामगान काल के बाद विकसित या स्थिर हुए जिनका प्रयोग मोक्षप्राप्ति, देवाराधना यानी अदृष्ट फल की प्राप्ति के लिये होता था। इसी प्रयोजन से भरत ने पूर्वरंग में इनका प्रयोग विहित किया।

उपलब्ध सभी ग्रन्थों में इनका प्रयोग शिव की स्तुति में ही कहा गया हैं। स्मृति, पुराणों से भी इस तथ्य की पुष्टि होती है। ना०शा० में उदाहरण के रूप में दिये गये पद भी शिवस्तुति के ही है। शार्ङ्ग० ने भी इनके शिवस्तुति में प्रयोग की बात कही है।

यह भी उल्लेखनीय है कि भरत ने गीतकों का नाट्य के संदर्भ में यानी पूर्वरंग में प्रयोग कहा है और कुछ गीतकों के प्रयोग के साथ नृत्त और अभिनय का योग भी बताया है। लेकिन सं०र० में गीतकों के निरूपण में पूर्वरंग में उनके प्रयोग का उल्लेख तक नहीं है हालाँकि ताण्डव और विशिष्ट अंगहारों (नृत्त में हाथ-पैरों की सम्मिलित क्रियाओं के क्रम) के निरूपण में पूर्वरंग में वर्धमान, आसारित, पाणिका आदि गीतों का उल्लेख नर्तनाध्याय में हुआ है। इसका कारण यह है कि सं०र० नाट्य से स्वतन्त्र संगीत का ग्रन्थ है इसलिये गीतकों के साथ सीधे नृत्त को नहीं जोड़ा लेकिन भरतोक्त ताण्डव तो वर्धमान-आसारित के बिना हो ही नहीं सकता था इसलिये ताण्डव में ग्रन्थकार ने गीतकों का उल्लेख किया। स्मृति, पुराण आदि में भी गीतकों में नाट्य का संदर्भ नहीं है बल्कि देवाराधना में ही उनका प्रयोग कहा गया है।

पूर्वरंग में गीतकों का नृत्त, अभिनय, वाद्ययुक्त प्रयोग करने के दो प्रयोजन हैं—१. ईशस्तुति यानी अदृष्ट फल की प्राप्ति और २. विभिन्न परिस्थितियों में से आये हुए सामाजिकों के चित्त को नाट्य में एकाग्र करके उनका रंजन करना यानी दृष्ट फल की प्राप्ति। इस तरह दृष्ट और अदृष्ट दोनों का संयोग होने के कारण एक ओर गीतक प्रयोग में रंजकता अपेक्षित है और दूसरी ओर वेदपाठ के विधिविधान की तरह विशिष्ट क्रियाओं सहित तालों का नियत और विशुद्ध रूप में प्रयोग भी अनिवार्य है। स्वर और पद गीतकों का अनिवार्य अंग होते हुए भी इनमें ताल ही प्रधान है क्योंकि उनका पूरा ढाँचा ताल पर आधारित है और वह अपरिवर्तनीय है। इसीलिये भरत और शार्ङ्ग० दोनों ने इनका निरूपण तालाध्याय में किया। वास्तव में गीतक और ताल परस्पर अवलम्बित तथा एक दूसरे के स्वरूप के व्यंजक और पूरक हैं।

(गीतकानां पदाधारितभेदाः)

(तत्र कुलकं छेद्यकञ्च)

कुलकं छेद्यकं चेति तानि द्वेधा जगुर्बुधाः।
वस्तूनामेकवाक्यत्वे कुलकं संप्रचक्षते॥ ५७॥

वस्तूनां भिन्नवाक्यत्वे छेद्यकं,

गीतकों के पदाधारित भेद

१—कुलक और छेद्यक

५७-५८ ख. (अ०) तानि उन (गीतकों)को बुधाः बुधजनों ने कुलकं छेद्यकं च कुलक और छेद्यक इति यों द्वेधा जगुः दो प्रकार से कहा है। वस्तूनाम् एकवाक्यत्वे वस्तुओं (गीतक के अंगों) का एकवाक्यत्व (सारे पदों का एक वाक्य बनना) होने पर कुलकं संप्रचक्षते कुलक कहा जाता है (और) वस्तूनां वस्तुओं (के विभिन्न पदों) का भिन्नवाक्यत्वे भिन्न वाक्यत्व (अलग-अलग वाक्य बनना) होने पर छेद्यकं छेद्यक (होता है)।

(सर०) कुलक का शब्दार्थ है समूह वाला इसलिये जहाँ गीत के विभिन्न शब्द मिलकर एक समूह बने वहाँ कुलक कहा जायगा। छेद्यक का अर्थ है खण्ड वाला इसलिये शब्दों के अलग-अलग समूह वाला प्रकार छेद्यक होगा। प्रस्तुत संदर्भ में समूह का अर्थ वाक्य है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

भरत ने एक अर्थ देने वाले (एकार्थ) को कुलक और अलग-अलग अर्थ देने वाले (पृथक्) को छेद्यक कहा (ना०शा०, ३१/३२१)। अभिनव ने एकार्थ को परस्पर अन्वित अर्थ वाला कहा और इसके विपरीत छेद्यक।

शार्ङ्ग ने एक वाक्यत्व और भिन्नवाक्यत्व के द्वारा भरत और अभिनव के आशय को ही व्यक्त किया है। अगर गीत के सारे पद मिल कर एक वाक्य बने तो एकवाक्यत्व होगा और अगर अलग-अलग वाक्य बनें तो भिन्नवाक्यत्व। वाक्य का अर्थ उसके क्रियापद में निहित होता है इसलिये एकवाक्यत्व यानी पूरे वाक्य में एक क्रिया का होना। अगर कई क्रियाएँ हों तो अलग-अलग वाक्य होने से भिन्नवाक्यत्व कहना सार्थक है। इसलिये सारे पदों का एक ही क्रिया में अन्वय होने पर कुलक और विभिन्न क्रियाओं में अन्वय होने पर छेद्यक होता है। कल्लि० ने इसी तथ्य को अपनी व्याख्या में प्रकट किया है।

काव्यशास्त्र में भी काव्य का एक प्रकार कुलक कहा गया है जिसमें ३, ४ या ५ पद एक ही क्रिया या संज्ञापद में अन्वित होकर एक अर्थ देते हैं।

(निर्युक्तं पदनिर्युक्तमनिर्युक्तम्)

ते पुनः पृथक्।
निर्युक्तं पदनिर्युक्तमनिर्युक्तमिति त्रिधा॥ ५८॥

२—निर्युक्त, पदनिर्युक्त, अनिर्युक्त

५८ ख-घ. (अ०) पुनः फिर (से) ते वे पृथक् अलग-अलग (अर्थात् दोनों) निर्युक्तं पदनिर्युक्तम् अनिर्युक्तं निर्युक्त, पदनिर्युक्त (और) अनिर्युक्त इति त्रिधा यों तीन प्रकार से (होते हैं)।

(सर०) कुलक और छेद्यक दोनों निर्युक्त, पदनिर्युक्त, अनिर्युक्त भेद से तीन-तीन प्रकार के कहे हैं। कुलक आदि पदाधारित भेद हैं और उन्हीं के ३-३ भेद कहने में यह अन्वित है कि निर्युक्त आदि भी पद पर आधारित हैं। भरत और दत्तिल ने भी गीतकों के ये तीन भेद कहे (ना०शा०, ३१/३२२-२४; दत्ति०, १५७-५९)।

(तेषां लक्षणानि)

सर्वाङ्गयुक्तं निर्युक्तं पदनिर्युक्तकं पुनः।
बद्धं स्तुतिपदैस्त्यक्तोपोहनप्रत्युपोहनम्॥ ५९॥
वस्तुमात्रैरनिर्युक्तं,

उनके लक्षण

५९-६० क. (अ०) सर्व-अङ्गयुक्तं निर्युक्तं सारे अंगों से युक्त निर्युक्त (है)। पुनः फिर त्यक्त-उपोहनप्रत्युपोहनम् उपोहन और प्रत्युपोहन छोड़ा हुआ (और) स्तुतिपदैः बद्धं स्तुति पदों से बँधा हुआ (रचित) पदनिर्युक्तकं पदनिर्युक्त (है)। वस्तुमात्रैः केवल वस्तुओं से (युक्त) अनिर्युक्तकम् अनिर्युक्त (होता है)।

(सर०) इन लक्षणों में गीतकों के तालसंबन्धी अंगों के ३ पारिभाषिक शब्द आये हैं—उपोहन, प्रत्युपोहन और वस्तु। इनके लक्षण आगे गीतकों में यथास्थान दिये गये हैं लेकिन यहाँ संक्षेप में समझना जरूरी है।

उपोहन-प्रत्युपोहन—कुछ गीतकों की वस्तुओं के शुरू में रहने वाले ऐसे अंग उपोहन और प्रत्युपोहन कहे गये हैं जिनमें झण्टुं आदि निरर्थक अक्षर (वाक्करण) ही होते हैं। इनमें वीणा के आघातों के समकक्ष निरर्थक अक्षरों के द्वारा वस्तु के शुरू में स्वराक्षर गाये जाते हैं। पहली वस्तु में इसे उपोहन और अन्य वस्तुओं में प्रत्युपोहन कहते हैं।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

वस्तु—अनेक 'अंगों' से युक्त ऐसे बड़े खण्ड वस्तु कहलाते हैं जिनकी रचना तालक्रियाओं की नियत संख्या और अपरिवर्तनीय पातकलाविधि के द्वारा होती है। अंगों से तात्पर्य तालांगों और वर्णांगों से है। किसी अंग का ढाँचा तालाधारित हो तो तालांग होता है और तालाधारित अंगों के अन्तर्गत स्वरयोजना संबन्धी अंग वर्णांग होता है।

निर्युक्त

भरत ने निर्युक्त का यह लक्षण दिया—

बहिर्गीताङ्गशाखाभिर्युक्तं निर्युक्तमिष्यते। (ना०शा०, ३१/३२३ क-ख) इसकी अभिनव ने व्याख्या यों की— बहिर्गीतेनोपोहनप्रत्युपोहनात्मनाङ्गैः शाखाप्रतिशाखाभ्यां च युक्तं निर्युक्तं निःशेषस्वरूपयोगात्। (वही, अभि०, पृ० २६८)

बहिर्गीत मूलतः गेयविधा है जो बाद में वाद्यविधि की प्रधानता हो जाने पर वाद्यविधा हो गई। इसमें सार्थक के बजाय निरर्थक अक्षर ही होते हैं। उपोहन-प्रत्युपोहन में भी निरर्थक अक्षर होते हैं इसलिये भरत ने इनके लिये बहिर्गीत संज्ञा का प्रयोग किया है।

शाखा और प्रतिशाखा पद से संबन्धित हैं जिनमें किसी खण्ड की तालस्वरयोजना में तो परिवर्तन नहीं होता यानी आवृत्ति होती है लेकिन पद भिन्न होते है। पहली बार होने वाला प्रयोग शाखा और आवृत्ति प्रतिशाखा कहलाती है।

इस तरह बहिर्गीताङ्ग और शाखा में भरत ने गीतक के सारे अंगों (तत्त्वों) का समावेश कर लिया इसीलिये अभिनव ने निर्युक्त को 'निःशेषस्वरूप' वाला कहा। इसी अर्थ में शार्ङ्ग० ने भी नियुक्त को 'सर्वाङ्गयुक्त' कहा। इसे कल्लि० ने 'आगे कहे जाने वाले विविध अंगों की अन्यूनता के द्वारा' कहा। उसके इस कथन से ऐसी छाप पड़ती है कि टीकाकार ने अंग का अर्थ तालांग और वर्णांग समझा है। सिंह० की व्याख्या से भी ऐसा ही लगता है। अगर टीकाकारों का यही आशय हो तो यह अर्थ भरत, अभिनव और शार्ङ्ग० सम्मत प्रतीत नहीं होता।

पदनिर्युक्त

पदनिर्युक्त का भरतोक्त लक्षण यह है—

बहिर्गीतविहीनं तु पदनिर्युक्तमिष्यते। (वही, ३१/३२४ क-ख) बहिर्गीत से रहित तो पदनिर्युक्त होता है—इस कथन में भी बहिर्गीत का अर्थ उपोहन-प्रत्युपोहन ही है जैसा कि अभिनव की निम्न व्याख्या से प्रकट है। लेकिन भरत द्वारा 'तु' का प्रयोग अंग और शाखादि के समावेश की छूट का सूचक है।

उपोहनैरेव हीनं पदनिर्युक्तम्। अर्थप्रतीतिनिबन्धनपरिश्लेषतायोगात्।
अर्थात् केवल उपोहनों से हीन पदनिर्युक्त होता है। इसमें अर्थप्रतीति का बन्धन है इसलिये निरर्थक अक्षरों का निषेध करने से सार्थक यानी स्तुति पदों का ग्रहण हो जाता है।

शार्ङ्ग० ने पदनिर्युक्त में स्पष्टतः उपोहन-प्रत्युपोहन का निषेध किया और इसे स्तुतिपदों से बद्ध कहा जो भरत के लक्षण और अभिनव की व्याख्या के अनुसार है। यह पहले कहा जा चुका है कि गीतकों में सिर्फ़ शिव की स्तुति होती है इसलिये यहाँ भी स्तुतिपदों से शिवस्तुति के पद समझना चाहिये।

ग्रन्थकार द्वारा पदनिर्युक्त के लक्षण में कहे गये 'त्यक्तोपोहनप्रत्युपोहनं' को दोनों टीकाकारों ने अनिर्युक्त का लक्षण मानकर उसके साथ अन्वित करके यह अर्थ किया—

सिंह०—उपोहनप्रत्युपोहनशून्यत्वमनिर्युक्तम्।
कल्लि०—त्यक्तोपोहनप्रत्युपोहनमित्यनिर्युक्तस्य लक्षणम्।

शार्ङ्ग० का लक्षण भरत के अनुसार है और उसमें उपोहन-प्रत्युपोहन के त्याग का संबन्ध पदनिर्युक्त से ही है, अनिर्युक्त से नहीं।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

सिंह० ने यह भी कहा कि उपोहन-प्रत्युपोहन का निषेध करने से 'शेष के ग्रहण की छूट' के सिद्धान्त के अनुसार अन्य अंगों की संगति की अनुमति है। उसका यह कथन अनिर्युक्त के लिये है जबकि इस लक्षण का संबन्ध पदनिर्युक्त से है। अनिर्युक्त तो ग्रन्थकार ने केवल वस्तुओं से कहा है।

कल्लि० ने उपोहन की व्याख्या में कहा कि ध्रुवा आदि गान में राग के स्वरूप को प्रकाशित करने के लिये स्थायी स्वर के आश्रय से झण्टुं आदि वर्णों का ग्रहण और लघु आदि के काल के ज्ञान के लिये ताल का भी ग्रहण करते हुए होने वाला प्रयोग उपोहन है। इसे पहली वस्तु में उपोहन और अन्य वस्तुओं में प्रत्युपोहन कहते हैं अथवा पहली वस्तु में ही पहले किया गया उपोहन और उसके बाद किया गया प्रत्युपोहन कहलाता है।

अनिर्युक्त

भरत ने इसका यह लक्षण दिया—

बहिर्गीताङ्गहीनं चाप्यनिर्युक्तमिति स्मृतम्॥ (वही, ३१/३२३ ग-घ)

अभिनव की व्याख्या के अनुसार बहिर्गीतांग से रहित कहने का अभिप्राय यह है कि अनिर्युक्त केवल शाखारूप वस्तु वाला होता है तथा उपोहन आदि और अन्य अंगों (जैसे प्रतिशाखा) के बिना होता है। शाखा को ही भिन्न पदों से गाने पर प्रतिशाखा होती है इसलिये केवल शाखा कहने का अर्थ यह है कि प्रतिशाखा नहीं होगी। शार्ङ्ग० के लक्षण में केवल वस्तुओं से अनिर्युक्त कहने में भी यही अभिप्रेत है।

(सप्तगीतकलक्षणानि)

(मद्रकम्)

तत्र त्रेधा तु मद्रकम्।
विधिनैककलाद्येन चतुर्वस्तु त्रिवस्त्विति॥ ६०॥
पुनर्द्वेधा शीर्षकं तु त्रिवस्तुन्येव बोध्यते।

(अ) सप्तगीतकों के लक्षण

१—मद्रक

६० ख-६१ ख. (अ०) तत्र उन (गीतकों) में से एककल-आद्येन विधिना एककल आदि की विधि से मद्रकं तु त्रेधा मद्रक तो तीन प्रकार से (होता है)। पुनः फिर से त्रिवस्तु चतुर्वस्तु तीन वस्तु वाला (और) चार वस्तु वाला इति द्वेधा यों दो प्रकार से (होता है)। शीर्षकं तु शीर्षक तो त्रिवस्तुनि एव तीन वस्तु वाले में ही बोध्यते जाना जाता है।

(सर०) मद्रक से उत्तर तक के सप्तगीतकों में से ग्रन्थकार सबसे पहले मद्रक का लक्षण दे रहे हैं।

भरत और शार्ङ्ग० के लक्षणों में कोई ख़ास अन्तर नहीं है लेकिन लक्षण निरूपण में दोनों में कुछ भिन्नता है। भरत ने स्वर-ताल-पद के क्रम से गीतकों के लक्षण दिये हैं और शार्ङ्ग० का सामान्यतः ताल-स्वर-पद का क्रम है और हर गीतक के पूरे लक्षण एक साथ और बहुत स्पष्ट रूप में दिये हैं।

'एककल आदि की विधि से' का अर्थ है ताल के एककल, द्विकल, चतुष्कल रूपों के आधार पर। इसलिये एककल मद्रक, द्विकल मद्रक और चतुष्कल मद्रक—यों तीन तरह का मद्रक होता है। ये तीनों फिर से दो-दो प्रकार के होते हैं—तीन वस्तु वाला त्रिवस्तु और चार वस्तु वाला चतुर्वस्तु। शीर्षक नामक तालांग सिर्फ़ त्रिवस्तु मद्रक में ही होता है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(एककलमद्रकम्)

(वस्तुप्रमाणम्)

गुरूण्यष्टौ लघून्यष्टौ वस्त्वेककलमद्रके ॥ ६१ ॥

एककल मद्रक

वस्तु का प्रमाण

६१ ग-घ. (अ०) एककलमद्रके एककल मद्रक में अष्टौ गुरूणि आठ गुरुओं (और) अष्टौ लघूनि आठ लघुओं वाली वस्तु वस्तु (होती है)।

(सर०) मद्रक सिर्फ़ वस्तुओं से बद्ध होता है और एककल मद्रक की वस्तु की रचना ८ गुरु और ८ लघुओं से होती है।

(वस्तूनां न्यासनियमः)

स्वरागयोनिजातेस्तु न्यासेऽपन्यासनेऽथवा।
सन्यासेंऽशेऽथवा न्यासः सर्वगीतस्थवस्तुनः ॥ ६२ ॥

वस्तुओं की समाप्ति का नियम

६२. (अ०) सर्वगीतस्थवस्तुनः न्यासः तु सभी (चौदह) गीतों में स्थित वस्तुओं की समाप्ति तो स्व-रागयोनिजातेः अपने राग की कारण जाति के न्यासे न्यास में अथवा अपन्यासने या अपन्यास में (अथवा) संन्यासे अथवा अंशे संन्यास में या अंश में (होती है)।

(सर०) वस्तुओं को किस स्वर पर समाप्त किया जाय इस बारे में ग्रन्थकार ने मद्रक सहित सभी १४ गीतकों के लिये यहाँ एक सामान्य नियम का निर्देश किया है। उसके अनुसार जो गीत जिस राग, कल्लि० के अनुसार ग्रामराग और उपराग, में गाया जाय उस राग की कारणभूत जाति यानी जिस जाति से वह राग उत्पन्न हुआ हो उस जाति के अंश, न्यास, अपन्यास या संन्यास स्वर पर समाप्त करना चाहिये। यद्यपि यह निर्देश मद्रक के लक्षण में किया है इसलिये स्वराग में 'स्व' का आशय मद्रक से है लेकिन सर्वगीतस्थवस्तुनः के द्वारा यह लक्षण सभी गीतकों के लिये सामान्य है, ऐसा कल्लि० ने कहा। यहाँ अभिप्राय 'स्व-स्वराग' यानी अपने-अपने राग से है अर्थात् जो गीतक जिस जाति के राग में गाया जाय उसके अनुसार यह नियम लागू होता है।

कल्लि० ने यह भी ध्यान दिलाया कि कारणभूत जाति के द्वारा यह भी सूचित होता है कि गीतकों को ग्रामराग और उपरागों में से किसी एक में गाना चाहिये क्योंकि यही राग जातियों से उत्पन्न होते हैं।

(पातकलाविधिः)

ध्रुवपातमपातं वा तद्गुरुत्रयमादिमम्।
शद्वयं ताद्वयं शम्ये तालौ च द्विः शतौ च सम् ॥ ६३ ॥
क्रमाद् गलेषु शेषेषु तस्य स्यात् पातकल्पना।

पातकलाविधि

६३-६४ ख. (अ०) तद् उस (वस्तु) के आदिमं गुरुत्रयं शुरू के तीन गुरु ध्रुवपातम् अपातं वा ध्रुव सशब्द क्रिया

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

 AUTHOR COPY

वाले या (किसी भी) पात के बिना (होते हैं)। तस्य उस (वस्तु) के शेषेषु ग-लेषु शेष (तेरह) गुरु-लघुओं में क्रमात् क्रम से शद्वयं दो शम्या (श, श) ताद्वयं दो ताल (ता, ता) शम्ये तालौ च दो शम्या (श, श) और दो ताल (ता, ता) द्विः शतौ च सं दो बार शम्या और ताल (श ता श ता) तथा संनिपात (सं) पातकल्पना स्यात् सशब्द क्रियाओं की योजना होती है।

(सर०) एककल मद्रक की वस्तुओं में सशब्द आदि क्रियाओं का यह क्रम होता है—

ऽ ऽ ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	।	।	।	।	।	।	।	।
ध्रुव या अपात	श	श	ता	ता	श	श	ता	ता	श	ता	श	ता	सं

(शीर्षकम्)

एवं वस्तुत्रयं गीत्वा शीर्षकं तु प्रयुज्यते॥ ६४॥

चतुष्कलेनैककलेनाथवा पञ्चपाणिना।

शीर्षक

६४ ग-६५ ख. (अ०) एवं वस्तुत्रयं गीत्वा ऐसी तीन वस्तुएँ गाकर एककलेन अथवा चतुष्कलेन पञ्चपाणिना एककल या चतुष्कल पंचपाणि से शीर्षकं तु शीर्षक तो प्रयुज्यते प्रयुक्त होता है।

(सर०) ऐसी तीन वस्तुएँ गाने से यह स्पष्ट है कि तीनों वस्तुओं की क्रियाविधि एकसी है। तीन वस्तुओं के बाद शीर्षक नामक अंग होता है जिसमें एककल या चतुष्कल पंचपाणि ताल का प्रयोग होता है। शीर्षक तालांग है क्योंकि इसके लक्षण में तालरचना ही बताई गई है लेकिन कल्लि० ने श्लोक ६१ की व्याख्या में इसे गीतांग कहा है।

शीर्षक मद्रक, अपरान्तक, रोविन्दक और उत्तर गीतकों की वस्तु के अन्त में प्रयुक्त होने वाला सबसे महत्त्वपूर्ण और प्रधान तालांग है। शीर्षक का अर्थ है शिर। शरीर में शिर की तरह ही गीतकों में यह प्रधान अंग है इसीलिये अभिनव ने कहा— 'शीर्षकं शिर इव प्रधानम्' (अभि०, खण्ड ४, पृ० २०६)। यह प्रायः यक्षाक्षर पंचपाणि से होता है इसलिये बहुत छोटा तालांग है। लेकिन कभी-कभी द्विकल या चतुष्कल पंचपाणि से भी हो सकता है, जैसे मद्रक में।

आद्ये वस्तुनि कर्तव्यं गुरुद्वयमुपोहनम्॥ ६५॥

गुरुणा गुरुणा कार्यं शेषयोः प्रत्युपोहनम्।
झण्टुमाद्याक्षरैरेव रचना स्यात् तयोर्द्वयोः॥ ६६॥

६५ ग-६६. (अ०) आद्ये वस्तुनि पहली वस्तु में गुरुद्वयम्-उपोहनं कर्तव्यं दो गुरु वाला उपोहन करना चाहिये। शेषयोः शेष दो (वस्तुओं) में गुरुणा गुरुणा एक-एक गुरु से (अर्थात् पहले-पहले गुरु में) प्रत्युपोहनं कार्यं प्रत्युपोहन करना चाहिये। तयोः द्वयोः उन दोनों (उपोहन-प्रत्युपोहन) की रचना रचना झण्टुम् आद्यैः अक्षरैः एव झण्टुं आदि अक्षरों से ही स्यात् होती है।

(सर०) तीन वस्तुओं में से पहली वस्तु के शुरू के दो गुरुओं में उपोहन और दूसरी तथा तीसरी वस्तु के पहले-पहले गुरु में प्रत्युपोहन होता है। उपोहन और प्रत्युपोहन में सार्थक पद नहीं होते बल्कि झण्टुं आदि निरर्थक अक्षरों का प्रयोग होता है जिन्हें भरत ने वाक्करण कहा है। पहली वस्तु के बाद दो वस्तुओं में प्रत्युपोहन कहने का अर्थ यह है कि चतुर्वस्तु मद्रक की चौथी वस्तु में प्रत्युपोहन नहीं होता।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

एकवस्तुकमप्याहुर्मद्रकं केऽपि सूरयः।
तृतीये गुरुणि प्रोक्तं तत्र तैः प्रत्युपोहनम्॥ ६७॥

६७. (अ०) **के अपि सूरयः** कोई आचार्य **एकवस्तुकं मद्रकम् अपि** एकवस्तुक मद्रक भी **आहुः** कहते हैं। **तत्र** उसमें **तैः** उनके द्वारा **तृतीये गुरुणि** तीसरे गुरु में **प्रत्युपोहनं प्रोक्तं** प्रत्युपोहन कहा गया (है)।

(सर०) सिंह० के अनुसार **केऽपि सूरयः** भरतादि के लिये कहा है। उसने शंका उठाई कि एकवस्तुक में दूसरी और तीसरी वस्तुएँ होती ही नहीं तब प्रत्युपोहन कैसे होगा? फिर उत्तर दिया कि तीसरे गुरु में प्रत्युपोहन कहने का अर्थ यह है कि जिनके मत में एक वस्तु वाला मद्रक होता है उनके अनुसार शुरू के दो गुरुओं में उपोहन और तीसरे गुरु में प्रत्युपोहन होता है।

(गीताङ्गानि)

गुर्वष्टके स्याद् विविधं लघुष्वष्टस्वथैककम्।
विविधो द्विविदारीकः,

गीतांग

६८ क-ग. (अ०) **गुरु-अष्टके** आठ गुरु (वाले खण्ड) में **विविधं स्यात्** विविध होता है। **अथ** इसके बाद **अष्टसु लघुषु** आठ लघुओं में **एककम्** एकक (होता है)। **विविधः द्विविदारीकः** विविध दो विदारी (खण्ड) वाला (होता है)।

(सर०) एककल मद्रक में दो खण्ड होते हैं—पहला आठ गुरु से और दूसरा आठ लघु से। यहाँ इन खण्डों की स्वर-योजना का ढाँचा बताया है। पहले खण्ड में विविध नामक गीतांग और दूसरे में एकक गीतांग होता है। विविध में दो विदारी होती हैं और एकक में एक। ग्रन्थकार ने आगे गीतखण्ड को विदारी कहा है। तदनुसार ८ गुरु वाले पहले खण्ड की स्वरयोजना में दो खण्ड होते हैं।

भरत ने विविध के स्थान पर विवध संज्ञा का प्रयोग किया है।

स त्रिधा परिकीर्तितः॥ ६८॥

सामुद्गश्चार्धसामुद्गो विवृत्तश्चेति सूरिभिः।
विदार्योः पदवर्णादिसाम्यात् सामुद्गको मतः॥ ६९॥

विदारीभागयोः साम्यात् त्वर्धसामुद्गको मतः।
पूर्वस्या वा परस्या वा द्वयोर्वेति त्रिधा च सः॥ ७०॥

६८ घ-७०. (अ०) **सः** वह **सूरिभिः** आचार्यों के द्वारा **सामुद्गः च अर्धसामुद्गः** सामुद्ग और अर्धसामुद्ग **विवृत्तः च** और विवृत्त **इति** यों **त्रिधा परिकीर्तितः** तीन प्रकार का जाना गया (है)। **विदार्योः** दोनों विदारियों के **पदवर्ण-आदिसाम्यात्** पद (और) वर्ण (स्थायी, आरोही आदि) आदि के साम्य से **सामुद्गकः मतः** सामुद्ग माना गया (है)। **विदारीभागयोः साम्यात्** विदारी के दो भागों के (पद, वर्ण आदि के) साम्य से **अर्धसामुद्गकः मतः** अर्धसामुद्ग माना गया (है)। **पूर्वस्या वा** पहली (विदारी) के (दोनों खण्डों) अथवा **परस्या वा** दूसरी (विदारी) के (दोनों खण्डों) **द्वयोः वा** अथवा दोनों के (दोनों खण्डों के साम्य से) **सः च** वह (अर्धसामुद्ग) तो **त्रिधा** तीन प्रकार से (हो सकता है)।

(सर०) साम्य का अर्थ है एक जैसा होना यानी आवृत्ति। पदवर्ण-आदि में प्रयुक्त 'आदि' में सिंह० ने स्वर का ग्रहण करके पद, वर्ण और स्वर का साम्य बताया। वर्ण यानी स्थायी, आरोही, अवरोही, संचारी। कोई स्वररचना इन्हीं में से किसी

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

या किन्हीं प्रकार के स्वरविन्यास से युक्त होती है इसलिये वर्ण का ग्रहण किया है। सिंह० ने स्वर का ग्रहण इसलिये किया कि किसी गीत का गेय रूप उसके स्वरविन्यास से ही बनता है।

सामुद्ग में पहली विदारी के पद, वर्ण, स्वर की आवृत्ति दूसरी विदारी में होती है। अर्धसामुद्ग की दोनों विदारियों में दो-दो भाग होते हैं और पहले भाग की दूसरे भाग में आवृत्ति हो सकती है। आवृत्ति के स्थान के आधार पर अर्धसामुद्ग तीन तरह का होता है। पहले प्रकार में पहली विदारी के पहले भाग की दूसरे भाग में आवृत्ति होती है। दूसरे प्रकार में दूसरी विदारी के पहले भाग की दूसरे भाग में आवृत्ति होती है और तीसरे प्रकार में दोनों विदारियों के पहले-पहले भागों की दूसरे-दूसरे भागों में आवृत्ति होती है।

सामुद्ग को और अर्धसामुद्ग के तीन प्रकारों को नीचे के उदाहरण से समझा जा सकता है।

सामुद्ग—

पहली विदारी	दूसरी विदारी
जोगी मत जा	जोगी मत जा

अर्धसामुद्ग—इसमें एक विदारी के भीतर ही आवृत्ति के आधार पर तीन प्रकार होते हैं—

पहली विदारी		दूसरी विदारी	
पहला भाग	दूसरा भाग	पहला भाग	दूसरा भाग
जोगी	जोगी	मत	जा
जोगी		मत जा	मत जा
जोगी	जोगी	मत जा	मत जा

न्यासान्तो विविधः कार्यः सर्वो द्वैगेयकं बिना।

७१ क-ख. (अ०) द्वैगेयकं विना द्वैगेयक (प्रकार के विविध) को छोड़कर सर्वः विविधः सभी (प्रकार का) विविध न्यास-अन्तः कार्यः न्यास से समाप्त होने वाला करना चाहिये।

(सर०) द्वैगेयक एक प्रकार का विविध है जो चतुष्कल मद्रक की अन्तिम वस्तु के अन्त में प्रयुक्त होता है। इसमें पदों की आवृत्ति होती है और अंश स्वर से शुरू होता है और अंश पर ही समाप्त होता है। अंश स्वर वाले इस नियम का विविध के दूसरे प्रकारों में निषेध करने की दृष्टि से प्रस्तुत श्लोकांश में ग्रन्थकार ने यह कहा कि अन्य प्रकारों की समाप्ति न्यास स्वर पर होनी चाहिये। सिंह० के अनुसार न्यास स्वर से तात्पर्य प्रयोज्य राग की जनक जाति का न्यास स्वर है।

असमानविदारीको न्यासापन्यासनिर्मितः॥ ७१॥

विवृत्तः स्यात्,

७१ ग-७२ क (अ०) विवृत्तः विवृत्त (नामक विविध) असमानविदारीकः बिना एकसी विदारियों वाला (और) न्यास-अपन्यासनिर्मितः न्यास (तथा) अपन्यास से बना हुआ स्यात् होता है।

(सर०) विविध का तीसरा प्रकार विवृत्त है जिसकी दोनों विदारियाँ एकसी नहीं होतीं यानी पद, वर्ण आदि भिन्न होते हैं। न्यास-अपन्यास से निर्मित होने का आशय यह प्रतीत होता है कि इनमें से किसी एक स्वर पर समाप्ति होती है।

विदारी तु गीतखण्डं द्विधा च सा।
महत्यवान्तरा चेति महती व्याप्तवस्तुका॥ ७२॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

समाप्ता पदवर्णान्तेऽवान्तरा त्वन्तरा मता।

७२ क-७३ ख. (अ०) **विदारी तु** विदारी तो गीतखण्डं गीत का भाग (है) **सा च** और वह **महती अवान्तरा च इति** महती और अवान्तरा यों **द्विधा** दो प्रकार से होती है। **महती** महती (विदारी) **व्याप्तवस्तुका** (पूरी) वस्तु में व्याप्ति वाली (और) **पदवर्ण-अन्ते** पद (तथा) वर्ण के अन्त होने पर **समाप्ता** समाप्त होने वाली **मता** मानी गई (है)। **अवान्तरा तु** अवान्तरा (विदारी) तो **अन्तरा मता** बीच में होने वाली मानी गई (है)।

(सर०) गीतांग की मूल इकाई विदारी है। विदारी शब्द का अर्थ है टुकड़ा, भाग या खण्ड। महती का अर्थ है बड़ी और अवान्तरा यानी बीच में होने वाली। स्थायी आदि वर्णों के द्वारा निष्पन्न होने वाली स्वर-रचना में जो खण्ड बनते हैं उन्हें विदारी कहा गया है। लेकिन ये खण्ड तालाधारित खण्डों के आधार पर या उनके भीतर ही बनते हैं इसीलिये यहाँ महती विदारी को वस्तु को व्याप्त करने वाली कहा है। वस्तु बड़ी होती है इसलिये उसे व्याप्त करने वाली विदारी भी बड़ी होती है। वस्तु की समाप्ति के साथ ही पद और वर्ण भी समाप्त होता है तभी खण्ड के पूर्ण होने का अनुभव होता है। जैसे, वर्तमान उत्तर भारतीय संगीत में गीतांग के रूप में स्थायी, अन्तरा आदि पद और स्वरबद्ध खण्ड ताल की समाप्ति के साथ ही समाप्त हो जाते हैं। इस प्रकार तालखण्डों के साथ ही पद और स्वरयोजना का समाप्त होना विदारी है। अवान्तरा विदारी पूरी वस्तु में नहीं बल्कि वस्तु के बीच में यानी छोटे हिस्सों में होती है इसलिये वहाँ हर विदारी में पद और वर्ण का पूर्ण होना ज़रूरी नहीं है।

अनयोर्वस्तुवन्न्यासो जात्यंशोंऽशोऽल्पके पुनः॥ ७३॥

अंशे तदनुवादी वा संवादी वांश इष्यते।

७३ ग-७४ ख. (अ०) **अनयोः** इन दोनों (प्रकार की विदारियों) में **वस्तुवत् जाति-अंशः** वस्तु में होने वाले (अप राग की योनिरूप) जाति के अंश के समान **अंशः न्यासः** अंश (स्वर) न्यास (होता है)। **पुनः अल्पके अंशके** लेकिन अंश अल्प (प्रयुक्त) होने पर **तत् अनुवादी वा** या तो उसका अनुवादी **संवादी वा** या संवादी **अंशः इष्यते** अंश (बनाकर उस पर न्यास) इष्ट होता है।

(सर०) जिस तरह वस्तु का न्यास प्रयोज्य राग की जननी जाति के अंश स्वर पर होता है उसी तरह दोनों प्रकार की विदारियों में भी होता है। लेकिन प्रयोज्य राग में जननी जाति के अंश का अल्प प्रयोग हो तो जाति के अंश के संवादी या अनुवादी को अंश बनाया जा सकता है और उसी पर विदारी की समाप्ति होती है।

संख्यानियममेतासां नावोचन् दत्तिलादयः॥ ७४॥

भगवान् भरतस्त्वासां संख्यानियमभ्यधात्।
त्र्यवरैकादशपरा विदार्यः परिकीर्तिताः॥ ७५॥

चतुर्विंशतिरासां तु प्रमाणं परमं स्मृतम्।
अवान्तरविदारीणां चतुर्विंशतिसंख्यया॥ ७६॥

७४ ग-७६. (अ०) **दत्तिल-आदयः** दत्तिल आदि ने **एतासां संख्यानियमम्** इनकी संख्या का नियम **न अवोचन्** नहीं कहा। **भगवान् भरतः तु** भगवान् भरत ने तो **आसां संख्यानियमम्** इनका संख्यानियम **अभ्यधात्** कहा है। **त्रि-अवरा** तीन अल्प संख्या वाली **एकादश परा** (और) ग्यारह अधिक संख्या वाली **विदार्यः परिकीर्तिताः** विदारियाँ कही गई (हैं)। **आसां तु** इन (विदारियों)का तो **परमं प्रमाणम्** अधिकतम प्रमाण (संख्या) **चतुर्विंशतिः** चौबीस (माना गया है)। **अवान्तरविदारीणां** अवान्तर विदारियों का **चतुर्विंशतिसंख्यया** चौबीस संख्या के द्वारा **स्मृतं** (प्रमाण) स्मरण किया गया (जाना गया है)।

(सर०) गीतक में महती और अवान्तरा विदारियों की कम से कम और अधिकतम संख्या कितनी हो इसका कोई नियम दत्तिल आदि ने नहीं बताया। लेकिन भरत ने महती विदारी की संख्या कम से कम तीन और ज़्यादा से ज़्यादा ग्यारह कही

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

है। इसका अर्थ यह है कि वस्तुनिबद्ध गीतक में कम से कम तीन वस्तु ज़रूर होनी चाहियें और अधिकतम ग्यारह वस्तु हो सकती हैं। अवान्तरा विदारी छोटी होती हैं इसलिये उनकी अधिकतम संख्या किसी वस्तु में २४ तक हो सकती है।

भरत के लिये भगवान् पद का प्रयोग सम्मानार्थ हुआ है।

न्यासान्तमथवांशान्तं विदार्येकैककं मतम्।

७७ क-ख. (अ०) एका विदारी एक विदारी एककं मतम् एकक माना गया (है, जो) न्यास-अन्तं न्यास से अन्त वाला अथवा अंश-अन्तं या अंश से अन्त वाला (होता है)।

(सर०) एकक में एक ही विदारी होती है और वह न्यास या अंश स्वर पर समाप्त होता है।

आद्यं वस्तुद्वयं मन्द्रांशग्रहं मद्रके मतम्॥ ७७॥

अस्य प्रस्तारः—

ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ । । । । । । । ।
उ उ उ श श ता ता श श ता ता श ता श ता सं

एवं वस्तुत्रयं वस्तुचतुष्टयं वा गीत्वा वस्तुत्रयान्ते शीर्षकं चतुष्कलेन पञ्चपाणिना यथाक्षरेण वा गायेत्।

अथैककला—

ऽ । ऽ ऽ । ऽ
सं ता श ता श ता इत्येककला यथाक्षरम्

ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ
आ	नि	वि	प्र	आ	ता	वि	श	आ	नि	वि	ता

ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ
आ	नि	वि	श	आ	ता	वि	प्र	आ	नि	वि	सं

इति शीर्षकम्

इत्येककलमद्रकम्

७७ ग-घ. (अ०) मद्रके मद्रक में आद्यं वस्तुद्वयं शुरू की दो वस्तुएँ मन्द्र-अंशग्रहं मन्द्र (स्थान में) अंश (और) ग्रह वाली मतं मानी गई (हैं)।

अस्य प्रस्तारः इसका प्रस्तार

ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ । । । । । । । ।
उ उ उ श श ता ता श श ता ता श ता श ता सं

एवं वस्तुत्रयं वस्तुचतुष्टयं वा गीत्वा ऐसी तीन वस्तुएँ या चार वस्तुएँ गाकर वस्तुत्रय-अन्ते तीन वस्तुओं के अन्त में (अर्थात् बाद) यथाक्षरेण चतुष्कलेन वा पञ्चपाणिना यथाक्षर या चतुष्कल पंचपाणि से शीर्षकं गायेत् शीर्षक गाना चाहिये।

अथ एककला अब एककल (पंचपाणि से शीर्षक)

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ऽे । ऽ ऽ । ऽे
सं ता श ता श ता। इति यह एककला यथाक्षरं एक कला यथाक्षर (है)।

(या चतुष्कल पंचपाणि से शीर्षक)

ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ
आ नि वि प्र आ ता वि श आ नि वि ता

ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ
आ नि वि श आ ता वि प्र आ नि वि सं

शीर्षक समाप्त

(सर०) मद्रक के लिये यहाँ यह विशेष नियम बताया है कि इसमें शुरू की दो वस्तुओं का अंश और ग्रह मन्द्र स्थान में होता है।

कल्लि० ने 'मद्रांशग्रहं' और सिंह० ने 'मन्द्रांशग्रहं' पाठ रखा है। लेकिन दोनों ने अंश व ग्रह मन्द्र में कहा है इसलिये हमने सिंह० के पाठ का ग्रहण करके मूल में 'मन्द्रांशग्रहं' रखा है।

श्लोकों में दिये लक्षण के अनुसार शुरू के तीन गुरुओं के उपोहन में सार्थक शब्दों के बजाय वाक्करण कहे गये हैं इसलिये प्रस्तार में उपोहन का पहला अक्षर 'उ' रखकर सूचित किया है। दूसरी और तीसरी वस्तु में शुरू के एक गुरु में निरर्थक अक्षरों से युक्त प्रत्युपोहन होता है। गीतक की वस्तुओं के शेष भाग में और शीर्षक में शंकर की स्तुति के पद होते हैं। स्वररचना के लिये ८ गुरुओं में विविध और ८ लघुओं में एकक कहा गया है।

मूल पाठ के प्रस्तार में केवल पहली वस्तु की रचना दी गई है शेष दो की नहीं। नीचे पूरा प्रस्तार बनाकर दिया जा रहा है।

त्रिवस्तुक मद्रक

वस्तु १

वस्तु	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	।	।	।	।	।	।	।	।
ताल	अपात या ध्रुव			श	श	ता	ता	श	श	ता	ता	श	ता	श	ता	सं
पद	उ	उ	स्तुतिपद													
स्वर	विविध								एकक							

वस्तु २

वस्तु	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	।	।	।	।	।	।	।	।
ताल	(अपात या ध्रुव)			श	श	ता	ता	श	श	ता	ता	श	ता	श	ता	सं
पद	प्र	स्तुतिपद														
स्वर	विविध								एकक							

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

वस्तु ३

दूसरी वस्तु जैसी

शीर्षक

	ऽ	।	ऽ	ऽ	।	ऽ
ताल	सं	ता	श	ता	श	ता
पद	स्तुतिपद					
स्वर	निर्दिष्ट नहीं					

अथवा

	ऽ ऽ ऽ ऽ	ऽ ऽ ऽ ऽ	ऽ ऽ ऽ ऽ	ऽ ऽ ऽ ऽ	ऽ ऽ ऽ ऽ	ऽ ऽ ऽ ऽ
	आ नि वि प्र	आ ता वि श	आ नि वि ता	आ नि वि श	आ ता वि प्र	आ नि वि सं
पद	स्तुतिपद					
स्वर	निर्दिष्ट नहीं					

चतुर्वस्तु मद्रक में शीर्षक नहीं होता और चौथी वस्तु में ताल पहली वस्तु जैसा होता है, उपोहन आदि नहीं होते, केवल स्तुतिपद होते हैं, स्वर पूर्ववत् यानी विविध और एकक के अनुसार होते हैं।

एककल मद्रक समाप्त

(द्विकलमद्रकम्)

द्विकले मद्रके वस्तु स्याच्चतुर्विंशतिः कलाः।
पादभागा द्वादश स्युस्तैस्तु मात्रात्रयं भवेत्॥ ७८॥

द्विकलेनोत्तरेण स्याच्छीर्षं वस्तुत्रयात्परम्।
यथाक्षरेण वा,

द्विकल मद्रक

७८-७९ ग. (अ०) द्विकले मद्रके द्विकल मद्रक में चतुर्विंशतिः कलाः चौबीस कला वाली वस्तु स्यात् वस्तु होती है। पादभागाः पादभाग द्वादश स्युः बारह होते हैं। तैः तु उनके द्वारा तो मात्रात्रयं भवेत् तीन मात्राएँ होती हैं। वस्तुत्रयात् परं तीन वस्तुओं के बाद द्विकलेन यथाक्षरेण वा उत्तरेण द्विकल या यथाक्षर उत्तर (षट्पितापुत्रक ताल) से शीर्षं स्यात् शीर्षक होता है।

(सर०) द्विकल में सारी कलाएँ गुरु होती हैं इसलिये यहाँ प्रयुक्त कला शब्द में गुरु अन्वित है। द्विकल के हर पादभाग में २-२ कलाएँ होने से २४ गुरुओं में १२ पादभाग होते हैं। ४ पादभागों की एक पारिभाषिकी मात्रा कही जा चुकी है तदनुसार १२ पादभागों में ३ मात्रा होती हैं। इन तीन मात्राओं से एक वस्तु बनती है। ऐसी ३ वस्तुओं के बाद यथाक्षर या द्विकल उत्तर ताल से शीर्षक होता है।

आड्यार सं० में 'वस्तुत्रयात्मकं' पाठ मुद्रित है लेकिन आनन्द० में 'वस्तुत्रयात्परं' है। दोनों टीकाकारों ने भी इसी के आधार पर व्याख्या की है इसलिये हमने यही पाठ रखा है।

तत्र त्रिकलं स्यादुपोहनम्॥ ७९॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

प्रत्युपोहनमत्र स्यात् कलिकं द्विकलं न वा।

७९ ग-८० ख. (अ०) तत्र उसमें उपोहनं त्रिकलं स्यात् उपोहन ३ कला वाला होता है। अत्र इसमें प्रत्युपोहनं प्रत्युपोहन कलिकम् एक कला वाला द्विकलं (अथवा) दो कला वाला न वा स्यात् अथवा नहीं होता।

(सर०) द्विकल मद्रक में वस्तु की शुरू की ३ कलाओं में उपोहन होता है। शेष वस्तुओं में प्रत्युपोहन के लिये ३ विकल्प हैं—एक कला में, दो कलाओं में या प्रत्युपोहन के बिना।

विविधः प्रतिवस्तु स्यान्मात्रयोरेककं पुनः॥ ८०॥

भवेत् तृतीयमात्रायां,

८० ग-८१ क. (अ०) विविधः विविध प्रतिवस्तु हर वस्तु (में) मात्रयोः स्यात् दो मात्राओं में होता है पुनः और एककम् एकक तृतीयमात्रायां भवेत् तीसरी मात्रा में होता है।

(स्रर०) हर वस्तु में २ पारिभाषिकी मात्राओं में विविध गीतांग और तीसरी मात्रा में एकक होता है।

अथ पातकलाविधिः।

पादभागत्रये निप्रौ पञ्चस्वन्येषु याः कलाः॥ ८१॥

आद्यास्तासु निरेवान्यत् पूर्वमद्रकवद् भवेत्।

अस्य प्रस्तारः—

ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	
नि	प्र	नि	प्र	नि	प्र	नि	श	॥ मात्रा १॥
ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	
नि	श	नि	ता	नि	ता	नि	श	॥ मात्रा २॥
ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	
श	ता	ता	श	ता	श	ता	सं	॥ मात्रा ३॥

इत्येकं वस्तु

ईदृग्वस्तुत्रयान्ते शीर्षकं यथाक्षरेण द्विकलेनोत्तरेण वा।

ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ
नि	प्र	ता	श	नि	ता	नि	श	ता	प्र	नि	सं

(अथवा)

ऽे	।	ऽ	ऽ	।	ऽे
सं	ता	श	ता	श	ता

इति शीर्षकम्

इति द्विकलमद्रकम्

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

८१ ख-८२ ख. (अ०) अथ पातकलाविधिः अब सशब्द-निःशब्द क्रियाओं की विधि (कहते हैं)। **पादभागत्रये** तीन पादभागों में **निप्रौ** निष्क्राम और प्रवेश **अन्येषु पञ्चसु** अन्य पाँच (पादभागों) में **याः कलाः** जो कलाएँ (हैं) **तासु** उनमें **आद्याः** पहली-पहली **निः एव** निष्क्राम ही (और) **अन्यत्** शेष **पूर्वमद्रकवत् भवेत्** पूर्व (एककल) मद्रक जैसी होती है।

अस्य प्रस्तारः इसका प्रस्तार (यह है)—

ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	
नि	प्र	नि	प्र	नि	प्र	नि	श	॥ मात्रा १॥
ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	
नि	श	नि	ता	नि	ता	नि	श	॥ मात्रा २॥
ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	
श	ता	ता	श	ता	श	ता	सं	॥ मात्रा ३॥

इति एकं वस्तु यह एक वस्तु (है)।

ईदृक् ऐसो **वस्तुत्रय-अन्ते** तीन वस्तुओं के अन्त में **यथाक्षरेण द्विकलेन वा उत्तरेण** यथाक्षर या द्विकल उत्तर से **शीर्षकं** शीर्षक (होता है)।

ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ
नि	प्र	ता	श	नि	ता	नि	श	ता	प्र	नि	सं

(अथवा)

ऽ	।	ऽ	ऽ	।	ऽ
सं	ता	श	ता	श	ता

यह शीर्षक है।

(सर०) शुरू के ३ पादभागों में से हरेक में निष्क्राम और प्रवेश—ये दो निःशब्द क्रियाएँ होती हैं। इसके बाद ५ पादभागों में से हरेक में पहली क्रिया निष्क्राम होती है। शेष कलाओं में यानी चौथे पादभाग से शुरू करके वही क्रियाएँ होती हैं जो एककल मद्रक में कही गई हैं। इसलिये एककल मद्रक की श श ता ता श श ता ता श ता श ता सं शेष १३ कलाओं में होती हैं।

द्विकल मद्रक का पूरा प्रस्तार यह बनेगा—

त्रिवस्तुक

वस्तु १

मात्रा १

	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ
ताल	नि	प्र	नि	प्र	नि	प्र	नि	श
पद	उ			स्तुतिपद				
स्वर	वि			वि				

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

मात्रा २

	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ
ताल	नि	श	नि	ता	नि	ता	नि	श
पद	उ			स्तुतिपद				
स्वर	ध							

मात्रा ३

	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ
ताल	श	ता	ता	श	ता	श	ता	सं
पद	उ			स्तुतिपद				
स्वर	एकक							

वस्तु २

मात्रा १

ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ

ताल क्रियाएँ वस्तु १ जैसी

पद प्र

या

प्र

या स्तुतिपद

स्वर वस्तु १ जैसे

मात्रा २

वस्तु १ जैसी

मात्रा ३

वस्तु १ जैसी

वस्तु ३

वस्तु २ जैसी

शीर्षक

	ऽ	।	ऽ	ऽ	।	ऽ
ताल	सं	ता	श	ता	श	ता

पद निर्दिष्ट नहीं

स्वर निर्दिष्ट नहीं

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अथवा

	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ
ताल	नि	प्र	ता	श	नि	ता	नि	श	ता	प्र	नि	सं

पद निर्दिष्ट नहीं

स्वर निर्दिष्ट नहीं

शीर्षक समाप्त

द्विकल मद्रक की हर वस्तु में शुरू की दो मात्राओं में विविध होता है इसलिये ऊपर प्रस्तार में 'विविध' दो मात्राओं में लिखा गया है।

द्विकल मद्रक समाप्त

(चतुष्कलमद्रकम्)

चतुष्कले तु द्विगुणं वस्तु द्विकलवस्तुनः॥ ८२॥
लक्ष्म द्विकलवत् किन्तु पादभागश्चतुष्कलः।
चतुष्कलेनोत्तरेण केवलेनास्य शीर्षकम्॥ ८३॥
युक्तेनैककलाद्यैर्वा,

चतुष्कल मद्रक

८२ ग-८४ क. (अ०) चतुष्कले तु चतुष्कल में तो वस्तु वस्तु द्विकलवस्तुनः द्विकल (मद्रक) की वस्तु से द्विगुणं दुगनी (होती है)। लक्ष्म द्विकलवत् लक्षण द्विकल जैसे किन्तु लेकिन पादभागः चतुष्कलः पादभाग चतुष्कल (होता है)। अस्य शीर्षकम् इसका शीर्षक केवलेन चतुष्कलेन उत्तरेण केवल चतुष्कल उत्तर से एककल-आद्यैः युक्तेन वा अथवा (चतुष्कल के साथ) एककल आदि (एककल, द्विकल, चतुष्कल) से युक्त (होता है)।

(सर०) द्विकल मद्रक की वस्तु में २४ कला होती हैं इसलिये चतुष्कल मद्रक में वस्तु ४८ कला की होती है और पादभाग चतुष्कल यानी ४-४ कला से युक्त होता है। 'युक्तेन' का अर्थ है एककल, द्विकल, चतुष्कल में से किसी एक के साथ चतुष्कल से युक्त। इसलिये शीर्षक की तालयोजना में ४ विकल्प हैं—१. सिर्फ़ चतुष्कल उत्तर से, २. एककल और चतुष्कल उत्तर से, ३. द्विकल और चतुष्कल उत्तर से, ४. दो बार चतुष्कल उत्तर से। शेष लक्षण द्विकल मद्रक जैसे ही होते हैं।

अष्टकलं स्यादुपोहनम्।
कलैका द्वे चतस्रो वा न वा स्यात्प्रत्युपोहनम्॥ ८४॥
विविधोऽन्तिमवस्त्वन्ते कार्यो द्वैगेयकाभिधः।
असावंशादिरंशान्तपदावृत्तियुतो मतः॥ ८५॥

८४ ख-८५. (अ०) उपोहनम् उपोहन अष्टकलं स्यात् आठ कला वाला होता है। प्रत्युपोहनं प्रत्युपोहन एका कला एक कला वाला, द्वे दो (कला वाला) चतस्रः वा या चार (कला वाला) न वा स्यात् या नहीं होता। द्वैगेयक-अभिधः विविधः द्वैगेयक नाम वाला विविध (गीतांग) अन्तिमवस्तु-अन्ते अन्तिम वस्तु के अन्त में कार्यः करना चाहिये। असौ यह (द्वैगेयक) अंश-आदिः अंश (स्वर) से शुरू होने वाला (और) अंश-अन्तः अंश से अन्त होने वाला (तथा) पद-आवृत्तियुतः मतः पद की आवृत्ति से युक्त माना गया (है।)

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(सर०) प्रत्युपोहन के लिये चार विकल्पों का उल्लेख दोनों टीकाकारों ने अपनी व्याख्या में किया है लेकिन आनन्द० में और आड्यार० के दोनों संस्करणों में चार विकल्प संबंधी आधा श्लोक नहीं है। यह श्लोकार्ध ग०ओ०मै०ला० की पाण्डुलिपि में है।* इस आधार पर हमने इस आधे श्लोक को मूल पाठ में रखा है।

विकल्पों में द्वे का अर्थ कल्लि० ने 'द्वितीया कला' यानी दूसरी कला दिया है, दो कला नहीं। लेकिन 'द्वे' संख्यावाचक शब्द है यानी 'कितनी' का सूचक है, संख्येय शब्द नहीं यानी 'कौनसी' का बोधक नहीं। इसलिये 'द्वे' का अर्थ 'दो कलाओं में' होगा, 'दूसरी कला में' नहीं।

द्वैगेयक का अर्थ है दो बार गाया जाने वाला। इस रूप में यह संज्ञा अन्वर्थ है इस ओर कल्लि० ने ध्यान दिलाया। पदों की आवृत्ति से यह समझ सकते हैं कि विविध की दो विदारियों में से पहली विदारी के पद दूसरी विदारी में आवृत्त होते हैं। इस संबन्ध में दो शंकाएँ उत्पन्न होती हैं।♦ एक तो यह कि वस्तु की अन्तिम मात्रा में एकक (एक विदारी वाला गीतांग) कहा गया है लेकिन द्वैगेयक विविध का प्रकार है जिसमें दो विदारी होती हैं। इस तरह एकक के नियम का भंग होता है। दूसरी शंका यह है कि द्वैगेयक अन्तिम वस्तु के अन्त में कहा गया है जो त्रिवस्तु मद्रक में तो ठीक है लेकिन चतुर्वस्तु मद्रक की चौथी वस्तु शीर्षक के रूप में होती है इसलिये उसमें द्वैगेयक तीसरी वस्तु के अन्त में हो या चौथी वस्तु के अन्त में? कुम्भा ने तीसरी वस्तु के अन्त में ही द्वैगेयक कहा है। यही उचित प्रतीत होता है।

आनिविप्राः पादभागत्रितयेऽभिमताः क्रमात्।
द्वयोरानिविशास्तद्वद् द्वयोरानिवितास्ततः॥ ८६॥

एकत्रानिविशा आशविताश्चाताविशा द्वयोः।
अन्त्ये तानिविसं पातकलाविधिरयं मतः॥ ८७॥

८६-८७. (अ०) **पादभागत्रितये** तीन पादभागों में **क्रमात्** क्रम से **आनिविप्राः** आवाप, निष्क्राम, विक्षेप और प्रवेश **अभिमताः** माने गये (हैं)। **द्वयोः** (उसके बाद) दो (चौथे और पाँचवें) में **आनिविशाः** आवाप, निष्क्राम, विक्षेप और शम्या **तद्वत्** उसी तरह **द्वयोः** दो (पादभागों अर्थात् छठे और सातवें) में **आनिविताः** आवाप, निष्क्राम, विक्षेप और ताल, **ततः** उसके बाद **एकत्र** एक (आठवें) में **अनिविशाः** आवाप, निष्क्राम, विक्षेप और शम्या **आशविताः च** तथा (नवें में) आवाप, शम्या, विक्षेप और ताल, **द्वयोः** दो (दसवें और ग्यारहवें) में **आताविशाः** आवाप, ताल, विक्षेप और शम्या (होते हैं)। **अन्त्ये** अन्तिम (बारहवें) में **तानिविसं** ताल, निष्क्राम, विक्षेप, संनिपात **इयं** यह **पातकलाविधिः मतः** पातकलाविधि मानी गई (है)।

(सर०) लक्षण के अनुसार १२ पादभागों में होने वाली क्रियाएँ आगे दिये गये प्रस्तार में हैं।

चच्चत्पुटवदङ्गुल्यः कर्तव्या मद्रके बुधैः।

अस्य प्रस्तारः—

ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	
आ	नि	वि	प्र	आ	नि	वि	प्र	आ	नि	वि	प्र	आ	नि	वि	श	॥ मात्रा १॥
ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	
आ	नि	वि	श	आ	नि	वि	ता	आ	नि	वि	ता	आ	नि	वि	श	॥ मात्रा २॥
ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	
आ	श	वि	ता	आ	ता	वि	श	आ	ता	वि	श	ता	नि	वि	सं	॥ मात्रा ३॥

* डॉ० ऐन्० रामनाथन् द्वारा उल्लेख—Musical Forms in Saṅgītaratnākara—पृ० १९०, पादटिप्पणी २।

♦ वही, पृ० १९० के आधार पर।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

इत्येकं वस्तु

इति। एवं पूर्ववत् वस्तुत्रयानन्तरं शीर्षकं चतुष्कलेन पञ्चपाणिना यथा—

ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ
आ नि वि प्र आ ता वि श आ नि वि ता आ नि वि श

ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ
आ ता वि प्र आ नि वि सं॥

एककलचतुष्कलाभ्यां वा—

ऽ। । ऽ ऽ । ऽ।
सं ता श ता श ता

ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ
आ नि वि प्र आ ता वि श आ नि वि ता आ नि वि श

ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ
आ ता वि प्र आ नि वि सं॥

द्विकलचतुष्कलाभ्यां वा—

ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ
नि प्र ता श नि ता नि श ता प्र नि सं॥

ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ
आ नि वि प्र आ ता वि श आ नि वि ता आ नि वि श

ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ
आ ता वि प्र आ नि वि सं॥

चतुष्कलाभ्यां वा—

ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ
आ नि वि प्र आ ता वि श आ नि वि ता आ नि वि श

ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ
आ ता वि प्र आ नि वि सं॥

ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ
आ नि विं प्र आ ता वि श आ नि वि ता आ नि वि श

ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ
आ ता वि प्र आ नि वि सं॥

इति शीर्षकम्

इति चतुष्कलमद्रकम्

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

८८ क-ख. (अ०) बुधैः बुद्धिमानों के द्वारा मद्रके मद्रक में चच्चत्पुटवत् चच्चत्पुट जैसी अङ्गुल्यः कर्तव्याः उँगलियाँ करनी चाहियें।

अस्य प्रस्तारः इसका प्रस्तार (यह है)*—

ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	
आ	नि	वि	प्र	आ	नि	वि	प्र	आ	नि	वि	प्र	आ	नि	वि	श	॥ मात्रा १ ॥
ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	
आ	नि	वि	श	आ	नि	वि	ता	आ	नि	वि	ता	आ	नि	वि	श	॥ मात्रा २ ॥
ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	
आ	श	वि	ता	आ	ता	वि	श	आ	ता	वि	श	ता	नि	वि	सं	॥ मात्रा ३ ॥

इति एकं वस्तु यह एक वस्तु है

इति इस प्रकार पूर्ववत् एवं पहले (वस्तु १) की तरह ऐसी वस्तुत्रय-अनन्तरं तीन वस्तुओं के बाद चतुष्कलेन पञ्चपाणिना चतुष्कल पंचपाणि से शीर्षकं शीर्षक (होता है)। यथा जैसे—

एककलचतुष्कलाभ्यां वा अथवा एककल और चतुष्कल से—

द्विकलचतुष्कलाभ्यां वा अथवा द्विकल और चतुष्कल से—

चतुष्कलाभ्यां वा अथवा दो चतुष्कलों से—

इति शीर्षकं शीर्षक समाप्त

(सर०) श्लोक ३३-३४ ख में चच्चत्पुट का अंगुलिनियम बताया जा चुका है। उसके अनुसार पहले पादभाग में कनिष्ठा से, दूसरे में कनिष्ठा-अनामिका से, तीसरे में कनिष्ठा-अनामिका-मध्यमा से और चौथे में चारों उँगलियों से निःशब्द क्रिया की जाती है। चतुष्कल मद्रक में भी इसी क्रम से उँगलियों का प्रयोग होता है।

पूरा प्रस्तार न दोहरा कर यहाँ सिर्फ़ तीन वस्तुओं का प्रस्तार दिया जा रहा है। शीर्षक का प्रस्तार द्विकल मद्रक की तरह होगा लेकिन चार विकल्पों के अनुसार होगा।

त्रिवस्तुक

वस्तु १

	मात्रा १															
	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ
ताल	आ	नि	वि	प्र	आ	नि	वि	प्र	आ	नि	वि	प्र	आ	नि	वि	श
पद	उ								स्तुतिपद							
स्वर	वि								वि							

* पूरा प्रस्तार दुबारा नहीं दिया जा रहा है, उसे मूल में देखा जा सकता है। सिर्फ़ अन्वय यहाँ दिया है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

मात्रा २

	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ
ताल	आ	नि	वि	श	आ	नि	वि	ता	आ	नि	वि	ता	आ	नि	वि	श

पद — स्तुतिपद

स्वर — ध

मात्रा ३

	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ
ताल	आ	श	वि	ता	आ	ता	वि	श	आ	ता	वि	श	ता	नि	वि	सं

पद — स्तुतिपद

स्वर — एकक

वस्तु २

मात्रा १

ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ

ताल क्रियाएँ वस्तु १ जैसी

पद — प्र | स्तुतिपद

या — प्र | स्तुतिपद

या — प्र | स्तुतिपद

या — स्तुतिपद

स्वर वस्तु १ जैसे

मात्रा २ वस्तु १ जैसी

मात्रा ३ वस्तु १ जैसी

वस्तु ३

मात्रा १ वस्तु २ जैसी

मात्रा २ वस्तु २ जैसी

मात्रा ३ वस्तु २ जैसी

स्वर — द्वैगेयक विविध

चतुष्कल मद्रक समाप्त

मद्रक समाप्त

(अपरान्तकम्)

त्रिधापरान्तकं तद्वद् भेदेनैककलादिना॥८८॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

२—अपरान्तक

८८ ग-घ. (अ०) तत्वत् उसी (मद्रक) जैसा **अपरान्तकम्** अपरान्तक (गीतक भी) **एककल-आदिना भेदेन** एककल आदि भेदों से **त्रिधा** तीन प्रकार का (होता है)।

(सर०) तद्वत् का अर्थ है जिस तरह मद्रक में एककल, द्विकल, चतुष्कल भेद भेद होते हैं उसी तरह अपरान्तक में भी होते हैं।

(एककलमपरान्तकम्)

अस्मिन्नेककले वस्तु चतुर्गुरु चतुर्लघु।
पञ्च षट् सप्त वा वस्तून्यस्य शाखा निगद्यते॥ ८९॥

शाखेव प्रतिशाखा स्यात् किंत्वन्यपदनिर्मिता।

एककल अपरान्तक

८९-९० ख. (अ०) अस्मिन् एककले इस (के) एककल (भेद) में **चतुःगुरुः चतुःलघु** चार गुरु (और) चार लघु वाली **वस्तु** वस्तु (होती है)। **अस्य** इसकी **पञ्च षट् सप्त वा वस्तूनि** पाँच, छ या सात वस्तुएँ **शाखा निगद्यते** शाखा कही जाती है। **शाखा इव** शाखा जैसी **प्रतिशाखा स्यात्** प्रतिशाखा होती है **किन्तु अन्यपदनिर्मिता** लेकिन (शाखा से) भिन्न पदों से बनी हुई (होती है)।

(सर०) मद्रक की तुलना में अपरान्तक की वस्तु आधी होती है क्योंकि एककल अपरान्तक की वस्तु में ४ गुरु ४ लघु होते हैं। ऐसी ५, ६ या ७ वस्तुओं से शाखा नामक अंग बनता है और शाखा से भिन्न पदों से युक्त लेकिन ताल, स्वरयोजना शाखा जैसी ही रख कर यानी आवृत्ति करने पर उसे प्रतिशाखा कहते हैं।

कल्लि० ने शाखा को गीतांग कहा है लेकिन वास्तव में यह पद से संबन्ध रखती है, स्वरयोजना से नहीं क्योंकि शाखा और प्रतिशाखा में भेद पद का है। ग्रन्थकार ने प्रतिशाखा को शाखा से भिन्न पदों से ही कहा है। कल्लि० ने अन्यों के मत में शाखा और प्रतिशाखा की धातु (स्वरयोजना) एकसी कही है।

शाखार्धं पश्चिमं त्वाह प्रतिशाखां विशाखिलः॥ ९०॥

शाखा वस्तूच्यते तस्याः परार्धं प्रतिशाखिका।
इत्याह भरतस्तत्रोपोहनं कलिकं मतम्॥ ९१॥

प्रत्युपोहनमत्र स्यान्नवान्ये त्वेकवस्तुकम्।
इदमाहुः कला तेषां द्वितीया प्रत्युपोहनम्॥ ९२॥

९० ग-९२. (अ०) विशाखिलः विशाखिल ने **पश्चिमं शाखा-अर्धं तु** शाखा के बाद वाले आधे को तो **प्रतिशाखाम् आह** प्रतिशाखा कहा। **वस्तु** वस्तु **शाखा उच्यते** शाखा कही जाती है (और) **तस्याः** उसका **पर-अर्धं** बाद वाला आधा (भाग) **प्रतिशाखिका** प्रतिशाखा (होती है): **इति** ऐसा **भरतः आह** भरत ने कहा। **तत्र** उसमें **उपोहनम्** उपोहन **कलिकं मतं** एक कला वाला माना गया (है)। **अत्र** इसमें (अपरान्तक में) **प्रत्युपोहनं** प्रत्युपोहन **स्यात्** होता है **न वा** अथवा नहीं (होता)। **अन्ये तु** अन्य आचार्य तो **इदम्** इसे (एककल अपरान्त को) **एकवस्तुकम् आहुः** एक वस्तु वाला कहते हैं। **तेषाम्** उनके मत से **द्वितीया कला** दूसरी कला **प्रत्युपोहनं** प्रत्युपोहन (होता है)।

(सर०) यहाँ विशाखिल और भरत के मत से शाखा और प्रतिशाखा की रचना बताई है। इस तरह पूर्वाक्त श्लोक में दिये

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

गये ग्रन्थकार के मत को मिलाकर तीन मत हैं। पहला शार्ङ्ग० का, जिसमें पाँच, छ या सातों वस्तु मिलकर शाखा बनती है और पूरी शाखा के ताल और स्वर की आवृत्ति हो लेकिन पद भिन्न हों तो प्रतिशाखा होती है। दूसरा विशाखिल का मत है जिसमें सभी वस्तुएँ मिलकर शाखा होती है और शाखा का बाद का आधा भाग भिन्न पद से प्रतिशाखा होती है। तीसरा भरत का मत है जो इन दोनों से भिन्न है। उसके अनुसार हर वस्तु शाखा कहलाती है और शाखा का अन्तिम आधा भाग प्रतिशाखा कहलाता है।

उपोहन एक कला का होता है और प्रत्युपोहन के बारे में दो विकल्प हैं—प्रत्युपोहन हो अथवा न हो। जो आचार्य अपरान्तक को एकवस्तुक मानते हैं उनके अनुसार दूसरी कला में प्रत्युपोहन होता है।

शीर्षमेककलेन स्याच्छाखान्ते पञ्चपाणिना।
अन्ये तु प्रतिशाखान्तेऽप्येतदाहुर्मनीषिणः॥ ९३॥

९३. (अ०) शाखा-अन्ते शाखा के अन्त में एककलेन पञ्चपाणिना एककल पंचपाणि से शीर्षं स्यात् शीर्षक होता है। अन्ये मनीषिणः तु अन्य आचार्य तो प्रतिशाखा-अन्ते अपि हर शाखा के अन्त में भी एतत् इस (शीर्षक) को आहुः कहते हैं।

(सर०) शाखा के बाद शीर्षक एककल पंचपाणि ताल से होता है। लेकिन कुछ आचार्य प्रतिशाखा के अन्त में भी शीर्षक कहते हैं। प्रतिशाखा भिन्न पद से आवृत्तियुक्त होती है इसलिये प्रतिशाखा में शीर्षक होने का अर्थ यह है कि भिन्न पद के द्वारा शीर्षक की भी आवृत्ति होती है।

शाखायाः प्रतिशाखायाः कलाषट्केऽन्त्यवस्तुनः।
अन्त्ये पदावृत्तियुक्तः पञ्चपाणिर्यथाक्षरः॥ ९४॥

निजपातैर्विना यद्वा तत्पाता एव केवलाः।
तालिकेयं पृथग् यद्वा पञ्चपाणौ यथाक्षरे॥ ९५॥

तृतीयादिगलेषु स्युः शतताताशाश्च तालसम्।

९४-९६ ख (अ०) शाखायाः प्रतिशाखायाः शाखा (और) प्रतिशाखा की अन्त्यवस्तुनः अन्तिम वस्तु के अन्त्ये कलाषट्के अन्तिम छ कलाओं के समूह में (अर्थात् छ कलाओं में) पद-आवृत्तियुक्तः पदों की आवृत्ति से युक्त यथाक्षरः पञ्चपाणिः यथाक्षर पंचपाणि (का) निजपातैः विना अपनी सशब्द क्रियाओं के बिना (प्रयोग करना चाहिये)। यत् वा अथवा केवलाः केवल तत् पाताः एव उस (यथाक्षर पंचपाणि) के पातों से यत् वा अथवा पृथक् अलग (से) यथाक्षरे पञ्चपाणौ यथाक्षर पंचपाणि में तृतीय-आदि ग-लेषु (वस्तु में) तीसरे से शुरू करके गुरु-लघुओं में शतताताशाः ताल-सं च शम्या, ताल, ताल और शम्या तथा ताल, संनिपात स्युः होते हैं। इयं तालिका यह तालिका (नामक अंग होता है)।

(सर०) शाखा-प्रतिशाखा में पदावृत्ति का आशय यह है कि शाखा की अन्तिम वस्तु की अन्तिम ६ कलाओं के पद ही प्रतिशाखा की अन्तिम वस्तु की अन्तिम ६ कलाओं में प्रयुक्त होते हैं।

अपरान्तक का एक छोटा अंग तालिका है जिसकी रचना के बारे में ३ मत दिये हैं। पहले मत के अनुसार तालिका अन्तिम वस्तु की अन्तिम ६ कलाओं में होती है और उसमें यथाक्षर पंचपाणि का प्रयोग उसकी सशब्द क्रियाओं के बिना होता है। यानी ६ कलाएँ तो ऽ । ऽ ऽ । ऽ पंचपाणि की ही रहती हैं लेकिन उसकी सं ता श ता श ता क्रियाएँ नहीं की जातीं। संभवतः वस्तु की अन्तिम ६ कलाओं की क्रिया होती हैं। कल्लि० के अनुसार इसमें देशीतालों की तरह सिर्फ़ शम्या का प्रयोग किया जाता है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

दूसरे मत में भी यह अन्तिम वस्तु की अन्तिम ६ कलाओं में होती है लेकिन केवल यथाक्षर पंचपाणि के पातों से होती है। 'केवल' से यह सूचित होता है कि पात ही पंचपाणि के होते हैं लेकिन लघु-गुरु उसके नहीं बल्कि मूल वस्तु के रहते हैं।

तीसरे मत में तालिका वस्तु के बाद अलग से होती है, अन्तिम वस्तु की अन्तिम ६ कलाओं में नहीं और यथाक्षर पंचपाणि में यानी उसी की लघु-गुरु रचना और उसी की क्रियाओं से होती है।

अपरान्तक की वस्तु में क्रियाओं का क्रम ग्रन्थकार के अनुसार इस तरह होगा। यह पहले कहा जा चुका है कि पहली कला में उपोहन और दूसरी में विकल्प से प्रत्युपोहन होता है लेकिन उनमें कोई ताल क्रिया नहीं कही है। इसलिये मद्रक की तरह उन्हें ध्रुव पातयुक्त या पातरहित समझ सकते हैं। शेष ६ कलाएँ ऽ ऽ । । । । हैं जिनमें श ता ता श ता सं क्रिया होती हैं।

तालिका की क्रिया संबन्धी पहले मत की व्याख्या में कल्लि० ने ६ कलाओं में शम्या का प्रयोग कहा जो संगत नहीं है क्योंकि ग्रन्थकार ने ऐसा निर्देश या संकेत नहीं दिया है। उचित यही प्रतीत होता है कि अन्तिम कलाओं की श ता ता श ता सं का प्रयोग तालिका संबन्धी पहले मत में अभिप्रेत है।

तालिका संबन्धी तीसरा मत ग्रन्थकार का मान्य प्रतीत होता है क्योंकि आगे दिये गये प्रस्तारों में तालिका वस्तु के बाद यानी उससे अलग दी गई है और उसमें यथाक्षर पंचपाणि की ही लघु-गुरु योजना और उसी की तालक्रियाएँ हैं।

अस्य प्रस्तारः—

ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	।	।	।	।	
उ	प्र	श	ता	ता	श	ता	सं	॥ इति वस्तु (शाखा)॥

ऽ॑	।	ऽ	ऽ	।	ऽ॑	
सं	ता	श	ता	श	ता	॥ इति तालिका॥
ऽ॑	।	ऽ	ऽ	।	ऽ॑	
सं	ता	श	ता	श	ता	॥ इति शीर्षकम्॥

।	।	।	।	
ता	श	ता	सं	॥ इति प्रतिशाखा॥

ऽ॑	।	ऽ	ऽ	।	ऽ॑	
सं	ता	श	ता	श	ता	॥ इति तालिका॥
ऽ॑	।	ऽ	ऽ	।	ऽ॑	
सं	ता	श	ता	श	ता	॥ इति शीर्षकम्॥

इत्येकवस्तुकम्

(अ०) अस्य प्रस्तारः इसका प्रस्तार (यह है)। (प्रस्तार ऊपर देखें)

(सर०) मुद्रित प्रस्तार श्लोकों में दिये गये लक्षण के अनुरूप नहीं है। लक्षण के अनुसार शाखा के बाद तालिका और उसके बाद शीर्षक होना चाहिये। उसके बाद प्रतिशाखा, तालिका और शीर्षक—यह क्रम चाहिये। इस तरह प्रस्तार उलट-पुलट भी है और अधूरा भी। इसलिये लक्षण के अनुसार शुद्ध करके प्रस्तार दिया गया है। (मुद्रित पाठ प्रस्तुत अध्याय के अन्त में (१) में देखें)

एक वस्तुक का यह प्रस्तार भरत के अनुसार है।

एकवस्तुक (अपरान्तक) समाप्त

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(१) (शार्ङ्गदेवमतानुसारेण पञ्चवस्तुकम्)

अथ पञ्चवस्तुकम्। अस्य प्रस्तारः—

ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	।	।	।	।	
उ		श	ता	ता	श	ता	सं	॥ वस्तु १॥
ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	।	।	।	।	
प्र		श	ता	ता	श	ता	सं	॥ वस्तु २॥
ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	।	।	।	।	
प्र		श	ता	ता	श	ता	सं	॥ वस्तु ३॥
ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	।	।	।	।	
प्र		श	ता	ता	श	ता	सं	॥ वस्तु ४॥
ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	।	।	।	।	
प्र		श	ता	ता	श	ता	सं	॥ वस्तु ५॥
ऽे	।	ऽ	ऽ	।	ऽे			
सं	ता	श	ता	श	ता			॥ इति तालिका॥
ऽे	।	ऽ	ऽ	।	ऽे			
सं	ता	श	ता	श	ता			॥ इति शीर्षकम्॥

इयं शाखा; ईदृश्येव पदान्तरनिर्मिता प्रतिशाखा।

इति पञ्चवस्तुकम्

(१) शार्ङ्गदेव के मत से पंचवस्तुक

(अ०) अथ पञ्चवस्तुकम् अब पंचवस्तुक। अस्य प्रस्तारः इसका प्रस्तार (यह है)। (प्रस्तार ऊपर देखें)।

इयं शाखा यह शाखा (है)। ईदृशी एव ऐसी ही पदान्तरनिर्मिता प्रतिशाखा भिन्न पदों से रचित प्रतिशाखा (होती है)।

(सर०) मुद्रित पाठ में सभी वस्तुओं में शुरू की दो कलाओं में उपोहन है। लक्षण के अनुसार पहली वस्तु में सिर्फ़ पहली कला में उपोहन और शेष वस्तुओं में पहली कला में विकल्प से प्रत्युपोहन होता है। तदनुसार प्रस्तार का शुद्ध रूप यहाँ दिया गया है। ग्रन्थकार ने दूसरी कला में कोई ताल क्रिया नहीं कही इसलिये यहाँ एककल अपरान्तक के सभी प्रस्तारों की शाखा की दूसरी कला में कोई क्रिया नहीं दी है। यह समझा जा सकता है कि या तो दूसरी कला में कोई क्रिया नहीं होती या इसमें किसी नियत क्रिया का विधान नहीं है। शाखा के बाद उसी के जैसी प्रतिशाखा होती है। यह प्रस्तार शार्ङ्ग० के मतानुसार है।

पंचवस्तुक (अपरान्तक) समाप्त

(षड्वस्तुकम्)

अथ षड्वस्तुकम्। अस्य प्रस्तारः—

ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	।	।	।	।	
उ		श	ता	ता	श	ता	सं	॥ वस्तु १॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	।	।	।	।	
प्र		श	ता	ता	श	ता	सं	॥ वस्तु २॥
ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	।	।	।	।	
प्र		श	ता	ता	श	ता	सं	॥ वस्तु ३॥
ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	।	।	।	।	
प्र		श	ता	ता	श	ता	सं	॥ वस्तु ४॥
ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	।	।	।	।	
प्र		श	ता	ता	श	ता	सं	॥ वस्तु ५॥
ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	।	।	।	।	
प्र		श	ता	ता	श	ता	सं	॥ वस्तु ६॥

ऽे	।	ऽ	ऽ	।	ऽे	
सं	ता	श	ता	श	ता	॥ इति तालिका॥
ऽे	।	ऽ	ऽ	।	ऽे	
सं	ता	श	ता	श	ता	॥ इति शीर्षकम्॥

ईदृश्येव पदान्तरनिर्मिता प्रतिशाखा।

इति षड्वस्तुकम्

षट्-वस्तुक

(अ०) अथ षट्-वस्तुकम् अब षट्-वस्तुक। अस्य प्रस्तारः इसका प्रस्तार (यह है)। (प्रस्तार ऊपर देखें)

ईदृशी एव ऐसी ही पदान्तरनिर्मिता भिन्न पदों से रचित प्रतिशाखा प्रतिशाखा (होती है)।

(सर०) ६ वस्तु वाले इस अपरान्तक के मुद्रित प्रस्तार में भी पंचवस्तुक की ही अशुद्धियाँ हैं। उन्हें शुद्ध करके प्रस्तार दिया है। इसमें भी शाखा के बाद ऐसी ही प्रतिशाखा होती है। यह भी शार्ङ्ग० के मत के अनुसार है।

ईदृशी एव प्रतिशाखा में यह अन्वित है कि यह प्रस्तार सिर्फ़ शाखा का है और भिन्न पदों से ऐसी ही प्रतिशाखा भी होती है।

षट्-वस्तुक (अपरान्तक) समाप्त

(सप्तवस्तुकम्)

अथ सप्तवस्तुकम्। अस्य प्रस्तारः—

ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	।	।	।	।	
उ		श	ता	ता	श	ता	सं	॥ वस्तु १॥
ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	।	।	।	।	
प्र		श	ता	ता	श	ता	सं	॥ वस्तु २॥
ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	।	।	।	।	
प्र		श	ता	ता	श	ता	सं	॥ वस्तु ३॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ऽ ऽ ऽ ऽ । । । ।
प्र श ता ता श ता सं ॥ वस्तु ४॥

ऽ ऽ ऽ ऽ । । । ।
प्र श ता ता श ता सं ॥ वस्तु ५॥

ऽ ऽ ऽ ऽ । । । ।
प्र श ता ता श ता सं ॥ वस्तु ६॥

ऽ ऽ ऽ ऽ । । । ।
प्र श ता ता श ता सं ॥ वस्तु ७॥

ऽे । ऽ ऽ । ऽे
सं ता श ता श ता ॥ इति तालिका॥

ऽे । ऽ ऽ । ऽे
सं ता श ता श ता ॥ इति शीर्षकम्॥

इति सप्तवस्तुकम्

सप्तवस्तुक

(अ०) अथ सप्तवस्तुकम् अब सात वस्तु वाला। अस्य प्रस्तारः इसका प्रस्तार (यह है)। (प्रस्तार ऊपर देखें)

(सर०) पाठ शुद्ध करके यहाँ प्रस्तार दिया है। मुद्रित पाठ में शुरू की दो कलाओं में उपोहन दिया है। वास्तव में वस्तु १ की पहली कला में ही उपोहन होता है और शेष वस्तुओं में प्रत्युपोहन होता है।

यह शाखा का प्रस्तार है। भिन्न पदों से ऐसी ही प्रतिशाखा होती है। यह प्रस्तार भी शाङ्ग० के अनुसार है।

सप्तवस्तुक (अपरान्तक) समाप्त

(२) (भरतमतानुसारेण पञ्चवस्तुकम्)

सर्वेषां वस्तूनां शाखात्वे तदुत्तरार्धानां प्रतिशाखात्वे ताशतासं। ईदृश्येव प्रतिशाखा। प्रतिशाखापक्षे त्वेवम्—

ऽ ऽ ऽ ऽ । । । ।
उ श ता ता श ता सं ॥ वस्तु १॥ (शाखा १)

। । । ।
ता श ता सं ॥ प्रतिशाखा॥

ऽ ऽ ऽ ऽ । । । ।
प्र श ता ता श ता सं ॥ वस्तु २॥ (शाखा २)

। । । ।
ता श ता सं ॥ प्रतिशाखा॥

ऽ ऽ ऽ ऽ । । । ।
प्र श ता ता श ता सं ॥ वस्तु ३॥ (शाखा ३)

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

।	।	।	।	
ता	श	ता	सं	॥ प्रतिशाखा॥

ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	।	।	।	।	
प्र		श	ता	ता	श	ता	सं	॥ वस्तु ४॥ (शाखा ४)

।	।	।	।	
ता	श	ता	सं	॥ प्रतिशाखा॥

ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	।	।	।	।	
प्र		श	ता	ता	श	ता	सं	॥ वस्तु ५॥ (शाखा ५)

ऽे	।	ऽ	ऽ	।	ऽे	
सं	ता	श	ता	श	ता	॥ इति तालिका॥

ऽे	।	ऽ	ऽ	।	ऽे	
सं	ता	श	ता	श	ता	॥ इति शीर्षकम्॥

।	।	।	।	
ता	श	ता	सं	॥ प्रतिशाखा॥

ऽे	।	ऽ	ऽ	।	ऽे	
सं	ता	श	ता	श	ता	॥ इति तालिका॥

ऽे	।	ऽ	ऽ	।	ऽे	
सं	ता	श	ता	श	ता	॥ इति शीर्षकम्॥

(२) भरत के मत से पंचवस्तुक

(अ०) **सर्वेषां वस्तूनां** सारी वस्तुओं के **शाखात्वे** शाखा (रूप) होने (और) **तत् उत्तर-अर्धानाम्** उनके बाद वाले आधे (भागों) के **प्रतिशाखात्वे** प्रतिशाखा (रूप) होने पर (उसमें) **ताशतासं** ता, श, ता, सं (ये पात होते हैं)। **ईदृशी एव** ऐसी ही **प्रतिशाखा** प्रतिशाखा (होती है)। **प्रतिशाखापक्षे तु** (ऐसी) प्रतिशाखा पक्ष में तो **एवं** (प्रस्तार यह होगा)।

(सर०) प्रस्तार शुद्ध करके दिया है। (मुद्रित पाठ अध्याय के अन्त में संख्या (२) में देखें)। यह प्रस्तार पंचवस्तुक का है और भरत के मतानुसार है।

एवं षड्वस्तुकसप्तवस्तुकयोरप्यूहनीयम्।

(अ०) **एवम्** इसी तरह **षट्-वस्तुकसप्तवस्तुकयोः अपि** छ वस्तु और सात वस्तु वाले भी **ऊहनीयं** समझने चाहियें।

(सर०) तात्पर्य यह है कि जैसे पंचवस्तुक में हर वस्तु की शाखा के बाद उसके उत्तरार्ध से प्रतिशाखा होती है उसी तरह ६ वस्तु वाले में ऐसी ही ६ शाखा और उनकी प्रतिशाखा तथा ७ वस्तु वाले में ७ वस्तुओं की शाखा में से हरेक के बाद प्रतिशाखा होती है।

(३) विशाखिलमतानुसारेण

शाखोत्तरार्धस्य प्रतिशाखात्वपक्षे तु पञ्चवस्तुकम्। यथा—

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ऽ ऽ ऽ ऽ । । । ।

उ श ता ता श ता सं ॥ वस्तु १॥

ऽ ऽ ऽ ऽ । । । ।

प्र श ता ता श ता सं ॥ वस्तु २॥

ऽ ऽ ऽ ऽ । । । ।

प्र श ता ता श ता सं ॥ वस्तु ३॥

ऽ ऽ ऽ ऽ । । । ।

प्र श ता ता श ता सं ॥ वस्तु ४॥

ऽ ऽ ऽ ऽ । । । ।

प्र श ता ता श ता सं ॥ वस्तु ५॥ (इति शाखा)

ऽे । ऽ ऽ । ऽे

सं ता श ता श ता ॥ इति तालिका॥

ऽे । ऽ ऽ । ऽे

सं ता श ता श ता ॥ इति शीर्षकम्॥

। । । ।

ता श ता सं ॥ (वस्तुतृतीयस्योत्तरार्धम्)

ऽ ऽ ऽ ऽ । । । ।

प्र श ता ता श ता सं ॥ वस्तु ४॥

ऽ ऽ ऽ ऽ । । । ।

प्र श ता ता श ता सं ॥ वस्तु ५॥

ऽे । ऽ ऽ । ऽे

सं ता श ता श ता ॥ इति तालिका॥

ऽे । ऽ ऽ । ऽे

सं ता श ता श ता ॥ इति शीर्षकम्॥

इति पञ्चवस्तुकम्

(३) विशाखिल के मत से

(अ०) शाखा-उत्तरार्धस्य शाखा के बाद वाले आधे (भाग) के प्रतिशाखात्वपक्षे तु प्रतिशाखा होने वाले पक्ष में तो पञ्चवस्तुकं पंचवस्तुक। यथा जैसे—

(सर०) प्रस्तार शुद्ध करके ऊपर दिया है। (मुद्रित प्रस्तार अध्याय के अन्त में (३) में देखें)।

यह विशाखिल के मत से है जिसमें सभी वस्तुएँ मिल कर शाखा होती है और अन्तिम वस्तु के अन्त में तालिका और शीर्षक रहते हैं। पूरी शाखा के अन्तिम आधे भाग से यानी अन्तिम ढाई वस्तुओं से प्रतिशाखा और उसके बाद तालिका व शीर्षक होते हैं।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

इसी तरह ६ और ७ वस्तु वाली शाखा के उत्तरार्ध के प्रतिशाखात्व मत के प्रस्तार भी बनाये जा सकते हैं। ६ वस्तु वाले में अन्तिम ३ वस्तुओं से और ७ वस्तु वाले में अन्तिम ३½ वस्तुओं से प्रतिशाखा होगी।

षड्वस्तुके शाखां तालिकां शीर्षकं च लिखित्वा तदर्धेन वस्तुत्रयेण प्रतिशाखां लिखित्वा तालिकां शीर्षकं च पूर्ववल्लिखेत्। एवं सप्तवस्तुके सप्तवस्तुकां शाखां तालिकां शीर्षकं च लिखित्वा तदर्धेन सार्धवस्तुत्रयेण प्रतिशाखां च लिखेत्। ततस्तालिकां शीर्षकं च पूर्ववल्लिखेत्।

इत्येककलमपरान्तकम्

(अ०) षट्-वस्तुके छ वस्तु वाले में शाखां तालिकां शीर्षकं च लिखित्वा शाखा, तालिका और शीर्षक को लिख कर तत् अर्धेन वस्तुत्रयेण उस (शाखा) के आधे (अर्थात्) तीन वस्तु से प्रतिशाखां लिखित्वा प्रतिशाखा को लिखकर पूर्ववत् पहले की तरह (अर्थात् शाखा की तरह) तालिकां शीर्षकं च लिखेत् तालिका और शीर्षक को लिखना चाहिये। एवम् इसी तरह सप्तवस्तुके सात वस्तु वाले में सप्तवस्तुकां शाखां तालिकां शीर्षकं च लिखित्वा सात वस्तु वाली शाखा, तालिका और शीर्षक को लिख कर तत् अर्धेन सार्धवस्तुत्रयेण उस (शाखा) के आधे (यानी) साढ़े तीन वस्तुओं से प्रतिशाखां च लिखेत् प्रतिशाखा को भी लिखना चाहिये। ततः उसके बाद तालिकां शीर्षकं च तालिका और शीर्षक को पूर्ववत् लिखेत् पहले की तरह (शाखा की तरह) लिखना चाहिये।

(सर०) शाखा और प्रतिशाखा दोनों के अन्त में तालिका और शीर्षक रहेंगे।

यहाँ एककल अपरान्तक के सभी प्रकारों के लक्षण और विभिन्न मतों के अनुसार प्रस्तार समाप्त होते हैं।

एककल अपरान्तक समाप्त

(द्विकलमपरान्तकम्)

द्विकले द्वादशकलं वस्तु स्यादपरान्तके॥ ९६॥

तच्चैककलवत्कार्यं विशेषस्त्वभिधीयते।

द्विकल अपरान्तक

९६ ग-९७ ख. (अ०) द्विकले अपरान्तके द्विकल अपरान्तक में वस्तु वस्तु द्वादशकलं स्यात् बारह कला वाली होती है तत् च और वह (द्विकल अपरान्तक) एककलवत् कार्यम् एककल (अपरान्तक) जैसा करना चाहिये। विशेषः तु विशेष (लक्षण) तो अभिधीयते कहते हैं।

(सर०) द्विकल अपरान्तक की वस्तु एककल से दुगनी यानी बारह कला की होती है। एककल की तरह करने का अर्थ, कल्लि० के अनुसार, यह है कि एकवस्तुक, पंचवस्तुक, षट्-वस्तुक और सप्तवस्तुक भेद और शाखा-प्रतिशाखा की रचना संबन्धी विभिन्न आचार्यों के अनुसार भेद द्विकल में भी करने चाहियें। एककल के इन लक्षणों का द्विकल में अतिदेश (एक स्थान के धर्म का दूसरे स्थान में जाना) है। एककल से भिन्न द्विकल के विशेष लक्षण ग्रन्थकार अगले श्लोकों में दे रहे हैं।

उपोहनं स्यात् कलिकं द्विकलं वा कलैव तु॥ ९७॥

प्रत्युपोहनमत्रोपवर्तनं तुर्यवस्तुनि।
गीते तत्पदगीतिभ्यां तल्लयार्धलयं भवेत्॥ ९८॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

यथाक्षरेणोत्तरेण वृत्तिदक्षिणमार्गयोः ।
समाप्तार्थन्यासयुक्तं केचित् पञ्चमवस्तुनः ॥ ९९ ॥

एतदाद्ये कलाषट्के गातव्यमिति मन्वते।

९७ ग-१०० ख (अ०) **उपोहनम्** उपोहन **कलिकं द्विकलं वा स्यात्** एक या दो कला वाला होता है। **कला एव तु** सिर्फ़ एक कला (वाला) तो **प्रत्युपोहनं** प्रत्युपोहन (होता है)। **अत्र** इसमें **तुर्यवस्तुनि** चौथी वस्तु के होने पर (अर्थात् बाद) **तत्पदगीतिभ्यां गीते** उसी (चौथी वस्तु) के पद और गीति (स्वरयोजना) में गाने पर **उपवर्तनम्** उपवर्तन (होता है, जो) **तत्-लय-अर्धलयम्** उस (चौथी वस्तु) की लय की आधी लय वाला (और) **यथाक्षरेण उत्तरेण** यथाक्षर उत्तर (ताल) से (तथा) **वृत्तिदक्षिणमार्गयोः** वार्तिक तथा दक्षिण मार्गों में **भवेत्** होता है। **समाप्त-अर्थन्यासयुक्तं** (यह) अर्थ की समाप्ति के साथ न्यास (समाप्ति) से युक्त(होता है)। **केचित्** कुछ आचार्य **पञ्चमवस्तुनः** पाँचवीं वस्तु के **आद्ये कलाषट्के** शुरू की छ कलाओं के समूह में **एतत् गातव्यं** यह (उपवर्तन) गाना चाहिये **इति मन्वते** ऐसा मानते हैं।

(सर०) उपोहन पहली वस्तु में और प्रत्युपोहन शेष वस्तुओं में होता है, यह सामान्य नियम है। उपोहन एक या दो कलाओं में होता है और प्रत्युपोहन एक कला में। लेकिन एकवस्तुक में एक कला में होने पर प्रत्युपोहन दूसरी कला में होगा और उपोहन दो कलाओं में हो तो प्रत्युपोहन तीसरी कला में होगा।

उपवर्तन सिर्फ़ द्विकल और चतुष्कल अपरान्तक में होता है और चौथी वस्तु के बाद गाया जाता है। चौथी वस्तु की अन्तिम १२ कलाओं के ही पद उसी गीति में ६ कलाओं में गाने का अर्थ है आधी लय में गाना। इसमें यथाक्षर उत्तर ताल का योग होता है। वार्तिक और दक्षिण इन दोनों मार्गों में आधी लय में गाने पर ६ कलाएँ प्राप्त रहती हैं लेकिन चित्रमार्ग यानी एककल अपरान्तक में ६ कला की ही वस्तु होती है और उसे आधी लय में गाने से उपवर्तन की रचना नहीं हो सकती इसलिये उपवर्तन वार्तिक और दक्षिण मार्ग में ही हो सकता है।

उपवर्तन की समाप्ति के साथ ही अर्थ समाप्त होने में यह अन्वित है कि चौथी वस्तु में वाक्य पूरा हो जाना चाहिये।

ग्रन्थकार ने एक अन्य मत से चौथी वस्तु के बजाय पाँचवीं वस्तु के शुरू की ६ कलाओं में उपवर्तन बताया है।

निप्रनिप्रा निशनितास्ताशतासं कला त्विह ॥ १०० ॥

एककं विविधं वात्र गीताङ्गं दत्तिलोऽवदत्।
गीताङ्गनियमं कंचिन्नाब्रूत भगवान् मुनिः ॥ १०१ ॥

१०० ग-१०१ (अ०) **इह** यहाँ (द्विकल अपरान्तक की वस्तु में) **कलाः तु** क्रियाएँ तो **निप्रनिप्राः निशनिताः ताशतासं** निष्क्राम, प्रवेश, निष्क्राम, प्रवेश, निष्क्राम, शम्या, निष्क्राम, ताल, ताल, शम्या, ताल, संनिपात (होती हैं)। **अत्र** इसमें **दत्तिलः** दत्तिल ने **एककं विविधं वा गीताङ्गम्** एकक या विविध गीतांग **अवदत्** कहा। **भगवान् मुनिः** भगवान् मुनि (भरत) ने **कंचित् गीताङ्गनियमं** कोई गीतांग का नियम **न अब्रूत** नहीं कहा।

(सर०) मुद्रित पाठ के श्लोक १०० घ में 'ताशास्तासं' है जो अशुद्ध है। उसके बजाय 'ताशतासं' रखा है।

द्विकल अपरान्तक में १२ गुरु कलाएँ होती हैं जिनमें क्रियाओं का क्रम निप्रनिप्रनिशनिताताशतासं है। भरत ने विविध-एकक गीतांगों के प्रयोग का कोई निर्देश नहीं किया है लेकिन दत्तिल ने एकक और विविध में विकल्प दिया है, ऐसा ग्रन्थकार ने जो उल्लेख किया है वह अपरान्तक के एककल आदि तीनों प्रकारों के लिये समझना चाहिये।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अस्य प्रस्तारः—

ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	
नि	प्र	नि	प्र	नि	श	नि	ता	ता	श	ता	सं	॥ वस्तु ॥ (शाखा)

उ प्रत्यु०

या

उ उ प्रत्यु०

ऽे	।	ऽ	ऽ	।	ऽे	
सं	ता	श	ता	श	ता	॥ इति तालिका ॥
ऽे	।	ऽ	ऽ	।	ऽे	
सं	ता	श	ता	श	ता	॥ इति शीर्षकम् ॥
ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	
नि	ता	ता	श	ता	सं	॥ वस्तु ॥ (प्रतिशाखा)
ऽे	।	ऽ	ऽ	।	ऽे	
सं	ता	श	ता	श	ता	॥ इति तालिका ॥
ऽे	।	ऽ	ऽ	।	ऽे	
सं	ता	श	ता	श	ता	॥ इति शीर्षकम् ॥

इत्येकवस्तुकम्

(अ०) अस्य प्रस्तारः इसका प्रस्तार (यह है)।

(सर०) संशोधन करके यहाँ सही पाठ दिया है। (मुद्रित पाठ अध्याय के अन्त में संख्या (४) में देखें)

(१) शार्ङ्गदेवमतानुसारेण

अथ पञ्चवस्तुकम्—

अस्य प्रस्तारः—

ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	
नि	प्र	नि	प्र	नि	श	नि	ता	ता	श	ता	सं	॥ वस्तु १ ॥

उ प्रत्यु०

या

उ उ प्रत्यु०

ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	
नि	प्र	नि	प्र	नि	श	नि	ता	ता	श	ता	सं	॥ वस्तु २ ॥

प्रत्यु०

ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	
नि	प्र	नि	प्र	नि	श	नि	ता	ता	श	ता	सं	॥ वस्तु ३ ॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	
नि	प्र	नि	प्र	नि	श	नि	ता	ता	श	ता	सं	॥ वस्तु ४॥

ऽ	।	ऽ	ऽ	।	ऽ	
सं	ता	श	ता	श	ता	॥ इत्युपवर्तनम्॥

ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	
नि	प्र	नि	प्र	नि	श	नि	ता	ता	श	ता	सं	॥ वस्तु ५॥

ऽ	।	ऽ	ऽ	।	ऽ	
सं	ता	श	ता	श	ता	॥ इति तालिका॥

ऽ	।	ऽ	ऽ	।	ऽ	
सं	ता	श	ता	श	ता	॥ इति शीर्षकम्॥ (इति शाखा)

एवं पदान्तरनिर्मिता प्रतिशाखा। एवं षड्वस्तुकं सप्तवस्तुकं च। इयमेव शाखा।

(१) शार्ङ्गदेव के मत से

(अ०) अथ पञ्चवस्तुकम् अब पंचवस्तुक।

अस्य प्रस्तार : इसका प्रस्तार (यह है)।

एवम् ऐसी ही पदान्तरनिर्मिता प्रतिशाखा भिन्न पदों से रचित प्रतिशाखा (होती है)। एवम् इसी तरह षट्-वस्तुकं सप्तवस्तुकं च छ वस्तु वाला और सात वस्तु वाला (होता है)। इयम् एव शाखा (इनमें भी) ऐसी ही शाखा (होती है)।

(सर०) द्विकल अपरान्तक में दूसरी वस्तु की तरह ही शेष वस्तुओं में भी पहली कला में प्रत्युपोहन समझना चाहिये।

यह प्रस्तार शार्ङ्ग० के मत के अनुसार है इसलिये यह पूरी शाखा भिन्न पदों से आवृत्त होने पर प्रतिशाखा हो जाती है।

पंचवस्तुक की ही तरह षट्-वस्तुक और सप्तवस्तुक में भी सारी वस्तुओं की भिन्न पदों से आवृत्ति होने पर प्रतिशाखा बनती है।

(२) विशाखिलमतानुसारेण

शाखोत्तरार्धस्य प्रतिशाखात्वे प्रतिशाखा यथा वस्तुनोऽधर्म्।

ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	
नि	प्र	नि	प्र	नि	श	नि	ता	ता	श	ता	सं	॥ वस्तु १॥

उ प्रत्यु०

या

उ उ प्रत्यु०

ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	
नि	प्र	नि	प्र	नि	श	नि	ता	ता	श	ता	सं	॥ वस्तु २॥

प्रत्यु०

ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	
नि	प्र	नि	प्र	नि	श	नि	ता	ता	श	ता	सं	॥ वस्तु ३॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ

नि प्र नि प्र नि श नि ता ता श ता सं ॥ वस्तु ४॥

ऽे । ऽ ऽ । ऽे

सं ता श ता श ता ॥ इत्युपवर्तनम्॥

ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ

नि प्र नि प्र नि श नि ता ता श ता सं ॥ वस्तु ५॥

ऽे । ऽ ऽ । ऽे

सं ता श ता श ता ॥ इति तालिका॥

ऽे । ऽ ऽ । ऽे

सं ता श ता श ता ॥ इति शीर्षकम्॥ (इति शाखा)

ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ

नि ता ता श ता सं ॥ (तृतीयवस्तूत्तरार्धम्)

ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ

नि प्र नि प्र नि श नि ता ता श ता सं ॥ वस्तु ४॥

ऽे । ऽ ऽ । ऽे

सं ता श ता श ता ॥ इत्युपवर्तनम्॥

ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ

नि प्र नि प्र नि श नि ता ता श ता सं ॥ वस्तु ५॥

ऽे । ऽ ऽ । ऽे

सं ता श ता श ता ॥ इति तालिका॥

ऽे । ऽ ऽ । ऽे

सं ता श ता श ता ॥ इति शीर्षकम्॥ (इति प्रतिशाखा)

इति पञ्चवस्तुकम्

(२) विशाखिल के मत से

(अ०) शाखा-उत्तरार्धस्य प्रतिशाखात्वे शाखा के उत्तरार्ध के प्रतिशाखा रूप होने पर प्रतिशाखा प्रतिशाखा यथा वस्तुनः अर्धम् इस तरह वस्तु की आधी (होती है)।

(सर०) विशाखिल के मत से शाखा का उत्तरार्ध प्रतिशाखा होती है।

प्रस्तार को शुद्ध करके ऊपर दिया गया है। (मुद्रित पाठ अध्याय के अन्त में (५) देखें।) दूसरी वस्तु की तरह शेष वस्तुओं में भी पहली कला में प्रत्युपोहन समझना चाहिये।

पञ्चवस्तुक समाप्त

एवं षड्वस्तुकसप्तवस्तुके; षड्वस्तुके शाखां चतुर्थवस्त्वन्त उपवर्तनं, शाखान्ते पूर्ववत् तालिकां शीर्षकं च लिखित्वा वस्तुत्रयात्मिकां शाखार्धरूपां प्रतिशाखां, तुर्यवस्त्वन्त उपवर्तनं, तालिकां शीर्षकं

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

च लिखेत्। एवमेव सप्तवस्तुके तुर्यवस्त्वन्त उपवर्तनयुक्तां शाखां, तालिकां शीर्षकं च लिखित्वा सार्धवस्तुत्रयात्मिकां तुर्यवस्त्वन्तोपवर्तनयुक्तां प्रतिशाखां तालिकां च शीर्षकं च लिखेत्।

(अ०) **एवम्** इसी तरह **षट्-वस्तुकसप्तवस्तुके** षट्-वस्तुक और सप्तवस्तुक में (भी होता है)। **षट्-वस्तुके शाखां** षट्वस्तुक में शाखा में **चतुर्थ वस्तु-अन्ते** चौथी वस्तु के समाप्त होने पर **उपवर्तनम्** उपवर्तन (और) **शाखा-अन्ते** शाखा के अन्त में **पूर्ववत्** पहले की तरह **तालिकां शीर्षकं च लिखित्वा** तालिका और शीर्षक लिखकर **वस्तुत्रय-आत्मिकां** तीन वस्तु के स्वरूप वाली (अर्थात् तीन वस्तु वाली) **शाखार्धरूपां प्रतिशाखां** आधी शाखा के रूप वाली प्रतिशाखा, **तुर्यवस्तु-अन्ते** चौथी वस्तु के अन्त में **उपवर्तनं** उपवर्तन (और प्रतिशाखा के अन्त में) **तालिकां शीर्षकं च लिखेत्** तालिका (और) शीर्षक लिखना चाहिये। **एवम् एव** इसी तरह **सप्तवस्तुके** सप्तवस्तुक में **तुर्यवस्तु-अन्ते** चौथी वस्तु के अन्त में **उपवर्तनयुक्ताम्** उपवर्तन से युक्त **शाखां** शाखा (के अन्त) में **तालिकां शीर्षकं च लिखित्वा** तालिका (और) शीर्षक लिखकर **सार्धवस्तुत्रयात्मिकां** साढ़े तीन वस्तु वाली **तुर्यवस्तु-अन्त-उपवर्तनयुक्तां** चौथी वस्तु के अन्त में उपवर्तन से युक्त **प्रतिशाखां तालिकां च शीर्षकं च** प्रतिशाखा और (अन्त में) तालिका व शीर्षक **लिखेत्** लिखना चाहिये।

(सर०) यहाँ षट्वस्तुक और सप्तवस्तुक का प्रस्तार बनाने की विधि दी गई है।

मुद्रित पाठ के पहले वाक्य में 'शाखां चतुर्थशाखान्त' है। लेकिन शाखा नहीं बल्कि वस्तुएँ चार होती हैं जिसके बाद उपवर्तन होता है। इसलिये उसके बजाय **शाखां चतुर्थवस्त्वन्त** होना चाहिये, तभी सही अर्थ मिलता है।

इसी तरह दूसरे वाक्य में **एवमेव सप्तवस्तुके** के बाद **'वस्तुत्रयात्मकं शाखार्धरूपां प्रतिशाखां'** अंश अनावश्यक है क्योंकि सप्तवस्तुक में शाखा के आधे यानी साढ़े तीन वस्तुओं से प्रतिशाखा होती है, तीन वस्तु से नहीं, जिसका उल्लेख इसी वाक्य में आगे है। हमने तदनुरूप पाठ रखा है। मुद्रित पाठ अध्याय के अन्त में (६) देखें।

(३) भरतमतानुसारेण

सर्ववस्तूनां प्रतिवस्तुं शाखात्वपक्षे तत्तदर्धानां प्रतिशाखात्वे प्रस्तारः—

ऽ ऽ　ऽ ऽ　ऽ ऽ　ऽ ऽ　ऽ ऽ　ऽ ऽ
नि प्र　नि प्र　नि श　नि ता　ता श　ता सं　॥ वस्तु १॥ शाखा॥
उ प्र०
या
उ उ　प्र०

ऽ ऽ　ऽ ऽ　ऽ ऽ
नि ता　ता श　ता सं　॥ प्रतिशाखा॥

ऽ ऽ　ऽ ऽ　ऽ ऽ　ऽ ऽ　ऽ ऽ　ऽ ऽ
नि प्र　नि प्र　नि श　नि ता　ता श　ता सं　॥ वस्तु २॥ शाखा॥
प्र०

ऽ ऽ　ऽ ऽ　ऽ ऽ
नि ता　ता श　ता सं　॥ प्रतिशाखा॥

ऽ ऽ　ऽ ऽ　ऽ ऽ　ऽ ऽ　ऽ ऽ　ऽ ऽ
नि प्र　नि प्र　नि श　नि ता　ता श　ता सं　॥ वस्तु ३॥ शाखा॥

ऽ ऽ　ऽ ऽ　ऽ ऽ
नि ता　ता श　ता सं　॥ प्रतिशाखा॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ
नि प्र नि प्र नि श नि ता ता श ता सं ॥ वस्तु ४॥ शाखा

ऽे । ऽ ऽ । ऽे
सं ता श ता श ता ॥ इत्युपवर्तनम्॥

ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ
नि ता ता श ता सं ॥ प्रतिशाखा॥

ऽे । ऽ ऽ । ऽे
सं ता श ता श ता ॥ इत्युपवर्तनम्॥

ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ
नि प्र नि प्र नि श नि ता ता श ता सं ॥ वस्तु ५॥ शाखा॥

ऽे । ऽ ऽ । ऽे
सं ता श ता श ता ॥ तालिका॥

ऽे । ऽ ऽ । ऽे
सं ता श ता श ता ॥ शीर्षकम्॥

ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ
नि ता ता श ता सं ॥ प्रतिशाखा॥

ऽे । ऽ ऽ । ऽे
सं ता श ता श ता ॥ तालिका॥

ऽे । ऽ ऽ । ऽे
सं ता श ता श ता ॥ शीर्षकम्॥

इति द्विकलमपरान्तकम्

(३) भरत के मत से

(अ०) **सर्ववस्तूनां** सारी वस्तुओं के **प्रतिवस्तुशाखात्वपक्षे** हर वस्तु के शाखा वाले पक्ष में **तत्-तत्-अर्धानाम्** उस-उस (वस्तु) के आधों (आधे-आधे भागों) के **प्रतिशाखात्वे** प्रतिशाखास्वरूप होने पर **प्रस्तारः** प्रस्तार (इस तरह होता है)।

(सर०) यह भरत के अनुसार पंचवस्तुक द्विकल अपरान्तक का प्रस्तार है। मुद्रित पाठ में हर वस्तु और उसकी प्रतिशाखा के बाद तालिका और शीर्षक दिया है जो संगत नहीं है क्योंकि भरत के अनुसार तालिका और शीर्षक अन्तिम वस्तु के बाद ही होते हैं। हर वस्तु के बाद तालिका-शीर्षक कल्लि० या कुम्भा ने भी नहीं कहा है। उक्त असंगति आड्यार और आनन्द० दोनों संस्करणों में है। लेकिन सं०र० के ग०ओ०मै०ला० की पाण्डुलिपि में प्रस्तार का शुद्ध रूप है। (देखें—Musical Forms is Saṅgītaratnākara, p. 203, Note)। मुद्रित प्रस्तार अध्याय के अन्त में संख्या (७) में देखें।

द्विकल अपरान्तक समाप्त

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(चतुष्कलमपरान्तकम्)

चतुष्कलं तु द्विगुणं द्विकलात् पूर्ववन्मतम्।

चतुष्कल अपरान्तक

१०२ क-ख. (अ०) चतुष्कलं तु चतुष्कल (अपरान्तक) तो **द्विकलात्** द्विकल (अपरान्तक) से **पूर्ववत्** पहले की तरह **द्विगुणं मतं** दुगना माना गया (है)।

(सर०) **पूर्ववत्** का अर्थ है जिस तरह एककल की अपेक्षा द्विकल दुगना कहा गया उसी तरह द्विकल से चतुष्कल दुगना होता है। तदनुसार चतुष्कल की हर वस्तु में २४ गुरु होते हैं जिनसे ६ पादभाग बनते हैं।

उपोहनं तु वस्त्वर्धं द्विकलं प्रत्युपोहनम्॥ १०२॥

दक्षिणे वार्तिके त्वेतद् द्विकलं वा चतुष्कलम्।
न वा तत्सर्वमार्गेषु विशेषस्तूपवर्तनम्॥ १०३॥

तुर्यवस्तूत्तरार्धस्थैः पदैर्निर्माणमिष्यते।

१०२ ग-१०४ ख. (अ०) उपोहनं तु उपोहन तो **वस्तु-अर्धम्** आधी वस्तु वाला (और) **दक्षिणे प्रत्युपोहनं द्विकलं** दक्षिण (मार्ग) में प्रत्युपोहन दो कला वाला (होता है)। **वार्तिके तु** वार्तिक (मार्ग) में तो **एतत्** यह (प्रत्युपोहन) **द्विकलं चतुष्कलं वा** दो कला वाला या चार कला वाला **तत् न वा** अथवा वह नहीं (होता)। **विशेषः तु** विशेष तो (यह है कि) **उपवर्तनम्** उपवर्तन **सर्वमार्गेषु** सभी मार्गों में **तुर्यवस्तु-उत्तरार्धस्थैः** चौथी वस्तु के उत्तरार्ध में स्थित **पदैः** पदों के द्वारा **निर्माणम् इष्यते** रचना को इच्छित करता है (अर्थात् उपवर्तन में इष्ट होता है)।

(सर०) चतुष्कल में वस्तु २४ कला की होती है इसलिये आधी वस्तु यानी १२ कलाओं में उपोहन होता है। प्रत्युपोहन के लिये नियम यह है कि दक्षिण मार्ग में दो कलाओं में होता है लेकिन वार्तिक मार्ग में तीन विकल्प हैं—दो कलाओं में अथवा चार कलाओं में अथवा बिना प्रत्युपोहन। उपवर्तन द्विकल की तरह चौथी वस्तु के बाद ही होता है लेकिन चौथी वस्तु के उत्तरार्ध की १२ कलाओं के पदों से होता है। सभी मार्गों में उपवर्तन कहने से चित्र, वार्तिक और दक्षिण मार्ग समझने चाहियें, ध्रुवमार्ग नहीं क्योंकि सप्तगीतकों में तीन ही मार्ग होते हैं। कल्लि० ने ध्रुव मार्ग को भी सम्मिलित किया है।

आनिविप्रा आनिविप्रा आवापनिविशास्ततः॥ १०४॥

आवापनिविता आताविशास्तानिविसं कलाः।
शतालप्रान् प्राहुरन्येऽष्टमद्वादशषोडशान्॥ १०५॥

१०४ ग-१०५. (अ०) आनिविप्राः आनिविप्राः आवाप, निष्क्राम, विक्षेप और प्रवेश, आवाप, निष्क्राम, विक्षेप और प्रवेश **आवाप-निविशाः** आवाप, निष्क्राम, विक्षेप और शम्या, **ततः** उसके बाद **आवाप-निविताः** आवाप, निष्क्राम, विक्षेप और ताल, **आताविशाः** आवाप, ताल, विक्षेप और शम्या **तानिविसं** ताल, निष्क्राम विक्षेप और संनिपात **कलाः** (ये) क्रियाएँ (होती हैं)। **अन्ये** अन्य मत में **अष्टमद्वादशषोडशान्** आठवें, बारहवें और सोलहवें को **शतालप्रान्** शम्या, ताल और प्रवेश **प्राहुः** विशेष रूप से कहते हैं।

(सर०) चतुष्कल वस्तुओं के २४ गुरुओं में क्रियाओं का क्रम बता कर अन्य मत से यह कहा कि आठवें गुरु में (प्रवेश के स्थान पर) शम्या का, बारहवें गुरु में (शम्या के बजाय) ताल का और सोलहवें गुरु में (ताल के स्थान पर) प्रवेश का प्रयोग होता है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अस्य प्रस्तारः—

ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ
आ	नि	वि	प्र	आ	नि	वि	प्र	आ	नि	वि	श
					उ						

ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	
आ	नि	वि	ता	आ	ता	वि	श	ता	नि	वि	सं	॥ वस्तु॥ (शाखा)

ऽे	।	ऽ	ऽ	।	ऽे	
सं	ता	श	ता	श	ता	॥ इति तालिका॥

ऽे	।	ऽ	ऽ	।	ऽे	
सं	ता	श	ता	श	ता	॥ इति शीर्षकम्॥

ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	
आ	नि	वि	ता	आ	ता	वि	श	ता	नि	वि	सं	॥ प्रतिशाखा॥

ऽे	।	ऽ	ऽ	।	ऽे	
सं	ता	श	ता	श	ता	॥ इति तालिका॥

ऽे	।	ऽ	ऽ	।	ऽे	
सं	ता	श	ता	श	ता	॥ इति शीर्षकम्॥

इत्येकवस्तुकम्

(अ०) अस्य प्रस्तार : इसका प्रस्तार (यह है)। (प्रस्तार ऊपर देखें)

(सर०) यह भरत के मत से एकवस्तुक चतुष्कल अपरान्तक का प्रस्तार है।

एकवस्तुक समाप्त

(१) शार्ङ्गदेवमतानुसारेण

अथ पञ्चवस्तुकं यथा—

ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	
आ	नि	वि	प्र	आ	नि	वि	प्र	आ	नि	वि	श	आ	नि	वि	ता	आ	ता	वि	श	ता	नि	वि	सं	॥ वस्तु १॥
						उ										स्तुतिपद								

ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	
आ	नि	वि	प्र	आ	नि	वि	प्र	आ	नि	वि	श	आ	नि	वि	ता	आ	ता	वि	श	ता	नि	वि	सं	॥ वस्तु २॥

प्र०

या

प्र०

या

स्तुतिपद

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ऽ ऽ
आ नि वि प्र आ नि वि प्र आ नि वि श आ नि वि ता आ ता वि श ता नि वि सं ॥ वस्तु ३॥

ऽ ऽ
आ नि वि प्र आ नि वि प्र आ नि वि श आ नि वि ता आ ता वि श ता नि वि सं ॥ वस्तु ४॥

ऽ । ऽ ऽ । ऽ
सं ता श ता श ता ॥ इत्युपवर्तनम्॥

ऽ ऽ
आ नि वि प्र आ नि वि प्र आ नि वि श आ नि वि ता आ ता वि श ता नि वि सं ॥ वस्तु ५॥

ऽ । ऽ ऽ । ऽ
सं ता श ता श ता ॥ इति तालिका॥

ऽ । ऽ ऽ । ऽ
सं ता श ता श ता ॥ इति शीर्षकम्॥ (शाखा)

एवमुपवर्तनतालिकाशीर्षकसहितपञ्चवस्तुका शाखा। तत एवमेव प्रतिशाखा।

(अ०) अथ पञ्चवस्तुकं यथा अब पंचवस्तुक इस तरह। (प्रस्तार ऊपर देखें)।

(१) शार्ङ्गदेव के मत से

एवम् इस प्रकार उपवर्तनतालिकाशीर्षकसहितपञ्चवस्तुका शाखा उपवर्तन, तालिका, शीर्षक सहित पंचवस्तुक शाखा (होती है)। ततः उसके बाद एवम् एव ऐसी ही प्रतिशाखा प्रतिशाखा (होती है)।

(सर०) यह शार्ङ्ग० के मत से पंचवस्तुक चतुष्कल अपरान्तक की शाखा का प्रस्तार है। इसके बाद ऐसी ही प्रतिशाखा समझनी चाहिये। दूसरी वस्तु की तरह प्रत्युपोहन के विकल्प शेष वस्तुओं में भी समझ लेने चाहियें।

(२) विशाखिलमतानुसारेण

शाखापश्चिमार्धस्य प्रतिशाखात्वे तु पञ्चवस्तुकं यथा प्रस्तारः—

ऽ ऽ
आ नि वि प्र आ नि वि प्र आ नि वि श आ नि वि ता आ ता वि श ता नि वि सं ॥ वस्तु १॥

उ | स्तुतिपद

ऽ ऽ
आ नि वि प्र आ नि वि प्र आ नि वि श आ नि वि ता आ ता वि श ता नि वि सं ॥ वस्तु २॥

प्र०
या

प्र०
या

स्तुतिपद

ऽ ऽ
आ नि वि प्र आ नि वि प्र आ नि वि श आ नि वि ता आ ता वि श ता नि वि सं ॥ वस्तु ३॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ऽ ऽ
आ नि वि प्र आ नि वि प्र आ नि वि श आ नि वि ता आ ता वि श ता नि वि सं ॥ वस्तु ४॥

ऽे । ऽ ऽ । ऽे
सं ता श ता श ता ॥ इत्युपवर्तनम्॥

ऽ ऽ
आ नि वि प्र आ नि वि प्र आ नि वि श आ नि वि ता आ ता वि श ता नि वि सं ॥ वस्तु ५॥
(शाखा)

ऽे । ऽ ऽ । ऽे
सं ता श ता श ता ॥ इति तालिका॥

ऽे । ऽ ऽ । ऽे
सं ता श ता श ता ॥ इति शीर्षकम्॥

ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ
आ नि वि ता आ ता वि श ता नि वि सं ॥ वस्तुतृतीयस्योत्तरार्धम्॥

ऽ ऽ
आ नि वि प्र आ नि वि प्र आ नि वि श आ नि वि ता आ ता वि श ता नि वि सं ॥ वस्तु ४॥

ऽे । ऽ ऽ । ऽे
सं ता श ता श ता ॥ इत्युपवर्तनम्॥

ऽ ऽ
आ नि वि प्र आ नि वि प्र आ नि वि श आ नि वि ता आ ता वि श ता नि वि सं ॥ वस्तु ५॥

ऽे । ऽ ऽ । ऽे
सं ता श ता श ता ॥ इति तालिका॥

ऽे । ऽ ऽ । ऽे
सं ता श ता श ता ॥ इति शीर्षकम्॥

इति पञ्चवस्तुकम्

(२) विशाखिल के मत से

(अ०) शाखापश्चिम-अर्धस्य शाखा के अन्तिम आधे के प्रतिशाखात्वे तु प्रतिशाखा होने पर तो पञ्चवस्तुकं यथा पंचवस्तुक इस प्रकार (होता है)। प्रस्तारः प्रस्तार।

(सर०) मुद्रित प्रस्तार में शाखा के बाद प्रतिशाखा, तालिका, शीर्षक नहीं है। यहाँ उन्हें जोड़कर प्रस्तार पूरा किया है। पहली वस्तु के बाद शेष वस्तुओं में प्रत्युपोहन के विकल्प पूर्ववत् समझने चाहियें।

यह विशाखिल के मत के अनुसार है।

पंचवस्तुक समाप्त

एवं षड्वस्तु सप्तवस्तुकं च

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

शाखोत्तरार्धस्य प्रतिशाखात्वपक्षे तु पक्षद्वयं प्रतिशाखा। यथा—पञ्चवस्तुके पूर्ववत् पञ्चवस्तुकां शाखां लिखित्वा शाखोत्तरार्धरूपा सार्धवस्तुद्वयात्मिका प्रतिशाखायाः शाखातृतीयवस्तूत्तरार्धादिसार्ध-वस्तु(द्वयं)। प्रस्तारः—

ऽ ऽ
आ नि वि प्र आ नि वि प्र आ नि वि श आ नि वि ता आ ता वि श ता नि वि सं ॥ वस्तु १॥

एवं वस्तुचतुष्टयम्।

ऽे । ऽ ऽ । ऽे
सं ता श ता श ता ॥ इत्युपवर्तनम्॥

ऽ ऽ
आ नि वि प्र आ नि वि प्र आ नि वि श आ नि वि ता आ ता वि श ता नि वि सं ॥ वस्तु ५॥

शाखेयम्॥

ऽे । ऽ ऽ । ऽे
सं ता श ता श ता ॥ इति तालिका॥

ऽे । ऽ ऽ । ऽे
सं ता श ता श ता ॥ इति शीर्षकम्॥

एवं षड्वस्तु सप्तवस्तुकमपि ज्ञेयम्॥

(अ०) एवं षट्-वस्तु सप्तवस्तुकं च इसी तरह षट्-वस्तुक और सप्तवस्तुक (भी होते हैं)।

शाखा-उत्तरार्धस्य शाखा के उत्तरार्ध के प्रतिशाखात्वपक्षे तु प्रतिशाखा होने वाले पक्ष में तो पक्षद्वयं प्रतिशाखा दो पक्ष वाली प्रतिशाखा (होती है)। यथा जैसे पञ्चवस्तुके पंचवस्तुक में पूर्ववत् पहले जैसी पञ्चवस्तुकां शाखां लिखित्वा पंचवस्तुक शाखा लिखकर शाखा-उत्तरार्धरूपा शाखा के उत्तरार्ध रूप वाली सार्धवस्तुद्वयात्मिका ढाई वस्तु वाली प्रतिशाखायाः प्रतिशाखा की शाखातृतीयवस्तु-उत्तरार्ध-आदि-सार्धवस्तु(द्वयं) शाखा की तीसरी वस्तु के उत्तरार्ध से शुरू करके ढाई वस्तु (होती हैं)। एवं वस्तुचतुष्टयम् ऐसी ही चार वस्तुओं का समूह (होता है)।

एवं षट्-वस्तु सप्तवस्तुकम् अपि इसी तरह ६ वस्तु और ७ वस्तु वाला भी ज्ञेयं जानना चाहिए।

(सर०) शाखा के उत्तरार्ध से प्रतिशाखा दो तरह से बनती है। एक विशाखिल के मत से जिसमें सारी वस्तुओं से मिलकर शाखा होती है और फिर शाखा का उत्तरार्ध प्रतिशाखा कहलाती है। प्रस्तुत प्रस्तार से पहले इसका प्रस्तार दिया गया है। दूसरी भरत के मत से जिसमें हर वस्तु शाखा और उसका उत्तरार्ध प्रतिशाखा होती है। पक्षद्वयं में इन्हीं दोनों का संकेत है।

यहाँ जो प्रस्तार है उसमें, पहले दिये गये विशाखिल वाले प्रस्तार की पुनरुक्ति है जो पक्षद्वयं के स्पष्टीकरण के लिये दुबारा दिया है। आगे जो प्रस्तार सर्ववस्तूनां शाखात्वपक्षे के बाद दिया है वह पक्षद्वयं के दूसरे पक्ष का है और भरत के अनुसार है।

यथा से शुरू होने वाले वाक्य के अन्त में हमने द्वयं जोड़ा है ताकि अर्थ पूरी तरह स्पष्ट हो जाय।

पंचवस्तुक की तरह ही ६ और ७ वस्तु वाले प्रस्तार भी भरत, विशाखिल और शार्ङ्ग० के अनुसार बनाये जा सकते हैं।

(३) भरतमतानुसारेण

सर्ववस्तूनां शाखात्वपक्षे तदुत्तरार्धानां प्रतिशाखात्वे प्रस्तारः—

ऽ ऽ
आ नि वि प्र आ नि वि प्र आ नि वि श आ नि वि ता आ ता वि श ता नि वि सं

॥ वस्तु १॥ शाखा॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ऽ ऽ ऽ ऽ   ऽ ऽ ऽ ऽ   ऽ ऽ ऽ ऽ

आ नि वि ता   आ ता वि श   ता नि वि सं   ॥ प्रतिशाखा॥

ऽ ऽ ऽ ऽ   ऽ ऽ ऽ ऽ   ऽ ऽ ऽ ऽ   ऽ ऽ ऽ ऽ   ऽ ऽ ऽ ऽ   ऽ ऽ ऽ ऽ

आ नि वि प्र   आ नि वि प्र   आ नि वि श   आ नि वि ता   आ ता वि श   ता नि वि सं

॥ वस्तु २॥ शाखा॥

ऽ ऽ ऽ ऽ   ऽ ऽ ऽ ऽ   ऽ ऽ ऽ ऽ

आ नि वि ता   आ ता वि श   ता नि वि सं   ॥ प्रतिशाखा॥

ऽ ऽ ऽ ऽ   ऽ ऽ ऽ ऽ   ऽ ऽ ऽ ऽ   ऽ ऽ ऽ ऽ   ऽ ऽ ऽ ऽ   ऽ ऽ ऽ ऽ

आ नि वि प्र   आ नि वि प्र   आ नि वि श   आ नि वि ता   आ ता वि श   ता नि वि सं

॥ वस्तु ३॥ शाखा॥

ऽ ऽ ऽ ऽ   ऽ ऽ ऽ ऽ   ऽ ऽ ऽ ऽ

आ नि वि ता   आ ता वि श   ता नि वि सं   ॥ प्रतिशाखा॥

ऽ ऽ ऽ ऽ   ऽ ऽ ऽ ऽ   ऽ ऽ ऽ ऽ   ऽ ऽ ऽ ऽ   ऽ ऽ ऽ ऽ   ऽ ऽ ऽ ऽ

आ नि वि प्र   आ नि वि प्र   आ नि वि श   आ नि वि ता   आ ता वि श   ता नि वि सं

॥ वस्तु ४॥ शाखा।

ऽे । ऽ ऽ । ऽे

सं ता श ता श ता   ॥ उपवर्तनम्॥

ऽ ऽ ऽ ऽ   ऽ ऽ ऽ ऽ   ऽ ऽ ऽ ऽ

आ नि वि ता   आ ता वि श   ता नि वि सं   ॥ प्रतिशाखा॥

ऽे । ऽ ऽ । ऽे

सं ता श ता श ता   ॥ उपवर्तनम्॥

ऽ ऽ ऽ ऽ   ऽ ऽ ऽ ऽ   ऽ ऽ ऽ ऽ   ऽ ऽ ऽ ऽ   ऽ ऽ ऽ ऽ   ऽ ऽ ऽ ऽ

आ नि वि प्र   आ नि वि प्र   आ नि वि श   आ नि वि ता   आ ता वि श   ता नि वि सं

॥ वस्तु ५॥ शाखा॥

ऽे । ऽ ऽ । ऽे

सं ता श ता श ता   ॥ तालिका॥

ऽे । ऽ ऽ । ऽे

सं ता श ता श ता   ॥ शीर्षकम्॥

ऽ ऽ ऽ ऽ   ऽ ऽ ऽ ऽ   ऽ ऽ ऽ ऽ

आ नि वि ता   आ ता वि श   ता नि वि सं   ॥ प्रतिशाखा॥

ऽे । ऽ ऽ । ऽे

सं ता श ता श ता   ॥ तालिका॥

ऽे । ऽ ऽ । ऽे

सं ता श ता श ता   ॥ शीर्षकम्॥

एवं पञ्चवस्तुक भेदाः। एवं षड्वस्तुसप्तवस्तुकम्।

इति चतुष्कलमपरान्तकम्

इत्यपरान्तकम्।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(३) भरत के मत से

(अ०) सर्ववस्तूनां शाखात्वपक्षे सारी वस्तुओं के शाखा होने वाले पक्ष में तत्-उत्तरार्धानाम् उनके अन्तिम आधे (भागों) के प्रतिशाखात्वे प्रतिशाखा होने पर प्रस्तारः प्रस्तार (इस प्रकार होता है)। (प्रस्तार ऊपर देखें)

एवं पञ्चवस्तुकभेदाः इस तरह पंचवस्तुक भेद (होते हैं)। एवं षट्-वस्तुसप्तवस्तुकम् इसी तरह षट्वस्तुक (और) सप्तवस्तुक (भी होते हैं।)

(सर०) यह भरत के अनुसार प्रस्तार है। मुद्रित पाठ में हर वस्तु और प्रतिशाखा के बाद तालिका-शीर्षक है। उसे शुद्ध करके ऊपर प्रस्तार दिया है। मुद्रित प्रस्तार अध्याय के अंत में संख्या (८) में देखें।

चतुष्कल अपरान्तक समाप्त

अपरान्तक समाप्त

उल्लोप्यकम्

भेदैरेककलाद्यैः स्यादुल्लोप्यकमपि त्रिधा।
भवेदेककले तस्मिन् गुरुद्वन्द्वं लघुद्वयम्॥ १०६॥

गुर्वन्ते चेति मात्रैका तच्च मात्रासमाप्तिकम्।
द्विकलेऽष्टकला मात्रा द्विगुणा तु चतुष्कले॥ १०७॥

३—उल्लोप्यक

१०६-१०७. (अ०) उल्लोप्यकम् अपि उल्लोप्यक भी एककल-आद्यैः-भेदैः एककल आदि भेदों से त्रिधा स्यात् तीन प्रकार से होता है। तस्मिन् एककले उसमें (से) एककल में गुरुद्वन्द्वं दो गुरुओं का जोड़ा लघुद्वयं दो लघु गुरु-अन्ते च और अन्त में एक गुरु इति ऐसी एका मात्रा भवेत् एक मात्रा होती है तत् च और वह मात्रासमाप्तिकृत् मात्रा से समाप्त किया हुआ (होता है)। द्विकले द्विकल में मात्रा अष्टकला मात्रा आठ कला वाली (और) चतुष्कले तु चतुष्कल में तो द्विगुणा (उसकी) दुगनी (होती है)।

(सर०) उल्लोप्यक भी मद्रक और अपरान्तक की तरह एककल, द्विकल और चतुष्कल तीनों प्रकार का होता है। इसका प्रमुख अंग मात्रा है और उसी के तीन भेदों के आधार पर उल्लोप्यक तीन तरह होता है।

एककल की (पारिभाषिकी) मात्रा में दो गुरु, दो लघु और एक गुरु—यों कुल ४ कला होती हैं और वह मात्रा से ही समाप्त हो जाता है। द्विकल में उसकी दुगनी यानी ८ गुरु कलाएँ और चतुष्कल में द्विकल की दुगनी यानी १६ कलाएँ होती हैं।

मात्रापूर्वदले कार्यो विविधो मुखसंज्ञकः।
पश्चिमार्धे प्रतिमुखं विविधो वृत्तसंयुतः॥ १०८।

१०८. (अ०) मात्रा-पूर्वदले मात्रा के पूर्वार्ध में मुखसंज्ञकः विविधः कार्यः मुख संज्ञा वाला विविध (गीतांग) करना चाहिये। पश्चिम-अर्धे उत्तरार्ध में प्रतिमुखं प्रतिमुख (संज्ञा वाला) वृत्तसंयुतः विविधः वृत्त सहित विविध (प्रयुक्त होता है)।

(सर०) मात्रा के दो दल यानी दो भाग होते हैं जो मुख और प्रतिमुख कहलाते हैं। एककल में मात्रा के दो गुरुओं में मुख और दो लघु तथा एक गुरु में प्रतिमुख का विभाजन होता है। मुख में विविध नामक गीतांग होता है और प्रतिमुख में विविध और वृत्त गीतांग। ग्रन्थकार ने इसी आशय से पूवार्ध में विविध को मुख और उत्तरार्ध में वृत्तसहित विविध को प्रतिमुख कहा है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

वृत्तं तिस्त्रश्चतस्त्रो वा पञ्च षड्वा विदारिकाः।
अवगाढं प्रवृत्तं च तद् द्विधेति निरूपितम्॥ १०९॥

आद्यमारोहिवर्णेन प्रवृत्तमवरोहिणा।

१०९-११० ख. (अ०) वृत्तं वृत्त, तिस्त्रः चतस्त्रः वा तीन या चार (अथवा) पञ्च षद् वा विदारिकाः पाँच या छ विदारियों वाला (होता है और) तत् वह अवगाढं प्रवृत्तं च अवगाढ और प्रवृत्त इति यों द्विधा निरूपितं दो तरह से निरूपित (हुआ है।) आद्यं पहला (अवगाढ) आरोहिवर्णेन आरोही वर्ण से (और) प्रवृत्तम् अवरोहिणा प्रवृत्त अवरोही (वर्ण) से (होता है)।

(सर०) विविध गीतांग में दो विदारी होती हैं, यह पहले कहा जा चुका है। उल्लोप्यक में वृत्त में ३, ४, ५ या ६ विदारियाँ हो सकती हैं। लेकिन मात्रा के उत्तरार्ध यानी २ लघु १ गुरु में विदारियों की अवधि नहीं बताई। वृत्त में आरोही वर्ण पर आधारित स्वररचना होने से अवगाढ नामक वृत्त भेद और अवरोही वर्ण की स्वरसंरचना से प्रवृत्त नामक वृत्त भेद होता है।

न्यासापन्याससंन्यासविन्यासानां तु कुत्रचित्॥ ११०॥

न्यासोऽस्यांशेऽस्य संवादिन्यनुवादिनि वा भवेत्।
अनन्तरस्वैरेकान्तरितैर्वा समापनम्॥ १११॥

विदारीणां भवेदत्रेत्यभ्यधात्तु विशाखिलः।
अत्र न्यासमपन्यासमंशं संवादिनं तथा॥ ११२॥

उपक्रम्य चतुर्धा स्यादारोहो वावरोहणम्।

११० ग-११३ ख. (अ०) अस्य इस (वृत्त) का न्यासः न्यास (समाप्ति) न्यास-अपन्याससन्यासविन्यासानां तु कुत्रचित् न्यास, अपन्यास, संन्यास और विन्यास (स्वरों) में से तो कहीं भी (हो सकता है) अंशे (अथवा) अंश (स्वर) में अस्य संवादिनि अनुवादिनि वा अथवा इस (अंश) के संवादी (या) अनुवादी पर भवेत् होता है। अत्र इसमें विदारीणां समापनं विदारियों की समाप्ति अनन्तरस्वैः एक छोड़ कर दूसरे (स्वर) से भवेत् होती है इति ऐसा विशाखिलः तु विशाखिल ने तो अभ्यधात् कहा। अत्र इसमें आरोहः अवरोहणं वा आरोह या अवरोह न्यासम् अपन्यासम् अंशं तथा संवादिनम् उपक्रम्य न्यास, अपन्यास, अंश और संवादी (में से किसी एक) से शुरू करके चतुर्धा स्यात् चार प्रकार से होता है।

(सर०) गीतकों की समाप्ति के सन्बन्ध में पहले कहे गये सामान्य नियम के आधार पर सिंह० ने कहा कि राग की जनक जाति के न्यास आदि या अंश आदि में से किसी भी स्वर पर समाप्ति हो सकती है। कल्लि० ने भी राग के न्यास आदि या अंश आदि पर समाप्ति कही है। वृत्त की विदारियों की समाप्ति के लिये ग्रन्थकार ने विशाखिल के मत से दो विकल्प बताये हैं। एक, अनन्तर स्वर पर यानी अंश के बाद वाले स्वर पर और दूसरा एकान्तरित यानी अंश के बाद एक छोड़ कर उससे अगले स्वर पर। सिंह० ने संवादी, अनुवादी के अनन्तर या एकान्तरित अर्थ दिया है और कल्लि० ने अंश के अनन्तर या एकान्तरित कहा है।

अवगाढ़ और प्रवृत्त में क्रम से आरोह और अवरोह स्वरसंयोजन के लिये यानी विदारियाँ कहाँ से शुरू की जायँ इसके लिये ग्रन्थकार ने चार विकल्प दिये हैं—१. न्यास स्वर से अथवा २. अपन्यास से अथवा ३. अंश से अथवा ४. अंश के संवादी से।

वैहायसं विधातव्यं मात्रोपरि चतुष्कले॥ ११३॥

यद्वा कलाप्रयोगेण शून्यान्मात्रोपरिस्थितात्।
कलाचतुष्ककालात् स्यादेककत्रितयादिदम्॥ ११४॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

११३ ग-११४. (अ०) चतुष्कले चतुष्कल (उल्लोप्यक) में **मात्रा-उपरि** मात्रा के बाद **वैहायसं विधातव्यं** वैहायस (नामक अंग) का विधान करना चाहिये। **यत् वा** अथवा **इदं** यह (वैहायस) **मात्रा-उपरिस्थितात्** मात्रा के बाद स्थित **कलाप्रयोगेण शून्यात्** क्रियाओं के प्रयोग के बिना **एककत्रितयात्** तीन एककों से (युक्त) **कलाचतुष्ककालात्** चार कलाओं (गुरुओं) के काल के बाद **स्यात्** होता है।

(सर०) वैहायस १२ कला का तालांग है जो उल्लोप्यक के चतुष्कल भेद में ही १६ कला वाली मात्रा के बाद होता है। ग्रन्थकार ने एक अन्य मत के अनुसार इसका प्रयोग इस प्रकार बताया है। मात्रा के बाद ४ कलाएँ, आगे वैहायस में कही जाने वाली क्रियाओं के बिना होती हैं जिसमें तीन एकक गीतांग होते हैं और उसके बाद वैहायस होता है। इसका अर्थ यह है कि ४+१२=१६ कलाओं का वैहायस होता है। लेकिन ग्रन्थकार के अनुसार वैहायस क्रियारहित ४ कलाओं के बिना १२ कला का ही होता है।

एकाङ्गादिषडङ्गान्तं द्वादशाङ्गान्तमप्यदः।
विविधोऽस्याद्यमङ्गं स्यादेककानि ततः परम्॥ ११५॥

तद् द्वादशकलं प्रोक्तमुल्लोप्यकसमापकम्।

११५-११६ ख. (अ०) **अदः** यह (वैहायस) **एक-अङ्गादिषट्-अङ्गान्तम्** एक अंग से लेकर छ अंगों तक वाला (और) **द्वादश-अङ्गान्तम् अपि** बारह अंगों तक भी (होता है)। **अस्य** इसका **आद्यम् अङ्गं** पहला अंग **विविधः स्यात्** विविध होता है। **ततः परम्** उसके बाद **एककानि** एकक (होते हैं)। **तत्** वह **द्वादशकलं** बारह कला वाला (वैहायस) **उल्लोप्यकसमापकम्** उल्लोप्यक (की मात्रा) की समाप्ति करने वाला (होता है)।

(सर०) वैहायस में १ से लेकर ६ तक या १२ तक अंग हो सकते हैं। अंग का तात्पर्य वर्णांग (गीतांग) से है। इनमें से पहला गीतांग विविध यानी दो विदारी वाला होता है और शेष एकक यानी एक विदारी वाले होते हैं। वैहायस १२ कलाओं में होता है।

कल्लि० ने षडङ्गान्तं और द्वादशाङ्गान्तं का यह अर्थ किया है कि वैहायस एक पक्ष में ६ भेदों से युक्त और दूसरे पक्ष में १२ भेदों से युक्त होता है।

वर्णानुकर्षणं तालावृत्तिश्चाङ्गनिवेशने॥ ११६॥

यद्वा शाखेयमुदिता मात्रा वैहायसात्मिका।
शाखैव प्रतिशाखोक्ता सा त्वन्यपदनिर्मिता॥ ११७॥

११६ ग-११७. (अ०) **अङ्गनिवेशने** (विविध आदि) अंगों के प्रयोग में **वर्ण-अनुकर्षणं** गीति का विस्तार **ताल-आवृत्तिः च** और ताल की आवृत्ति (की जाती है)। **यत् वा** अथवा (किसी मत में) **वैहायस-आत्मिका** वैहायस स्वरूप वाली **इयं मात्रा** यह मात्रा **शाखा उदिता** शाखा कही गई (है)। **सा** वह **शाखा एव** शाखा ही **अन्यपदनिर्मिता तु** भिन्न पदों से बनी (होने पर) तो **प्रतिशाखा उक्ता** प्रतिशाखा कही गई (है)।

(सर०) **वर्णानुकर्षणं** का अर्थ कल्लि० ने अक्षरों का पुनरुच्चारण किया है। लेकिन यहाँ 'वर्ण' गीति यानी स्वररचना के लिये प्रयोग किया गया है। जिसका 'अनुकर्षण' यानी विस्तार करना अभिप्रेत है। ग्रन्थकार के इस 'वर्णानुकर्षण' का आधार ना०शा० है (३१ / १९८ग-१९९ख) जहाँ १६ कला वाली मात्रा में कई अंगों की योजना करने के लिये मात्रा को डेढ़गुना या ढाई गुना बढ़ाने की बात कही गई है और वैहायस में भी अंगों की योजना इसी तरह करने का उल्लेख है। ऐसा करने से ताल का ढाँचा बढ़ता है जिसमें ताल की आवृत्ति हो यह स्वाभाविक है। वैहायस के इन्हीं दो पक्षों को ग्रन्थकार ने वर्णानुकर्षण और तालावृत्ति के द्वारा सूचित किया है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

शाखा-प्रतिशाखा सम्बन्धी विकल्प को यत् वा से व्यक्त किया गया है। आशय यह है कि अगर वैहायस सहित मात्रा हो तो उसे शाखा और भिन्न पदों से उसकी आवृत्ति को प्रतिशाखा कहा जाता है।

आनन्द० और आड्यार संस्करणों में 'तालावृत्तिर्वाङ्गनिवेशने' पाठ है। दोनों टीकाकारों ने 'वाङ्ग' के स्थान पर 'चाङ्ग' पाठ का ग्रहण करके अर्थ किया है। यही पाठ संगत है क्योंकि, जैसा ऊपर कहा गया, वैहायस में वर्णानुकर्षण होने पर तालरचना बढ़ जाती है और तालक्रियाओं की आवृत्ति होती है। तदनुरूप हमने चाङ्ग पाठ रखा है।

ततोऽन्ताहरणं प्रोक्तं पञ्चपाणौ यथाक्षरे।
एतत्संहरणं प्रोक्तं गीतकस्य समाप्तिकृत्॥ ११८॥

वृत्तं संहरणेऽत्र स्यादन्यदा त्वेककं भवेत्।
विविधो वा,

११८-११९ ग. (अ०) ततः उसके बाद यक्षाक्षरे पञ्चपाणौ यथाक्षर पंचपाणि (ताल) में अन्ताहरणं प्रोक्तम् अन्ताहरण (नामक अंग) कहा गया (है)। एतत् यह संहरणं प्रोक्तं संहरण (भी) कहा गया (है और यह) गीतकस्य समाप्तिकृत् गीतक की समाप्ति करने वाला (होता है)। अत्र संहरणे इस संहरण में वृत्तं स्यात् वृत्त (गीतांग) होता है। अन्यदा तु अन्य (स्थिति) में तो एककं विविधः वा भवेत् एकक या विविध होता है।

(सर०) वैहायस के बाद अन्ताहरण होता है जो तालांग है और इसमें यथाक्षर पंचपाणि ताल प्रयुक्त होता है। जब यह गीतक का अन्तिम अंग होता है तो संहरण कहलाता है और इसी से गीत समाप्त होता है। अगर अन्ताहरण संहरण हो यानी अन्तिम अंग हो तो इसमें वृत्त गीतांग होता है और अन्तिम न हो यानी इसके बाद और कोई अंग हो तो एकक या विविध हो सकता है।

त्रिधाऽन्तोऽथ युगयुङ्मिश्रभेदतः॥ ११९॥

युग्मोऽन्तः प्रथमस्तेषां त्र्यश्र इत्याह दत्तिलः।
स्थितं प्रवृत्तमपरं महाजनिकमित्यपि ॥ १२०॥

त्रीण्यङ्गानि पृथक् तेषां लक्षणं प्रतिपाद्यते।

११९ ग-१२१ ख. (अ०) अथ इस (अन्ताहरण) के बाद युक्-अयुक्-मिश्रभेदतः युग्म, अयुग्म (और) मिश्र भेद से अन्तः अन्त (नामक अंग) त्रिधा तीन प्रकार से (होता है)। तेषाम् उनमें से युग्मः अन्तः युग्म अन्त प्रथमः पहला (है)। दत्तिलः दत्तिल ने त्र्यश्रः त्र्यश्र (पहला है) इति आह ऐसा कहा। स्थितं प्रवृत्तं स्थित, प्रवृत्त अपरं महाजनिकम् (और) अन्य महाजनिक इति अपि ये भी पृथक् अलग (हरेक के) त्रीणि अङ्गानि तीन अंग (होते हैं)। तेषाम् उनके लक्षणं लक्षण का प्रतिपाद्यते प्रतिपादन किया जा रहा है।

(सर०) अगर संहरण ने हो, अन्ताहरण ही हो तो उसके बाद अन्त नामक तालांग होता है जो युग्म (चतुरश्र), अयुग्म (त्र्यश्र) और मिश्र (युग्म और अयुग्म का मिश्रण)—यों तीन प्रकार का होता है। इन तीनों के ये ३-३ अंग होते हैं—स्थित, प्रवृत्त और महाजनिक।

भरत के अनुसार युग्म पहला है यानी पहले युग्म, फिर अयुग्म और फिर मिश्र अन्त का प्रयोग किया जाता है। दत्तिल ने अयुग्म, युग्म और मिश्र का क्रम कहा है।

युग्मे द्विकलयुग्मेन स्थितं स्थायिगतं मतम्॥ १२१॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

तेनैव तत्प्रवृत्तं स्यादुद्घट्टस्तत्कलात्रये।
आद्ये कलाचतुष्केऽन्त्ये पदानि प्राञ्चि योजयेत्॥ १२२॥

विविधोऽस्याद्यभागे स्यादेककं तु ततः परम्।
पूर्वार्धस्थपदावृत्त्या युङ्महाजनिकं विदुः॥ १२३॥

स्थिततालयुतं तस्य गीताङ्गनियमो न वा।

१२१ ग-१२४ ख. (अ०) युग्मे युग्म में स्थितं स्थित (अंग) द्विकलयुग्मेन द्विकल चच्चत्पुष्ट से (और) स्थायिगतं मतं स्थायी (वर्ण) में माना गया (है)। तेन एव उसी (द्विकल चच्चत्पुट) से तत् प्रवृत्तं वह (युग्म) प्रवृत्त स्यात् होता है। तत् उसकी आद्ये कलात्रये शुरू की तीन कलाओं में उद्घट्टः उद्घट्ट (होता है)। अन्त्ये कलाचतुष्के अन्तिम चार कलाओं में प्राञ्चि पदानि शुरू (की चार कलाओं) के पद योजयेत् योजित करने चाहियें। अस्य आद्यभागे इसके पहले भाग में विविधः स्यात् विविध होता है। ततः परं तु उसके बाद (दूसरे भाग में) तो एककम् एकक (होता है)।

युक् महाजनिकं युग्म महाजनिक पूर्वार्धस्थ पूर्वार्ध में स्थित पद-आवृत्त्या पदों की आवृत्ति से (और) स्थिततालयुतं (युग्म) स्थित के ताल से युक्त विदुः जानते हैं (जाना जाता है) तस्य च और उसका गीताङ्गनियमः गीतांग का (नियत) नियम न वा नहीं (होता)।

(सर०) प्रस्तुत कारिकाओं में अन्त अंग के तीन भेदों—युग्म, अयुग्म और मिश्र में से युग्म के तीन अंगों स्थित, प्रवृत्त और महाजनिक के लक्षण दिये हैं। युग्म का अर्थ चतुरश्र है और चच्चत्पुट ताल चतुरश्र कही जा चुकी है। इसलिये युग्म अन्त के तीनों अंगों में द्विकल चच्चत्पुट का प्रयोग होता है और इस प्रकार इसमें कुल ८×३=२४ कला होती हैं। स्थित में स्थायी वर्ण की स्वरयोजना होती है लेकिन किसी विशेष गीतांग का नियम नहीं कहा है इसलिये इच्छानुसार एकक, विविध आदि का योग समझना चाहिये।

युग्म प्रवृत्त की शुरू की तीन कलाओं में उद्घट्ट ताल यानी उसकी निष्क्राम, शम्या, शम्या क्रियाओं का प्रयोग करना अपेक्षित है। पद और स्वर की दृष्टि से युग्म प्रवृत्त में ४-४ कलाओं के दो भाग हैं। पहले भाग के पदों की दूसरे भाग में आवृत्ति होती है और पहले भाग में विविध और दूसरे भाग में एकक गीतांग होता है।

युग्म महाजनिक में युग्म प्रवृत्त की तरह पूर्वार्ध के पदों की उत्तरार्ध में आवृत्ति होती है और युग्म स्थित की तरह द्विकल चच्चत्पुट का प्रयोग होता है तथा स्थित की तरह गीतांग का नियम नहीं होता।

ये तीनों अंग चच्चत्पुट तालयुक्त तो हैं लेकिन स्थित और महाजनिक में द्विकल चच्चत्पुट होता है और प्रवृत्त में पहले उद्घट्ट और बाद में एककल चच्चत्पुट प्रयुक्त होता है।

त्र्यश्रेऽन्ते त्र्यश्रतालेन द्विकलेन स्थितं भवेत्॥ १२४॥

यथाक्षरेणोत्तरेण प्रवृत्तं तत्र कीर्तितम्।
त्र्यश्रेण महाजनिकं महाजनिकवन्मतम्॥ १२५॥

१२४ ग-१२५. (अ०) त्र्यश्रे अन्ते अयुग्म अन्त में स्थितं स्थित (अंग) द्विकलेन त्र्यश्रतालेन द्विकल चाचपुट ताल से भवेत् होता है। तत्र उसमें प्रवृत्तं प्रवृत्त यथाक्षरेण उत्तरेण यथाक्षर उत्तर (ताल) से कीर्तितं जाना गया (है)। महाजनिकं महाजनिक त्र्यश्रेण चाचपुट से (और) महाजनिकवत् (युग्म) महाजनिक की तरह (पदों की आवृत्ति से युक्त) मतं माना गया (है)।

(सर०) त्र्यश्र अन्त के तीनों अंगों से द्विकल चाचपुट का प्रयोग कहा गया है जिसमें ६ कला होती हैं इसलिये कुल

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

६×३=१८ कला का त्र्यश्र अन्त होता है। कलाएँ तो तीनों में ६-६ ही हैं लेकिन ताल भिन्न हैं। त्र्यश्र स्थित में द्विकल चाचपुट, प्रवृत्त में यथाक्षर उत्तर और महाजनिक में चाचपुट। महाजनिक में त्र्यश्र ताल कहा है लेकिन एककल या द्विकल नहीं बताया। दोनों टीकाकारों ने द्विकल चाचपुट कहा है। पदों की आवृत्ति युग्म महाजनिक की तरह कहने का आशय यह है कि जैसे युग्म में पूर्वार्ध के पद उत्तरार्ध में आवृत्त होते हैं उसी तरह अयुग्म में भी होता है। लेकिन ६ कला का होने से ३-३ कला के दो अर्ध होते हैं और उनमें से पहले की दूसरे में आवृत्ति होती है।

मिश्रोऽन्तः षड्विधः प्रोक्तो युग्मायुग्माङ्गमिश्रणात्।

१२६ क-ख. (अ०) युग्म-अयुग्म-अङ्गमिश्रणात् युग्म (और) अयुग्म के अंगों के मिश्रण से **मिश्रः अन्तः** मिश्र अन्त **षट्-विधः प्रोक्तः** ६ प्रकार का कहा गया (है)।

(सर०) दोनों टीकाकारों ने मिश्र अन्त के ६ प्रकार दिये हैं। ये प्रकार यों हैं—

१.	युग्म स्थित	+	युग्म प्रवृत्त	+	अयुग्म महाजनिक
२.	,, ,,	+	अयुग्म प्रवृत्त	+	,, ,,
३.	,, ,,	+	,, ,,	+	युग्म ,,
४.	अयुग्म स्थित	+	युग्म ,,	+	,, ,,
५.	,, ,,	+	,, ,,	+	अयुग्म ,,
६.	,, ,,	+	अयुग्म ,,	+	युग्म ,,

एककं विविधो वा स्यादनुक्ताङ्गस्थितादिषु॥ १२६॥

विविधाभ्यां वैककाभ्यां यद्वा युग्मस्थितं भवेत्
अयुगन्यतराङ्गं स्यात् प्रवृत्तं स्थितवन्मतम्॥ १२७॥

प्रवृत्ताभ्यां प्रवृत्तेन युगयुग्मं परेऽब्रुवन्।
महाजनिकमन्तः स्याद् द्व्यङ्ग एकाङ्गकः परम्॥ १२८॥

द्व्यङ्गो यदा तदान्तः स्यान्महाजनिकवर्जितः।
स्थितप्रवृत्तहीनोऽयं, यदैकाङ्गश्चिकीर्षितः॥ १२९॥

१२६ ग-१२९. (अ०) अनुक्त- अङ्गस्थित-आदिषु (जिनमें) अंग (का नियम) कहा नहीं गया ऐसे स्थित आदि (स्थित, प्रवृत्त, महाजनिक अंगों) में **एककम्** एकक **विविधः वा** या विविध (गीतांग इच्छानुसार) **स्यात्** होता है। **युग्मस्थितं** युग्मस्थित **विविधाभ्यां वा** या तो दो विविधों से **यत् वा** अथवा **एककाभ्यां** दो एककों से **भवेत्** होता है। **अयुक्** अयुग्म (स्थित) **अन्यतर-अङ्गं** दो में से किसी एक अंग वाला **स्यात्** होता है। **प्रवृत्तं** प्रवृत्त **स्थितवत् मतं** स्थित जैसा माना गया (है)। **युक् अयुग्मं महाजनिकम्-अन्तः** युग्म, अयुग्म महाजनिक वाला अन्त **प्रवृत्ताभ्यां प्रवृत्तेन स्यात्** (क्रम से) दो प्रवृतों से (और) एक प्रवृत्त से होता है, **परे अब्रुवन्** (ऐसा) अन्य आचार्यों ने कहा। **परं** फिर वह **द्व्यङ्गम् एकाङ्गं** दो अंग वाला और एक अंग वाला (होता है)। **यदा द्व्यङ्गः** जब दो अंग वाला (हो) **तदा** तब **महाजनिकवर्जितः स्यात्** महाजनिक के बिना होता है। **यदा** जब **अयं** यह **एकाङ्गं** एक अंग वाला (हो तो) **स्थितप्रवृत्तहीनः** स्थित और प्रवृत्त के बिना **चिकीर्षितः** करने के लिये इच्छित है।

(सर०) इन श्लोकों में स्थित आदि अंगों में एकक, विविध गीतांगों की योजना से संबन्धित सामान्य नियम कहे गये हैं। अगर स्थित आदि में इनका नियम कहा न गया हो तो इच्छानुसार एकक या विविध का प्रयोग हो सकता है। युग्म स्थित में या तो दो विविध होते हैं या दो एकक। अयुग्म में एक वर्णांग होता है और वह एकक या विविध हो सकता है। प्रवृत्त के युग्म, अयुग्म प्रकारों में स्थित की तरह ही गीतांग होते हैं यानी या तो दो विविध या दो एकक। युग्म महाजनिक में दो प्रवृत्त

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

और अयुग्म महाजनिक में एक प्रवृत्त होता है। प्रवृत्त से तात्पर्य वृत्त के दो भेदों—प्रवृत्त और अवगाढ—में से एक से है जिसमें अवरोही वर्ण के स्वरसंचार होते हैं। महाजनिक संबन्धी यह नियम शार्ङ्ग० ने अन्य आचार्यों के मत से दिया है। जब दो अंगों वाला अन्त होता है तो उसमें स्थित और प्रवृत्त होते हैं, महाजनिक नहीं होता। एकांग अन्त में सिर्फ़ महाजनिक होता है।

शताशतासमित्येककल उल्लोप्यके कलाः।
द्विकले स्युर्निशनिता शतानिसमिति क्रमात्॥ १३०॥

चतुष्कले त्वानिविशास्तत आनिविताः क्रमात्।
भवन्त्याशविता आनिविसं मात्रां गताः कलाः॥ १३१॥

वैहायसे तु निविशनिवितानिशताशताः।
संनिपातश्चेति कलाः स्थिते निः पञ्चमो भवेत्॥ १३२॥

शताशतासंनिपाताः प्रवृत्ते त्रिकलादनु।
त्र्यश्रे स्थिते चतुर्थः प्र इत्युल्लोप्ये कलाविधिः॥ १३३॥

वैहायसादिनिर्मुक्तमथवा स्याच्चतुष्कलम्।

१३०-१३४ ख. (अ०) शताशतासम् इति शम्या, ताल, शम्या, ताल, संनिपात—यह एककले उल्लोप्यके एककल उल्लोप्यक (मात्रा) में कलाः सशब्द क्रियाएँ (होती हैं) द्विकले द्विकल में निशनिताः निष्क्राम, शम्या, निष्क्राम और ताल शतानिसं शम्या, ताल, निष्क्राम, संनिपात इति क्रमात् इस क्रम से स्युः (कलाएँ) होती हैं। चतुष्कले तु चतुष्कल में तो क्रमात् क्रम से आनिविशाः आवाप, निष्क्राम, विक्षेप और शम्या, ततः उसके बाद आनिविताः आवाप, निष्क्राम, विक्षेप और ताल, आशविताः आवाप, शम्या, विक्षेप और ताल, आनिविसम् आवाप, निष्क्राम, विक्षेप, संनिपात मात्रां गताः मात्रा में रहने वाली कलाः भवन्ति कलाएँ (कियाएँ) होती हैं।

वैहायसे तु वैहायस में तो निविशनिवितानिशताशताः संनिपातः च निष्क्राम, विक्षेप, शम्या, निष्क्राम, विक्षेप, ताल, निष्क्राम, शम्या, ताल, शम्या और ताल तथा संनिपात इति कलाः इस प्रकार सशब्द-निःशब्द क्रियाएँ (होती हैं)।

स्थिते (युग्म) स्थित में पञ्चमः निः भवेत् पाँचवाँ निष्क्राम होता है। प्रवृत्ते प्रवृत्त में त्रिकलात् अनु तीन कलाओं के बाद शताशतासंनिपाताः शम्या, ताल, शम्या, ताल और संनिपात (होते हैं)। त्र्यश्रे स्थिते अयुग्म स्थित में चतुर्थः प्रः चौथा प्रवेश (होता है)। इति इस प्रकार उल्लोप्यके उल्लोप्यक में कलाविधिः क्रियाओं की विधि (होती है)।

अथवा अथवा चतुष्कलं चतुष्कल (उल्लोप्यक) वैहायस-आदिनिर्मुक्तं स्यात् वैहायस आदि के बिना होता है।

(सर०) यहाँ उल्लोप्यक की एककल, द्विकल, चतुष्कल मात्राओं की और दूसरे अंगों की कलाविधि का निरूपण किया है।

एककल मात्रा में एककल चच्चत्पुट की शम्या से शुरू होने वाली क्रियाएँ यानी शताशता और अन्त में संनिपात होता है। द्विकल मात्रा में द्विकल चच्चत्पुट की क्रियाएँ ही दिखाई देती हैं लेकिन छठी क्रिया प्रवेश के बजाय ताल है। चतुष्कल में चतुष्कल चच्चत्पुट की ही क्रियाओं में बारहवीं प्रवेश के बजाय ताल है।

युग्म स्थित में द्विकल चच्चत्पुट की ही क्रियाओं निशनिताशप्रनिसं में पाँचवी शम्या के बजाय निष्क्राम होती है।

प्रवृत्त में शुरू की तीन कलाओं में उद्घट्ट कहा जा चुका है इसलिये 'त्रिकलात् अनु' के द्वारा निशश के बाद शेष पाँच कलाओं में शताशतासं कहा गया है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अयुग्म स्थित की ६ कलाओं में द्विकल चाचपुट कहा जा चुका है। उसकी निशताशनिसं में चौथी क्रिया प्रवेश कही है इसलिये निशताप्रनिसं क्रियाएँ होंगी।

अन्तान्तमन्ताहरणप्रान्तं वैहायसान्तिमम्॥ १३४॥

मात्रामात्रमिति प्रोक्तं तच्चतुर्धा पुरातनैः।

१३४ ग-१३५ ख. (अ०) तत् वह (उल्लोप्यक) पुरातनैः प्राचीनों (प्राचीन आचार्यों) के द्वारा **अन्त-अन्तम्** अन्त (नामक अंग) से समाप्त होने वाला, **अन्ताहरणप्रान्तम्** अन्ताहरण अन्तिम वाला (अर्थात् अन्ताहरण से समाप्त होने वाला), **वैहायस-अन्तिमं** वैहायस अन्तिम (अंग) वाला, **मात्रामात्रं** केवल मात्रा वाला **इति** यों **चतुर्धा प्रोक्तं** चार प्रकार से कहा गया (है)।

(सर०) अन्तिम अंग के आधार पर उल्लोप्यक ४ प्रकार का हो सकता है—१. अन्त अंग से समाप्त होने वाला अन्तान्त, २. अन्ताहरण से समाप्त होने वाला अन्ताहरणान्त, ३. वैहायस से समाप्त होने वाला वैहायसान्त और ४. मात्रा से ही समाप्त होने वाला मात्रामात्र यानी मात्रान्त।

(मात्रामात्रमुल्लोप्यकम्)

प्रस्तारः —

ऽ ऽ । । ऽ
श ता श ता सं । इत्येककलोल्लोप्यक मात्रा।

ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ
नि श नि ता श ता नि सं । इति द्विकल मात्रा।

ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ
आ नि वि श आ नि वि ता आ श वि ता आ नि वि सं । इति चतुष्कलमात्रा।

इति मात्रामात्रमुल्लोप्यकम्

मात्रामात्र उल्लोप्यक

(अ०) **प्रस्तार** : प्रस्तार (यह है)।

इति यह **एककल-उल्लोप्यकमात्रा** एककल उल्लोप्यक (की) मात्रा (है)।

इति यह **द्विकलमात्रा** द्विकल मात्रा (है)।

इति यह **चतुष्कलमात्रा** चतुष्कल मात्रा है।

(सर०) एककल, द्विकल, चतुष्कल मात्राओं के द्वारा मात्रामात्र उल्लोप्यक के प्रस्तार ऊपर दिये गये हैं। नीचे तालांग और गीतांग सहित इनके प्रस्तार दिये जा रहे हैं। उल्लोप्यक में उपोहनादि नहीं होते इसलिये सभी भेदों में केवल स्तुतिपद समझ लेने चाहियें।

एककल मात्रान्त

मुख	प्रतिमुख
ऽ ऽ	। । ऽ
श ता	श ता सं
विविध	विविध व वृत्त

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

द्विकल मात्रान्त

मुख	प्रतिमुख
ऽ ऽ ऽ ऽ	ऽ ऽ ऽ ऽ
नि श नि ता	श ता नि सं
विविध	विविध व वृत्त

चतुष्कल मात्रान्त

मुख		प्रतिमुख	
ऽ ऽ ऽ ऽ	ऽ ऽ ऽ ऽ	ऽ ऽ ऽ ऽ	ऽ ऽ ऽ ऽ
आ नि वि श	आ नि वि ता	आ श वि ता	आ नि वि सं
विविध		विविध व वृत्त	

मात्रामात्र (मात्रान्त) उल्लोप्यक समाप्त

(वैहायसान्तमुल्लोप्यकम्)

ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ
आ नि वि श आ नि वि ता आ श वि ता आ नि वि सं। चतुष्कलमात्रा = शाखा

ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ
नि वि श नि वि ता नि श ता श ता सं । वैहायसम्

इति वैहायसान्तं चतुष्कलमुल्लोप्यकम्

शून्यकलाचतुष्कलानन्तरं वैहायसरूपम्। चतुष्कला मात्रा।

ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ
आ नि वि श आ नि वि ता आ श वि ता आ नि वि सं । शाखा॥

ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ
नि विं श नि वि ता नि श ता श ता सं । वैहायसम्॥

एवमेव पदानन्तरनिर्मिता प्रतिशाखा।

इति वैहायसान्तमुल्लोप्यकम्।

(अ०) शून्यकला चतुष्कला-अनन्तरं क्रियाओं से शून्य (रहित) चार कलाओं के बाद वैहायसरूपं वैहायस के रूप वाला— एवम् एव ऐसी ही पदान्तरनिर्मिता प्रतिशाखा भिन्न पदों से बनी प्रतिशाखा (होती है)।

(सर०) वैहायसान्त उल्लोप्यक का प्रस्तार शुद्ध करके दिया है। (मुद्रित प्रस्तार अध्याय के अन्त में ९ देखें)

वैहायसान्त उल्लोप्यक समाप्त

(अन्ताहरणान्तमुल्लोप्यकम्)

ततः संहरणाख्यमन्ताहरणम्।

ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ
आ नि वि श आ नि वि ता आ श वि ता आ नि वि सं । चतुष्कलमात्रा।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ
नि वि श नि वि ता नि श ता श ता सं । वैहायसम्॥

ऽे । ऽ ऽ । ऽे
सं ता श ता श ता । अन्ताहरणम्॥

इति संहरणाख्यमन्ताहरणम् इत्यन्ताहरणान्तमुल्लोप्यकम्।

अन्ताहरणान्त उल्लोप्यक

(अ०) ततः उसके बाद संहरण-आख्यम् अन्ताहरणं संहरण नामक अन्ताहरण (होता है)।

इति इस प्रकार संहरण-आख्यम् अन्ताहरणं संहरण नामक अन्ताहरण वाला इति अन्ताहरणान्तम् उल्लोप्यकम् अन्ताहरणान्त उल्लोप्यक समाप्त।

अन्ताहरणान्त उल्लोप्यक समाप्त

अथ युग्मस्यान्तस्य अयुग्मस्य च त्रयो भेदाः स्थितं प्रवृत्तं महाजनिकं चेति।

युग्म स्थितं — ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ
नि श नि ता नि प्र नि सं ॥

युग्मप्रवृत्तं — ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ
नि श श श ता श ता सं ॥

युग्ममहाजनिकं — ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ
नि श नि ता नि प्र नि सं ॥

अयुग्मस्थितं — ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ
नि श ता प्र नि सं ॥

अयुग्मप्रवृत्तं — ऽे । ऽ ऽ । ऽे
सं ता श ता श ता ॥

अयुग्ममहाजनिकं — ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ
नि श ता प्र नि सं ॥

(अ०) अथ अब युग्मस्य अन्तस्य युग्म अन्त अयुग्मस्य च और अयुग्म (अन्त) के स्थितं प्रवृत्तं महाजनिकं च इति स्थित, प्रवृत्त और महाजनिक ये त्रयः भेदाः तीन भेद। (भेदों के प्रस्तार ऊपर देखें)

तत्र युग्मस्थितान्तमुल्लोप्यकं यथा—

चतुष्कलमात्रा — ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ
आ नि वि श आ नि वि ता आ श वि ता आ नि वि सं ।

वैहायसं — ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ
नि वि श नि वि ता नि श ता श ता सं ।

युग्मस्थितं — ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ
नि श नि ता नि प्र नि सं ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(अ०) तत्र उनमें (से) युग्मस्थित-अन्तम्-उल्लोप्यकं युग्मस्थित अन्त वाला उल्लोप्यक यथा इस प्रकार (होता है)। (प्रस्तार ऊपर देखें।)

(सर०) मुद्रित प्रस्तार में चतुष्कलमात्रा से पहले यह अंश है— ऽ । ऽ ऽ । ऽ
सं ता श ता श ता। इदमेव वैहायसम्। यह अनावश्यक है इसलिये हमने छोड़ दिया है।

युग्मप्रवृत्तान्तमुल्लोप्यकं यथा—

चतुष्कलमात्रा— ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ
आ नि वि श आ नि वि ता आ श वि ता आ नि वि सं ।

वैहायसं — ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ
नि वि श नि वि ता नि श ता श ता सं ।

युग्मप्रवृत्तं — ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ
नि श श श ता श ता सं ।

(अ०) युग्मप्रवृत्त-अन्तम् उल्लोप्यकं यथा युग्म प्रवृत्त अन्त वाला उल्लोप्यक इस प्रकार (है)। (प्रस्तार ऊपर देखें)

(सर०) इसके बाद मुद्रित पाठ में युग्म महाजनिकान्त, अयुग्मस्थितान्त, अयुग्मप्रवृत्तान्त और अयुग्ममहाजनिक अस्तव्यस्त और अशुद्ध हैं। यहाँ इनके प्रस्तार ग्रन्थोक्त लक्षण और कल्लि० की व्याख्या के आधार पर शुद्ध करके दिये हैं। मुद्रित पाठ अध्याय के अन्त में (१०) देखें।

अथ युग्ममहाजनिकान्तमुल्लोप्यकं यथा चतुष्कलमात्रावैहायसयोरनन्तरं—

चतुष्कलमात्रा — ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ
आ नि वि श आ नि वि ता आ श वि ता आ नि वि सं ।

वैहायसं — ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ
नि वि श नि वि ता नि श ता श ता सं ।

युग्ममहाजनिकं — ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ
नि श नि ता नि प्र नि सं ।

अथायुग्मस्थितान्तमुल्लोप्यकं यथा चतुष्कलमात्रावैहायसयोरनन्तरं—

चतुष्कलमात्रा — ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ
आ नि वि श आ नि वि ता आ श वि ता आ नि वि सं ।

वैहायसं — ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ
नि वि श नि वि ता नि श ता श ता सं ।

अयुग्मस्थितं — ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ
नि श ता प्र नि सं ।

अथायुग्मप्रवृत्तान्तमुल्लोप्यकं यथा चतुष्कलमात्रावैहायसयोरनन्तरम्—

चतुष्कलमात्रा — ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ
आ नि वि श आ नि वि ता आ श वि ता आ नि वि सं ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

वैहायसं — ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ
निविश निविता निशता शतासं।

अयुग्मस्थितं — ऽे । ऽ ऽ । ऽे
संताशताशता।

अथायुग्ममहाजनिकान्तमुल्लोप्यकं यथा चतुष्कलमात्रावैहायसयोरनन्तरं—

चतुष्कलमात्रा — ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ
आनिविश आनिविता आशविता आनिविसं।

वैहायसं — ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ
निविश निविता निशता शतासं।

अयुग्ममहाजनिकं — ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ
निशताप्र निसं।

(अ०) अथ अब युग्ममहाजनिक-अन्तम् उल्लोप्यकं युग्म महाजनिक अन्त वाला उल्लोप्यक यथा इस प्रकार चतुष्कलमात्रावैहायसयोः अनन्तरं चतुष्कल मात्रा और वैहायस के बाद। (प्रस्तार ऊपर देखें)

अथ अब अयुग्मस्थितान्तम् उल्लोप्यकम् अयुग्म स्थित अन्त वाला उल्लोप्यक यथा इस प्रकार चतुष्कलमात्रावैहायसयोः अनन्तरं चतुष्कल मात्रा और वैहायस के बाद। (प्रस्तार ऊपर देखें)

अथ अब अयुग्मप्रवृत्तान्तम् उल्लोप्यकम् अयुग्म प्रवृत्त अन्त वाला उल्लोप्यक यथा इस प्रकार चतुष्कलमात्रावैहायसयोः अनन्तरं चतुष्कल मात्रा और वैहायस के बाद। (प्रस्तार ऊपर देखें)

अथ अब अयुग्ममहाजनिक-अन्तम् उल्लोप्यकम् अयुग्म महाजनिक अन्त वाला उल्लोप्यक यथा इस प्रकार चतुष्कलमात्रावैहायसयोः अनन्तरं चतुष्कल मात्रा और वैहायस के बाद। (प्रस्तार ऊपर देखें)

अथ मिश्रान्तस्य षड्भेदाः। तत्र युग्मस्थितप्रवृत्तायुग्ममहाजनिकमिश्रान्तान्तमुल्लोप्यकं यथा—

चतुष्कलमात्रा — ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ
आनिविश आनिविता आशविता आनिविसं।

वैहायसं — ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ
निविश निविता निशता शतासं।

युग्मस्थितं — ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ
निशनिता निप्रनिसं।

युंग्मप्रवृत्तं — ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ
निशशश ताशतासं।

अयुग्ममहाजनिकं — ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ
निशताप्र निसं।

इति युग्मस्य स्थितप्रवृत्तेऽयुग्मस्य महाजनिकम्॥ १॥

(अ०) अथ अब मिश्र-अन्तस्य मिश्र अन्त के षद् भेदाः ६ भेद। तत्र उनमें से युग्मस्थितप्रवृत्त-अयुग्ममहाजनिकमिश्र-अन्त-अन्तं युग्म स्थित, (युग्म) प्रवृत्त (और) अयुग्म महाजनिक (युक्त) मिश्र अन्त से समाप्ति वाला उल्लोप्यकम् उल्लोप्यक यथा इस प्रकार। (प्रस्तार ऊपर देखें)

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

इति इस प्रकार युग्मस्य स्थितप्रवृत्ते युग्म का स्थित और प्रवृत्त (तथा) अयुग्मस्य महाजनिकम् अयुग्म का महाजनिक वाला (मिश्रान्त का पहला भेद होता है)॥ १॥

अथायुग्मस्थितप्रवृत्ते युग्ममहाजनिकमिश्रान्तान्तमुल्लोप्यकं यथा—

चतुष्कलमात्रा — ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ
आ नि वि श आ नि वि ता आ श वि ता आ नि वि सं।

वैहायसं — ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ
नि वि श नि वि ता नि श ता श ता सं।

अयुग्मस्थितं — ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ
नि श ता प्र नि सं।

अयुग्मप्रवृत्तं — ऽे । ऽ ऽ । ऽे
सं ता श ता श ता।

युग्ममहाजनिकं — ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽऽ
नि श नि ता नि प्र नि सं।

इत्ययुग्मस्थितप्रवृत्ते युग्ममहाजनिकमिश्रान्तान्तमुल्लोप्यकम्॥ २॥

(अ०) अथ अब अयुग्मस्थितप्रवृत्ते अयुग्म स्थित और (अयुग्म) प्रवृत्त युग्ममहाजनिकमिश्र-अन्त-अन्तं (तथा) युग्म महाजनिक (युक्त) मिश्र अन्त से समाप्ति वाला उल्लोप्यकम् उल्लोप्यक यथा इस प्रकार। (प्रस्तार ऊपर देखें।)

इति इस प्रकार अयुग्मस्थितप्रवृत्ते अयुग्म का स्थित और (अयुग्म) प्रवृत्त (तथा) युग्ममहाजनिकमिश्र-अन्त-अन्तं युग्म महाजनिक वाले मिश्र अन्त से समाप्ति वाला उल्लोप्यकम् उल्लोप्यक (का दूसरा मिश्रान्त भेद होता है)।

अथ युग्मस्थितायुग्मप्रवृत्तमहाजनिकमिश्रान्तान्तमुल्लोप्यकं यथा—

चतुष्कलमात्रा — ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ
आ नि वि श आ नि वि ता आ श वि ता आ नि वि सं।

वैहायसं — ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ
नि वि श नि वि ता नि श ता श ता सं।

युग्मस्थितं — ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ
नि श नि ता नि प्र नि सं।

अयुग्मप्रवृत्तं — ऽे । ऽ ऽ । ऽे
सं ता श ता श ता।

अयुग्ममहाजनिकं — ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ
नि श ता प्र नि सं।

इति युग्मस्य स्थितमयुग्मस्य प्रवृत्तमहाजनिके॥ ३॥

(अ०) अथ अब युग्मस्थित-अयुग्मप्रवृतमहाजनिकमिश्र-अन्त-अन्तं युग्म स्थित, अयुग्म प्रवृत्त (और अयुग्म) महाजनिक वाले मिश्र अन्त से समाप्ति वाला उल्लोप्यकम् उल्लोप्यक यथा इस प्रकार। (प्रस्तार ऊपर देखें)

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

इति इस प्रकार युग्मस्य स्थितं युग्म का स्थित अयुग्मस्य प्रवृत्तमहाजनिके अयुग्म का प्रवृत्त और महाजनिक (वाला मिश्र अन्त का तीसरा भेद होता है)॥३॥

अथायुग्मस्थितं युग्मप्रवृत्तकं तथा महाजनिकमिश्रान्तान्तमुल्लोप्यकं यथा—

चतुष्कलमात्रा — ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ
आ नि वि श आ नि वि ता आ श वि ता आ नि वि सं।

वैहायसं — ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ
नि वि श नि वि ता नि श ता श ता सं।

अयुग्मस्थितं — ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ
नि श ता प्र नि सं।

युग्मप्रवृत्तं — ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ
नि श श श ता श ता सं।

युग्ममहाजनिकं — ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ
नि श नि ता नि प्र नि सं।

इत्ययुग्मस्थितं युग्मस्य प्रवृत्तमहाजनिके॥ ४॥

(अ०) अथ अब अयुग्मस्थितं अयुग्म स्थित युग्मप्रवृत्तकं युग्म प्रवृत्त तथा और महाजनिकमिश्र-अन्त-अन्तं (युग्म) महाजनिक (युक्त) मिश्र अन्त से समाप्ति वाला उल्लोप्यकम् उल्लोप्यक यथा इस प्रकार (होता है)। (प्रस्तार ऊपर देखें)

इति इस प्रकार अयुग्मस्थितम् अयुग्म स्थित युग्मस्य प्रवृत्तमहाजनिके (तथा) युग्म का प्रवृत्त और महाजनिक (युक्त मिश्र अन्त का चौथा भेद होता है)॥४॥

अथ युग्मस्य स्थितायुग्मप्रवृत्तयुग्ममहाजनिकमिश्रान्तान्तमुल्लोप्यकं यथा—

चतुष्कलमात्रा — ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ
आ नि वि श आ नि वि ता आ श वि ता आ नि वि सं।

वैहायसं — ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ
नि वि श नि वि ता नि श ता श ता सं।

युग्मस्थितं — ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ
नि श नि ता नि प्र नि सं।

अयुग्मप्रवृत्तं — ऽे । ऽ ऽ । ऽे
सं ता श ता श ता।

युग्ममहाजनिकं — ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ
नि श नि ता नि प्र नि सं।

इति युग्मस्य स्थितमयुग्मप्रवृत्तं युग्ममहाजनिकम्॥ ५॥

(अ०) अथ अब युग्मस्य स्थित-अयुग्मप्रवृत्तयुग्ममहाजनिकमिश्र-अन्त-अन्तं युग्म का स्थित, अयुग्म प्रवृत्त, युग्म महाजनिक (युक्त) मिश्र अन्त से समाप्ति वाला उल्लोप्यकम् उल्लोप्यक यथा इस प्रकार (होता है)। (प्रस्तार ऊपर देखें)

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

इति इस प्रकार युग्मस्य स्थितं युग्म का स्थित, अयुग्मप्रवृत्तम् अयुग्म प्रवृत्त युग्ममहाजनिकं युग्म महाजनिक (युक्त मिश्र अन्त वाला पाँचवाँ प्रकार होता है)॥५॥

अथायुग्मस्थितं युग्मप्रवृत्तायुग्ममहाजनिकमिश्रान्तान्तमुल्लोप्यकम् यथा—

चतुष्कलमात्रा — ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ
आ नि वि श आ नि वि ता आ श वि ता आ नि वि सं।

वैहायसं — ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ
नि वि श नि वि ता नि श ता श ता सं।

अयुग्मस्थितं — ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ
नि श ता प्र नि सं।

युग्मप्रवृत्तं — ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ
नि श श श ता श ता सं।

अयुग्ममहाजनिकं — ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ
नि श ता प्र नि सं।

इत्ययुग्मस्थितयुग्मप्रवृत्ताभ्यामयुग्ममहाजनिकेन॥६॥

(अ०) अथ इसके बाद अयुग्मस्थितम् अयुग्म स्थित, युग्मप्रवृत्त-अयुग्ममहाजनिकमिश्र-अन्त-अन्तं युग्म प्रवृत्त (और) अयुग्म महाजनिक (युक्त) मिश्र अन्त से समाप्ति वाला उल्लोप्यकम् उल्लोप्यक यथा इस प्रकार (होता है)। (प्रस्तार ऊपर देखें)

इति इस प्रकार अयुग्मस्थितयुग्मप्रवृत्ताभ्याम् अयुग्म स्थित और युग्म प्रवृत्त से (तथा) अयुग्ममहाजनिकेन अयुग्म महाजनिक से (समाप्त होने वाले मिश्र अन्त का छठा भेद होता है)॥ ६॥

(सर०) प्रस्तार के बाद छठे भेद का समापक वाक्य शुद्ध करके दिया है। मूल पाठ इस प्रकार है—

इत्ययुग्मस्थितयुग्मप्रवृत्ताभ्यामेकाङ्गोऽयुग्ममहाजनिकेन।

एते षण्मिश्रभेदाः। द्व्यङ्गो वा मिश्रः स्थितप्रवृत्ताभ्यामेकाङ्गो वा महाजनिकेन।

इत्यन्तान्तमुल्लोप्यकम्

(इत्युल्लोप्यकम्)

(अ०) एते ये षट् छ मिश्रभेदाः मिश्र भेद (हैं)। मिश्रः मिश्र (अन्त) स्थितप्रवृत्ताभ्यां स्थित और प्रवृत्त से द्व्यङ्गः वा या (तो) दो अंग वाला महाजनिकेन एकाङ्गः वा अथवा महाजनिक से एक अंग वाला (होता है)।

अन्तान्त उल्लोप्यक समाप्त

उल्लोप्यक समाप्त

(प्रकरी)

चतुष्कलानि चत्वारि प्रकर्यादीन्युदाहरन्॥ १३५॥

४—प्रकरी

१३५ ग-घ. (अ०) प्रकरी-आदीनि चत्वारि/(आचार्यों ने) प्रकरी आदि चार (गीतकों को) चतुष्कलानि चतुष्कल उदाहरन् कहा है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(सर०) आदीनि से प्रकरी के साथ ओवेणक, रोविन्दक और उत्तर लेकर चार कहे हैं। इन्हें चतुष्कल कहने का अभिप्राय यह है कि ये चारों सिर्फ़ चतुष्कल होते हैं, एककल-द्विकल नहीं।

प्रकरी स्याच्चतुर्वस्तु यद्वा सार्धत्रिवस्तुका।
तत्रार्धमन्त्यमादौ स्याद् वस्तु षण्मात्रमिष्यते॥ १३६॥

१३६. (अ०) **प्रकरी** प्रकरी **चतुर्वस्तु** चार वस्तु वाली **यत्** **वा** अथवा **स-अर्धत्रिवस्तुका** साढ़े तीन वस्तु वाली **स्यात्** होती है। **तत्र** उस (साढ़े तीन वस्तु वाली) में **अन्त्यम् अर्धम्** अन्तिम आधा **आदौ स्यात्** शुरू में होता है। **वस्तु** वस्तु **षट्-मात्रं** छ मात्रा वाली **इष्यते** इच्छित होती है।

(सर०) साढ़े तीन वस्तु वाली में अन्तिम आधा भाग यानी तीन वस्तुओं के बाद की आधी वस्तु शुरू में गाने के बाद शुरू की तीन वस्तुएँ गाई जाती हैं। एक वस्तु में ६ परिभाषिकी मात्रा होती हैं। एक मात्रा में ४-४ कलाओं के ४-४ पादभाग होने से एक वस्तु में ४×४×६=९६ कलाएँ होती हैं। चार वस्तु हों तो ९६×४=३८४ कला की और साढ़े तीन वस्तु हों तो ९६×३$\frac{१}{२}$=३३६ कला की प्रकरी होगी।

सार्धत्रिवस्तुपक्षे तु भवेदर्धमुपोहनम्।
पक्षान्तरे वस्तुमात्रं न वा स्यात्प्रत्युपोहनम्॥ १३७॥

कनिष्ठासारितं प्रोक्तमत्र संहरणं बुधैः।

१३७-१३८ ख. (अ०) **सार्धत्रिवस्तुपक्षे तु** साढ़े तीन वस्तु वाले पक्ष में तो **अर्धम् उपोहनं भवेत्** आधा (भाग) उपोहन होता है (और) **पक्षान्तरे** अन्य (चार वस्तु वाले) पक्ष में **वस्तुमात्रं** (पूरी) वस्तु जितनां (उपोहन होता है)। **प्रत्युपोहनं न वा स्यात्** प्रत्युपोहन (विकल्प से) नहीं भी होता। **अत्र** प्रकरी में **कनिष्ठासारितं** कनिष्ठासारित (ही) **बुधैः** बुद्धिमानों के द्वारा **संहरणं प्रोक्तं** संहरण कहा गया (है)।

(सर०) साढ़े तीन वस्तु वाली प्रकरी में जो अन्तिम आधी वस्तु शुरू में गाई जाती है उसमें उपोहन होता है और चार वस्तु वाली में पहली पूरी वस्तु में उपोहन होता है। प्रत्युपोहन हो भी सकता है और नहीं भी। कनिष्ठासारित को प्रकरी में संहरण कहने का अभिप्राय यह है कि कनिष्ठासारित की ही तालक्रियाएँ प्रकरी के संहरण में भी होती हैं।

वृत्तं च त्रिविदारीकमस्मिन्संहरणे मतम्॥ १३८॥

अन्त्यस्य त्वन्तिमा मात्रा कैश्चित् संहरणं मता।
अन्ते वा सप्तमी मात्रा परैः संहरणं स्मृता॥ १३९॥

वस्त्वर्धेष्विह गीताङ्गविधिर्मद्रकवद् भवेत्।

१३८ ग-१४०. (अ०) **अस्मिन् संहरणे** इस संहरण में **त्रिविदारीकं** तीन विदारियों वाला **वृत्तं च** वृत्त (गीतांग) भी **मतं** माना गया (है)। **अन्त्यस्य** अन्तिम (वस्तु) की **अन्तिमा मात्रा तु** अन्तिम (छठी) मात्रा तो **कैश्चित्** किन्हीं (आचार्यों) के द्वारा **संहरणं मता** संहरण मानी गई (है)। **परैः** अन्यों के द्वारा **अन्ते वा** (अन्तिम वस्तु) समाप्त होने पर **सप्तमी मात्रा** सातवीं मात्रा **संहरणं स्मृता** संहरण मानी गई (है)। **इह** यहाँ (प्रकरी में) **वस्तु-अर्धेषु** वस्तु के आधे भागों में **गीताङ्गविधिः** गीतांगों की योजना **मद्रकवत् भवेत्** मद्रक जैसी होती है।

(सर०) वृत्त में ३, ४, ५ या ६ विदारी कही जा चुकी हैं। प्रकरी के संहरण में ३ विदारी वाला वृत्त होता है। संहरण का प्रयोग कहाँ हो इस बारे में ग्रन्थकार ने दो अन्य मतों का उल्लेख किया है। कुछ आचार्य अन्तिम वस्तु की अन्तिम (छठी) मात्रा में संहरण मानते हैं और कुछ अन्तिम वस्तु की छठी मात्रा के बाद सातवीं मात्रा जोड़ कर उसमें संहरण कहते हैं। प्रकरी की छ मात्रा वाली वस्तु का प्रस्तार देकर ग्रन्थकार ने कहा कि ऐसी चार या साढ़े तीन वस्तुएँ गाकर कनिष्ठासारित के रूप

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

वाला संहरण करना चाहिये। इससे प्रकट है कि ग्रन्थकार वस्तुओं के बाद अलग से संहरण मानते हैं। तदनुसार ही संहरण का अलग से प्रस्तार भी दिया है।

वस्तु में गीतांगों की योजना मद्रक की तरह होती है। मद्रक में तीन मात्रा वाली वस्तु में शुरू की दो मात्राओं में विविध और तीसरी में एकक होता है। प्रकरी की ६ मात्रा वाली वस्तु के दो भाग ३-३ मात्रा के होंगे। हर भाग में पहली दो मात्राओं में विविध और तीसरी मात्रा में एकक होगा। साढ़े तीन वस्तु वाली प्रकरी में शुरू की ३ मात्रा वाली आधी वस्तु में भी इसी तरह दो मात्राओं में विविध और तीसरी में एकक होगा।

द्वितीयमात्रा तालान्त प्रकर्यां वस्तुनो मता॥ १४०॥

तुर्यायां द्वादशस्तालः पञ्चम्यामष्टमस्तु सः।
याः षोडश कलाः प्रोक्ता द्विकले मद्रकेऽन्तिमा॥ १४१॥

ताः षष्ठ्यामद्वितीयान्त्या मात्राः शम्यान्तिमा मताः।
शेषस्थानेष्वानिविप्रान् पादभागेषु निक्षिपेत्॥ १४२॥

उपोहने कलापातान् न्यषेधन् दत्तिलादयः।
षष्ठी वा सप्तमी मात्रा यदा संहरणं तदा॥ १४३॥

कनिष्ठासारितकला विनान्त्यां परिकीर्तिता।

१४० ग-१४४ ख. (अ०) प्रकर्यां प्रकारी में वस्तुनः वस्तु की द्वितीयमात्रा दूसरी मात्रा ताल-अन्ता ताल (नामक पात) से अन्त होने वाली मता मानी गई (है)। तुर्यायां चौथी (मात्रा) में द्वादशः तालः बारहवाँ ताल, पञ्चम्याम् अष्टमः तु पाँचवीं में आठवाँ तो सः वही (ताल, होता है)। द्विकले मद्रके द्विकल मद्रक में याः जो अन्तिमाः षोडश कलाः अन्तिम सोलह क्रियाएँ प्रोक्ताः कही गई (हैं) ताः वे षष्ठ्यां छठी (मात्रा) में (होती हैं)। अद्वितीया-अन्त्याः मात्राः दूसरी और अन्तिम (छठी) को छोड़ कर (शेष) मात्राएँ शम्या-अन्तिमाः शम्या अन्तिम (क्रिया) वाली मताः मानी गई (हैं)। पादभागेषु पादभागों में अन्यस्थानेषु अन्य कलाओं में आनिविप्रान् आवाप, निष्क्राम, विक्षेप, प्रवेशों को निक्षिपेत् डालना चाहिये। उपोहने उपोहन में दत्तिल-आदयः दत्तिल आदि आचार्यों ने कलापातान् सशब्द-निःशब्द क्रियाओं को न्यषेधन् निषिद्ध किया। यदा जब षष्ठी वा सप्तमी मात्रा छठी या सातवीं मात्रा संहरणं संहरण (हो) तदा तब अन्त्यां विना अन्तिम (कला) के बिना कनिष्ठासारितकला कनिष्ठासारित की क्रियाविधि परिकीर्तिता कही गई है।

(सर०) प्रकरी की तालक्रियाओं का यहाँ निरूपण किया गया है। श्लोक १४२ ग-घ में सभी मात्राओं के पादभागों में सामान्य रूप से आवाप, निष्क्राम, विक्षेप और प्रवेश (आनिविप्र) का निवेश कहा है और जिन मात्राओं में इनसे भिन्न की जाने वाली क्रियाओं का निर्देश शेष श्लोकों में किया है।

आनन्द० में 'पञ्चम्यामष्टमस्तु शः' के 'शः' के स्थान पर 'सः' पाठ है। इसके अनुसार पाँचवीं मात्रा की आठवीं क्रिया ताल होगी। भरत, अभि०, दत्तिल आदि पूर्ववर्ती और परवर्ती कुम्भा ने भी इसमें ताल ही कहा है।

दूसरी मात्रा की अन्तिम यानी १६वीं क्रिया, चौथी मात्रा की बारहवीं और पाँचवीं मात्रा की आठवीं क्रिया ताल होती है। छठी मात्रा में द्विकल मद्रक की अन्तिम १६ कला कही हैं। द्विकल मद्रक में निशनिता नितानिश शताताश ताशतासं क्रिया हैं वही प्रकरी की दूसरी मात्रा में होंगी। दूसरी और छठी मात्राओं की विशेष क्रिया ऊपर कही जा चुकी हैं। शेष मात्राओं में अन्तिम क्रिया शम्या होती है। उपोहन में सशब्दादि क्रियाएँ नहीं होती। संहरण में कनिष्ठासारित की अन्तिम क्रिया को छोड़ कर शेष क्रियाएँ कही हैं। कानिष्ठासारित में १७ कलाएँ होती हैं जिनमें से शुरू की ४ कलाओं में यथाक्षर चच्चत्पुट की शताशता, उसके बाद की ६-६ कलाओं में यथाक्षर षट्पितापुत्रक की संताशताशता और अन्तिम कला में संनिपात होता है। तदनुसार प्रकरी के

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

संहरण में भी वही क्रियाएँ होनी चाहियें। लेकिन ग्रन्थकार आगे कहने वाले हैं कि या तो ४ या ३ $\frac{१}{२}$ वस्तुएँ गाकर कनिष्ठासारित जैसा संहरण करना चाहिये या कनिष्ठासारित के अन्तिम संनिपात को छोड़ कर उसी की कलाओं से युक्त अन्तिम वस्तु की छठी मात्रा को संहरण बनाना चाहिये। इसमें तीन विकल्प हैं। पहले में सारी वस्तुओं के बाद कनिष्ठासारित की ही लघु-गुरु योजना सहित १७ कलाओं की क्रियाओं से युक्त संहरण होता है। दूसरे में अन्तिम वस्तु की छठी मात्रा को ही संहरण बनाया जाता है। मात्रा १६ गुरु कला वाली होती है इसलिये कनिष्ठासारित की अन्तिम १७वीं कला इसमें छोड़ देनी होगी। इसका अर्थ यह है कि कनिष्ठासारित की लघु-गुरु योजना नहीं होती, सिर्फ़ क्रियाएँ उसकी होती है। तीसरे प्रकार में ऐसी ही १६ कला वाली एक और यानी सातवीं मात्रा जोड़ कर उसमें दूसरे विकल्प की तरह कनिष्ठासारित का लघु गुरु क्रम और अन्तिम संनिपात छोड़ दिया जाता है।

प्रस्तारः—

ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ
आ नि वि प्र आ नि वि प्र आ नि वि प्र आ नि वि श ॥ मात्रा १॥

ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ
आ नि वि प्र आ नि वि प्र आ नि वि प्र आ नि वि ता ॥ मात्रा २॥

ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ
आ नि वि प्र आ नि वि प्र आ नि वि प्र आ नि वि श ॥ मात्रा ३॥

ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ
आ नि वि प्र आ नि वि प्र आ नि वि ता आ नि वि श ॥ मात्रा ४॥

ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ
आ नि वि प्र आ नि वि ता आ नि वि प्र आ नि वि श ॥ मात्रा ५॥

ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ
नि श नि ता नि ता नि श श ता ता श ता श ता सं ॥ मात्रा ६॥

इति षणमात्रात्मकं वस्तु

(सर०) यह प्रकरी की ६ मात्रा वाली एक वस्तु की ताल क्रियाओं का प्रस्तार है। संपूर्ण प्रस्तार इस प्रकार होगा—

मात्रा १

	ऽ ऽ ऽ ऽ	ऽ ऽ ऽ ऽ	ऽ ऽ ऽ ऽ	ऽ ऽ ऽ ऽ
ताल	आ नि वि प्र	आ नि वि प्र	आ नि वि प्र	आ नि वि श
पद	उपोहन			
स्वर	वि		वि	

मात्रा २

	ऽ ऽ ऽ ऽ	ऽ ऽ ऽ ऽ	ऽ ऽ ऽ ऽ	ऽ ऽ ऽ ऽ
ताल	आ नि वि प्र	आ नि वि प्र	आ नि वि प्र	आ नि वि ता
पद	स्तुतिपद			
स्वर	ध			

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

मात्रा ३

	ऽ ऽ ऽ ऽ	ऽ ऽ ऽ ऽ	ऽ ऽ ऽ ऽ	ऽ ऽ ऽ ऽ
ताल	आ नि वि प्र	आ नि वि प्र	आ नि वि प्र	आ नि वि श
पद	स्तुतिपद			
स्वर		ए	क	क

मात्रा ४

	ऽ ऽ ऽ ऽ	ऽ ऽ ऽ ऽ	ऽ ऽ ऽ ऽ	ऽ ऽ ऽ ऽ
ताल	आ नि वि प्र	आ नि वि प्र	आ नि वि ता	आ नि वि श
पद	स्तुतिपद			
स्वर		वि	वि	

मात्रा ५

	ऽ ऽ ऽ ऽ	ऽ ऽ ऽ ऽ	ऽ ऽ ऽ ऽ	ऽ ऽ ऽ ऽ
ताल	आ नि वि प्र	आ नि वि ता	आ नि बि प्र	आ नि वि श
पद	स्तुतिपद			
स्वर		ध		

मात्रा ६

	ऽ ऽ ऽ ऽ	ऽ ऽ ऽ ऽ	ऽ ऽ ऽ ऽ	ऽ ऽ ऽ ऽ
ताल	नि श नि ता	नि ता नि श	श ता ता श	ता श ता सं
पद	स्तुतिपद			
स्वर		ए	क	क

वस्तु २, ३ और ४ वस्तु १ जैसी

संहरण

ऽ ऽ । ऽ ऽ । ऽ ऽ । ऽ ऽ । ऽ ऽ । ऽ ऽ
श ता श ता सं ता श ता श ता सं ता श ता श ता सं

३½ वस्तु वाली प्रकरी में तीन वस्तुओं में ६-६ मात्रा और आधी वस्तु में ६ मात्रा होती हैं। अन्तिम आधी वस्तु शुरू में रखकर फिर ३ मात्राएँ होने से ६ मात्रा वाली वस्तु की चौथी, पाँचवीं और छठी मात्रा आधी वस्तु में क्रम से पहली, दूसरी और तीसरी मात्रा होंगी। इस आधी वस्तु में उपोहन होता है। दो मात्राओं में विविध और एक में एकक गीतांग होता है। तदनुसार प्रस्तार यों होगा—

मात्रा १

	ऽ ऽ ऽ ऽ	ऽ ऽ ऽ ऽ	ऽ ऽ ऽ ऽ	ऽ ऽ ऽ ऽ
ताल	आ नि वि प्र	आ नि वि प्र	आ नि वि ता	आ नि वि श
पद	उपोहन			
स्वर		वि	वि	

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

मात्रा २

	ऽ ऽ ऽ ऽ	ऽ ऽ ऽ ऽ	ऽ ऽ ऽ ऽ	ऽ ऽ ऽ ऽ
ताल	आ नि वि प्र	आ नि वि ता	आ नि वि प्र	आ नि वि श
पद	उपोहन			
स्वर	ध			

मात्रा ३

	ऽ ऽ ऽ ऽ	ऽ ऽ ऽ ऽ	ऽ ऽ ऽ ऽ	ऽ ऽ ऽ ऽ
ताल	नि श नि ता	नि ता नि श	श ता ता श	ता श ता सं
पद	उपोहन			
स्वर	ए क क			

इसके बाद ६ मात्रा वाली ३ वस्तुएँ और अन्त में संहरण होगा।

एवं चत्वारि वस्तूनि त्रीणि सार्धानि वा गीत्वा कनिष्ठासारितात्मकं संहरणं कार्यं यथा, अथवा अन्त्यसंनिपातवर्जिताभिः कनिष्ठासारितस्य कलाभिरन्विता अन्त्यवस्तुनः षष्ठीमात्रा संहरणं कार्यम्। अथवा एवमात्मिका सप्तमी मात्रा संहरणं कार्यम्। यथा—

ऽ ऽ । ऽे ऽे । ऽ ऽ । ऽे ऽे । ऽ ऽ । ऽे ऽ
श ता श ता सं ता श ता श ता सं ता श ता श ता सं

इति प्रकरी

(अ०) एवम् इस प्रकार चत्वारि चार त्रीणि सार्धानि वस्तूनि वा गीत्वा या साढ़े तीन वस्तुएँ गाकर यथा कनिष्ठासारित-आत्मकं कनिष्ठासरित के स्वरूप वाला संहरणं कार्यं संहरण करना चाहिये। अथवा या अन्त्यसंनिपातवर्जिताभिः अन्तिम संनिपात को छोड़ी हुई कनिष्ठासारितस्य कलाभिः अन्विता कनिष्ठासारित की क्रियाओं से युक्त अन्त्यवस्तुनः षष्ठीमात्रा अन्तिम वस्तु की छठी मात्रा (को) संहरणं कार्यं संहरण करना (अर्थात् बनाना) चाहिये। अथवा या एवम् आत्मिका ऐसे ही स्वरूप वाली सप्तमी मात्रा सातवीं (अतिरिक्त) मात्रा संहरणं कार्यं संहरण करनी चाहिये। यथा इस प्रकार—

ऽ ऽ । ऽे ऽे । ऽ ऽ । ऽे ऽे । ऽ ऽ । ऽे ऽ
श ता श ता सं ता श ता श ता सं ता श ता श ता सं

(सर०) संहरण का यह प्रस्तार उसके तीन विकल्पों में से पहले के अनुसार है। दूसरे और तीसरे विकल्प का प्रस्तार यह होगा—

ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ
श ता श ता सं ता श ता श ता सं ता श ता श ता।

प्रकरी समाप्त

(ओवेणकम्)

ओवेणकं द्वादशाङ्गं सप्ताङ्गं च परावरम्॥ १४४॥

स्यात्पादः प्रतिपादश्च माषघातोपवर्तनम्।
संधिश्च चतुरश्रं स्याद् वज्रं संपिष्टकं ततः॥ १४५॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

वेणी तथा प्रवेणी स्यादुपपातस्ततः परम्।
अन्ताहरणमित्येतान्यङ्गानि द्वादशावदन्॥ १४६॥

संपिष्टकं तथा वेणीं प्रवेणीमुपवर्तनम्।
उपपातं विनान्यानि सप्ताङ्गानि च मेनिरे॥१४७॥

५—ओवेणक

१४४ ग-१४७. (अ०) ओवेणकम् ओवेणक द्वादश-अङ्गं बारह अंग वाला सप्त-अङ्गं च और सात अंग वाला पर-अवरं (क्रम से) बड़ा (और) छोटा स्यात् होता है। (इसमें) पादः प्रतिपादः च पाद और प्रतिपाद, माषघात-उपवर्तनं माषघात (और) उपवर्तन, सन्धिः चतुरश्रं च स्यात् सन्धि और चतुरश्र होता है। ततः उसके बाद वज्रं संपिष्टकं वज्र (और) संपिष्टक, वेणी तथा प्रवेणी स्यात् वेणी और प्रवेणी होती है। ततः परम् उसके बाद उपपातः उपपात, अन्ताहरणम् अन्ताहरण इति इस प्रकार एतानि ये द्वादश अङ्गानि बारह अंग अवदन् कहे गये (हैं)।

(सर०) ओवेणक में वस्तु नहीं होती बल्कि विभिन्न अंगों की ही योजना होती है। यह दो तरह का होता है—द्वादशांग यानी १२ अंगों वाला और सप्तांग यानी ७ अंग वाला। पहले में पाद, प्रतिपाद, माषघात, उपवर्तन, संधि, चतुरश्र, वज्र, संपिष्टक, वेणी, प्रवेणी, उपपात और अन्ताहरण—ये १२ अंग होते हैं। दूसरे में संपिष्टक, वेणी, प्रवेणी, उपपात और उपवर्तन—ये ५ छोड़ कर पाद, प्रतिपाद, माषघात, सन्धि, चतुरश्र, वज्र और अन्ताहरण—ये ७ अंग होते हैं।

यादृक् चतुष्कले वस्तु प्रागुक्तमपरान्तके।
तादृक्पादस्ततस्तद्वत् प्रतिपादः पदान्तरैः॥ १४८॥

समं पादपरार्धेन प्रतिपादं परे जगुः।
यथाक्षरोत्तरे शीर्षं केचिदाहुरतः परम्॥ १४९॥

शीर्षात्परो माषघातो द्विकलोत्तरतालतः।
अपरान्तकवत् तस्मात् परं स्यादुपवर्तनम्॥ १५०॥

ऊर्ध्वं संपिष्टकाद्वा स्यादुभाभ्यामथवा परम्।
तद्वदेव ततः संधिस्ततोऽपि चतुरश्रकम्॥ १५१॥

युग्मप्रवृत्तवत्,

१४८-१५२ क. (अ०) प्राक् चतुष्कले अपरान्तके पहले चतुष्कल अपरान्तक में यादृक् वस्तु उक्तं जैसी वस्तु कही गई तादृक् पादः वैसा ही पाद (होता है)। ततः उसके बाद तत्-वत् उसी के जैसा, पदान्तरैः भिन्न पदों से प्रतिपादः प्रतिपाद (होता है)। परे अन्य आचार्य पाद-पर-अर्धेन समं पाद के उत्तरार्ध के बराबर प्रतिपादं जगुः प्रतिपाद कहते हैं। अतः परम् इसके बाद केचित् कुछ आचार्य यथाक्षर-उत्तरे यक्षाक्षर उत्तर में शीर्षम् आहुः शीर्षक कहते हैं। शीर्षात् परः शीर्षक के बाद द्विकल-उत्तरतालतः द्विकल उत्तर ताल से अपरान्तकवत् अपरान्तक की तरह माषघातः माषघात (होता है)। तस्मात् परम् उसके बाद उपर्वतनं स्यात् उपवर्तन होता है। संपिष्टकात् ऊर्ध्वं वा अथवा संपिष्टक के बाद अथवा उभाभ्यां परं या दोनों के बाद स्यात् होता है। ततः उसके बाद तत्-वत् एव उसी के समान सन्धिः संधि ततः-अपि और उसके बाद युग्मप्रवृत्तवत् युग्म प्रवृत्त जैसा चतुरश्रकं चतुरश्र (होता है)।

(सर०) यहाँ से ओवेणक के अंगों की रचना संबन्धी लक्षण दिये जा रहे हैं।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

पाद चतुष्कल अपरान्तक की वस्तु जैसा २४ कला और उसी के जैसी क्रिया वाला होता है। प्रतिपाद में स्वररचना पाद जैसी ही होती है लेकिन पद भिन्न होते हैं। दूसरे मत से पाद के अन्तिम आधे भाग जितना प्रतिपाद होता है। शीर्षक होना ज़रूरी नहीं है। लेकिन अन्य मत से शीर्षक यथाक्षर उत्तर ताल से होता है।

उपवर्तन के बारे में ग्रन्थकार ने दो अन्य मत भी बताये हैं। वह माषघात के बाद होता है अथवा नहीं होता। अथवा माषघात और संपिष्टक दोनों के बाद हो सकता है। ग्रन्थकार आगे कहने वाले हैं कि प्रवेणी के बाद भी उपवर्तन हो सकता है।

चतुरश्र अंग युग्म प्रवृत्त जैसा होने का अर्थ यह है कि चतुरश्र में भी युग्म प्रवृत्त की तरह शुरू की ३ कलाओं में उद्घट्ट की निशश क्रियाएँ और शेष ५ कलाओं में शताशतासं क्रिया होती हैं।

तस्मात् वज्रं संधिवदिष्यते।
संपिष्टकं ततः कार्यं दश द्वादश वा कलाः॥ १५२॥

द्वादशाङ्गे दशकलं सप्ताङ्गे त्वितरन्मतम्।
सप्ताङ्गद्वादशाङ्गत्वे वर्णाङ्गैः केचिदूचिरे॥ १५३॥

चतुर्थी पञ्चमी चेह त्याज्ये दशकले कले।

१५२ क-१५४ ख. (अ०) **तस्मात्** उसके बाद **वज्रं** वज्र **संधिवत्** **इष्यते** संधि के समान इच्छित होता है। **ततः** उसके बाद **दश द्वादश वा कलाः** दस या बारह कलाओं वाला **संपिष्टकं कार्यं** संपिष्टक करना चाहिये। **द्वादशाङ्गे** बारह अंग वाला होने पर **दशकलं** दस कल वाला (और) **सप्ताङ्गे तु** सात अंग वाला होने पर तो **इतरत्** दूसरा (बारह कला वाला) **मतं** माना गया (है)। **केचित्** कुछ आचार्यों ने **वर्णाङ्गैः** गीतांगों के द्वारा **सप्ताङ्गद्वादशाङ्गत्वे** सप्तांग और द्वादश-अंगत्व **ऊचिरे** कहा है। **इह दशकले** इस दस कला वाले में **चतुर्थी पञ्चमी च कले** चौथी और पाँचवीं कलाएँ **त्याज्ये** छोड़नी चाहियें।

(सर०) संपिष्टक में १० या १२ कला होती हैं और इनका संबन्ध क्रम से संपिष्टक के द्वादशांग और सप्तांग प्रकारों से है। ये १२ और ७ अंग तालांग होते हैं या वर्णांग—इस बारे में दो मत हैं। एक के अनुसार ये तालांग हैं और दूसरे में वर्णांग। इन मतों को अभिनव ने तालांगवादी और वर्णांगवादी आचार्यों का मत कहा है। पहले मत के अनुसार पाद आदि १२ तालांग द्वादशांग ओवेणक में होते हैं और उनमें से संपिष्टक, उपपात, वेणी, प्रवेणी और उपवर्तन—ये पाँच सप्तांग में छोड़ दिये जाते हैं। वर्णांगवादियों का तर्क, संक्षेप में, संभवतः यह है कि ओवेणक में तालांगों की कुल संख्या या तो १२ से कम दिखाई देती है या ज़्यादा इसलिये ये तालांग नहीं हो सकते, वर्णांग होने चाहियें। इस आधार पर यह मानना चाहिये कि द्वादशांग में १२ वर्णांग और सप्तांग में ७ वर्णांग होते हैं।

इन प्रकारों में भेद का आधार वर्णांग होने संबन्धी शार्ङ्गदेव का कथन संपिष्टक की तालरचना को लेकर किया गया है। एक ओर तो यह कहा गया कि सप्तांग संपिष्टक में १२ कलाएँ होती हैं और दूसरी ओर उसमें संपिष्टक छोड़ने की बात कही। ये दोनों परस्पर विरोधी कथन हैं क्योंकि अगर सप्तांग में संपिष्टक है ही नहीं तो सप्तांग संपिष्टक में १२ कलाएँ होने का प्रश्न ही नहीं उठता। इसलिये ग्रन्थकार ने वर्णांग संबन्धी मत का उल्लेख किया है जो अभिनव की भाषा में वर्णांगवादियों का मत है। इसके अनुसार द्वादशांग के सारे तालांग सप्तांग में भी होते हैं लेकिन वर्णांगों की संख्या कम हो जाती है (अभि०, खण्ड ४, पृ० २३७ की अन्तिम २ पंक्तियाँ और पृ० २३८ का पहला पैरा)।*

शार्ङ्ग० ने इसे 'केचित्' के द्वारा अन्य मत कहा प्रतीत होता है। इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि वे शायद तालांगवादी हैं। लेकिन तालांग मानने से संपिष्टक के बारे में जो विसंगति पैदा होती है वह भी उनकी दृष्टि में है।

---

* विशेष विचार के लिये द्रष्टव्य—Musical Forms in Saṅgītaratnākara, pp. 242-244.

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

कल्लि० ने इस पक्ष पर कुछ नहीं कहा हे लेकिन सिंह० ने स्पष्टतः सप्तांग को ७ वर्णांगों से और द्वादशांग को १२ वर्णांगों से रचित कहा है।

भवेद्वेण्यां प्रवेण्यां च पञ्चपाणिर्यथाक्षरः॥ १५४॥
द्विकलो वाथवा चच्चत्पुटादूर्ध्वं यथाक्षरात्।
चच्चत्पुटः स्याद् द्विकलो यद्वा वेणीयथाक्षरे॥ १५५॥
पञ्चपाणौ प्रवेणी तु द्विकले मुनिभिर्मताः।

१५४ ग-१५६ ख. (अ०) वेण्यां प्रवेण्यां च वेणी और प्रवेणी में यक्षाक्षरः पञ्चपाणिः भवेत् यथाक्षर पंचपाणि होता है। द्विकलः वा या द्विकल (पंचपाणि) अथवा या यथाक्षरात् चच्चत्पुटात् ऊर्ध्वं यथाक्षर चच्चत्पुट के बाद द्विकलः चच्चत्पुटः स्यात् द्विकल चच्चत्पुट होता है। यत् वा अथवा वेणी यथाक्षरे पञ्चपाणौ वेणी यथाक्षर पंचपाणि में (और) प्रवेणी तु द्विकले प्रवेणी तो द्विकल (पंचपाणि) में (होती है) मुनिभिः मताः (ये विकल्प) मुनि (भरत) के द्वारा माने गये (हैं)।

(सर०) भरत ने वेणी और प्रवेणी—इन दो भिन्न संज्ञाओं का प्रयोग न करके दो वेणी ही कही हैं। शार्ङ्ग० ने भरत के अनुसार इनकी तालयोजना में ये ४ विकल्प बताये हैं—१. दोनों में यक्षाक्षर पंचपाणि, २. दोनों में द्विकल पंचपाणि, ३. दोनों में यथाक्षर चच्चत्पुट के बाद द्विकल चच्चत्पुट, ४. वेणी में यथाक्षर पंचपाणि और प्रवेणी में द्विकल पंचपाणि।

प्रवेण्यनन्तरं कैश्चिदुपर्वनमिष्यते॥ १५६॥

१५६ ग-घ. (अ०) कैश्चित् कुछ आचार्यों के द्वारा प्रवेणी अनन्तरं प्रवेणी के बाद उपवर्तनम् इष्यते उपवर्तन इच्छित होता है।

(सर०) भरत ने प्रवेणियों के बाद कभी-कभी उपवर्तन का प्रयोग बताया है जो अभिनव के अनुसार दूसरी प्रवेणी के बाद होता है। उपवर्तन में १२ कलाओं के पद की लयान्तर से ६ कलाओं में आवृत्ति होती है इसलिये ऊपर दिये गये ताल के विकल्पों में से दूसरे और चौथे में ही उपवर्तन हो सकता है क्योंकि इन्हीं दो में १२ कला वाले द्विकल पंचपाणि का प्रयोग होता है।

पादोत्तरार्धतालेन द्विकलेनोत्तरेण वा।
उपपातस्ततोऽन्तेन विनान्ताहरणं न वा॥ १५७॥
सत्यन्तेऽस्त्येव स द्वेधा सप्ताङ्गेऽन्यत्र तु त्रिधा।
लक्ष्मान्ताहरणादीनां ज्ञेयमुल्लोप्यकादिह॥ १५८॥

१५७-१५८. (अ०) उपपातः उपपात पाद-उत्तरार्धतालेन पाद के उत्तरार्ध के ताल से द्विकलेन उत्तरेण वा या द्विकल उत्तर से (होता है)। ततः उसके बाद अन्तेन विना अन्ताहरणम् अन्त (अंग) के बिना अन्ताहरण (होता है) न वा या नहीं (होता)। अन्ते सति अन्त होने पर अस्ति एव (अन्ताहरण) होता ही है। सप्ताङ्गे स द्वेधा सप्तांग (ओवेणक) में वह दो प्रकार से (और) अन्यत्र तु दूसरे (द्वादशांग) में तो त्रिधा तीन प्रकार से (होता है)। इह इसमें अन्ताहरण-आदीनां लक्ष्म अन्ताहरण आदि के लक्षण उल्लोप्यकात् ज्ञेयम् उल्लोप्यक से जानने चाहियें।

(सर०) श्लोक १४८ में ओवेणक का पाद चतुष्कल अपरान्तक की वस्तु जैसा कहा जा चुका है जिसमें वस्तु २४ कला वाली होती है। उसमें आनिविप्र आनिविप्र आनिविश आनिविता आताविश तानिविसं—ये क्रियाएँ होती हैं। इसलिये उपपात में इसके उत्तरार्ध की आनिविता आताविश तानिविसं होंगी। उपपात संबन्धी भरत के श्लोकार्ध की व्याख्या में अभिनव ने स्पष्ट रूप से उपपात में इन क्रियाओं का उल्लेख किया है। (ना०शा०, ३१/२९५ पर अभि०)

उपपात में अन्य मत से द्विकल उत्तर की कियाएँ (निप्र ताश निता निश ताप्र निसं) होती हैं, ऐसा शार्ङ्ग० ने कहा है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अन्ताहरण अन्त से पहले होता है और उसके बारे में विकल्प है। अन्त अंग के बिना अन्ताहरण हो भी सकता है और नहीं भी। अगर अन्त हो तो अन्ताहरण अवश्य होता है। कल्लि० ने स्पष्ट किया कि अन्त के बिना अन्ताहरण करना चाहिये यह एक पक्ष है और उसका निषेध यानी न होना दूसरा पक्ष है। निषेध भी 'अन्तेन विना'—इसी अंश का समझना चाहिये क्योंकि विशेषण के निषेध से भी विशिष्ट का निषेध सिद्ध होता है। विशेषण यानी अन्त न हो तो विशिष्ट यानी अन्ताहरण का भी निषेध सूचित होता है इसलिये अन्त के बिना अन्ताहरण नहीं भी किया जा सकता है। इन विकल्पों को यों कह सकते हैं कि अन्त न होने की स्थिति में अन्ताहरण हो भी सकता है और नहीं भी। यानी अन्ताहरण के दो विकल्प अन्त न होने की स्थिति में ही हैं। अन्त हो तो अन्ताहरण जरूर होना चाहिये।

सप्तांग ओवेणक में अन्त दो प्रकार का यानी युग्म और अयुग्म होता है तथा द्वादशांग में युग्म, अयुग्म, मिश्र यों तीन प्रकार का।

अन्ताहरण के साथ 'आदीनां' के द्वारा युग्म आदि भेदों का ग्रहण करना चाहिये, ऐसा दोनों टीकाकारों का कथन है।

विधेयो विविधो वेण्यां प्रवृत्तं वा मतान्तरात्।
प्रवेण्यां तु प्रवृत्तं स्यादवगाढं परे जगुः॥ १५९॥

पादोपपातसंपिष्टेऽप्यभ्यधुर्विविधं बुधाः।
विविधो वैककं वज्रे एककं तूपवर्तने॥ १६०॥

विविधश्चतुरश्रे स्यादेककं वाथवैककम्।
कलाप्रयोगनिर्मुक्तं संप्रयुज्यावपाणिना॥ १६१॥

कलास्वष्टासु विविधो विधेयो गानवेदिभिः।

१५९-१६२ ख. (अ०) वेण्यां वेणी में **विविधः** विविध (गीतांग) का **मतान्तरात् वा** अथवा मतान्तर से **प्रवृत्तं** प्रवृत्त (वृत्त गीतांग के भेद) का **विधेयः** विधान करना चाहिये। **प्रवेण्यां तु** प्रवेणी में तो **प्रवृत्तं स्यात्** प्रवृत्त होता है। **परे** अन्य आचार्यों ने **अवगाढं जगुः** अवगाढ कहा है। **पाद-उपपादसंपिष्टे अपि** पाद, उपपात, संपिष्टक में भी **बुधाः** बुद्धिमानों ने **विविधं** विविध **अभ्यधुः** कहा है। **वज्रे** वज्र में **विविधम् एककं वा** विविध या एकक, **उपवर्तने तु** उपवर्तन में तो **एककम्** एकक (होता है)। **चतुरश्रे** चतुरश्र में **विविधः स्यात्** विविध होता है **एककं वा** अथवा एकक **अथवा** या **कलाप्रयोगनिर्मुक्तम् एककं** क्रियाओं के प्रयोग के बिना एकक **अवपाणिना संप्रयुज्य** अतीत ग्रह से प्रयुक्त करके **अष्टासु कलासु** आठ कलाओं में **विविधं** विविध का **गानवेदिभिः** गान के वेत्ताओं के द्वारा **विधेयः** विधान करना चाहिये।

(सर०) इन कारिकाओं में ग्रन्थकार ने गीतांगों की योजना में विभिन्न मतों का उल्लेख किया है। वेणी, प्रवेणी और वज्र में दो मत और चतुरश्र में तीन मत दिये हैं।

शनिता माषघाते स्युर्द्वितीयाद्यास्त्रयः क्रमात्॥ १६२॥
संपिष्टके निशम्यास्त्रिस्त्रितालो द्विः शतौ च सम्।

१६२ ग-१६३ ख. (अ०) माषघाते माषघात में **द्वितीय-आद्याः त्रयः** दूसरी से शुरू करके तीन (कलाओं में) **क्रमात्** क्रम से **शनिताः स्युः** शम्या, निष्क्राम और ताल होते हैं। **संपिष्टके** संपिष्टक में **नि-शम्याः त्रिः** निष्क्राम (और) तीन बार शम्या, **त्रिः तालः** तीन (बार) ताल **द्विः शतौ** दो बार शम्या और ताल **सं च** तथा संनिपात (होते हैं)।

(सर०) माषघात में पहले द्विकल उत्तर ताल कहा जा चुका है (श्लो० १५० क-ख)। लेकिन उसकी तालक्रियाओं से माषघात की कुछ क्रियाएँ भिन्न हैं। द्विकल उत्तर में निप्र ताश निता निश ताप्र निसं क्रिया हैं। उसकी दूसरी, तीसरी और चौथी प्रताश के स्थान पर शनिता होती हैं। तदनुसार माषघात में निश निता निता निश ताप्र निसं क्रिया होंगी।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

सप्तांग ओवेणक के संपिष्टक में १२ कलाएँ और द्वादशांग में उनमें से चौथी, पाँचवीं छोड़ कर १० होती हैं। सप्तांग में १२ क्रियाएँ ये होती हैं—निश शश ताता ताश ताश तासं। इनमें से चौथी, पाँचवीं छोड़े देने पर द्वादशांग संपिष्टक में निश शता ताश ताश तासं—ये क्रियाएँ होंगी।

अन्तो गीतिपदावृत्तियुक्तः सप्ताङ्गके मतः॥ १६३॥

ओवेणके द्वादशाङ्गे तुल्यगीतिः पृथक्पदः॥

१६३ ग-१६४ ख. (अ०) सप्ताङ्गके सप्तांग (ओवेणक) में अन्तः अन्त (अंग) गीतिपद-आवृत्तियुक्तः गीति (और) पद की आवृत्ति से युक्त मतः माना गया (है)। द्वादशाङ्गे आवेणके द्वादशांग ओवेणक में तुल्यगीतिः गीति (स्वररचना) समान (और) पृथक् पदः भिन्न पद (होता है)।

(सर०) सप्तांग ओवेणक के अन्त अंग में गीति (धातु) और पद (मातु) दोनों की आवृत्ति होती है और द्वादशांग में सिर्फ़ गीति की।

अस्य प्रस्तारः—

ऽ ऽ ऽ ऽ   ऽ ऽ ऽ ऽ   ऽ ऽ ऽ ऽ   ऽ ऽ ऽ ऽ
आ नि वि प्र   आ नि वि प्र   आ नि वि श   आ नि वि ता

ऽ ऽ ऽ ऽ   ऽ ऽ ऽ ऽ
आ ता वि श   ता नि वि सं   इति पादः। एवमेव प्रतिपादः॥

पादोत्तरार्धं वा प्रतिपादो यथा—

ऽ ऽ ऽ ऽ   ऽ ऽ ऽ ऽ   ऽ ऽ ऽ ऽ
आ नि वि ता   आ ता वि श   ता नि वि सं ॥ इति प्रतिपादः॥

ऽ । ऽ ऽ । ऽ
सं ता श ता श ता ॥ इति शीर्षकम्॥*

ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ
नि श नि ता नि ता नि श ता प्र नि सं ॥ इति माषघातः॥•

---

* शीर्षक और माषघात के बीच में निम्न अंश अतिरिक्त मुद्रित है जो अनावश्यक है इसलिये हमने छोड़ दिया है—

ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ
नि श नि ता नि श नि ता ता श ता सं ॥ इति माषघातः॥ (क)

आड्यार० के संपादक द्वारा प्रस्तार के अन्त में दिये (क) के द्वारा यह अनुमान होता है कि इस प्रस्तार को उन्होंने कल्लि० की कलानिधि टीका के अनुसार दिया है और इसके बाद दिये माषघात के दूसरे प्रस्तार को (सु) यानी सुधाकर (सिंह० की टीका) के आधार पर दिया है। वस्तुतः कल्लि ने निशनितानितानिशताप्रनिसं ही क्रियाएँ कही हैं और प्रस्तार पर सिंह० की व्याख्या नहीं है।

• माषघात और उपवर्तन के बीच में भी आड्यार० में निम्न अंश जोड़ा गया है जो अनावश्यक है इसलिये हमने उसका ग्रहण नहीं किया है—

[ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ
नि [प्र नि प्र] नि श नि ता ता श ता सं ॥ इति माषघातः॥
(द्विकलापरान्तके शनिता द्वितीयाद्यास्त्रयः) (क)]

[ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ
नि [प्र ता श] नि ता नि श ता प्र नि सं ॥ इति माषघातः॥ (द्विकले षट्पितापुत्रके शनिता द्वितीयाद्यास्त्रयः) (सु)]

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ऽे । ऽ ऽ । ऽे
सं ता श ता श ता ॥ इत्युपवर्तनम्॥

ऽे । ऽ ऽ । ऽे
सं ता श ता श ता ॥ इति संधिः॥

ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ
नि श श श ता श ता सं ॥ इति चतुरश्रः॥

ऽे । ऽ ऽ । ऽे
सं ता श ता श ता ॥ इति वज्रम्॥

ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ
नि श श श ता ता ता श ता श ता सं ॥ इति सप्ताङ्ग ओवेणके द्वादशकलं संपिष्टकम्॥

अथवा

ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ
नि श श ता ता श ता श ता सं ॥ इति द्वादशाङ्ग ओवेणके दशकलं संपिष्टकम्॥

ऽे । ऽ ऽ । ऽे
सं ता श ता श ता ॥ इति संपिष्टकानन्तरमुपवर्तनं वा॥

ऽे । ऽ ऽ । ऽे
सं ता श ता श ता ॥ इति वेणी, एवमेव प्रवेणी॥ (इत्येकः पक्षः)

ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ
नि प्र ता श नि ता नि श ता प्र नि सं ॥ इति वा वेणी॥ एवमेव प्रवेणी॥
(इति द्वितीयः पक्षः)

ऽ ऽ । ऽे ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ
श ता श ता। नि श नि ता श प्र नि सं ॥ वेणी प्रवेणी च॥ (इति तृतीयः पक्षः)

ऽे । ऽ ऽ । ऽे ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ
सं ता श ता श ता॥ इति वेणी॥ नि प्र ता श नि ता नि श ता प्र नि सं
॥ इति प्रवेणी॥ (इति चतुर्थः पक्षः)

ततो मतान्तरेण प्रवेण्यनन्तरमुपवर्तनम्।

ऽे । ऽ ऽ । ऽे
सं ता श ता श ता ॥ इत्युपवर्तनम्॥

ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ
आ नि वि ता आ ता वि श ता नि वि सं ॥ इति पादोत्तरार्धतालेनोपपातः॥

ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ
नि प्र वा श नि ता नि श ता प्र नि सं ॥ इति द्विकलेनोत्तरेण वोपपातः॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ऽ । ऽ ऽ । ऽ
सं ता श ता श ता ॥इत्यन्ताहरणं॥ ततः पाक्षिकान्तो ज्ञेयः॥ स च सप्ताङ्गे युग्मोऽयुग्मश्चेति द्विविधः कर्तव्यः। द्वादशाङ्गे तु युग्मोऽयुग्मो मिश्रश्चेति त्रिविधः॥

इत्योवेणकम्

(अ०) अस्य प्रस्तारः इसका प्रस्तार (यह है)—(प्रस्तार ऊपर देखें)

एवम् एव ऐसा ही प्रतिपादः प्रतिपाद (होता है)। पाद-उत्तरार्धं वा अथवा पाद का उत्तरार्ध प्रतिपादः प्रतिपाद (होता है)। यथा जैसे—

इति सप्ताङ्गे ओवेणके इस प्रकार सप्तांग ओवेणक में द्वादशकलं संपिष्टकं बारह कला वाला संपिष्टक (होता है)। अथवा अथवा—

इति द्वादशाङ्गे ओवेणके इस प्रकार द्वादशांग ओवेणक में दशकलं संपिष्टकं दस कला वाला संपिष्टक (होता है)।

इति वेणी यह वेणी है एवम् एव ऐसी ही प्रवेणी प्रवेणी (होती है)। (इति एकः पक्षः यह एक पक्ष है)।

इति वा वेणी अथवा यह वेणी (है)। एवम् एव प्रवेणी ऐसी ही प्रवेणी (होती है)। (इति द्वितीयः पक्षः यह दूसरा पक्ष है)।

वेणी प्रवेणी च (यह) वेणी और प्रवेणी (है)। (इति तृतीय पक्षः यह तीसरा पक्ष है)।

इति वेणी यह वेणी (है)। इति प्रवेणी (और) यह प्रवेणी (है)। (इति चतुर्थः पक्षः यह चौथा पक्ष है।)

ततः उसके बाद मतान्तरेण मतान्तर से प्रवेणी-अनन्तरं प्रवेणी के बाद उपवर्तनम् उपवर्तन।

इति यों पाद-उत्तरार्धतालेन पाद के उत्तरार्ध के ताल से उपपातः उपपात।

इति द्विकलेन उत्तरेण वा अथवा इस प्रकार द्विकल उत्तर से उपपातः उपपातः (होता है)।

इति अन्ताहरणं यह अन्ताहरण (है)। ततः उसके बाद पाक्षिकः अन्तः ज्ञेयः विकल्प वाला अन्त (अंग) जानना चाहिये। स च और वह सप्ताङ्गे सप्तांग में युग्मः अयुग्मः च युग्म और अयुग्म इति द्विविधः कर्तव्यः यों दो तरह का करना चाहिये। द्वादशाङ्गे तु द्वादशांग में तो युग्मः अयुग्मः मिश्रः च युग्म, अयुग्म और मिश्र इति त्रिविधः यों तीन प्रकार का (होता है)।

(सर०) ओवेणक में उपोहन आदि नहीं होते और पूरे गीतक में सिर्फ़ स्तुति-पद होते हैं। ताल और गीतांगों की योजना सहित अंगों के प्रस्तार नीचे दिये जा रहे हैं। सन्धि, चतुरश्र, वज्र, संपिष्टक और संपिष्टक के उपवर्तन में विविध या एकक गीतांग होते हैं। उन सबके अलग-अलग प्रस्तार नहीं दे रहे हैं। इसी तरह ओवेणक में युग्म, अयुग्म, मिश्र अन्त उल्लोप्यक जैसे ही होते हैं इसलिये उनके प्रस्तार भी यहाँ नहीं दिये हैं, उन्हें उल्लोप्यक में देखा जा सकता है। शेष अंगों के प्रस्तार नीचे हैं।

पाद

ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ
आ	नि	वि	प्र	आ	नि	वि	प्र	आ	नि	वि	श	आ	नि	वि	ता	आ	ता	वि	श	ता	नि	वि	सं

वि वि ध

प्रतिपाद

पाद जैसा, पद भिन्न

शीर्षक

ऽ । ऽ ऽ । ऽ
सं ता श ता श ता

गीतांग निर्दिष्ट नहीं

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

माषघात

ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ
नि	श	नि	ता	नि	ता	नि	श	ता	प्र	नि	सं

विविध

उपवर्तन

ऽ	।	ऽ	ऽ	।	ऽ
सं	ता	श	ता	श	ता

एकक

वेणी

ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ
नि	प्र	ता	श	नि	ता	नि	श	ता	प्र	नि	सं

विविध

प्रवेणी

ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ
नि	प्र	ता	श	नि	ता	नि	श	ता	प्र	नि	सं

प्रवृत्त

उपपात

ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ
आ	नि	वि	ता	आ	ता	वि	श	ता	नि	वि	सं

अथवा

ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ
नि	प्र	ता	श	नि	ता	नि	श	ता	प्र	नि	सं

विविध

अन्ताहरण

ऽ	।	ऽ	ऽ	।	ऽ
सं	ता	श	ता	श	ता

एकक या विविध

ओवेणक समाप्त

(रोविन्दकम्)

सप्ताङ्गमवरं ज्ञेयं षोडशाङ्गं परं तथा॥ १६४॥

रोविन्दं तस्य षण्मात्रः पादोऽस्याद्ये कलाष्टके।
उपोहनं मद्रकस्थवस्तुवच्च तदर्धयोः॥ १६५॥

विविधैककसंयोगः प्रत्येकं पादवत्ततः।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

प्रतिपादः पदैरन्यैः पादस्यान्ते कलाष्टके॥ १६६॥
प्रतिपादादिमे चैका गीतिः प्रस्तारसंज्ञका।

६—रोविन्दक

१६४ ग-१६७ ख. (अ०) अवरं रोविन्दं छोटा रोविन्दक सप्ताङ्गं सात अंग वाला तथा और परं षोडशाङ्गं बड़ा सोलह अंग वाला ज्ञेयं जाना गया (है)। तस्य पादः उसका पाद षट्-मात्रः ६ मात्रा वाला (होता है)। अस्य इसके आद्ये कला-अष्टके शुरू के आठ कला के समूह में मद्रकस्थवस्तुवत् मद्रक में स्थित वस्तु की तरह उपोहनम् उपोहन (होता है) तत् च और उस (पाद) के अर्धयोः दो आधे (भागों) में (से) प्रत्येकं हरेक विविध-एककसंयोगः विविध (और) एकक के संयोग वाला (होता है)। ततः उसके बाद अन्यै पदैः भिन्न पदों से प्रतिपादः प्रतिपाद पादवत् पाद के समान (होता है)। पादस्य पाद के अन्तिमे कला-अष्टके अन्तिम आठ कलाओं के समूह में प्रस्तारसंज्ञका प्रस्तार नामक एका गीतिः एक गीति प्रतिपाद-आदिमे च प्रतिपाद के शुरू (की आठ कलाओं) में भी (होती है)।

(सर०) रोविन्दक सप्तांग और षोडशांग होता है। यहाँ भी अंगों से वर्णांग समझने चाहियें। रोविन्दक में पाद, प्रतिपाद, शरीर, उपवर्तन और शीर्षक—इतने ही अंग होते हैं। इनमें मुख्य अंग पाद है जो ६ पारिभाषिकी मात्रा वाला यानी ९६ गुरु के बराबर होता है। पाद के शुरू की ८ कलाओं में मद्रक की तरह उपोहन होता है। पाद के दो आधे-आधे भाग होते हैं। दोनों अर्धों में विविध और एकक गीतांग होते हैं। पाद की अन्तिम आठ कलाओं में जो गीति होती है वही प्रतिपाद के शुरू की ८ कलाओं में भी होती है जिसकी संज्ञा प्रस्तार है।

शरीरं प्रतिपादान्त्यकलाद्वादशकस्थया॥ १६७॥

गीत्या ततः परं गेयमुत्तरे द्विकले बुधैः।
प्लुताकारास्त्रिचतुराः स्युः शरीरेऽन्तरान्तरा॥ १६८॥

तेषु वृत्तं तदूर्ध्वाधः स्वैरमङ्गानि योजयेत्।
शरीराद्यकलाषट्के प्रयोक्तव्यमुपोहनम्॥ १६९॥

विविधो वा प्रवृत्तं वा गीताङ्गं स्यादुपोहनम्।

१६७ ग-१७० ख. (अ०) ततः परम् उसके बाद प्रतिपाद-अन्त्यकलाद्वादशकस्थया गीत्या प्रतिपाद की अन्तिम बारह कलाओं में स्थित गीति के द्वारा द्विकले उत्तरे द्विकल उत्तर में बुधैः बुधजनों के द्वारा शरीरं गेयं शरीर गाया जाना चाहिये। शरीरे शरीर में अन्तरा-अन्तरा बीच-बीच में त्रि-चतुराः तीन (या) चार प्लुत आकाराः स्यु प्लुत (माप के) 'आ'कार होते हैं। तेषु वृत्तम् उनमें वृत्त (और) तत् ऊर्ध्व-अधः उसके बाद और पहले स्वैरम् अङ्गानि योजयेत् इच्छानुसार अंगों (गीतांगों) की योजना करनी चाहिये। शरीर-आद्यकलाषट्के शरीर की शुरू की छ कला के समूह में उपोहनं प्रयोक्तव्यम् उपोहन का प्रयोग करना चाहिये। उपोहनम् उपोहन विविधः वा प्रवृत्तं वा या तो विविध या प्रवृत्त (गीतांग) वाला स्यात् होता है।

(सर०) शरीर में प्रतिपाद की अन्तिम १२ कलाओं की गीति की आवृत्ति होती है जिसके बीच-बीच में ३ या ४ बार 'आ' अक्षर के द्वारा गाया जाता है। प्लुत आकार से छन्द का प्लुत यानी तीन ह्रस्व अक्षरों का काल समझना चाहिये, ताल का प्लुत नहीं। इन आकारों में वृत्त गीतांग का और शरीर के शेष भागों में इच्छानुसार गीतांगों का प्रयोग किया जा सकता है।

अथोपवर्तनं केचिदपरान्तकवज्जगुः॥ १७०॥

शीर्षकं गीतकान्ते स्यात् पञ्चपाणौ यथाक्षरे।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

गीतावृत्त्या पदावृत्त्याप्युभयावृत्तितोऽथवा॥ १७१॥

आवृत्त्या द्विस्त्रिरथवा स्यादावृत्त्या विनाथवा।
आकारैः प्रथमावृत्तिः कर्तव्यं तत्र चैककम्॥ १७२॥

द्वितीया तु पदैर्युक्ता प्रवृत्तेन प्रकीर्तिता।
त्रिरावृत्तौ मध्यमा स्यात् स्वैरं गीताङ्गसंगता॥ १७३॥

१७० ग-१७३. (अ०) अथ इसके बाद केचित् कोई (कुछ) आचार्य अपरान्तकवत् अपरान्तक के समान उपवर्तनं जगुः उपवर्तन कहते हैं। गीतकं-अन्ते गीतक के अन्त में यथाक्षरे पञ्चपाणौ यथाक्षर पंचपाणि में शीर्षकं स्यात् शीर्षक होता है (जो) गीत-आवृत्त्या गीति की आवृत्ति से पद-आवृत्त्या अपि और पद की आवृत्ति से अथवा या उभय-आवृत्तितः दोनों की आवृत्ति से, आवृत्त्या आवृत्ति (पक्ष) से द्विः अथवा त्रिः दो या तीन (आवृत्ति) वाला अथवा या आवृत्त्या विना आवृत्ति के बिना स्यात् होता है। प्रथम-आवृत्तिः पहली (गीति की) आवृत्ति आकारैः कर्तव्यम् 'आ' कारों के द्वारा करनी चाहिये तत्र च और उसमें एककम् एकक (गीतांग होता है)। पदैः युक्ता पदों से युक्त द्वितीया तु दूसरी (पदावृत्ति वाली) तो प्रवृत्तेन कीर्तिता प्रवृत्त से कही गई (है)। त्रिः आवृत्तौ तीन आवृत्तियों में स्वैरं गीताङ्गसंगता इच्छानुसार गीतांगों से संगत हुई मध्यमा स्यात् मध्यमा (गीति और पद मिश्रित आवृत्ति वाली) होती है।

(सर०) शरीर के बाद उसका उपवर्तन भी एक अन्य मत के अनुसार होता है। शरीर के बाद होने वाला शीर्षक रोविन्दक का अन्तिम अंग है जो यथाक्षर पंचपाणि से होता है। इसमें गीति की या पद की या दोनों की आवृत्ति हो सकती है अथवा आवृत्ति के बिना हो सकता है। आवृत्ति हों तो दो या तीन तक हो सकती हैं। पहली आवृत्ति में सिर्फ़ 'आ' अक्षर होता है। सिंह० ने कहा कि 'आ आ' वर्णसमूहों के द्वारा गाना चाहिये जैसा कि गायकों में प्रसिद्ध है। दूसरी आवृत्ति में स्तुतिपद होते हैं और तीसरी में संभवतः आकार और स्तुतिपद दोनों होते हैं। वर्णांगों के बारे में यह निर्दिष्ट है कि पहली आवृत्ति में एकक, दूसरी में प्रवृत्त और तीसरी में इच्छानुसार अंगयोजना की जा सकती है।

पादभागेष्वानिविप्रा विशेषस्तूच्यतेऽधुना।
तालोऽष्टमोऽन्तिमा शम्या तत्र मात्रासु पञ्चसु॥ १७४॥

चतुर्दशस्तु पञ्चम्यां तालोऽन्त्यान्त्येव मद्रके।
शरीरे प्राक्कलास्तिस्रः केऽप्याहुर्माषघातवत्॥ १७५॥

१७४-१७५. (अ०) पादभागेषु (रोविन्दक की मात्रा के) पादभागों में आनिविप्राः आवाप, निष्क्राम, विक्षेप और प्रवेश (क्रिया होती हैं)। विशेषः तु विशेष (क्रियाएँ)तो अधुना उच्यते अब कही जा रही हैं। तत्र पञ्चसु मात्रासु उनमें से पाँच मात्राओं में अष्टमः तालः आठवाँ ताल (और) अन्तिमा शम्या अन्तिम शम्या (है)। पञ्चम्यां पाँचवी (मात्रा) में चतुर्दशः तु तालः चौदहवाँ तो ताल (होता है)। अन्त्या अन्तिम (मात्रा) मद्रके मद्रक में अन्त्य इव अन्तिम (मात्रा) जैसी (होती है)। के अपि कोई (आचार्य) शरीरे शरीर में प्राक् तिस्रः कलाः पहली तीन कलाएँ माषघातवत् माषघात के समान आहुः कहते हैं।

(सर०) रोविन्दक की ६ मात्राओं के सभी पादभागों में पहले सामान्य रूप से आनिविप्र क्रियाएँ कह कर फिर उनमें से कुछ के स्थान पर दूसरी क्रियाओं का निवेश बताया है। अन्तिम यानी छठी मात्रा में चतुष्कल मद्रक की वस्तु जैसी क्रिया होती हैं। चतुष्कल मद्रक में तीन मात्रा की वस्तु होती है। अन्तिम मात्रा में आशविता आताविश आताविश तानिविसं क्रिया हैं। तदनुसार रोविन्दक की छठी मात्रा में भी यही क्रिया होंगी।

शरीर की शुरू की ३ कलाओं में माषघात जैसी क्रियाएँ कुछ आचार्य कहते हैं, ऐसा ग्रन्थकार ने उल्लेख किया है। माषघात ओवेणक का अंग है जिसकी १२ कलाओं में से शुरू की ३ क्रिया निशनि हैं अन्य मत के अनुसार रोविन्दक के शरीर की शुरू की तीन कलाओं में भी निशनि क्रियाएँ होती हैं।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अन्य प्रस्तारः

```
ऽ  ऽ  ऽ  ऽ     ऽ  ऽ  ऽ  ऽ
आ नि वि प्र    आ नि वि ता  ॥ इत्युपोहनम्॥

ऽ  ऽ  ऽ  ऽ     ऽ  ऽ  ऽ  ऽ
आ नि वि प्र    आ नि वि श  ॥ इत्युपोहनेन सह मात्रा॥

ऽ  ऽ  ऽ  ऽ     ऽ  ऽ  ऽ  ऽ     ऽ  ऽ  ऽ  ऽ     ऽ  ऽ  ऽ  ऽ
आ नि वि प्र    आ नि वि ता    आ नि वि प्र    आ नि वि श  ॥ मात्रा १॥

ऽ  ऽ  ऽ  ऽ     ऽ  ऽ  ऽ  ऽ     ऽ  ऽ  ऽ  ऽ     ऽ  ऽ  ऽ  ऽ
आ नि वि प्र    आ नि वि ता    आ नि वि प्र    आ नि वि श  ॥ मात्रा २॥

ऽ  ऽ  ऽ  ऽ     ऽ  ऽ  ऽ  ऽ     ऽ  ऽ  ऽ  ऽ     ऽ  ऽ  ऽ  ऽ
आ नि वि प्र    आ नि वि ता    आ नि वि प्र    आ नि वि श  ॥ मात्रा ३॥

ऽ  ऽ  ऽ  ऽ     ऽ  ऽ  ऽ  ऽ     ऽ  ऽ  ऽ  ऽ     ऽ  ऽ  ऽ  ऽ
आ नि वि प्र    आ नि वि ता    आ नि वि प्र    आ नि वि श  ॥ मात्रा ४॥

ऽ  ऽ  ऽ  ऽ     ऽ  ऽ  ऽ  ऽ     ऽ  ऽ  ऽ  ऽ     ऽ  ऽ  ऽ  ऽ
आ नि वि प्र    आ नि वि ता    आ नि वि प्र    आ ता वि श  ॥ मात्रा ५॥

ऽ  ऽ  ऽ  ऽ     ऽ  ऽ  ऽ  ऽ     ऽ  ऽ  ऽ  ऽ     ऽ  ऽ  ऽ  ऽ
आ श  वि ता     आ ता वि श     आ ता वि श     ता नि वि सं  ॥ मात्रा ६॥
```

इति षण्मात्रः पादः। एवमेव पदान्तरैः प्रतिपादः। ततः शरीरम्।

```
ऽ  ऽ  ऽ  ऽ  ऽ  ऽ  ऽ  ऽ  ऽ  ऽ  ऽ  ऽ
नि प्र ता श  नि ता नि श  ता प्र नि सं  ॥ इति शरीरम्।

ऽ  ऽ  ऽ  ऽ  ऽ  ऽ
नि प्र ता श  नि ता  ॥ इति शरीरस्याद्याः षट्कला उपोहनम्॥

ऽ  ऽ  ऽ  ऽ  ऽ  ऽ  ऽ  ऽ  ऽ  ऽ  ऽ  ऽ
नि श  नि ता नि ता नि श  ता प्र नि सं  ॥ इति माषघाते आद्यकलात्रययुक्तं शरीरम्॥

ऽ  ऽ  ऽ  ऽ  ऽ  ऽ
नि श  नि ता नि ता  ॥ इति वा शरीरम्॥

ऽे  ।  ऽ  ऽ  ।  ऽे
सं  ता श  ता श  ता  ॥ इत्युपवर्तनम्॥

ऽे  ।  ऽ  ऽ  ।  ऽे
सं  ता श  ता श  ता  ॥ इत्युपवर्तनम्॥
```

इति रोविन्दकम्

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(अ०) अस्य प्रस्तारः इसका प्रस्तार (यह है)। (प्रस्तार ऊपर देखें)

इति षट्-मात्रः पादः यह छ मात्रा वाला पाद (है)। एवम् एव ऐसा ही पदान्तरैः प्रतिपादः भिन्न पदों से प्रतिपाद (होता है)। ततः उसके बाद शरीरं शरीर।

इति यह शरीरस्य शरीर का, आद्याः षट्कला उपोहनं शुरू की छ कला वाला, उपोहन (है)।

इति यह माषघाते माषघात में आद्यकलात्रययुक्तं शरीरं शुरू की तीन कलाओं से युक्त शरीर (है)।

इति वा शरीरम् अथवा यह शरीर (है)।

(सर०) उपवर्तन से पहले 'इति वा शरीरं' के द्वारा जो प्रस्तार दिया है वह मतान्तर से माषघात की तीन कलाओं से युक्त शरीर के उपोहन का है। कल्लि० ने शब्दों में प्रस्तार का जो विवरण दिया है उसमें इस उपोहन का विवरण नहीं है।

रोविन्दक के अंगों के प्रस्तार ताल, पद और गीतांगों के ढाँचे के सहित नीचे दिये जा रहे हैं। पहली मात्रा के पूर्वार्ध में उपोहन और उत्तरार्ध में स्तुतिपद होते हैं। शेष ५ मात्राओं में सिर्फ़ स्तुतिपद होते हैं इसलिये प्रस्तार में उनमें स्तुतिपद नहीं दिखाया है। वहाँ स्तुतिपद समझ लेना चाहिये।

पाद

ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ
आ नि वि प्र आ नि वि ता आ नि वि प्र आ नि वि श
उ | स्तुतिपद
वि | वि

मात्रा १

ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ
आ नि वि प्र आ नि वि ता आ नि वि प्र आ नि वि श
ध

मात्रा २

ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ
आ नि वि प्र आ नि वि ता आ नि वि प्र आ नि वि श
एकक

मात्रा ३

ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ
आ नि वि प्र आ नि वि ता आ नि वि प्र आ नि वि श
वि वि

मात्रा ४

ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ
आ नि वि प्र आ नि वि ता आ नि वि प्र आ ता वि श
ध

मात्रा ५

ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ
आ नि वि प्र आ ता वि श आ ता वि श ता नि वि सं
एकक

मात्रा ६

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

प्रतिपाद

ताल पाद जैसा, पद भिन्न

स्वर पाद जैसे, पाद की अन्तिम आठ कलाओं की धातु की

प्रतिपाद की शुरू की आठ कलाओं में आवृत्ति

शरीर

ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ
नि	प्र	ता	श	नि	ता	नि	श	ता	प्र	नि	सं
		उ				आकार सहित स्तुतिपद					
विविध या प्रवृत्त						वृत्त और कोई अन्य अंग					

शीर्षक

ऽे	।	ऽ	ऽ	।	ऽे
सं	ता	श	ता	श	ता

आकार (पहली बार)

एकक

स्तुतिपद (दूसरी बार)

प्रवृत्त

स्तुतिपद व आकार (तीसरी बार)

अंग इच्छानुसार

रोविन्दक समाप्त

(उत्तरम्)

चतुष्कलोल्लोप्यकवदादौ मात्रोत्तरे भवेत्।
शाखावरा षडङ्गा स्याद् द्वादशाङ्गा परा ततः॥ १७६॥

द्विकले पञ्चपाणौ सा प्रतिशाखा च तत्समा।
किं तु बद्धा पदैरन्यैः शीर्षं मध्ये तयोर्भवेत्॥ १७७॥

मध्यान्तयोश्च वा भिन्नगीतेनैककलोत्तरे।
ततोऽनन्तरमेकोऽन्तो यद्वान्तो नात्र विद्यते॥ १७८॥

आकारवर्जं शाखायां गीताङ्गानि शरीरवत्।

७—उत्तर

१७६-१७९ ख. (अ०) उत्तरे उत्तर में आदौ शुरू में मात्रा मात्रा चतुष्कल-उल्लोप्यकवत् भवेत् चतुष्कल उल्लोप्यक जैसी होती है। अवरा शाखा छोटी शाखा षद्-अङ्गा स्यात् छ अंग वाली होती है। ततः परा उससे बड़ी द्वादश-अङ्गा बारह अंग वाली (होती है)। सा वह द्विकले पञ्चपाणौ द्विकल पंचपाणि में (होती है) तत् समा च और उसके बराबर प्रतिशाखा प्रतिशाखा किं तु लेकिन अन्यै पदैः बद्धा भिन्न पदों से बँधी हुई (होती है)। तयोः मध्ये उन दोनों (शाखा) (और प्रतिशाखा)

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

के बीच में शीर्षं भवेत् शीर्षक होता है मध्य-अन्तयोः च वा अथवा बीच में और अन्त में (भी हो सकता है)। एककल-उत्तरे एककल उत्तर (ताल) में भिन्नगीतेन भिन्न धातु (स्वरयोजना) से (गाया जाता है)। ततः अनन्तरम् उसके बाद एकः अन्तः एक (ही) अन्त (होता है) यत् वा अथवा अत्र इसमें अन्तः न विद्यते अन्त नहीं होता। आकारवर्जम् आकार को छोड़कर शाखायां गीताङ्गानि शाखा के गीतांग शरीरवत् शरीर के समान (होते हैं)।

(सर०) 'गीतक' वर्ग में उत्तर अन्तिम गीतक है। उल्लोप्यक जैसी यानी १६ कला की मात्रा उन्हीं क्रियाओं से युक्त उत्तर गीतक में भी होती है।

अवरा का अर्थ कल्लि० ने निकृष्ट और परा का उत्कृष्ट दिया है। इन्हीं शब्दों का प्रयोग गीतकलक्षणों में पहले भी हो चुका है लेकिन वहाँ टीकाकारों ने ऐसे अर्थ का संकेत नहीं दिया है। यहाँ भी छोटा और बड़ा अर्थ ही अभिप्रेत है। इसके समकक्ष कल्लि० ने भी कहा है कि ६ से कम अंग वाली (हीनाङ्गा) और १२ से ज्यादा अंग वाली (अधिकाङ्गा) शाखा नहीं करनी चाहिये। उसने अंगसंख्या के संदर्भ में यह उल्लेख भी किया कि विविध, एकक आदि अंग ६ और १२ की संख्या में यथेष्ट करने चाहियें।

शाखा में आकार नहीं होते यानी सिर्फ़ स्तुतिपद होते हैं।

शीर्षक शाखा और प्रतिशाखा के बीच में यानी शाखा के अन्त में होता है और अन्त में भी यानी प्रतिशाखा के बाद भी हो सकता है जो एककल उत्तर ताल में होता है।

आनन्द० और आड्यार० में १७८ ख में 'एककलान्तरे' पाठ है। आड्यार० की पादटिप्पणी में भिन पाठ 'कलोत्तरे' है। यही पाठ सही है क्योंकि यहाँ शीर्षक के ताल की चर्चा है और वह एककल उत्तर ही होता है। यहाँ 'एककलान्तरे' (एककला के अन्तर पर) की अर्थ संगति नहीं दिखती। दोनों टीकाकारों ने एककल उत्तर ताल ही कहा भी है।

'भिन्नगीतेन' का तात्पर्य यह है कि अगर प्रतिशाखा के बाद भी शीर्षक हो तो शाखा के शीर्षक से उसकी धातु भिन्न होती है। यह कहना इसलिये आवश्यक है कि प्रतिशाखा में सामान्य रूप से शाखा से पद ही भिन्न होते हैं गीति शाखा जैसी ही होती है। लेकिन उत्तर में प्रतिशाखा के शीर्षक की धातु भी भिन्न होना विशेष है।

अस्य प्रस्तारो यथा—

ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ
आ नि वि श आ नि वि ता आ श वि ता आ नि वि सं॥ मात्रा १॥

ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ
नि प्र ता श नि ता नि श ता प्र नि सं॥ शाखा॥

ऽ । ऽ ऽ । ऽ
सं ता श ता श ता ॥ इति शीर्षकम्॥

ततः शाखेव प्रतिशाखा। शाखाप्रतिशाखान्तयोरपि शीर्षकमित्यन्ये। ततः कोऽप्येकोऽन्तः, अन्तर्हितं वा॥

इत्युत्तरम्

(अ०) अस्य प्रस्तारः इसका प्रस्तार यथा इस प्रकार (है)। (प्रस्तार ऊपर देखें)

ततः उसके बाद शाखा-इव प्रतिशाखा शाखा जैसी प्रतिशाखा (होती है)। शाखाप्रतिशाखा-अन्तयोः अपि शाखा और प्रतिशाखा के बाद भी शीर्षकम् इति अन्ये शीर्षक (होता है) ऐसा अन्य आचार्य (कहते हैं)। ततः उसके बाद कः अपि कोई भी एकः अन्तः एक (प्रकार का) अन्त (अंग हो) अन्तर्हितं वा अथवा न हो।

(सर०) विविध आदि अंगों के सहित प्रस्तार इस प्रकार होगा।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

मात्रा

ऽ ऽ ऽ ऽ   ऽ ऽ ऽ ऽ   ऽ ऽ ऽ ऽ   ऽ ऽ ऽ ऽ
आ नि वि श   आ नि वि ता   आ श वि ता   आ नि वि सं

[स्तुतिपद — पूरी पंक्ति]

[विविध — पहले दो खण्ड]   [विविध और वृत्त — अंतिम दो खण्ड]

शाखा (शरीर)

ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ   ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ
नि प्र ता श नि ता   नि श ता प्र नि सं
उ

[उ — पहला खण्ड]   [स्तुतिपद — दूसरा खण्ड]

[विविध या प्रवृत्त — पहला खण्ड]   [कोई भी अंग — दूसरा खण्ड]

शीर्षक

स्तुतिपद युक्त, स्वरयोजना निर्दिष्ट नहीं

प्रतिशाखा

शाखा जैसी, पद भिन्न

शीर्षक

ताल व पद शाखा के शीर्षक की तरह, स्वर भिन्न

अन्त

त्र्यश्र, चतुरश्र या मिश्र में से कोई एक

उत्तर समाप्त

(गीतकेष्वङ्गाधारितौ द्वौ मार्गौ)

द्वौ मार्गौ गीतकेषूक्तौ शङ्खच्छत्रकसंज्ञकौ॥ १७९॥

शङ्खमार्गोऽङ्गसंक्षेपश्छत्रकस्त्वङ्गविस्तरः।
विकल्पो बहुधा तेषु लयमार्गानुसारतः॥ १८०॥

इति सप्त गीतकानि

अंगों पर आधारित गीतकों के दो मार्ग

१७९ ग-१८०. (अ०) गीतकेषु गीतकों में **शङ्खच्छत्रकसंज्ञकौ** शंख और छत्रक संज्ञा वाले **द्वौ मार्गौ उक्तौ** दो मार्ग कहे गये हैं। **अङ्गसंक्षेपः** अंगों के संक्षेप वाला **शङ्खमार्गः** शंख मार्ग (और) **छत्रकः तु** छत्रक तो **अङ्गविस्तरः** अंगों के विस्तार वाला (होता है)। **तेषु** उनमें **लयमार्ग-अनुसारतः** लय (और) मार्ग के अनुसार **बहुधा विकल्पः** बहुत प्रकार से भेद (होता है)।

(सर०) ताल के पूर्वोक्त चित्र आदि तीन मार्गों से भिन्न यहाँ गीतकों के दो मार्ग कहे गये हैं—शंख और छत्रक जो गीतकों में अंगों के संक्षेप या विस्तार से संबन्धित हैं। शंख के आकार में क्रमशः संकोच होता है और छत्र में क्रमशः फैलाव। इसी तरह अंगों के संकोच या संक्षेप वाले गीतक शंख मार्ग के और अंगों के विस्तार वाले छत्रक मार्ग के होते हैं।

शंख और छत्र में संक्षेप और विस्तार उनकी आकृति में स्पष्ट रूप से दिखाई देता है। लेकिन अंगों के संदर्भ में संक्षेप और विस्तार का आशय स्पष्ट नहीं है। दोनों टीकाकार भी इस बारे में मौन हैं। संक्षेप और विस्तार अंगों की संख्या, एककल

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

आदि भेदों, चित्र आदि मार्गों, द्रुत आदि लयों के आधार पर हो सकता है। शंख, छत्रक मार्गों में क्या अभिप्रेत है यह कहा नहीं गया है।

सप्त गीतक समाप्त

(सप्तगीतलक्षणानि)

(छन्दकम्)

अन्ते गेयं गीतकानां छन्दकं तस्य च द्विधा।
शरीरं चतुरश्रं वा त्र्यश्रं वा चतुरश्रकम्॥ १८१॥
यैः कैश्चिदङ्गैर्नवभिश्चतुर्भिस्त्र्यश्रमुच्यते।
प्राग्वन्मुखं छन्दके स्यात् पादेन प्रतिवक्त्रकम्॥ १८२॥
मुखतालेन वा कार्यं गीतान्ते शीर्षकं भवेत्।

(आ) सप्त गीतों के लक्षण

१—छन्दक

१८१-१८३ ख. (अ०) गीतकानाम् अन्ते गीतकों के अन्त में छन्दकं गेयं छन्दक गाना चाहिये तस्य च शरीरम् और उसका शरीर (नामक अंग) द्विधा दो प्रकार से (होता है) चतुरश्रं वा त्र्यश्रं वा या तो चतुरश्र या त्र्यश्र। यैः कैश्चित् जिन किन्हीं नवभिः अङ्गैः चतुरश्रकं नौ अंगों से चतुरश्र (और) चतुर्भिः चार (अंगों) से त्र्यश्रम् उच्यते त्र्यश्र कहा जाता है। छन्दके छन्दक में प्राक्वत् पहले की तरह मुखं स्यात् मुख होता है। पादेन मुखतालेन वा पाद के या मुख के ताल से प्रतिवक्त्रकं कार्यं प्रतिमुख करना चाहिये। गीत-अन्ते गीत के अन्त में शीर्षकं भवेत् शीर्षक होता है।

(सर०) ग्रन्थकार ने १४ प्रकरण गीतों के गीतक और गीत—ये जो दो वर्ग बनाये उनमें से गीत वर्ग का पहला गीत छन्दक है।

गीतकों के अन्त में छन्दक गाना चाहिये—ग्रन्थकार के इस कथन में 'गीतक' से कल्लि० ने मद्रकादि में से किसी एक गीतक को गाने के बाद छन्दक का प्रयोग कहा। संभवतः छन्दक के लक्षण में गीतक शब्द होने के कारण कल्लि० ने मद्रक आदि का ग्रहण किया है क्योंकि गीतक वर्ग में मद्रक आदि ही आते हैं।

सं०र० का छन्दक का लक्षण ना०शा० और अभि० पर आधारित है। ना०शा० में भी सभी गीतों के अन्त में छन्दक का प्रयोग कहा है (३१/३२६ क-ख)। इसकी व्याख्या में अभिनव ने स्पष्ट किया कि 'सर्वेषां' का अर्थ आसारित-वर्धमान गीतक है क्योंकि छन्दक इन्हीं के साथ प्रयुक्त होता है। इस आधार पर कल्लि० की उक्त व्याख्या संगत नहीं है।

छन्दक का मुख्य अंग शरीर है। अन्य तीन अंग मुख, प्रतिमुख और शीर्षक हैं। अंगों की संख्या के आधार पर शरीर दो प्रकार का होता है—नौ अंगों से चतुरश्र और चार अंगों से त्र्यश्र। ना०शा० के छन्दक संबंधी श्लोक की टीका में अभिनव ने कहा कि त्र्यश्र शरीर में तालांगों और गीतांगों में से किसी एक प्रकार के चार अंग होते हैं। शार्ङ्ग० ने चतुरश्र और त्र्यश्र शरीर में कौन-सा ताल हो इसका निर्देश शाब्दी लक्षण में नहीं किया लेकिन प्रस्तार के अन्तर्गत चतुरश्र शरीर में चच्चत्पुट है जो चतुरश्र ताल है और त्र्यश्र शरीर के प्रस्तार में त्र्यश्र ताल चाचपुट है। सिंह० ने चतुरश्र और त्र्यश्र शरीर में क्रम से चच्चत्पुट और चाचपुट ताल कहा है। कल्लि० ने यह स्पष्ट किया कि ये दोनों ताल यथाक्षर होते हैं।

मुख के लक्षण वाले श्लोक में दो भिन्न पाठ हैं। आड्यार० में 'पादान्मुखं' और आनन्दा० में 'प्राग्वन्मुखं' है। कल्लि० की टीका में पहला और सिंह० की टीका में दूसरा है। आड्यार० की पादटिप्पणी में दूसरा पाठ दिया है। 'पादान्मुखं' (पादात्

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

मुखं) का अर्थ है 'पाद से मुख' और 'प्राग्वन्मुखं' (प्राक्वत् मुखं) यानी पिछले (गीतकों) की तरह मुख। प्रतिमुख के लक्षण में पाद के ताल या मुख के ताल का प्रयोग कहा गया है। यानी पाद और मुख के ताल में भिन्नता है इसलिये पाद मुख के समान नहीं हो सकता। इसलिये आनन्द० और सिंह० का पाठ ही सही है। सं० राज से भी इसी की पुष्टि होती है। (२/४/१/२८४ ग-घ)।

प्राग्वत् का अर्थ है पहले की तरह। पहले उल्लोप्यक और उत्तर गीतकों में मुख है। छन्दक के प्रस्तार के अन्त में भी ग्रन्थकार ने यह दोहराया है कि छन्दक का मुख अन्य गीतकों के मुख जैसा होता है। उल्लोप्यक में एककल आदि के अनुसार ४, ८ और १६ कलायुक्त मात्रा के आधार पर मुख की रचना होती है और उत्तर में मात्रा सिर्फ़ चतुष्कल यानी १६ कला की होती है। मात्रा का पूर्वार्ध मुख और उत्तरार्ध प्रतिमुख कहलाता है। इसलिये अगर चतुष्कल यानी १६ कला वाली मात्रा को छन्दक में आधार मानें तो मुख ८ कला का और उसी के जैसा यानी ८ कला का प्रतिमुख होगा।

शीर्षक सामान्य रूप से यथाक्षर पंचपाणि ताल में होता है इसलिये छन्दक में भी ऐसा ही समझना चाहिये।

अस्य प्रस्तारः—

ऽ	ऽ	।	ऽ́	
सं	श	ता	श	।। इति चतुरश्रं शरीरम्।। अथवा
ऽ	।	।	ऽ	
श	ता	श	ता	।। इति त्र्यश्रं शरीरम्।।

अस्य मुखं गीतकान्तरमुखवत्। प्रतिमुखं मुखवत्पादवद्वा। अन्ते शीर्षकं येन केनचिच्छीर्षकेण सदृशम्। इतरे मुखवत् प्रतिमुखम्।

इति छन्दकम्

(अ०) अस्य प्रस्तारः इसका प्रस्तार (यह है)। (प्रस्तार ऊपर देखें)

अस्य मुखम् इसका मुख गीतक-अन्तरमुखवत् अन्य गीतकों के मुख जैसा (होता है)। अन्ते अन्त में शीर्षकं शीर्षक येन केनचित् जिस किसी (अन्य) शीर्षकेण सदृशं शीर्षक के समान (होता है)। इतरे अन्य आचार्यों (के मत) में मुखवत् प्रतिमुखं मुख जैसा प्रतिमुख (होता है)।

(सर०) चतुरश्र शरीर के प्रस्तार में आड्यार० में संशताश क्रियाएँ हैं और आनन्दा० में संताताश। सं० राज में शताशता क्रिया दी हैं। चच्चत्पुट में संताताश नहीं होतीं लेकिन यथाक्षर चच्चत्पुट में बताई गई तीन प्रकार की क्रियाओं में से एक संशताश और अन्य शताशता है। हमने आड्यार० के पाठ का ग्रहण किया है।

छन्दक समाप्त

(आसारितम्)

आसारितं चतुर्धा स्यात् कनिष्ठं च लयान्तरम्।। १८३।।

मध्यमं ज्येष्ठमित्येषां लक्ष्माणि व्याहरामहे।

(२—आसारित)

१८३ ग-१८४ ख. (अ०) आसारितम् आसारित कनिष्ठं च लयान्तरं कनिष्ठ और लयान्तर मध्यमं ज्येष्ठम् इति मध्यम (और) ज्येष्ठ यों चतुर्धा स्यात् चार प्रकार से होता है। एषां लक्ष्माणि इनके लक्षण व्याहरामहे कहते हैं।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(सर०) कनिष्ठासारित, लयान्तरासारित, मध्यमासारित और ज्येष्ठासारित—ये आसारित के ४ प्रकार हैं। कनिष्ठ का अर्थ है छोटा, मध्यम यानी बीच का और ज्येष्ठ यानी बड़ा जो आसारित के आकार के सूचक हैं। लयान्तर यानी भिन्न लय वाला, जो कनिष्ठ को ही दुगनी लय (दुगनी विश्रान्ति वाली यानी धीमी गति) में गाया जाने से लयान्तर कहलाता है।

(कनिष्ठासारितम्)

कनिष्ठासारिते युग्मः शम्यादिर्द्वावथोत्तरौ॥ १८४॥

एते यथाक्षरास्तेषां संनिपातोऽन्तिमेऽधिकः।

(१) कनिष्ठासारित

१८४ ग-१८५ ख. (अ०) कनिष्ठासारिते कनिष्ठासारित में शम्यादिः युग्मः शम्या है आदि में जिसके ऐसा (अर्थात् शम्या से शुरू होने वाला) चच्चत्पुट अथ द्वौ उत्तरौ इसके बाद दो (बार) उत्तर (ताल होता है)। एते ये दोनों यथाक्षराः यथाक्षर वाले (होते हैं)। तेषाम् अन्तिमे उनके अन्त में संनिपातः अधिकः संनिपात अधिक (होता है)।

(सर०) कनिष्ठासारित में चच्चत्पुट और उसके बाद दो बार उत्तर ताल होता है और दोनों ही ताल यथाक्षर होते हैं। चच्चत्पुट की शताशता क्रिया रहती हैं और उत्तर ताल के बाद संनिपात होता है।

अस्य प्रस्तारः

ऽ	ऽ	।	ऽे		ऽे	।	ऽ	ऽ	।	ऽे		ऽे	।	ऽ	ऽ	।	ऽे		ऽ
श	ता	श	ता	।	सं	ता	श	ता	श	ता	।	सं	ता	श	ता	श	ता	।	सं

इति कनिष्ठासारितम्

(अ०) अस्य प्रस्तारः इसका प्रस्तार (यह है)। (प्रस्तार ऊपर देखें)

कनिष्ठासारित समाप्त

(लयान्तरासारितम्)

तद्वल्लयान्तरं मार्गलयाभ्यां द्विगुणं ततः॥ १८५॥

वर्धमानाङ्गमित्यन्ये,

अस्य प्रस्तारः कनिष्ठासारितेन व्याख्यात एव॥

इति लयान्तरासारितम्

२—लयान्तरासारित

१८५ ग-१८६. क (अ०) तत् वत् उसी की तरह लयान्तरं लयान्तर (आसारित होता है जो) ततः उससे मार्गलयाभ्यां द्विगुणः मार्ग और लय के द्वारा दुगना (होता है)। अन्ये अन्य आचार्य वर्धमान-अङ्गम् इति (इसे) वर्धमान का अंग इस प्रकार (मानते हैं)।

अस्य प्रस्तारः इसका प्रस्तार कनिष्ठासारितेन एव कनिष्ठासारित के (प्रस्तार के) द्वारा ही व्याख्यातः कह दिया (है)।

(सर०) लयान्तरासारित का स्वरूप कनिष्ठासारित पर निर्भर या आधारित है क्योंकि कनिष्ठासारित को ही दुगने मार्ग और दुगनी लय में प्रयोग करने से लयान्तरासारित हो जाता है। लेकिन लयान्तरासारित को कनिष्ठासारित के तुरन्त बाद गाने पर ही मार्ग और लय के दुगने हो जाने की अनुभूति हो सकती है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

क्रियाओं का काल दुगना करने पर मार्ग दुगना होता है। इसलिये कनिष्ठासारित चित्रमार्ग में हो तो लयान्तरासारित का मार्ग वार्तिक हो जायगा और कनिष्ठासारित वार्तिक में हो तो लयान्तरासारित दक्षिण मार्ग में होगा। लेकिन कनिष्ठासारित दक्षिण मार्ग में होने पर लयान्तरासारित नहीं होता क्योंकि दक्षिण से दुगना मार्ग नहीं होता। इस तरह कनिष्ठासारित के चित्र या वार्तिक मार्ग में होने की स्थिति में ही लयान्तरासारित हो सकता है।

कनिष्ठासारित को ही लय और मार्ग दुगना करके गाने में यह अन्वित समझना होगा कि पद और स्वरयोजना यानी मातु और धातु वही रहेगी।

वर्धमानाङ्ग की व्याख्या में कल्लि० ने वर्धमानाङ्ग को लयान्तरासारित की ही संज्ञा कहा और कनिष्ठासारित की अपेक्षा वर्धमान (ज़्यादा) अंगों वाला होने से वर्धमानाङ्ग कहा। सिंह० ने भी लयान्तरासारित को ही वर्धमानाङ्ग कहा है। लेकिन अभि० के अनुसार अन्य मत से लयान्तरासारित वर्धमान का ही अंग माना जाता है। अभिनव की दृष्टि में लयान्तरासारित का स्वरूप वर्धमान के अंग के रूप में ही ज़्यादा स्पष्ट रूप से गोचर होता है, कनिष्ठासारित के बाद स्वतन्त्र रूप से प्रयुक्त होने पर उतना स्पष्ट नहीं। शार्ङ्ग० द्वारा वर्धमानाङ्ग कहने में लयान्तरासारित का वर्धमान का अंग होना ही सूचित किया गया लगता है।

लयान्तरासारित समाप्त

(मध्यमासारितम्)

मध्यमासारिते पुनः।
उत्तरा द्विकला ज्ञेयास्त्रयस्तेष्वादिमे कलाः॥ १८६॥
आद्यास्तिस्त्रस्त्यजेत्,

अस्य प्रस्तारः—

				ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ
				श	नि	ता	नि	श	ता	प्र	नि	सं ।
ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ
नि	प्र	ता	श	नि	ता	नि	श	ता	प्र	नि	सं ।	
ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	
नि	प्र	ता	श	नि	ता	नि	श	ता	प्र	नि	सं ॥	

इति मध्यमासारितम्

३—मध्यमासारित

१८६ ख-१८७ क. (अ०) पुनः मध्यमासारिते फिर मध्यमासारित में त्रयः तीन (बार) द्विकलाः उत्तराः ज्ञेयाः द्विकल उत्तर (ताल) जानने चाहियें। तेषु आदिमे उनमें से पहले में आद्याः तिस्त्रः शुरू की तीन (कलाएँ) छोड़ दें।

अस्य प्रस्तारः इसका प्रस्तार (यह है)। (प्रस्तार ऊपर देखें)

(सर०) तीन द्विकल उत्तर से ३६ कलाएँ होती हैं। उनमें से शुरू की ३ कला छोड़ने पर ३३ कलाओं से मध्यमासारित होता है। द्विकल उत्तर में निप्र ताश निता निश ताप्र निसं क्रियाएँ होती हैं। इनमें से पहली बार निप्र ता छोड़ दी जाती हैं।

मध्यमासारित समाप्त

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(ज्येष्ठासारितम्)

ज्येष्ठासारिते तूत्तरास्त्रयः।
चतुष्कला स्युस्तेष्वाद्ये त्यजेत् सप्तमादिमाः कलाः॥ १८७॥

अस्य प्रतारः—

							ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ
							श	आ	नि	वि	ता	आ	नि	वि	श	आ	ता	वि	प्र	आ	नि	वि	सं॥
ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ
आ	नि	वि	प्र	आ	ता	वि	श	आ	नि	वि	ता	आ	नि	वि	श	आ	ता	वि	प्र	आ	नि	वि	सं॥
ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ
आ	नि	वि	प्र	आ	ता	वि	श	आ	नि	वि	ता	आ	नि	वि	श	आ	ता	वि	प्र	आ	नि	वि	सं॥

इति ज्येष्ठासारितम्

४—ज्येष्ठासारित

१८७ क-घ. (अ०) ज्येष्ठासारिते तु ज्येष्ठासारित में तो त्रयः तीन चतुष्कलाः उत्तराः स्युः चतुष्कल उत्तर होते हैं। तेषु आद्ये उनमें से पहले में आदिमाः सप्त कलाः शुरू की सात कलाएँ त्यजेत् छोड़ दें।

(सर०) ज्येष्ठासारित में चतुष्कल उत्तर का तीन बार प्रयोग होता है। पहली बार शुरू की ७ कलाएँ अनिविप्र आतावि छोड़ कर शेष १७ कलाओं से उत्तर ताल होता है और फिर दो बार सारी क्रियाओं से। इस तरह ६५ कलाओं से ज्येष्ठासारित की रचना होती है।

आड्यार० के पाठ में शुरू की १७ कलाओं के बाद 'इदमन्त्यखण्डं ज्ञेयं' मुद्रित है जो अनावश्यक है क्योंकि यह खण्ड अन्तिम नहीं, पहला है। इसलिये इस अंश को हमने छोड़ दिया है।

ज्येष्ठासारित समाप्त

एतेषां पञ्च षट् सप्ताष्टौ कलाः स्युः क्रमेण तु।
उपोहनानि वस्तूनि त्रीणि त्रीणि च निर्दिशेत्॥ १८८॥

संनिपातसमाप्तीनि तेषां मुखमुपोहनम्।
युग्मतालं प्रतिमुखं कनिष्ठे च लयान्तरे॥ १८९॥

मध्यमेऽष्टौ कलास्त्वाद्या ज्येष्ठे षोडश कीर्तिताः।
त्र्यश्रौ शरीरसंहारौ क्रमात्सर्वेषु कीर्तितौ॥ १९०॥

पादभागा विहायाद्यां शम्यामङ्गुलिकर्मणि।
विभक्ताङ्गेषु तेषु स्युरविभागे यथास्थितम्॥ १९१॥

१८८-१९१. (अ०) एतेषाम् इन (चार प्रकार के आसारितों) में उपोहनानि तु उपोहन तो क्रमेण क्रम से पञ्च षट् सप्त अष्टौ कलाः पाँच, छः, सात (और) आठ कला वाले स्युः होते हैं त्रीणि त्रीणि च वस्तूनि और तीन-तीन वस्तुएँ

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

संनिपातसमाप्तीनि संनिपात से समाप्त होने वाली इति इस प्रकार निर्दिशेत् निर्दिष्ट करें (अर्थात् होती हैं)। तेषाम् उनमें उपोहनं मुखम् उपोहन मुख (नाम वाला होता है)।

कनिष्ठे च लयान्तरे कनिष्ठ और लयान्तर में युग्मतालः चच्चत्पुट ताल वाला प्रतिमुखं प्रतिमुख, मध्यमे तु मध्यम में तो आद्याः अष्टौ कलाः शुरू की आठ कला वाला (प्रतिमुख और) ज्येष्ठे ज्येष्ठ में षोडश कीर्तिताः (प्रतिमुख में) सोलह (कलाएँ) कही गई हैं।

सर्वेषु सब में क्रमात् क्रम से शरीरसंहारौ शरीर और संहरण (अंग) त्र्यश्रौ दो उत्तर (तालों) से कीर्तितौ जाने गये हैं। तेषु उनमें (से) विभक्ताङ्गेषु विभक्तांग (आसारितों) में अङ्गुलिकर्मणि अंगुलिकर्म में आद्यां शम्यां विहाय पहली (क्रिया) शम्या को छोड़कर पादभागाः स्युः पादभाग होते हैं। अविभागे अविभक्तांग में यथास्थितं जैसा कहा जा चुका वैसा (अंगुलिकर्म) होता है।

(सर०) यहाँ से चारों आसारितों के अंगविभाजन संबन्धी लक्षण दिये हैं।

चारों में उपोहन क्रम से ५, ६, ७ और ८ कलाओं में होता है जो आसारित की वस्तुओं से पहले अलग से होता है। उपोहन ही मुख कहलाता है और उसके बाद वस्तु होती हैं जिसमें प्रतिमुख, शरीर और संहरण होते हैं।

आसारितों में तीन-तीन वस्तुएँ होती हैं और हर वस्तु संनिपात से समाप्त होती है। इसे नीचे दिये आसारितों के कलाविभाजन और क्रियानिवेश के आधार पर समझा जा सकेगा।

कनिष्ठासारित में एक यथाक्षर चच्चत्पुट और दो उत्तर ताल होते हैं। यथा—

ऽ ऽ । ऽ̇ ऽ̇ । ऽ ऽ । ऽ̇ ऽ̇ । ऽ ऽ । ऽ̇ ऽ (प्रस्तार १)
श ता श ता । सं ता श ता श ता । सं ता श ता श ता । सं

संनिपात से समाप्त करने पर वस्तुविभाजन यों होगा—

ऽ ऽ । ऽ̇ ऽ̇ । ऽ ऽ । ऽ̇ ऽ̇ । ऽ ऽ । ऽ̇ ऽ (प्रस्तार २)
श ता श ता सं । ता श ता श ता सं । ता श ता श ता सं
वस्तु १ वस्तु २ वस्तु ३

लयान्तरासारित कनिष्ठासारित जैसा ही होता है इसलिये वस्तुविभाजन तो वैसा ही रहेगा लेकिन लय दुगनी हो जाने से हर क्रिया का काल दुगना हो जायगा।

मध्यमासारित में ३ द्विकल उत्तर ताल में से शुरू की ३ क्रिया छोड़ देने से ९+१२+१२=३३ कला होती हैं। द्विकल उत्तर ताल में संनिपात अन्त में ही होता है इसलिये वस्तुएँ इस प्रकार होंगी—

ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ
श नि ता नि श ता प्र नि सं । वस्तु १।

ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ
नि प्र ता श नि ता नि श ता प्र नि सं । वस्तु २।

ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ
नि प्र ता श नि ता नि श ता प्र नि सं । वस्तु ३।

ज्येष्ठासारित में ३ चतुष्कल उत्तर होते हैं। पहले उत्तर की शुरू की ७ कला छोड़ कर इसकी रचना होती है इसलिये

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

१७+२४+२४=६५ कलाएँ होती हैं। चतुष्कल उत्तर में भी अन्तिम क्रिया संनिपात होती है तदनुसार वस्तु विभाजन इस प्रकार होगा—

ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ
श आ नि वि ता आ नि वि श आ ता वि प्र आ नि वि सं । वस्तु १।

ऽ ऽ
आ नि वि प्र आ ता वि श आ नि वि ता आ नि वि श आ ता वि प्र आ नि वि सं । वस्तु २।

ऽ ऽ
आ नि वि प्र आ ता वि श आ नि वि ता आ नि वि श आ ता वि प्र आ नि वि सं । वस्तु ३।

वस्तुओं में अंगों का विभाजन इस प्रकार होता है—कनिष्ठासारित और लयान्तरासारित में चच्चत्पुट में प्रतिमुख, पहले उत्तर में शरीर और दूसरे में संहरण—

ऽ ऽ । ऽ   ऽ । ऽ ऽ । ऽ   ऽ । ऽ ऽ । ऽ   ऽ
श ता श ता   सं ता श ता श ता   सं ता श ता श ता   सं (प्रस्तार ३)
प्रतिमुख   शरीर   संहरण

कनिष्ठासारित में दिये गये प्रस्तार (२) को देखें तो उसमें वस्तुएँ संनिपात से समाप्त होती हैं लेकिन ऊपर के अंग विभाजन में अंग संनिपात से नहीं समाप्त होते। अंग विभाजन के आधार पर आसारित दो तरह के होते हैं—(१) विभक्तांग और (२) अविभक्तांग। यद्यपि शार्ङ्ग० ने इनके अनुसार अंग विभाजन नहीं बताया लेकिन आसारित के लक्षणों में अंगुलिकर्म और पदयोजना के संदर्भ में इनका उल्लेख किया है। भरत ने भी स्पष्ट रूप में ये दो प्रकार नहीं कहे लेकिन अभिनव के अनुसार भरत के लक्षणों में ये दोनों प्रकार अन्वित हैं। शार्ङ्ग० का आधार अभिनव ही हैं।

हर अंग संनिपात से समाप्त होने पर विभक्तांग होता है और संनिपात से समाप्त न हो तो अविभक्तांग। ऊपर दिया गया प्रस्तार ३ अविभक्तांग का है। इसमें अन्तिम संनिपात अंगों से बाहर रहता है। विभक्तांग कनिष्ठासारित यह है—

ऽ ऽ । ऽ ऽ   । ऽ ऽ । ऽ ऽ   । ऽ ऽ । ऽ ऽ
श ता श ता सं   ता श ता श ता सं   ता श ता श ता सं
प्रतिमुख   शरीर   संहरण

इसमें पहली कला, जिसमें श है, अंगों से बाहर हो जाती है और अन्तिम अधिक कहे गये संनिपात पर संहरण समाप्त होता है। इस तरह तीनों अंग संनिपात से समाप्त होने से विभक्तांग है।

मध्यमासारित में पहले उत्तर में प्रतिमुख, दूसरे उत्तर में शरीर और तीसरे उत्तर में संहरण कहा गया है। तदनुसार अंगों का विभाजन यों होगा—

ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ
(श) नि ता नि श ता प्र नि सं । वस्तु १। प्रतिमुख

ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ
नि प्र ता श नि ता नि श ता प्र नि सं । वस्तु २। शरीर

ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ
नि प्र ता श नि ता नि श ता प्र नि सं । वस्तु ३। संहरण

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

इसमें हर अंग संनिपात से समाप्त होता है इसलिये विभक्तांग है। लेकिन प्रतिमुख ८ कलाओं से होता है इसलिये पहली वस्तु की पहली कला श, जो प्रस्तार में कोष्ठक में है प्रतिमुख से बाहर हो जाती है और नितानिशताप्रनिसं में प्रतिमुख बनता है। अविभक्तांग में विभाजन यों होगा—

ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ
श नि ता नि श ता प्र नि । वस्तु १। प्रतिमुख

ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ
सं नि प्र ता श नि ता नि श ता प्र नि । वस्तु २। शरीर

ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ
सं नि प्र ता श नि ता नि श ता प्र नि । वस्तु ३। संहरण

ऽ
सं

इसमें संनिपात से अंग समाप्त नहीं होते और अन्तिम संनिपात संहरण से बाहर हो जाता है।

ज्येष्ठासारित में भी पहले उत्तर में प्रतिमुख, दूसरे में शरीर और तीसरे में संहरण होता है। यथा—

ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ
(श) आ नि वि ता आ नि वि श आ ता वि प्र आ नि वि सं । वस्तु १। प्रतिमुख

ऽ ऽ
आ नि वि प्र आ ता वि श आ नि वि ता आ नि वि श आ ता वि प्र आ नि वि सं । वस्तु २। शरीर

ऽ ऽ
आ नि वि प्र आ ता वि श आ नि वि ता आ नि वि श आ ता वि प्र आ नि वि सं । वस्तु ३। संहरण

इसमें हर अंग संनिपात से समाप्त होने के कारण विभक्तांग है। लेकिन १६ कला का प्रतिमुख होता है इसलिये मध्यमासारित की तरह पहली कला श, जो कोष्ठक में है, प्रतिमुख से बाहर हो जाती है। अविभक्तांग में अंग विभाजन इस तरह होगा—

ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ
श आ नि वि ता आ नि वि श आ ता वि प्र आ नि वि । वस्तु १। प्रतिमुख

ऽ ऽ
सं आ नि वि प्र आ ता वि श आ नि वि ता आ नि वि श आ ता वि प्र आ नि वि । वस्तु २। शरीर

ऽ ऽ
सं आ नि वि प्र आ ता वि श आ नि वि ता आ नि वि श आ ता वि प्र आ नि वि । वस्तु ३। संहरण

ऽ
सं

इसमें अंतिम संनिपात अंगों से बाहर हो जाता है।

शार्ङ्ग० ने आसारितों में अंगुलिविधान भी संक्षेप में कहा है। विभंक्तांग में पहली क्रिया शम्या को छोड़ कर पादभाग होते हैं और अविभक्तांग में 'यथास्थित' यानी पहली क्रिया से ही होते हैं।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

कल्लि० ने आद्यां शम्यां विहाय का अर्थ अलग ढंग से किया। उसके अनुसार जिस पादभाग में शम्या पहली हो वहाँ शम्या को पूरी हथेली से करके अन्य कलाओं में पूर्वोक्त अंगुलिनियम के अनुसार करना चाहिये। यह व्याख्या सही नहीं है क्योंकि ग्रन्थगत लक्षण का प्रयोजन यह निर्दिष्ट करना है कि अंगुलि विधान में पादभाग कहाँ से माने जाएँ और इसी संदर्भ में यह कहा कि पहली क्रिया छोड़ कर दूसरी क्रिया से पादभाग मानने चाहियें।

सिंह० ने आद्यां का अन्वय पादभाग के साथ करके यह अर्थ किया कि आद्य पादभाग को छोड़कर शेष पादभागों में शम्या होती है। इसका आशय स्पष्ट नहीं है।

अंगुलिकर्म के नियम के अनुसार सिर्फ़ निःशब्द क्रियाएँ ही उँगलियों से की जाती हैं और केवल सशब्द क्रिया वाले पादभागों में उँगलियों से क्रिया नहीं होती। चच्चत्पुट के पहले पादभाग में कनिष्ठा से, दूसरे में कनिष्ठा और अनामिका से, तीसरे में कनिष्ठा-अनामिका-मध्यमा से और चौथे में चारों उँगलियों से क्रिया होती हैं। षट्पितापुत्रक के पहले ४ पादभागों में चच्चत्पुट की तरह, पाँचवें में कनिष्ठा से और छठे में तर्जनी से क्रिया की जाती हैं।

कनिष्ठासारित में यथाक्षर चच्चत्पुट और यथाक्षर पंचपाणि हैं। यथाक्षर रूपों में सिर्फ़ सशब्द क्रिया होती हैं इसलिये कनिष्ठासारित में अंगुलिकर्म नहीं होता।

मध्यमासारित के अविभक्तांग प्रस्तार के प्रतिमुख में तीसरे पादभाग में सिर्फ़ सशब्द क्रिया (शता) हैं इसलिये उसे छोड़ कर शेष तीन पादभागों में कनिष्ठा, कनिष्ठा-अनामिका, कनिष्ठा-अनामिका-तर्जनी से क्रिया होंगी। उत्तर ताल वाले शरीर और संहरण में पाँचवें पादभाग में भी शता हैं इसलिये उसे छोड़ कर शुरू के ४ पादभागों में क्रम से कनिष्ठा, कनिष्ठा-अनामिका, कनिष्ठा-अनामिका-मध्यमा, कनिष्ठा-अनामिका-मध्यमा-तर्जनी और छठे में तर्जनी प्रयुक्त होगी।

विभक्तांग मध्यमासारित में पहली कला शम्या को छोड़ कर अंग होते हैं। इसलिये प्रतिमुख में क्रम से कनिष्ठा, कनिष्ठा-अनामिका, कनिष्ठा-अनामिका-मध्यमा, कनिष्ठा-अनामिका-मध्यमा-तर्जनी होंगी। शरीर और संहरण के दूसरे पादभागों में सिर्फ़ सशब्द क्रिया ताश हैं इसलिये उन्हें छोड़ कर शेष पादभागों में क्रम से कनिष्ठा, कनिष्ठा-अनामिका-मध्यमा, कनिष्ठा-अनामिका-मध्यमा-तर्जनी, पाँचवें में कनिष्ठा और छठे में तर्जनी का प्रयोग होगा।

अविभक्तांग ज्येष्ठासारित में पहली कला शम्या से ही पादभाग बनते हैं। इसमें नियमानुसार ही अंगुलिप्रयोग होता है।

उपोहनानां गुरुणी द्वे द्वे आद्यन्तयोर्मते।
अष्टौ द्वादश मध्ये लाः क्रमात् षोडश विंशतिः॥ १९२॥

एतेषु स्याद् ध्रुवः पातः कलयोरन्त्ययोर्गुरुः।
एकैकमक्षरं शेषाश्चतुर्मात्रगणाः कलाः॥ १९३॥

१९२-१९३. (अ०) उपोहनानाम् उपोहनों के आदि-अन्तयोः शुरू और अन्त के द्वे द्वे दो-दो गुरुणी मते गुरु माने गये (हैं)। मध्ये बीच में क्रमात् क्रम से (चारों आसारितों में) अष्टौ आठ, द्वादश बारह, षोडश सोलह विंशतिः (और) बीस लाः लघु (होते हैं)। एतेषु इनमें ध्रुवः पातः स्यात् ध्रुव सशब्द क्रिया होती है। गुरुः गुरु (रूप) वाली अन्त्ययोः कलयोः अन्तिम दो कलाओं में एक-एकम् अक्षरम् एक-एक अक्षर (होता है)। शेषाः कलाः शेष कलाएँ चतुर्मात्रगणाः चार मात्रा के गण वाली (होती हैं)।

(सर०) यहाँ से पदसंबन्धी लक्षण दिये जा रहे हैं। उपोहनों में सभी आसारितों में शुरू और अन्त के दो-दो गुरु अक्षर होते हैं। बीच में कनिष्ठासारित में ८, लयान्तरासारित में १२, मध्यमासारित में १६ और ज्येष्ठासारित में २० लघु अक्षरों की योजना होती है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

यहाँ यह स्मरणीय है कि ताल का एक लघु भाषा के ५ लघु यानी ५ ह्रस्व अक्षरों के बराबर होता है और ताल के ऐसे दो लघुओं के बराबर एक गुरु होता है। गीतकों में भाषा के चार लघुओं के बराबर अक्षरों का समूह एक मात्रागण होता है।

कनिष्ठासारित में उपोहन ५ कला का होता है! इनमें पद के २ गुरु, ८ लघु और २ गुरु अक्षरों का संयोजन होता है। अन्तिम गुरु कलाओं में एक-एक गुरु अक्षर ही रहता है। तदनुसार ताल में इनका विभाजन इस प्रकार होगा—

कला	ऽ		ऽ				ऽ				ऽ	ऽ
पदगण	ऽ	ऽ	।	।	।	।	।	।	।	।	ऽ	ऽ
वाक्करण	झं	टुं	ज	ग	ति	य	दि	गि	नि	गि	झं	टुं

उपोहन में सार्थक पद नहीं होते, केवल वाक्करण होते हैं। आसारितों के उपोहनों में वाक्करण भरत के अनुसार दिये जा रहे हैं, शार्ङ्ग० ने वाक्करण नहीं दिये हैं।

लयान्तरासारित के उपोहन में ६ कला होती हैं और बीच के लघु अक्षर १२ होते हैं। कनिष्ठासारित की अपेक्षा एक कला ज्यादा होती है जिसमें एक चतुर्मात्रिक गण रखने के लिये ४ अतिरिक्त लघु अक्षरों का संयोजन होता है। यथा—

कला	ऽ		ऽ				ऽ				ऽ				ऽ	ऽ
पदगण	ऽ	ऽ	।	।	।	।	।	।	।	।	।	।	।	।	ऽ	ऽ
वाक्करण	झं	टुं	ज	ग	ति	य	दि	गि	नि	गिं	ति	ति	झ	ल	झं	टुं

मध्यमासारित का उपोहन ७ कला का होता है इसलिये एक मात्रागण ज्यादा होगा। तदनुसार प्रस्तार इस प्रकार होगा—

कला	ऽ		ऽ				ऽ				ऽ				ऽ				ऽ	ऽ
पदगण	ऽ	ऽ	।	।	।	।	।	।	।	।	।	।	।	।	।	।	।	।	ऽ	ऽ
वाक्करण	झं	टुं	ज	ग	ति	य	दि	गि	नि	गिं	ति	ति	झ	ल	कु	च	झ	ल	झं	टुं

ज्येष्ठासारित में उपोहन ८ कला वाला होता है इसलिये एक मात्रागण और जुड़ जाएगा। प्रस्तार यह होगा—

कला	ऽ		ऽ				ऽ				ऽ				ऽ				ऽ			
पदगण	ऽ	ऽ	।	।	।	।	।	।	।	।	।	।	।	।	।	।	।	।	।	।	।	।
वाक्करण	झं	टुं	ज	ग	ति	य	दि	गि	नि	गि	ति	ति	झ	ल	कु	च	झ	ल	ति	ति	कु	च

कला	ऽ	ऽ
पदगण	ऽ	ऽ
वाक्करण	झं	टुं

चतुर्मात्राक्षरगणा सर्वाप्यासारिते कला।
संनिपातस्त्वर्धगणोऽवसानेऽन्यैरयं पुनः॥ १९४॥

विभक्ताङ्गमध्यवर्ती गणेनार्धेन वा मतः।
आसारितान्याहुरन्ये हीनान्यङ्गैरुपोहनैः॥ १९५॥

१९४-१९५. (अ०) आसारिते आसारित में सर्वा अपि कला सभी कला चतुर्मात्र-अक्षरगणाः चार मात्रा युक्त अक्षरों के गणों (समूह) वाली (होती हैं)। अवसाने अन्त में संनिपातः तु संनिपात तो अर्धगणः आधे गण वाला (होता है)। पुनः किन्तु अन्यैः अन्य आचार्यों के मत से विभक्ताङ्ग-मध्यवर्ती अयं विभक्तांग (आसारितों) के बीच में यह (संनिपात) गणेन एक गण से अर्धेन वा या आधे (गण) से मतः माना गया (है)। अन्ये अन्य आचार्य आसारितानि सभी आसारित उपोहनैः अङ्गैः हीनानि बिना उपोहन अंग वाले आहुः कहते हैं।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(सर०) यह सामान्य नियम है कि आसारितों में एक कला (गुरु) में चार मात्रा वाले अक्षरों का एक गण होता है लेकिन अन्तिम संनिपात वाली कला में एक के बजाय आधा ही गण यानी एक गुरु ही होता है। अन्य मत के अनुसार विभक्तांग में, जिसमें संनिपात से वस्तु और अंग समाप्त होते हैं, बीच के संनिपात भी एक या आधे गण के हो सकते हैं। इस पक्ष पर ना०शा० के ३१/१५८ की व्याख्या में अभिनव ने विस्तार से जो चर्चा की है उसका सार यह है कि एक मत से बीच के संनिपातों में भी आधा गण हो सकता है लेकिन वह सिर्फ़ विभक्तांग में हो सकता है, अविभक्तांग में नहीं। शार्ङ्ग० ने इन्हीं मतों को समेटते हुए यह कहा है कि विभक्तांग में बीच के संनिपातों में पूरा एक या आधा गण हो सकता है।

कुछ आचार्यों के मत से आसारित में उपोहन नहीं होता। अभिनव के अनुसार यह मत उनका है जो यह मानते हैं कि उपोहन उन्हीं आसारितों में होता है जो नृत्ययुक्त वर्धमान के अंग हैं, वर्धमान से स्वतन्त्र आसारितों में नहीं होता। (ना०शा०, ३१/८७-८९ पर अभि०)

यथाक्षरं द्विसंख्यातं त्रिसंख्यातमिति त्रिधा।
सर्वमासारितं तत्रावृत्तिहीनं यथाक्षरम्॥ १९६॥

द्विसंख्यातं त्रिसंख्यातं द्वित्रिरुच्चारणे क्रमात्।
आवृत्तिद्वयमत्राद्यादर्धार्धलयमिष्यते॥ १९७॥

यथाक्षरं सर्वमार्गे वृत्तिदक्षिणयोः परम्।
दक्षिणे स्यात् त्रिसंख्यातं कनिष्ठं वृत्तिचित्रयोः॥ १९८॥

लयान्तरं स्वतन्त्रे स्यादपरे त्वपरं जगुः।
ध्रुवासारितमावृत्तिविधुरं ध्रुवमार्गतः॥ १९९॥

त्रयोदशविधमासारितम्

१९६-१९९. (अ०) सर्वम् आसारितं सारे आसारित यथाक्षरं द्विसंख्यातं त्रिसंख्यातं यथाक्षर, द्विसंख्यात (और) त्रिसंख्यात इति त्रिधा यों तीन प्रकार से (होते हैं)। तत्र उनमें से यथाक्षरम् आवृत्तिहीनं यथाक्षर आवृत्ति के बिना (होता है)। द्विसंख्यातं त्रिसंख्यातं द्विसंख्यात (और) त्रिसंख्यात क्रमात् क्रम से द्वित्रिः उच्चारणे दो (और) तीन (बार) उच्चारण होने पर (होता है)। अत्र इसमें (त्रिसंख्यात में) आवृत्तिद्वयं दो आवृत्तियाँ (पहली और दूसरी) आद्यात् पहले (वाले यथाक्षर रूप) से अर्ध-अर्धलयम् इष्यते आधी-आधी लय वाली इच्छित होती है। यथाक्षरं सर्वमार्गे यथाक्षर सभी मार्गों में, परं वृत्तिदक्षिणयोः दूसरा (द्विसंख्यात) वार्तिक और दक्षिण (मार्गों) में (और) त्रिसंख्यातं त्रिसंख्यात दक्षिणे स्यात् दक्षिण (मार्ग) में होता है। कनिष्ठं कनिष्ठासारित वृत्तिचित्रयोः वार्तिक और चित्र (मार्गों) में (ही होता है)। लयान्तरं लयान्तर स्वतन्त्रे स्यात् स्वतन्त्र रूप में होता है। अपरे तु अन्य आचार्य तो ध्रुवमार्गतः ध्रुव मार्ग से आवृत्तिविधुरम् अपरं ध्रुवासारितम् आवृत्ति के बिना एक और ध्रुवासारित जगुः कहते हैं।

(सर०) पदों की आवृत्ति के आधार पर सभी आसारित तीन प्रकार के होते हैं—यथाक्षर, द्विसंख्यात और त्रिसंख्यात। यथाक्षर यानी गीतक में अक्षर जैसे हों वैसे ही, आवृत्ति के बिना गा लेना। द्विसंख्यात यानी दो बार गाना और त्रिसंख्यात यानी तीन बार गाना। इस तरह द्विसंख्यात में एक आवृत्ति और त्रिसंख्यात में दो आवृत्ति होती हैं। आवृत्ति पदों की होती है इसलिये पदों की लय आधी-आधी हो जाती है लेकिन ताल की नहीं। इन आवृत्तियों में शब्द मूल की अपेक्षा आधी लय में गाये जाते हैं। इसलिये आवृत्ति उन्हीं मार्गों में हो सकती है जिनमें मूल की अपेक्षा आधी लय संभव हो।

यथाक्षर में आवृत्ति नहीं होती इसलिये वह सभी मार्गों में हो सकता है। द्विसंख्यात चित्रमार्ग में संभव नहीं क्योंकि चित्रमार्ग मूल है और उससे आधी लय वाला मार्ग नहीं होता। वार्तिक में द्विसंख्यात करने से आवृत्ति होने पर वह चित्रमार्ग हो जाता है इसलिये द्विसंख्यात वार्तिक और दक्षिण मार्गों में ही संभव है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

त्रिसंख्यात चित्र और वार्तिक में से किसी में नहीं होता क्योंकि चित्र में तो आवृत्ति संभव ही नहीं। वार्तिक में भी एक बार ही आवृत्ति संभव है दूसरी नहीं क्योंकि दूसरी आवृत्ति के लिये चित्र से छोटा मार्ग नहीं है। दक्षिण मार्ग में पहली आवृत्ति से वार्तिक और दूसरी आवृत्ति से चित्र मार्ग हो जाता है। इसलिये त्रिसंख्यात दक्षिण मार्ग में ही होता है। कनिष्ठासारित दक्षिण मार्ग में नहीं गाया जाता इसलिये उसमें त्रिसंख्यात संभव नहीं है।

लयान्तर इन सबसे स्वतन्त्र यानी अलग है क्योंकि द्विसंख्यात आदि में लय आधी अपेक्षित है जबकि लयान्तर में लय दुगनी की जाती है। चित्रमार्ग में कनिष्ठासारित गाकर दुगनी लय में यानी वार्तिक मार्ग में गाने से भी लयान्तर हो जाता है और वार्तिक मार्ग में गाकर दक्षिण में गाने पर भी लयान्तर हो जाता है। लेकिन दक्षिण मार्ग में गाये गये कनिष्ठासारित का लयान्तर नहीं होता क्योंकि दक्षिण से दुगना मार्ग नहीं है। इसलिये कनिष्ठासारित को चित्र और वार्तिक में गाने से ही लयान्तर हो सकता है।

इस प्रकार एक ओर तो कनिष्ठासारित का चित्रमार्ग में द्विसंख्यात नहीं होता और दूसरी ओर कनिष्ठासारित दक्षिण में नहीं गाया जाता इसलिये उसका त्रिसंख्यात संभव नहीं है।

ना०शा० के ३१/११७, १२२, १२६ की टीका में अभिनव ने यथाक्षर आदि का जो उदाहरण दिया है उससे इन आवृत्तियों का स्वरूप क्या होगा यह समझा जा सकता है। उनका प्रस्तार यों होगा। (Musical forms in Saṅgītaratnākara के आधार पर)—

मूल यथाक्षर रूप—

ऽ ऽ । ऽ̀
। । । । । । । । । । । । । । । ।
दे वं दे वैः सं स्तु त न मि त म्

द्विसंख्यात में देवं देवैः की इस प्रकार आवृत्ति होगी—

ऽ ऽ । ऽ̀
। । । । । । । । । । । । । । । ।
दे वं दे वं दे वैः सं स्तु त न मि त म्

त्रिसंख्यात में दैवं देवैः संस्तुतनमितं की आवृत्ति यों होगी—

ऽ ऽ । ऽ̀
। । । । । । । । । । । । । । । ।
दे वं दे वैः दे वं दे वैः देवं देवैः संस्तुत नमितम्

यथाक्षर में देवं देवैः ४-४ पदमात्राओं में है। द्विसंख्यात में पहली बार देवं ४ पदमात्रा में है और दूसरी बार देवं देवैः ४ पदमात्राओं में है इसलिये उनकी लय आधी हो गई। त्रिसंख्यात में पहली बार देवं और देवैः ४-४ पदमात्राओं में है। दूसरी बार वही २-२ पदमात्राओं में (आधी लय में) और तीसरी बार देवं देवैः संस्तुत नमितम् में से हरेक पद सिर्फ़ १-१ पदमात्रा में यानी दूसरी बार की अपेक्षा आधी लय में है।

सं०र० के पहले अध्याय के गीति प्रकरण में मागधी गीति के लक्षण में जो 'देवं रुद्रं वन्दे' का उदाहरण दिया गया है उसमें और त्रिसंख्यात में समानता दिखाई देती है। (देखें, १/८/१६ ग-१८ ख और उदाहरण)।

ध्रुवासारित का लक्षण सं०र० में नहीं है। ध्रुवासारित का उल्लेखमात्र अन्य मत से किया है और यह-कहा है कि उसमें आवृत्ति नहीं होती यानी द्विसंख्यात आदि नहीं होते। ना०शा० में ध्रुवासारित का निरूपण है और अभि० में उस पर टीका भी है। अभि० के अनुसार कनिष्ठासारित ही आधी लय में यानी ध्रुवमार्ग में होने पर ध्रुवासारित होता है और उसमें गुरु का काल ५ लघु अक्षर में बराबर होता है। लेकिन क्रियाएँ चच्चत्पुट आदि की ही होती हैं इसलिये कनिष्ठासारित के ही ताल का बोध होता है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

आसारित निरूपण के अन्त में 'त्रयोदशविधमासारितं' है। इससे ऐसा लगता है कि ध्रुवासारित को अन्य मत से कहकर भी संभवतः ग्रन्थकार ने आसारितों की संख्या में उसे स्वीकार किया है। लेकिन उसका कुछ भी लक्षण न देना यह संशय उत्पन्न करता है कि संभवतः स्वयं ग्रन्थकार को ध्रुवासारित स्वीकार नहीं है किंतु वह भरत और अभिनव संमत है इसलिये उसे लेकर १३ आसारित कहे। इस प्रकार कनिष्ठासारित, लयान्तरासारित, मध्यमासारित और ज्येष्ठासारित में से हरेक के यथाक्षर, द्विसंख्यात और त्रिसंख्यात भेद मानने पर १२ और ध्रुवासारित को लेकर कुल १३ प्रकार के आसारित होते हैं।

तेरह प्रकार के आसारित समाप्त

(वर्धमानम्)

कण्डिकावर्धमानं चासारिताभासमित्यपि।
वर्धमानासारितं तु वर्धमानमिति त्रिधा॥ २००॥

३—वर्धमान

२००. (अ०) **वर्धमानं तु** वर्धमान तो **कण्डिकावर्धमानं** कण्डिकावर्धमान, **आसारिताभासम्** आसारिताभास **वर्धमानासारितं च अपि** और वर्धमानासारित भी **इति त्रिधा** यों तीन प्रकार से (होता है)।

(सर०) यहाँ से वर्धमान गीत का भेदों सहित निरूपण शुरू हो रहा है। प्रस्तुत श्लोक में वर्धमान के ३ प्रकार कहे हैं— कण्डिकावर्धमान, आसारिताभास वर्धमान और वर्धमानासारित। अन्तिम दो नामों से वर्धमान का आसारित से संबंध सूचित होता है। आगे इनके लक्षणों से यह स्पष्ट रूप से अनुभव होगा।

अन्य गीतकों की तरह शार्ङ्ग० का वर्धमान निरूपण भी ना०शा० और अभि० पर आधारित है, यद्यपि दत्तिलम् की सामग्री का आधार भी सं०र० में है।

ना०शा० में वर्धमान का सबसे ज्यादा विस्तार हुआ है लेकिन वह चौथे ताण्डवाध्याय और ३१वें तालाध्याय में फैला हुआ है और तदनुरूप अभि० में भी अलग-अलग जगह पर संबन्धित सामग्री है।

नाट्य के पूर्वरंग में होने वाला ताण्डव नृत्त वर्धमान और आसारित पर आधारित है इसलिये ना०शा० में इन दोनों गीतकों का निरूपण नृत्त के साथ जुड़ कर हुआ है। ये गीतक परस्पर घनिष्ठ रूप से जुड़े हैं और भरत ने इनमें वृक्ष और बीज जैसा संबन्ध कहा है। जैसे वृक्ष से बीज और बीज से वृक्ष उत्पन्न होता है उसी तरह आसारित और वर्धमान भी एक दूसरे से उत्पन्न होते हैं। भरत ने तो आसारितों के संयोग को वर्धमान कहा है। इसलिये दोनों का निरूपण भी एक दूसरे से पूरी तरह स्वतन्त्र नहीं बल्कि एक दूसरे से जुड़कर, संबद्ध रूप में ही हुआ है।

शार्ङ्ग० ने वर्धमान और आसारित को नृत्त के संदर्भ में नहीं बल्कि स्वतन्त्र गीतकों के रूप में ही निरूपित किया। इन दोनों गीतकों से संबन्धित ना०शा० और अभि० की सारी सामग्री का उपयोग करते हुए दोनों गीतकों के अपने-अपने रूपों का शार्ङ्ग० ने एकत्र, अत्यन्त व्यवस्थित और स्पष्ट निरूपण किया है। संक्षिप्तता तो सं०र० की विशेषता है ही।

इन दो गीतकों का परस्पर संबन्ध मुख्यतः दो प्रकार से प्रकट होता है। एक तो आसारिताभास वर्धमान में वर्धमान में आसारित की क्रियाओं के प्रयोग में और दूसरे वर्धमानासारित में आसारित में वर्धमान की क्रियाओं के प्रयोग में एक दूसरे का आभास होता है इसीलिये इन भेदों में आभास शब्द जुड़ा है। इसके अलावा दोनों में एक जैसे उपोहन होते हैं जो वस्तुओं से पहले अलग से जुड़े होते हैं। दोनों की पदरचना चतुर्मात्रिक गणों से बद्ध होती है। दोनों में एकक आदि वर्णांगों का नियम नहीं होता।

भरत के अनुसार कला, अक्षर, लय और नर्तकियों की संख्या में क्रमशः वृद्धि होती है इसलिये इसे वर्धमान कहते हैं।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(तत्र कण्डिकावर्धमानम्)

कण्डिकाभिश्चतसृभिः कण्डिकावर्धमानकम्।
विशालाद्या संगता च सुनन्दा सुमुखी तथा॥ २०१॥

चतस्त्रः कण्डिकास्तासां नवाष्टौ षोडश क्रमात्।
द्वात्रिंशच्च कला ज्ञेयाश्चतुरासारितस्थवत्॥ २०२॥

क्रमादुपोहनान्यासां झण्टुमित्यादिमौ गुरू।
वा इत्यन्ते मुखानां स्यात्,

(१) कण्डिकावर्धमान

२०१-२०३ ग. (अ०) चतसृभिः कण्डिकाभिः चार कण्डिकाओं से कण्डिकावर्धमानकं कण्डिकावर्धमान (होता है)। आद्या विशाला पहली विशाला, संगता च सुनन्दा संगता और सुनन्दा तथा सुमुखी और सुमुखी चतस्त्रः कण्डिकाः चार कण्डिकाएँ (हैं)। तासां कलाः उनकी कलाएँ क्रमात् क्रम से नव अष्टौ षोडश द्वात्रिंशत् च नौ, आठ, सोलह और बत्तीस ज्ञेयाः जानी गई (हैं)। क्रमात् क्रम से चतुः-आसारितस्थवत् चार आसारितों में स्थित (उपोहनों) की तरह उपोहनानि उपोहन (होते हैं)। आसां मुखानाम् इन मुखों (मुख संज्ञा वाले उपोहनों) के आदिमौ गुरू शुरू के दो गुरु झण्टुम् इति झण्टुं इन (अक्षरों) वाले (और) अन्ते अन्त (के एक गुरु) में वा इति वा यह (अक्षर होता है)।

(सर०) कण्डिकावर्धमान, जैसा उसके नाम से सूचित होता है, कण्डिकाओं यानी छोटे खण्डों से बना हुआ है। इसमें विशाला, संगता, सुनन्दा और सुमुखी—ये चार कण्डिकाएँ होती हैं। हर कण्डिका से पहले आसारितों के जैसे उपोहन होते हैं। कण्डिकावर्धमान की रचना सिर्फ़ उपोहन और कण्डिका से होती है। चार कण्डिकाओं के उपोहनों में क्रम से ५, ६, ७, और ८ कलाएँ होती हैं और कण्डिकाओं में क्रम से ९, ८, १६ और ३२ कलाएँ होती हैं। उपोहनों में शुरू में दो और अन्त में एक गुरु अक्षर होता है। शुरू के दो गुरुओं में झण्टुं अक्षर और अन्तिम गुरु में 'वा' अक्षर होता है। उपोहन मुख कहलाता है।

विशालायां तु मध्यमाः॥ २०३॥

लाश्चतुर्दश चत्वारश्चत्वारोऽन्येषु तेऽधिकाः।

२०३ घ-२०४ ख. (अ०) विशालायां तु विशाला (के उपोहन) में तो मध्यमाः चतुर्दश लाः बीच के चौदह लघु (अक्षर होते हैं)। अन्येषु दूसरों (उपोहनों) में ते वे (लघु अक्षर) चत्वारः चत्वारः अधिकाः चार-चार अधिक (होते हैं)।

(सर०) विशाला के उपोहन में बीच में १४ लघु अक्षर होते हैं और शेष तीन कण्डिकाओं में ४-४ ज़्यादा। यानी संगता में १८, सुनन्दा में २२ और सुमुखी में २६ अक्षर होते हैं।

एष्वक्षराणि नियतान्यब्रूत श्रेयसे विधिः॥ २०४॥

भगवान्भरतस्त्वाह तानि व्यक्तानि तद्यथा।
''तान्यक्षराणि वक्ष्ये यानि पुरा ब्रह्मगीतानि॥

झण्टुं दिगिदिगिदिगिदिगिदिगि कुचझलझण्टुमिति।
एतद्बाले ज्ञेयं तितिझलवृद्धं लयान्तरे गदितम्॥
कुचझलसहितं मध्ये तितिकुचयुक्तं भवेज्ज्येष्ठे।'' इति च

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

२०४ ग-२०५ ख. (अ०) **श्रेयसे** अभ्युदय के लिये **विधिः** ब्रह्मा ने **एषु** इन (उपोहनों) में **नियतानि अक्षराणि** नियत अक्षर **अब्रूत** कहे। **भगवान् भरतः तु** भगवान् भरत ने तो **तानि व्यक्तानि** वे व्यक्त होने वाले (अर्थात् ब्रह्मा द्वारा व्यक्त हुए अक्षर) **आह** कहे। **तत् यथा** वह (वे) इस प्रकार (हैं)।

"**पुरा** पूर्वकाल में **यानि ब्रह्मगीतानि तानि अक्षराणि** जो ब्रह्मा के द्वारा गाये गये वे अक्षर **वक्ष्ये** कहेंगे (अर्थात् कहते हैं)। **झण्टुं दिगिदिगिदिगिदिगिदिगि कुचझलझण्टुम् इति** झण्टुं दिगि दिगि दिगि दिगि दिगि कुचझल झण्टुं इस प्रकार **एतत्** ये **बाले** कनिष्ठ (आसारित) में **ज्ञेयं** जाने गये हैं। **तितिझलवृद्धं** तितिझल (ये) बढ़े हुए (अक्षर) **लयान्तरे गदितं** लयान्तर (आसारित) में कहे गये। **कुचझलसहितं** कुचझल के साथ **मध्ये** मध्य (आसारित) में (और) **तितिकुचयुक्तं** तितिकुच से युक्त **ज्येष्ठे भवेत्** ज्येष्ठ (आसारित) में होता है।" **इति च** इस प्रकार (भरत ने कहे)।

(सर०) गीतकों का प्रयोग नाट्य के पूर्वरंग में श्रेयस् यानी अभ्युदय या कल्याण के लिये किया जाता था, यह मार्ग और देशी तथा गान्धर्व और गान की चर्चा में पहले और चौथे अध्यायों में स्पष्ट किया जा चुका है। उसी का स्मरण कराते हुए ग्रन्थकार ने कहा कि श्रेयस् के लिए उपोहनों में ब्रह्मप्रोक्त अक्षरों का विधान किया गया है। शार्ङ्ग० ने ना०शा० के दो श्लोक उद्धृत किये हैं (३१/१०३-१०४) जिनमें चारों उपोहनों के पद दिये हैं लेकिन उनका पाठ वह नहीं है जो ना०शा० के उपलब्ध (बड़ौदा) संस्करण में है और जिन पर अभिनव की टीका भी है। ये पद आसारितों के उपोहनों के लिये कहे हैं, वर्धमान कण्डिकाओं के उपोहनों के लिये नहीं। सं०र० की टीकाओं सहित ना०शा० के विभिन्न संस्करणों और अभि० के आधार पर Musical forms in Saṅgītaratnākara में उपोहनों के अक्षरों का जो पुनर्निवेश किया गया है उसी के अनुसार यहाँ उपोहनों की रचना दी जा रही है।

विशाला—झण्टुं दिगिनिगि दिगिनिगि दिगिनिगि तिति वा।

संगता—झण्टुं दिगिनिगि दिगिनिगि दिगिनिगि तितिझल तिति वा।

सुनन्दा—झण्टुं दिगिनिगि दिगिनिगि दिगिनिगि तितिझल कुचझल तिति वा।

सुमुखी—झण्टुं दिगिनिगि दिगिनिगि दिगिनिगि तितिझल कुचझल तितिकुच तिति वा।

मध्यमासारितादिस्थवस्तुवत् ताल इष्यते॥ २०५॥

विशालायां संगतायां द्विकलो युग्मसंज्ञकः।
चतुष्कलः सुनन्दायां सुमुख्यां स द्विरुच्यते॥ २०६॥

शम्या तालं द्विरन्ते च संनिपात उपोहने।
आद्याया द्विकलश्चांचपुटोऽन्यस्या उपोहने॥ २०७॥

उद्घट्टादिः सुनन्दायां भवेद्युग्मो यथाक्षरः।
स एव तालो द्विकलः सुमुख्याः स्यादुपोहने॥ २०८॥

२०५ ग-२०८. (अ०) **विशालायां** विशाला में **मध्यमासारित-आदिस्थवस्तुवत्** मध्यमासारित के शुरू में स्थित (अर्थात् पहली) वस्तु के समान **तालः इष्यते** ताल इच्छित होता है। **संगतायां** संगता में **युग्मसंज्ञकः द्विकलः** युग्म (चच्चत्पुट) नाम वाला द्विकल (ताल), **सुनन्दायां चतुष्कलः** सुनन्दा में चतुष्कल (चच्चत्पुट) **सुमुख्या** (और) सुमुखी में **सः** वह (चतुष्कल चच्चत्पुट) **द्विः उच्यते** दो बार कहा जाता है। **आद्यायाः उपोहने** पहली (विशाला) के उपोहन में **शम्यातालं द्विः** शम्या, ताल दो बार **अन्ते च संनिपातः** और अन्त में संनिपात (होता है)। **अन्यस्याः उपोहने** दूसरी के उपोहन में **द्विकलः चाचपुटः** द्विकल चाचपुट, **सुनन्दायां** सुनन्दा में **उद्घट्ट-आदिः यथाक्षरः युग्मः** शुरू में उद्घट्ट वाला यथाक्षर चच्चत्पुट **भवेत्** होता है। **सुमुख्याः उपोहने** सुमुखी के उपोहन में **सः एव तालः** वही ताल **द्विकलः स्यात्** द्विकल होता है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(सर०) कण्डिकाओं की तालयोजना यह है। विशाला कण्डिका में मध्यमासारित की पहली वस्तु की क्रियाएँ यानी श निता निश ताप्र निसं होती हैं। संगता में द्विकल चच्चत्पुट की निश निता शप्र निसं होती हैं। सुनन्दा में चतुष्कल चच्चत्पुट यानी आनिविश आनिविता आशविप्र आनिविसं क्रिया होती हैं और सुमुखी में इसी का दो बार प्रयोग होता है।

कण्डिकाओं के उपोहन की कलाविधि यों है। विशाला के उपोहन की ५ कलाओं में चच्चत्पुट की शताशता और अन्त में सं होता है। संगता के ६ कला वाले उपोहन में द्विकल चाचपुट की यानी निश ताश निसं होती हैं। सुनन्दा के उपोहन की ७ कलाओं में शुरू में उद्घट्ट और शेष चार में, अभि० के अनुसार यथाक्षर चच्चत्पुट की ता से शुरू होने वाली क्रिया होती हैं। इस तरह इसमें निशश ताशताश होती हैं। सुमुखी के उपोहन में द्विकल चच्चत्पुट की निश निता शप्र निसं होती हैं।

कण्डिकानां वदन्तीत्थं परिवर्तान् दशापरे।
विशाला संगता वाद्या सुनन्दा संगतादिमा॥ २०९॥

सुमुखी च सुनन्दाख्या संगता च विशालिका।
आसारितवदत्रापि कलानां गणकल्पना॥ २१०॥

२०९-२१०. (अ०) अपरे अन्य आचार्य **कण्डिकानां** कण्डिकाओं के **दश परिवर्तान्** दस परिवर्तों को **इत्थम्** इस प्रकार **वदन्ति** कहते हैं—**विशाला** विशाला, **संगता वा आद्या** संगता और पहली, **सुनन्दा संगता आदिमा** सुनन्दा, संगता (और) पहली, **सुमुखी च सुनन्दा-आख्या** सुमुखी और सुनन्दा नामक, **संगता च विशालिका** संगता और विशाला।

अत्र अपि यहाँ (कण्डिकावर्धमान में) भी **आसारितवत्** आसारित की तरह **कलानां गणकल्पना** कलाओं की गणरचना (होती है)।

(सर०) ग्रन्थकार ने १० परिवर्तों का उल्लेख अन्य मत कहकर किया है और १० परिवर्त बताये भी हैं। इनमें पहली कण्डिका से शुरू करके अगली-अगली कण्डिका के बाद पिछली कण्डिकाएँ जोड़ने पर परिवर्त इस तरह बनते हैं—पहली, दूसरी-पहली, तीसरी-दूसरी-पहली और चौथी-तीसरी-दूसरी-पहली अर्थात् विशाला, संगता-विशाला, सुनन्दा-संगता-विशाला, सुमुखी-सुनन्दा-संगता-विशाला।

ना०शा० और अभि० के अनुसार ये १० परिवर्त कण्डिकावर्धमान में नहीं होते। इनका संबन्ध आसारिताभास वर्धमान और वर्धमानाभास आसारित से है। कण्डिका वर्धमान में चार कण्डिकाएँ विशाला, संगता, सुनन्दा, सुमुखी के क्रम से अलग-अलग गाई जाती हैं। लेकिन ताण्डव नृत्त में जब आसारित के साथ नृत्त होता है तब ये परिवर्त बनते हैं और उनमें क्रम से एक-एक नर्तकी की वृद्धि होती है। अभिनव ने आसारित के गान के साथ १० परिवर्तों के संदर्भ में एक अन्य मत की चर्चा की है। शार्ङ्ग० के १० परिवर्तसंबन्धी अन्य मत के उल्लेख का आधार संभवतः अभिनव हैं। ना०शा० में दश परिवर्त संज्ञा का प्रयोग तो नहीं है लेकिन उक्त विधि से कण्डिकाओं की आवृत्ति का विस्तार से निरूपण किया गया है।

सं०र० में इन परिवर्तों से संबन्धित श्लोक २१० क का पाठ आनन्द० और आड्यार दोनों संस्करणों में 'सुमुखी च सुनन्दाद्या' है। इसमें 'आद्या' की अर्थसंगति नहीं है क्योंकि सुनन्दा 'आद्या' यानी पहली नहीं है। आड्यार के १९८६ सं० की पादटिप्पणी के पाठ के आधार पर आख्या सही पाठ है इसलिये हमने इसी का ग्रहण किया है।

इस श्लोक पर कल्लि० ने विशाला के बाद 'पुनः आदिमा विशाला'—इतना सा उल्लेख किया है जिससे श्लोक का आशय स्पष्ट नहीं होता। सिंह० ने परिवर्तों के चार पक्ष कहे लेकिन व्याख्या का आशय अस्पष्ट है। इनमें १० परिवर्तों का वह कण्डिकाक्रम भी नहीं है जो ऊपर बताया गया है।

कण्डिकावर्धमान में आसारितों की तरह ही गणरचना होती है यानी ताल की एक कला में पद की चार मात्राएँ होती हैं।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अस्य प्रस्तार—

ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ
श नि ता नि श ता प्र नि सं ॥ इति विशाला ॥

ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ
नि श नि ता श प्र नि सं ॥ इति संगता ॥

ऽ ऽ ऽ ऽ   ऽ ऽ ऽ ऽ   ऽ ऽ ऽ ऽ   ऽ ऽ ऽ ऽ
आ नि वि श   आ नि वि ता   आ श वि प्र   आ नि वि सं ॥ इति सुनन्दा ॥

ऽ ऽ ऽ ऽ   ऽ ऽ ऽ ऽ   ऽ ऽ ऽ ऽ   ऽ ऽ ऽ ऽ
आ नि वि श   आ नि वि ता   आ श वि प्र   आ नि वि सं ॥

ऽ ऽ ऽ ऽ   ऽ ऽ ऽ ऽ   ऽ ऽ ऽ ऽ   ऽ ऽ ऽ ऽ
आ नि वि श   आ नि वि ता   आ श वि प्र   आ नि वि सं ॥ इति सुमुखी ॥

इति चतस्रः कण्डिकाः।

ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ
श ता श ता सं ॥ इति विशालाया उपोहनम्।

ऽ ऽ   ऽ ऽ   ऽ ऽ
नि श   ता श   नि सं ॥ इति संगताया उपोहनम्।

ऽ ऽ ऽ   ऽ ऽ ऽ ऽ
नि श श   ता श ता श ॥ इति सुनन्दाया उपोहनम्।

ऽ ऽ   ऽ ऽ   ऽ ऽ   ऽ ऽ
नि श   नि ता   श प्र   नि सं ॥ इति सुमुख्या उपोहनम्।

परिवर्तनपक्षे तु 'विशाला संगता वाद्या' इति क्रमेण कण्डिकानां प्रस्तारो ज्ञेयः।

इति कण्डिकावर्धमानम्

(अ०) अस्य प्रस्तारः इसका प्रस्तार (यह है)। (प्रस्तार ऊपर देखें)

इति चतस्रः कण्डिकाः ये चार कण्डिकाएँ (हैं)।

परिवर्तनपक्षे तु परिवर्तों के पक्ष में तो विशाला संगता वा आद्या विशाला, संगता और पहली इति क्रमेण इस क्रम से कण्डिकानां प्रस्तारः ज्ञेयः कण्डिकाओं का प्रस्तार जाना गया (है)।

(सर०) आड्यार १९८६ सं० में संगता के उपोहन के बाद संपक्वेष्टाकवत् उपोहनं कहकर जो प्रस्तार दिया है वह हमने छोड़ दिया है क्योंकि लक्षण में संगता के उपोहन में संपक्वेष्टाक का उल्लेख नहीं है। सुनन्दा के उपोहन में आड्यार० १९५१ का पाठ निशश ताशताश है। अभि० के आधार पर यही सही है इसलिये हमने यही रखा है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

१० परिवर्त वाले पक्ष में विशाला, संगता-विशाला, सुनन्दा-संगता-विशाला और सुमुखी-सुनन्दा-संगता-विशाला के क्रम से प्रस्तार समझने चाहियें।

कण्डिकावर्धमान समाप्त

(आसारिताभासवर्धमानम्)

आसारितानामुत्पत्तिर्वर्धमानाद्भवत्यतः।
तदासारितवद्भाति विधया वक्ष्यमाणया॥ २११॥

(२) आसारिताभास वर्धमान

२११. (अ०) आसारितानाम् उत्पत्तिः आसारितों की उत्पत्ति **वक्ष्यमाणया विधया** आगे कही जाने वाली विधि से **वर्धमानात् भवति** वर्धमान से होती है। **अतः** इसलिये **तत्** वह (वर्धमान) **आसारितवत् भाति** आसारित जैसा भासित होता है।

(सर०) आभास का अर्थ है प्रतीत होना या उसके जैसा 'लगना'। पूर्वोक्त चार कण्डिकाओं का विशेष ढंग से प्रयोग होने पर ही वर्धमान में आसारित का आभास होता है, केवल लक्षणों से नहीं।

जिस तरह आसारित के कनिष्ठ, लयान्तर, मध्य और ज्येष्ठ—ये चार प्रकार होते हैं उसी तरह आसारिताभास वर्धमान भी चार प्रकार का होता है—कनिष्ठासारिताभास वर्धमान, लयान्तरासारिताभास वर्धमान, मध्यमासारिताभास वर्धमान और ज्येष्ठासारिताभास वर्धमान।

(तत्र कनिष्ठासारिताभासं वर्धमानम्)

विशाला चेन्नव कला भित्त्वाष्टादशधा कृता।
त्यक्त्वा चान्त्यां कलां तत्तु तदा भाति कनिष्ठवत्॥ २१२॥

अस्य प्रस्तारः—

ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ
श ता श ता सं ॥ विशालाया उपोहनम्॥

ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ
श ता श ता । सं ता श ता श ता । सं ता श ता श ता । सं ॥

इति कनिष्ठासारिताभासं वर्धमानम्

(अ) कनिष्ठासारिताभास वर्धमान

२१२. (अ०) नवकला विशाला चेत् यदि नौ कला वाली विशाला (कण्डिका) **भित्त्वा** विभाजित करके **अष्टादशधा कृता** अठारह (कला) वाली कर दी गई हो **अन्त्यां कलां च त्यक्त्वा** और अन्तिम कला छोड़ कर (अर्थात् छोड़ दी जाय) **तदा** तब **तत् तु** वह (विशाला के रूप में वर्धमान) तो **कनिष्ठवत्** कनिष्ठ (आसारित) जैसी **भाति** भासित होती है।

(सर०) विशाला कण्डिका की ९ गुरु कलाओं को १८ में यानी १८ लघुओं में विभाजित करके उनमें से अन्तिम को छोड़ देने पर १७ मात्रा हो जाती हैं। ग्रन्थकार द्वारा दिये गये इसके प्रस्तार के आधार पर इनमें कनिष्ठासारित की क्रियाओं का प्रयोग होता है। ऐसा करने पर यह कनिष्ठासारित जैसा लगने लगता है, वास्तव में कनिष्ठासारित नहीं होता इसलिये इसे कनिष्ठासारिताभास वर्धमान कहा गया है। कनिष्ठासारित में कलाएँ गुरुरूपा होती हैं जबकि यहाँ इकाइयाँ लघु होती है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अभिनव के अनुसार वर्धमान के इस प्रकार में कनिष्ठासारित का आभास उसके प्रयोग में (यानी गाये जाने पर) होता है क्योंकि पहले ९ कला वाली विशाला कण्डिका को उसी के ताल के अनुसार गाकर फिर उसे १७ इकाइयों में विभक्त करके कनिष्ठासारित की क्रियाओं के साथ गाने से वर्धमान की विशाला कण्डिका में कनिष्ठासारित का रूप दिखाई देने लगता है।

ऊपर दिये गये प्रस्तार में सारी इकाइयाँ गुरु दिखाई गई हैं। कनिष्ठासारिताभास वर्धमान में इकाइयाँ लघु होती हैं लेकिन चित्रमार्गी कनिष्ठासारित की अपेक्षा से यहाँ ध्रुवमार्ग हो जाता है जिसमें अभिनव ने सारी कलाओं को 'एकरसगुरुप्रस्तार' कहा है जिनका काल ५ लघु अक्षर होता है। तदनुसार प्रस्तार में चिन्ह गुरु का है लेकिन वास्तव में ये लघु इकाई हैं।

कनिष्ठासारित में यथाक्षर चच्चत्पुट और यथाक्षर उत्तर का प्रयोग होता है इसलिये कलाएँ गुरु, लघु, प्लुतरूपा होती हैं। कनिष्ठासारिताभास वर्धमान में यह भेद मिट जाता है, केवल क्रियाएँ कनिष्ठासारित की रहती हैं। प्रस्तार उसी के अनुसार हैं।

कनिष्ठासारिताभास वर्धमान के लक्षण और प्रस्तार दोनों में विशाला कण्डिका का उपोहन नहीं है जबकि आसारिताभास वर्धमान के अन्य प्रकारों में उपोहन है। संभवतः कनिष्ठासारिताभास वर्धमान में भी विशाला कण्डिका का ५ कला वाला उपोहन होता है। इसलिये ऊपर दिये गये प्रस्तार में उपोहन भी दिया है।

कनिष्ठासारिताभास वर्धमान समाप्त

(लयान्तराभासं वर्धमानम्)

संगता षट्कलमुखी विशाला चेत् ततः परा।
भवेल्लयान्तराभासं तत्तालं वर्धमानकम्॥ २१३॥

अस्य प्रस्तारः—

ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ					
नि	श	ता	श	नि	सं	॥ संगताया उपोहनम्॥				
ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ			
श	ता	श	ता	सं	ता	श	ता	॥ संगता कण्डिका॥		
ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ		
श	ता	सं	ता	श	ता	श	ता	सं	॥ विशाला कण्डिका॥	

आदावुपोहनं, प्राग्वत् ताललयमार्गद्वैगुण्यं च।

इति लयान्तराभासं वर्धमानम्

(आ) लयान्तराभास वर्धमान

२१३. (अ०) षट्कलमुखी संगता चेत् यदि छः कलाओं के मुख (उपोहन) वाली संगता ततः परा (और) उसके बाद विशाला विशाला (हो तो) तत् तालं वर्धमानकम् उस ताल वाला वर्धमान लयान्तराभासं भवेत् लयान्तराभास (वर्धमान) होता है।

अस्य प्रस्तारः इसका प्रस्तार (यह है)(प्रस्तार ऊपर देखें)। आदौ उपोहनं शुरू में उपोहन (होता है)। प्राक्-वत् पहले की तरह ताललयमार्गं च द्वैगुण्यं ताल, लय और मार्ग दुगना (हो जाता है)।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(सर०) ८ कला वाली संगता और उसके बाद ९ कला वाली विशाला का इसी क्रम में विशेष विधि से लयन्तराभास में प्रयोग होता है। दोनों कण्डिकाओं की कलाएँ मिलाकर १७ होती हैं। प्रस्तार में इनमें वही क्रियाएँ हैं जो कनिष्ठासारिताभास वर्धमान में हैं यद्यपि लक्षण में क्रियाओं का निर्देश नहीं है। लेकिन ये क्रियाएँ ना०शा० के विवरण के अनुसार हैं। कनिष्ठासारित में यथाक्षर चच्चत्पुट, दो यथाक्षर उत्तर और अन्त में संनिपात होता है—शताशता संताशताशता संताशताशता सं। यही क्रियाएँ संगता और विशाला कण्डिकाओं के सम्मिलित रूप में यहाँ इस तरह होती हैं—संगता में शुरू की ८ (शताशता संताशता) और विशाला में अन्तिम ९ (शता संताशताशता सं)।

कनिष्ठासारिताभास वर्धमान में विशाला की कलाओं को विभाजित करके १७ बनाने पर कनिष्ठासारित का आभास उत्पन्न होता है। लयान्तराभास में कलाओं को विभाजित किये बिना विशाला और संगता को मिलाकर १७ बनाया जाता है। कनिष्ठासारिताभास में कलाएँ ध्रुवमार्गी एक मात्रा वाले गुरु माप की होती हैं लेकिन लयान्तराभास में दो मात्रा वाली चित्रमार्गी गुरु रूप होती हैं। इसलिये पहले कनिष्ठासारित की १७ कलाओं का कनिष्ठासारिताभास के रूप में, विभक्त १७ लघु कलाओं में, प्रयोग करके उसके तुरन्त बाद दोनों कण्डिकाओं की गुरु कलाओं में प्रयोग करके उसके तुरन्त बाद दोनों कण्डिकाओं की गुरु कलाओं में प्रयोग करने से लय दुगनी हो जाने की स्पष्ट अनुभूति होती है। इसीलिये यह लयान्तराभास हो जाता है और यह आभास वर्धमान की कण्डिकाओं में होने से लयान्तराभास वर्धमान कहलाता है।

आड्यार० के मुद्रित प्रस्तार में संगता का उपोहन नहीं है जो ऊपर प्रस्तार में जोड़ दिया है। इसी तरह लक्षण के अनुसार प्रस्तार में संगता और कण्डिकाएँ अलग-अलग दिखाई हैं जो आड्यार० में नहीं दिखाई हैं।

लयान्तराभास वर्धमान समाप्त

(मध्यमासारिताभासं वर्धमानम्)

सोपोहना सुनन्दादौ संगताद्ये ततः परम्।
मध्यमासारिते ताले स्यात् तदाभासकं तदा॥ २१४॥

अस्य प्रस्तारः—

ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ
नि श श ता श ता श ॥ सुनन्दाया उपोहनम्॥

ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ
श नि ता नि श ता प्र नि सं नि प्र ता श नि ता नि ॥ सुनन्दा कण्डिका॥

ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ
श ता प्र नि सं नि प्र ता ॥ संगता कण्डिका॥

ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ
श नि ता नि श ता प्र नि सं ॥ विशाला कण्डिका॥

आदौ सप्तकलमुपोहनम्॥

इति मध्यमासारिताभासं वर्धमानम्

(इ) मध्यमासारिताभास वर्धमान

२१४. (अ०) आदौ शुरू में स-उपोहना सुनन्दा उपोहन सहित सुनन्दा ततः परम् उसके बाद संगता-आद्ये संगता और

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

पहली (विशाला) मध्यमासारितेताले मध्यमासारित के ताल में (हों) तदा तब (वह वर्धमान) तत् आभासकं स्यात् उस (मध्यमासारित) के आभास वाला (अर्थात् मध्यमासारिताभास वर्धमान) होता है।

(सर०) इस कारिका की पहली पंक्ति का मुद्रित पाठ संगते द्वे ततः परे है जिसका आधार कल्लि० की टीका है। इसके अनुसार कल्लि० ने १६ कला वाली सुनन्दा के बाद दो बार संगता की ८-८ कलाएँ मिलाकर ३२ कलाएँ कहीं। लेकिन यह भी कहा कि अन्त में संनिपात जोड़कर ही मध्यमासारित की ३३ कला होंगी अन्यथा एक कला कम रहने से मध्यमासारिताभास का ताल अपूर्ण रहेगा।

सिंह० ने उक्त अंश की व्याख्या यों की है। सुनन्दा के बाद 'संगता, आद्या विशाला च' यानी सुनन्दा, संगता और पहली विशाला में मध्यमासारित का ताल होता है। तदनुसार सिंह० का पाठ संगताद्ये ततः परं बनता है और यही सही है क्योंकि मध्यमासारिताभास वर्धमान में सुनन्दा के बाद दो संगता नहीं बल्कि संगता और विशाला इसी क्रम में कण्डिकाएँ होती हैं। ना०शा० में स्पष्ट रूप से यही क्रम बताया गया है।

आड्यार १९८६ सं० में पादटिप्पणी में 'संगते द्वे' के लिये संगताद्ये और 'परे' के लिये परम् पाठभेद दिया है। वस्तुतः यही पाठ संगत है तदनुसार हमने यही रखा है।

सुनन्दा, संगता, विशाला की १६+८+९ मिला कर ३३ कला होती हैं जो मध्यमासारिताभास के समान हैं। इन ३३ कलाओं में मध्यमासारित की कलाओं का ही प्रयोग होता है। इस प्रकार कण्डिकाएँ और उनका क्रम वर्धमान का लेकिन क्रियाएँ मध्यमासारित की होने से वर्धमान में मध्यमासारित के आभास से मध्यमासारिताभास वर्धमान कहा गया।

प्रस्तार के मुद्रित पाठ में शुरू में सुनन्दा का उपोहन जोड़कर और कण्डिकाओं के विभाजन के साथ ऊपर प्रस्तार दिया है।

मध्यमासारिताभास वर्धमान समाप्त

(ज्येष्ठासारिताभासं वर्धमानम्)

सुमुखीकण्डिका पश्चात् सुनन्दा संगतादिमा।
ज्येष्ठतालेन चेज्ज्येष्ठासारिताभासकं तदा॥ २१५॥

अस्य प्रस्तारः—

ऽ ऽ   ऽ ऽ   ऽ ऽ   ऽ ऽ
नि श   नि ता   श प्र   नि सं । इति आदावष्टकलमुपोहनं प्राग्वत्॥

ऽ ऽ ऽ ऽ   ऽ ऽ ऽ ऽ   ऽ ऽ ऽ ऽ   ऽ ऽ ऽ ऽ
श आ नि वि   ता आ नि वि   श आ ता वि   प्र आ नि वि

ऽ ऽ ऽ ऽ   ऽ ऽ ऽ ऽ   ऽ ऽ ऽ ऽ   ऽ ऽ ऽ ऽ
सं आ नि वि   प्र आ ता वि   श आ नि वि   ता आ नि वि ॥ सुमुखी कण्डिका॥

ऽ ऽ ऽ ऽ   ऽ ऽ ऽ ऽ   ऽ ऽ ऽ ऽ   ऽ ऽ ऽ ऽ
श आ ता वि   प्र आ नि वि   सं आ नि वि   प्र आ ता वि ॥ सुनन्दा कण्डिका॥

ऽ ऽ ऽ ऽ   ऽ ऽ ऽ ऽ
श आ नि वि   ता आ नि वि ॥ संगता कण्डिका॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ऽ ऽ ऽ ऽ   ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ
श आ ता वि   प्र आ नि वि सं॥ विशाला कण्डिका॥

इति ज्येष्ठासारिताभासं वर्धमानम्

इति चतुर्विधमासारिताभासं वर्धमानम्

(ई) ज्येष्ठासारिताभास वर्धमान

२१५. (अ०) सुमुखीकण्ड़िका (पहले) सुमुखी कण्डिका पश्चात् उसके बाद सुनन्दा संगता आदिमा सुनन्दा, संगता (और) पहली (विशाला) ज्येष्ठतालेन चेत् यदि ज्येष्ठ (आसारित) के ताल से (हो) तदा तब ज्येष्ठासारिताभासकं ज्येष्ठासारित के आभास वाला (ज्येष्ठासारिताभास वर्धमान होता है)।

(सर०) ज्येष्ठासारिताभास वर्धमान में सुमुखी, सुनन्दा, संगता और विशाला के क्रम से चारों कण्डिकाओं का प्रयोग होने से ३२+१६+८+९ = कुल ६५ कलाओं में ज्येष्ठासारित की क्रिया की जाती हैं। सुमुखी कण्डिका से पहले उसका ८ कला वाला उपोहन रहता है।

सिंह० की व्याख्या के अनुसार सुमुखी कण्डिका बाद में गाई जाती है और संगता तथा सुनन्दा शुरू में। इसमें विशाला कण्डिका छूट गई है और क्रम भी सही नहीं है।

प्राग्वत् से आशय यह है कि जिस तरह पहले वाली कण्डिकाओं में शुरू में उपोहन होता है उसी तरह इसमें भी उपोहन होता है और वह सुमुखी कण्डिका में ८ कला का होता है।

अस्य प्रस्तारः इसका प्रस्तार (यह है)। (प्रस्तार ऊपर देखें)।

इति यों आदौ शुरू में प्राक्-वत् पहले की तरह अष्टकलम् उपोहनम् आठ कला वाला उपोहन (होता है)।

वर्धमान के इन चार प्रकारों में से कनिष्ठासारिताभास में विशाला कण्डिका, लयान्तरासारिताभास में संगता-विशाला, मध्यमासारिताभास में सुनन्दा-संगता-विशाला और ज्येष्ठासारिताभास में सुमुखी-सुनन्दा-संगता-विशाला—यों १० परिवर्त होते हैं जिनका उल्लेख ग्रन्थकार ने पहले किया है। वर्धमान की इन कण्डिकाओं में आसारित के कनिष्ठ आदि चार प्रकारों की क्रियाओं का प्रयोग होने से अपने गेय रूप में तो ये वर्धमान होते हैं लेकिन आसारितों की क्रियाओं के प्रयोग के कारण उनमें आसारितों का भास होने लगता है।

ज्येष्ठासारिताभास वर्धमान समाप्त

चार प्रकार के आसारिताभास वर्धमान समाप्त

(वर्धमानाभासमासारितम्)

आसारितेभ्य उत्पन्नं वर्धमानं विवक्ष्यते।
यदा तदा वर्धमानासारितं तदुदाहरन्॥ २१६॥

(३) वर्धमानासारित (वर्धमानाभास आसारित)

२१६. (अ०) यदा जब वर्धमानं वर्धमान आसारितेभ्यः उत्पन्नम् आसारितों से उत्पन्न विवक्ष्यते विवक्षित होता है तदा तब तत् वह (आचार्यों के द्वारा) वर्धमानासारितं वर्धमानासारित उदाहरन् कहा गया है।

(सर०) विवक्ष्यते को लक्ष्य करके कल्लि० ने कहा कि आसारिताभास वर्धमान और वर्धमानासारित के स्वरूप में कोई वास्तविक भेद नहीं है केवल विवक्षा का ही है। यानी वर्धमानों से आसारितों की उत्पत्ति मानें तो आसारिताभास वर्धमान होता

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

है और आसारितों से वर्धमान की मानें तो वर्धमानासारित। दृष्टि वर्धमान पर केन्द्रित हो तो वर्धमानासारित दिखाई देता है और आसारित पर केन्द्रित हो तो आसारिताभास।

वर्धमान का अपना स्वरूप रहते हुए भी उनकी आसारितों से उत्पत्ति कैसे दिखाई देती है यह अगली कारिका में दिया है।

यदा पूर्वक्रमाद्गीतास्तालैः स्वैरेव कण्डिकाः।
वर्धमानासारितानि तदा चत्वारि पूर्ववत्॥ २१७॥

कनिष्ठादीनि भान्त्यत्र तालांशा वर्धमानवत्।

२१७-२१८ ख. (अ०) यदा जब **स्वैः** एव **तालैः** अपने ही तालों के द्वारा **पूर्वक्रमात्** पहले (कहे गये आसारिताभास) वाले क्रम से **कण्डिकाः गीताः** कण्डिकाएँ गाई गई हों **तदा** तब **पूर्ववत्** पहले की तरह **चत्वारि वर्धमानासारितानि** चार वर्धमानासारित (उत्पन्न होते हैं)। **अत्र** इनमें **कनिष्ठ-आदीनि** कनिष्ठ आदि (आसारित) **भान्ति** भासित होते हैं (किन्तु इनमें) **तालांशाः** तालभाग **वर्धमानवत्** वर्धमान के समान (होते हैं)।

(सर०) सिंह० का पाठ 'तालैः स्वरैश्च' है जिसका अर्थ होगा 'ताल और स्वरों से'। इसमें स्वर की कोई संगति नहीं है क्योंकि सं०र० या किसी भी ग्रन्थ में इस प्रसंग में स्वर की चर्चा नहीं है। आड्यार० का मुद्रित पाठ 'तालैस्तैरेव' (तालैः तैः एव) है जिसका अर्थ यह है कि क्रम भी आसारिताभास का हो और ताल भी उसी का हो। लेकिन यह भी संगत नहीं है क्योंकि आसारिताभास के क्रम में वर्धमान की कण्डिकाओं का ताल प्रयुक्त होने पर ही आसारितों में वर्धमान का आभास होता है। इसलिये स्वैरेव पाठ ही उचित है जो Musical Forms in Saṅgītaratnākara के आधार पर ग्रहण किया गया है।

यहाँ आसारितों और वर्धमान के मुख्य अन्तर को समझ लेना जरूरी है। वर्धमानाभास आसारित में न तो हर आसारित में वर्धमान का रूप होता है और न सारे आसारितों को मिलाने से। कनिष्ठादि तीन आसारितों की कुल मिलाकर (१७+३३+६५=) ११५ कलाएँ होती हैं लेकिन १० परिवर्तों में (९+८+९+१६+८+९+३२+१६+८+९=) १२४ कला होती हैं। चार स्वतन्त्र कण्डिकाओं की कुल कला (८+९+१६+३२=) ६५ होती हैं। ज्येष्ठासारित में भी कला तो ६५ ही हैं लेकिन इसमें कण्डिकाओं के अनुसार विभाजन नहीं है। जिस तरह ज्येष्ठासारित को ज्यों का त्यों गाने और चार कण्डिकाओं के अनुसार क्रियाएँ करने पर ही वर्धमान का रूप दिखाई देता है उसी तरह संगता और विशाला के पातों से कनिष्ठासारित में और सुनन्दा, संगता और विशाला के पातों से मध्यमासारित में वर्धमान का आभास होने लगता है। संगता और विशाला से ही लयान्तर होता है।

यथाक्षरादिभेदेन पुनः सर्वाण्यपि त्रिधा॥ २१८॥

यथाक्षरादित्रितयं दक्षिणे वार्तिके द्वयम्।
चित्रे त्वेकमितीमानि षट्प्रकाराणि मार्गतः॥ २१९॥

२१८ ग-२१९. (अ०) **पुनः सर्वाणि अपि** फिर ये सभी (चारों प्रकार के वर्धमानासारित) **यथाक्षर-आदिभेदेन** यथाक्षर आदि भेदों से **त्रिधा** तीन प्रकार से (होते हैं)। **दक्षिणे** दक्षिण (मार्ग) में **यथाक्षर-आदित्रितयं** यथाक्षर आदि तीन, **वार्तिके द्वयं** वार्तिक में दो (यथाक्षर और द्विसंख्यात) **चित्रे तु** (और) चित्र में तो **एकम्** एक (यथाक्षर) **इति** इस प्रकार **मार्गतः** मार्ग के द्वारा **इमानि षट्प्रकाराणि** ये ६ प्रकार (होते हैं)।

(सर०) **यथाक्षरआदिभेदेन** से तात्पर्य यथाक्षर, द्विसंख्यात, त्रिसंख्यात से है, यथाक्षर, द्विकल, चतुष्कल से नहीं, जैसा कल्लि० ने समझा है। कारण यह है कि आसारित और वर्धमान में एककल, द्विकल चतुष्कल रूपों का कोई उल्लेख नहीं है। लेकिन आसारित में यथाक्षर, द्विसंख्यात और त्रिसंख्यात की और मार्गों में उनके प्रयोग की संभावना की चर्चा उसके भेदों में कई बार हुई है। इन तीन प्रकारों की पुष्टि अभि० से भी होती है (ना०शा०, ३१/१३१ पर अभि०, पं० १६-१८)।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

चित्र में यथाक्षर, वार्तिक में यथाक्षर और द्विसंख्यात तथा दक्षिण में तीनों के प्रयोग से मार्गों के आधार पर वर्धमानाभास आसारितों के ये ६ प्रकार होते हैं।

एतेषां प्रस्तारो यथा—

ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ   ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ
श नि ता नि श ता प्र नि सं   नि श नि ता श प्र नि सं

। इति वर्धमानाभासं कनिष्ठासारितम्।

ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ   ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ
नि श नि ता श प्र नि सं श   नि ता नि श ता प्र नि सं

। इति वर्धमानाभासं लयान्तरासारितम्।

ऽ ऽ ऽ ऽ   ऽ ऽ ऽ ऽ   ऽ ऽ ऽ ऽ   ऽ ऽ ऽ ऽ
आ नि वि श   आ नि वि ता   आ श वि प्र   आ नि वि सं ।

ऽ ऽ   ऽ ऽ   ऽ ऽ   ऽ ऽ   ऽ   ऽ ऽ   ऽ ऽ   ऽ ऽ   ऽ ऽ
नि श   नि ता   श प्र   नि सं   श   नि ता   नि श   ता प्र   नि सं

। इति वर्धमानाभासं मध्यमासारितम्।

ऽ ऽ ऽ ऽ   ऽ ऽ ऽ ऽ   ऽ ऽ ऽ ऽ   ऽ ऽ ऽ ऽ
आ नि वि श   आ नि वि ता   आ श वि प्र   आ नि वि सं

ऽ ऽ ऽ ऽ   ऽ ऽ ऽ ऽ   ऽ ऽ ऽ ऽ   ऽ ऽ ऽ ऽ
आ नि वि श   आ नि वि ता   आ श वि प्र   आ नि वि सं

ऽ ऽ ऽ ऽ   ऽ ऽ ऽ ऽ   ऽ ऽ ऽ ऽ   ऽ ऽ ऽ ऽ
आ नि वि श   आ नि वि ता   आ श वि प्र   आ नि वि सं

ऽ ऽ   ऽ ऽ   ऽ ऽ   ऽ ऽ   ऽ   ऽ ऽ   ऽ ऽ   ऽ ऽ   ऽ ऽ
नि श   नि ता   श प्र   नि सं   श   नि ता   नि श   ता प्र   नि सं

। इति वर्धमानाभासं ज्येष्ठासारितम्।

(इति वर्धमानाभासमासारितम्)

इति चतुष्पञ्चाशद्भेदानि वर्धमानानि

(अ०) एतेषां प्रस्तारः यथा इनका प्रस्तार इस प्रकार (है)। (प्रस्तार ऊपर देखें।)

(सर०) प्रस्तारों के मुद्रित पाठ में जो अशुद्धियाँ हैं उन्हें ठीक करके ऊपर प्रस्तार दिये हैं। वर्धमानाभास कनिष्ठासारित का पूरा प्रस्तार लक्षण के अनुसार ठीक करके दिया है।*

वर्धमान के भेदों के निरूपण के अन्त में इति चतुष्पञ्चाशद्भेदानि वर्धमानानि कहा गया है। लेकिन ५४ भेद किस तरह होते हैं इसका कोई संकेत ग्रन्थ में प्राप्त नहीं है। कल्लि० ने श्लो० २१५-२१८ की व्याख्या में इसका जो विवरण दिया

---

* मुद्रित पाठ इस प्रकार है—

ऽ   ऽ ऽ ऽ ऽ   ऽ ऽ ऽ ऽ   ऽ ऽ ऽ ऽ   ऽ ऽ ऽ ऽ
श   आ नि वि ता   आ नि वि श   आ ता वि प्र   ता नि वि सं । इति वर्धमानाभासं कनिष्ठासारितम्।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

है उसके अनुसार लयान्तर से उत्पन्न तीन वर्धमानों को छोड़ कर शेष ३ कण्डिकावर्धमान, लयान्तर भेद को छोड़ कर ३ आसारिताभास वर्धमान और ३ वर्धमानासारित मिला कर ९ भेद हुए। मार्ग भेद से यथाक्षर, द्विकल, चतुष्कल के आधार पर बनने वाले ६ भेदों से ९ भेदों को गुणा करने पर ५४ प्रकार के वर्धमान होते हैं। लेकिन कण्डिकावर्धमान के ३ प्रकार नहीं कहे गये हैं। दूसरे, यथाक्षर आदि का आशय द्विसंख्यात आदि ३ प्रकारों से है, द्विकल आदि तालों से नहीं।

अभिनव ने कुल संख्या ५७ बताई है और उसकी पुष्टि में किसी पुराण का श्लोक भी उद्धृत किया है लेकिन संख्या का जो विवरण दिया है वह स्पष्ट नहीं है इसलिये ५७ की संख्या प्राप्त नहीं होती।

वर्धमानाभास आसारित समाप्त

चौपन भेद वाले वर्धमान समाप्त

(पाणिका)

आद्या रोविन्दकगता मात्रैका पाणिका मुखम्।
मात्रा स्यादवराष्टाङ्गा षोडशाङ्गा परा मता॥ २२०॥
उल्लोप्यकवदङ्गानां निवेशं कोविदा विदुः।

४—पाणिका

२२०-२२१ ख. (अ०) रोविन्दकगता रोविन्दक की आद्या एका मात्रा शुरू की एक मात्रा मुखं मुख (नाम वाली) पाणिका मात्रा स्यात् पाणिका (की) मात्रा होती है। अवरा छोटी (पाणिका) अष्ट-अङ्गा आठ अंगों वाली (और) परा बड़ी षोडश-अङ्गा मता सोलह अंगों वाली मानी गई (है)। कोविदाः निष्णात जन अङ्गानां निवेशम् अंगों का संयोजन उल्लोप्यकवत् विदुः उल्लोप्यक के समान जानते हैं।

(सर०) रोविन्दक की पारिभाषिकी मात्रा में १६ कला होती हैं। उसी की मात्रा कहने का अर्थ यह है कि पाणिका की मात्रा भी १६ कला वाली होती है और उसमें रोविन्दक की मात्रा की क्रिया भी प्रयुक्त होती हैं जो इस प्रकार हैं—आनिविप्र आनिविता आनिविप्र आनिविश। पाणिका में यही मुख कहलाता है।

कल्लि० के अनुसार मुख में रोविन्दक की तरह उपोहन होता है। इसके अनुसार जैसे रोविन्दक की मात्रा की शुरू की ८ कलाओं में उपोहन होता है वैसे ही उपोहन यहाँ भी शुरू में होगा। पाणिका के प्रस्तार से भी यही प्रकट होता है।

पाणिका दो प्रकार की होती है—आठ अंग वाली और सोलह अंग वाली। अंगों की योजना उल्लोप्यक की तरह कही गई है। अंग से वर्णांग समझना चाहिये। कल्लि० ने भी अंग का अर्थ 'विविध आदि' दिया है। उल्लोप्यक की तरह अंगों के निवेश से संभवतः यह अभिप्रेत है कि जिस तरह उसमें स्वरों का कर्षण और ताल की आवृत्ति करके ज़्यादा अंग संयोजित होते हैं उसी तरह यहाँ भी होना चाहिये।

विदार्यः स्युः स्तुतिपदैराकारान्तरितैरिह॥ २२१॥
निरन्तरैः स्तुतिपदैराकारैश्चाथवा क्रमात्॥

२२१ ग-२२२ ख. (अ०) इह इस (पाणिका) में आकार-अन्तरितैः स्तुतिपदैः बीच-बीच में आकार वाले स्तुतिपदों से विदार्यः स्युः विदारियाँ होती हैं। अथवा या निरन्तरैः स्तुतिपदैः लगातार (अर्थात् केवल) स्तुतिपदों से आकारैः च क्रमात् या (केवल) आकारों के क्रम से (होती हैं)।

(सर०) स्वरसंबन्धी खण्डों में पदयोजना के लिये तीन विकल्प हैं—या तो स्तुतिपदों के बीच-बीच में 'आ'कार हों या सिर्फ़ स्तुतिपद हों या सिर्फ़ आकार हों।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

मुखात्परं प्रतिमुखं मुखवत् स्यात् पदान्तरैः॥ २२२॥
अथोत्तरैश्चतुर्भिः स्याच्छरीरं तु यथाक्षरैः।
ततः शीर्षं सैककेन कार्यं संपिष्टकेन तु॥ २२३॥
अन्येऽन्ताहरणेनान्तान्वितेनेच्छन्ति शीर्षकम्।

२२२ ग-२२४ ख. (अ०) मुखात् परं मुख के बाद मुखवत् मुख जैसा प्रतिमुखं प्रतिमुख पदान्तरैः स्यात् भिन्न पदों से होता है। अथ इसके बाद शरीरं तु शरीर तो चतुर्भिः यथाक्षरैः उत्तरैः चार यथाक्षर उत्तरों से स्यात् होता है। ततः उसके बाद संपिष्टकेन तु संपिष्टक से तो स-एककेन एकक सहित शीर्षं कार्यं शीर्षक करना चाहिये। अन्ये अन्य (आचार्य) अन्ताहरणेन-अन्त-अन्वितेन अन्त से अन्वित (सहित) अन्ताहरण से शीर्षकम् इच्छन्ति शीर्षक की इच्छा करते हैं।

(सर०) संपिष्टक ओवेणक का अंग है जो १२ या १० कला वाला होता है। इनमें से किसका प्रयोग पाणिका में हो इस बारे में कोई निर्देश नहीं है। लेकिन दत्तिलम् और भरतभाष्य में १२ कला का शीर्षक कहा गया है इसके अनुसार १२ कला वाले संपिष्टक की निशशशतातताशताशतासं क्रियाएँ पाणिका के शीर्षक में होंगी।

शीर्षक में एकक गीतांग कहा है जो संपिष्टक वाले शीर्षक में होता है। अन्य मत से अन्ताहरण और अन्त वाले शीर्षक में उल्लोप्यक के अन्ताहरण अन्त के अनुसार गीतांग रहते हैं।

अस्याः प्रस्तारः—

ऽ ऽ ऽ ऽ   ऽ ऽ ऽ ऽ
आ नि वि प्र   आ नि वि ता । इत्युपोहनम्।

ऽ ऽ ऽ ऽ   ऽ ऽ ऽ ऽ
आ नि वि प्र   आ नि वि श । इत्युपोहनमिदं मिलितमुखम्।

ऽ ऽ ऽ ऽ   ऽ ऽ ऽ ऽ   ऽ ऽ ऽ ऽ   ऽ ऽ ऽ ऽ
आ नि वि प्र   आ नि वि ता   आ नि वि प्र   आ नि वि श । इति प्रतिमुखम्।

ततो यथाक्षरैः चतुर्भिरुत्तरैः शरीरम्। प्रस्तारः यथा—

ऽे । ऽ ऽ । ऽे   ऽे । ऽ ऽ । ऽे   ऽे । ऽ ऽ । ऽे   ऽे । ऽ ऽ । ऽे
सं ता श ता श ता   सं ता श ता श ता   सं ता श ता श ता   सं ता श ता श ता ।

इति शरीरम्।

ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ
नि श श श ता ता ता श ता श ता सं । इति शीर्षकम्।

अन्येत्वन्ताहरणसहितमन्तं शीर्षकमाहुः। स चोल्लोप्यके दर्शितः॥

इति पाणिका

(अ०) अस्या प्रस्तारः इसका प्रस्तार (यह है)। (प्रस्तार ऊपर देखें)

इति उपोहनं यह उपोहन (है)।

इति यह इदम् इस उपोहनं मिलितमुखम् उपोहन (से) मिला हुआ मुख (है)।

इति प्रतिमुखं यह प्रतिमुख (है)। ततः उसके बाद चतुर्भिः यथाक्षरैः उत्तरैः चार यथाक्षर उत्तरों से शरीरं शरीर। प्रस्तारः यथा प्रस्तार इस प्रकार (है)। (प्रस्तार ऊपर देखें)

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

इति शरीरं यह शरीर (है)।

इति शीर्षकं यह शीर्षक (है)।

अन्ये तु अन्य (आचार्य) तो अन्ताहरणसहितम् अन्तम् अन्ताहरण सहित अन्त वाला शीर्षकम् आहुः शीर्षक कहते हैं। स च और वह उल्लोप्यके दर्शितः उल्लोप्यक में दिखाया गया (है)।।

(सर०) मुद्रित प्रस्तार में प्रतिमुख में ऽ । ऽ ऽ । ऽ अंश अनावश्यक है जिसे ऊपर दिये गये प्रस्तार में छोड़
सं ता श ता श ता
दिया है। शरीर का प्रस्तार मुद्रित अंश में छूट गया है जिसे ऊपर जोड़ा गया है।

पाणिका समाप्त

(ऋक्)

आरभ्यानुष्टुभं वृत्तैर्जगत्यन्तैः पदैरपि॥ २२४॥

लौकिकैर्वैदिकैर्वापि गातव्यामृचमूचिरे।
एकाक्षराः कला अष्टाचत्वारिंशदिहोदिताः॥ २२५॥

कलानां पूरणं मन्त्रपदैः स्तोभाक्षरैरपि।
तान्यत्र ब्रह्मगीतानि निर्दिश्यन्तेऽधुना यथा॥ २२६॥

झण्टुं जगतियवलितककुचझलतितिझलपशुपतिदिगिदिगिवादिगों[दिङ्गले]गणपतितितिधा(चा), इत्येतान्यब्रवीद् ब्रह्मा।

५—ऋक्

२२४ ग-२२६. (अ०) अनुष्टुभम् आरभ्य अनुष्टुप् से शुरू करके जगती-अन्त्यैः अपि जगती तक के वृत्तैः छन्दों से, लौकिकैः वैदिकैः वा अपि पदैः लौकिक या वैदिक पदों से भी गातव्याम् ऋचं गाने योग्य ऋक् को ऊचिरे कहा है। इह इसमें एक-अक्षराः अष्टाचत्वारिंशत् कलाः एक अक्षर वाली अड़तालीस कलाएँ उदिताः कही गई (हैं)। कलानां पूरणं कलाओं की पूर्ति (भरना) मन्त्रपदैः मन्त्रों के पदों से स्तोभ-अक्षरैः अपि (और) स्तोभाक्षरों से भी (हो सकती है)। अधुना अत्र अब यहाँ तानि ब्रह्मगीतानि वे ब्रह्मा द्वारा गाये गये (स्तोभाक्षर) यथा इस प्रकार निर्दिश्यन्ते निर्दिष्ट किये जाते हैं—झण्टुं जगतियवलितककुचझलतितिझलपशुपतिदिगिदिगिवादिगों [दिङ्गले] गणपतितितिधा [चा] झण्टुं, जगतिय, वलितक, कुचझल, तितिझल, पशुपति, दिगिदिगि, वा दिङ्गले, गणपति, तितिचा इति एतानि इस प्रकार ये ब्रह्मा अब्रवीत् ब्रह्मा ने कहे।

(सर०) अनुष्टुप् से जगती तक ये ५ छंद होते हैं—अनुष्टुप्, बृहती, पंक्ति, त्रिष्टुप् और जगती जिनमें क्रम से ८, ९, १०, ११ और १२ अक्षर होते हैं। ऋक् गीत के पद इन्हीं छंदों में होते हैं और वैदिक या लौकिक यानी वैदिक से भिन्न प्रकार के हो सकते हैं। एकाक्षर कला होने का अर्थ यह है कि हर कला में एक-एक अक्षर ही होना चाहिये, पूर्वोक्त गीतकों की तरह चतुर्मात्रा वाले अक्षर नहीं। कलाओं के पूरण का तात्पर्य यह है कि जहाँ कलाओं में पद कम हों वहाँ मन्त्र और स्तोभाक्षरों से उन्हें पूरा किया जा सकता है। ग्रन्थकार ने यहाँ प्रयुक्त होने वाले स्तोभाक्षर भी दिये हैं जो ब्रह्मप्रोक्त कहे गये हैं।

ओंकारश्च हकारोऽपि स्वरव्यञ्जनसंयुतः।
त्रिकलः षट्कलो वात्र स्तोभः स्यान्मुनिसंमतः॥ २२७॥

प्रस्तावादीनि सप्तापि सामाङ्गान्यत्र चावदन्।
यथाशोभं विदारी च वर्णांश्च रचयेदिह॥ २२८॥

इति ऋक्

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

२२७-२२८. (अ०) अत्र इसमें स्वरव्यञ्जनसंयुतः स्वर और व्यंजन से युक्त ओंकारः च हकारः अपि ओंकार और 'ह'कार भी त्रिकलः षट्कलः वा स्तोभः तीन कला वाला या ६ कला वाला स्तोभ मुनिसंमतः स्यात् मुनियों द्वारा संमत होता है। प्रस्ताव-आदीनि प्रस्ताव आदि सप्त अपि साम अङ्गानि साम के सातों अंग अत्र च अवदन् यहाँ भी कहे गये (हैं)। इह यहाँ विदारी च वर्णान् च (एकक आदि) गीतखण्ड और (स्थायी आदि) वर्णों को यथाशोभं रचयेत् शोभा के अनुसार रचते हैं।

(सर०) स्तोभों की रचना साम के 'ओं' और 'ह' के साथ स्वर और व्यंजन जोड़ कर की जाती है जिनमें ३ या ६ कलाओं के समूह बनने चाहियें।

साम के ये ७ अंग माने गये हैं—प्रस्ताव, उद्गीथ, प्रतिहार, उपद्रव, निधन, हिंकार और ओंकार। गीतकों में इनमें से शुरू के ५ की समकक्ष संज्ञाएँ उद्ग्राह, अनुद्ग्राह, संबोध, ध्रुवक और आभोग कही गई हैं जिनका उल्लेख ग्रन्थकार ने साम गीतक के लक्षण के अन्तर्गत किया है। ऋक् गीत में भी ये खण्ड होते हैं।

विदारियों यानी स्वराधारित खण्डों में एकक आदि की योजना इच्छानुसार की जा सकती है। स्वररचना में स्थायी, आरोही, अवरोही, संचारी में से किसी भी प्रकार के स्वरप्रयोग हो सकते हैं।

ऋक् गीतक ऋक् मन्त्र की तरह पूरी तरह वैदिक नहीं है बल्कि वैदिक तत्त्वों के आधार पर इसकी रचना हुई है जैसा कि इसके लक्षण से स्पष्ट है। वैदिक मन्त्रों, साम के प्रस्ताव आदि अंगों और 'ओं' 'ह' आदि स्तोभाक्षरों का तथा अनुष्टुप् से जगती तक ५ वैदिक छन्दों का इसमें प्रयोग इसे साम से जोड़ता है। दूसरी ओर वैदिक मन्त्रों के अलावा लौकिक पद, गीतकों में प्रयुक्त झण्टुं आदि वाक्करण, एकाक्षर पदों की योजना, गीतकों की विदारियों के अनुसार स्वरसंयोजन और स्थायी आदि वर्णों का यथाशोभा प्रयोग इसके लौकिक स्वरूप का सूचक है।

ऋक् समाप्त

(गाथा)

कला मुनिजनैरुक्ता गाथायाश्चतुरक्षरा।
अध्यष्टाविंशतिशतं कलानां तत्र कीर्तितम्॥ २२९॥

मात्रावृत्तैः कलानां च पूर्तिः स्तोभाक्षरैरपि।
कर्तव्यान्येककान्यत्र वर्णालंकारगीतयः॥ २३०॥

सामाङ्गानि च भूयांसि विविधानामिहाल्पता।

इति गाथा

६—गाथा

२२९-२३१ ख. (अ०) मुनिजनैः मुनिजनों के द्वारा गाथायाः कला गाथा की कला चतुःअक्षरा चार अक्षर वाली उक्ता कही गई (है)। तत्र उसमें कलानां कलाओं की (संख्या) अधि-अष्टाविंशतिशतं एक सौ अट्ठाईस तक कीर्तितं जानी गई (है)। मात्रावृत्तैः मात्रिक वृत्तों से (रचना होती है) कलानां च पूर्तिः और कलाओं की पूर्ति स्तोभाक्षरैः अपि स्तोभाक्षरों से भी (होती है)। अत्र इसमें एककानि कर्तव्यानि एकक करने चाहियें। विविधानां विविधों की इह अल्पता यहाँ अल्पता (होती है)। वर्ण-अलंकार-गीतयः वर्ण, अलंकार और गीतियाँ (प्रयुक्त होती हैं) साम-अङ्गानि च भूयांसि और साम के अंग प्रचुर (होते हैं)।

(सर०) गाथा की एक कला में पद के चार अक्षर होते हैं। गीतकों में चतुर्मात्रिक गण की अनिवार्यता कही गई, ऋक् और साम में एक अक्षर वाली कला कही। लेकिन गाथा में एक कला में अलग-अलग चार अक्षर होने जरूरी हैं। पदों की

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

रचना मात्रिक छंदों में होती है। गाथा के लिये निश्चित छन्दों का कोई निर्देश यहाँ नहीं है लेकिन भ०भा० में छन्द भी बताये हैं जिनमें से कुछ ये हैं—आर्या, गीति, पथ्या, मुखचपला, स्कन्धक जाति। वर्ण, अलंकार और गीतियों का इच्छानुसार प्रयोग हो सकता है। राग और पद संबन्धी गीतियों में से किनका प्रयोग ग्रन्थकार का अभिप्रेत है यह ग्रन्थ में नहीं है, टीकाकार भी मौन हैं। लेकिन भ०भा० में ग्रामराग से जुड़ी शुद्धा आदि गीतियों का प्रयोग कहा गया है। **स्तोभाक्षरैः** के साथ **अपि** होने से सार्थक पदों के साथ स्तोभाक्षरों का प्रयोग सूचित होता है।

गाथा समाप्त

(साम)

स्तोभभङ्गीं विजानीयात् साम्नो वैदिकसामवत्॥ २३१॥

ब्रह्मणा च पुरा गीतं प्रस्तावोद्गीथकौ तथा।
प्रतिहारोपद्रवौ च निधनं पञ्चमं मतम्॥ २३२॥

ततो हिंकार ओंकारः सप्ताङ्गानीति तत्र तु।
उद्ग्राहः स्यादनुद्ग्राहः संबोधो ध्रुवकस्तथा॥ २३३॥

आभोगश्चेति पञ्चानामाद्यानामभिधाः क्रमात्।
हिंकारोंकारयोस्तत्र कलापूरकता मता॥ २३४॥

गायत्रीप्रभृतिच्छन्दः संकृत्यन्तमिहेष्यते।
ऋच्यूढमिति सामोक्तं गद्ये षण्णवतिः कलाः॥ २३५॥

एकाक्षराः सामगाने तदर्धमपरे जगुः।
अत्रापि मन्त्रस्तोभानामृचां च त्रिकलादिकम्॥ २३६॥

इति साम

इति गीतप्रकरणानि

इति मार्गतालप्रकरणम्

७—साम

२३१ ग–२३६. (अ०) **साम्नः** साम (गीतक) का **स्तोभभङ्गीं** स्तोभाक्षरों का प्रकार **वैदिकसामवत्** वैदिक साम (गान) की तरह **विजानीयात्** विशेष रूप से जानना चाहिये **ब्रह्मणा च** जो ब्रह्मा ने **पुरा गीतं** पूर्वकाल में गाया। **तत्र तु** उस (वैदिक सामगान) में तो **प्रस्ताव-उद्गीथकौ** प्रस्ताव और उद्गीथ तथा **प्रतिहार-उपद्रवौ** तथा प्रतिहार और उपद्रव **पञ्चमं च** और पाँचवाँ **निधनं मतं** निधन माना गया। **ततः** उसके बाद **हिंकारः ओंकारः** 'हिं'कार, 'ओं'कार **इति सप्त अङ्गानि** ये सात अंग (हैं)। **उद्ग्राहः स्यात्** (यहाँ सामगीतक में पहला) उद्ग्राह होता है (फिर) **अनुद्ग्राहः संबोधः ध्रुवकः तथा आभोगः च** अनुद्ग्राह, संबोध, ध्रुव और आभोग भी **इति क्रमात्** इस क्रम से **आद्यानां पञ्चानां** (सामगान के) शुरू के पाँच (अंगों) के **अभिधाः** नाम (होते हैं)। **तत्र** उनमें (से) **हिंकार-ओंकारयोः** हिंकार और ओंकार की **कलापूरकता मता** कलापूरकता (पूर्ति करना) मानी गई (है)। **इह** यहाँ (साम गीतक में) **गायत्री प्रभृतिः** गायत्री से लेकर **संकृति-अन्तं छन्दः** संकृति से अन्त होने वाला छन्द **इष्यते** इष्ट होता है। **ऋचि ऊढम् इति** ऋक् में लिये गये ही (अर्थात् ऋक् के ही पद) **साम-उक्तं** साम (के पद)

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

कहे गये (हैं)। गद्ये गेय साम में एक-अक्षराः एक अक्षर वाली षण्णवतिः कलाः छियानवे कलाएँ (होती हैं)। अपरे अन्य आचार्य तत् अर्धम् उसका आधा जगुः कहते हैं। अत्र अपि यहाँ (साम गीतक में) भी ऋचां मन्त्रस्तोभानां ऋक् के मन्त्रस्तोभों का त्रिकल-आदिकं त्रिकल आदि (होता है)।

(सर०) सामवत् में वत् से साम के स्तोभाक्षरों का ही प्रयोग अभिप्रेत नहीं है बल्कि यह समझना चाहिये कि जैसे सामगान में स्तोभाक्षर होते हैं उसी तरह साम गीतक में भी होते हैं क्योंकि ऋक्, गाथा, साम गीतकों के जो स्तोभाक्षर ग्रन्थकार ने दिये हैं वे वैदिक ऋक् और साम में नहीं होते बल्कि 'ह' और 'ओं' के स्वर-व्यंजन से संयुक्त प्रकार होते हैं, जैसे—हौ, हा, हु आदि। हालाँकि साम के पद ऋक् के पदों से ही रचित होते हैं लेकिन उनके बीच के अंश भरने के लिये इन स्तोभाक्षरों का प्रयोग किया जाता है।

साम की पद रचना ६ अक्षर वाले गायत्री से लेकर २४ अक्षर के संकृति तक इन छन्दों में होती हैं—गायत्री, उष्णिक्, अनुष्टुप्, बृहती, पंक्ति, त्रिष्टुप्, जगती, अतिजगती, शक्वरी, अतिशक्वरी, अष्टि, अत्यष्टि, धृति, अतिधृति, कृति, प्रकृति, आकृति, विकृति, और संकृति। इससे यह प्रकट होता है कि साम में भले ही ऋक् के ही पद रहें लेकिन उनका संयोजन छन्दों के अनुसार होता है।

साम ९६ कला वाला गीतक है। हर कला में ऋक् की तरह एक-एक अक्षर की योजना होती है। अन्य मत से कलाओं की संख्या आधी होती हैं। उनमें ऋक् की तरह स्तोभाक्षर ३-३ या ६-६ के समूह में होते हैं।

सामगान के प्रस्ताव आदि अंगों का इसमें भी योग होता है लेकिन ऋक् आदि गीतकों में उनमें से ५ के नामान्तर हैं जो ग्रन्थकार के अनुसार ये हैं—

प्रस्ताव	उद्ग्राह
उद्गीथ	अनुद्ग्राह
प्रतिहार	संबोध
उपद्रव	ध्रुव
निधन	आभोग

ये नामांतर ज्यों के त्यों भ०भा० में भी हैं।

साम समाप्त

ऋक्, गाथा और साम के लक्षण से यह प्रकट होता है कि ये पूर्वोक्त गीतकों से काफ़ी भिन्न प्रकार के हैं। संक्षेप में अन्तर ये कहे जा सकते हैं।

सबसे बड़ा अन्तर यह है कि पूर्व गीतक तालप्रधान हैं लेकिन इनमें तालक्रियाओं क़ा कोई उल्लेख नहीं है, सिर्फ़ क़लाओं की कुल संख्या कही गई है।

गीतकों में वस्तु और अंगों के आधार पर खण्ड बनते हैं लेकिन ऋक् आदि में उनका कोई स्थान नहीं है और सामगान के प्रस्ताव आदि अंगों का विधान है।

गीतकों में वाक्करणों का प्रयोग होता है जो सामगान के स्तोभाक्षरों के समकक्ष और ब्रह्मप्रोक्त माने गये हैं। ऋक् आदि में भी स्तोभ तो हैं और इनके झण्टुं जगतिय आदि अन्य गीतकों से मिलते-जुलते भी हैं लेकिन हिंकार और ओंकार गीतकों में नहीं हैं जो ऋक् आदि में प्रचुर हैं।

गीतकों में स्तोभों का प्रयोग सिर्फ़ उपोहन में होता है, स्तुतिपदों के बीच में नहीं और उपोहन गीतक के शुरू में अलग खण्ड के रूप में रहता है। ऋक् आदि में स्तोभों का प्रयोग गीत के पदों के बीच में कलापूर्ति के लिये होता है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

गीतकों में केवल शिवस्तुति के पद होते हैं, ऋक् आदि में ऋक् के मन्त्र या मन्त्राधारित पद या लौकिक पद भी हो सकते हैं।

गीतकों में छन्दों का कोई स्थान नहीं है और छन्दत्व चतुर्मात्रिक पदों के रूप में सीमित रहता है। लेकिन ऋक् आदि अक्षरसंख्या पर आधारित गायत्री आदि छन्दों में बद्ध होते हैं। साथ ही ऋक् और साम में एकाक्षरा और गाथा में चतुरक्षरा कला होनी चाहिये। गीतकों में एक कला में चतुर्मात्रिक पद होते हैं।

गीतकों में तालांगों के अन्तर्गत एकक आदि स्वराधारित खण्डों का विधान है लेकिन ऋक् और साम में इनकी कोई चर्चा नहीं है, केवल गाथा में यह कहा गया है कि एकक की बहुलता और विविध आदि की अल्पता होती है।

गीतकों में अलंकारों और गीतियों का निर्देश नहीं है, ऋक् आदि में इनके प्रयोग का विशेष रूप से उल्लेख है।

ऋक्, गाथा और साम का स्वरूप सामगान से इनका संबन्ध तो सूचित करता है लेकिन ऐसा प्रतीत होता है कि सामगान से ऋक् आदि गीतों का विकास दूसरे गीतकों की अपेक्षा पहले हुआ। लेकिन सामगान के प्रस्ताव आदि अंगों का गान्धर्व वर्ग के ऋक् आदि गीतों में प्रयोग और ऋक् आदि की तरह ध्रुवाओं में और आगे चलकर प्रबन्धों में विभिन्न छन्दों का विशेष प्रयोग— इन तथ्यों से यह अनुमान किया जा सकता है कि साम से छन्दाधारित ऋक् आदि और दूसरे तालाधारित गीतकों का और इनके तत्त्व लेकर छन्दप्रधान ध्रुवाओं का विकास हुआ और इन सबके तत्त्वों के साथ देशीतालों पर आधारित प्रबन्ध विकसित हुए।

प्रकरणगीत प्रकरण समाप्त

मार्गताल प्रकरण समाप्त

(देशीतालप्रकरणम्)

(मङ्गलाचरणम्)

श्रीकीर्तिविजयानन्दं पार्वतीलोचनोत्सवम्।
राजचूडामणिं नत्वा तालं देशीगतं ब्रुवे॥ २३७॥

(ग) देशीतालप्रकरण

मंगलाचरण

२३७. (अ०) श्री-कीर्ति-विजय-आनन्दं श्री (समृद्धि), कीर्ति (यश और) विजय से उत्पन्न आनन्द(-रूप), पार्वतीलोचन-उत्सवं पार्वती के लोचनों (नेत्रों) के उत्सव(-रूप), राजचूडामणिं नत्वा राजा (चन्द्रमा)(जिसका) चूडामणि (सिर का आभूषण है)(ऐसे शंकर) को नमस्कार करके देशीगतं तालं देशी विषयक ताल को ब्रुवे कहता हूँ।

(सर०) इस अध्याय के शुरू में (३ घ-४ क की सर० व्याख्या में) यह दोहराया जा चुका है कि शार्ङ्ग० का मुख्य प्रतिपाद्य विषय देशी है। उसके आधार तत्त्व मार्ग संगीत में हैं इसलिये इस अध्याय में पहले मार्गताल के तत्त्व, मार्गताल और उनके प्रयोग को मूर्तिमान करने वाले गीतकों का निरूपण ग्रन्थकार ने मार्गताल प्रकरण में किया। यद्यपि उसके शुरू में ग्रन्थकार ने मंगलाचरण किया था लेकिन देशीताल का निरूपण उनका मुख्य विषय है इसलिये देशीताल प्रकरण के शुरू में फिर से मंगलाचरण किया है। उस मंगलाचरण की तरह यहाँ भी श्लिष्ट पदों का प्रयोग करके समासोक्ति अलंकार के द्वारा शंकर की स्तुति की और प्रतिपाद्य देशीताल को प्रस्तुत किया है। दोनों टीकाकारों की इस श्लोक की व्याख्या लगभग एक सी है।

शंकर पक्ष में अर्थ—श्रीकीर्तिविजयानन्दं समृद्धि, यश और विजय से जैसा आनन्द होता है वैसे ही आनन्दरूप या वैसा ही आनन्द देने वाले पार्वतीलोचन-उत्सवं पार्वती के नेत्रों के लिये उत्सव अर्थात् आनन्द के अवसर-रूप और राजचूडामणिं

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

राजा अर्थात् चन्द्रमा जिनका चूडामणि अर्थात् केशों (सिर) का आभूषण है ऐसे लक्षण वाले शंकर को नमस्कार करके देशीताल का निरूपण करता हूँ।

ताल पक्ष में अर्थ—श्रीकीर्ति, विजयानन्द, पार्वतीलोचन, उत्सव और राजचूडामणि—इन नामों से उपलक्षित तालों के द्वारा देशीतालों का प्रतिपादन करता हूँ।

(देशीतालस्य सामान्यलक्षणम्)

देशीतालस्तु लघ्वादिमितया क्रियया मतः।
यथाशोभं कांस्यतालध्वननादिकया मतः॥ २३८॥

देशीताल का सामान्य लक्षण

२३८. (अ०) **देशीतालः तु** देशीताल तो **यथाशोभं** शोभा के अनुसार **लघ्वादिमितया क्रियया** लघु आदि से नापी गई क्रिया के द्वारा **मतः** माना गया (है)(और) **कांस्यतालध्वननादिकया मतः** कांस्यताल की ध्वनि आदि के द्वारा माना गया (है)।

(सर०) यहाँ देशीताल का सामान्य लक्षण दिया है। कल्लि० ने इस कारिका की विस्तृत व्याख्या की है। उसके अनुसार श्लोक में तु शब्द मार्गताल से देशीताल के भेद का सूचक है और यह भेद **यथाशोभं लघ्वादिमितया क्रियया** और **यथाशोभं कांस्यतालध्वननादिकया**—इन दो विशेषणों से प्रकट होता है। मार्गताल में नियत रूप से ५ लघु अक्षरों के उच्चारण काल को लघु कहा गया है लेकिन देशीताल में यह नियत नहीं है बल्कि शोभा के अनुसार ४, ५ या ६ लघु अक्षरों के बराबर हो सकता है। तदनुसार गुरु, प्लुत का अक्षरकाल भी भिन्न हो जाता है। जैसे, अगर लघु किसी ताल में ४ अक्षरकाल का हो तो गुरु ८ अक्षरकाल के बराबर और प्लुत १२ के बराबर होगा। समान लक्षण वाले देशीताल लघु के भिन्न नाप के कारण भिन्न हो जाते हैं। कल्लि० ने आगे इनके उदाहरण दिये हैं।

यथाशोभं पद को देहलीप्रदीपन्याय और काकाक्षिगोलकन्याय* के द्वारा **लघ्वादिमितया** और **कांस्यतालध्वननादिकया** दोनों के साथ संबद्ध करके कल्लि० ने व्याख्या की है। लघ्वादि के साथ संबद्ध उसकी व्याख्या का सार पिछले पैरा में दिया है। कांस्यताल के दो भागों को परस्पर टकरा कर बजाने पर एक ही तरह की ध्वनि उत्पन्न होती है। लेकिन उसे अलग-अलग ढंग से टकरा कर अलग-अलग प्रकार की ध्वनि उत्पन्न की जाती है। जैसे, मुक्त यानी खुला नाद, गृहीत यानी बन्द नाद, विघात यानी दो आघातों के बीच हाथ की विशेष प्रकार की क्रिया से और कभी विघात में घात की कल्पना होती है। इससे उत्पन्न शोभा और वैचित्र्य के अनुसार और जहाँ जैसी शोभा हो वैसे विभिन्न माप के लघु के अनुसार होने वाली क्रियाओं के द्वारा देशीताल का नाप होता है।

कल्लि० के अनुसार गीत के जिस भाग में जितने अक्षरकाल की मात्रा के द्वारा कांस्यताल के काल के साथ साम्य हो उसके अनुसार क्रिया होना '**यथाशोभं**' का आशय है।

लघ्वादि में आदि से गुरु, प्लुत, द्रुत का ग्रहण करना चाहिये, ऐसा कल्लि० ने कहा। लघु से छोटे अवयव का ग्रहण करने के लिये द्रुतादि या बड़े अवयव के ग्रहण के लिये प्लुतादि कहा जा सकता था लेकिन ग्रन्थकार ने लघ्वादि ही कहा। यह कथन देशीतालों में ताल के आरम्भ और अन्त में लघु की प्रधानता का द्योतक है। इसके द्वारा सिर्फ़ द्रुत अवयव वाले तालों में दो द्रुतों को लघु बनाकर ताल का आरम्भ और समापन करना चाहिये, संप्रदाय में ऐसा माना जाता है।

---

* ये दोनों सिद्धान्त एक वस्तु की दो और संबद्धता के सूचक हैं। जैसे देहली पर रखा हुआ दीपक भीतर और बाहर दोनों तरफ़ प्रकाश करता है और जैसे कौओ की आँख में गोलक एक ही होने पर भी वह उसे किसी भी आँख में ले जा सकता है, उसी तरह श्लोक में 'यथाशोभं' शब्द 'लघ्वादिमितया' और 'कांस्यतालध्वननादिकया' दोनों के साथ संबद्ध होता है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अर्धमात्रं द्रुतो मात्रात्रितयं प्लुत उच्यते।
द्रुतादिरचनाभेदात् तालभेदोऽप्यनेकधा॥ २३९॥
तालानामधुना तेषामुद्देशं संगिरामहे।

२३९-२४० ख. (अ०) अर्धमात्रं द्रुतः आधी मात्रा द्रुत (और) मात्रात्रितयं प्लुतः तीन मात्राओं का समूह प्लुत उच्यते कहा जाता है। द्रुत-आदिरचनाभेदात् द्रुत आदि की रचना के भेद से तालभेदः अपि ताल के भेद भी अनेकधा अनेक प्रकार से (होते हैं)। अधुना अब तेषां तालानाम् उन तालों के उद्देशं नाम मात्र संगिरामहे कहते हैं।

(सर०) द्रुतादिरचनाभेदात् का अर्थ सिंह० के अनुसार द्रुत, लघु, प्लुत आदि की रचना में भेद उनके कम-ज़्यादा होने से या पूर्वापर (आगे-पीछे) होने से होता है। कल्लि० ने भी यही बात शब्दान्तर से यों कही है। द्रुत, लघु, गुरु, प्लुत का विशेष प्रकार का संनिवेश और प्रमाण (संख्या) विशेष।

उद्देश का अर्थ है नामों के द्वारा तालों को कहना।

(देशीतालोद्देशम्)

आदितालो द्वितीयश्च तृतीयोऽथ चतुर्थकः॥ २४०॥

पञ्चमो निःशङ्कलीलो दर्पणः सिंहविक्रमः।
रतिलीलः सिंहलीलः कन्दर्पो वीरविक्रमः॥ २४१॥

रङ्गः श्रीरङ्गचच्चर्यौ प्रत्यङ्गो यतिलग्नकः।
गजलीलो हंसलीलो वर्णभिन्नस्त्रिभिन्नकः॥ २४२॥

राजचूडामणी रङ्गोद्योतो रङ्गप्रदीपकः।
राजतालो वर्णतालः सिंहविक्रीडितो जयः॥ २४३॥

वनमाली हंसनादः सिंहनादः कुडुक्ककः।
तुरङ्गलीलः शरभलीलः स्यात् सिंहनन्दनः॥ २४४॥

त्रिभङ्गिरङ्गाभरणौ मण्ठकः कोकिलाप्रियः।
निःसारुको राजविद्याधरश्च जयमङ्गलः॥ २४५॥

मल्लिकामोदविजयानन्दौ क्रीडाजयश्रियौ।
मकरन्दः कीर्तितालः श्रीकीर्तिः प्रतितालकः॥ २४६॥

विजयो बिन्दुमाली च समनन्दनमण्ठिकाः।
दीपकोदीक्षणौ ढेङ्की विषमो वर्णमण्ठिका॥ २४७॥

अभिनन्दोऽनङ्गनान्दीमल्लकङ्कालकन्दुकाः।
एकताली च कुमुदश्चतुस्ताली च डोम्बुली॥ २४८॥

अभङ्गो रायवङ्कोलो वसन्तो लघुशेखरः।
प्रतापशेखरो झम्पा गजझम्पश्चतुर्मुखः॥ २४९॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

मदनः प्रतिमण्ठश्च पार्वतीलोचनो रतिः।
लीलाकरणयत्याख्यौ ललितो गारुगिस्तथा॥ २५०॥

राजनारायणाख्यश्च लक्ष्मीशो ललितप्रियः।
श्रीनन्दश्च जनको वर्धनो रागवर्धनः॥ २५१॥

षट्तालश्चान्तरक्रीडा हंसोत्सवविलोकिताः।
गजो वर्णयतिः सिंहः करणः सारसस्तथा॥ २५२॥

चण्डतालश्चन्द्रकलालयस्कन्दोऽड्डुतालिकाः।
घत्ता द्वन्द्वमुकुन्दौ च कुविन्दश्च कलध्वनिः॥ २५३॥

गौरीसरस्वतीकण्ठाभरणो भग्नसंज्ञकः।
तालो राजमृगाङ्कश्च राजमार्तण्डसंज्ञकः॥ २५४॥

निःशङ्कः शार्ङ्गदेवश्चेत्येते सोढलसूनुना।
देशीतालाः समादिष्टाः विंशत्यभ्यधिकं शतम्॥ २५५॥

देशीतालों का उद्देश

२४० ग-२५५. (अ०) श्लोक २४० ग से २५५ तक सिर्फ़ तालों के नाम गिनाये हैं इसलिये इन श्लोकों का अन्वय न देकर यहाँ नाम ही दिये जा रहे हैं।

(१) आदिताल, (२) द्वितीय, (३) तृतीय, (४) चतुर्थ, (५) पंचम, (६) निःशङ्कलील, (७) दर्पण, (८) सिंहविक्रम, (९) रतिलील, (१०) सिंहलील, (११) कन्दर्प, (१२) वीरविक्रम, (१३) रंग, (१४) श्रीरंग, (१५) चच्चरी, (१६) प्रत्यंग, (१७) यतिलग्न, (१८) गजलील, (१९) हंसलील, (२०) वर्णभिन्न, (२१) त्रिभिन्न, (२२) राजचूडामणि, (२३) रंगोद्योत, (२४) रंगप्रदीप, (२५) राजताल, (२६) वर्णताल, (२७) सिंहविक्रीडित, (२८) जय, (२९) वनमाली, (३०) हंसनाद, (३१) सिंहनाद, (३२) कुडुक्क, (३३) तुरंगलील, (३४) शरभलील, (३५) सिंहनन्दन, (३६) त्रिभङ्गि, (३७) रंगाभरण, (३८) मण्ठ, (३९) कोकिलाप्रिय, (४०) निःसारु, (४१) राजविद्याधर, (४२) जयमंगल, (४३) मल्लिकामोद, (४४) विजयानन्द, (४५) क्रीडा, (४६) जयश्री, (४७) मकरन्द, (४८) कीर्तिताल, (४९) श्रीकीर्ति, (५०) प्रतिताल, (५१) विजय, (५२) बिन्दुमाली, (५३) सम, (५४) नन्दन, (५५) मण्ठिका, (५६) दीपक, (५७) उदीक्षण, (५८) ढेंकी, (५९) विषम, (६०) वर्णमण्ठिका, (६१) अभिनन्द, (६२) अनंग, (६३) नान्दी, (६४) मल्ल, (६५) कंकाल, (६६) कन्दुक, (६७) एकताली, (६८) कुमुद, (६९) चतुस्ताल, (७०) डोम्बुली, (७१) अभंग, (७२) रायवंकोल, (७३) वसन्त, (७४) लघुशेखर, (७५) प्रतापशेखर, (७६) झम्पा, (७७) गजझम्प, (७८) चतुर्मुख, (७९) मदन, (८०) प्रतिमण्ठ, (८१) पार्वतीलोचन, (८२) रति, (८३) लीला, (८४) करणयति, (८५) ललित, (८६) गारुगि, (८७) राजनारायण, (८८) लक्ष्मीश, (८९) ललितप्रिय, (९०) श्रीनन्द, (९१) जनक, (९२) वर्धन, (९३) रागवर्धन, (९४) षट्ताल, (९५) अन्तरक्रीडा, (९६) हंस, (९७) उत्सव (९८) विलोकित, (९९) गज, (१००) वर्णयति, (१०१) सिंह, (१०२) करण, (१०३) सारस, (१०४) चण्डताल, (१०५) चन्द्रकला, (१०६) लय, (१०७) स्कन्द, (१०८) अड्डुताली, (१०९) घत्ता, (११०) द्वन्द्व, (१११) मुकुन्द, (११२) कुविन्द, (११३) कलध्वनि, (११४) गौरी, (११५) सरस्वतीकण्ठाभरण, (११६) भग्नताल, (११७) राजमृगांक, (११८) राजमार्तण्ड, (११९) निःशङ्क, (१२०) शार्ङ्गदेव इति एते इस प्रकार ये विंशति-अभ्यधिकं शतं देशीतालाः बीस अधिक सौ (अर्थात् एक सौ बीस) देशीताल सोढलसूनुना सोढल के पुत्र (शार्ङ्गदेव) के द्वारा समादिष्टाः आदेश किये गये (अर्थात् निश्चित किये गये)।

(सर०) इन नामों में निःशङ्कलील, निःशङ्क और शार्ङ्गदेव—ये तीन शार्ङ्गदेव के नाम अथवा विशेषण हैं जो यह सूचित

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

करते हैं कि इन तालों की रचना ग्रन्थकार ने स्वयं की। कल्लि० ने इस पर यह कहा कि अपने नाम वाले ताल देने से देशीतालों की अनन्तता और अपनी इच्छानुसार नामयुक्तता ग्रन्थकार ने दिखाई है। एक सौ बीस संख्या में देशी तालों का परिच्छेद (सीमित करना) प्रसिद्धि के आधार पर किया गया है, ऐसा समझना चाहिये।

(देशीतालानां खण्डतालत्वम्)

गुर्वाद्याश्चतुरश्रादेः खण्डयित्वा निवेशिताः।
यद्वा लघ्वादिखण्डानामाधिक्यमिह दृश्यते॥ २५६॥

तेनैषां खण्डतालत्वमभाषन्त पुरातनाः।

देशीतालों का खण्डतालत्व

२५६-२५७ ख. (अ०) चतुरश्र-आदेः चच्चत्पुट आदि (तालों) के गुरु-आद्याः गुरु आदि (अवयव) खण्डयित्वा खण्डित करके (तोड़कर) निवेशिताः निवेश किया गया यत् वा अथवा लघु-आदिखण्डानां लघु आदि खण्डों की आधिक्यम् इह दृश्यते बहुलता यहाँ दिखाई देती है तेन इस कारण पुरातनाः प्राचीन आचार्य एषाम् इनका खण्डतालत्वं खण्डतालत्व अभाषन्ते कहते हैं।

(सर०) ग्रन्थकार पहले कह चुके हैं कि चच्चत्पुट आदि खण्ड नामक भेद देशीतालों के विस्तार में कहेंगे (५/४२ ग-४३ ख)। उसी संदर्भ में यहाँ यह बताया कि देशीतालों को खण्डताल क्यों कहा जाता है।

चतुरश्र आदि मार्गतालों की लघु, गुरु आदि इकाइयों को खण्डित करने का अर्थ है इकाइयों के छोटे खण्ड बनाना। जैसे, लघु को खण्डित करने से दो द्रुत प्राप्त होंगे, गुरु के खण्डन से दो लघु, एक लघु दो द्रुत अथवा चार द्रुत प्राप्त होंगे। निवेशित करने से अभिप्राय यह है कि खण्डित करने से प्राप्त इकाइयों का अलग-अलग क्रमों में संयोजन करना। जैसे, ऽ से प्राप्त ।०० का संयोजन ००।, ०।०, ।००—यों तीन तरह से हो सकता है। लेकिन।। और ०००० के नये क्रम नहीं बनेंगे क्योंकि इनमें उलट-पुलट करना संभव नहीं है। स्वेच्छानुसार संयोजन के कारण ये देशीताल हैं और इकाइयों को खण्डित करने के कारण खण्डताल हैं। दूसरे, खण्डित करने से इकाइयाँ बढ़ जाती हैं यानी इनमें लघु आदि का आधिक्य हो जाता है इसलिये ये खण्डताल कहलाते हैं।

(द्रुतादीनां संज्ञान्तराणि)

द्रुताद्याद्यक्षरैर्ज्ञेयं सन्ति संज्ञान्तराण्यपि॥ २५७॥

अर्धमात्रं तथा व्योम व्यंजनं बिन्दुकं द्रुते।
लघुनि व्यापकं ह्रस्वं मात्रिकं सरलं तथा॥ २५८॥

द्विमात्रं च कला वक्रं दीर्घं गुरुणि कीर्तितम्।
प्लुते त्र्यङ्कं त्रिमात्रं च दीप्तं सामोद्भवं तथा॥ २५९॥

द्रुत आदि के अन्य नाम

२५७ ग-२५९. (अ०) द्रुत आदि द्रुत आदि आद्य-अक्षरैः ज्ञेयम् (अपने नामों के) पहले अक्षरों से जाने गये हैं। संज्ञा-अन्तराणि अपि (इनकी) अन्य संज्ञाएँ भी सन्ति होती हैं। द्रुते द्रुत में (अर्थात् द्रुत के) अर्धमात्रं तथा व्योमः अर्धमात्र और व्योम व्यञ्जनं बिन्दुकं व्यंजन (और) बिन्दु (संज्ञाएँ हैं)। लघुनि लघु में व्यापकं ह्रस्वं मात्रिकं तथा सरलं व्यापक,

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ह्रस्व, मात्रिक और सरल, गुरुणि गुरु में द्विमात्रं कला वक्रं च दीर्घं द्विमात्र, कला, वक्र और दीर्घ कीर्तितं (संज्ञाएँ) जानी गई हैं तथा प्लुते और प्लुत में त्र्यङ्कं त्रिमात्रं च त्र्यंक और त्रिमात्र दीप्तं तथा साम-उद्भवं दीप्त और सामोद्भव (ये संज्ञाएँ हैं)।

(सर०) आद्य अक्षर यानी द्रुत के लिये द लघु के लिये ल, गुरु के लिये ग और प्लुत के लिये प, जिनका उपयोग ग्रन्थकार तालों के लक्षण देने में करेंगे। कल्लि० ने ध्यान दिलाया कि मगण आदि आठ गण (जो चौथे अध्याय में कहे जा चुके हैं) भी कभी-कभी 'म' आदि जैसे आद्य अक्षरों से जाने जाते हैं।

द्रुत के नामान्तरों में अर्धमात्र का अर्थ है आधी मात्रा वाला जो द्रुत का नाप है। व्योम यानी आकाश जो शून्य या बिन्दु (०) से व्यक्त किया जाता है। द्रुत का यही चिन्ह है इसलिये व्योम और बिन्दु संज्ञा है।

लघु सारी इकाइयों में व्यापक है इसलिये व्यापक नाम है। ह्रस्व और मात्रा का पर्याय लघु होता है और उसका चिन्ह (।) सरल कहलाता है।

गुरु दो मात्रा का होता है और ताल में उसे कला कहा जाता है। दीर्घ और गुरु पर्याय हैं और उसका चिन्ह (ऽ) वक्र होता है।

साम में प्लुत का चिन्ह ३ का अंक होता है इसलिये त्र्यंक, तीन मात्रा के बराबर होता है अतः त्रिमात्र नाम है। दीप्त का अर्थ है बढ़ाया हुआ। प्लुत गुरु की अपेक्षा बढ़ाई हुई इकाई है इसलिये दीप्त संज्ञा है। प्लुत का जन्म यानी ग्रहण साम से किया गया है इसलिये सामोद्भव नामान्तर है। इसी प्रकार सभी नाम सार्थक हैं।

(द्रुतादीनां देवताः)

द्रुते शम्भुर्लघौ देवी गुरौ गौरीयुतः शिवः।
प्लुते त्रयो विरिञ्चाद्या देवता मुनिभिः स्मृताः॥ २६०॥

द्रुत आदि के देवता

२६०. (अ०) द्रुते द्रुत में शम्भुः शम्भु, लघौ लघु में देवी देवी, गुरौ गुरु में गौरीयुतः शिवः गौरी सहित शिव (और) प्लुते प्लुत में विरिञ्च-आद्याः त्रयः देवताः ब्रह्मा आदि तीन देवता मुनिभिः मुनियों के द्वारा स्मृताः जाने गये (हैं)।

(सर०) ब्रह्मा आदि तीन अर्थात् ब्रह्मा, विष्णु, महेश प्लुत के देवता होते हैं।

द्रुतादीनां लिपिः

द्रुते बिन्दुर्विरामान्ते तूक्ता मात्रायुता लिपिः।
प्लुते मात्रायुतो वक्रो लिपौ श्रीशार्ङ्गिणोदितः॥ २६१॥

द्रुत आदि की लिपि

२६१. (अ०) द्रुते द्रुत में बिन्दुः बिन्दु, विरामान्ते तु विरामान्त (इकाई) में तो मात्रायुता लिपिः मात्रा से संयुक्त लिपि उक्ता कही गई (है)। प्लुते लिपौ प्लुत में लिपि में मात्रायुतः वक्रः मात्रा से युक्त वक्र श्रीशार्ङ्गिणा श्री शार्ङ्गदेव के द्वारा उदितः कहा गया (है)।

(सर०) लिपि का तात्पर्य लिखने के चिन्ह (नोटेशन) है। द्रुत के लिये बिन्दु यानी ० चिन्ह है। विरामान्त इकाई और प्लुत दोनों को मात्रायुत कहा है। लेकिन प्रस्तारों में मात्रा के चिन्ह विराम और प्लुत के लिये अलग-अलग हैं। विराम के लिये इकाई के चिन्ह के ऊपर रेफ का चिन्ह है, जैसे—ॕ, ।ॅ । प्लुत के लिये मात्रायुत वक्र यानी ऽ‍ॅ चिन्ह है। इस प्रकार प्लुत में मात्रा का चिन्ह ` है और विराम के लिये ´।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

श्लोक २३८ की व्याख्या में यह कहा जा चुका है कि एक से लक्षण वाले तालों में लघु के नाप की भिन्नता से तालभेद हो जाता है। कल्लि० ने यह कहते हुए यहाँ उनके उदाहरण दिये हैं कि नाम भिन्न होते हुए भी लक्षण में अर्थभेद न होने से अर्थ की पुनरुक्ति प्रतीत होती है। जैसे—झण्टुक (कुडुक्क), अड्डुताली और वैकुन्द् (निःसारु का एक भेद)—इन तीनों में ००।। होते हैं लेकिन इनमें लघु क्रम से ४, ५ और ६ अक्षरकाल का होता है और तदनुसार द्रुत उनके आधे-आधे होते हैं। इसी तरह दर्पण-मदन-मकरन्द के, निःसारु-हंसलील-हंस के, ढेंकी-वर्णमण्ठ के, करुण-अमर के, त्रिभंगि-रतिलील के और दूसरे कई उदाहरण कल्लि० ने दिये हैं जिनके लक्षण एक से हैं। कल्लि० ने यह भी कहा कि कभी-कभी तो किसी गीत के शुरू में एक ही ताल की आवृत्तियों में भी प्रमाण (माप) भिन्न होता है। जैसे वर्तमान लक्ष्य में भी कभी-कभी विविधता और सुन्दरता लाने के लिये किसी मात्रा को उसके काल से ज़्यादा लम्बा और किसी को छोटा कर दिया जाता है, लेकिन हर बार ऐसा नहीं किया जाता। सम्भवतः कल्लि० का भी कुछ ऐसा आशय है। कल्लि० के अनुसार यह तालों के देशीत्व का भूषण है, दोष नहीं, देशीतालों का यह रहस्य आचार्यों द्वारा संमत है इसमें पुनरुक्ति नहीं माननी चाहिये।

विराम का क्या रूप है?—यह प्रश्न उठा कर कल्लि० ने उत्तर दिया कि विराम विच्छेद का पर्याय है और क्रिया के साथ होने वाली विश्रान्तिरूप होने से उसका काल भी भिन्न है अर्थात् जिस क्रिया की जितनी विश्रान्ति हो उसके अनुसार उसका काल भिन्न हो जाता है। जैसे—द्रुत के साथ विराम द्रुत के आधे काल का और लघु के साथ विराम उसके आधे यानी द्रुत के काल का होता है। उसने दूसरी शंका यह उठाई कि गुरु और प्लुत के लिये भी विराम कहा जा सकता है। शंका इसलिये उठाई कि तालों में ये दोनों विरामान्त नहीं दिखाई देते। ऐसा क्यों? इसका यह उत्तर दिया कि गुरुविरामान्त का अर्थ है गुरु और उसका आधा यानी लघु का काल जो प्रकारान्तर से प्लुत ही होता है। प्लुतविरामान्त कहने से प्लुत और उसका आधा डेढ़ मिला कर साढ़े चार मात्रा होंगी। ऐसा अवयव किसी ताल में प्राप्त न होने से अपसिद्धान्तता और अपप्रयोगता ही होगी। तात्पर्य यह है कि सिद्धान्त और प्रयोग दोनों दृष्टियों से विरामान्त गुरु और विरामान्त प्लुत के लिये कोई आधार नहीं है।

विराम को ताल का स्वतन्त्र अवयव न मानने के कल्लि० ने चार हेतु दिये हैं—१. इसमें कोई क्रिया नहीं होती (अक्रियात्व), २. इसका रूप ही क्रिया का अभाव है (क्रिया-अभावरूपत्व), क्योंकि यह विश्रान्ति का पर्याय है, ३ यह स्वतन्त्र नहीं है (परतन्त्र) यानी किसी अवयव के साथ जुड़कर ही इसका प्रयोग होता है, और ४. इसकी यह विशेषरूपता है कि यह सिर्फ़ द्रुत और लघु के साथ जुड़ सकता है, गुरु-प्लुत के साथ नहीं (विरूपत्व)।

ऊपर की चर्चा से यह स्पष्ट होता है कि विराम किसी दूसरे अवयव के साथ जुड़कर ही प्रयुक्त होता है और जिस अवयव के साथ जुड़ता है उसके आधे मूल्य की वृद्धि उस अवयव में कर देता है। इसके अनुसार लघु विराम (।́) $१+\frac{१}{२} = १\frac{१}{२}$ मात्रा और द्रुतविराम (ó) $\frac{१}{२}+\frac{१}{४}=\frac{३}{४}$ (पौन) मात्रा का होगा।

तालानां लक्षणं वक्ष्ये तेषां सूरिमताश्रितम्।

२६२ क-ख. (अ०) तेषां तालानाम् उन तालों के सूरिमतम् आश्रितं लक्षणं आचार्यों के मत के आश्रित लक्षण वक्ष्ये कहता हूँ।

(देशीताललक्षणानि प्रस्ताराश्च)

(तत्र आदितालः)

लघ्वादितालो लोकेऽसौ रासः,

। इत्यादितालः (१)

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

देशीतालों के लक्षण और प्रस्तार

१—आदिताल

२६२ ग-घ. (अ०) लघु-आदितालः (एक) लघु वाला आदिताल (है) असौ (और) यह लोके प्रचार में रासः रास (कहलाता है)।

। इति आदितालः । यह आदिताल (है)। (१)

(सर०) यहाँ से ग्रन्थकार ने १२० देशीतालों के शाब्दी लक्षण और उनकी लिपि (प्रस्तार) दी है। ग्रन्थकार ने कहीं-कहीं तालों के अन्य प्रचलित नाम भी दिये हैं। सिंह० ने उनके अलावा दूसरे कई तालों के नामान्तर भी दिये हैं जो संभवतः शार्ङ्ग० और सिंह० के बीच के काल में प्रचार में आये होंगे। उनका उल्लेख यथास्थान किया जायगा।

(द्वितीयकः)

दौ लो द्वितीयकः॥ २६२॥

० ० । इति द्वितीयकः (२)

२—द्वितीय/द्वितीयक

२६२ घ. (अ०) दौ लः दो द्रुत, एक लघु द्वितीयकः द्वितीयक (ताल है)। ००। इति द्वितीयकः (२) ००। यह द्वितीय (ताल है)। (२)

(तृतीयः)

द्रुताद् द्रुतौ विरामान्तौ तृतीयः स्यात्,

००օ̇ इति तृतीयः (३)

३—तृतीय

२६३ क-ख. (अ०) द्रुतात् द्रुत के बाद विरामान्तौ द्रुतौ विराम से अन्त होने वाले दो द्रुत (होने पर) तृतीयः स्यात् तृतीय (नामक ताल) होता है।

००օ̇ इति तृतीयः (३) ००օ̇ यह तृतीय (है)। (३)

(सर०) द्रुतौ का विशेषण विरामान्तौ द्विवचनान्त है इसलिये विरामान्तौ से दोनों द्रुतों का विरामान्त होना अर्थ निकलता है। तदनुसार प्रस्तार ०օ̇օ̇ यह होना चाहिये। आड्यार १९८६ सं० में तीन पाण्डुलिपियों का पाठभेद ०օ̇օ̇ है। किन्तु अगर यह अर्थ निकाला जाय कि दो द्रुत जिनका अन्तिम विराम वाला है तो ००օ̇ प्रस्तार बनता है। सं०र० के सभी संस्करणों में प्रस्तार ००օ̇ यही है।

(चतुर्थकः)

चतुर्थकः।

लघुद्वयं द्रुतश्चैकः,

।।० इति चतुर्थकः (४)

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

४—चतुर्थ

२६३ ख-ग. (अ०) चतुर्थकः चतुर्थ (ताल) लघुद्वयं दो लघु एकः द्रुतः च और एक द्रुत वाला (होता है)।

। । ० इति चतुर्थकः (४) । । ० यह चतुर्थ (ताल है)। (४)

(पञ्चमः)

पञ्चमस्तु द्रुतद्वयम्॥ २६३॥

० ० इति पञ्चमः (५)

५—पंचम

२६३ घ. (अ०) पञ्चमः तु पंचम तो द्रुतद्वयं दो द्रुत (वाला है)।

० ० इति पञ्चमः (५) ० ० यह पंचम (है)। (५)

(सर०) यहाँ तक जिन पाँच तालों के लक्षण दिये गये उनके नाम उन संख्याओं के सूचक भी हैं जिस क्रमसंख्या पर वे हैं। आदिताल में आदि का अर्थ है पहला। संभवतः देशीतालों में यह पहला ताल रहा हो इसलिये इसे आदिताल कहा गया।

(निःशङ्कलीलः)

ताले निःशङ्कलीलाख्ये प्लुतौ द्वौ गद्वयं लघुः।

ऽ̀ ऽ̀ ऽ ऽ । इति निःशङ्कलील (६)

(६—निःशङ्कलील)

२६४. क-ख (अ०) निःशङ्कलील-आख्ये ताले निःशङ्कलील नामक ताल में द्वौ प्लुतौ दो प्लुत, ग-द्वयं दो गुरु (और) लघुः एक लघु (होता है)।

ऽ̀ ऽ̀ ऽ ऽ । इति निःशङ्कलीलः (६) ऽ̀ ऽ̀ ऽ ऽ । यह निःशङ्कलील (है)। (६)

(दर्पणः)

दर्पणे दद्वयं गश्च,

००ऽ इति दर्पणः (७)

७—दर्पण

२६४ ग. (अ०) दर्पणे दर्पण में द-द्वयं दो द्रुत गः च और एक गुरु (होता है)।

० ० ऽ इति दर्पणः (७) ० ० ऽ यह दर्पण (है)। (७)

(सिंहविक्रमः)

सिंहविक्रमसंज्ञकः॥ २६४॥

गत्रयं लः पलगपाः,

ऽ ऽ ऽ । ऽ̀ । ऽ ऽ̀ इति सिंहविक्रमः (८)

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

८—सिंहविक्रम

२६४ घ-२६५ क. (अ०) सिंहविक्रमसंज्ञकः सिंहविक्रम नामक (ताल) ग-त्रयं तीन गुरु, लः एक लघु, प-ल-ग-पाः (एक-एक) प्लुत, लघु, गुरु और प्लुत वाला (होता है)।

ऽ ऽ ऽ । ऽ॑ । ऽ ऽ॑ इति सिंहविक्रमः (८) ऽ ऽ ऽ । ऽ॑ । ऽ ऽ॑ यह सिंहविक्रम (है)। (८)

(रतिलीलः)

रतिलीले लघू गुरू।

। । ऽ ऽ इति रतिलील : (९)

९—रतिलील

२६५ ख. (अ०) रतिलीले रतिलील में लघू दो लघु गुरू दो गुरु (होते हैं)।

। । ऽ ऽ इति रतिलीलः (९) । । ऽ ऽ यह रतिलील (है)। (९)

(सिंहलीलः)

लघ्वन्ते दत्रयं सिंहलीले,

।००० इति सिंहलीलः (१०)

१०—सिंहलील

२६५ ग-घ. (अ०) सिंहलीले सिंहलील में लघु-अन्ते लघु के अन्त में (बाद) दत्रयं तीन द्रुत (होते हैं)।

। ० ० इति सिंहलील : (१०) । ० ० ० यह सिंहलील (है)। (१०)

(सर०) सिंह० ने आदि व अन्त में लघु और बीच में ३ द्रुत कहे। तदनुसार प्रस्तार ।०००। होगा। सं०स० सार (८/४८) और सं० चूडा० (श्लो० ८३) में भी यही रूप है। आड्० १९५१ में प्रस्तार ०००। है और १९८६ सं० में ।००० है।

इस श्लोकांश में अन्वय यदि 'दत्रयं लघ्वन्ते' करके 'तीन द्रुत और अन्त में लघु होने पर'—यह अर्थ किया जाय तो प्रस्तार ०००। होगा।

(कन्दर्पः)

दौ यगणस्तथा॥ २६५॥

कन्दर्पतालस्तस्यैव पर्यायः स्यात् परिक्रमः।

० ० । ऽ ऽ इति कन्दर्पः (११)

११—कन्दर्प

२६५ घ-२६६ ख (अ०) कन्दर्पतालः कन्दर्प ताल दौ दो द्रुत तथा यगणः और एक यगण (।ऽऽ) वाला स्यात् होता है (और) तस्य एव पर्यायः उसी क़ा अन्य नाम परिक्रमः परिक्रम (है)।

० ०। ऽ ऽ इति कन्दर्पः (११) ० ०।ऽ ऽ यह कन्दर्प (है)। (११)

(सर०) छन्दशास्त्र में ।ऽऽ यगण कहलाता है जिसका उल्लेख प्रबन्धाध्याय में किया जा चुका है। यहाँ यगण के द्वारा ।ऽऽ तो अभिप्रेत हैं लेकिन; जैसा पहले कहा जा चुका है, यहाँ इनके नाप छन्द के लघु-गुरु वाले नहीं यानी १ और २ पदमात्रा के नहीं बल्कि ताल के लघु-गुरु यानी ५ और १० ह्रस्व अक्षरकाल नाप के हैं। आगे भी सर्वत्र ऐसा ही समझना चाहिये।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(वीरविक्रमः)

लघुर्द्रुतद्वयं चान्ते गुरुः स्याद् वीरविक्रमः॥ २६६॥

। ० ० ऽ इति वीरविक्रमः (१२)

१२—वीरविक्रम

२६६ ग-घ. (अ०) वीरविक्रमः वीरविक्रम लघुः द्रुतद्वयं एक लघु, दो द्रुत अन्ते च और अन्त में गुरुः गुरु वाला स्यात् होता है।

। ० ० ऽ इति वीरविक्रमः (१२) । ० ० ऽ यह वीरविक्रम (है)। (१२)

(रङ्गः)

रङ्गश्चतुर्द्रुती गश्च,

० ० ० ० ऽ इति रङ्गः (१३)

१३—रंग

२६७ क. (अ०) रङ्गः रंग चतुःद्रुती गः च चार द्रुत और एक गुरु वाला (होता है)।

० ० ० ० ऽ इति रङ्गः (१३) ० ० ० ० ऽ यह रंग (ताल है)। (१३)

(श्रीरङ्गः)

श्रीरङ्गः सगणो लपौ।

। । ऽ । ऽ̖ इति श्रीरङ्गः (१४)

१४—श्रीरंग

२६७ ख. (अ०) श्रीरङ्गः श्रीरंग सगणः ल-पौ सगण (।।ऽ), एक लघु और प्लुत वाला (होता है)।

। । ऽ । ऽ̖ इति श्रीरङ्गः (१४) । । ऽ । ऽ̖ यह श्रीरंग (है)। (१४)

(चच्चरी)

विरामान्तद्रुतद्वन्द्वान्यष्टौ लघु च चच्चरी॥ २६७॥

०ं० ०ं० ०ं० ०ं० ०ं० ०ं० ०ं० ०ं०। इति चच्चरी (१५)

१५-चच्चरी

२६७ ग-घ (अ०) चच्चरी चच्चरी (ताल) विरामान्त-द्रुतद्वन्द्वानि अष्टौ विरामान्त द्रुत के आठ जोड़ों लघुः च और एक लघु वाला (होता है)।

०ं००ं००ं००ं००ं००ं००ं००ं०। इति चच्चरी (१५) ०ं००ं००ं००ं००ं००ं००ं००ं०। यह चच्चरी (है)। (१५)

(सर०) विरामान्त-द्रुतद्वन्द्वानि का अर्थ है द्रुत के हर जोड़े में से अन्तिम द्रुत विरामान्त हो।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(प्रत्यङ्गः)

प्रत्यङ्गो मगणो लौ द्वौ,

ऽ ऽ ऽ । । इति प्रत्यङ्गः (१६)

१६—प्रत्यंग

२६८ क. (अ०) प्रत्यङ्गः प्रत्यंग मगणः मगण (ऽ ऽ ऽ) लौ द्वौ (और) दो लघु वाला (होता है)।

ऽ ऽ ऽ ऽ । । इति प्रत्यङ्गः (१६) ऽ ऽ ऽ । । यह प्रत्यंग (है)। (१६)

(यतिलग्नः)

यतिलग्नो द्रुतो लघुः।

०। इति यतिलग्नः (१७)

१७—यतिलग्न

२६८ ख. (अ०) यतिलग्नः यतिलग्न द्रुतः लघुः एक द्रुत, एक लघु वाला (होता है)।

०। इति यतिलग्नः (१७) ०। यह यतिलग्न (है)। (१७)

(गजलीलः)

गजलीलो विरामान्तमुक्तं लघुचतुष्टयम्॥ २६८॥

। । । ।ꣿ इति गजलीलः (१८)

१८—गजलील

२६८ ग-घ. (अ०) गजलीलः गजलील लघुचतुष्टयं लघु के चार का समूह विरामान्तं विराम से अन्त (होने) वाला उक्तं कहा गया (है)।

। । । ।ꣿ इति गजलीलः (१८) । । । ।ꣿ यह गजलील (है)। (१८)

(हंसलीलः)

हंसलीले विरामान्तं लघुद्वयमुदाहृतम्।

। ।ꣿ इति हंसलीलः (१९)

१९—हंसलील

२६९ क-ख. (अ०) हंसलीले हंसलील में विरामान्तं लघुद्वयं विराम से अन्त वाले दो लघु होते हैं।

। ।ꣿ इति हंसलीलः (१९) । ।ꣿ यह हंसलील (है)। (१९)

(वर्णभिन्नः)

वर्णभिन्नो द्रुतौ लो गः,

००। ऽ इति वर्णभिन्नः (२०)

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

२०—वर्णभिन्न

२६९ ग. (अ०) वर्णभिन्नः वर्णभिन्न द्रुतौ दो द्रुत, लः एक लघु, गः एक गुरु वाला (होता है)।

० ० । ऽ इति वर्णभिन्नः (२०) ० ०। ऽ यह वर्णभिन्न (है)। (२०)

(त्रिभिन्नः)

त्रिभिन्नो लगुरुप्लुताः॥ २६९॥

। ऽ ऽे इति त्रिभिन्नः (२१)

२१—त्रिभिन्न

२६९ घ. (अ०) त्रिभिन्नः त्रिभिन्न ल-गुरुप्लुताः (एक-एक) लघु, गुरु, प्लुत वाला (होता है)।

। ऽ ऽे इति त्रिभिन्नः (२१) । ऽ ऽे यह त्रिभिन्न (है)। (२१)

(राजचूडामणिः)

राजचूडामणिर्दौ द्वौ नगणश्च द्रुतौ लगौ।

००।।।००।ऽ इति राजचूडामणिः (२२)

२२—राजचूडामणि

२७० क-ख. (अ०) राजचूडामणिः राजचूडामणि द्वौ दौ दो द्रुत, नगणः एक नगण (। । ।) द्रुतौ ल-गौ च दो द्रुत और एक लघु, एक गुरु वाला (होता है)।

००।।।० ० ।ऽ इति राजचूडामणिः (२२) ० ०।।। ० ०।ऽ यह राजचूडामणि (है)। (२२)

(रङ्गोद्योतः)

मगणो लप्लुतौ रङ्गोद्योतः,

ऽ ऽ ऽ । ऽे इति रङ्गोद्योतः (२३)

२३-रंगोद्योत

२७० ग-घ. (अ०) रङ्गोद्योतः रंगोद्योत मगणः मगण (ऽऽऽ) ल-प्लुतौ (एक-एक) लघु और प्लुत वाला (होता है)।

ऽ ऽ ऽ । ऽे इति रङ्गोद्योतः (२३) ऽ ऽ ऽ । ऽे यह रंगोद्योत (है)। (२३)

(रङ्गप्रदीपकः)

रङ्गप्रदीपकः॥ २७०॥

तो गप्लुतौ,

ऽ ऽ । ऽ ऽे इति रङ्गप्रदीपकः (२४)

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

२४—रंगप्रदीप

२७० घ-२७१ क. (अ०) रङ्गप्रदीपकः रंगप्रदीप तः तगण (ऽऽ।) ग-प्लुतौ (एक-एक) गुरु और प्लुत वाला (होता है)।

ऽ ऽ । ऽ ऽे इति रङ्गप्रदीपकः (२४) ऽ ऽ । ऽ ऽे यह रंगप्रदीप (है)। (२४)

(राजतालः)

राजतालो गपौ दौ च गलौ प्लुतः।

ऽ ऽे ० ० ऽ । ऽे इति राजतालः (२५)

२५—राजताल

२७१ क-ख. (अ०) राजतालः राजताल ग-पौ गुरु और-प्लुत, दौ दो द्रुत, ग-लौ गुरु और लघु प्लुतः च और प्लुत वाला (होता है)।

ऽ ऽे ० ० ऽ । ऽे इति राजतालः (२५) ऽ ऽे ० ० ऽ । ऽे यह राजताल (है)। (२५)

(वर्णः)

त्र्यश्रो मिश्रो द्विधा वर्णस्त्र्यश्रो लौ दौ लघुद्वयम्॥ २७१॥

(१) ।।००।। इति त्र्यश्रवर्णः

मिश्रो द्रुतचतुष्काः स्युर्विरामान्तास्त्रयः पृथक्।
ततः पगौ दो गलौ गः,

(२) ०००ó ०००ó ०००ó ऽे ऽ ० ० ऽ। ऽ इति मिश्रवर्णः

चतुरश्रोऽपि दृश्यते॥ २७२॥

गलौ द्रुतौ गुरुश्चेति,

(३) ऽ । ० ० ऽ इति चतुरश्रवर्णः (२६)

२६—वर्ण

२७१ ग-२७३ क. (अ०) वर्णः वर्ण त्र्यश्रः मिश्रः द्विधा त्र्यश्र, मिश्र (यों) दो प्रकार से (होता है)।

(१) त्र्यश्रवर्ण

त्र्यश्रः त्र्यश्र लौ दो लघु, दौ दो द्रुत, लघुद्वयं दो लघु वाला (होता है)।

(१) ।।००।। इति त्र्यश्रवर्ण; (१) ।।००।। यह त्र्यश्रवर्ण (है)।

(२) मिश्रवर्ण

मिश्रः मिश्र (वर्ण) द्रुतचतुष्काः त्रयः चार द्रुत वाले तीन समूह पृथक् विरामान्ताः हरेक विराम से अन्त वाले ततः उसके बाद प-गौ प्लुत और गुरु, दौ दो द्रुत, ग-लौ गुरु और लघु गः (और) गुरु वाला (होता है)।

(२) ०००ó ०००ó ०००ó ऽेऽ००ऽ।ऽ इति मिश्रवर्णः (२) ०००ó०००ó०००ó ऽेऽ००ऽ।ऽ यह मिश्रवर्ण (है)।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(३) चतुरश्र वर्ण

ग-लौ गुरु और लघु, द्रुतौ दो द्रुत गुरुः च इति और गुरु इस प्रकार चतुरश्रः अपि चतुरश्र (वर्ण) भी दृश्यते दिखाई देता है।

(३) ऽ । ० ० ऽ इति चतुरश्रवर्णः (२६) (३) ऽ । ० ० ऽ यह चतुरश्र वर्ण (है)। (२६)

(सिंहविक्रीडितः)

सिंहविक्रीडितः पुनः ।

लपौ गपौ पगौ लाद्‌गः पलौ पश्च,

। ऽ̆ ऽ ऽ̆ ऽ̆ ऽ । ऽ ऽ̆ । ऽ̆ इति सिंहविक्रीडितः (२७)

२७—सिंहविक्रीडित

२७३ ख-घ. (अ०) पुनः सिंहविक्रीडितः फिर सिंहविक्रीडित ल-पौ लघु और प्लुत, ग-पौ गुरु और प्लुत, प-गौ प्लुत और गुरु, लात् गः लघु के बाद गुरु, प-लौ प्लुत और लघु पः च और प्लुत वाला (होता है)।

। ऽ̆ ऽ ऽ̆ ऽ̆ ऽ । ऽ ऽ̆ । ऽ̆ इति सिंहविक्रीडितः (२७) । ऽ̆ ऽ ऽ̆ ऽ̆ ऽ । ऽ ऽ̆ । ऽ̆ यह सिंहविक्रीडित (है)। (२७)

(जयः)

जय : पुन : ॥ २७३ ॥

जो लघुर्द्वौ द्रुतौ पश्च,

। ऽ । । ० ० ऽ̆ इति जयः (२८)

२८—जय

२७३ घ-२७४ क. (अ०) पुनः जयः उसके बाद जय जः जगण (। ऽ ।), लघु : लघु, द्वौ द्रुतौ दो द्रुत पः च और प्लुत वाला (होता है)।

। ऽ । । ० ० ऽ̆ इति जयः (२८) । ऽ । । ० ० ऽ̆ यह जय (है)। (२८)

(वनमाली)

वनमाली चतुर्द्रुती ।

लघुर्दौ द्वौ गुरुरिति,

० ० ० ० । ० ० ऽ इति वनमाली (२९)

२९—वनमाली

२७४ ख-ग. (अ०) वनमाली वनमाली चतुःद्रुती चार द्रुत, लघुः लघु, द्वौ दौ दो द्रुत गुरुः इति (और) गुरु इस प्रकार (होता है)।

० ० ० ० । ० ० ऽ इति वनमाली (२९) ० ० ० ० । ० ० ऽ यह वनमाली (है)। (२९)

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(हंसनादः)

लप्लुतौ द्वौ द्रुतौ प्लुतः ॥ २७४ ॥

हंसनादः,

। ऽे ० ० ऽे इति हंसनादः (३०)

३०—हंसनाद

२७४ घ-२७५ क. (अ०) हंसनादः हंसनाद ल-प्लुतौ लघु और प्लुत, द्वौ द्रुतौ दो द्रुत प्लुतः (और) प्लुत वाला (होता है)।

। ऽे ० ० ऽे इति हंसनादः । ऽे ० ० ऽे यह हंसनाद (है)। (३०)

(सिंहनादः)

सिंहनादो यगणश्च लघुर्गुरुः।

। ऽ ऽ । ऽ इति सिंहनादः (३१)

३१—सिंहनाद

२७५ क-ख. (अ०) सिंहनादः सिंहनाद यगणः यगण लघुः गुरु च और लघु, गुरु वाला (होता है)।

। ऽ ऽ । ऽ इति सिंहनादः (३१) । ऽ ऽ । ऽ यह सिंहनाद (है)। (३१)

(कुडुक्कः)

कुडुक्को द्वौ द्रुतौ लौ द्वौ

० ० । । इति कुडुक्कः (३२)

३२—कुडुक्क

२७५ ग. (अ०) कुडुक्कः कुडुक्क द्वौ द्रुतौ दो द्रुत द्वौ लौ (और) दो लघु वाला (होता) (है)।

० ० । । इति कुडुक्कः (३२) ० ० । । यह कुडुक्क (है)। (३२)

(तुरङ्गलीलः)

विरामान्तद्रुतद्वयात्॥ २७५॥

द्रुतौ तुरङ्गलीलः स्यात्,

०̇ ०̇ ० ० इति तुरङ्गलीलः (३३)

३३—तुरंगलील

२७५ घ-२७६ क. (अ०) तुरङ्गलीलः तुरंगलील विरामान्तद्रुतद्वयात् विरामान्त दो द्रुतों के बाद द्रुतौ दो द्रुत वाला (होता है)।

०̇०̇०० इति तुरङ्गलीलः (३३) ०̇०̇०० यह तुरंगलील (है)। (३३)

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(सर०) तुरंग, हय और अश्व शब्द पर्याय हैं और छन्दशास्त्र के ग्रन्थों में इनका पर्याय रूप में प्रयोग कर लिया जाता है। प्रबन्धाध्याय में हयलील प्रबन्ध की व्याख्या में सिंह० और कल्लि० दोनों ने प्रबन्धनाम तुरंगलील दिया है लेकिन तुरंगलीला ताल का लक्षण देते हुए उसे हयलील ताल कहा है (४/२०९-२१२ की टीकाएँ)। हयलीला प्रबन्ध में प्रयुक्त इसी नाम वाले यानी हयलील छन्द का छन्द के ग्रन्थों में अश्वललित नाम मिलता है।

(शरभलीलः)

भवेच्छरभलीलकः।

लौ द्वौ चतुर्द्रुती द्वौ लौ,

। । ० ० ० ० । । इति शरभलीलः (३४)

३४—शरभलील

२७६ ख-ग. (अ०) शरभलीलकः शरभलील द्वौ लौ दो लघु, चतुःद्रुती चार द्रुत वाला (और) द्वौ लौ दो लघु (युक्त) (होता है)।

। । ० ० ० ० । । इति शरभलीलः (३४) । । ० ० ० ० । । यह शरभलील (है)। (३४)

(सिंहनन्दनः)

सिंहनन्दनकः पुनः ॥ २७६ ॥

तपौ लगौ द्रुतौ गौ लः पलपा गो लघू ततः।
चत्वारो लघवोऽशब्दाः,

ऽ ऽ । ऽ̀ । ऽ ० ० ऽ ऽ । ऽ̀ । ऽ̀ ऽ । । ४ × इति सिंहनन्दनः (३५)

३५—सिंहनन्दन

२७६ घ-२७७ ग. (अ०) पुनः सिंहनन्दनकः फिर सिंहनन्दन त-पौ तगण (ऽ ऽ ।) और प्लुत, ल-गौ लघु और गुरु, द्रुतौ दो द्रुत, गौ दो गुरु, लः एक लघु, प-ल-पाः प्लुत, लघु और प्लुत, गः गुरु, लघू दो लघु ततः (और) उसके बाद चत्वारः चार अशब्दाः लघवः अशब्द लघु वाला (होता है)।

ऽ ऽ । ऽ̀ । ऽ ० ० ऽ ऽ । ऽ̀ । ऽ̀ ऽ । । ४ × इति सिंहनन्दनः (३५) ऽ ऽ । ऽ̀ । ऽ ० ० ऽ ऽ । ऽ̀ । ऽ̀ ऽ । । ४ × यह सिंहनन्दन (है)। (३५)

(सर०) लक्षण में चार अशब्द लघु कहे गये हैं और प्रस्तार में इसके लिये ४ का अंक और × इस चिन्ह का प्रयोग किया गया है। सिंह० ने अशब्द लघु का 'अशब्द पाट से धारण करना चाहिये'—यह अर्थ किया है। पाट अवनद्ध आदि वाद्यों पर उत्पन्न होने वाले अक्षर (बोल) होते हैं जो अशब्द (ध्वनिरहित) नहीं हो सकते। यहाँ संभवतः 'अशब्दपाटेन' के स्थान पट 'अशब्दपातेन' पाठ रहा हो जिसका अर्थ है 'ध्वनिरहित क्रिया से धारण करना चाहिये'। श्लोक में अशब्द क्रिया के बजाय अशब्द लघु यह संकेत देता है कि इसमें मार्गताल की सशब्द-निःशब्द क्रियाओं का निषेध है लेकिन इकाई लघु होती है जिसमें कोई ऐसी ध्वनिरहित क्रिया संकेतित है जिसके द्वारा इन्हें मानस रूप में अलग-अलग बनाये रखा जा सके। कल्लि० इस पर मौन हैं।

अशब्द लघु अवयव सिर्फ़ सिंहनन्दन और मण्ठ में होता है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(त्रिभङ्गिः)

त्रिभङ्गिः सगणाद्गुरुः ॥ २७७ ॥

। । ऽ ऽ इति त्रिभङ्गिः (३६)

३६—त्रिभंगि

२७७ घ. (अ०) त्रिभङ्गिः त्रिभंगि सगणात् गुरु : सगण के बाद गुरु वाला (होता है)।

। । ऽ ऽ इति त्रिभङ्गिः (३६) । । ऽ ऽ यह त्रिभंगि (है)। (३६)

(रङ्गाभरणः)

रङ्गाभरण ताले ताल्लप्लुतौ,

ऽ ऽ । । ऽे इति रङ्गाभरणः (३७)

३७—रंगाभरण

२७८ क-ख. (अ०) रङ्गाभरणताले रंगाभरण ताल में तात् तगण के बाद ल-प्लुतौ लघु और प्लुत (होते हैं)।

ऽ ऽ । । ऽे इति रङ्गाभरणः (३७) ऽ ऽ । । ऽे यह रंगाभरण (है)। (३७)

(मण्ठः)

मण्ठके पुनः।

साच्चतुर्लघु निःशब्दं,

(१) । । ऽ ४ × इति मण्ठः।

यद्वा भाद् द्वावशब्दकौ ॥ २७८ ॥

(२) ऽ । । २ × इति वा मण्ठः ।

भाच्चतुर्लघु निःशब्दं भवेन्मुद्रितमण्ठके।

(३) ऽ । । ४ × इति मुद्रितमण्ठः ।

मण्ठो नजौ लघुर्यद्वा,

(४) । । । । ऽ । । इति वा मण्ठः । (३८)

प्रोक्ताः षडपरा भिदाः ॥ २७९ ॥

मण्ठरूपकवेलायाम्,

इति दशविधो मण्ठः।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

३८—मण्ठ

२७८ ख-२८० क. (अ०) पुनः मण्ठके इसके बाद मण्ठ में सात् सगण के बाद निःशब्दं चतुः लघु निःशब्द चार लघु (होते हैं)।

(१) । । ऽ ४ × इति मण्ठः । । ऽ ४ × यह मण्ठ (है)।

यत् वा अथवा भात् भगण (ऽ । ।) के बाद द्वौ अशब्दकौ दो अशब्द (लघु होते हैं)।

(२) ऽ । । २ × इति वा मण्ठः ऽ । । २ × अथवा यह मण्ठ (है)।

मुद्रितमण्ठके मुद्रित मण्ठ में भात् भगण के बाद निःशब्दं चतुःलघु निःशब्द चार लघु (होते हैं)।

(३) ऽ । । ४ × इति मुद्रितमण्ठः ऽ । । ४ × यह मुद्रितमण्ठ (है)।

यत् वा अथवा मण्ठः मण्ठ न-जौ नगण और जगण लघुः (तथा) लघु वाला (होता है)।

(४) । । । । ऽ । । इति वा मण्ठः । । । । ऽ । । अथवा यह मण्ठ है। (३८)

मण्ठरूपकवेलायां मण्ठ (सालगसूड) प्रबन्ध के समय (अर्थात् निरूपण में) अपराः षट् भिदाः अन्य छ भेद प्रोक्ताः कहे गये (हैं)।

(सर०) मण्ठ के ४ भेद ये हैं— । । ऽ ४ ×, ऽ । । २ ×, ऽ । । ४ × और । । । । ऽ । । इनमें से शुरू के तीन में अशब्द लघु हैं।

ग्रन्थकार ने मण्ठ प्रबन्ध में मण्ठ ताल के अन्य ६ भेदों का यहाँ उल्लेखमात्र किया है। वे इस प्रकार हैं— १. जयप्रिय— । ऽ ।, २. मंगल—ऽ । ।, ३. सुन्दर— । । ऽ, ४. वल्लभ—ऽ । ऽ, ५. कलाप— । । ।ऽ, ६. कमल—० ० । । (४ / ३३२ – ३३७)। इस तरह मण्ठ के १० भेद हैं।

आड्यार १९८६ सं० में २७८ घ में 'भावशब्दकौ' पाठ दिया है, १९५१ सं० और आनन्द० में द्वावशब्दकौ है और वही सही है क्योंकि मण्ठ के इस भेद के प्रस्तार में अन्त में २ अशब्द लघु हैं, "भौ" यानी दो भगण नहीं। सिंह० ने द्वावशब्दकौ के अनुसार ही अर्थ दिया है।

(कोकिलाप्रियः)

कोकिलाप्रियनाम्नि तु।

गलपाः स्युः,

ऽ । ऽे इति कोकिलाप्रियः (३९)

३९—कोकिलाप्रिय

२८० ख-ग. (अ०) कोकिलाप्रियनाम्नि तु कोकिलाप्रिय नाम वाले (ताल) में तो गलपाः स्युः गुरु, लघु और प्लुत होते हैं।

ऽ । ऽे इति कोकिलाप्रियः (३९) ऽ । ऽे यह कोकिलाप्रिय (है)। (३९)

(निःसारुकः)

विरामान्तौ लघू निःसारुको मतः ॥ २८० ॥

।ˊ ।ˊ इति निःसारुकः (४०)

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

४०—निःसारुक

२८० ग-घ. (अ०) निःसारुकः निःसारुक विरामान्तौ लघू विरामों से अन्त होने वाले दो लघु वाला मतः माना गया (है)।

ाँ ाँ इति निःसारुकः (४०) ाँ ाँ यह निःसारुक (है)। (४०)

(सर०) प्रबन्धाध्याय में ग्रन्थकार ने निःसारुक प्रबन्ध के ६ भेद निःसारुक ताल के ६ प्रकारों के आधार पर दिये हैं। लक्षण इस प्रकार हैं—(१) वैकुन्द—० ० । ।, (२) आनन्द—ऽ̊ ऽ̊, (३) कान्तार—। ऽ, (४) समर—। ाँ, (५) वंचित—। । । ० ०, (६) विशाल—। ० ० ।, (४/३४३-३४७)।

सिंह० ने आनन्द का प्रचलित नाम रूपक और समर का जम्बुनाल दिया है।

(राजविद्याधरः)

लघुर्गुरुर्द्रुतद्वन्द्वं राजविद्याधरो भवेत्।

। ऽ ० ० इति राजविद्याधरः (४१)

४१—राजविद्याधर

२८१ क-ख. (अ०) राजविद्याधरः राजविद्याधर लघुः गुरुः द्रुतद्वन्द्वं लघु, गुरु (और) द्रुत के जोड़े वाला भवेत् होता है।

। ऽ ० ० इति राजविद्याधरः (४१) । ऽ ० ० यह राजविद्याधर (है)। (४१)

(जयमङ्गलः)

सगणद्वितयं यत्र स तालो जयमङ्गलः ॥ २८१ ॥

। । ऽ । । ऽ इति जयमङ्गलः (४२)

४२—जयमंगल

२८१ ग-घ. (अ०) यत्र जहाँ सगणद्वितयं सगणों का जोड़ा (हो) सः वह जयमङ्गलः तालः जयमंगल ताल (है)।

। । ऽ । । ऽ इति जयमङ्गलः (४२) । । ऽ । । ऽ यह जयमंगल (है)। (४२)

(मल्लिकामोदः)

मल्लिकामोदताले तु लौ द्वौ द्रुतचतुष्टयम्।

। । ० ० ० ० इति मल्लिकामोदः (४३)

४३—मल्लिकामोद

२८२ क-ख. (अ०) मल्लिकामोदताले तु मल्लिकामोद ताल में तो द्वौ लौ दो लघु द्रुतचतुष्टयं द्रुतों का चार का समूह (होता है)।

। । ० ० ० ० इति मल्लिकामोदः (४३) । । ० ० ० ० यह मल्लिकामोद (है)। (४३)

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(विजयानन्दः)

विजयानन्दसंज्ञे तु लघुद्वन्द्वं गुरुत्रयम् ॥ २८२ ॥

। । ऽ ऽ ऽ इति विजयानन्दः (४४)

४४—विजयानन्द

२८२ ग-घ. (अ०) विजयानन्दसंज्ञे तु विजयानन्द नाम वाले (ताल) में तो लघुद्वन्द्वं लघु का जोड़ा गुरुत्रयं गुरु का तीन का समूह (होता है)।

। । ऽ ऽ ऽ इति विजयानन्दः (४४) । । ऽ ऽ ऽ यह विजयानन्द (है)। (४४)

(क्रीडा)

क्रीडा द्रुतौ विरामान्तौ चण्डनिःसारुकश्च सः ।

ό ό इति क्रीडा चण्डनिःसारुकश्च (४५)

४५—क्रीडा

२८३ क-ख. (अ०) क्रीड़ा क्रीडा (ताल) विरामान्तौ द्रुतौ विराम से अन्त होने वाले दो द्रुत वाला (होता है) सः (और) वह चण्डनिःसारुकः च चण्डनिःसारुक भी (कहलाता है)।

ό ό इति क्रीडा चण्डनिःसारुक च (४५) ό ό यह क्रीडा (है और) चण्डनिःसारुक भी। (४५)

(जयश्रीः)

जयश्री रगणाल्लो गः,

ऽ । ऽ । ऽ इति जयश्रीः (४६)

४६—जयश्री

२८३ ग. (अ०) जयश्रीः जयश्री रगणात् रगण के बाद लः गः लघु, गुरु वाला (होता है)।

ऽ । ऽ । ऽ इति जयश्रीः (४६) ऽ । ऽ । ऽ यह जयश्री (है)। (४६)

(मकरन्दः)

दौ लौ लो मकरन्दकः ॥ २८३ ॥

० ० । । । इति मकरन्दः (४७)

४७—मकरन्द

२८३ घ. (अ०) मकरन्दः मकरन्द दौ दो द्रुत लौ दो लघु लः (और) एक लघु वाला (होता है)।

० ० । । । इति मकरन्दः (४७) ० ० । । । यह मकरन्द (है)। (४७)

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(सर०) तालों के पुनरुक्ति परिहार में कल्लि० ने दर्पण-मदन-मकरन्द को एकसा कहा है। इनमें से पहले दो का रूप ० ० ऽ है। आनन्द० और आड्० संस्करणों और सिंह० की व्याख्या में प्रस्तार ० ० । । । है। संभवतः सिंह० और कल्लि० के बीच के काल में मकरन्द का रूप ० ० ऽ हो गया।

(कीर्तितालः)

लपौ गलौ प्लुतः कीर्तिः,

। ऽे ऽ । ऽे इति कीर्तितालः (४८)

४८—कीर्तिताल

२८४ क. (अ०) कीर्तिः कीर्ति (ताल) ल-पौ लघु और प्लुत, ग-लौ गुरु और लघु (तथा) प्लुतः प्लुत वाला (होता है)।

। ऽे ऽ । ऽे इति कीर्तितालः (४८) । ऽे ऽ । ऽे यह कीर्तिताल (है)। (४८)

(श्रीकीर्तिः)

श्रीकीतिर्द्वौ लघू गुरू।

। । ऽ ऽ इति श्रीकीर्ति : (४९)

४९—श्रीकीर्ति

२८४ ख. (अ०) श्रीकीर्ति श्रीकीर्ति द्वौ लघू दो लघु (और) गुरू दो गुरु वाला (होता है)।

। । ऽ ऽ इति श्रीकीर्ति : (४९) । । ऽ ऽ यह श्रीकीर्ति (है)। (४९)

(प्रतितालः)

लो द्रुतौ प्रतितालः स्यात् ,

। ० ० इति प्रतितालः (५०)

५०—प्रतिताल

२८४ ग. (अ०) प्रतितालः प्रतिताल लः लघु द्रुतौ (और) दो द्रुत वाला स्यात् होता है।

। ० ० इति प्रतितालः (५०) । ० ० यह प्रतिताल (है)। (५०)

(विजयः)

विजयः पगपा लघुः ॥ २८४ ॥

ऽे ऽ ऽे । इति विजयः (५१)

५१—विजय

२८४ घ. (अ०) विजयः विजय प-ग-पाः प्लुत, गुरु और प्लुत (तथा) लघुः लघु वाला (होता है)।

ऽे ऽ ऽे । इति विजयः (५१) ऽे ऽ ऽे । यह विजय (है)। (५१)

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(बिन्दुमाली)

गुर्वोर्मध्ये तु चत्वारो बिन्दवो बिन्दुमालिनि।

ऽ ० ० ० ० ऽ इति बिन्दुमाली (५२)

५२—बिन्दुमाली

२८५ क-ख. (अ०) गुर्वोः मध्ये तु दो गुरुओं के बीच में तो चत्वारः बिन्दवः चार बिन्दु (द्रुत) वाला बिन्दुमालिनि बिन्दुमाली (होता) है

ऽ ० ० ० ० ऽ इति बिन्दुमाली (५२) ऽ ० ० ० ० ऽ यह बिन्दुमाली (है)। (५२)

(समः)

समो लौ दौ विरामान्तौ,

। । ०́ ०́ इति समः (५३)

५३—सम

२८५ ग. (अ०) समः सम (ताल) लौ दो लघु (और) विरामान्तौ दौ विरामों से अन्त होने वाले दो द्रुत वाला (होता है)।

। । ०́ ०́ इति समः (५३) । । ०́ ०́ यह सम (ताल) है। (५३)

(नन्दनः)

लघुर्दौ पश्च नन्दनः ॥ २८५ ॥

। ० ० ऽ̀ इति नन्दनः (५४)

५४—नन्दन

२८५ घ. (अ०) लघुः लघु, दौ दो द्रुत पः च और प्लुत वाला नन्दनः नन्दन (है)।

। ० ० ऽ̀ इति नन्दनः (५४) । ० ० ऽ̀ यह नन्दन (है)। (५४)

(मण्ठिका)

गुरुद्रुतप्लुताः प्रोक्ता मण्ठिका,

ऽ ० ऽ̀ इति मण्ठिका

अन्यैस्तु लद्वयम्

विरामादिद्रुतौ द्वौ च मण्ठिका परिकीर्तिता ॥ २८६ ॥

। । ०́ ० इति मण्ठिका (५५)

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

५५—मण्ठिका

२८६. (अ०) मण्ठिका मण्ठिका गुरुद्रुतप्लुताः गुरु, द्रुत और प्लुत वाली प्रोक्ता कही गई (है)।

ऽ०ऽ̀ इति मण्ठिका ऽ०ऽ̀ यह मण्ठिका (है)।

अन्यैः तु दूसरे आचार्यों के द्वारा तो ल-द्वयं लघु का जोड़ा विरामादि द्वौ द्रुतौ च और विराम जिसके आदि में है ऐसे दो द्रुत वाली मण्ठिका परिकीर्तिता मण्ठिका कही गई (है)।

। । ०̐ ० इति मण्ठिकाः (५५) । । ०̐ ० यह मण्ठिका (है)। (५५)

(दीपकः)

दीपको दलगा द्विर्द्विः,

० ० । । ऽ ऽ इति दीपकः (५६)

५६—दीपक

२८७ क. (अ०) दीपकः दीपक द्विः द्विः द-ल-गाः दो-दो बार द्रुत, लघु और गुरु वाला (होता है)।

० ० । । ऽ ऽ इति दीपकः (५६) ० ० । । ऽ ऽ यह दीपक (है)। (५६)

(उदीक्षणः)

लौ द्वौ गुरुरुदीक्षणः।

। । ऽ इत्युदीक्षणः (५७)

५७—उदीक्षण

२८७ ख. (अ०) द्वौ लौ गुरुः दो लघु, एक गुरु वाला उदीक्षणः उदीक्षण (है)।

। । ऽ इति उदीक्षणः (५७) । । ऽ यह उदीक्षण (है)। (५७)

(ढेङ्की)

रगणो ढेङ्किका कैश्चिदेष प्रोक्तस्तु योजनः ॥ २८७ ॥

ऽ । ऽ इति ढेङ्की (५८)

५८—ढेंकी

२८७ ग-घ. (अ०) ढेङ्किका ढेंकी रगणः रगण (ऽ। ऽ) वाली (है)। कैःचित् किन्हीं आचार्यों के द्वारा एषः तु यह तो योजनः प्रोक्तः योजन कहा गया (है)।

ऽ । ऽ इति ढेङ्की (५८) ऽ । ऽ यह ढेंकी (है)। (५८)

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(विषमः)

द्विश्चत्वारो विरामान्ता द्रुतास्तु विषमे मताः।

० ० ० ०̍ ० ० ० ०̍ इति विषमः (५९)

५९—विषम

२८८ क-ख. (अ०) विषमे विषम में विरामान्ताः चत्वारः द्रुता तु विराम से अन्त होने वाले चार द्रुत तो द्विः दो बार मताः माने गये (हैं)।

० ० ० ०̍ ० ० ० ०̍ इति विषमः (५९) ० ० ० ०̍ ० ० ० ०̍ यह विषम (ताल) है। (५९)

(वर्णमण्ठिका)

द्वौ लौ द्वौ दौ लघुर्दौ द्वौ कीर्तिता वर्णमण्ठिका ॥ २८८ ॥

। । ० ० । ० ० इति वर्णमण्ठिका (६०)

६०—वर्णमण्ठिका

२८८ ग-घ. (अ०) वर्णमण्ठिका वर्णमण्ठिका द्वौ लौ दो लघु, द्वौ दौ दो द्रुत, लघुः लघु द्वौ दौ (और) दो द्रुत वाली कीर्तिता जानी गई (है)।

। । ० ० । ० ० इति वर्णमण्ठिका (६०) । । ० ० । ० ० यह वर्णमण्ठिका (है)। (६०)

(अभिनन्दः)

अभिनन्दो लघुद्वन्द्वं द्रुतयुग्मं गुरुस्तथा।

। । ० ० ऽ इत्यभिनन्द : (६१)

२८९ क-ख. (अ०) अभिनन्दः अभिनन्द लघुद्वन्द्वं लघु का जोड़ा, द्रुतयुग्मं द्रुत का जोड़ा तथा गुरुः और गुरु वाला (होता है)।

। । ० ० ऽ इति अभिनन्द : (६१) । । ० ० ऽ यह अभिनन्द (है)। (६१)

(अनङ्ग:)

लप्लुतौ सगणोऽनङ्ग :

। ऽ̍ । । ऽ इत्यनङ्ग : (६२)

६२—अनंग

२८९ ग. (अ०) अनङ्गः अनंग ल-प्लुतौ लघु और प्लुत (तथा) सगणः सगण वाला (होता है)।

। ऽ̍ । । ऽ इति अनङ्ग : (६२) । ऽ̍ । । ऽ यह अनंग (है)। (६२)

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(नान्दीतालः)

नान्दी लो दौ लघू गुरू ॥ २८९ ॥

। ० ० । । ऽ ऽ इति नान्दीतालः (६३)

६३—नान्दीताल

२८९ घ. (अ०) नान्दी नान्दी (ताल) लः लघु, दौ दो द्रुत, लघू दो लघु (और) गुरू दो गुरु वाला (होता है)।

। ० ० । । ऽ ऽ इति नान्दीतालः (६४) । ० ० । । ऽ ऽ यह नान्दीताल (है)। (६४)

(मल्लतालः)

मल्लतालो विरामान्तद्विबिन्द्वन्तं चतुर्लघु।

। । । । ० ०̊ इति मल्लतालः (६४)

६४—मल्लताल

२९० क-ख. (अ०) मल्लतालः मल्लताल विरामान्तद्विबिन्दु-अन्तं चतुः लघुः विरामान्त दो द्रुत जिसके अन्त में (हैं ऐसे) चार लघु वाला (होता है)।

। । । । ० ०̊ इति मल्लतालः (६४) । । । । ० ०̊ यह मल्लताल (है)। (६४)

(कङ्कालः)

उक्तश्चतुर्धा कङ्कालः पूर्णः खण्डः समोऽसमः ॥ २९० ॥

चतुर्द्रुती गलौ पूर्णः,

(१) ० ० ० ० ऽ । इति पूर्ण :

खण्डो दौ द्वौ गुरुद्वयम्।

(२) ० ० ऽ ऽ इति खण्डः

समो गुरू द्वौ लघ्वन्तौ,

(३) ऽ ऽ । इति समः

विषमो लाद् गुरुद्वयम् ॥ २९१ ॥

(४) । ऽ ऽ इति विषमः

इति चतुर्धा कङ्कालः (६५)

६५—कंकाल

२९० ग-२९१. (अ०) कङ्कालः कंकाल पूर्णः खण्डः समः असमः पूर्ण, खण्ड, सम और असम (विषम) चतुर्धा उक्तः (यों) चार प्रकार से कहा गया (है)।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

पूर्णः पूर्ण चतुः द्रुती ग-लौ चार द्रुत, गुरु, लघु वाला (होता है)

(१) ० ० ० ० ऽ । इति पूर्ण : ० ० ० ० ऽ । यह पूर्ण (कंकाल है)।

खण्डः खंड (कंकाल) द्वौ दौ गुरुद्वयं दो द्रुत (और) गुरु के जोड़े वाला (होता है)।

(२) ० ० ऽ ऽ इति खण्डः ० ० ऽ ऽ यह खण्ड (कंकाल है)।

समः सम (कंकाल) लघु-अन्तौ लघु से अन्त होने वाले द्वौ गुरू दो गुरु वाला (होता है)।

(३) ऽ ऽ । इति समः ऽ ऽ । यह सम (कंकाल) है।

विषमः विषम (कंकाल) लात् लघु के बाद गुरुद्वयं गुरु के जोड़े वाला (होता है)।

(४) । ऽ ऽ इति विषमः । ऽ ऽ यह विषम (कंकाल है)।

यह चार प्रकार का कंकाल है। (६५)

(कन्दुकः)

कन्दुको लौ च सगणः,

। । । । ऽ इति कन्दुकः (६६)

६६—कन्दुक

२९२ क. (अ०) कन्दुकः कन्दुक लौ च सगणः दो लघु और सगण वाला (है)।

। । । । ऽ इति कन्दुकः (६६) । । । । ऽ यह कन्दुक (है)। (६६)

(एकताली)

द्रुतेन त्वेकतालिका।

० इत्येकताली (६७)

६७—एकताली

२९२ ख. (अ०) द्रुतेन तु एक द्रुत से तो एकतालिका एकताली (होती है)।

० इति एकताली (६७) ० यह एकताली (है)।

(कुमुदः)

कुमुदो लाद् द्रुतौ लौ गश्च,

। ० ० । । ऽ इति कुमुदः

अन्येषां लश्चतुर्द्रुती ॥ २९२ ॥

अन्ते गुरुश्च कुमुदः,

। ० ० ० ० ऽ इति वा कुमुदः (६८)

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

६८—कुमुद

२९२ ग-२९३ क. (अ०) कुमुदः कुंमुद लात् द्रुतौ एक लघु के बाद दो द्रुत, लौ दो लघु गः च और गुरु वाला (है)।

। ० ० । । ऽ इति कुमुदः । ० ० । । ऽ यह कुमुद (है)।

अन्येषाम् अन्यों के अनुसार लः लघु, चतुःद्रुती चार द्रुत अन्ते च और अन्त में गुरुः गुरु वाला कुमुदः कुमुद (है)।

। ० ० ० ० ऽ इति वा कुमुदः (६८) । ० ० ० ० ऽ अथवा यह कुमुद (है)। (६८)

(चतुस्तालः)

चतुस्तालो गुरोः परे।

त्रयो द्रुताः,

ऽ ० ० ० इति चतुस्तालः (६९)

६९—चतुस्ताल

२९३ ख-ग. (अ०) चतुस्तालः चतुस्ताल गुरोः परे गुरु के बाद त्रयः द्रुताः तीन द्रुत वाला (होता है)।

ऽ ० ० ० इति चतुस्तालः (६९) ऽ ० ० ० यह चतुस्ताल (है)। (६९)

(डोम्बुली)

डोम्बुली तु द्विर्लघुः स्याद्विरामवत् ॥ २९३ ॥

। । इति डोम्बुली (७०)

७०—डोम्बुली

२९३ ग-घ. (अ०) डोम्बुली तु डोम्बुली तो विरामवान् द्विः लघुः विराम वाले दो बार लघु वाला (ताल होता है)।

। । इति डोम्बुली (७०) । । यह डोम्बुली (है)। (७०)

(अभङ्गः)

अभङ्गो लप्लुतौ,

। ऽ इत्यभङ्गः (७१)

७१—अभंग

२९४ क. (अ०) अभङ्गः अभङ्ग ल-प्लुतौ लघु और प्लुत वाला (है)।

। ऽ इति अभङ्गः (७१) । ऽ यह अभंग (है)। (७१)

(रायवङ्कोलः)

रायवङ्कोलो रगणाद् द्रुतौ।

ऽ । ऽ ० ० इति रायवङ्कोलः (७२)

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

७२—रायवंकोल

२९४ क-ख. (अ०) रायवङ्कोलः रायवंकोल, रगणात् रगण के बाद द्रुतौ दो द्रुत वाला (है)।

ऽ । ऽ ० ० इति रायवङ्कोलः (७२) ऽ । ऽ ० ० यह रायवंकोल (है)। (७२)

(वसन्तः)

वसन्तो न्मौ,

। । । ऽ ऽ ऽ इति वसन्तः (७३)

७३—वसन्त

२९४ ग. (अ०) वसन्तः वसन्त न्मौ नगण और मगण वाला (है)।

। । । ऽ ऽ ऽ इति वसन्तः (७३) । । । ऽ ऽ ऽ यह वसन्त (है)। (७३)

(लघुशेखरः)

विरामान्तलघुना लघुशेखरः ॥ २९४ ॥

। इति लघुशेखरः (७४)

७४—लघुशेखर

२९४ ग-घ. (अ०) लघुशेखरः लघुशेखर विरामान्तलघुना विरामान्त लघु से (होता है)।

। इति लघुशेखरः (७४) । यह लघुशेखर (है)। (७४)

(प्रतापशेखरः)

प्रतापशेंखरो दीप्ताद्विरामान्तं द्रुतद्वयम्।

ऽ ० ० इति प्रतापशेखरः (७५)

७५—प्रतापशेखर

२९५ क-ख. (अ०) प्रतापशेखरः प्रतापशेखर दीप्तात् प्लुत के बाद विरामान्तं द्रुतद्वयं विराम से अन्त होने वाले द्रुत के जोड़े वाला (होता है)।

ऽ ० ० इति प्रतापशेखरः (७५) ऽ ० ० यह प्रतापशेखर (है)। (७५)

(झम्पातालः)

झम्पातालो विरामान्तं द्रुतद्वन्द्वं लघुस्तथा ॥ २९५ ॥

० ० । इति झम्पातालः (७६)

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

७६—झम्पाताल

२९५ ग-घ. (अ०) झम्पातालः झम्पाताल विरामान्तं द्रुतद्वन्द्वं विराम से अन्त होने वाले द्रुत के जोड़े तथा लघुः और लघु वाला (होता है)।

ό ό । इति झम्पातालः (७६) ό ό । यह झम्पाताल (है)। (७६)

(गजझम्पः)

गजझम्पो गुरोरुर्ध्वं विरामान्तं द्रुतत्रयम्।

ऽ ० ० ό इति गजझम्पः (७७)

७७—गजझम्प

२९६ क-ख. (अ०) गजझम्पः गजझम्प गुरोः ऊर्ध्वं गुरु के बाद विरामान्तं द्रुतत्रयं विराम से अन्त होने वाले द्रुत के तीन के समूह वाला (है)।

ऽ ० ० ό इति गजझम्पः (७७) ऽ ० ० ό यह गजझम्प (है)। (७७)

(चतुर्मुखः)

चतुर्मुखो जप्लुताभ्यां स एवोन्मातृको मतः॥ २९६ ॥

। ऽ । ऽ́ इति चतुर्मुखः (७८)

७८—चतुर्मुख

२९६ ग-घ. (अ०) चतुर्मुखः चतुर्मुख ज-प्लुताभ्यां जगण और प्लुत से (होता है)। स एव वही उन्मातृकः मतः उन्मातृक माना गया (है)।

। ऽ । ऽ́ इति चतुर्मुखः (७८) । ऽ । ऽ́ यह चतुर्मुख (है)। (७८)

(सर०) आड्यार सं० में 'मात्रिकः स्यात् स एव हि' पाठ है और आनन्द० में स एवोन्मातृको मतः। सिंह० की व्याख्या में 'मात्रिकः' पाठ के आधार पर यह अर्थ दिया गया है—'चतुर्मुख ही मात्रिक यानी केवल लघु वाला होता है'। लेकिन चतुर्मुख के लक्षण और प्रस्तारगत रूप । ऽ । ऽ́ और। (केवल लघु वाले रूप) में कोई संबन्ध या साम्य नहीं दिखाई देता। आनन्द० का पाठ ही संगत प्रतीत होता है जिसके अनुसार चतुर्मुख का दूसरा नाम उन्मातृक भी है। इसलिये ऊपर आनन्द० वाला पाठ रखा गया है।

(मदनः)

दद्वयं गंश्च मदनः,

० ० ऽ इति मदनः (७९)

७९—मदन

२९७ क. (अ०) मदनः मदन द-द्वयं द्रुत के जोड़े गः च और गुरु वाला (होता है)।

० ० ऽ इति मदनः (७९) ० ० ऽ यह मदन (है)। (७९)

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(प्रतिमण्ठः)

सो भो वा प्रतिमण्ठकः।

कोल्लकोऽन्यैरयं प्रोक्तः,

। । ऽ (अथवा) ऽ । । इति प्रतिमण्ठकः (८०)

८०—प्रतिमण्ठ

२९७ ख-ग. (अ०) प्रतिमण्ठकः प्रतिमण्ठ सः भः वा सगण या भगण वाला (है)। अन्यैः अन्य आचार्यों के द्वारा अयं यह कोल्लकः कोल्लक प्रोक्तः कहा गया (है)।

। । ऽ (अथवा) ऽ । । इति प्रतिमण्ठकः (८०) । । ऽ (अथवा) ऽ । । इति प्रतिमण्ठ (है)। (८०)

(सर०) उल्लेखनीय है कि प्रबन्धाध्याय में प्रतिमण्ठ प्रबन्ध के चार भेदों में प्रतिमण्ठ ताल के जो ४ भेद दिये हैं उनमें सगण या भगण वाला रूप नहीं है। वहाँ ये भेद हैं—ऽ, ०ं०ं, ।।।ं, ।।ं। ।

(पार्वतीलोचनः)

पार्वतीलोचने पुनः ॥ २९७ ॥

मलपा द्वौ गुरू दौ द्वौ,

ऽ ऽ ऽ । ऽ़ ऽ ऽ ० ० इति पार्वतीलोचनः (८१)

८१—पार्वतीलोचन

२९७ घ-२९८ क. (अ०) पुनः फिर पार्वतीलोचने पार्वतीलोचन में म-ल-पाः मगण, लघु और प्लुत, द्वौ गुरू दो गुरु, द्वौ दौ दो द्रुत (होते हैं)।

ऽ ऽ ऽ । ऽ़ ऽ ऽ ० ० इति पार्वतीलोचनः (८१) ऽ ऽ ऽ । ऽ़ ऽ ऽ ० ० यह पार्वतीलोचन (है)। (८१)।

(रतितालः)

रतितालो लघुर्गुरुः।

। ऽ इति रतितालः (८२)

८२—रतिताल

२९८ ख. (अ०) रतितालः रतिताल लघुः गुरुः लघु, गुरु वाला (है)।

। ऽ इति रतितालः (८२) । ऽ यह रतिताल (है)। (८२)

(लीलातालः)

लीला दलौ पः,

० । ऽ़ इति लीलातालः (८३)

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

८३—लीलाताल

२९८ ग. (अ०) लीला लीला (ताल) द-लौ द्रुत और लघु (तथा) पः प्लुत वाला (होता है)।

० । ऽ इति लीलाताल: (८३) ० । ऽ यह लीला ताल (है)। (८३)

(करणयतिः)

करणयतौ द्रुतचतुष्टयम् ॥ २९८ ॥

० ० ० ० इति करणयतिः (८४)

८४—करणयति

२९८ ग-घ. (अ०) करणयतौ करणयति में द्रुतचतुष्टयं चार द्रुतों का समूह (है)।

० ० ० ० इति करणयतिः (८४) ० ० ० ० यह करणयति (है)। (८४)

(ललितः)

ललिते द्वौ द्रुतौ लो गः,

० ० । ऽ इति ललितः (८५)

८५—ललित

२९९ क. (अ०) ललिते ललित में द्वौ द्रुतौ लः गः दो द्रुत, लघु, गुरु (होते हैं)।

० ० । ऽ इति ललितः (८५) ० ० । ऽ यह ललित (है)। (८५)

(गारुगिः)

गारुगिस्तु चतुर्द्रुती।

विरामान्तं बुधैरुक्ता,

० ० ० ०̍ इति गारुगिः (८६)

८६—गारुगि

२९९ ख-ग. (अ०) बुधैः बुधजनों के द्वारा गारुगिः तु गारुगि तो विरामान्ता विराम से अन्त चतुःद्रुती चार द्रुत वाली उक्ता कही गई (है)।

० ० ० ०̍ इति गारुगिः (८६) ० ० ० ०̍ यह गारुगि (है)। (८६)

(राजनारायणः)

राजनारायणे पुनः ॥ २९९ ॥

द्रुतौ द्वौ जगणो वक्रः,

० ० । ऽ । ऽ इति राजनारायणः (८७)

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

८७—राजनारायण

२९९ घ-३०० क. (अ०) पुनः राजनारायणे फिर राजनारायण में द्वौ द्रुतौ दो द्रुत, जगणः जगण, वक्रः गुरु (होता है)।

० ० । ऽ । ऽ इति राजनारायणः (८७) ० ० । ऽ । ऽ यह राजनारायण (है)। (८७)

(लक्ष्मीशः)

लक्ष्मीशे तु द्रुतद्वयम्।
विरामान्तं लप्लुतौ च,

० ॆ । ऽे इति लक्ष्मीशः (८८)

८८—लक्ष्मीश

३०० ख-ग. (अ०) लक्ष्मीशे तु लक्ष्मीश में तो विरामान्तं द्रुतद्वयं विराम से अन्त होने वाला द्रुत का जोड़ा ल-प्लुतौ च और लघु व प्लुत (होते हैं)।

० ॆ । ऽे इति लक्ष्मीशः (८८) ० ॆ । ऽे यह लक्ष्मीश (है)। (८८)

(ललितप्रियः)

तालस्तु ललितप्रियः ॥ ३०० ॥
ऊर्ध्वं लघुभ्यां रगणः,

। । ऽ । ऽ इति ललितप्रियः (८९)

८९—ललितप्रिय

३०० घ-३०१ क. (अ०) ललितप्रियः तालः तु ललितप्रिय ताल तो लघुभ्याम् ऊर्ध्वं दो लघुओं के बाद रगणः रगण वाला (होता है)।

। । ऽ । ऽ इति ललितप्रियः (८९) । । ऽ । ऽ यह ललितप्रिय (है)। (८९)

(श्रीनन्दनः)

स्यातां श्रीनन्दने भपौ।

ऽ । । ऽे इति श्रीनन्दनः (९०)

९०—श्रीनन्दन

३०१ ख. (अ०) श्रीनन्दने श्रीनन्दन में भ-पौ भगण और प्लुत स्यातां होते हैं।

ऽ । । ऽे इति श्रीनन्दनः (९०) ऽ । । ऽे यह श्रीनन्दन (है)। (९०)

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(जनकः)

जनको नयसा वक्रः,

। । । । ऽ ऽ । । ऽ ऽ इति जनकः (९१)

९१—जनक

३०१ ग. (अ०) जनकः जनक न-य-साः वक्रः नगण, यगण और सगण (तथा) गुरु वाला (है)।

। । । । ऽ ऽ । । ऽ ऽ इति जनकः (९१) । । । । ऽ ऽ । । ऽ ऽ यह जनक (है)। (९१)

(वर्धनः)

वर्धनो द्वौ द्रुतौ लपौ ॥ ३०१ ॥

० ० । ऽ̀ इति वर्धनः (९२)

९२—वर्धन

३०१ घ. (अ०) वर्धनः वर्धन द्वौ द्रुतौ दो द्रुत, ल-पौ लघु और प्लुत वाला (है)।

० ० । ऽ̀ इति वर्धनः (९२) ० ० । ऽ̀ यह वर्धन (है)। (९२)

(रागवर्धनः)

विरामान्तौ द्रुतौ बिन्दुस्त्रिमात्रो रागवर्धनः।

० ० ० ऽ̀ इति रागवर्धनः (९३)

९३—रागवर्धन

३०२ क-ख. (अ०) रागवर्धनः रागवर्धन विरामान्तौ द्रुतौ विरामान्त दो द्रुत, बिन्दुः द्रुत, त्रिमात्रः प्लुत वाला (होता है)।

० ० ० ऽ̀ इति रागवर्धनः (९३) ० ० ० ऽ̀ यह रागवर्धन (है)। (९३)

(षट्तालः)

द्रुतैः षड्भिस्तु षट्तालः,

०००००० इति षट्तालः (९४)

९४—षट्तालः

३०२ ग. (अ०) षड्भिः द्रुतैः तु छ द्रुतों से तो षट्तालः षट्ताल (होता है)।

०००००० इति षट्तालः (९४) ०००००० यह षट्ताल (है)। (९४)

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(अन्तरक्रीडा)

अन्तरक्रीडा तु कथ्यते ॥ ३०२ ॥

द्रुतत्रयं विरामान्तं,

००ὸ इत्यन्तरक्रीडा (९५)

९५—अन्तरक्रीड़ा

३०२ घ-३०३ क. (अ०) अन्तरक्रीडा तु अन्तरक्रीडा तो विरामान्तं द्रुतत्रयं विरामान्त तीन द्रुत के समूह वाला (है)।

००ὸ इति अन्तरक्रीडा (९५) ००ὸ यह अन्तरक्रीडा (है)। (९५)

(हंसः)

हंसे सविरती लघू।

ǀ́ǀ́ इति हंसः (९६)

९६—हंस

३०३ ख. (अ०) हंसे हंस में सविरती लघू विरामसहित दो लघु (होते हैं)।

ǀ́ǀ́ इति हंसः (९६) ǀ́ǀ́ यह हंस (है)। (९६)

(सर०) पुनरुक्ति परिहार में कल्लि० ने हंस, हंसलील और निःसारुक एक से कहे हैं। इनमें से अन्तिम दो का रूप ǀ́ǀ́ है। तदनुसार हंस भी ऐसा ही होना चाहिये। आड्०, आनन्द० सं० और सिंह० की टीका में ।ǀ́ यह रूप दिया है। हमने कल्लि० के आधार पर ǀ́ǀ́ यह प्रस्तार दिया है।

(उत्सवः)

लघुप्लुतावुत्सवः स्यात्,

ऽ। इत्युत्सवः (९७)

९७—उत्सव

३०३ ग. (अ०) उत्सवः उत्सव लघु-प्लुतौ स्यात् लघु और प्लुत वाला (होता है)।

।ऽ इति उत्सवः (९७)। ऽ यह उत्सव (है)। (९७)

(विलोकितः)

गो दौ दीप्तो विलोकिते॥ ३०३॥

ऽ००ऽ इति विलोकितः (९८)

९८—विलोकित

३०३ घ. (अ०) विलोकिते विलोकित में गः गुरु, दौ दो द्रुत, दीप्तः प्लुत (होते हैं)।

ऽ००ऽ इति विलोकितः (९८) ऽ००ऽ यह विलोकित (है)। (९८)

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(गजः)

गजश्चतुर्ला धारासौ,

। । । । इति गजः (९९)

९९—गज

३०४ क. (अ०) गजः गज (ताल) चतुः लाः चार लघु वाला (है)। असौ यह धारा धारा (भी कहलाता है)।

। । । । इति गजः (९९) । । । । यह गंज (ताल है)। (९९)

(वर्णयतिः)

लौ दौ वर्णयतिर्भवेत्।

। । ० ० इति वर्णयतिः (१००)

१००—वर्णयति

३०४ ख. (अ०) वर्णयतिः वर्णयति लौ दो लघु, दौ दो द्रुत वाला भवेत् होता है।

। । ० ० इति वर्णयतिः (१००) । । ० ० यह वर्णयति (है)। (१००)

(सिंहः)

सिंहे लदौ लत्रयं च,

। ० । । । इति सिंहः (१०१)

१०१—सिंह

३०४ ग. (अ०) सिंहे सिंह में ल-दौ लघु और द्रुत ल-त्रयं च और तीन लघु (होते हैं)।

। ० । । । इति सिंहः (१०१) । ० । । । यह सिंह (है)। (१०१)

(करणः)

गुरुणा करणो मतः॥ ३०४॥

ऽ इति करणः (१०२)

१०२—करण

३०४ घ. (अ०) करणः करण गुरुणा मतः एक गुरु से माना गया (है)।

ऽ इति करणः (१०२) ऽ यह करण (है)। (१०२)

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(सारसः)

लघुर्द्रुतानां त्रितयं लघू द्वौ सारसः स्मृतः।

।०००।। इति सारसः (१०३)

१०३—सारस

३०५ क-ख. (अ०) सारसः सारस लघुः लघु, द्रुतानां त्रितयं द्रुतों का तीन का समूह द्वौ लघू (और) दो लघु वाला स्मृतः जाना गया (है)।

।०००।। इति सारसः (१०३) ।०००।। यह सारस (है)। (१०३)

(चण्डतालः)

द्रुतत्रयं लघुद्वन्द्वं चण्डताले बभाषिरे॥ ३०५॥

०००।। इति चण्डतालः (१०४)

१०४—चण्डताल

३०५ ग-घ. (अ०) चण्डताले चण्डताल में द्रुतत्रयं तीन द्रुतों का समूह (और) लघुद्वन्द्वं लघुओं का जोड़ा बभाषिरे कहा (गया)।

०००।। इति चण्डतालः (१०४) ०००।। यह चण्डताल (है)। (१०४)

(चन्द्रकला)

मगणश्च त्रयो दीप्ता लघुश्चन्द्रकलाभिधे।

SSSऽ̀ऽ̀ऽ̀। इति चन्द्रकला (१०५)

१०५—चन्द्रकला

३०६ क-ख. (अ०) चन्द्रकला-अभिधे चन्द्रकला नाम वाले (ताल) में मगणः मगण त्रयः दीप्ताः तीन प्लुत लघुः च और लघु (होते हैं)।

SSSऽ̀ऽ̀ऽ̀। इति चन्द्रकला (१०५) SSSऽ̀ऽ̀ऽ̀। यह चन्द्रकला (है)। (१०५)

(लयः)

गलौ प्लुतत्रयं वक्रः प्लुतो बिन्दुत्रयं लये॥ ३०६॥

S।ऽ̀ऽ̀ऽ̀SSऽ̀००० इति लयः (१०६)

१०६—लय

३०६ ग-घ. (अ०) लये लय में ग-लौ गुरु और लघु, प्लुतत्रयं तीन प्लुतों का समूह, वक्रः गुरु, प्लुतः प्लुत, बिन्दुत्रयं तीन द्रुतों का समूह (होता है)।

S।ऽ̀ऽ̀ऽ̀SSऽ̀००० इति लयः (१०६) S। ऽ̀ऽ̀ऽ̀SSऽ̀००० यह लय (है)। (१०६)

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(स्कन्दः)

रो द्रुतौ द्वौ गुरू स्कन्दः,

ऽ।ऽ००ऽऽ इति स्कन्दः (१०७)

१०७—स्कन्द

३०७ क. (अ०) स्कन्दः स्कन्द रः रगण, द्वौ द्रुतौ दो द्रुत (और) गुरू दो गुरु वाला (है)।

ऽ।ऽ००ऽऽ इति स्कन्दः (१०७) ऽ।ऽ००ऽऽ यह स्कन्द (है)। (१०७)

(अड्डतालः)

अड्डतालो दौ लघुद्वयम्।
इममेवोचिरे तालं केचित् त्रिपुटसंज्ञया॥ ३०७॥

००।। इत्यड्डतालः (१०८)

१०८—अड्डताल

३०७ ख-घ. (अ०) अड्डतालः अड्डताल दौ दो द्रुत (और) लघुद्वयं लघु के जोड़े वाला (ताल है)। इमम् एव तालम् इसी ताल को केचित् कुछ (आचार्यों) ने त्रिपुटसंज्ञया त्रिपुट नाम से ऊचिरे कहा है।

००।। इति अड्डतालः (१०८) ००।। यह अड्डताल (है)। (१०८)

(सर०) कल्लि० ने पुनरुक्ति परिहार में 'अड्डतालो दौ लघुद्वयं' लक्षण उद्धृत किया है। तदनुसार इस ताल का नाम अड्डताल होना चाहिये। सिंह० ने भी यही नाम दिया है। अड्डताल नामक सालगसूड प्रबन्ध में और अन्यत्र भी यही संज्ञा मिलती है। लेकिन आनन्द० और आड्यार दोनों संस्करणों के काललक्षण में अड्डताली शब्द ही है। हमने टीकाकारों के आधार पर अड्डताल पाठ रखा है।

इन दोनों संस्करणों के श्लोक और प्रस्तार तथा सिंह० के अनुसार ताल का रूप ०।। है। लेकिन पुनरुक्ति परिहार में कल्लि० ने कुडुक्क, अड्डताल और वैकुन्द तीनों का लक्षण ००।। दिया है। इस आधार पर हमने यही प्रस्तार दिया है। यह भी संभव है कि सिंह० के बाद अड्डताल का मूल रूप बदल कर दो द्रुत, दो लघु वाला हो गया जो कल्लि० ने दिया है।

(घत्ता)

द्वौ लौ द्वौ दौ लगौ घत्ता,

।। ००।ऽ इति घत्ता (१०९)

१०९—घत्ता

३०८ क. (अ०) घत्ता घत्ता द्वौ लौ दो लघु, द्वौ दौ दो द्रुत, ल-गौ लघु और गुरु वाला (होता है)।

।।००।ऽ इति घत्ता (१०९) ।।००।ऽ यह घत्ता (है)। (१०९)

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(द्वन्द्वः)

द्वन्द्वः सतगणौ प्लुतः।

।।ऽऽऽ।ऽ̌ इति द्वन्द्वः (११०)

११०—द्वन्द्व

३०८ ख. (अ०) द्वन्द्वः द्वन्द्व स-तगणौ सगण और तगण (तथा) प्लुतः प्लुत वाला (होता है)।

।।ऽऽऽ।ऽ̌ इति द्वन्द्वः (११०) ।।ऽऽऽ।ऽ̌ यह द्वन्द्व (है)। (११०)

(मुकुन्दः)

मुकुन्दे तु लघुर्बिन्दुचतुष्टयमथो गुरुः॥ ३०८॥

। ००००ऽ इति मुकुन्दः (१११)

१११—मुकुन्द

३०८ ग-घ. (अ०) मुकुन्दे तु मुकुन्द में तो लघुः लघु, बिन्दुचतुष्टयं चार द्रुतों का समूह अथः इसके बाद गुरुः गुरु (होता है)।

।००००ऽ इति मुकुन्दः (१११) ।००००ऽ यह मुकुन्द (है)। (१११)

(कुविन्दकः)

कुविन्दके लघुर्बिन्दुद्वयं गुरुरथ प्लुतः।

।००ऽऽ̌ इति कुविन्दकः (११२)

११२—कुविन्दक

३०९ क-ख. (अ०) कुविन्दके कुविन्दक में लघुः लघु, बिन्दुद्वयं दो द्रुतों का समूह, गुरुः गुरु अथ इसके बाद प्लुतः प्लुत (होता है)।

।००ऽऽ̌ इति कुविन्दकः (११२) ।००ऽऽ̌ यह कुविन्दक (है)। (११२)

(कलध्वनिः)

कलध्वनिर्लघुद्वन्द्वं गुरुर्लघुरथ प्लुतः॥ ३०९॥

।।ऽ।ऽ̌ इति कलध्वनिः (११३)

११३—कलध्वनि

३०९ ग-घ. (अ०) कलध्वनिः कलध्वनि लघुद्वन्द्वं लघु का जोड़ा, गुरुः लघुः गुरु, लघु अथ प्लुतः इसके बाद प्लुत वाला (होता है)।

।।ऽ।ऽ̌ इति कलध्वनिः (११३) ।।ऽ।ऽ̌ यह कलध्वनि (है)। (११३)

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(गौरी)

पञ्चभिर्लघुभिर्गौरी,

।।।।। इति गौरी (११४)

११४—गौरी

३१० क. (अ०) पञ्चभिः लघुभिः पाँच लघुओं से गौरी गौरी (ताल होता है)।

।।।।। इति गौरी (११४) ।।।।। यह गौरी (ताल है)। (११४)

(सरस्वतीकण्ठाभरणः)

द्वौ गुरू द्वौ लघुद्रुतौ।
ताले सरस्वतीकण्ठाभरणे शार्ङ्गिसंमतौ॥ ३१०॥

ऽऽ।।०० इति सरस्वतीकण्ठाभरणः (११५)

११५—सरस्वतीकण्ठाभरण

३१० ख-घ. (अ०) सरस्वतीकण्ठाभरणे ताले सरस्वतीकण्ठाभरण ताल में द्वौ गुरू दो गुरु द्वौ लघुद्रुतौ दो(-दो) लघु और द्रुत शार्ङ्गिसंमतौ शार्ङ्गदेव के संमत (हैं)।

ऽऽ।। ०० इति सरस्वतीकण्ठाभरणः (११५) ऽऽ।।०० यह सरस्वतीकण्ठाभरण (है)। (११५)

(भग्नतालः)

भग्नताले चतुर्बिन्दुर्नगणश्च विरामवान्।

००००।।।́ इति भग्नतालः (११६)

११६—भग्नताल

३११ क-ख. (अ०) भग्नताले भग्नताल में चतुर्बिन्दुः चार द्रुत विरामवान् नगणः च और विराम (अन्त) वाला नगण (होता है)।

००००।।।́ इति भग्नतालः (११६) ००००।।।́ यह भग्नताल (है)। (११६)

(राजमृगाङ्कः)

ताले राजमृगाङ्के तु द्रुतौ लघुरथो गुरुः॥ ३११॥

००।ऽ इति राजमृगाङ्कः (११७)

११७—राजमृगाङ्क

३११ ग-घ. (अ०) राजमृगाङ्के ताले तु राजमृगाङ्क ताल में तो द्रुतौ दो द्रुत, लघुः लघु अथः इसके बाद गुरुः गुरु (होता है)।

००।ऽ इति राजमृगाङ्कः (११७) ००।ऽ यह राजमृगाङ्क (है)। (११७)

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(राजमार्तण्डः)

गुरुर्लघुर्द्रुतस्ताले राजमार्तण्डसंज्ञके।

ऽ।० इति राजमार्तण्डः (११८)

११८—राजमार्तण्ड

३१२ क-ख. (अ०) राजमार्तण्डसंज्ञके ताले राजमार्तण्ड नामक ताल में गुरुः लघुः द्रुतः गुरु, लघु, द्रुत (होते हैं)।

ऽ।० इति राजमार्तण्डः (११८) ऽ।० यह राजमार्तण्ड (है)। (११८)

(निःशङ्कः)

निःशङ्कसंज्ञके ताले लगुरू पगुरू गलौ॥ ३१२॥

।ऽऽऽ̆ऽऽऽ। इति निःशङ्कः (११९)

११९—निःशंक

३१२ ग-घ. (अ०) निःशङ्कसंज्ञके ताले निःशंक नाम वाले ताल में ल-गुरू लघु और दो गुरु, प-गुरू प्लुत और दो गुरू तथा ग-लौ गुरु और लघु (होते हैं)।

।ऽऽऽ̆ऽऽऽ। इति निःशङ्कः (११९)।ऽऽऽ̆ऽऽऽ। यह निःशंक (है)। (११९)

(सर०) आनन्द० और आड्यार १९५१ सं० में इस ताल का उक्त प्रस्तार ही है। लेकिन आड्यार १९८६ सं० में ।ऽऽ̆ऽऽ। है।

(शार्ङ्गदेवः)

शार्ङ्गदेवे द्रुतद्वन्द्वं गप्लुतौ गद्वयं लघुः।

००ऽऽ̆ऽऽ। इति शार्ङ्गदेवः (१२०)

इति विंशत्युत्तरशतं देशीतालाः

१२०—शार्ङ्गदेव

३१३ क-ख. (अ०) शार्ङ्गदेवे शार्ङ्गदेव (ताल) में द्रुतद्वन्द्वं द्रुतों का जोड़ा, ग-प्लुतौ गुरु और प्लुत, ग-द्वयं गुरु का दो का समूह (और) लघुः एक लघु (होता है)।

००ऽऽ̆ऽऽ। इति शार्ङ्गदेवः (१२०) ००ऽऽ̆ऽऽ। यह शार्ङ्गदेव (है)। (१२०)

एक सौ बीस देशीताल समाप्त

अन्येऽपि सन्ति भूयांसस्तालास्ते लक्ष्यवर्त्मनि॥ ३१३॥

प्रसिद्धिविधुरत्वेन शास्त्रेऽस्मिन्न प्रदर्शिताः।

३१३ ग-३१४ ख. (अ०) अन्ये अपि इनके अलावा भी भूयांसः तालाः सन्ति बहुत से ताल होते हैं (लेकिन) ते वे लक्ष्यवर्त्मनि लक्ष्यमार्ग में प्रसिद्धिविधुरत्वेन प्रचलन से वंचित होने से (प्रचार में न होने से) अस्मिन् शास्त्रे यहाँ शास्त्र में न प्रदर्शिताः नहीं दिखाये गये।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(सर०) इन १२० के अलावा तालों के बहुत से प्रकार और भी होते हैं फिर भी यहाँ क्यों नहीं दिये?—यह प्रश्न मन में रखकर ग्रन्थकार ने कहा कि वे प्रचलित नहीं हैं इसलिये उनका निरूपण नहीं किया। स्पष्ट है कि ग्रन्थकार के समय में जो ताल ज्यादा प्रयोग किये जाते थे उन्हीं का निरूपण हुआ। शार्ङ्ग० के परवर्ती काल के ग्रन्थों में देशीतालों की संख्या में बहुत अन्तर दिखाई देता है। अखण्डित और संपूर्ण रूप में प्राप्त ग्रन्थों में से रसकौमुदी में ३२ देशीताल हैं, संगीतदर्पण में २२४, संगीतसूर्योदय में २४१ और अनूपसंगीतविलास में २४४ ताल हैं। लेकिन इन ग्रन्थों में दी गई विशाल संख्या के सभी ताल उस-उस काल में प्रचलित रहे हों, यह नहीं कहा जा सकता। इन ग्रन्थों में उन सभी तालों का संग्रह किया गया लगता है जो प्रचलित, अल्पप्रचलित या अप्रचलित रहे होंगे।

(तालप्रत्ययाः)

तद्भेद प्रत्ययार्थं तु लघूपाया भवन्त्यमी॥ ३१४॥

प्रस्तारसंख्ये नष्टं चोद्दिष्टं पातालकस्ततः।
द्रुतमेरुर्लघोर्मेरुर्गुरुमेरुः प्लुतस्य च॥ ३१५॥

मेरुः संयोगमेरुश्च खण्डप्रस्तारकस्ततः।
प्राचां चतुर्णां मेरूणां नष्टोद्दिष्टे पृथक्पृथक्॥ ३१६॥

एकोनविंशतिरिति प्रत्ययास्तान् ब्रुवेऽधुना॥

तालप्रत्यय

३१४ ग-३१७ ख. (अ०) तत् भेदप्रत्यय-अर्थं उन भेदों के ज्ञान के लिये अमी ये लघु-उपायाः भवन्ति सरल उपाय होते हैं। प्रस्तारसंख्ये प्रस्तार और संख्या, नष्टम् उद्दिष्टं च नष्ट और उद्दिष्ट, ततः उसके बाद पातालकः पाताल, द्रुतमेरुः द्रुतमेरु, लघोः मेरुः लघु का मेरु, गुरुमेरुः गुरु मेरु प्लुतस्य च मेरुः प्लुत का मेरु भी संयोगमेरुः च और संयोगमेरु, ततः उसके बाद खण्डप्रस्तारकः खण्डप्रस्तार, प्राचां चतुर्णां मेरूणां शुरू के चार मेरुओं के पृथक्-पृथक् अलग-अलग नष्ट-उद्दिष्टे नष्ट और उद्दिष्ट इति ये एकोनविंशतिः उन्नीस प्रत्ययाः प्रत्यय (हैं), अधुना अब तान् उन्हें ब्रुवे कहता हूँ।

(सर०) देशीतालों के बहुत भेद होते हैं जिन्हें जानना सरल नहीं है। लेकिन उनका सरलता से बोध हो सके इसके लिये ये १९ सरल उपाय या साधन ग्रन्थकार ने यहाँ बताये हैं—प्रस्तार, संख्या, नष्ट, उद्दिष्ट, पाताल, द्रुतमेरु, लघुमेरु, गुरुमेरु, प्लुतमेरु, संयोगमेरु, खण्डप्रस्तार, शुरू के चार मेरुओं यानी द्रुतमेरु से लेकर प्लुतमेरु तक चार मेरुओं के नष्ट और उद्दिष्ट—द्रुतमेरु नष्ट, द्रुतमेरु उद्दिष्ट, लघुमेरु नष्ट, लघुमेरु उद्दिष्ट, गुरुमेरु नष्ट, गुरुमेरु उद्दिष्ट, प्लुतमेरु नष्ट और प्लुतमेरु उद्दिष्ट।

सिंह० ने लघु-उपायाः की व्याख्या में कहा—बिना किसी कष्ट के ज्ञानप्राप्ति के साधन या उपाय। कल्लि० ने कहा कि प्रसिद्ध और अप्रसिद्ध सभी तालभेदों के ज्ञान के साधन। ज्ञेय यानी जो जानने की वस्तु है वह बहुत ज्यादा होते हुए भी उन्हें जानने के साधनरूप इन्हें बताना आसान है इस अर्थ में ये लघु उपाय हैं। प्रस्तार आदि (जो वस्तुतः तालों के भेद हैं, भेदों को जानने का प्रत्यक्ष साधन नहीं) को प्रत्यय क्यों कहा गया, यह शंका मन में रखकर कल्लि० ने कहा कि भेदों के प्रत्ययहेतुत्व यानी बोध में कारण होने से लक्षणा से इन्हें भी प्रत्यय कहा। अथवा इनके द्वारा अर्थविशेष यानी विशेष स्वरूप की प्रतीति (बोध) होती है इसलिये इन्हें प्रत्यय कहा।

प्रस्तार, जैसा आगे बताया जाने वाला है, किसी या किन्हीं अवयवों के आधार पर जितने भेद बन सकते हैं उन्हें बनाने की विधि है। लेकिन उन भेदों में से किसी भी भेद के विभिन्न पक्षों को जानने का आधार प्रस्तारविधि ही है इसलिये प्रस्तार को भी प्रत्यय माना है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(तत्र प्रस्तारः)

न्यस्याल्पमाद्यान्महतोऽधस्ताच्छेषं यथोपरि॥ ३१७॥
प्रागूने वामसंस्थांस्तु संभवे महतो लिखेत्।
अल्पानसंभवे तालपूर्त्यै भूयोऽप्ययं विधिः॥ ३१८॥
सर्वद्रुतावधिः कार्यः प्रस्तारोऽयं लघौ गुरौ।
प्लुते व्यस्ते समस्ते च न तु व्यस्ते द्रुतोऽस्ति सः॥ ३१९॥

इति प्रस्तारः

१—प्रस्तार

३१७ ग-३१९. (अ०) आद्यात् महतः अधस्तात् (दाहिनी ओर से) पहले सबसे बड़े (अवयव) के नीचे अल्पं न्यस्य (उससे) छोटा (अवयव) रखकर शेषं यथा उपरि (उसके दाहिनी ओर) शेष अवयव जैसे ऊपर (हों वैसे ही रख दें और) प्राक् ऊने तालपूर्त्यै उससे पहले कमी होने पर ताल को पूरा करने के लिये वामसंस्थान् तु बाईं ओर स्थित (अवयवों) को तो संभवे संभव हो (तो) महतः लिखेत् बड़ा (अवयव) लिखना चाहिये। असंभवे अल्पान् (बड़ा अवयव) संभव न होने पर छोटे (अवयव लिखने चाहिये)। अयं विधिः यह विधि भूयः अपि बहुत बार भी (बार-बार) सर्वद्रुत-अवधिः सारे (अवयव) द्रुत होने तक कार्यः करना (करनी) चाहिये। अयं प्रस्तारः यह प्रस्तार (विधि) लघौ लघु में, गुरौ गुरु में, प्लुते प्लुत में व्यस्ते अकेले-अकेले समस्ते च और सम्मिलित (अवयव) में अस्ति होता (होती) है न तु व्यस्ते द्रुते लेकिन अकेले द्रुत में नहीं।

(सर०) ताल के लघु आदि किसी एक या ज़्यादा अवयवों के आधार पर जो बहुत से भेद बनते हैं उन्हें बनाने की विधि प्रस्तार है। ग्रन्थकार ने पूरी विधि को बहुत संक्षेप में दिया है लेकिन दोनों टीकाकारों ने इसकी विस्तार से व्याख्या की है। उनके द्वारा ही ग्रन्थोक्त विधि को समझा जा सकता है।

विधि शब्द संस्कृत में पुल्लिंग होने से तदनुरूप अनुवाद किया गया है।

प्रस्तार बनाने की विधि यह है। जिस या जिन अवयवों के प्रस्तार बनाने हों सबसे पहले उन्हें लिख लें। उनमें यथासंभव बाईं ओर के सबसे बड़े अवयव से नये प्रस्तार की क्रिया शुरू की जाती है। उस बड़े अवयव के नीचे उससे छोटा अवयव लिख दें और दाहिनी तरफ़ वही अवयव लिख दें जो ऊपर है। फिर बाईं ओर, संभव हो तो, बड़ा अवयव लिखें, यह संभव न हो तो छोटा अवयव लिख दें। इसके बाद ताल के मूल अवयवों की अपेक्षा से प्रकृत प्रस्तार (जो प्रस्तार बनाया जा रहा है) में मात्रा की जो कमी रह जाय उसे पूरा करने के लिये बाईं ओर आवश्यक अवयव लिख दें। इस विधि से तब तक प्रस्तार बनाते जायँ जब तक प्रस्तार में सारे अवयव द्रुत न हो जायँ।

इस विधि से लघु, गुरु, प्लुत के अकेले-अकेले होने पर या एक से ज़्यादा अवयव होने पर प्रस्तार बन सकते हैं लेकिन अकेले द्रुत में नहीं क्योंकि द्रुत को भंग करने के लिये उससे छोटा अवयव नहीं होता।

कल्लि० ने अकेले-अकेले लघु और गुरु के और सिंह० ने अकेले लघु, गुरु और प्लुत तीनों के प्रस्तार बना कर दिखाये हैं। उसके आधार पर यहाँ प्लुत के प्रस्तार दिये जा रहे हैं। इनमें जिस अवयव को रेखांकित किया है वहाँ से नया प्रस्तार बनाने की क्रिया शुरू होती है। प्लुत के कुल १९ प्रस्तार बनते हैं।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(१)	ऽ̲
(२)	।̲ ऽ
(३)	० ० ऽ̲
(४)	ऽ̲ ।
(५)	।̲ । ।
(६)	० ० ।̲ ।
(७)	० ।̲ ० ।
(८)	।̲ ० ० ।
(९)	० ० ० ० ।̲
(१०)	० ऽ̲ ०
(११)	० ।̲ । ०
(१२)	।̲ ० । ०
(१३)	० ० ० ।̲ ०
(१४)	ऽ̲ ० ०
(१५)	।̲ । ० ०
(१६)	० ० ।̲ ० ०
(१७)	० ।̲ ० ० ०
(१८)	।̲ ० ० ० ०
(१९)	० ० ० ० ० ०

इसी तरह अकेले द्रुत, लघु और गुरु के १, २ और ६ प्रस्तार बनेंगे।

प्रस्तार समाप्त

(संख्या)

एकद्व्यङ्कौ क्रमान्यस्य युञ्जीतान्त्यं पुरातनैः।
द्वितीयतुर्यषष्ठाङ्कैरभावे तुर्यषष्ठयोः॥ ३२०॥

तृतीयपञ्चमाङ्काभ्यां क्रमात् तं योगमग्रतः।
लिखेद् दक्षिणसंस्थैवमङ्कश्रेणी विधीयते॥ ३२१॥

सा चाङ्कैरिष्टतालस्थद्रुतसंख्यैः समाप्यते।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

२—संख्या

३२०-३२२ ख. (अ०) क्रमात् (बाईं ओर से) क्रम से (आड़ी पंक्ति में) एक-द्वि-अङ्कौ न्यस्य १ और २ अंक रख कर अन्त्यम् अन्तिम (अंक) को पुरातनैः पिछले द्वितीयतुर्यषष्ठ-अङ्कैः दूसरे, चौथे और छठे अंक के साथ तुर्यषष्ठयोः अभावे (और) चौथे तथा छठे के न होने पर तृतीयपञ्चम-अङ्काभ्यां (पिछले) तीसरे और पाँचवें के साथ युञ्जीत जोड़ दें क्रमात् (और) क्रम से तं योगं उस जोड़ (से प्राप्त अंक) को अग्रतः आगे लिखेत् लिखना चाहिए। एवम् इस तरह अङ्कश्रेणी अंकों की श्रेणी (क्रम) दक्षिणसंस्थं विधीयते दाहिनी(-दाहिनी) ओर रखी जाती है सा च और वह इष्टतालस्थद्रुतसंख्यैः अङ्कैः इच्छित ताल में स्थित द्रुतों की संख्या जितने अंकों से (अर्थात् उतनी बार अंक लिखकर) समाप्यते समाप्त की जाती है।

(सर०) संख्या की अंकश्रेणी यानी अंकों का क्रम बनाने की विधि यह है। अंकश्रेणी बाईं से दाहिनी ओर लिखी जाती है। तदनुसार सबसे पहले १, फिर २ लिख लें। फिर अन्तिम-अन्तिम अंक को उससे पिछले दूसरे, चौथे और छठे अंकों के साथ जोड़कर दाहिनी तरफ़ लिखते जायँ। अगर चौथा और छठा अंक न हो तो तीसरे और पाँचवें अंक जोड़ दें। प्रकृत ताल जितने द्रुतों के बराबर हो और वह संख्या जिस अंक को सूचित करती हो उतनी बार ऊपर वाली क्रिया करें। कल्लि० के अनुसार इस विधि से अंक श्रेणी यों बनेगी। यहाँ ०ऽ की अंक श्रेणी बनाई जा रही है जिसमें ३$\frac{1}{2}$ मात्रा यानी ७ द्रुत होंगे। इसलिये कुल ७ अंकों तक क्रिया की जाएगी।

१ और २ अंक लिखने के बाद अन्तिम अंक २ के साथ उससे पिछला दूसरा अंक १ जोड़कर २ के दाहिनी ओर (२+१=) ३ लिखें। फिर ३ में पिछला दूसरा २ और चौथे के अभाव में तीसरा १ जोड़कर (३+२+१=) ६ लिखें। इसी तरह ६ के साथ दूसरा ३, चौथा १ जोड़कर (६+३+१=) १० लिखें। फिर १० के साथ दूसरा ६, चौथा २ और छठे के अभाव में पाँचवाँ १ जोड़कर (१०+६+२+१=) १९ लिखें। अब १९ के साथ दूसरा १०, चौथा ३ और छठा १ जोड़कर (१९+१०+३+१=) ३३ लिखें। यहाँ तक ७ बार क्रिया हुई जो ३$\frac{1}{2}$ मात्रा के ७ द्रुतों के बराबर है इसलिये आगे क्रिया नहीं की जाएगी।

इसके अनुसार अंक श्रेणी यह बनी—

१	२	३	६	१०	१९	३३

द्रुतो लघुः सार्धमात्रो गुरुः सार्धद्विमात्रिकः॥ ३२२॥

प्लुतः सार्धत्रिमात्रश्चेत्येकैकद्रुतवर्धितैः।
तालभेदाः क्रमादङ्कैः संख्यायन्ते स्थितैरिह॥ ३२३॥

यदङ्कयोगादन्त्योऽङ्को लब्धस्तैरन्ततः क्रमात्।
भेदा द्रुतान्तलघ्वन्तगुर्वन्ताश्च प्लुतान्तकाः॥ ३२४॥

संख्यायन्त इति प्रोक्ताः संख्या निःशङ्कसूरिणा।

१	२	३	६	१०	१९	३३

इति संख्या

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

३२२ ग-३२५ ख. (अ०) इह स्थितैः यहाँ (अंक श्रेणी में) स्थित अङ्कैः अंकों के द्वारा क्रमात् क्रम से द्रुतः लघुः द्रुत, लघु, स-अर्धमात्रः आधी मात्रा सहित एक (डेढ़), गुरुः गुरु, स-अर्धद्विमात्रिकः आधी सहित दो मात्रा (ढाई), प्लुतः स-अर्धत्रिमात्रः च प्लुत और आधी सहित तीन मात्रा (साढ़े तीन) इति यों एक-एकद्रुतवर्धितैः एक-एक द्रुत बढ़ाये हुए (अवयवों) के द्वारा तालभेदाः तालों के भेद (भेदों की) संख्यायन्ते संख्या (निश्चित) की जाती है। यत् अङ्कयोगात् जिन अंकों को जोड़ने से अन्त्यः अङ्कः लब्धः अन्तिम अंक प्राप्त हुआ तैः उनके द्वारा अन्ततः क्रमात् अन्तिम के क्रम से द्रुतान्तलघ्वन्तगुर्वन्ताः द्रुत से अन्त होने वाले, लघु से अन्त होने वाले, गुरु से अन्त होने वाले प्लुतान्तकाः च और प्लुत से अन्त होने वाले भेदाः संख्यायन्ते भेद (भेदों) की संख्या (निश्चित) की जाती है इति ऐसी संख्याः संख्याएँ निःशङ्कसूरिणा शंकारहित विद्वान् (शार्ङ्गदेव) के द्वारा प्रोक्ताः कही गई (हैं)।

(सर०) अंकश्रेणी बनाने की विधि बताने के बाद ग्रन्थकार ने अंक-श्रेणी का प्रयोजन यानी इसके द्वारा क्या ज्ञात होता है इसका निरूपण इन कारिकाओं में किया है। यहाँ दो प्रयोजन कहे हैं। एक, किस अवयव के कुल कितने प्रस्तार या भेद होते हैं और दूसरा, उनमें से कितने-कितने भेद किस-किस अवयव से अन्त होंगे। संख्या प्रत्यय इन दो प्रयोजनों का पूरक है। संख्या के आधार पर सिंह० और कल्लि० दोनों ने इसे विस्तार से समझाया है। उनके अनुसार यहाँ प्रयुक्त मात्रा शब्द लघु का और अर्ध शब्द द्रुत का सूचक है। अंक श्रेणी में १ अंक से द्रुत, २ से लघु, ३ से द्रुत-लघु (०। = १$\frac{१}{२}$ मात्रा), ६ से गुरु, १० से द्रुत-गुरु (०ऽ = २$\frac{१}{२}$ मात्रा), १९ से प्लुत और ३३ से द्रुत-प्लुत (०ऽ̇ = ३$\frac{१}{२}$ मात्रा) सूचित होता है। इससे यह प्रकट होता है कि द्रुत का १ प्रस्तार होता है, लघु के २, द्रुत-लघु के ३, गुरु के ६, द्रुत-गुरु के १०, प्लुत के १९ और द्रुत-प्लुत के ३३ प्रस्तार यानी तालों के भेद होते हैं। इसी तरह अंक श्रेणी को और आगे बढ़ाकर दूसरे अवयवों के प्रस्तार भी जाने जा सकते हैं।

दूसरे प्रयोजन में जिन-जिन अंकों के जोड़ से कोई संख्या प्राप्त होती है उनमें प्राप्त संख्या से पहले दाहिनी ओर से अन्तिम अंक द्रुतान्त भेदों की संख्या का सूचक होता है। दूसरा अंक लघ्वन्त भेदों का, चौथा और उसके अभाव में तीसरा अंक गुरु से अन्त होने वाले भेदों का, छठा और उसके अभाव में पाँचवाँ अंक प्लुतान्त भेदों की संख्या का सूचक होता है। अंक श्रेणी के आधार पर इसे समझ लें।

अंक श्रेणी में छठा अंक प्लुत के १९ प्रस्तारों का बोधक है जो १०, ६, २ और १ के योग से प्राप्त हुआ है। इसलिये प्लुत के १९ प्रस्तारों में १० द्रुतान्त, ६ लघ्वन्त, २ गुर्वन्त और १ प्लुतान्त होते हैं। इसे प्रस्तार प्रत्यय में देखा जा सकता है जहाँ अन्तिम १० द्रुतान्त, उससे पहले ६ लघ्वन्त, उससे पहले २ गुर्वन्त और उससे पहले १ प्लुतान्त है।

संख्या समाप्त

(नष्टम्)

अत्रैतावतिथो भेदः किंरूप इति पृच्छति॥ ३२५॥
यत्र तन्नष्टमाख्यातं तस्योत्तरमिहोच्यते।
भेदानां यावतां मध्ये नष्टप्रश्नः कृतो भवेत्॥ ३२६॥
तावत्संख्याङ्कपर्यन्तां लिखेत् संख्याङ्कसंततिम्।
अन्त्याङ्के तत्र नष्टाङ्कं पातयेदथ शेषतः॥ ३२७॥
पातयेत् पूर्वपूर्वाङ्कं,

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

३—नष्ट

३२५ ग-३२८ क. (अ०) अत्र इस (अमुक भेद वाले इस ताल) में एतावतिथः भेदः इस संख्या का (इतनवाँ) भेद किं रूपः किस स्वरूप वाला (है) इति पृच्छति यह (प्रश्न) पूछता है (पूछा जाता है तो) तत् वह नष्टम् आख्यातं नष्ट जाना गया (है)। इह यहाँ तस्य उत्तरम् उच्यते उसके उत्तर को कहा जाता है (अर्थात् कहते हैं)। यावतां भेदानां मध्ये जितने भेदों के भीतर नष्टप्रश्नः नष्ट का प्रश्न कृतः भवेत् किया गया होता है तावत् संख्या-अङ्कपर्यन्ता वहाँ की संख्या के अंकों तक संख्या-अङ्कसंततिं (पूर्वोक्त) संख्या (प्रत्यय) की अंकश्रेणी लिखेत् लिखनी चाहिये। तत्र अन्त्य अङ्के उस अन्तिम अंक में से नष्ट-अङ्कं पातयेत् नष्ट (में पूछे गये भेद की संख्या) का अंक घटा देना चाहिये। अथ शेषतः अब (इसी तरह घटाते जाने पर) बचे हुए (अंकों में) से पूर्व-पूर्व-अङ्कं पहले-पहले के अंक को पातयेत् घटाते जाना चाहिये।

(सर०) किसी ताल के कुल प्रस्तारों में से किसी विशिष्ट संख्या के प्रस्तार का अज्ञात स्वरूप नष्ट होता है। लेकिन उस अज्ञात स्वरूप को जानने की विधि को भी लक्षणा से नष्ट कहा गया है, कल्लि० ने यह स्पष्ट किया। यानी अमुक संख्या के प्रस्तार का क्या स्वरूप है यह प्रश्न और उसका उत्तर अर्थात् उसके स्वरूप को जानने की विधि नष्ट प्रत्यय है।

विधि यह है। प्रस्तार की जिस संख्या के लिये प्रश्न किया गया हो वह संख्या ताल के कुल प्रस्तारों की जिस संख्या में आती हो वहाँ तक की अंकश्रेणी (संख्या प्रत्यय) बना लें। उदाहरण के लिये प्लुत के १५वें प्रस्तार का स्वरूप जानने के लिये अंक श्रेणी १, २, ३, ६, १० और १९ अंकों से बना लें क्योंकि प्लुत के १९ प्रस्तार होते हैं। अब १९ में से प्रकृत प्रस्तार की संख्या ५ घटा दें। शेष में से १० घटा दें, जो शेष बचे उसमें से ६ और फिर शेष अंक में से ३ और इसी क्रम से अन्य अंक तब तक घटाते जायँ जब तक शून्य न बचे।

शेष विधि अगले श्लोकों में दी गई है।

तत्र त्वपतितादद्रुतः।
पूर्वश्चेत् पतितो न स्याल्लघुस्तु पतिताद्भवेत्॥ ३२८॥

उत्तरेणाकृतार्थेन सहितात् तदसंभवे।
अकृतार्थेन पूर्वेण सान्तरे पतिते पृथक्॥ ३२९॥

लघुर्निरन्तरे त्वस्मिँल्लघुरेव गुरुर्भवेत।
गुरुहेतोस्तृतीये तु पतिते गः प्लुती भवेत्॥ ३३०॥

अङ्काभावे द्रुता ग्राह्यास्तालपूरणहेतवः।
इति नष्टस्य विज्ञेयमुत्तरं रूपनिर्णयात्॥ ३३१॥

इति नष्टम्

३२८ ख-३३१. (अ०) तत्र तु उस (क्रिया) में तो अपतितात् अपतित (जो अंक न घटे उस) से तो द्रुतः द्रुत (की प्राप्ति होती है)। पूर्वः पूर्व (पहले वाला अंक) पतितः न स्यात् चेत् यदि पतित नहीं हो (तो) अकृतार्थेन अपतित उत्तरेण उत्तर (दाहिनी ओर वाले) सहितात् के साथ (मिलकर और) तत् असंभवे वह संभव न होने पर अकृतार्थेन पूर्वेण अपतित पूर्व (बाईं ओर वाले) के साथ पतितात् पतित (अंक) से लघुः लघु भवेत् (प्राप्त) होता है। सान्तरे पतिते सान्तर (एक अंक छोड़कर दूसरा) पतित होने पर पृथक् लघुः स्वतन्त्र लघु (प्राप्त होता है)। अस्मिन् निरन्तरे तु इसमें लगातार (पतित) होने पर तो लघुः एव लघु ही गुरुः भवेत् गुरु हो जाता है। गुरुहेतोः गुरु प्राप्ति के कारण(भूत दो निरन्तर पतितों) से (अर्थात् बाद) तृतीये पतिते तु तीसरा पतित होने पर तो गः गुरु प्लुती भवेत् प्लुत हो जाता है। अङ्क-अभावे (शेष अंक और पातनीय यानी घटाने के लिये कोई) अंक न होने पर तालपूरणहेतवः ताल की पूर्ति के हेतु (प्रयोजन) से द्रुताः ग्राह्याः द्रुतों का ग्रहण

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

करना चाहिये। इति इस प्रकार रूपनिर्णयात् (भेद के) स्वरूप का निश्चय होने से नष्टस्य उत्तरं नष्ट (में पूछे गये प्रश्न) का उत्तर विज्ञेयं विशेष रूप से जानना चाहिये।

(सर०) ३२८ ख में आनन्द० और आड्यार के दोनों संस्करणों में 'त्वपतितो' पाठ है। सिंह० का पाठ त्वपतितात् है जो आड्० १९८६ सं० में पादटिप्पणी में दिया गया है। इस पाठ से अर्थ ज्यादा स्पष्ट होता है इसलिये हमने यही रखा है।

यहाँ कुछ शब्दों का पारिभाषिक अर्थ में प्रयोग हुआ है जो इस प्रकार है। अपतित जो न घटे, पतित जो घट जाय, अकृतार्थ पतित के साथ मिलकर लघु प्राप्त कराने वाला अपतित, सान्तर पतित एक अंक छोड़कर दूसरा पतित, निरन्तर पतित लगातार दो पतितों में से दूसरा पतित, उत्तर किसी अंक से दाहिनी ओर का अंक, पूर्व बाईं ओर का अंक।

इनका विशेष प्रयोजन है। अपतित से द्रुत प्राप्त होता है और पतित से लघु। निरन्तर दो पतितों से प्राप्त दो लघु मिलकर गुरु प्राप्त कराते हैं लेकिन सान्तर पतित से स्वतन्त्र लघु प्राप्त होता है। गुरु हेतु पतितों के बाद एक और पतित हो तो दो पतितों से प्राप्त गुरु प्लुत हो जाता है। अकृतार्थ उत्तर से लघु प्राप्ति संभव न हो तो अकृतार्थ पूर्व से की जा सकती है। शेष अंक यानी घटाने के बाद बचने वाला अंक या पातनीय यानी घटाने के लिये अंक न हो और ताल पूरा न हुआ तो तालपूरण यानी ताल की कुल मात्राओं में जो कमी रह जाय उसे पूरा करने के लिये द्रुतों का ग्रहण किया जा सकता है। प्राप्त अवयव दाहिनी से बाईं ओर लिखे जाते हैं।

सिंह० और कल्लि० दोनों ने प्लुत के १९ प्रस्तारों में से कई की संख्या लेकर नष्टविधि स्पष्ट की है। यहाँ प्लुत के पहले, पाँचवें और पन्द्रहवें प्रस्तारों की विधि दी जा रही है।

१९
−१
———
१८
−१०
———
८
−६
———
२
३
२
−२
———
०

१९ में से प्रकृत संख्या १ घटाने पर शेष १८ रहा। उसमें से अंक श्रेणी का १० और फिर शेष ८ में से ६—ये दो अंक घटने से निरन्तर पतितों से गुरु (ऽ) प्राप्त हुआ। शेष २ में से पूर्व अंक ३ नहीं घटता लेकिन गुरु हेतु पतित के बाद एक और अंक २ घट जाने से प्राप्त लघु ने ऽ को ऽ꤮ बना दिया। प्लुत का प्रस्तार पूरा हो जाने से द्रुत के ग्रहण की ज़रूरत नहीं है। इस तरह पहले प्रस्तार का स्वरूप ऽ꤮ ज्ञात हुआ।

५वें प्रस्तार का स्वरूप इस तरह ज्ञात होगा—

१९
−५
———
१४
−१०
———
४
६
४
−३
———
१
२
१
−१
———
०

१९ में से प्रकृत संख्या ५ घटाने पर शेष १४ रहा। उसमें से १० घटने से लघु प्राप्त हुआ। शेष ४ में से ६ नहीं घटा। लेकिन अगला अंक ३ घट गया। इसलिये सान्तर पतित से स्वतन्त्र लघु प्राप्त हुआ। फिर शेष १ में से २ नहीं घटा लेकिन १ घट गया। इस सान्तर पतित से फिर पृथक् लघु प्राप्त होकर ५वें प्रस्तार का स्वरूप । । । ज्ञात हुआ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

पन्द्रहवाँ प्रस्तार—

१९
−१५
४
१०
४
६
४
−३
१
२
१
−१
०

१९ में से १५ घटाकर शेष ४ में से अगले दो अंक १० और ६ नहीं घटे। इन दो अपतितों से दो द्रुत प्राप्त हुए। फिर ३ पतित होने पर अकृतार्थ उत्तर अंक ६ के बाद पतित ३ अंक ने लघु प्राप्त कराया। शेष १ में से २ नहीं घटा लेकिन १ घट गया। इसलिये अकृतार्थ उत्तर अंक २ के साथ मिलकर पतित अंक १ ने लघु प्राप्त कराया। इस तरह पन्द्रहवें प्रस्तार का स्वरूप ।।०० ज्ञात हुआ।

नष्ट समाप्त

(उद्दिष्टम्)

ईदृग्रूपोऽत्र कतिधा भेदः प्रश्न इतीदृशः।
उद्दिष्टं तत्र संख्याङ्कसंततिं नष्टवल्लिखेत्॥ ३३२॥

यैरङ्कैः पतितैर्नष्टे लभ्यन्ते ये प्लुतादयः।
तानेवाङ्काँल्लभन्ते ते भेदमुद्दिष्टमाश्रिताः॥ ३३३॥

यद्वा षट्प्लुतहेत्वङ्कमध्येऽन्त्यात्प्राचि सप्तमे।
तदभावे तु षष्ठाङ्के पातितेऽन्त्याङ्कमध्यतः॥ ३३४॥

यः शेषः स प्लुताल्लभ्यो लब्धहीनान्त्यशेषतः।
ज्ञानं पूरणसंख्याया उद्दिष्टोत्तरमिष्यते॥ ३३५॥

इत्युद्दिष्टम्

४—उद्दिष्ट

३३२-३३५. (अ०) अत्र यहाँ (प्रकृत तालप्रस्तार में) ईदृक्-रूपः भेदः इस रूप वाला भेद कतिधा किस संख्या का (कितनवाँ है) इति ईदृशः प्रश्नः इस प्रकार ऐसा प्रश्न उद्दिष्टम् उद्दिष्ट (होता है)। तत्र उस (उद्दिष्ट) में संख्या-अङ्कसंततिं संख्या की अंक श्रेणी नष्टवत् लिखेत् नष्ट की तरह लिखनी चाहिये। नष्टे नष्ट(विधि) में यैः पतितैः अङ्कैः जिन पतित अंकों से ये प्लुत-आदयः जो प्लुत आदि (अवयव) लभ्यन्ते प्राप्त होते हैं उद्दिष्टं भेदम् आश्रिताः उद्दिष्ट के भेद के आश्रित (अर्थात् भेद में) ते वे (प्लुत आदि) तान् एव अङ्कान् उन्हीं अंकों को लभन्ते प्राप्त करते हैं। यत् वा अथवा षट्प्लुतहेतु-अङ्कमध्ये प्लुत के कारणभूत छठे (आदि) अंकों के अन्तर्गत अन्त्यात् अन्तिम (अंक) से प्राचि सप्तमे पहले (बाईं ओर) का सातवाँ तत् अभावे तु (और) उसके न होने पर तो षष्ठ-अङ्के छठा अंक अन्त्य-अङ्कमध्यतः अन्तिम अंक में से पातिते घटाने पर यः शेषः जो बचे सः वह प्लुतात् लभ्यः प्लुत से प्राप्त हुआ। लब्धहीन-अन्त्य-शेषतः (यह) प्राप्त (हुआ अंक) अन्तिम (अंक) में से कम करके शेष (बचे हुए अंक) से पूरणसंख्याया ज्ञानं पूरण (अर्थात् प्रस्तार की सूचक) संख्या का बोध उद्दिष्ट-उत्तरम् उद्दिष्ट (अर्थात् अमुक स्वरूप वाले प्रस्तार की संख्या क्या होगी?—इस प्रश्न) का उत्तर इष्यते इच्छित होता है (समझा जाता है)।

(सर०) उद्दिष्ट का प्रसंग प्राप्त अर्थ है जिसका स्वरूप ज्ञात है लेकिन संख्या ज्ञात करनी है। नष्ट की तरह उद्दिष्ट भी ताल प्रस्तार के एक अन्य पक्ष से संबन्धित है। जिस तरह नष्ट में संख्या के आधार पर उसका स्वरूप पूछा जाता है और नष्टविधि उसका उत्तर देती है यानी स्वरूप का ज्ञान कराती है उसी तरह उद्दिष्ट में प्रस्तार का स्वरूप देकर उसकी संख्या पूछी जाती

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

है और उद्दिष्टविधि के द्वारा उसका उत्तर दिया जाता है यानी प्रस्तार की संख्या ज्ञात होती है। इसलिये जैसे नष्ट के लिये संख्या में से जितनी आवश्यक हो उतनी अंकश्रेणी बनाई जाती है उसी तरह उद्दिष्ट में भी बनाई जाती है। फिर नष्टविधि में जिन पतित अंकों से जो अवयव प्राप्त होते हैं उद्दिष्टविधि में वे अवयव वही अंक प्राप्त कराते हैं। यही दो बातें श्लोक ३३२ ग-घ और ३३३ में बताई गई हैं। अगले दो श्लोकों में उद्दिष्ट की विधि दी गई है। कल्लि० ने श्लोक के हर पद का अर्थ उदाहरणों के द्वारा बड़े विस्तार से समझाया है। सिंह० ने संक्षेप में व्याख्या की है। दोनों का सार ग्रहण करके यहाँ विधि को स्पष्ट किया जा रहा है।

'जिन पतित अंकों से जो प्लुत आदि नष्ट में प्राप्त होते हैं वही प्लुत आदि उद्दिष्ट में उन्हीं अंकों को प्राप्त कराते हैं'— इस कथन को यों समझें। नष्ट में द्रुत की प्राप्ति अपतित अंक से या तालपूरण के लिये होती है इसलिये उद्दिष्ट में द्रुत से कोई अंक प्राप्त नहीं होता। दो अपतित हों तो दोनों से स्वतन्त्र द्रुत प्राप्त होते हैं उसी तरह उद्दिष्ट में दो द्रुत हों तो दो अंक प्राप्त नहीं होते। सान्तर पतित से नष्ट में लघु प्राप्त होता है तदनुरूप उद्दिष्ट में लघु हो तो एक छोड़कर दूसरे अंक का ग्रहण होता है। नष्ट में दो निरन्तर पतितों से प्राप्त दो लघु मिलकर एक गुरु हो जाता है उसी तरह उद्दिष्ट में गुरु अवयव हो तो लगातार दो अंक प्राप्त होते हैं और अगर नष्ट में गुरु हेतु पतितों के बाद एक और पतित मिल जाय तो गुरु ही प्लुत बन जाता है। तदनुरूप उद्दिष्ट में भी प्लुत हो तो दो निरन्तर और एक सान्तर अंक प्राप्त होता है।

इसके अनुसार ऽ॒ प्रस्तार की संख्या इस तरह प्राप्त होगी। प्लुत (ऽ॒) के लिये अन्तिम से पहले यानी बाईं ओर के दो पतितों यानी १९ से पहले के १० और ६ अंकों से दो लघु प्राप्त हुए। निरन्तर पतित होने से ये दोनों मिलकर एक गुरु हो गया। इसे प्लुत बनाने वाला एक लघु सान्तर अंक से प्राप्त होना चाहिये। तदनुसार ६ के बाईं ओर का ३ अंक छोड़कर २ का ग्रहण होगा। इन तीनों अंकों का जोड़ १०+६+२=१८ हुआ। इस प्राप्त अंक को अन्तिम अंक १९ में से घटाने पर प्रकृत प्रस्तार ऽ॒ की संख्या १ ज्ञात हुई।

ग्रन्थकार ने प्लुत से अंक प्राप्त करने का एक और उपाय भी बताया। श्लोक में प्रयुक्त षट् (छ) शब्द 'षष्ठ' यानी छठे अंक का सूचक है, यह कल्लि० ने स्पष्ट किया। तदनुसार प्लुत की अंक श्रेणी के अन्तिम यानी छठे (१९) अंक से लेकर उसके दाहिनी ओर के, अंकश्रेणी के, सभी अंकों में प्लुत प्राप्ति का सामर्थ्य होता है। प्रकृत प्रस्तार अंकश्रेणी की जिस संख्या में आता हो उसे उस प्रस्तार के लिये अन्त्य मान कर उस अंक से बाईं ओर अगर सातवाँ अंक हो तो उसे और सातवाँ न हो तो छठे अंक को अन्तिम अंक में से घटाने पर जो शेष अंक आया वह प्लुत से प्राप्त होता है। जैसे—प्लुत के प्रस्तारों में प्लुत का अंक प्राप्त करने के लिये प्लुत प्रस्तारों की संख्या १९ को अन्तिम अंक माना जायगा। उससे बाईं ओर सातवाँ अंक नहीं है क्योंकि अंक श्रेणी में १, २, ३, ६, १०, १९—ये ६ अंक ही प्लुत प्रस्तारों के अन्तर्गत हैं। इसलिये बाईं ओर के छठे अंक १ को अन्तिम १९ में से घटाने पर १८ प्राप्त हुआ जो दो निरन्तर पतितों १० और ६ तथा सान्तर पतित २ का जोड़ है। यहाँ सिंह० ने कहा कि इस प्रकार प्राप्त अंक का क्या करना चाहिये इस अपेक्षा से ग्रन्थकार ने कहा कि जो अंक प्राप्त हुआ उसे अन्तिम अंक में से घटा कर जो शेष बचे वह प्रकृत प्रस्तार की संख्या होती है। इसके अनुसार १८ को १९ में से घटाने पर शेष १ रहा यही ऽ॒ प्रस्तार की संख्या है जो उद्दिष्ट विधि से प्राप्त हुई। कल्लि० ने इस विधि को 'अव्यापक' कहा और इसे स्पष्ट करने के लिये कई उदाहरण दिये। अन्त में यह भी कहा कि यह विधि केवल प्लुतप्राप्ति में ही लागू होती है, अन्यत्र नहीं इसलिये अव्यापक है। (पृ० २३२, पैरा १ का अन्तिम वाक्य)

एक और उदाहरण से सामान्य उद्दिष्ट को समझ लें। प्लुत प्रस्तारों में ०ऽ० स्वरूप वाले प्रस्तार की संख्या इस तरह ज्ञात होगी। अंकश्रेणी १, २, ३, ६, १०, १९ होगी। द्रुत से अंक प्राप्त नहीं होता इसलिये अन्तिम अंक १९ के बाईं ओर का पहला अंक १० छोड़ दिया जायगा। गुरु दो निरन्तर पतितों से प्राप्त होता है इसलिये ६ और ३ का ग्रहण होगा। अन्तिम द्रुत कोई अंक प्राप्त नहीं करायेगा। इस तरह ६+३=९ को अन्तिम अंक १९ में से घटाने पर १० बचा जो ०ऽ० प्रस्तार की क्रमसंख्या है।

कल्लि० ने स्पष्ट किया कि श्लोक में प्रयुक्त लब्धहीनान्त्यशेषतः पद दोनों विधियों में साधारण है यानी लागू होता है। इसलिये दोनों विधियों से प्राप्त अंक १८ को अन्त्य अंक १९ में से घटाया गया।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

श्लोक ३३३ में द्रुतादयः और प्लुतादयः—ये दो पाठ हैं। आनन्द० और आड्० १९८६ संस्करणों में 'द्रुतादयः' है और आड्० १९५१ सं० और सिंह० व कल्लि० का पाठ प्लुतादयः है। दोनों पाठों से अभीष्ट अर्थ प्राप्त हो सकता है। लेकिन अगले श्लोक में प्लुत प्राप्ति का दूसरा उपाय भी ग्रन्थकार ने बताया है और दोनों टीकाकारों ने प्लुतादयः पाठ से व्याख्या की है। इसे ध्यान में रखकर हमने इसी का ग्रहण किया है।

अपनी लंबी व्याख्या के अन्त में कल्लि० ने उदाहरण देकर यह स्पष्ट किया कि पतित, अपतित, सान्तर पतित अंक तथा पूर्व, उत्तर आदि के द्वारा द्रुत, लघु आदि की प्राप्ति की जो सामान्य विधि बताई गई है वह सर्वत्र लागू नहीं होती क्योंकि कहीं-कहीं अपतित से द्रुत, सान्तर पतित से लघु आदि प्राप्त नहीं होते। इसे ध्यान में रखकर ग्रन्थकार ने स्वयं ही अकृतार्थ उत्तर अथवा अकृतार्थ पूर्व के साथ अवयव प्राप्त करना चाहिये, ऐसा कह दिया है। आशय यह है कि पहले कहा गया नियम सामान्य है, जहाँ उससे अभीष्ट प्राप्त न हो वहाँ अकृतार्थ उत्तर-पूर्व वाले विधान का पालन करना चाहिये। विभिन्न मेरुओं की नष्ट और उद्दिष्ट विधि में ऐसा कई जगह अनुभव होता है।

उदिष्ट समाप्त

(पातालः)

आदौ रूपमथैकैकमङ्कं संख्याङ्कसंततेः।
क्रमादधोऽधो विन्यस्येदन्त्यादींश्चतुरस्तथा॥ ३३६ ॥

स्वपङ्क्तिस्थाँल्लिखेदङ्कानग्रसंख्याङ्कवद्युतान्।
किं तु प्रतिनिधिर्नात्र विद्यते तुर्यषष्ठयोः ॥ ३३७ ॥

इष्टतालद्रुतमितेष्वङ्केषु लिखितेष्विति।
क्रमादन्त्योपान्त्यतुर्यषष्ठैर्यत्र द्रुतादयः ॥ ३३८ ॥

मीयन्ते सर्वभेदस्थाः पातालः सोऽभिधीयते।

इति पातालः

१	२	३	६	१०	१९	३३	इति संख्या
१	२	५	१०	२२	४४	९१	इति पातालः

५—पाताल

३३६-३३९ ख. (अ०) आदौ शुरू में रूपम् एक (का अंक लिखें)। अथ इसके बाद संख्या-अङ्कसंततेः संख्या (प्रत्यय) की अंकश्रेणी के अधः अधः नीचे-नीचे क्रमात् क्रम से एक-एकम् अङ्कम् एक-एक अंक को विन्यस्येत् रखें। तथा उसी की तरह (संख्या की तरह) स्वपङ्क्तिस्थान् अपनी (पाताल की) पंक्ति में स्थित अन्त्य-आदीन् चतुरः अन्तिम आदि चार (अन्त्य, उपान्त्य, चौथे और छठे) अङ्कान् अंकों को अग्रसंख्या-अङ्कवत्युतान् संख्या के अगले अंक की तरह उसके साथ युत हुए (अर्थात् जोड़कर) लिखेत् लिखें। किंतु लेकिन अत्र यहाँ (पाताल में) तुर्यषष्ठयोः प्रतिनिधिः (संख्या की तरह) चौथे और छठे का प्रतिनिधि न विद्यते नहीं रहता। इति इस प्रकार लिखितेषु इष्टतालद्रुतमितेषु लिखे गये इष्ट (प्रकृत) ताल के (कुल) द्रुतों (की संख्या) से नापे गये (अर्थात् ताल के कुल द्रुत जितने) अङ्केषु अंकों में यत्र जहाँ क्रमात् क्रम से अन्त्य-उपान्त्य-तुर्यषष्ठैः अन्तिम, उपान्त्य, चौथे और छठे (अंकों) के द्वारा सर्वभेदस्थाः (प्रकृत प्रस्तार के) सारे भेदों में स्थित (कुल) द्रुत-आदयः द्रुत आदि मीयन्ते नापे जाते हैं (द्रुत आदि की संख्या गिनी जाती है) सः वह पातालः अभिधीयते पाताल कहा जाता है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(सर०) किसी अवयव के सारे प्रस्तारों में कुल कितने द्रुत, कितने लघु, कितने गुरु, कितने प्लुत होंगे यह पाताल प्रत्यय से ज्ञात होता है।

श्लोक में प्रयुक्त रूपं शब्द गणितज्ञों में १ अंक के लिये प्रसिद्ध हैं। पाताल में सबसे पहले १ अंक लिखा जाता है। पाताल की रचना के लिये सबसे पहले प्रकृत प्रस्तार में जितने द्रुत हों उतने अंकों तक संख्या की अंकश्रेणी बनाई जाती है और फिर क्रम से बाईं तरफ़ से उनके नीचे-नीचे पाताल के अंक रखे जाते हैं। जिस तरह संख्या की रचना में क्रम से अन्तिम, उपान्त्य, चौथे, छठे अंकों को जोड़कर अगला-अगला अंक प्राप्त किया जाता है उसी तरह पाताल में भी होता है। लेकिन संख्या की रचना में जैसे चौथा और छठा अंक न होने पर उनके प्रतिनिधि के रूप में क्रम से तीसरे और पाँचवें का ग्रहण किया जाता है उस तरह पाताल की रचना में प्रतिनिधि नहीं होता। संख्या के अगले-अगले यानी क्रम से दाहिनी ओर के अंक के साथ क्रम से पाताल का अन्त्य, उपान्त्य, चौथा और छठा अंक जोड़ कर पाताल की अंकश्रेणी बनाई जाती है। पाताल की रचना उतने अंकों तक की जाती है जितने द्रुत प्रकृत प्रस्तार में हों। इस तरह बने पाताल के अन्तिम अंक से उस ताल के सारे प्रस्तारों के कुल द्रुतों की, उपान्त्य अंक से कुल लघुओं की, चौथे से कुल गुरुओं की और छठे से कुल प्लुतों की संख्या मालूम होती है। इस विधि से प्लुत का पाताल इस तरह बनेगा।

संख्या की अंकश्रेणी लिख लें। प्लुत में ६ द्रुत होते हैं इसलिये प्लुत के प्रस्तारों के लिये ६ अंकों तक यह अंकश्रेणी बनेगी।

१ २ ३ ६ १० १९

अंकश्रेणी के नीचे पाताल की रचना होगी। १ के नीचे १ लिखा जायगा। फिर संख्या के १ के साथ पाताल के अन्तिम अंक १ को जोड़कर संख्या के २ के नीचे २; फिर संख्या के अगले अंक २ और पाताल के अन्तिम २ व उपान्त्य १ का जोड़ (२+२+१=) ५; उसके बाद संख्या के ३, पाताल के अन्तिम ५ और उपान्त्य २ का जोड़ (३+५+२=) १०; फिर संख्या का ६, पाताल का अन्तिम १०, उपान्त्य ५ और चौथा १ जोड़कर (६+१०+५+१=) २२; फिर संख्या का १०, पाताल का अन्तिम २२, उपान्त्य १० और चौथा २ जोड़कर (१०+२२+१०+२=) ४४ लिखें। प्लुत की संख्या की अंकश्रेणी ६ अंकों तक होती है इसलिये पाताल में भी ६ अंकों तक रचना की गई। तदनुसार पाताल का रूप यह हुआ—

संख्या-अंकश्रेणी	१	२	३	६	१०	१९
पाताल	१	२	५	१०	२२	४४

पाताल का अन्तिम ४४, उपान्त्य २२, चौथा ५ और छठा अंक १ यह सूचित करता है कि प्लुत के १९ प्रस्तारों में कुल ४४ द्रुत, २२ लघु, ५ गुरु और १ प्लुत होते हैं। प्रस्तार प्रत्यय में दिये गये प्लुत के भेदों के द्वारा इसका निश्चय किया जा सकता है।

पाताल समाप्त

(द्रुतमेरुः)

पङ्क्तिं कृत्वेष्टतालस्थद्रुतसंमितकोष्ठिकाम् ॥ ३३९ ॥

तिरश्चीं तत्परामूनां कोष्ठेनाथ ततः पराः।
द्विद्विकोष्ठोनिताः स्वस्वपूर्वतोऽथाङ्कयोजना ॥ ३४० ॥

द्वौ द्वौ तासामाद्यकोष्ठौ स्यातामेकाङ्कसंयुतौ।
अधस्तन्यास्तृतीयादौ विषमे कोष्ठके लिखेत् ॥ ३४१ ॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अन्त्याद्यङ्कचतुष्कस्य योगं संख्याङ्कसंघवत्।
समे त्वन्त्यं विनैतेषां योगं न्यस्याथ पङ्क्तिषु ॥ ३४२ ॥

परासु शेषकोष्ठेषु चतुर्योगोऽयमिष्यते।
नास्ति प्रतिनिधिस्त्वासामङ्कयोस्तुर्यषष्ठयोः ॥ ३४३ ॥

६—द्रुतमेरु

३३९ ग-३४३. (अ०) इष्टतालस्थद्रुतसंमितकोष्ठिकां इष्ट ताल में स्थित द्रुतों से नापी गई (अर्थात् द्रुतों की संख्या जितनी) कोष्ठिकाओं (खानों) वाली तिरश्चीं पङ्क्तिं कृत्वा आड़ी पंक्ति बनाकर तत् पराम् उसके बाद (ऊपर की ओर) अगली (पंक्ति) को कोष्ठेन ऊनाम् एक कोष्ठ कम वाली (बनानी चाहिये)। ततः पराः उसके ऊपर वाली (पंक्तियाँ) स्वस्वपूर्वतः अपनी-अपनी से पहले वाली (पंक्तियों) से द्विद्विकोष्ठ-ऊनिताः दो-दो कोष्ठ कम की हुई (बनानी चाहिये)। अथ अब (इसके बाद) अङ्कयोजना अंकों की योजना (इस तरह करनी चाहिये)। तासाम् उन (पंक्तियों) के द्वौ द्वौ आद्यकोष्ठौ दो-दो शुरू के खाने एक-अङ्कसंयुतं स्याताम् एक (१) अंक से युक्त होते हैं। अधः तन्याः नीचे वाली पंक्ति के तृतीय-आदौ विषमे कोष्ठके तीसरे आदि विषम कोष्ठ में अन्त्य-आदि-अङ्कचतुष्टयस्य योगम् अन्तिम आदि (अन्त्य, उपान्त्य, चौथे, छठे) चार अंकों के समूह का जोड़ संख्या-अङ्कसंघवत् संख्या की अंकश्रेणी की तरह लिखेत् लिखना चाहिये। समे तु सम (दूसरे, चौथे आदि कोष्ठ) में तो अन्त्यं बिना अन्तिम अंक को छोड़ कर एतेषां योगं न्यस्य इन (शेष तीन अंकों) का जोड़ रख कर अथ इसके बाद परासु पङ्क्तिषु अन्य पंक्तियों में शेषकोष्ठेषु बचे हुए (अर्थात् विषम) कोष्ठों में अयं चतुः योगः इन चार (अंकों) का जोड़ इष्यते इष्ट होता है। आसाम् इन (पंक्तियों) में तुर्यषष्ठयोः अङ्कयोः चौथे और छठे अंकों का प्रतिनिधिः तु प्रतिनिधि तो न अस्ति नहीं है (अर्थात् नहीं होता)।

(सर०) किसी अवयव के कुल प्रस्तारों में कितने द्रुतहीन होंगे और कितने प्रस्तार कितने-कितने द्रुत वाले होंगे इसका बोधक द्रुत मेरु है। रचना-विधि इस प्रकार है।

जिस ताल के लिये द्रुतमेरु बनाना हो उस ताल में कुल जितने द्रुत हों उतने कोष्ठक बाईं से दाहिनी ओर यानी आड़ी पहली पंक्ति में बना लें। उससे ऊपर दूसरी पंक्ति में बाईं ओर से एक कोष्ठक कम करके शेष कोष्ठक बना लें। उससे ऊपर हर पंक्ति में बाईं तरफ़ से दो-दो कोष्ठ छोड़कर कोष्ठ बना लें। उनमें अंक भरने की विधि यह है। हर पंक्ति में बाईं ओर से शुरू करके दो-दो कोष्ठों में १ अंक भर दें। नीचे की पहली पंक्ति के तीसरे, पाँचवें आदि विषम-संख्यक कोष्ठों में संख्या की अंकश्रेणी की तरह अन्त्य, उपान्त्य, चौथे और छठे तथा चौथे और छठे के अभाव में तीसरे और पाँचवें कोष्ठों के अंकों का जोड़ भर दें। उसी पंक्ति के चौथे, छठे आदि समसंख्यक कोष्ठों में अन्त्य को छोड़कर उपान्त्य, चौथे और छठे और चौथे-छठे के अभाव में तीसरे-पाँचवें कोष्ठों के अंकों का जोड़ भर दें। इस पंक्ति से ऊपर की पंक्तियों के शुरू के दो-दो कोष्ठों के बाद बचे हुए कोष्ठों में भी पहली पंक्ति के विषम और सम कोष्ठों की तरह अंक भर दें। लेकिन इन पंक्तियों में चौथे और छठे अंक का प्रतिनिधि नहीं होता।

तासु स्वभावतो यास्तु निष्पन्ना ऊर्ध्वपङ्क्तयः ।
तन्मध्ये तु समा कोष्ठेऽन्त्यस्थानेऽन्त्यादधस्तनः ॥ ३४४ ॥

अङ्कः कार्योऽथ तैरङ्कैर्भेदसंख्याभिधीयते।
विषमासामूर्ध्वपङ्क्तौ स्थितैरङ्कैरधः क्रमात् ॥ ३४५ ॥

एकद्रुताद्या विषमत्र्यादिसंख्या द्रुता भिदाः।
सर्वद्रुतान्ता मीयन्ते समपङ्क्तिस्थितैः पुनः ॥ ३४६ ॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

द्रुतहीनादयो द्व्यादिसमसंख्यया द्रुता भिदाः।
सर्वद्रुतान्ता ज्ञायन्ते द्रुतमेरुरयं मतः ॥ ३४७ ॥
ऊर्ध्वपङ्क्तिस्थसर्वाङ्कयोगात् संख्यापि गम्यते ।

इति द्रुतमेरुः

							१	१
					१	१	७	८
			१	१	५	६	२०	२७
	१	१	३	४	९	१४	२५	४४
१	१	२	२	५	४	१२	७	२६
१	२	३	४	५	६	७	८	९
०	।	०।	ऽ	०ऽ	ऽ̆	०ऽ̆	।ऽ̆	०।ऽ̆

इति द्रुतमेरुकोष्ठकम्

३४४-३४८ ख. (अ०) **तासु** उन (आड़ी पंक्तियों के बन जाने पर उन) में **स्वभावतः तु** स्वाभाविक रूप से (अपने आप) तो **याः ऊर्ध्वपङ्क्तयः** जो खड़ी पंक्तियाँ **निष्पन्ना :** बन गईं **तत् मध्ये तु** उनमें तो **समा कोष्ठे** सम (पंक्ति) के कोष्ठ में **अन्त्यस्थाने** अन्तिम के स्थान पर **अन्त्यात् अधःतनः** अन्तिम से नीचे वाला **अङ्कः कार्यः** अंक करना (अर्थात् लेना) चाहिये। **अथ** अब **तैः अङ्कैः** इन (ऊर्ध्व पंक्तियों) के अंकों से **भेद संख्या** (प्रस्तार के अन्तर्गत बनने वाले ताल) भेदों की संख्या (यानी इतने भेद हैं यह) **अभिधीयते** कहा जाता है। **विषमायाम् ऊर्ध्वपङ्क्तौ स्थितैः** विषम खड़ी पंक्तियों में स्थित **अङ्कैः** अंकों के द्वारा **अधः क्रमात्** नीचे के क्रम से **एकद्रुत-आद्याः** एक द्रुत आदि **त्रि-आदि-विषमसंख्याः द्रुताः** तीन आदि विषम संख्या वाले द्रुत (और) **सर्वद्रुत-अन्ताः भिदाः** सारे द्रुतों से अन्त होने वाले भेद **मीयन्ते** मापे जाते हैं (अर्थात् संख्या जानी जाती है)। **पुनः** और **समपङ्क्तिस्थितैः** (खड़ी) सम(संख्यक) पंक्तियों में स्थित (अंकों) के द्वारा **द्रुतहीन-आदयः** द्रुतहीन आदि, **द्वि-आदि समसंख्या द्रुताः** दो आदि सम संख्या वाले द्रुत (और) **सर्वद्रुत-अन्ताः भिदाः** सारे द्रुतों से अन्त होने वाले भेद **ज्ञायन्ते** जाने जाते हैं। **अयं** यह **द्रुतमेरुः मतः** द्रुतमेरु माना गया (है)। **ऊर्ध्वपङ्क्तिस्थसर्व-अङ्कयोगात्** खड़ी पंक्तियों में स्थित सारे अंकों के जोड़ से **संख्या अपि** संख्या (प्रत्यय के अंक) भी **गम्यते** जानी जाती है।

(सर०) एक के ऊपर दूसरी के क्रम से आड़ी पंक्तियाँ बनाने पर उनमें स्वभावतः यानी अपने आप खड़ी पंक्तियाँ भी बन जाती हैं। उनमें से सम संख्या वाली यानी दूसरी, चौथी, छठी आदि पंक्तियों के ख़ानों में अंक भरने के लिये उस पंक्ति के अन्तिम ख़ाने के अंक के बजाय उससे नीचे के ख़ाने का अंक लिया जाता है। इन खड़ी पंक्तियों के अंकों से किसी प्रस्तार के अन्तर्गत द्रुत-आधारित जितने भेद बनते हैं उनका बोध होता है। विषम यानी तीसरी, पाँचवीं आदि खड़ी पंक्तियों के कोष्ठों में नीचे से शुरू करके क्रम से १ द्रुत, ३ द्रुत आदि और सारे द्रुत वाले भेदों की संख्या मालूम होती है। सम खड़ी पंक्तियों के कोष्ठों से नीचे से क्रम से द्रुतहीन, २ द्रुत, ४ द्रुत आदि द्रुतों की समसंख्या के और सारे द्रुत वाले प्रस्तारों का बोध होता है। खड़ी पंक्ति के सारे अंकों को जोड़ने से किसी या किन्हीं अवयवों के कुल प्रस्तारों की संख्या भी पता चलती है।

उदाहरण के लिये—मेरु में पहली आड़ी पंक्ति के ७ कोष्ठों के ऊपर दूसरी में ६, तीसरी में ४ और चौथी में २ कोष्ठ बने।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

लेकिन इन पंक्तियों के हर कोष्ठ के ऊपर-ऊपर के कोष्ठों से खड़ी पंक्तियाँ भी बन गईं जिनमें बाईं तरफ़ से शुरू करके नीचे से ऊपर क्रम से १, २, २, ३, ३, ४-४ कोष्ठों की खड़ी पंक्तियाँ बनीं। इनमें बाईं ओर से पहली, तीसरी, पाँचवीं, सातवीं विषम पंक्ति है और दूसरी, चौथी, छठी सम पंक्तियाँ हैं। विषम पंक्तियों में पहले की तरह अन्त्य, उपान्त्य, चौथे आदि के अंकों का जोड़ लिखा जाता है। लेकिन सम पंक्तियों में उसी के अन्तिम कोष्ठ के अंक के बजाय नीचे की पंक्ति का अन्तिम अंक लिया जाता है। तदनुसार चौथी खड़ी पंक्ति के दूसरे कोष्ठ में नीचे का अन्तिम २, प्रकृत चौथी पंक्ति का उपान्त्य १ जोड़कर ३ लिखा जायगा। पाँचवीं खड़ी पंक्ति के दूसरे कोष्ठ में अन्त्य, उपान्त्य का जोड़ (३+१=) ४ लिखें। छठी ऊर्ध्व पंक्ति के दूसरे कोष्ठ में नीचे का ५, छठी पंक्ति का उपान्त्य ३ और चौथा १ जोड़ कर (५+३+१=) ९ और इसी पंक्ति के तीसरे ऊर्ध्व कोष्ठ में अन्त्य के नीचे के और अपने उपान्त्य (४+१) का जोड़ ५ लिखा जायगा। सातवीं ऊर्ध्व पंक्ति के दूसरे कोष्ठ में अन्त्य, उपान्त्य, चौथे कोष्ठों का जोड़ (९+४+१=) १४ लिखें। सातवीं ऊर्ध्व पंक्ति के तीसरे कोष्ठ में अन्त्य, उपान्त्य (५+१) का जोड़ ६ लिखें। तदनुसार द्रुतमेरु कोष्ठक का यह रूप बना—

					१९	३३	विषम पंक्ति	समपंक्ति
			६	१०	१	१	सर्वद्रुत	सर्वद्रुत
	२	३	१	१	५	६	५ द्रुत	४ द्रुत
१	१	१	३	४	९	१४	३ द्रुत	२ द्रुत
१	१	२	२	५	४	१२	१ द्रुत	द्रुतहीन
०	।	०।	ऽ	०ऽ	ऽ	०ऽ		

मेरु के बाहर नीचे के अवयव उस-उस ऊर्ध्व पंक्ति में उस अवयव के प्रस्तारों के सूचक हैं। जैसे—छठी ऊर्ध्व पंक्ति के नीचे का ऽ उस पंक्ति में प्लुत प्रस्तारों को सूचित करता है। मेरु के बाहर पंक्ति के ऊपर लिखे गये अंक नीचे दिये गये अवयवों के कुल प्रस्तारों के सूचक हैं। जैसे—छठी ऊर्ध्व पंक्ति के ऊपर का अंक १९ उस पंक्ति के सारे कोष्ठों के अंकों ४+९+५+१ को जोड़ने से ऽ के कुल १९ प्रस्तारों को सूचित करता है।

द्रुतमेरु से निम्न ज्ञात होता है—

(क) विषमसंख्यक खड़ी पंक्तियों में नीचे से ऊपर की ओर के अंकों से विषमसंख्यायुक्त द्रुत प्रस्तारों की संख्या—

(१) पहले कोष्ठ से एक द्रुत वाले,

(२) दूसरे ,, ,, तीन ,, ,,

(३) तीसरे ,, ,, पाँच ,, ,,

(४) अन्तिम ,, ,, सर्वद्रुत ,,

उदाहरण के लिये ०ऽ के प्रस्तारों की सूचक ७वीं विषम ऊर्ध्वपंक्ति से—

(१) पहले कोष्ठ के अंक १२ से एक द्रुत वाले १२ प्रस्तार,

(२) दूसरे ,, ,, ,, १४ ,, तीन ,, ,, १४ प्रस्तार,

(३) तीसरे ,, ,, ,, ६ ,, पाँच ,, ,, ६ ,,

(४) चौथे ,, ,, ,, १ ,, सर्वद्रुत ,, १ ,,

(ख) समसंख्यक खड़ी पंक्तियों से समसंख्या वाले द्रुत प्रस्तारों की संख्या। उदाहरण के लिये ऽ सूचक छठी ऊर्ध्व पंक्ति से—

(१) पहले कोष्ठ के अंक ४ से द्रुतहीन ४ प्रस्तार,

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(२) दूसरे कोष्ठ के अंक ९ से दो द्रुत वाले ९ प्रस्तार,

(३) तीसरे " " " ५ " चार " " ५ ",

(४) चौथे " " " १ " सर्वद्रुत १ ",

सभी खड़ी पंक्तियों में ऊपर के अन्तिम कोष्ठक सर्वद्रुत प्रस्तार के सूचक हैं। किसी अवयव का सर्वद्रुत प्रस्तार एक ही होता है इसलिये सभी अन्तिम कोष्ठों में १ अंक ही है।

द्रुतमेरु और बाद के मेरुओं में सबसे नीचे की आड़ी पंक्ति में लिखे गये १, २, ३, ४ आदि अंक केवल मेरु के ख़ानों की संख्या के सूचक हैं। मेरुओं के अंकों से इनका संबन्ध नहीं है।

द्रुतमेरु समाप्त

(लघुमेरुः)

लघुमेरौ कोष्ठपङ्क्तीः प्राग्वन् न्यस्येत् तदादिमः ॥ ३४८ ॥

एकैककोष्ठ एकाङ्कयुक्तोऽधःपङ्क्तिकेषु तु।
शेषकोष्ठेष्वन्त्यतुर्यषष्ठयोगं निवेशयेत् ॥ ३४९ ॥

परासां शेषकोष्ठेषूपान्त्याधस्तनसंयुतम्।
त्रियोगमेवमादध्यादत्र च द्रुतमेरुवत् ॥ ३५० ॥

तदसत्त्वे प्रतिनिधेः कोष्ठाङ्कैरूर्ध्वपङ्क्तिगैः।
लघुहीनादुपक्रम्यैकाद्येकोत्तर वृद्धलाः ॥ ३५१ ॥

सर्वलान्ताः क्रमाज्ज्ञेयाः संख्या सर्वाङ्कसंगतेः।

इति लघुमेरुः

									१
							१	५	१५
					१	४	१०	२०	२९
			१	३	६	१०	१८	३३	६१
	१	२	३	४	७	१२	२१	३४	५४
१	१	१	२	३	५	७	१०	१४	२१
१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०

इति लघुमेरुकोष्ठकम्

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

७—लघुमेरु

३४८ ग-३५२ ख (अ०) लघुमेरौ लघु मेरु में **कोष्ठपङ्क्तीः** कोष्ठों की पंक्तियाँ **प्राक्-वत् न्यस्येत्** पहले की (द्रुतमेरु की) तरह रखनी चाहियें। **तत् आदिमः** उनमें से शुरू का **एक-एककोष्ठः** एक-एक कोष्ठ **एक-अङ्कयुक्तः** १ अंक से युक्त (रखना चाहिये)। **अधः पङ्क्तिकेषु तु** नीचे की पंक्ति के तो **शेषकोष्ठेषु** बचे हुए कोष्ठों में **अन्त्यतुर्यषष्ठयोगम्** अन्तिम, चौथे, छठे का जोड़ **निवेशयेत्** रखना चाहिये। **परासाम्** ऊपर की (पंक्तियों) में **शेषकोष्ठेषु** बचे हुए कोष्ठों में **उपान्त्य-अधः तनसंयुतम्** उपान्त्य के नीचे (वाले अंक) के साथ **एवं त्रियोगम्** इस प्रकार तीन का (अर्थात् उपान्त्य के नीचे वाले, चौथे और छठे का) जोड़ **आदध्यात्** ग्रहण करना चाहिये। **अत्र च** यहाँ (लघुमेरु में) भी **द्रुतमेरुवत्** द्रुतमेरु की तरह **प्रतिनिधेः सत्-असत्वे** प्रतिनिधि का होना (या) न होना (होता है)। **ऊर्ध्वपङ्क्तिगैः कोष्ठ-अङ्कैः** खड़ी पंक्तियों के कोष्ठों के द्वारा **क्रमात्** क्रम से **लघुहीनात् उपक्रम्य** (नीचे की पंक्ति में) लघुरहित से शुरू करके **एक-आदि-एक-उत्तरः वृद्ध-लाः** शुरू में एक (और) बाद में एक(-एक) बढ़े हुए लघु वाले **सर्व-ल-अन्ताः** सारे लघुओं से अन्त होने वाले **ज्ञेयाः** (प्रस्तार) जानने चाहियें। **सर्व-अङ्कसंगते:** (खड़ी पंक्तियों के) सारे अंकों को मिलाने पर **संख्या** 'संख्या' (भी सिद्ध होती है)।

(सर०) लघुमेरु से किसी अवयव के लघुरहित और लघुयुक्त प्रस्तारों की संख्या का ज्ञान होता है। इसमें भी आड़ी पंक्तियाँ द्रुतमेरु की तरह बनाई जाती हैं। सब पंक्तियों के बाईं तरफ़ के पहले कोष्ठ में १ अंक लिखा जाता है। लेकिन शेष अंक भरने की विधि कुछ अलग है। पहली पंक्ति के शेष कोष्ठों में अन्तिम, चौथे, छठे और चौथे, छठे के अभाव में तीसरे, पाँचवें का जोड़ किया जाता है। कल्लि० ने ध्यान दिलाया कि तु के द्वारा ग्रन्थकार ने दूसरी पंक्ति से नीचे वाली पंक्ति की यह विशेषता दिखाई है कि इसमें उपान्त्य नहीं लिया जाता। दूसरी पंक्ति में अन्त्य के स्थान पर उसके नीचे का और दूसरी पंक्ति में उपान्त्य न हो तो नीचे वाली पंक्ति के उपान्त्य का जोड़ किया जाता है। द्रुतमेरु की तरह अन्य पंक्तियों में प्रतिनिधि नहीं होता। इसके आधार पर ०ऽ̀ का लघुमेरु इस तरह बनेगा।

सबसे नीचे ७ कोष्ठों की, उससे ऊपर क्रम से ६, ४ और २ कोष्ठों की दूसरी, तीसरी, चौथी पंक्ति बना लें। सभी के पहले बायें कोष्ठ में १ लिख दें। फिर पहली पंक्ति के दूसरे कोष्ठ में अन्त्य १; तीसरे कोष्ठ में अन्त्य १; चौथे कोष्ठ में अन्त्य १ और तीसरे १ का जोड़ २; पाँचवें में अन्त्य २ और चौथे १ का जोड़ ३; छठे में अन्त्य ३, चौथे १ और पाँचवें १ का जोड़ ५ और सातवें में अन्त्य ५, चौथे १ और छठे १ का जोड़ ७ लिखा जायगा।

दूसरी पंक्ति के दूसरे कोष्ठ में अन्त्य १, उपान्त्य के नीचे का १ जोड़ कर २; तीसरे में अन्त्य २ और उपान्त्य के नीचे का १ जोड़कर ३; चौथे में अन्त्य ३, उपान्त्य के नीचे का १ जोड़ कर ४; पाँचवें में अन्त्य ४, उपान्त्य के नीचे का २ और चौथा १ जोड़ कर ७ और छठे कोष्ठ में अन्त्य ७, उपान्त्य के नीचे का ३ और चौथा २ जोड़कर १२ लिखें।

तीसरे पंक्ति के दूसरे कोष्ठ में अन्तिम १ और उपान्त्य के नीचे का २ जोड़ कर ३; तीसरे में अन्तिम ३ और उपान्त्य के नीचे का ३ जोड़ कर ६ और चौथे में अन्त्य ६, उपान्त्य के नीचे का ४ जोड़कर १० लिखें।

चौथी पंक्ति के दूसरे कोष्ठ में अन्त्य १ और उपान्त्य के नीचे का ३ जोड़ कर ४ लिखें।

तदनुसार लघुमेरु की यह रचना हुई—

					१९	३३	
			६	१०	१	४	सर्वलघु या ३ लघु वाले
	२	३	१	३	६	१०	२ लघु
१	१	२	३	४	७	१२	१ लघु
१	१	१	२	३	५	७	लघुरहित
०	।	०।	ऽ	०ऽ	ऽ̀	०ऽ̀	

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

लघुमेरु से निम्न ज्ञात होता है—

०ऽ की ७वीं विषम पंक्ति के पहले, दूसरे, तीसरे, चौथे कोष्ठ के अंक ७, १२, १० और ४ क्रम से लघुरहित, १ लघु, २ लघु, और ३ लघु वाले भेदों का ज्ञान कराते हैं। कल्लि० ने इस पंक्ति के अन्तिम कोष्ठ के ४ को सर्वलघु भेद का सूचक कहा है। लेकिन यह संख्या ३ लघु वाले भेद को सूचित करती है। ०ऽ में ७ द्रुत होने से सर्वलघु भेद संभव नहीं है।

ऽ की छठी सम खड़ी पंक्ति के पहले कोष्ठ की संख्या ५ से ऽ के प्रस्तारों में ५ लघुहीन, दूसरे कोष्ठ के अंक ७ से १ लघु वाले ७ प्रस्तार, तीसरे कोष्ठ के अंक ६ से २ लघु वाले ६ प्रस्तार और चौथे कोष्ठ के अंक १ से सर्वलघु वाला १ प्रस्तार सूचित होता हैं। प्रस्तार प्रत्यय में दिये गये ऽ भेदों के द्वारा इसका निश्चय किया जा सकता है।

लघुमेरु समाप्त

(गुरुमेरुः)

गुरुमेरावधः पङ्क्तेः परा कोष्ठत्रयोनिता ॥ ३५२ ॥

चतुश्चतुष्कोष्ठहीनाः स्वस्वपूर्वावलेः पराः ।
एकाङ्कवन्त आद्याद्यकोष्ठाः प्रथमपङ्क्तिगः ॥ ३५३ ॥

द्वितीयो द्व्यङ्कवानन्त्योपान्त्यषष्ठाङ्कयोगिनः।
शेषकोष्ठाः परासां तु द्वितीयादिषु लिख्यते ॥ ३५४ ॥

योगोऽन्त्योपान्त्यषष्ठानामधस्तुर्याङ्कसंयुतः ।
लघुस्थाने गुरुर्ज्ञेयः शेषं तु लघुमेरुवत् ॥ ३५५ ॥

इति गुरुमेरुः

							१	३	९
			१	२	५	१०	२०	३८	७३
१	२	३	५	८	१४	२३	३९	६५	१०९
१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०

इति गुरुमेरुकोष्ठकम्

८—गुरुमेरु

३५२ ग-३५५. (अ०) गुरुमेरौ गुरुमेरु में अधः पङ्क्तेः पराः नीचे की पंक्ति के बाद वाली (दूसरी पंक्ति) कोष्ठत्रय-ऊनिता तीन कोष्ठ कम की हुई (बनानी चाहिये)। पराः तीसरी आदि (पंक्तियाँ) स्वस्वपूर्व-अवलेः अपने-अपने से पहले की पंक्ति से चतुः चतुः कोष्ठहीनाः चार-चार कोष्ठों से कम (अर्थात् छोड़ कर बनती हैं)। आद्य-आद्यकोष्ठाः (सभी पंक्तियों के) पहले-पहले कोष्ठ एक-अङ्कवन्तः १ अंक वाले (होते हैं)। प्रथमपङ्क्तिगः द्वितीयः पहली पंक्ति का दूसरा (कोष्ठ) द्वि-अङ्कवान् २ अंक वाला (और) शेषकोष्ठाः बचे हुए कोष्ठ अन्त्य-उपान्त्यषष्ठ-अङ्कयोगिनः अन्तिम, उपान्त्य और छठे (कोष्ठों के) अंकों के जोड़ वाले (होते हैं)। परासां तु अन्य (तीसरी आदि पंक्तियों) के तो द्वितीय-आदिषु दूसरे आदि (कोष्ठों) में अन्त्य-उपान्त्यषष्ठानाम् अन्तिम, उपान्त्य, छठे (कोष्ठों) का अधः तुर्य-अङ्कसंयुतः योगः चौथे के नीचे के अंक सहित जोड़

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

लिख्यते लिखा जाता है। लघुस्थाने (लघुमेरु के) लघु के स्थान पर गुरुः ज्ञेयः (इसमें) गुरु जानना चाहिये। शेष तु अन्य सब तो लघुमेरुवत् लघुमेरु की तरह (समझना चाहिये)।

(सर०) गुरुमेरु से किसी अवयव के कुल प्रस्तारों में गुरु वाले भेदों की संख्या ज्ञात होती है। दूसरे मेरुओं की तरह ही इसमें भी, इष्टताल में जितने द्रुत हों उतने कोष्ठों की, पहली पंक्ति बनाई जाती है। दूसरी पंक्ति में पहली पंक्ति से ३ कम और तीसरी आदि में चार-चार कोष्ठ कम करके पंक्तियाँ बनती हैं। हर पंक्ति के पहले कोष्ठ में १ लिखा जाता है। फिर पहली पंक्ति के दूसरे कोष्ठ में २ लिखने के बाद अगले कोष्ठों में अन्त्य, उपान्त्य और छठे (उसके अभाव में पाँचवें) का जोड़ लिखा जाता है। दूसरी आदि में इन तीनों के साथ चौथे कोष्ठ के नीचे वाले कोष्ठ का अंक भी जोड़ा जाता है। इस तरह बने गुरुमेरु से गुरु वाले प्रस्तारों की संख्या मालूम होती है। सिंह० ने स्पष्ट किया कि शेष सब यानी नीचे की पंक्ति में प्रतिनिधि का होना, अन्य पंक्तियों में प्रतिनिधि न होना, ऊर्ध्व पंक्ति के नीचे के कोष्ठ से गुरुहीन, दूसरे से एक गुरु वाले, तीसरे से दो गुरु वाले, अन्तिम कोष्ठ से सर्वगुरु इत्यादि और खड़ी पंक्ति के सारे अंकों के जोड़ से संख्या का बोध आदि लघुमेरु की तरह होता है।

उदाहरण के लिये ०ऽ प्रस्तारों का गुरुमेरु इस तरह बनेगा। ७ ख़ानों की पहली पंक्ति और ४ ख़ानों की दूसरी पंक्ति बनाकर दोनों के पहले ख़ानों में १ और पहली पंक्ति के दूसरे ख़ाने में २ लिख दें। तीसरे कोष्ठ में अन्त्य २ और उपान्त्य १ का जोड़ ३; चौथे में अन्त्य ३ और उपान्त्य २ का जोड़ ५; पाँचवें में अन्त्य ५ व उपान्त्य ३ का जोड़ ८; छठे में अन्त्य-उपान्त्य और पाँचवें क्रम से ८, ५, १ का जोड़ १४ और सातवें ख़ाने में अन्त्य, उपान्त्य, छठे यानी १४, ८, १ का जोड़ २३ लिखें।

दूसरी पंक्ति के दूसरे ख़ाने में अन्त्य १ और नीचे के चौथे अंक १ का जोड़ २; तीसरे में अन्त्य २, उपान्त्य १ और नीचे के चौथे २ का जोड़ ५; चौथे में अन्त्य ५, उपान्त्य ५, नीचे के चौथे ३ का जोड़ १० लिखें। अब गुरुमेरु यों बना—

			६	१०	१९	३३	
१	२	३	१	२	५	१०	१ गुरुवाले
१	२	३	५	८	१४	२३	गुरुहीन
०	।	०।	ऽ	०ऽ	ऽ	०ऽ	

गुरुमेरु से यह ज्ञात हुआ— ऽ सूचक छठी खड़ी पंक्ति के पहले कोष्ठ के अंक १४ से ऽ के १९ प्रस्तारों में १४ गुरुहीन भेद और दूसरे कोष्ठ के अंक ५ से १ गुरु वाले ५ भेद।

गुरुमेरु में ऊपर की ओर पंक्तियाँ बनाने पर २ गुरु आदि भेद या सर्वगुरु भेद ज्ञात होते हैं।

गुरुमेरु समाप्त

(प्लुतमेरु :)

प्लुतमेरावधःपङ्क्तेः पञ्चकोष्ठोनिता परा।
तत्पराः स्वस्वपूर्वातः षट्षट्कोष्ठोनिता मताः ॥ ३५६ ॥

अधःपङ्क्तौ तु षष्ठाङ्कस्थाने तुर्यं नियोजयेत्।
त्रियोगोऽयमधः षष्ठयुक्तः स्यात् परपङ्क्तिषु ॥ ३५७ ॥

प्लुतो ज्ञेयो गुरुस्थाने शेषं तु गुरुमेरुवत्।

इति प्लुतमेरुः

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

					१	२	५	१०	२२	४४
१	२	३	६	१०	१८	३१	५५	९६	१६९	२९६

इति प्लुतमेरुकोष्ठकम्

९—प्लुतमेरु

३५६-३५८ ख. (अ०) **प्लुतमेरौ** प्लुतमेरु में **अधःपङ्क्तेः** नीचे की पंक्ति से **पञ्चकोष्ठ-ऊनिता परा** पाँच कोष्ठ कम की हुई दूसरी (पंक्ति और) **तत् पराः** उसके बाद वाली **स्वस्वपूर्वातः** अपनी-अपनी पिछली पंक्ति से **षट्षट्कोष्ठ-ऊनिताः मताः** छ-छ कोष्ठ कम की हुई मानी गई (हैं)। **अधःपङ्क्तौ तु** नीचे की पंक्ति में तो **षष्ठ-अङ्कस्थाने** छठे अंक की जगह **तुर्यं** चौथा **नियोजयेत्** नियोजित करना (लगाना) चाहिये। **परपङ्क्तिषु** बाद वाली पंक्तियों में **अधः षष्ठयुक्तः** नीचे के छठे के साथ **अयं** यह **त्रियोगः स्यात्** तीन का मेल होता है। **गुरुस्थाने** (गुरुमेरु के) गुरु की जगह **प्लुतः ज्ञेयः** प्लुत जानना चाहिये। **शेषं तु** अन्य सब तो **गुरुमेरुवत्** गुरुमेरु की तरह (समझना चाहिये)।

(सर०) प्लुतमेरु से किसी अवयव के कुल प्रस्तारों में प्लुतयुक्त भेदों की संख्या का ज्ञान होता है। मेरु बनाने की विधि यह है। नीचे की पंक्ति में पहले की तरह इष्टताल के कुल द्रुतों के जितने कोष्ठ बनायें। दूसरी पंक्ति में ५ कोष्ठ कम करके और अगली पंक्तियों में ६-६ कम करके कोष्ठ बना लें। अंक भरने के लिये गुरुमेरु की तरह पहले-पहले कोष्ठों में १ लिख दें। फिर नीचे की पंक्ति में पहले की तरह अंकों का जोड़ भरा जाता है। लेकिन छठे की जगह चौथे का यानी अन्त्य, उपान्त्य और चौथे (उसके अभाव में तीसरे) का जोड़ किया जाता है। दूसरी पंक्ति में अन्त्य, उपान्त्य और नीचे के छठे का जोड़ किया जाता है। आवश्यकतानुसार पंक्तियाँ बढ़ाई जा सकती हैं।

उदाहरण के लिये ०ऽे का प्लुतमेरु इस तरह बनेगा। पहली पंक्ति में ७ और दूसरी में बाईं तरफ़ से ५ छोड़ कर २ कोष्ठ बनायें। दोनों के पहले-पहले कोष्ठों में १ लिख दें। फिर नीचे की पंक्ति में २ लिखें। तीसरे कोष्ठ में अन्त्य-उपान्त्य २ और १ का जोड़ ३; चौथे में अन्त्य-उपान्त्य-तीसरे ३, २ और १ का जोड़ ६; पाँचवें में अन्त्य-उपान्त्य-चौथे ६, ३, १ का जोड़ १०; छठे में उसी तरह १०, ६, २ का जोड़ १८ और सातवें कोष्ठ में भी उसी तरह १८, १०, ३ का जोड़ ३१ लिख दें।

दूसरी पंक्ति के दूसरे कोष्ठ में अन्त्य १ और नीचे के छठे अंक १ का जोड़ २ लिख दें। प्लुतमेरु यह बना—

					१९	३३	
१	२	३	६	१०	१	२	१ प्लुत वाले
१	२	३	६	१०	१८	३१	प्लुतहीन
०	।	०।	ऽ	०ऽ	ऽे	०ऽे	

प्लुतमेरु की नीचे की पंक्ति के कोष्ठों से प्लुतहीन और उससे ऊपर वाले कोष्ठों से १ प्लुत वाले भेदों की संख्या ज्ञात होती है। जैसे, ०ऽे की सूचक खड़ी पंक्ति में नीचे के कोष्ठ का अंक ३१ ०ऽे के प्लुतहीन प्रस्तारों की संख्या को सूचित करता है और दूसरे कोष्ठ का अंक २ एक प्लुत या सर्वप्लुत वाले २ प्रस्तारों को।

प्लुतमेरु समाप्त

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(संयोगमेरुः)

संयोगमेरावूर्ध्वाः स्युश्चतस्त्रः कोष्ठपङ्क्तयः ॥ ३५८ ॥

इष्टतालद्रुतमितैः कोष्ठैर्युक्तास्ततः परे।
द्वे पङ्क्ती स्वस्वपूर्वातो द्विद्विकोष्ठोनिते ततः ॥ ३५९ ॥

द्वे षष्ठ्या एककोष्ठोने ततस्तिस्त्रोऽष्टमावलेः ।
एककोष्ठोनिताः पश्चाद् द्विद्विकोष्ठोनिते परे ॥ ३६० ॥

पङ्क्तिभ्यां स्वस्वपूर्वाभ्यां तथैकैकोनिते परे।

१०—संयोगमेरु

३५८ ग-३६१ ख. (अ०) संयोगमेरौ संयोगमेरु में इष्टतालद्रुतमितैः इष्ट ताल के (कुल) द्रुतों से नापे गये (अर्थात् द्रुतों जितने) कोष्ठैः युक्ताः कोष्ठों से युक्त चतस्त्रः कोष्ठपङ्क्तयः स्युः कोष्ठों की (खड़ी) चार पंक्तियाँ होती हैं। ततः परे उसके बाद की द्वे पङ्क्ती दो पंक्तियाँ स्वस्वपूर्वातः अपने-अपने से पहले वाली (पंक्ति) से द्विद्विकोष्ठ-ऊनिते दो-दो कोष्ठ कम की हुई, ततः द्वे उसके बाद दो (पंक्तियाँ) षष्ठ्या छठी (पंक्ति) से एककोष्ठ-ऊने एक कोष्ठ कम वाली, ततः तिस्रः उसके बाद तीन अष्टम-अवलेः आठवीं पंक्ति से एककोष्ठ-ऊनिताः एक कोष्ठ कम की हुई, पश्चात् इसके बाद परे दो (पंक्तियाँ) स्वस्वपूर्वाभ्यां पङ्क्तिभ्याम् अपने-अपने से पहले वाली पंक्तियों से द्विकोष्ठ-ऊनिते दो(-दो) कोष्ठ कम की हुई तथा उसी तरह परे दो (पंक्तियाँ) एक-एक-ऊनिते एक-एक कम की हुई (होती हैं)।

(सर०) संयोगमेरु बनाने की विधि इस प्रकार है। इष्टताल में कुल जितने द्रुत हों उतने कोष्ठों की ऊपर से नीचे की ओर खड़ी पंक्तियाँ बनाई जाती हैं। ग्रन्थकार ने ०ऽऽ के संयोगमेरु की पंक्तियाँ बताई हैं। ०ऽऽ में कुल १३ द्रुत होते हैं इसलिये १३-१३ कोष्ठ वाली चार खड़ी पंक्तियाँ ऊपर से नीचे की ओर बायें से शुरू करके बनेंगी। उसके बाद यानी उनके दाहिनी तरफ़ की ५ वीं और छठी दो पंक्तियाँ अपने से पहले-पहले वाली पंक्तियों से २-२ कोष्ठ कम करके बनेंगी यानी ५वीं में ११ और छठी में ९ कोष्ठ बनेंगे। उसके बाद ७वीं, ८वीं दो में छठी पंक्ति से १ कम करके ८-८ कोष्ठ बनेंगे। फिर तीन— ९वीं, १०वीं, ११वीं में ८वीं पंक्ति से एक कम यानी ७-७ कोष्ठ बनेंगे। इसके बाद दो १२वीं, १३वीं पंक्तियों में पिछली-पिछली पंक्ति से २-२ कोष्ठ कम करके १२वीं में ५ और तेरहवीं में ३ कोष्ठ बनेंगे। १४वीं और १५वीं पंक्तियों में एक-एक कम करके १४वीं में २ और १५वीं में १ कोष्ठ—इस क्रम से संयोगमेक की १५ पंक्तिग्याँ बनीं। पंक्तियों में कोष्ठों की संख्या ऊपर की ओर कम की जाती हैं।

आद्यासु चतसृष्वासां क्रमेण सकलद्रुताः ॥ ३६१ ॥

समस्तलघवः सर्वगुरवः सकलप्लुताः।

३६१ ग-३६२ख. (अ०) आसाम् आद्यासु चतसृषु इन (पंक्तियों) में से शुरू की चार (पंक्तियों) में क्रमेण क्रम से सकलद्रुताः सारे द्रुतों वाले, समस्त-लघवः सारे लघुओं वाले, सर्वगुरवः सारे गुरुओं वाले सकलप्लुताः (और) सारे प्लुतों वाले (भेदों का ज्ञान होता है)।

(सर०) बाईं ओर से पहली पंक्ति से सर्वद्रुत, दूसरी से सर्वलघु, तीसरी से सर्वगुरु और चौथी से सर्वप्लुत भेदों की संख्या का बोध होता है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

कल्लि० ने यह स्पष्ट किया कि द्रुत आदि पंक्तियों के भेदों का आसानी से बोध हो इसके लिये इन खड़ी १५ पंक्तियों के ऊपर बाईं ओर की पहली पंक्ति से शुरू करके क्रम से ०, ।, ऽ, ऽ̐, ०।, ०ऽ, ०ऽ̐, ।ऽ, ।ऽ̐, ऽऽ̐, ०।ऽ, ०।ऽ̐, ०ऽऽ̐, ।ऽऽ̐, ०।ऽऽ̐, लिखना चाहिये। इसी तरह १३ आड़ी पंक्तियों से तालभेदों के ज्ञान के लिये उनके बाईं तरफ़ ऊपर से शुरू करके क्रम से ०, ।, ०।, ऽ, ०ऽ, ऽ̐, ०ऽ̐, ।ऽ̐, ०।ऽ̐, ऽऽ̐, ०ऽऽ̐, ऽ̐ऽ̐, ०ऽ̐ऽ̐ लिखना चाहिये।

एकाङ्कयुक्तनिःशेषकोष्ठाद्या स्यात् परा पुनः ॥ ३६२॥

खयुक्तैर्विषमैः कोष्ठैः समैस्त्वेकाङ्कसंयुतैः।
कर्तव्या गुरुपङ्क्तेस्तु त्रयः कोष्ठा नभोऽन्विताः ॥ ३६३॥

तुर्य एकाङ्कवानेवं चतुष्कोष्ठाः परा अपि।
प्लुतपङ्क्तौ सशून्याः स्युः पञ्च षष्ठस्तु रूपवान् ॥ ३६४॥

षट्कोष्ठास्तद्वदन्ये स्युः षट्सु पङ्क्तिष्वनन्तरम्।
द्वियोगजाः क्रमाद्भेदा दलघू दगुरु दपौ ॥ ३६५॥

लगौ लपौ गपौ चेति तदङ्कप्रक्रिया त्वियम्।

३६२ ग-३६६ ख. (अ०) आद्या पहली (पंक्ति) एक-अङ्कयुक्तनिःशेषकोष्ठा १ अंक से युक्त, जिसमें शेष न हों अर्थात् सारे कोष्ठों वाली स्यात् होती है। पुनः परा फिर दूसरी ख-युक्तैः विषमैः कोष्ठैः शून्य (०) से युक्त विषम कोष्ठों के द्वारा (और) एक-अङ्कसंयुतैः १ अंक से युक्त समैः तु सम (कोष्ठों) से कर्तव्या करनी चाहिये। गुरुपङ्क्तेः तु गुरु पंक्ति के तो त्रयः कोष्ठाः तीन कोष्ठ नभः अन्विताः कर्तव्याः आकाश (अर्थात् ०) से अन्वित करने चाहिये। तुर्य चौथा (कोष्ठ) एक-अङ्कवान् १ अंक वाला (करना चाहिये)। पराः चतुः कोष्ठाः अपि अन्य चार(-चार) कोष्ठ भी एवम् इसी तरह (करने चाहियें)। प्लुतपङ्क्तौ प्लुत पंक्ति में पञ्च सशून्याः पाँच (कोष्ठ) शून्य वाले (और) षष्ठाः तु छठा तो रूपवान् १ (अंक) वाला (इस प्रकार) स्युः होते हैं। अन्ये षट् कोष्ठाः अन्य ६ कोष्ठ (भी) तत्-वत् उसी तरह स्युः होते हैं। अनन्तरम् इसके बाद षट्सु पङ्क्तिषु ६ पंक्तियों में क्रमात् क्रम से द-लघू द्रुत और लघु (०।), द-गुरू द्रुत और गुरु (०ऽ), द-पौ द्रुत और प्लुत (०ऽ̐), ल-गौ लघु और गुरु (।ऽ), ल-पौ लघु और प्लुत (।ऽ̐), ग-पौ च इति तथा गुरु और प्लुत (ऽऽ̐), इस प्रकार द्वियोगजाः भेदाः दो(-दो अवयवों) के मेल से उत्पन्न भेद (होते हैं)। तत् अङ्कप्रक्रिया तु उनकी अंक (लिखने की) प्रक्रिया (विधि) तो इयं यह (है)।

(सर०) पंक्तियों के कोष्ठों में अंक लिखने की विधि इन श्लोकों में बताई गई है। पहली पंक्ति के सारे कोष्ठों में १; दूसरी पंक्ति के १, ३, ५ आदि विषमसंख्यक कोष्ठों में ० और २, ४, ६ आदि समसंख्यक कोष्ठों में १; तीसरी पंक्ति में ३ कोष्ठों में ० और चौथे में १ के क्रम से शेष कोष्ठों में भी अंक लिखे जायँगे। चौथी पंक्ति के शुरू के ५ कोष्ठों में ० और छठे में १ और इसी क्रम से शेष कोष्ठों में भी अंक लिखे जायँगे।

इन चार पंक्तियों के बाद ६ पंक्तियाँ ०।, ०ऽ, ०ऽ̐, ।ऽ, ।ऽ̐, ऽऽ̐—इन दो-दो अवयवों के भेदों की सूचक हैं। इनमें अंक भरने की विधि अगले श्लोकों में दी गई है।

अत्रोपरिष्टादारभ्य स्यादधोऽधोऽङ्कलेखनम्॥ ३६६॥

अन्त्यपूर्वद्वितीयाङ्कतुर्यषष्ठास्तथा क्रमात्।
योज्या दलगपेषु स्युस्तेषु तद्योगजा भिदाः॥ ३६७॥

पङ्क्तौ तदङ्कयोगाङ्क तत्कोष्ठे संभवाँल्लिखेत्।
लेख्यपङ्क्त्युपरिश्रेणी या तिरश्ची तदाश्रिताः॥ ३६८॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अङ्का दलगपानां स्युराद्यपङ्क्तिचतुष्टये।
तेषु प्रस्तुतभेदस्थद्रुतादिव्यक्तिसंश्रितान् ॥ ३६९ ॥

अङ्कान् गृह्णीत तेऽप्यन्त्यद्वितीयाद्या द्रुतादिषु।
प्रस्तुतेषु विपर्यस्ताः स्युरङ्कासंभवे तु खम् ॥ ३७० ॥

३६६ ग-३७०. (अ०) अत्र यहाँ (इन पंक्तियों में) उपरिष्टात् आरभ्य ऊपर से शुरू करके अधः अधः नीचे-नीचे (की ओर) अङ्कलेखनम् अंकों का लेखन स्यात् (होता है)। तेषु द-ल-ग-पेषु उन द्रुत, लघु, गुरु, प्लुत (पंक्तियों के संबद्ध कोष्ठों के अंकों) में अन्त्य-पूर्वद्वितीय-अङ्क-तुर्यषष्ठाः (पाँचवीं आदि पंक्तियों के) अन्त्य (के साथ) पिछले दूसरे (उपान्त्य) अंक, चौथे और छठे (आदि) क्रमात् (इस) क्रम से (अंकों का जोड़) योज्याः (यथासंभव) योजित करने चाहियें। तथा उस विधि से तत्-योगजाः भिदाः उस(-उस अर्थात् अन्त्य, उपान्त्य आदि) के योग से उत्पन्न भेद (होते हैं)। पङ्क्तौ (पाँचवीं आदि) पंक्ति में तत्-अङ्कयोग-अङ्कम् उस(-उस अर्थात्, दूसरे चौथे आदि) अंक के जोड़ वाला (जोड़ से प्राप्त) अंक तत्-कोष्ठे उस(-उस पंक्ति) के कोष्ठ में संभवान् यथासंभव लिखेत् लिखना चाहिये। लेख्यपङ्क्ति-उपरि लेख्य (जिस पंक्ति में लिखा जा रहा है उस) पंक्ति से ऊपर या तिरश्ची श्रेणी जो आड़ी पंक्ति (हो) तत्-आश्रिताः उसके आश्रित आद्यपङक्तिचतुष्टये (द्रुत, लघु आदि की सूचक) शुरू की चार पंक्तियों में द-ल-ग-पानां द्रुत, लघु, गुरु, प्लुत (सूचक) अङ्काः स्युः (जो) अंक होते हैं तेषु उनमें (से) प्रस्तुतभेदस्थ प्रकृत भेद में स्थित द्रुत-आदिव्यक्तिसंश्रितान् द्रुत आदि (अवयवों) की अभिव्यक्ति (अर्थात् जिन पंक्तियों के कोष्ठों में प्रकृत पंक्ति के द्रुत आदि अवयव हों उन) के संश्रित अङ्कान् अंकों को गृह्णीत ग्रहण करें। ते अपि वे (आद्य चार पंक्तियों के द्रुत आदि के बोधक अंक) भी द्रुत-आदिषु प्रस्तुतेषु द्रुत आदि (दो अवयवों के योग वाले अंक) प्रस्तुत होने पर अन्त्यद्वितीय-आद्याः अन्त्य, द्वितीय आदि विपर्यस्ताः स्युः विपर्यास हुए (अर्थात् एक पंक्ति छोड़कर दूसरी पंक्ति के कोष्ठों से) होते हैं। अङ्क-असंभवे तु (ऊपर वाली पंक्ति के या विपर्यस्त) अंक संभव न होने पर (अर्थात् प्राप्त न हों) तो खं शून्य (०) लिखें।

(सर०) ५वीं से १०वीं पंक्तियों में अंक ऊपर से लिखना शुरू करके नीचे-नीचे के कोष्ठों में लिखे जाते हैं। सामान्य नियम यह है कि इनमें अन्त्य, चौथे और छठे अंकों का योग किया जाता है। द्रुत, लघु, गुरु, प्लुत में से जिन-जिन अवयवों के मेल से ये पंक्तियाँ बनती हैं उन अवयवों की सूचक शुरू की चार (पहली से चौथी) पंक्तियों में से उन दो अवयवों के कोष्ठों के अंकों को भी साथ में जोड़ा जाता है। लेकिन अन्त्य, उपान्त्य आदि सभी का सभी पंक्तियों में योग नहीं होता बल्कि ५वीं पंक्ति में अन्त्य-उपान्त्य का, छठी में अन्त्य और चौथे का, ७वीं में अन्त्य और छठे का, ८वीं में उपान्त्य और चौथे के साथ व्यवहित आड़ी पंक्ति के लघु-गुरु कोष्ठों का, ९वीं में उपान्त्य, छठे और व्यवहित आड़ी पंक्ति के लघु-प्लुत कोष्ठों का और १०वीं में चौथे, छठे के साथ व्यवहित और विपर्यस्त आड़ी पंक्तियों के लघु-प्लुत अंकों का जोड़ किया जाता है। अन्त्य, उपान्त्य आदि का यथासंभव ग्रहण इसलिये कहा कि जहाँ ये प्राप्त हों वहीं इनका ग्रहण संभव है।

इस विधि से इन पंक्तियों में ये अंक लिखे जायँगे।

पाँचवीं द्रुत-लघु पंक्ति—अन्त्य, उपान्त्य और ऊपर की आड़ी पंक्ति के द्रुत-लघु कोष्ठों के अंक। जहाँ-जहाँ अंक का अभाव है वहाँ सर्वत्र—यह चिन्ह रखा गया है।

पहले में—	– + – + १ + १	=	२
दूसरे में—	२ + – + १ + ०	=	३
तीसरे में—	३ + २ + १ + १	=	७
चौथे में—	७ + ३ + १ + ०	=	११

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

पाँचवें में—	११ + ७ + १ + १	=	२०
छठे में—	२० + ११ + १ + ०	=	३२
सातवें में—	३२ + २० + १ + १	=	५४
आठवें में—	५४ + ३२ + १ + ०	=	८७
नवें में—	८७ + ५४ + १ + १	=	१४३
दसवें में—	१४३ + ८७ + १ + ०	=	२३१
ग्यारहवें में—	२३१ + १४३ + १ + १	=	३७६

छठीं द्रुत-गुरु पंक्ति—अन्त्य, चौथे और ऊपर की आड़ी पंक्ति के द्रुत-गुरु कोष्ठों का जोड़। तदनुसार—

पहले में—	– + – + १ + १	=	२
दूसरे में—	२ + – + १ + ०	=	३
तीसरे में—	३ + – + १ + ०	=	४
चौथे में—	४ + – + १ + ०	=	५
पाँचवें में—	५ + २ (ऊपर के चौथे कोष्ठ का अंक) + १ + १ = ९		
छठे में—	९ + ३ + १ + ०	=	१३
सातवें में—	१३ + ४ + १ + ०	=	१८
आठवें में—	१८ + ५ + १ + ०	=	२४
नवें में—	२४ + ९ + १ + १	=	३५

७वीं द्रुत-प्लुत पंक्ति—अन्त्य, छठे और ऊपर के द्रुत-प्लुत कोष्ठों का जोड़। इस पंक्ति से ऊपर वाली पंक्ति में द्रुत अंक प्राप्त है लेकिन प्लुत अंक ० है इसलिये प्लुत का योग संभव नहीं है। ग्रन्थकार ने कहा है कि जहाँ अंक प्राप्त न हो वहाँ शून्य लिखें इसलिये यहाँ पहले कोष्ठ में ० लिखा जायगा। शेष कोष्ठों में—

दूसरे में—	० + – + १ + १	=	२
तीसरे में—	२ + – + १ + ०	=	३
चौथे में—	३ + – + १ + ०	=	४
पाँचवें में—	४ + – + १ + ०	=	५
छठे में—	५ + – + १ + ०	=	६
सातवें में—	६ + ० (ऊपर के छठे कोष्ठ का अंक) + १ + ० = ७		
आठवें में—	७ + २ („ „ „ „ „ „) + १ + १ = ११		

८वीं लघु-गुरु पंक्ति—उपान्त्य, चौथे और व्यवहित आड़ी पंक्ति के लघु-गुरु अंकों का जोड़। तदनुसार—

पहले में—	– + – + १ + १	=	२

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

दूसरे में—	– + – + ० + ०	=	०
तीसरे में—	२ + – + १ + ०	=	३
चौथे में—	० + – + ० + ०	=	०
पाँचवें में—	३ + २ + १ + १	=	७
छठे में—	० + ० + ० + ०	=	०
सातवें में—	७ + ३ + १ + ०	=	११
आठवें में—	० + ० + ० + ०	=	०

नवीं लघु-प्लुत पंक्ति—उपान्त्य, छठे और व्यवहित पंक्ति के लघु-प्लुत कोष्ठों के अंक। तदनुसार—

पहले में—	– + – + ० + ०	=	०
दूसरे में—	– + – + १ + १	=	२
तीसरे में—	० + – + ० + ०	=	०
चौथे में—	२ + – + १ + ०	=	३
पाँचवें में—	० + – + ० + ०	=	०
छठे में—	३ + – + १ + ०	=	४
सातवें में—	० + ० + ० + ०	=	०

१०वीं गुरु-प्लुत पंक्ति—चौथे, छठे और व्यवहित व विपर्यस्त आड़ी पंक्ति के गुरु-प्लुत अंकों का जोड़। तदनुसार—

पहले में— – + – + ० + ० = ०

दूसरे में—व्यवहित पंक्ति में प्लुत प्राप्त है लेकिन अन्य कोई अंक प्राप्त न होने से प्लुतयोग संभव नहीं इसलिये ० लिखा जायगा।

तीसरे में— – + – + ० + ० = ०

कल्लि० के अनुसार पहले तीन कोष्ठों में तालभेद संभव नहीं है इसलिये उनमें शून्य लिखना चाहिये।

चौथे में—कल्लि० के अनुसार ऊपर की विपर्यस्त पंक्तियों के गुरु-प्लुत अंक लेकर उनके जोड़ १ + १ = २ को लिखना चाहिये। चौथे कोष्ठ से ऊपर व्यवहित पंक्ति में सिर्फ़ गुरु अंक १ है और उसके ऊपर की व्यवहित पंक्ति में प्लुत अंक १ है। इन्हें जोड़ने से २ प्राप्त होता है जो चौथे कोष्ठ में लिखा जायगा।

पाँचवें, छठे, सातवें कोष्ठों में भी पूर्ववत् ० लिखें।

यहाँ तक द्वियोगजा ६ पंक्तियों की अंक रचना हुई। इसके बाद ४ पंक्तियाँ यानी ११वीं से १४वीं त्रियोगजा हैं क्योंकि उनमें तीन-तीन अवयवों का मेल है और उनके बाद ४ अवयव वाली एक पंक्ति है। उनकी अंकरचना की विधि अगले श्लोकों में दी गई है।

त्रियोगजाश्च ये भेदाश्चतुर्योगभवश्च यः।
तत्पङ्क्तीनामपि ज्ञेयमेवमेवाङ्कपूरणम् ॥ ३७१ ॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

किंतु त्रियोगगजे भेदे ये त्रयः स्युर्द्वियोगजाः।
तेषां संनिहिताद्यानां प्रागुक्तोऽङ्कविपर्ययः॥ ३७२॥

३७१-३७२. (अ०) त्रियोगजाः च ये भेदाः तीन (अवयवों) के मेल से उत्पन्न जो (चार) भेद **चतुःयोगसंभवः च यः** और चार (अवयवों) के मेल से होने वाला एक (भेद) **तत् पङ्क्तीनाम् अपि** उन पंक्तियों में भी **अङ्कपूरणम्** अंकों को पूरा करना (भरना) **एवम् एव ज्ञेयम्** इसी तरह जानना चाहिये। **किंतु** लेकिन **त्रियोगजे भेदे** त्रियोगज भेद में **ये त्रयः** जो तीन **द्वियोगजाः स्युः** द्वियोगजा (पंक्तियाँ जुड़ी) होती हैं **तेषाम्** उनके **संनिहित-आद्यानां** संनिहित (पास वाली) आदि (पंक्तियों) का **अङ्कविपर्ययः** अंकों का विपर्यास **प्राक् उक्तः** पहले कहा जा चुका (है)।

(सर०) कल्लि० ने इनकी विस्तार से व्याख्या की है।

त्रियोगज पंक्तियों में द्वियोगज तीन-तीन पंक्तियों का योग होता है। जैसे—० । ऽ पंक्ति में ० ।, ० ऽ, । ऽ का; ० । ऽे, में ० ।, ० ऽे, । ऽे का; ० ऽ ऽे, में ० ऽ, ० ऽे, ऽ ऽे, का और । ऽ ऽे, पंक्ति में । ऽ, । ऽे, ऽ ऽे, का।

कल्लि० के अनुसार संभव, असंभव, संनिहित, विपर्यास आदि यहाँ भी लागू होते हैं लेकिन उनमें कुछ विशेष है। द्वियोगजा पंक्तियों में से जिन तीन में पहले या पहले और अगले कोष्ठों में १ या ० अंक हो उनमें उन कोष्ठों को छोड़कर अगला कोष्ठ ही पहला गिना जाता है। यानी दूसरे, तीसरे कोष्ठ में भी अगर ० हो तो उसके बाद वाले कोष्ठ को पहला गिना जाता है। जैसे ०ऽे और ।ऽे पंक्तियों में पहले कोष्ठों में शून्य है इसलिये उनके बाद वाला कोष्ठ पहला गिना जाता है। लेकिन ऽऽे पंक्ति के शुरू के तीन कोष्ठों में शून्य है इसलिये उन्हें छोड़कर अगला कोष्ठ पहला गिना जाता है। लेकिन अंक वाले कोष्ठ के बाद का शून्य कोष्ठ दूसरा आदि ही गिना जाता है, जैसे—ऽऽे पंक्ति के २ अंक वाले कोष्ठ को पहला गिनने के बाद अगला ० कोष्ठ दूसरा माना जाता है। यह द्वियोगजा पंक्तियों में ही होता है एक-एक के योग वाली पंक्तियों में नहीं।

लेख्य पंक्ति के जितनवें कोष्ठ में अंक लिखना हो द्वियोगज खड़ी पंक्तियों के उतनवें कोष्ठों के अंकों को लेख्य पंक्ति के यथासंभव अन्त्य, उपान्त्य और ऊपर के चौथे या छठे अंकों के साथ जोड़ा जाता है। द्वियोगज पंक्तियों का उतनवाँ कोष्ठ पिछले पैरा में बताये गये विशेष नियम के अनुसार होता है।

तदनुसार ११वीं से १४वीं पंक्तियों में अंक इस तरह लिखे जायँगे।

११वीं ०।ऽ पंक्ति—अन्त्य, उपान्त्य, चौथा और पिछली पंक्ति के ० ।, ० ऽ, । ऽ अंकों का जोड़।

पहले में—	–	+	–	+	–	+	२	+	२	+	२	=	६
दूसरे में—	६	+	–	+	–	+	३	+	३	+	०	=	१२
तीसरे में—	१२	+	६	+	–	+	७	+	४	+	३	=	३२
चौथे में—	३२	+	१२	+	–	+	११	+	५	+	०	=	६०
पाँचवें में—	६०	+	३२	+	६	+	२०	+	९	+	७	=	१३४
छठे में—	१३४	+	६०	+	१२	+	३२	+	१३	+	०	=	२५१
सातवें में—	२५१	+	१३४	+	३२	+	५४	+	१८	+	११	=	५००

१२वीं ०।ऽे पंक्ति—अन्त्य, उपान्त्य, छठा और पिछली आड़ी पंक्ति के ०।, ०ऽे, ।ऽे अंकों का जोड़। इसकी द्वियोगज ०ऽे और ।ऽे पंक्तियों के पहले कोष्ठ शून्य वाले हैं, उन्हें छोड़कर पहला कोष्ठ माना जायगा। तदनुसार—

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

पहले में—	– + – + – + २ + २ + २ = ६
दूसरे में—	६ + – + – + ३ + ३ + ० = १२
तीसरे में—	१२ + ६ + – + ७ + ४ + ३ = ३२
चौथे में—	३२ + १२ + – + ११ + ५ + ० = ६०
पाँचवें में—	६० + ३२ + – + २० + ६ + ४ = १२२

१३वीं ०ऽऽ पंक्ति—अन्त्य, चौथा, छठा और ऊपर की आड़ी पंक्ति के ०ऽ, ०ऽ, ऽऽ का जोड़। इसकी द्वियोगज ०ऽ का पहला और ऽऽ के पहले तीन ० कोष्ठों को छोड़कर पहला माना जायगा। तदनुसार—

पहले में—	– + – + – + २ + २ + २ = ६
दूसरे में—	६ + – + – + ३ + ३ + ० = १२
तीसरे में—	१२ + – + – + ४ + ४ + ० = २०

१४वीं ।ऽऽ पंक्ति—उपान्त्य, चौथे, छठे के साथ पिछली आड़ी ।ऽ, ।ऽ, ऽऽ पंक्ति के अंकों का योग। तदनुसार—

पहले में—	– + – + – + २ + २ + २ = ६
दूसरे में—	– + – + – + ० + ० + ० = ०

चतुर्योगे तु चत्वारो ये स्युर्भेदास्त्रियोगजाः।
तदङ्केष्वेव पूर्वोक्तं स्याद्विपर्यासयोजनम्॥ ३७३॥

ये चत्वारस्त्रियोगोत्थाश्चतुर्योगोत्थपञ्चमाः।
भेदास्ते षड्क्तिषु ज्ञेयाः क्रमादन्त्यासु पञ्चसु॥ ३७४॥

दलगा दलपाश्चैव दगपा लगपाः क्रमात्।
त्रियोगजाश्चतुर्योगोद्भवा दलगपाः इति॥ ३७५॥

एष संयोगमेरुः स्यात्,

३७३-३७६ क. (अ०) चतुःयोगे तु चार (अवयवों) के मेल वाली (पंक्ति) में तो ये जो त्रियोगजा चत्वारः भेदाः त्रियोगज चार भेद (अर्थात् चार पंक्तियाँ) स्युः होते हैं तत् अङ्केषु एव उनके अंकों में ही पूर्व-उक्तं पहले कहा गया विपर्यासयोजनं स्यात् विपर्यास का योजन होता है। त्रियोग-उत्थाः तीन (अवयवों) के मेल से उत्पन्न हुए ये जो चत्वारः चार (भेद और) चतुःयोग-उत्थपञ्चमाः भेदाः चार (अवयवों) के मेल से उत्पन्न (एक भेद सहित) पाँच भेद ते वे क्रमात् क्रम से अन्त्यासु पञ्चसु पङ्क्तिषु अन्तिम पाँच पंक्तियों में द-ल-गाः द्रुत, लघु और गुरु वाले, द-ल-पाः द्रुत, लघु और प्लुत वाले, द-ग-पाः द्रुत, गुरु और प्लुत वाले ल-ग-पाः च एव और लघु, गुरु तथा प्लुत वाले ही क्रमात् क्रम से त्रियोगजाः त्रियोगज (और) द-ल-ग-पाः द्रुत, लघु, गुरु और प्लुत इति ये चतुःयोग-उद्भवाः चतुर्योग से उत्पन्न हुए ज्ञेयाः जानने चाहियें। एषः यह संयोगमेरुः स्यात् संयोगमेरु होता है।

(सर०) आनन्द० और आड्यार के दोनों संस्करणों में श्लो० ३७४ ग-घ के पाठ में दो बार 'पङ्क्तिषु' है। सिंह० की टीका में दूसरी बार के 'पङ्क्तिषु' के बजाय पञ्चसु है। यही उचित है क्योंकि प्रस्तुत श्लोक में पाँच पंक्तियों के बारे में कहा जा रहा है। तदनुसार हमने पञ्चसु रखा है।

त्रियोगज भेद अर्थात् त्रियोगज पंक्तियाँ जो चार हैं—०।ऽ, ०।ऽ, ०ऽऽ, और ।ऽऽ। उनके बाद की पंक्ति ०।ऽऽ के लिये ग्रन्थकार ने पञ्चमः का प्रयोग किया है क्योंकि वह पाँचवीं है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अन्तिम ०।ऽऽ़ चतुर्योगज है और उसमें उक्त त्रियोगज पंक्तियों के पहले-पहले कोष्ठों के अंकों का मेल होता है। कल्लि० ने कहा कि इस पंक्ति के दूसरे आदि कोष्ठों में यथासंभव अन्त्य, उपान्त्य, चौथे और छठे अंकों के साथ त्रियोगज पंक्ति के यथासंभव दूसरे आदि कोष्ठों का योग किया जाता है। प्रस्तुत संयोगमेरु में खड़ी पंक्तियों में ज्यादा से ज्यादा १३ कोष्ठ ही हैं और उस संख्या के अन्तर्गत ०।ऽऽ़ की पंक्ति में एक ही कोष्ठ बनता है इसलिये त्रियोगज पंक्तियों के पहले-पहले कोष्ठों के अंकों का जोड़ ही इस पंक्ति के कोष्ठ में लिखा जायगा। तदनुसार – + – + – + – + ६ + ६ + ६ + ६ = २४ अंक लिखना होगा।

यहाँ संयोगमेरु की सभी पंक्तियों के कोष्ठों में अंक लिखने की विधि पूरी होती है। इसका पूरा कोष्ठक आगे मूल पाठ में है जिसमें खड़ी पंक्तियाँ १५ और आड़ी पंक्तियाँ १३ बनीं। उनसे क्या ज्ञात होता है यह अगले श्लोकों में बताया है।

अतो ज्ञेयमथोच्यते।
तिर्यक्पङ्क्तिस्थकोष्ठाङ्कैस्तैस्तैः सर्वद्रुतादयः ॥ ३७६ ॥
अर्ध्वपङ्क्तिगता मेयास्तदभावस्तु शून्यतः।
तावद् द्रुतोऽत्र तालः स्यात् षङ्क्तिर्यावतिथी तिरः ॥ ३७७॥
उपरिष्टात् समारभ्य संख्या पङ्क्त्यङ्कसंयुतात्।

इति संयोगमेरुः

		०	।	ऽ	ऽ़	०।	०ऽ	०ऽ़	।ऽ	।ऽ़	ऽऽ़	०।ऽ	०।ऽ़	०ऽऽ़	।ऽऽ़	०।ऽऽ़
१	०	१	०	०	०											
२	।	१	१	०	०											
३	०।	१	०	०	०	२										
६	ऽ	१	१	१	०	३										
१०	०ऽ	१	०	०	०	७	२									
१९	ऽ़	१	१	०	१	११	३	०	२							
३३	०ऽ़	१	०	०	०	२०	४	२	०	०	०	६				
६०	।ऽ़	१	१	१	०	३२	५	३	३	२	०	१२				
१०६	०।ऽ़	१	०	०	०	५४	९	४	०	०	०	३२	६			
१९१	ऽऽ़	१	१	०	०	८७	१३	५	७	३	२	६०	१२			
३४०	०ऽऽ़	१	०	०	०	१४३	१८	६	०	०	०	१३४	३२	६		
६१०	ऽ़ऽ़	१	१	१	१	२३१	२४	७	११	४	०	२५१	६०	१२	६	
१०८९	०ऽ़ऽ़	१	०	०	०	३७६	३५	११	०	०	०	५००	१२२	२०	०	२४
		१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	११	१२	१३	१४	१५

इति संयोगमेरुकोष्ठकम्

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

३७६ ख-३७८ ख. (अ०) अथ अब अतः यहाँ से ज्ञेयम् उच्यते ज्ञेय (जो ज्ञात होता है वह) उच्यते कहते हैं। तैः तैः तिर्यक्पङ्क्तिस्थकोष्ठ-अङ्कैः उन-उन (अर्थात् पंक्ति-विशेष) आड़ी पंक्तियों में स्थित कोष्ठों के अंकों से ऊर्ध्वपङ्क्तिगताः खड़ी पंक्तियों में स्थित सर्वद्रुत-आदयः सर्वद्रुत आदि (भेद) मेयाः मापने (गिनने) चाहियें। शून्यतः तु (किसी कोष्ठ में) शून्य (हो तो उस) से तो तत्-अभावः उस (सर्वद्रुत आदि) का अभाव (होता है)। अत्र यहाँ तिरः आड़ी यावतिथी पंक्तिः जितनवीं पंक्ति (हो) तावत् द्रुतः तालः उतने द्रुत वाला ताल स्यात् होता है। उपरिष्टात् समारभ्य ऊपर की ओर से शुरू करके पङ्क्ति-अङ्कसंयुतात् (आड़ी) पंक्ति के (कोष्ठों के) अंकों को जोड़ने से संख्या 'संख्या' (प्रत्यय) (जानी जाती है)।

(सर०) श्लोक ३७८ ख में 'पङ्क्त्यङ्कसंगतेः' के स्थान पर हमने सिंह० के पाठ पङ्क्त्यङ्कसंयुतात् का ग्रहण किया है क्योंकि इस पाठ से अर्थसंगति होती है।

कल्लि० के आधार पर संयोगमेरु कोष्ठक में खड़ी पंक्तियों के ऊपर ०, ।, ऽ, ऽ॒ आदि वे अवयव रखे हैं जिनकी सूचक वे खड़ी पंक्तियाँ हैं। इसी तरह आड़ी पंक्तियों के बाईं तरफ़ ०, ।, ०।, ऽ आदि वे अवयव रखे हैं जिनकी सूचक वे आड़ी पंक्तियाँ हैं। इन अवयवों के बाईं ओर जो अंक रखे हैं वे उस पंक्ति सूचक अवयव के कुल प्रस्तारों की संख्या को सूचित करते हैं।

आड़ी पंक्तियों के कोष्ठों के अंक खड़ी पंक्तियों के सूचक अवयवों से ताल-विशेष में बनने वाले कुल भेदों को सूचित करते हैं। जैसे—तेरहवीं आड़ी (सबसे नीचे की ०ऽ॒ऽ॒) पंक्ति के १५ कोष्ठ खड़ी पंक्तियों के ऊपर लिखे अवयवों के सूचक हैं इसलिये इन कोष्ठों के अंकों से यह ज्ञान होता है—पहले कोष्ठ का अंक सर्वद्रुत १ प्रस्तार का बोधक है। दूसरे, तीसरे, चौथे कोष्ठों में ० है इसलिये ०ऽ॒ऽ॒ में सर्वलघु, सर्वगुरु और सर्वप्लुत प्रस्तार नहीं होता क्योंकि ०ऽ॒ऽ॒ १३ द्रुत वाला ताल है और इस संख्या के बराबर सारे अवयव लघु, गुरु या प्लुत नहीं हो सकते। पाँचवें कोष्ठ से ०। वाले ३७६ भेद, इसी तरह ०ऽ वाले ३५, ०ऽ॒ वाले ११, ।ऽ, ।ऽ॒, ऽऽ॒ वाले भेदों का अभाव, ०।ऽ वाले ५००, ०।ऽ॒ वाले १२२, ०ऽऽ॒ वाले २०, ।ऽऽ॒ वाले भेदों का अभाव और ०।ऽऽ॒ वाले २४ भेदों का ज्ञान होता है। प्रस्तार प्रत्यय में ऽ॒ के १९ भेदों के आधार पर संयोगमेरु की ऽ॒ सूचक छठी आड़ी पंक्ति के अंकों से इसका निश्चय किया जा सकता है कि प्लुत के १९ भेदों में से १-१ भेद सर्वद्रुत, सर्वलघु, सर्वप्लुत, ११ भेद ०। वाले, ३ भेद ०ऽ वाले और २ भेद ।ऽ वाले होते हैं। इस पंक्ति के तीसरे और ७वें कोष्ठों में शून्य है इसलिये सर्वगुरु और ०ऽ॒ भेदों का ऽ॒ प्रस्तारों में अभाव होगा।

आड़ी पंक्ति जितनवीं हो उस संख्या के बराबर द्रुत उस ताल में होते हैं जिसकी सूचक वह आड़ी पंक्ति हो। जैसे—ऽऽ॒ सूचक पंक्ति १०वीं है इसलिये ऽऽ॒ में (४ + ६ =) १० द्रुत होंगे।

आड़ी पंक्ति के कोष्ठों के अंकों को जोड़ने पर उस ताल के प्रस्तारों की संख्या ज्ञात होती है। जैसे—ऽ॒ पंक्ति के कोष्ठों के अंकों (१ + १ + ० + १ + ११ + ३ + ० + २ =) को जोड़कर १९ संख्या प्राप्त होती है।

इस प्रकार किसी ताल के प्रस्तारों की संख्या और उसमें एक या ज्यादा अवयवों से बनने वाले प्रस्तारों की संख्या—दोनों का एक साथ बोध कराता है इसलिये संयोगमेरु कहलाता है।

संयोगमेरु समाप्त

(खण्डप्रस्तारः)

द्रुतहीनादयो भेदोद्धारा ये मेरुबोधिताः ॥ ३७८॥

सर्वप्रस्तारवत् तेषां प्रस्तार : किं तु तेषु यः।
द्रुतादिनियमः सोऽत्र न भङ्क्तव्यः प्रयत्नतः॥ ३७९॥

इति खण्डप्रस्तारः

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

३७८ ग-३७९. (अ०) ये जो द्रुतहीन-आदयः द्रुतहीन आदि भेद-उद्धाराः भेदों की निष्पन्नता मेरुबोधिताः (द्रुत, लघु, गुरु, प्लुत और संयोग) मेरुओं से ज्ञात होती हैं तेषां प्रस्तारः उनके प्रस्तार सर्वप्रस्तारवत् सारे प्रस्तारों की (साधारण विधि की) तरह (होते हैं)। किंतु लेकिन तेषु उन (भेदों) में यः द्रुत-आदिनियमः द्रुत आदि (की संख्या) का जो नियम (होता है) सः वह अत्र यहाँ, प्रयत्नतः यत्नपूर्वक, न भङ्क्तव्यः खण्डित नहीं करना चाहिये।

(सर०) द्रुत, लघु, गुरु, प्लुत आदि मेरुओं में से किसी के एक खण्ड के आधार पर किसी अवयव के प्रस्तार बनाना खण्डप्रस्तार है। उन मेरुओं से द्रुत, लघु आदि से रहित, १, ३, ५ आदि विषमसंख्यक या २, ४, ६ आदि समसंख्यक द्रुत, लघु, आदि से युक्त प्रस्तार जैसे पूर्वोक्त प्रस्तारविधि से निष्पन्न होते हैं वैसा ही खण्डप्रस्तार से भी होता है। लेकिन द्रुत आदि की संख्या के नियम का अर्थात् अमुक कोष्ठ में द्रुत, लघु आदि की संख्या का नियत होना इसका भंग खण्डप्रस्तार में नहीं किया जाता। उदाहरण के लिये द्रुतमेरु देखें—

					१
			१	१	५
	१	१	३	४	९
१	१	२	२	५	४
०	।	०।	ऽ	०ऽ	ऽ̆

ऽ̆ के १९ प्रस्तारों में (जो प्रस्तार प्रत्यय में दिये जा चुके हैं) द्रुतमेरु के नीचे के पहले कोष्ठ के अनुसार ४ द्रुतहीन भेद होते हैं। ऽ̆ के १९ प्रस्तारों में शुरू के ५ का क्रम यह है—

ऽ̆
।ऽ
००ऽ
ऽ।
।।।

इनमें प्रस्तारविधि के अनुसार ऊपर के यथासंभव बायीं ओर के बड़े अवयव के नीचे उससे छोटा अवयव लिखा जाता है। इसलिये तीसरा प्रस्तार बनाते समय दूसरे प्रस्तार (।ऽ) के बायें अवयव (।) के नीचे उससे छोटा द्रुत रखकर उसके दाहिनी ओर ऊपर वाला अवयव और बाईं ओर तालपूर्ति के लिये द्रुत (०) रखने से ००ऽ प्रस्तार बना। यह द्रुतहीन प्रस्तारों में नहीं आता और २ द्रुत होने से द्रुतहीन होने का द्रुत खण्डप्रस्तार का नियम टूटता है। वह न टूटे इसलिये ।ऽ के गुरु के नीचे (।) और उसके बाईं ओर ऽ रखकर ऽ। प्रस्तार बना। चौथा प्रस्तार ।।। बनेगा। इस तरह द्रुतहीन ४ प्रस्तार बनेंगे।

इसी तरह अन्य मेरुओं के खण्डप्रस्तार भी नियम को ध्यान में रखकर बनाये जाते हैं।

खण्डप्रस्तार समाप्त

इसके बाद द्रुत, लघु, गुरु और प्लुत मेरुओं के नष्ट और उद्दिष्ट हैं। द्रुतमेरु के अन्तर्गत उसका नष्ट और उद्दिष्ट दोनों क्रम से हैं लेकिन शेष में पहले सभी का नष्ट और उसके बाद सबका उद्दिष्ट है, द्रुतमेरु की तरह उनमें नष्ट और उद्दिष्ट एक साथ नहीं दिये हैं। इसी तरह लघु, गुरु, प्लुत मेरुओं के उद्दिष्ट अन्त में एक साथ दिये गये हैं।

द्रुतमेरु की पहली और दूसरी आड़ी पंक्ति की और पहली पंक्ति में सम और विषम कोष्ठों की नष्ट और उद्दिष्ट विधि भिन्न हैं। द्रुतमेरु के नष्ट और उद्दिष्ट का यह क्रम है—

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

१२, १३—द्रुतमेरुनष्टोद्दिष्ट

अध:पंक्ति	समकोष्ठ	नष्ट
,,	,,	उद्दिष्ट
,,	विषमकोष्ठ	नष्ट
,,	,,	उद्दिष्ट
परपंक्ति		नष्ट
,,	,,	उद्दिष्ट

शेष मेरुओं में क्रम इस प्रकार हैं—

१४—लघुमेरु	अध:पंक्ति	नष्ट
,,	परपंक्ति	,,
१५—गुरुमेरु	अध:पंक्ति	,,
,,	परपंक्ति	,,
१६—प्लुतमेरु	अध:पंक्ति	,,
,,	परपंक्ति	,,
१७, १८, १९— लघुमेरु, गुरुमेरु, प्लुतमेरु		उद्दिष्ट

(द्रुतमेरुनष्टोद्दिष्टम्)

(तत्र अधःपङ्क्तिसमकोष्ठनष्टम्)

संख्यैषा मेरुकोष्ठाङ्काद्यस्मात्पूर्वोक्तरीतितः।
लभ्यते तत्र नष्टाङ्कं पातयेदथ शेषतः ॥ ३८० ॥

तृतीयपञ्चमोपान्त्यावपाते लभ्यते लघुः।
परो यद्यकृतार्थः स्यात् सह तेनाथ चेदुभौ ॥ ३८१ ॥

अकृतार्थौ ततस्ताभ्यां स्वं विनैवैष लभ्यते।
परे कृतार्थे ग्राह्यः स्यादकृतार्थः पुरातनः ॥ ३८२ ॥

पतिताद् गुरुलाभः स्यात् सह प्राचा तदा परा।
चतुरङ्की निवर्तेत पतिते पञ्चमेऽप्यथ ॥ ३८३ ॥

गुरुः प्लुती भवेत् प्राचा सह चैषा निवर्तते
रूपाप्तौ प्रापकाङ्केभ्यः शेषेष्वेष पुनर्विधिः ॥ ३८४ ॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

गुरुलाभे त्वपातार्हः पञ्चमः शेषतां व्रजेत्।
अङ्काभावे तु गृह्यन्ते लघवस्तालपूर्तये॥ ३८५॥

इति द्रुतमेर्वधःपङ्क्तिसमकोष्ठनष्टम्

१२, १३—द्रुतमेरु का नष्ट और उद्दिष्ट

(१) अधःपंक्ति के समकोष्ठ का नष्ट

३८०-३८५. (अ०) पूर्व-उक्तरीतितः पहले (द्रुतमेरु में) कही गई रीति (ढंग) से बने यस्मात् मेरुकोष्ठ-अङ्कात् (द्रुत) मेरु के कोष्ठों (में) से जिस (कोष्ठ के) अंक से एषा संख्या यह (नष्ट की) संख्या लभ्यते प्राप्त होती है तत्र उस (अंक) में से नष्ट-अङ्कं नष्ट (यानी जिसका स्वरूप ज्ञात करना है) के अंक को पातयेत् घटाना चाहिये। अथ इसके बाद शेषतः बचे हुए (अंक) से तृतीयपञ्चम-उपान्त्यौ तीसरा और पाँचवाँ (ये) दो उपान्त्य (अर्थात् पहले वाले) (घटाने चाहियें)। अवपाते न घटने पर लघुः लभ्यते लघु प्राप्त होता है। परः बाद वाला (तीसरे के बाद वाले पाँचवें विषम कोष्ठ का अंक) यदि अकृतार्थ : स्यात् अगर अकृतार्थ हो (तो) तेन सह उसके साथ (लघु मिलता है)। अथ अब उभौ अकृतार्थौ चेत् अगर (तीसरा और पाँचवाँ) दोनों अकृतार्थ (हों) ततः तब ताभ्याम् उनके द्वारा स्वं विना एवं अपने (यानी तीसरे और पाँचवें के) बिना ही एषः यह (लघु) लभ्यते प्राप्त होता है। परे कृतार्थे बाद वाला कृतार्थ होने पर अकृतार्थः पुरातनः अकृतार्थ पहले वाला ग्राह्य स्यात् ग्रहण किया जाता है (अर्थात् पूर्व अकृतार्थ के साथ लघु प्राप्त होता है)। पतितात् (तीसरे या पाँचवें) पतित से प्राचा सह पूर्व (अंक) के साथ गुरुलाभः स्यात् गुरु प्राप्त होता है। तदा तब (गुरु प्राप्ति के समय) परा चतुःअङ्की बाद के चार अंकों का समूह निवर्तेत निवृत्त किया जाता है (अर्थात् पुनर्विधि में उन्हें नहीं गिना जाता)। अथ इस (तीसरे के पतित होने) के बाद पञ्चमे अपि पतिते पाँचवें के भी घट जाने पर गुरुः (वह प्राप्त हुआ) गुरु प्लुती भवेत् प्लुत हो जाता है। प्राचा सह च (पतित से) पहले वाले (यानी छठे अंक) के साथ ही एषा ये (छ अंक) निवर्तन्ते निवृत्त हो जाते हैं। रूप-आप्तौ (किसी अवयव के) रूप की प्राप्ति होने पर प्रापक-अङ्केभ्यः शेषेषु (रूप की) प्राप्ति कराने वाले अंकों के बाद बचे हुए (अंकों) में एष विधिः यह विधि पुनः फिर से (करनी चाहिये)। गुरुलाभे तु गुरु प्राप्त होने पर तो अपात-अर्हः अपतित (न घटने) की योग्यता वाला (अर्थात् अपतित) पञ्चमः पाँचवाँ (अंक) शेषतां ब्रजेत् शेषता को जाता है (अर्थात् शेष माना जाता है)। अङ्क-अभावे तु अंक का अभाव होने पर तो तालपूर्तये ताल की पूर्ति के लिये लघवः गृह्यन्ते लघु ग्रहण किये जाते हैं।

(सर०) यहाँ द्रुतमेरु की नीचे की आड़ी पंक्ति के समकोष्ठों के अंकों से सूचित, किसी अवयव के, द्रुतहीन प्रस्तारों का नष्ट यानी स्वरूप जानने की विधि बताई गई है। सामान्य रूप से विधि वही है जो नष्ट प्रत्यय में बताई है लेकिन उससे यहाँ कुछ भिन्नता भी है।

द्रुतमेरु के समकोष्ठों में उपान्त्य, चौथे, छठे और उसके अभाव में पाँचवें अंक का जोड़ लिखा जाता है इसलिये अवयव प्राप्त करने के लिये भी उन्हीं अंकों को घटाया जाता है। पूरी विधि को सिंह० ने उदाहरण देकर समझाया है।

पूर्वोक्तरीतितः का अर्थ यह है कि द्रुतमेरु की कारिका ३४१-४२ में बताई गई विधि के अनुसार समकोष्ठों में अन्त्य अंक को नहीं जोड़ा जाता। द्रुतमेरु के जिस कोष्ठ की संख्या के अन्तर्गत नष्ट की संख्या आती है उसमें से अंकों को घटाना शुरू किया जाता है। यहाँ उपान्त्य को घटाने पर शेष में से तीसरा और उसे घटाकर बचे हुए अंक में से पाँचवाँ अंक घटाया जाता है। गुरु प्राप्त होने से चार अंक निवृत्त हो जाते हैं यानी फिर गिने नहीं जाते। इसलिये पाँचवें अंक से शुरू करके उससे पहले के अंक शेष माने जाते हैं और प्लुत प्राप्त होने पर ६ अंक निवृत्त होने से सातवें अंक से शेष माने जाते हैं।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

लघु की प्राप्ति इसमें कई स्थितियों में होती है। सामान्य नियम के अनुसार अपतित से लघु प्राप्त होता है। तीसरा पतित हो और पाँचवाँ अकृतार्थ (अपतित) हो तो वह तीसरे पतित से मिलकर लघु प्राप्त कराता है। अगर तीसरा और पाँचवाँ दोनों अपतित हों तो उनके बिना भी लघु प्राप्त होता है। अगर पहले वाला अपतित (अकृतार्थ) हो और बाद वाला पतित (कृतार्थ) हो तो पूर्व अकृतार्थ के साथ लघु प्राप्त होता है।

तीसरा या पाँचवाँ पतित हो तो गुरु प्राप्त होता है और तीसरे के बाद पाँचवाँ भी पतित होने पर गुरु ही प्लुत हो जाता है। अंक का अभाव हो यानी घटाने के लिये कोई अंक न हो और ताल पूरा न हुआ हो ताल की पूर्ति के लिये आवश्यक लघुओं का ग्रहण होता है।

उदाहरण के लिये—८ द्रुत वाले ।ऽ॑ के प्रस्तारों में द्रुतहीन ७ प्रस्तार होते हैं—। ऽ॑, ऽ ऽ, । । ऽ, ऽ॑ ।, । ऽ ।, ऽ । ।, । । । ।; इनमें से दूसरे और सातवें प्रस्तार का स्वरूप इस तरह ज्ञात होगा।

द्रुतमेरु के । ऽ॑ प्रस्तारों के लिये अंकश्रेणी यह है। समकोष्ठों के अंक मोटे अक्षरों में दिये हैं—

१	**१**	२	**२**	५	**४**	१२	**७**

दूसरा प्रस्तार—

७ में से प्रस्तार की संख्या २ और बचे पाँच में से तीसरा अंक ४ घटाने पर गुरु प्राप्त हुआ और शेष १ रहा। उसमें से ५वाँ अंक २ नहीं घटा। अब ५वें के बाद २ से विधि फिर से शुरू करने पर उससे तीसरा अंक १ घट जाने से अपतित के बाद इस पतित ने ऽ प्राप्त कराया। इस तरह दूसरे भेद का स्वरूप ऽऽ ज्ञात हुआ।

```
 ७
-२
 ५
-४
 १
-२
 १
-१
 ०
```

सातवाँ भेद—

७ में से ७ घटाने पर कोई अंक शेष न रहने से तालपूर्ति के लिये चार लघुओं का ग्रहण करने पर ७वें प्रस्तार का स्वरूप ।।।। प्राप्त हुआ।

```
 ७
-७
 ०
```

द्रुतमेरु की अधःपंक्ति के समकोष्ठ का नष्ट समाप्त

(अधःपङ्क्तिसमकोष्ठोद्दिष्टम्)

उद्दिष्टे तु गुरोर्लभ्यस्तृतीयोऽन्त्यात् पुरातनः।
प्रागवच्चतुर्निवृत्तिः स्यात् तृतीयः पञ्चमस्तथा॥ ३८६॥

प्लुताल्लभ्यौ निवृत्तिस्तु षण्णामथ पुनर्विधिः।
लघोरङ्को न लभ्येत निवृत्तिस्त्वङ्कयोर्द्वयोः॥ ३८७॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

लब्धाङ्कयोगहीनेऽन्त्ये शेषादुद्दिष्टबोधनम्।

इति द्रुतमेर्वध:पङ्क्तिसमकोष्ठोद्दिष्टम्

(२) अध:पंक्ति के समकोष्ठों का उद्दिष्ट

३८६-३८८ ख. (अ०) **उद्दिष्टे तु** (अध:पंक्ति के समकोष्ठ के) उद्दिष्ट में तो **गुरोः** गुरु (अवयव) से **अन्त्यात् पुरातनः** अन्तिम (अंक) से पहले (का) **तृतीयः लभ्यः** तीसरा (अंक) प्राप्त हुआ। **प्राक्वत्** (ऐसा होने पर) पहले की तरह **चतुः निवृत्तिः स्यात्** चार (अंकों) की निवृत्ति होती है। **प्लुतात्** प्लुत से **तृतीयः तथा पञ्चमः** तीसरे और पाँचवें **लभ्यौ** (ये) दो (अंक) प्राप्त हुए। **निवृत्ति तु** (ऐसा होने पर) निवृत्ति तो **षण्णां** छ (अंकों) की (होती है)। **अथ विधिः पुनः** अब (निवृत्ति के बाद) विधि फिर से (शुरू होती है)। **लघोः** लघु से **अङ्कः न लभ्येत** अंक प्राप्त नहीं होता। **निवृत्तिः तु** (ऐसा होने पर) निवृत्ति तो **द्वयोः अङ्कयोः** दो अंकों की (होती है)। **अन्त्ये** अन्तिम (अंक) में (से) **लब्ध-अङ्कयोगहीने** प्राप्त अंकों का जोड़ कम करने पर **शेषात्** बचे हुए (अंक) से **उद्दिष्टबोधनम्** उदिष्ट का बोध (होता है)।

(सर०) अध:पंक्ति के समकोष्ठों के नष्ट के बाद अब उन्हीं की उद्दिष्ट विधि यहाँ बताई है।

अगर उद्दिष्ट में ऽ हो तो अन्तिम अंक से पहले के तीसरे अंक का और ऽ॑ हो तो तीसरे और पाँचवें का ग्रहण किया जाता है। लघु से अंक प्राप्त नहीं होता। ऐसा होने पर दो अंक, गुरु प्राप्त होने पर ४ अंक और प्लुत प्राप्ति से ६ अंक निवृत्त होते हैं। अवयवों से प्राप्त अंकों को जोड़ कर प्राप्त अंक को अन्तिम अंक में से घटा कर जो शेष आये वही उद्दिष्ट प्रस्तार की संख्या होती है यानी उतनवाँ प्रस्तार होता है।

उदाहरण के लिये । ऽ॑ के ७ द्रुतहीन प्रस्तारों में । ऽ॑, । । ऽ और । । । । की संख्या इस तरह प्राप्त होगी। द्रुतमेरु की अध:पंक्ति की । ऽ॑ की अंकश्रेणी यह है—

१	१	२	२	५	४	१२	७
०	।	०।	ऽ	०ऽ	ऽ॑	०ऽ॑	।ऽ॑

ऽ॑ से अन्तिम अंक ७ से पहले का तीसरा अंक ४ और पाँचवाँ २ प्राप्त हुआ। लघु से अंक प्राप्त नहीं हुआ। इन दो अंकों के जोड़ ६ को ७ में से घटाने पर १ बचा। यही । ऽ॑ की संख्या है।

। । ऽ में गुरु से तीसरा अंक ४ प्राप्त हुआ। लघु से अंक प्राप्त नहीं होते। ७ में से ४ घटाने पर शेष ३ रहा जो । । ऽ की संख्या है।

। । । । में लघुओं से कोई अंक प्राप्त नहीं होगा इसलिये ७ में से ० घटाने पर ७ बचा। प्रस्तुत प्रस्तार ७वाँ है।

अध:पंक्ति के समकोष्ठ का उद्दिष्ट समाप्त

(अध:पङ्क्तिविषमकोष्ठनष्टम्)

समस्तनष्टवन्नष्टं विषमे कोष्ठके भवेत्॥ ३८८॥

द्रुते लब्धे ततः पूर्वैरङ्कैः स्यात् समकोष्ठवत्।

इत्याद्य(त्यधः)पङ्क्तिविषमकोष्ठनष्टम्

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(३) अधःपंक्ति के विषमकोष्ठ का नष्ट

३८८ ग-३८९ ख. (अ०) विषमे कोष्ठके विषम कोष्ठ में समस्तनष्टवत् सब कुछ (पूर्वोक्त) नष्ट के जैसा नष्टं भवेत् नष्ट होता है। द्रुते लब्धे (लेकिन) द्रुत प्राप्त होने पर ततः उसके बाद पूर्वैः अङ्कैः पूर्व(-पूर्व) अंकों के द्वारा समकोष्ठवत् समकोष्ठ (के नष्ट) की तरह स्यात् (विधान) होता है।

(सर०) सब कुछ नष्ट की तरह होने का आशय यह है कि जैसे नष्ट में पूर्व-पूर्व अंकों को घटाना चाहिये और अपतित से द्रुतलाभ होता है (श्लोक ३२८), निरन्तर दो पतितों से गुरु प्राप्त होता है (श्लोक ३३०) आदि जो नष्ट में कहा गया है। द्रुत प्राप्त होने के बाद समकोष्ठ की ही नष्टविधि होती है।

उदाहरण के लिये—०ऽ के एक द्रुत वाले १२ भेदों में से पहले और १०वें भेद का स्वरूप क्या होगा—इस प्रश्न का उत्तर यह है। ०ऽ की अंकश्रेणी यह है—

१	१	२	२	५	४	१२
०	।	०।	ऽ	०ऽ	ऽ	०ऽ

पहला भेद—

१२
-१
११
-४
७
-५
२
-२
०

१२ में से १ घटाने पर बचे हुए ११ में से ४ और शेष में से ४ से पहले वाला ५ घट जाने से ऽ प्राप्त हुआ। शेष दो में से गुरुहेतु पतित अंक ५ से तीसरा अंक २ भी पतित होने से गुरु ऽ हो गया। तालपूर्ति के लिये सामान्य नष्ट विधि के अनुसार ० का ग्रहण करके पहले भेद का स्वरूप ०ऽ ज्ञात हुआ।

दसवाँ भेद

१२
-१०
२
४
२
-२
०

१२ में से १० घटाने पर शेष २ में से पूर्व अंक ४ नहीं घटा इसलिये द्रुत प्राप्त हुआ। फिर समकोष्ठ विधि के अनुसार ४ से पहले के तीसरे अंक २ के घट जाने से अपतित के बाद पतित से गुरु प्राप्त हुआ। तालपूर्ति के लिये एक लघु का ग्रहण करने पर १०वें भेद का स्वरूप।ऽ० ज्ञात हुआ।

आद्य (अधः) पंक्ति के विषमकोष्ठ का नष्ट समाप्त

(अधःपङ्क्तिविषमकोष्ठोद्दिष्टम्)

समस्तोद्दिष्टवत् प्रोक्तमुद्दिष्टमिह सूरिभिः ॥ ३८९ ॥

द्रुताङ्कानन्तरं कार्यं विधानं समकोष्ठवत्।

इति प्रथम(अधः)पङ्क्तिविषमकोष्ठोद्दिष्टम्

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(४) अधःपंक्ति के विषमकोष्ठ का उद्दिष्ट

३८९ ग-३९० ख. (अ०) सूरिभिः विद्वानों के द्वारा समस्त-उद्दिष्टवत् सब कुछ (पहले कहे गये) उद्दिष्ट के जैसा इह यहाँ (विषमकोष्ठ में) उद्दिष्टं प्रोक्तम् उद्दिष्ट कहा गया (है)। द्रुत-अङ्क-अनन्तरं द्रुत (से) अंक (की प्राप्ति) के बाद समकोष्ठवत् समकोष्ठ की तरह विधानं कार्यं विधान (विधि) करना चाहिये।

(सर०) द्रुतमेरु की नीचे की पंक्ति के विषमकोष्ठ से किसी स्वरूप की संख्या ज्ञात करने की विधि साधारण उद्दिष्ट की तरह ही है लेकिन अगर प्रकृत भेद में द्रुत हो तो उससे अंक प्राप्त होने के बाद समकोष्ठ के उद्दिष्ट की तरह विधि होती है। जैसे—०ऽ के एक द्रुत वाले १२ भेदों में से ०ऽ। कितनवाँ होगा—इसका उत्तर यह है।

०ऽ की ७ अंकों की अंकश्रेणी में अन्तिम अंक १२ है। लघु से १२ से पहले वाला अंक ४ और गुरु से अन्तिम अंक १२ से पहले का तीसरा ५ प्राप्त होगा। द्रुत से अंक प्राप्त नहीं होता। इसलिये ४ और ५ के जोड़ ९ को १२ में से घटाने पर शेष ३ रहा। इसलिये ०ऽ। तीसरा भेद है।

सिंह० ने ४ + २ + २ के जोड़ ८ को १२ में से घटाकर इसे चौथा भेद कहा है। लेकिन ०ऽ के एक द्रुत वाले प्रस्तारों में यह तीसरा है, चौथा नहीं।

अधःपंक्ति के विषमकोष्ठ का उद्दिष्ट समाप्त

(द्रुतमेरुपरपङ्क्तिनष्टम्)

कोष्ठे समोर्ध्वपङ्क्तिस्थे परासामधिको भवेत्॥ ३९०॥

द्वितीयाधस्तनः पात्यस्तत्र त्वपतिताद् द्रुतः।
पतिताल्लः पात्यपातानन्तर्येऽल्पो महान्भवेत्॥ ३९१॥

रूपपूर्तौ निवर्तन्ते पूर्ववत् स्वीयपङ्क्तिगाः।
अधःसमवदन्यत् स्यान्निवृत्तौ तु पुनर्विधिः ॥ ३९२॥

यस्मात् स यस्यामूर्ध्वायां पङ्क्तौ सा विषमा यदि।
विधिर्विषमकोष्ठोक्तः समा चेत् तर्ह्ययं मतः॥ ३९३॥

विषमोर्ध्वश्रेणिसंस्थे कोष्ठेऽधोविषमोदितः।

इति द्रुतमेरुपरपङ्क्तिनष्टम्

(५) द्रुतमेरु की परपंक्ति का नष्ट

३९० ग-३९४ ख. (अ०) परासां बाद वाली (दूसरी आदि आड़ी पंक्तियों में) सम-ऊर्ध्वपङ्क्तिस्थे कोष्ठे सम (संख्यक) खड़ी पंक्तियों में स्थित कोष्ठ में द्वितीय-अधः तनः दूसरे (अंक) के नीचे वाला (अंक) अधिकः पात्यः भवेत् (अधः पंक्ति के समकोष्ठों की अपेक्षा) ज्यादा घटाने योग्य होता है (अर्थात् वह भी घटाया जाता है)। तत्र तु उनमें तो अपतितात् द्रुतः अपतित से द्रुत (और) पतितात् लः पतित से लघु (प्राप्त होता है)। पात्यपात-आनन्तर्ये घटने योग्य और घटे हुए (अर्थात् दो पतित) लगातार होने पर अल्पः छोटा (अवयव) महान् भवेत् बड़ा हो जाता है। रूपपूर्तौ (अवयव के) स्वरूप की प्राप्ति होने पर स्वीयपङ्क्तिगाः अपनी(-अपनी) पंक्ति के (वे अंक) पूर्ववत् पहले की तरह निवर्तन्ते निवृत्त

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

होते हैं। अन्यः शेष सब **अधः समवत्** नीचे (की पंक्ति) के सम (कोष्ठ) की तरह **स्यात्** होता है। **निवृत्तौ तु** (अंक) निवृत्त होने पर तो **पुनः विधिः** फिर से विधि (करनी चाहिये)। **यस्याम् ऊर्ध्वायां पङ्क्तौ** जिस खड़ी पंक्ति में **यस्मात्** जिस (कोष्ठ) से **सः** वह (विधि होती है) **सा** वह (पंक्ति) **यदि विषमा** अगर विषम(संख्यक हो तो) **विषमकोष्ठ-उक्तः** (अधः पंक्ति के) विषम कोष्ठ में कही गई **विधिः** विधि (होती है और) **समा चेत्** अगर सम (पंक्ति) हो **तर्हि** तो **अयं मतः** यह (अभी कही गई विधि) मानी गई (है)। **विषम-ऊर्ध्वश्रेणिसंस्थे कोष्ठे** विषम(संख्यक) खड़ी पंक्ति में स्थित कोष्ठ में **अधः विषम-उदितः** नीचे (की पंक्ति) के विषम (कोष्ठ) में कही गई (योजना करनी चाहिये)।

(सर०) द्रुतमेरु की नीचे की पंक्ति के बाद वाली यानी उससे ऊपर की पंक्तियों की नष्टविधि यहाँ बताई है। समसंख्यक खड़ी पंक्तियों के कोष्ठों की विधि में जिस कोष्ठ से क्रिया शुरू करनी हो उस कोष्ठ से पहले वाले कोष्ठ के नीचे के यानी नीचे वाली पंक्ति के कोष्ठ के अंक को भी घटाया जाता है। विषमसंख्यक खड़ी पंक्तियों के कोष्ठों में विधि वही होती है जो नीचे की पंक्ति के विषम कोष्ठों में होती है। अवयव प्राप्ति और निवृत्ति पूर्ववत् होती है यानी अपतित से द्रुत, पतित से लघु, निरन्तर पतितों से लघुओं का गुरु और गुरु का प्लुत होना तथा लघु प्राप्त होने पर दो अंक, गुरु प्राप्ति पर चार अंक और प्लुत प्राप्ति पर छ अंक निवृत्त होना—पहले की तरह है। पुनः विधि अंकनिवृत्ति के बाद से शुरू होती है।

उदाहरण के लिये—ऽ प्रस्तारों में २ द्रुत वाले ९ भेद होते हैं। उनमें से पहले और आठवें भेद का स्वरूप क्या है—इसका उत्तर यों प्राप्त होता है। ऽ के लिये द्रुतमेरु की अधः और परपंक्ति की अंक श्रेणी यह है—

	१	१	३	४	९
१	१	२	२	५	४
०	।	०।	ऽ	०ऽ	ऽ

पहला भेद

९
−१
८
−५
३
−३
०

९ में से १ घटा कर शेष ८ में से दूसरे के नीचे वाला अंक ५ घटने पर ३ शेष रहा। इसमें से स्वपंक्ति का तीसरा अंक ३ घट गया। निरन्तर पतितों से गुरु प्राप्त हुआ। तालपूर्ति के लिये दो द्रुत लेकर पहले भेद का स्वरूप ००ऽ ज्ञात हुआ।

आठवाँ भेद

९
−८
१
५
१
३
१
−१
०

९ में से ८ घटाकर शेष १ में से दूसरे से नीचे वाला ५ नहीं घटा इसलिये द्रुत प्राप्त हुआ। १ में से स्वपंक्ति का तीसरा ३ भी न घटने से फिर द्रुत प्राप्त हुआ। पाँचवाँ अंक १ घट गया। यह अंक समपंक्ति में है इसलिये अपतित के बाद पतित से गुरु प्राप्त होकर ८वें भेद का स्वरूप ऽ०० ज्ञात हुआ।

द्रुतमेरु की परपंक्ति का नष्ट समाप्त

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(द्रुतमेरुपरपङ्क्त्युद्दिष्टम्)

यैरङ्कैः पतितैर्नष्टे लभ्यन्ते ये प्लुतादयः॥ ३९४॥

तेभ्य उद्दिष्टसंस्थेभ्यस्तदङ्कावाप्तिरिष्यते।
द्रुतहीनाद्यकोष्ठासु पङ्क्तिषूर्ध्वासु यो लघुः॥ ३९५॥

तस्मादुद्दिष्टरूपस्थान्नाङ्कः कश्चिदवाप्यते।
लब्धाङ्कन्यूनितान्त्याङ्कशेषादुद्दिष्टवेदनम्॥ ३९६॥

इति द्रुतमेरुपरपङ्क्त्युद्दिष्टम्

इति द्रुतमेरुनष्टोद्दिष्टे

(६) द्रुतमेरु की परपंक्ति का उद्दिष्ट

३९४ ग-३९६. (अ०) यैः पतितैः अङ्कैः जिन पतित अंकों से नष्टे नष्ट में ये प्लुत-आदयः जो प्लुत आदि लभ्यन्ते प्राप्त होते हैं उद्दिष्टसंस्थेभ्यः तेभ्यः उद्दिष्ट में स्थित उन (अवयवों) से तत्-अङ्क-अवाप्तिः उन अंकों की प्राप्ति इष्यते इष्ट होती है (अर्थात् वही अंक प्राप्त होते हैं)। द्रुतहीन-आद्यकोष्ठासु द्रुत रहित पहले कोष्ठ वाली ऊर्ध्वासु पङ्क्तिषु खड़ी (सम) पंक्तियों में उद्दिष्टरूपस्थ उद्दिष्ट के स्वरूप में स्थित यः लघुः जो लघु (हो) तस्मात् उससे कश्चित् अङ्कः कोई अंक न अवाप्यते प्राप्त नहीं होता। लब्ध-अङ्कन्यूनित-अन्त्य-अङ्कशेषात् प्राप्त अंक को कम किये हुए अन्त्य अंक के शेष (अंक) से उदिष्टवेदनम् उदिष्ट का बोध (होता है)।

(सर०) द्रुतमेरु की परपंक्ति की उद्दिष्ट विधि इन श्लोकों में दी गई है। नष्ट की विधि उलट देने से जो अवयव प्राप्त होते है उद्दिष्ट के उन अवयवों से नष्ट के वही अंक प्राप्त हो जाते हैं। लेकिन जिन खड़ी समपंक्तियों में पहला कोष्ठ द्रुतहीन संख्या का सूचक होता है उसके द्वारा उद्दिष्ट के लघु से कोई अंक प्राप्त नहीं होता। प्राप्त हुए अंकों का जोड़ पूर्ववत् अन्तिम अंक में से घटाने पर शेष अंक उद्दिष्ट की संख्या का बोधक होता है।

उदाहरण के लिये—ऽ के दो द्रुत वाले ९ भेदों में से ००ऽ प्रस्तार की संख्या इस तरह ज्ञात होती है। ९ में से पिछले के नीचे का अंक ५ घटाने पर शेष ४ में से तीसरा अंक ३ भी पतित होने से गुरु प्राप्त हुआ। द्रुत से कोई अंक प्राप्त नहीं होता। प्राप्त ५ और ३ के जोड़ ८ को ९ में से घटाने पर १ बचा। इसलिये प्रस्तुत भेद ९ भेदों में से पहला है।

द्रुतमेरु की परपंक्ति का उद्दिष्ट समाप्त

द्रुत मेरु का नष्ट और उद्दिष्ट समाप्त

(लघुमेरुनष्टम्)

(तत्र अधःपङ्क्तिनष्टम्)

लघुमेरावधःपङ्क्तेर्नष्टाङ्केनान्त्यशेषतः॥
पूर्वेषां पात्यमानानामपाते पूर्ववद् द्रुतः॥ ३९७॥

पतितात् सह पूर्वाभ्यां परेण च गुरुर्भवेत्।
पतिते वृत्तगुर्वङ्कानन्तरे गः प्लुती भवेत्॥ ३९८॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

एवं नष्टस्य बोधः स्यादित्युक्तं सूरिशार्ङ्गिणा।

इति लघुमेर्वधःपङ्क्तिनष्टम्

१४—लघुमेरु का नष्ट

(१) अधःपंक्ति का नष्ट

३९७-३९९ ख. (अ०) **लघुमेरौ** लघुमेरु में **अधःपङ्क्तेः नष्ट-अङ्केन** नीचे की पंक्ति के नष्ट के अंक से (कम किये हुए) **अन्त्य-शेषतः** अन्तिम (अंक के) शेष से (अर्थात् अन्त्य में से नष्टांक को घटाने पर बचे हुए अंक में से) **पूर्वेषां** पहले के **पात्यमानानां** घटाये जाने वाले (अंकों) में से **अपाते** न घटने पर (अर्थात् अपतित से) **पूर्ववत्** पहले की तरह **द्रुतः** द्रुत (प्राप्त होता है)। **पूर्वाभ्यां परेण च सह** पिछले दो और बाद वाले एक (अंक) के साथ **पतितात्** पतित (अंक) से **गुरुः भवेत्** गुरु (प्राप्त) होता है। **वृत्तगुरु-अङ्क-अनन्तरे पतिते** निष्पन्न हुए गुरु के बाद का अंक पतित होने पर **गः** गुरु **प्लुती भवेत्** प्लुत हो जाता है। **एवम्** इस प्रकार (अर्थात् इस विधि से) **नष्टस्य** नष्ट (के स्वरूप) का **बोधः स्यात्** बोध होता है **इति** ऐसा **सूरिशार्ङ्गिणा** विद्वान् शार्ङ्गदेव के द्वारा **उक्तं** कहा गया (है)।

(सर०) लघुमेरु की अधःपंक्ति की नष्टविधि का निरूपण यहाँ किया गया है। सामान्य नष्टविधि की तरह ही लघुमेरु की नष्ट विधि होती है इसलिये अन्तिम अंक में से नष्ट का अंक घटाने के बाद उसके बाईं ओर के अंक घटाये जाते हैं। नीचे की पंक्ति लघुहीन भेदों की सूचक होने से पतित से लघु के बजाय गुरु प्राप्त होता है। जिस अंक से गुरु प्राप्त होता है उस अंक सहित बाद के चार अंक निवृत्त हो जाते हैं और उसके बाद विधि फिर से शुरू होती है। गुरुप्राप्ति से अंक निवृत्ति होने की स्थिति में उससे पहले वाला अंक पतित हो तो गुरु प्लुत हो जाता है।

कल्लि० ने यह स्पष्ट किया कि दो अपतितों से दो द्रुत, तीन से तीन द्रुत प्राप्त होते हैं यानी जितने अपतित हों उतने ही द्रुत प्राप्त होते हैं।

लघुमेरु की नीचे वाली पंक्ति की अंकश्रेणी इस प्रकार है—

१	१	१	२	३	५	७
०	।	०।	ऽ	०ऽ	ऽ̀	०ऽ̀

इसके आधार पर, उदाहरण के लिये, ०ऽ̀ के ७ लघुहीन भेदों में से तीसरे भेद का क्या स्वरूप होगा—इसका उत्तर यह है।

७
−३
४
५
४
−३
१
−१
०

७ में से ३ घटाने पर शेष ४ रहा। उसमें से पूर्व अंक ५ न घटने से द्रुत (०) प्राप्त हुआ। ४ में से पूर्व अंक ३ घटने से ऽ प्राप्त हुआ, शेष १ रहा और ४ अंक (३, २, १, १) निवृत्त हुए। शेष में से अन्तिम अंक १ घटने से गुरु प्लुत हो गया। इस तरह तीसरे भेद का स्वरूप ऽ̀० ज्ञात हुआ।

लघुमेरु की अधःपंक्ति का नष्ट समाप्त

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(परपङ्क्तिनष्टम्)

नष्टे तु परपङ्क्तीनां पातयेत् प्रातिलोम्यतः॥ ३९९॥

द्वितीयं च तृतीयाधस्तनमङ्कं च पञ्चमम्।
परेषु च निवृत्तेषु शेषेष्वेष पुनर्विधिः॥ ४००॥

समस्तनष्टवच्चात्र द्रुतादेः प्राप्तिरिष्यते।
किंतु लब्धे लघौ शेषेष्वाद्याधस्तनतः क्रिया॥ ४०१॥

सोऽधस्तनः स्वपङ्क्तिस्थविधिमेवं प्रवर्तयेत्।
शेषेऽङ्काश्रितपङ्क्त्यङ्काभावे तु लघवो मताः॥ ४०२॥

अधस्तनश्रेणिसंख्या नष्टस्यैष विधिः स्मृतः।

इति लघुमेरुपरपङ्क्तिनष्टम्

(२) परपंक्ति का नष्ट

३९९ ग-४०३ ख. (अ०) परिपङ्क्तीनां नष्टे तु (लघुमेरु की) अन्य पंक्तियों के नष्ट में तो प्रातिलोम्यतः उल्टे क्रम से द्वितीयं च तृतीय-अधःतनं दूसरा और तीसरे के नीचे वाला पञ्चमं च अङ्कम् और पाँचवाँ अंक पातयेत् घटाना चाहिये। परेषु निवृत्तेषु च शेषेषु बाद के निवृत्त हुए (अंकों से) बचे हुए (अंकों) में पुनः विधिः फिर से विधि (होती है)। अत्र इसमें (परपंक्ति नष्ट में) द्रुत-आदेः प्राप्तिः द्रुत आदि की प्राप्ति समस्तनष्टवत् च सब कुछ नष्ट के समान ही इष्यते इच्छित (संमत) होती है। किंतु लेकिन लघौ लब्धे लघु प्राप्त होने पर शेषेषु बचे हुए (अंकों) में आद्य-अधःतनतः (पहली पंक्ति में लघु प्राप्ति के कारण रूप) पहले के नीचे वाले (अंक) से क्रिया क्रिया (होती है)। सः वह अधःतनः नीचे वाला (अंक) स्वपङ्क्तिस्थ अपनी पंक्ति में स्थित (अंक के आश्रय से हो) एवं विधिम् इस तरह विधि को प्रवर्तयेत् प्रवृत्त करना चाहिये। शेषे बचे हुए में अङ्क-आश्रितपङ्क्ति-अङ्क-अभावे तु (घटाने योग्य) अंकों के आश्रित पंक्ति में अंक न होने पर तो अधःतनश्रेणिसंख्या नीचे वाली पंक्ति की संख्या वाले (जितने) लघवः मताः लघु माने गये (हैं)। एषः यह नष्टस्य विधिः नष्ट की विधि स्मृतः जानी गई (है)।

(सर०) सिंह० ने प्रतिलोम्यतः का यह अर्थ किया है—पूर्व-पूर्व दूसरे, तीसरे के नीचे वाले और पाँचवें अंकों को घटाना चाहिये। कल्लि० ने यह कहा कि दूसरे, तीसरे के नीचे के और पाँचवें को घटाने में कोई अनुपपत्ति हो तो तीसरा अंक घटाना चाहिये। प्रस्तुत एक लघु आदि भेद के नियम का भंग होना अनुपपत्ति है और ऐसा न हो इस तरह प्रतिलोम के आश्रय से क्रिया करनी चाहिये। आशय यह है कि तीसरे के नीचे वाले अंक का ग्रहण करने से नियम का भंग हो तो क्रम को उलट कर यानी नीचे के तीसरे के बजाय अपनी पंक्ति के तीसरे का ग्रहण करना चाहिये।

कल्लि० ने आद्याधस्तनतः की व्याख्या करते हुए कहा कि आद्य पंक्ति का ग्रहण न हो सकता हो तो तीसरी आदि आड़ी पंक्ति के लिये दूसरी आदि आड़ी पंक्ति के नीचे के अंक का ग्रहण हो सकता है। कल्लि० के अनुसार अङ्काश्रितपङ्क्त्यङ्काभाव का अर्थ यह है कि नष्ट के प्रकृत भेद के अंकों से संबद्ध पंक्ति में अंक न हों तो 'शेष में' यानी उस-उस नष्ट भेद के स्वरूप को लिखने में बाईं ओर का अन्तिम भाग समझना चाहिये। इसी तरह अधस्तनश्रेणिसंख्या का अर्थ है नष्ट के अंकों के नीचे की पंक्ति पहली हो तो एक लघु, दूसरी हो तो दो लघु, तीसरी हो तो तीन लघुओं का ग्रहण करना चाहिये।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

सिंह० ने उदाहरण दिया कि ऽे के एक लघु वाले ७ भेदों में से पहला भेद क्या होगा—इसका उत्तर इस तरह प्राप्त होगा।

लघुमेरु की नीचे की दो पंक्तियों की अंकश्रेणी इस प्रकार है—

	१	२	३	४	७
१	१	१	२	३	५

परपंक्ति की नष्टविधि के अनुसार ७ में से १ घटाने पर ६ बचा। उसमें से दूसरा अंक ४ और तीसरे के नीचे वाला २ घटने से शून्य बचा और निरन्तर पतितों से गुरु प्राप्त हुआ। अंक न होने से लघु का ग्रहण करके एक लघु वाले पहले भेद का स्वरूप ।ऽ ज्ञात हुआ।

लघुमेरु की परपंक्ति का नष्ट समाप्त

लघुमेरु का नष्ट समाप्त

(गुरुमेरुनष्टम्)

(तत्र अधःपङ्क्तिनष्टम्)

गुरुमेरोरधःपङ्क्तौ नष्टं सकलनष्टवत्॥ ४०३॥
प्लुतलाभस्तु गुरुवत्,
इति गुरुमेर्वधःपङ्क्तिनष्टम्

१५—गुरुमेरु का नष्ट

(१) अधःपंक्ति का नष्ट

४०३ ग-४०४ क. (अ०) गुरुमेरोः गुरुमेरु की अधःपङ्क्तौ नीचे की पंक्ति में सकल नष्टवत् सब नष्ट के समान नष्टं नष्ट (होता है)। प्लुतलाभः तु प्लुत की प्राप्ति तो गुरुवत् (लघुमेरु में प्राप्त) गुरु की तरह (होती है)।

(सर०) गुरुमेरु की नष्टविधि सामान्य नष्टविधि की तरह ही होती है। 'गुरु की तरह प्लुतलाभ' का अर्थ यह है कि जिस तरह लघुमेरु में निरन्तर पतितों से गुरु प्राप्त होता है उसी तरह गुरुमेरु की अधःपंक्ति में निरन्तर दो पतितों से प्लुत प्राप्त होता है।

सिंह० ने यह उदाहरण दिया है। ऽे के गुरुहीन १४ भेदों में से पहले भेद का स्वरूप पूछने पर यह विधि होगी।

गुरुमेरु की नीचे की पंक्ति की अंकश्रेणी इस प्रकार है—

१	२	३	५	८	१४
०	।	०।	ऽ	०ऽ	ऽे

१४ में से १ घटाने पर शेष १३ में से अन्त्य अंक ८ और उपान्त्य ५ घटाने पर दो लगातार पतितों से प्राप्त गुरु प्लुत हो गया। इस तरह पहले भेद का स्वरूप ऽे ज्ञात हुआ।

गुरुमेरु की अधःपंक्ति का नष्ट समाप्त

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(परपङ्क्तिनष्टम्)

परपङ्क्तिष्वथोच्यते।
तृतीयाधस्तनस्थाने तृतीयोऽङ्कोऽत्र पात्यते॥ ४०४॥
स्थाने तु पञ्चमस्याधः पञ्चमो लघुवद् गुरौ।
लब्धोऽधोव्रजनं शेषाल्लघुवद् गुरुलम्भनम्॥ ४०५॥
लघुमेरुवदन्यत् तु नष्टे स्यात् परपङ्क्तिषु।

इति गुरुमेरुपरपङ्क्तिनष्टम्

(२) परपंक्ति का नष्ट

४०४ ख-४०६ ख. (अ०) **अथ** अब **परपङ्क्तिषु** (गुरुमेरु की) अन्य पंक्तियों में **उच्यते** (नष्टविधि) कही जा रही है। **तृतीय-अधःतनस्थाने** (लघुमेरु के) तीसरे के नीचे के स्थान पर **अत्र** यहाँ **तृतीयः अङ्कः** (अपनी पंक्ति का) तीसरा अंक **पात्यते** घटाया जाता है। **पञ्चमस्य स्थाने तु** पाँचवें के स्थान पर तो **अधः पञ्चमः** नीचे का पाँचवाँ (घटाया जाता है)। **लघुवत्** लघु(मेरु) की तरह **गुरौ लब्धे** (गुरुमेरु में) गुरु प्राप्त होने पर **शेषात्** बचे हुए (अंकों की क्रिया में) से **अधःव्रजनं** नीचे जाने वाला (विधान किया जाता है)। **लघुवत्** (लघुमेरु में पतितों से) लघु (प्राप्ति) की तरह **गुरुलम्भनं** (यहाँ) गुरु की प्राप्ति (होती है)। **परपङ्क्तिषु नष्टे** परपंक्तियों में नष्ट में **अन्यत् तु** अन्य सब तो **लघुमेरुवत् स्यात्** लघुमेरु की तरह होता है।

(सर०) गुरुमेरु की परपंक्ति की नष्टविधि लघुमेरु की तरह होती है। लेकिन यह भिन्नता है कि तीसरे के नीचे के अंक के बजाय यहाँ अपना तीसरा और अपने पाँचवें के बजाय उसके नीचे का अंक घटाया जाता है। लघुमेरु की परपंक्ति में जैसे लघु प्राप्ति के बाद पहले अंक के नीचे के अंकों के आधार पर क्रिया होती है वैसे ही यहाँ गुरुप्राप्ति के बाद होती है। लघुमेरु में जैसे पतित से लघु प्राप्त होता है उस तरह यहाँ गुरु प्राप्त होता है।

सिंह० ने यह भी कहा कि लघुमेरु में जैसे अंक न रहने पर नीचे की पंक्ति की जितनवीं संख्या हो उतने लघु प्राप्त होते हैं उस तरह यहाँ गुरु प्राप्त होते हैं।

सिंह० ने ऽ के एक गुरु वाले ५ भेदों में से पहले भेद का उदाहरण दिया है। इसके लिये अंकश्रेणी इस प्रकार है—

			१	२	५
१	२	३	५	८	१४
०	।	०।	ऽ	०ऽ	ऽ

५
−१
४
−२
२
−१
१
−१
०

अन्त्य अंक ५ में से नष्टांक १ घटाने पर बचे हुए ४ में से उससे पहले का २ और उससे पहले का अंक १ घटा, शेष १ रहा। निरन्तर पतितों से ऽ प्राप्त हुआ। गुरु प्राप्त होने पर फिर से विधि होगी। अब नीचे की पंक्ति के पाँचवें अंक का ग्रहण करना है इसलिये ऊपर के अंक ५ के बाद नीचे की पंक्ति का पाँचवाँ अंक शेष १ में से घट जाने से लघु प्राप्त होकर एक गुरु वाले पहले भेद का स्वरूप ।ऽ प्राप्त हुआ।

गुरुमेरु की परपंक्ति का नष्ट समाप्त

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(प्लुतमेरुनष्टम्)

(तत्र अधःपङ्क्तिनष्टम्)

समस्तनष्टवन्नष्टं प्लुतमेरावुदाहृतम्॥ ४०६॥

इति प्लुतमेर्वधःपङ्क्तिनष्टम्

१६—प्लुतमेरु का नष्ट

(१) अधःपंक्ति का नष्ट

४०६ ग-घ. (अ०) प्लुतमेरौ प्लुतमेरु (की अधःपंक्ति) में समस्तनष्टवत् सब कुछ नष्ट की तरह नष्टं नष्ट उदाहृतं कहा गया (है)।

(सर०) प्लुतमेरु की नीचे की पंक्ति का नष्ट साधारण नष्टविधि की तरह कहा है। इस पर टीकाकारों की व्याख्या नहीं है, उदाहरण भी नहीं है। यहाँ दो उदाहरणों से समझाया जा रहा है।

०ऽ का प्लुतमेरु यों है—

१	२	३	६	१०	१८	३१
०	।	०।	ऽ	०ऽ	ऽ३	०ऽ३

७ द्रुत वाले ०ऽ के ३१ प्लुतहीन भेदों में से ३० वें भेद का स्वरूप विषमकोष्ठ की नष्टविधि के अनुसार इस प्रकार ज्ञात होगा। ३१ में से नष्टांक ३० घटाने पर शेष १ रहा। १ में से प्लुत की अंकश्रेणी के ३१ से पहले के १८, १०, ६, ३ और २—ये पाँच अंक न घटने से पाँच द्रुत प्राप्त हुए। १ में से अन्तिम अंक १ घट जाने से लघु प्राप्त होकर ३०वें भेद का स्वरूप ।००००० प्राप्त हुआ।

ऽ३ की छठी समपंक्ति के कोष्ठ के अंक १८ से सूचित १८ प्लुतहीन प्रस्तारों में से पहले का स्वरूप क्या होगा—इस प्रश्न का उत्तर समकोष्ठ की नष्टविधि के द्वारा इस तरह मिलेगा।

१८ में से नष्टांक १ घटाने पर बचे अंक १७ में से अन्तिम से पहले वाले दो अंक १० और ६ लगातार पतित होने से उनसे प्राप्त दो लघु मिलकर गुरु हो गया। गुरु प्राप्त होने से १८, १०, ६, ३ निवृत्त हो गये। अगला अंक २ नहीं घटा और अन्तिम अंक १ घटने पर इससे लघु प्राप्त हुआ। तदनुसार प्लुतहीन पहले भेद का स्वरूप ।ऽ प्राप्त हुआ।

१८
−१
१७
−१०
७
−६
१
२
१
−१
०

प्लुतमेरु की अधःपंक्ति का नष्ट समाप्त

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(परपङ्क्तिनष्टम्)

विशेषः कथ्यते त्वेष द्वितीयादिषु पङ्क्तिषु।
अधो गच्छेत् प्लुते पूर्णे गुरुमेरौ गुराविव॥ ४०७॥

द्रुतो लघुर्गुरुर्वान्त्यैरङ्कैर्लब्धः प्लुती भवेत्
तदङ्काधस्तनैः सार्धमङ्कषट्कमतीत्य च ॥४०८॥

अधःपङ्क्तौ स्थितैरङ्कैः शेषैरेष पुनर्विधिः।
पङ्क्तौ तु प्लुतहीनायां नान्तिमः प्लुततां व्रजेत॥ ४०९॥

इति प्लुतमेरुपरङ्क्तिनष्टम्

(२) परपंक्ति का नष्ट

४०७-४०९. (अ०) **द्वितीय-आदिषु पङ्क्तिषु तु** दूसरी आदि पंक्तियों में तो **एषः विशेषः** यह विशेष **कथ्यते** कहा जाता है (अर्थात् कहा जा रहा है)। **गुरुमेरौ** गुरुमेरु में **गुरौ इव** गुरु (प्राप्ति) होने पर (अधोगमन) की तरह (प्लुतमेरु की परपंक्ति के नष्ट में) **प्लुते पूर्णे** प्लुत के पूरा (अर्थात् प्राप्त) होने पर **अधः गच्छेत्** नीचे जाना चाहिये। **अन्त्यैः अङ्कैः** (प्लुत न मिलने पर) अन्तिम अंकों से **लब्धः** प्राप्त हुआ **द्रुतः लघुः गुरुः वा** द्रुत, लघु या गुरु **प्लुती भवेत्** प्लुत हो जाता है। **तत् अङ्कअधःतनैः सार्धं च** और (तब) उस अंक के नीचे के (अंक के) सहित **अङ्कषट्कम् अतीत्य** छ अंकों के समूह को लाँघ कर (वह अवयव प्लुत होता है)। **अधःपङ्क्तौ स्थितैः शेषैः अङ्कैः** नीचे की पंक्ति में स्थित बचे हुए अंकों से **एष** यह **विधिः पुनः** विधि (फिर से) होती है। **प्लुतहीनायां पङ्क्तौ तु** प्लुतहीन पंक्ति में तो **अन्तिमः** अन्तिम (अवयव) **प्लुततां** प्लुत स्वरूप को **न व्रजेत्** नहीं जाता (अर्थात् प्लुत नहीं होता)।

(सर०) प्लुतमेरु की ऊपर की दूसरी आदि पंक्तियों की नष्टविधि गुरुमेरु की तरह होती है। भिन्नता यह है कि प्लुतमेरु में प्लुत प्राप्त होने के बाद नीचे की पंक्ति में क्रिया की जाती है। प्लुत प्राप्त न होता हो तो पिछले प्राप्त द्रुत आदि से ही प्लुत प्राप्ति हो सकती है और तब पहले के जिस पतित से द्रुत, लघु आदि प्राप्त हुए हों उस अंक को लेकर ६ अंक निवृत्त हो जाते हैं। उसके बाद नीचे की पंक्ति के बचे हुए अंकों से विधि शुरू होती है। विशेष भिन्नता यह है कि प्लुतहीन यानी सबसे नीचे की पंक्ति में अन्तिम प्लुत नहीं होता।

उदाहरण के लिये—८ द्रुत वाले । ऽ̆ के एक प्लुत वाले ५ भेदों में से दूसरे भेद का स्वरूप इस तरह ज्ञात होगा। आधार अंकश्रेणी यों है—

					१	२	५
१	२	३	६	१०	१८	३१	५५
०	।	०।	ऽ	०ऽ	ऽ̆	०ऽ̆	।ऽ̆

५
−२
३
−२
१
−१
०

५ में से २ घटाने पर शेष ३ में से पहले के दो अंक २ और १ घट जाने से निरन्तर पतितों ने प्लुत प्राप्त कराया। तालपूर्ति के लिये दो द्रुतों का ग्रहण करने पर एक प्लुत वाले दूसरे भेद का स्वरूप ००ऽ̆ ज्ञात हुआ।

प्लुतमेरु की परपंक्ति का नष्ट समाप्त

(लघुगुरुप्लुतमेरूणामुद्दिष्टम्)

सर्वोद्दिष्टवदुद्दिष्टं लघुमेर्वादिषु त्रिषु॥ ४१० क-ख ॥

इति लघुमेर्वादिमेरुत्रयोद्दिष्टम्

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

१७, १८, १९—लघु, गुरु, प्लुत मेरुओं का उद्दिष्ट

४१० क-ख. (अ०) लघुमेरु-आदिषु त्रिषु लघुमेरु आदि तीनों (मेरुओं) में सर्व उद्दिष्टवत् साधारण उद्दिष्ट जैसा उद्दिष्टम् उद्दिष्ट (होता है)।

(सर०) ग्रन्थकार और टीकाकारों ने लघुमेरु, गुरुमेरु और प्लुतमेरु की उद्दिष्ट विधि के बारे में यह कह कर छोड़ दिया है कि साधारण उद्दिष्ट की तरह होता है। इनकी स्पष्टता के लिये तीनों के उदाहरण नीचे दिये जा रहे हैं। यह सामान्य नियम है कि नष्ट में जिन अंकों से जो अवयव प्राप्त होते हैं उद्दिष्ट में वे अवयव उन्हीं अंकों को प्राप्त कराते हैं।

(१) लघुमेरु उद्दिष्ट

(अ) अधःपंक्ति के समकोष्ठ का उद्दिष्ट

अंकश्रेणी—

	१	२	३	४	७	एक लघु
१	१	१	२	३	५	लघुहीन
०	।	०।	ऽ	०ऽ	ऽ	

ऽ के ५ लघुहीन भेदों में से ऽ०० की संख्या—

दो द्रुतों से अंक प्राप्त नहीं हुए इसलिये ३ और २ छोड़े गये। उससे पहले वाला अंक १ पतित है। लघुमेरु की नीचे की पंक्ति लघुहीन है इसलिये पतित से प्राप्त लघु गुरु हो जाता है। तदनुसार ऽ से पतित अंक १ प्राप्त हुआ। उसे ५ में से घटाने पर ४ बचा इसलिये ऽ०० चौथा भेद है।

(आ) अधःपंक्ति के विषमकोष्ठ का उद्दिष्ट

यह समकोष्ठ के समान ही है फिर भी एक उदाहरण प्रस्तुत है।

०ऽ के ३ लघुहीन भेदों में से ००००० की संख्या—द्रुतों से कोई अंक प्राप्त नहीं होता इसलिये ३ में से ० घटाने पर शेष ३ बचा। यही प्रस्तुत भेद की संख्या है।

(इ) परपंक्ति के समकोष्ठ का उद्दिष्ट

परपंक्ति के नष्ट में दूसरा (उपान्त्य), तीसरे के नीचे का (और इससे अनुपपत्ति होने पर स्वपंक्ति का तीसरा) और अपना पाँचवाँ अंक लिया जाता है। तदनुरूप ऽ के एक लघु वाले ७ भेदों में से ऽ। की संख्या इस तरह प्राप्त होगी।

लघु से ४ प्राप्त हुआ। फिर गुरु के लिये सान्तर पतित होना चाहिये क्योंकि पतित के बाद दूसरा भी पतित होने पर दोनों लघु मिलकर गुरु हो जाता है। इसलिये तीसरे के नीचे का अंक २ छोड़कर अपनी पंक्ति का पाँचवाँ अंक १ प्राप्त हुआ। ४ + १ = ५ को ७ में से घटाने पर शेष २ रहा। इस पतित से प्राप्त लघु गुरु हो गया। इसलिये ऽ। दूसरा भेद है।

(ई) परपंक्ति के विषमकोष्ठ का उद्दिष्ट

इसकी विधि समकोष्ठ के समान ही है। फिर भी एक उदाहरण प्रस्तुत है।

०ऽ के एक लघु वाले ४ भेदों में से ००।० की संख्या। द्रुत से अंक प्राप्त नहीं होता इसलिये उपान्त्य ३ छोड़ा। अब लघु से तीसरे के नीचे का अंक १ प्राप्त होता है। ४ में से १ घटाने पर ३ शेष रहता है। लेकिन प्रकृत भेद तीसरा नहीं दूसरा

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

है। कल्लि० ने लघुमेरु की परपंक्ति के नष्ट की व्याख्या में कहा है कि अगर तीसरे के नीचे का ग्रहण करने से अनुपपत्ति हो यानी इष्ट प्राप्त न हो तो नीचे के बजाय स्वपंक्ति के तीसरे का ग्रहण करना चाहिये। तदनुसार यहाँ अपना तीसरा अंक २ प्राप्त होगा। फिर दो द्रुतों से अंक प्राप्त नहीं हुआ। इस प्रकार ४ – २ = २ शेष रहा। इसलिये ००।० दूसरा भेद है।

(२) गुरुमेरु का उद्दिष्ट

(अ) अधःपंक्ति के समकोष्ठ का उद्दिष्ट

अंकश्रेणी—

			१	२	५	एकगुरु
१	२	३	५	८	१४	गुरुहीन

ऽ के १४ गुरुहीन भेदों में से ।।। की संख्या—पहले लघु से ८ प्राप्त हुआ। स्वतन्त्र लघु सान्तर पतित से प्राप्त होता है इसलिये ८ के बाद सान्तर ३ और फिर तीसरे लघु से सान्तर १ प्राप्त हुआ। ८ + ३ + १ = १२ को १४ में से घटाने पर २ शेष आया। इसलिये ।।। दूसरा भेद है।

(अ) अधःपंक्ति के विषमकोष्ठ का उद्दिष्ट

०ऽ के ८ गुरुहीन भेदों में से ।०। की संख्या—लघु से ५ प्राप्त, द्रुत से अंकप्राप्ति नहीं इसलिये ३ छोड़ा। फिर लघु से २ प्राप्त होना चाहिये लेकिन नष्ट में वह अपतित है इसलिये लघु से २ प्राप्त नहीं होता। अंक १ पतित है इसलिये लघु से वह प्राप्त हुआ। ५ + १ = ६ को ८ में से घटाने पर शेष २ आया। इस प्रकार ।०। दूसरा भेद है।

(इ) परपंक्ति के समकोष्ठ का उद्दिष्ट

ऽ के एक गुरु वाले ५ भेदों में से ऽ०० की संख्या—द्रुतों से अंक प्राप्त नहीं इसलिये २ और १ छोड़े। अब नीचे पाँचवाँ पातनीय अंक न होने से गुरु से अंक प्राप्त होना संभव नहीं है। इसलिये ५ – ० = ५ शेष रहा। इस प्रकार ऽ०० पाँचवाँ भेद है।

(ई) परपंक्ति के विषम कोष्ठ का उद्दिष्ट

०ऽ के एक गुरु वाले दो भेदों में से ०ऽ की संख्या—गुरु के लिये सामान्य नियम के अनुसार दो निरन्तर पतित होने चाहिये। यहाँ एक ही पातनीय अंक १ है। लेकिन गुरु प्राप्त न हो तो विशेष नियम से पहले प्राप्त द्रुत अथवा लघु ही गुरु हो जाता है। इसलिये यहाँ भी ऽ से पतित अंक १ प्राप्त हुआ। द्रुत से कोई अंक प्राप्त नहीं हुआ। इस तरह २ – १ = १ शेष रहने से ०ऽ पहला भेद है।

(३) प्लुतमेरु का उद्दिष्ट

(अ) अधःपंक्ति के समकोष्ठ का उद्दिष्ट

अंक श्रेणी—

					१	२	५	एकप्लुत
	१	२	३	६	१०	१८	३१	५५	प्लुतहीन
	०	।	०।	ऽ	०ऽ	ऽ॑	०ऽ॑	।ऽ॑	

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ऽ के १८ प्लुतहीन भेदों में से ।ऽ की संख्या— गुरु से दो लगातार पतित अंक १० और ६ प्राप्त हुए और गुरुप्राप्ति से ४ अंक (१०, ६, ३, २) निवृत्त हुए यानी उन्हें आगे की विधि में गिना नहीं जायगा। फिर लघु से १ प्राप्त हुआ। १० + ६ + १ = १७ को १८ में से घटाने पर १ बचा। इस तरह ।ऽ पहला भेद है।

(आ) अधःपंक्ति के विषमकोष्ठ का उद्दिष्ट

०ऽ के ३१ प्लुतहीन भेदों में से ०।००। की संख्या— लघु से १८ प्राप्त हुआ और दो अंक १८ और १० निवृत्त हुए। द्रुतों से अंकप्राप्ति नहीं इसलिये ६ और ३ छोड़े। लघु से २ प्राप्त और द्रुत से अंक प्राप्त नहीं हुआ। १८ + २ = २० को ३१ में से घटाने पर ११ शेष रहा। इस तरह ०।००। ग्यारहवाँ भेद है।

(इ) परपंक्ति के समकोष्ठ का उद्दिष्ट

।ऽ के एक प्लुत वाले ५ भेदों में से ००ऽ की संख्या— प्लुत से २ और १ प्राप्त हुए। द्रुतों से अंक प्राप्त नहीं हुआ। २ + १ = ३ को ५ में से घटाकर शेष २ आया। इसके अनुसार ००ऽ दूसरा भेद है।

ग्रन्थकार ने उद्दिष्ट प्रत्यय के अन्तर्गत प्लुतप्राप्ति का एक और सरल उपाय बताया है (श्लोक ३३४-३३५ ख)। उसके अनुसार प्रकृत भेद की संख्या इस तरह प्राप्त होगी। अन्त्य अंक ५ से पहले के नीचे के ७वें अंक २ को ५ में से घटाने पर शेष ३ आया जो प्लुत से प्राप्त अंक है। इस ३ को ५ में से घटाने पर शेष २ रहा। प्लुतप्राप्ति के फलस्वरूप ६ अंक (५, २, १ और नीचे के १०, ६, ३) निवृत्त हुए। द्रुतों से अंक प्राप्त नहीं हुआ। इस तरह ऊपर की विधि से प्राप्त शेष अंक २ से यह ज्ञात हुआ कि ००ऽ दूसरा भेद है।

(ई) परपंक्ति के विषमकोष्ठ का उद्दिष्ट

०ऽ के एक प्लुत वाले दो भेदों में से ०ऽ की संख्या— प्लुत से १ प्राप्त हुआ। द्रुत से अंकप्राप्ति नहीं। २ – १ = १ शेष आया। इस प्रकार ०ऽ पहला भेद है।

दूसरी विधि से— अन्त्य अंक २ से नीचे के ७वें अंक १ को २ में से घटाने पर शेष अंक १ प्लुत से प्राप्त हुआ। इस १ को २ में से घटाने पर शेष १ रहा। द्रुत से अंक प्राप्ति नहीं। इस तरह ०ऽ पहला भेद है।

लघु, गुरु और प्लुत मेरुओं के उद्दिष्ट समाप्त

**इति श्रीमदनवद्यविद्याविनोदश्रीकरणाधिपतिश्रीसोढल—
देवनन्दननिःशङ्कश्रीशार्ङ्गदेवविरचिते संगीतरत्नाकरे
पञ्चमस्तालाध्यायः।**

**श्रीमत् अनवद्य-विद्याविनोद श्रीकरणाधिपति
श्रीसोढलदेवनन्दन निःशङ्क श्रीशार्ङ्गदेव द्वारा विरचित
संगीतरत्नाकर का पाँचवाँ
तालाध्याय समाप्त**

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

प्रस्तुत संस्करण में शुद्ध किये गये आड्यार सं० के मुद्रित मूल पाठ

(१) ऽ ऽ ऽ ऽ । । । ।
उ उ (प्र) श ता ता श ता सं ॥ इति वस्तु ॥

ऽे । ऽ ऽ । ऽे
सं ता श ता श ता ॥ इति तालिका ॥

। । । ।
ता श ता श ॥ इति प्रतिशाखा ॥

ऽे । ऽ ऽ । ऽे
सं ता श ता श ता ॥ इति शीर्षकम् ॥

(२) ऽ ऽ ऽ ऽ । । । ।
उ उ श ता ता श ता सं ॥ इति शाखा ॥

ऽे । ऽ ऽ । ऽे
सं ता श ता श ता ॥ इति शीर्षकम् ॥

ऽे । ऽ ऽ । ऽे
सं ता श ता श ता ॥ इति तालिका ॥

। । । । ऽे । ऽ ऽ । ऽे
ता श ता श ; प्रतिशाखा ॥ सं ता श ता श ता; तालिका ।

ऽे । ऽ ऽ । ऽे
सं ता श ता श ता; शीर्षकम् ॥१॥

ऽ ऽ ऽ ऽ । । । । ऽे । ऽ ऽ । ऽे
उ उ श ता ता श ता सं; शाखा ॥ सं ता श ता श ता; शीर्षकम्।

ऽे । ऽ ऽ । ऽे । । । ।
सं ता श ता श ता; तालिका। ता श ता श; प्रतिशाखा।

ऽे । ऽ ऽ । ऽे ऽे । ऽ ऽ । ऽे
सं ता श ता श ता; शीर्षकम्। सं ता श ता श ता; तालिका ॥२॥

ऽ ऽ ऽ ऽ । । । । ऽे । ऽ ऽ । ऽे
उ उ श ता ता श ता सं; शाखा ॥ सं ता श ता श ता; शीर्षकम् ॥

ऽे । ऽ ऽ । ऽे । । । ।
सं ता श ता श ता; तालिका ।। ता श ता श; प्रतिशाखा।

ऽे । ऽ ऽ । ऽे ऽे । ऽ ऽ । ऽे
सं ता श ता श ता; तालिका ।। सं ता श ता श ता; शीर्षकम् ॥३॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ऽ ऽ ऽ ऽ । । । । ऽे । ऽ ऽ । ऽे
उ उ श ता ता श ता सं; शाखा॥ सं ता श ता श ता; शीर्षकम्।

ऽे । ऽ ऽ । ऽे । । । ।
सं ता श ता श ता; तालिका॥ ता श ता श; प्रतिशाखा॥

ऽे । ऽ ऽ । ऽे ऽे । ऽ ऽ । ऽे
सं ता श ता श ता; तालिका॥ सं ता श ता श ता; शीर्षकम् ॥४॥

ऽ ऽ ऽ ऽ । । । । ऽे । ऽ ऽ । ऽे
उ उ श ता ता श ता सं; शाखा॥ सं ता श ता श ता; शीर्षकम्।

ऽे । ऽ ऽ । ऽे । । । ।
सं ता श ता श ता; तालिका॥ता श ता श; प्रतिशाखा॥

ऽे । ऽ ऽ । ऽे ऽे । ऽ ऽ । ऽे
सं ता श ता श ता; तालिका॥सं ता श ता श ता; शीर्षकम्॥५॥

(३) ऽ ऽ ऽ ऽ । । । ।
उ उ श ता ता श ता सं ॥ वस्तु १॥

ऽ ऽ ऽ ऽ । । । ।
उ उ श ता ता श ता सं ॥ ,, ,, २॥

ऽ ऽ ऽ ऽ { । । । । }
उ उ श ता { ता श ता सं ॥ ,, ,, ३॥ }

ऽ ऽ ऽ ऽ । । । ।
उ उ श ता ता श ता सं ॥ ,, ,, ४॥

ऽ ऽ ऽ ऽ । । । ।
उ उ श ता ता श ता सं ॥ ,, ,, ५॥

। । । ।
ता श ता सं [तृतीयवस्तूत्तरार्धं] इति प्रतिशाखा॥

ऽे । ऽ ऽ । ऽे
सं ता श ता श ता॥ इति तालिका ॥

ऽे । ऽ ऽ । ऽे
सं ता श ता श ता॥ इति शीर्षकम् ॥

(४) ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ
नि प्र नि प्र नि श नि ता ता श ता सं ॥ वस्तु १॥

ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ
नि ता ता श ता सं ॥ प्रतिशाखा ॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

ऽ॑ । ऽ ऽ । ऽ॑ ऽ॑ । ऽ ऽ । ऽ॑
सं ता श ता श ता ॥ शीर्षकम् ॥ सं ता श ता श ता ॥ तालिका ॥

ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ
नि ता ता श ता सं ॥ प्रतिशाखा ॥

ऽ॑ । ऽ ऽ । ऽ॑ ऽ॑ । ऽ ऽ । ऽ॑
सं ता श ता श ता ॥ शीर्षकम् ॥ सं ता श ता श ता ॥ तालिका ॥

। । । । ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ
ता श ता श ॥ प्रतिशाखा ॥ [नि ता ता श ता सं ॥ प्रतिशाखा ॥ (?)]

ऽ॑ । ऽ ऽ । ऽ॑ ऽ॑ । ऽ ऽ । ऽ॑
सं ता श ता श ता ॥ शीर्षकम् ॥ सं ता श ता श ता ॥ तालिका ॥

(५) ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ
नि प्र नि प्र नि श नि ता ता श ता सं ॥ वस्तु १ ॥

ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ
नि प्र नि प्र नि श नि ता ता श ता सं ॥ " २ ॥

ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ
नि प्र नि प्र नि श नि ता ता श ता सं ॥ " ३ ॥

ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ
नि प्र नि प्र नि श नि ता ता श ता सं ॥ " ४ ॥

ऽ॑ । ऽ ऽ । ऽ॑
सं ता श ता श ता ॥ इत्युपवर्तनम् ॥

ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ
नि प्र नि प्र नि श नि ता ता श ता सं ॥ " ५ ॥

ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ
नि ता ता श ता सं ॥ प्रतिशाखा ॥

ऽ॑ । ऽ ऽ । ऽ॑
सं ता श ता श ता ॥ तालिका ॥

ऽ॑ । ऽ ऽ । ऽ॑
सं ता श ता श ता ॥ शीर्षकम् ॥

(६) एवं षड्वस्तुकसप्तवस्तुके शाखां चतुर्थशाखान्त उपवर्तनं शाखान्ते पूर्ववत् तालिकां शीर्षकं च लिखित्वा वस्तुत्रयात्मकं शाखार्धरूपं प्रतिशाखां, तुर्यवस्त्वन्त उपवर्तनं तालिकां शीर्षकं च लिखेत्। एवमेव सप्तवस्तुके वस्तुत्रयात्मकं शाखार्धरूपां प्रतिशाखां तुर्यवस्त्वन्त उपवर्तनयुक्ता तालिकां शीर्षकं च लिखित्वा सार्धवस्तुत्रयात्मिकां तुर्यवस्त्वन्तोपवर्तनयुक्तां प्रतिशाखां तालिकां च शीर्षकं च लिखेत्।

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(७) ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ
नि प्र नि प्र नि श नि ता ता श ता सं ॥ शाखा १ ॥

ऽे । ऽ ऽ । ऽे
सं ता श ता श ता ॥ तालिका १ ॥

ऽे । ऽ ऽ । ऽे
सं ता श ता श ता ॥ शीर्षकम् १ ॥

ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ
नि ता ता श ता सं ॥ प्रतिशाखा १ ॥

ऽे । ऽ ऽ । ऽे
सं ता श ता श ता ॥ तालिका १ ॥

ऽे । ऽ ऽ । ऽे
सं ता श ता श ता ॥ शीर्षकम् १ ॥

ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ
नि प्र नि प्र नि श नि ता ता श ता सं ॥ शाखा २ ॥

ऽे । ऽ ऽ । ऽे
सं ता श ता श ता ॥ तालिका २ ॥

ऽे । ऽ ऽ । ऽे
सं ता श ता श ता ॥ शीर्षकम् २ ॥

ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ
नि ता ता श ता सं ॥ प्रतिशाखा २ ॥

ऽे । ऽ ऽ । ऽे
सं ता श ता श ता ॥ तालिका २ ॥

ऽे । ऽ ऽ । ऽे
सं ता श ता श ता ॥ शीर्षकम् २ ॥

ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ
नि प्र नि प्र नि श नि ता ता श ता सं ॥ वस्तु ३ ॥

ऽे । ऽ ऽ । ऽे
सं ता श ता श ता ॥ तालिका ३ ॥

ऽे । ऽ ऽ । ऽे
सं ता श ता श ता ॥ शीर्षकम् ३ ॥

ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ
नि ता ता श ता सं ॥ प्रतिशाखा ३ ॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ऽ̆ । ऽ ऽ । ऽ̆
सं ता श ता श ता ॥ तालिका ३ ॥

ऽ̆ । ऽ ऽ । ऽ̆
सं ता श ता श ता ॥ शीर्षकम् ३ ॥

ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ
नि प्र नि प्र नि श नि ता ता श ता सं ॥ शाखा ४ ॥

ऽ̆ । ऽ ऽ । ऽ̆
सं ता श ता श ता ॥ तालिका ४ ॥

ऽ̆ । ऽ ऽ । ऽ̆
सं ता श ता श ता ॥ शीर्षकम् ४ ॥

ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ
नि ता ता श ता सं ॥ प्रतिशाखा ४ ॥

ऽ̆ । ऽ ऽ । ऽ̆
सं ता श ता श ता ॥ तालिका ४ ॥

ऽ̆ । ऽ ऽ । ऽ̆
सं ता श ता श ता ॥ शीर्षकम् ४॥

ऽ̆ । ऽ ऽ । ऽ̆
सं ता श ता श ता ॥ उपवर्तनम्॥

ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ
नि प्र नि प्र नि श नि ता ता श ता सं ॥ शाखा ५॥

ऽ̆ । ऽ ऽ । ऽ̆
सं ता श ता श ता ॥ तालिका ५ ॥

ऽ̆ । ऽ ऽ । ऽ̆
सं ता श ता श ता ॥ शीर्षकम् ५ ॥

ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ
नि ता ता श ता सं ॥ प्रतिशाखा ५ ॥

ऽ̆ । ऽ ऽ । ऽ̆
सं ता श ता श ता ॥ तालिका ५ ॥

ऽ̆ । ऽ ऽ । ऽ̆
सं ता श ता श ता ॥ शीर्षकम् ५ ॥

(८) ऽ
आ नि वि प्र आ नि वि प्र आ नि वि श आ नि वि ता आ ता वि श ता नि वि सं
॥ शाखा १॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ऽे । ऽ ऽ । ऽे ऽे । ऽ ऽ । ऽे
सं ता श ता श ता ॥ शीर्षकम् ॥ सं ता श ता श ता ॥ तालिका ॥

ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ
आ नि वि ता आ ता वि श ता नि वि सं ॥ प्रतिशाखा १ ॥

ऽे । ऽ ऽ । ऽे ऽे । ऽ ऽ । ऽे
सं ता श ता श ता ॥ तालिका १ ॥ सं ता श ता श ता ॥ शीर्षकम् १ ॥

ऽ ऽ
आ नि वि प्र आ नि वि प्र आ नि वि श आ नि वि ता आ ता वि श ता नि वि सं
॥ शाखा २ ॥

ऽे । ऽ ऽ । ऽे ऽे । ऽ ऽ । ऽे
सं ता श ता श ता ॥ शीर्षकम् २ ॥ सं ता श ता श ता ॥ तालिका २ ॥

ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ. ऽ ऽ ऽ ऽ
आ नि वि ता आ ता वि श ता नि वि सं ॥ प्रतिशाखा॥ २॥

ऽे । ऽ ऽ । ऽे ऽे । ऽ ऽ । ऽे
सं ता श ता श ता ॥ तालिका २ ॥ सं ता श ता श ता ॥ शीर्षकम् २ ॥

ऽ ऽ
आ नि वि प्र आ नि वि प्र आ नि वि श आ नि वि ता आ ता वि श ता नि वि सं
॥ शाखा ३ ॥

ऽे । ऽ ऽ । ऽे ऽे । ऽ ऽ । ऽे
सं ता श ता श ता ॥ शीर्षकम् ३ ॥ सं ता श ता श ता ॥ तालिका ३ ॥

ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ
आ नि वि ता आ ता वि श ता नि वि सं ॥ प्रतिशाखा॥ ३॥

ऽे । ऽ ऽ । ऽे ऽे । ऽ ऽ । ऽे
सं ता श ता श ता ॥ तालिका ३ ॥ सं ता श ता श ता ॥ शीर्षकम् ३ ॥

ऽ ऽ
आ नि वि प्र आ नि वि प्र आ नि वि श आ नि वि ता आ ता वि श ता नि वि सं
॥ शाखा ४ ॥

ऽे । ऽ ऽ । ऽे ऽे । ऽ ऽ । ऽे
सं ता श ता श ता ॥ शीर्षकम् ४ ॥ सं ता श ता श ता ॥ तालिका ४ ॥

ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ
आ नि वि ता आ ता वि श ता नि वि सं ॥ प्रतिशाखा ४ ॥

ऽे । ऽ ऽ । ऽे ऽे । ऽ ऽ । ऽे
सं ता श ता श ता ॥ तालिका ४ ॥ सं ता श ता श ता ॥ शीर्षकम् ४ ॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ऽ ऽ
आ नि वि प्र आ नि वि प्र आ नि वि श आ नि वि ता आ ता वि श ता नि वि सं

॥ शाखा ५ ॥

ऽे । ऽ ऽ । ऽे ऽे । ऽ ऽ । ऽे
सं ता श ता श ता ॥ शीर्षकम् ५ ॥ सं ता श ता श ता ॥ तालिका ५ ॥

ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ
आ नि वि ता आ ता वि श ता नि वि सं ॥ प्रतिशाखा ५ ॥

ऽे । ऽ ऽ । ऽे ऽे । ऽ ऽ । ऽे
सं ता श ता श ता ॥ तालिका ५ ॥ सं ता श ता श ता ॥ शीर्षकम् ५ ॥

(९) ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ
आ नि वि श आ नि वि ता आ श वि ता आ नि वि सं ।

ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ
[नि वि श नि वि ता नि श ता श ता सं]।

वैहायसान्तं चतुष्कलमुल्लोप्यकम्।

ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ
आ नि वि श आ नि वि ता आ श वि ता आ नि वि सं॥

चतुर्मात्रामात्रप्रयोगशून्यचतुष्कला।

ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ
आ नि वि श आ नि वि ता आ श वि ता आ नि वि सं ।

चतुष्कलान्तमुल्लोप्यकम्।

ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ
नि वि श नि वि ता नि श ता श ता सं ॥ मात्रा १ ॥

ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ
आ नि वि श आ नि वि ता आ श वि ता आ नि वि सं ।

ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ
नि वि श नि वि ता नि श ता श ता सं।

इत्युल्लोप्यककलाप्रयोगः।

शून्यकला चतुष्कलानन्तरं वैहायसरूपम्। चतुष्कला मात्रा।

ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ
आ नि वि श आ नि वि ता आ श वि ता आ नि वि सं ॥ शाखा ॥

ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ
नि वि श नि वि ता नि श ता श ता सं ॥ एवमेव पदान्तरनिर्मिता प्रतिशाखा॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(१०) अथ युग्मप्रवृत्तान्तं महाजनिकस्थितान्तमुल्लोप्यकं यथा—
चतुष्कलमात्रावैहायसयोरनन्तरं

ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ
नि श श श ता श ता सं। नि श नि ता नि प्र नि सं॥

अथ युग्मस्थितमयुग्मस्थितान्तमुल्लोप्यकं यथा—
चतुष्कलमात्रावैहायसयोरनन्तरं

ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ
नि श नि ता नि प्र नि सं। नि श ता प्र नि सं॥

अथ अयुग्मप्रवृत्तान्तमुल्लोप्यकं यथा—
चतुष्कलमात्रावैहायसयोरनन्तरं

ऽे । ऽ ऽ । ऽे
सं ता श ता श ता ॥

अथ अयुग्मप्रवृत्त युग्ममहाजनिकं यथा—
चतुष्कलमात्रावैहायसयोरनन्तरं

ऽे । ऽ ऽ । ऽे ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ
सं ता श ता श ता। नि श नि ता श प्र नि सं ॥

*

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

षष्ठो वाद्याध्यायः

छठा वाद्याध्याय

(मङ्गलाचरणम्)

ततं येनावनद्धं च भुवनं निजमायया।
आनन्दघनमध्येमि तं ब्रह्मसुषिरे हरम्॥ १॥

मंगलाचरण

१. (अ०) येन जिस (परमेश्वर) के द्वारा निजमायया अपनी माया से भुवनं जगत् (का) ततं विस्तार किया गया अवनद्धं च और बाँधा गया तम् उस आनन्दघनं हरं निरतिशय आनन्द रूप (परमानन्दस्वरूप) शंकर को ब्रह्मसुषिरे ब्रह्मरन्ध्र (हृदयकमल) में अध्येमि स्मरण (नमन) करता हूँ।

(सर०) ग्रन्थकार ने एक बार फिर समासोक्ति अलंकार के द्वारा प्रस्तुत श्लोक और दूसरे श्लोक में अपने इष्टदेवता शंकर की स्तुति की है।

सिंह० ने कहा कि पाँचवें अध्याय में संबद्ध विषयों के सहित गीत कहने के बाद आगे कहे जाने वाले वाद्य और नृत्य में से नृत्य वाद्य का अनुगामी होने, गीत का अनुगामी होने और गीत की अभिव्यक्ति का हेतु होने से वाद्य की प्रधानता होती है इसलिये वीणादि वाद्यों को गीत के बाद कहने की इच्छा से ग्रन्थकार ने मंगलाचरण करते हुए अभिधेय यानी जो कहना है उस वाद्य को अभिव्यक्त किया है। अध्येमि का प्रयोग स्मरण करने के अर्थ में है क्योंकि इसमें स्मरण अर्थ वाली 'इक्' धातु है—इस ओर सिंह० ने ध्यान दिलाया। ब्रह्मसुषिर का अर्थ है ब्रह्मरन्ध्र जिसे ब्रह्म की उपासना का स्थान कहा गया है। आनन्दघनं यानी आनन्द से व्याप्त या आनन्द अर्थात् सुखरूप और घनं यानी अचल—ऐसे उसका स्मरण किया है जिसके द्वारा सारा संसार ततं व्याप्त है। यहाँ सिंह० ने प्रश्न उठाया कि वह तो धर्मरहित है फिर उसकी व्याप्ति आदि कैसे संभव है? उत्तर देते हुए कहा कि उसके ये सारे धर्म माया से हैं, तात्त्विक यानी वास्तविक नहीं।

वाद्य पक्ष में सिंह० का यह अर्थ है। शिवं यानी कल्याणरूप, येन अर्थात् जिसके द्वारा वीणादि ततं, मुरज आदि अवनद्धं, आनन्ददायक कांस्यताल आदि घनं तथा वंश आदि सुषिर इत्यादि का निजमायया यानी अपने प्रपंच से ब्रह्म अर्थात् बृहत् रूप से विस्तार किया गया तं यानी उस वाद्य का अध्येमि स्मरण करता हूँ अर्थात् कहने की इच्छा रखता हूँ।

कल्लि० के अनुसार गीत में उपयोगी होने से उसके बाद उद्दिष्ट वाद्य का प्रकरण शुरू करते हुए सबसे पहले समुचित इष्टदेवता का स्मरण करके ग्रन्थकार ने दो श्लोकों में स्तुति की है। ग्रन्थकार ने 'संगीत' के लक्षण में गीतं वाद्यं तथा नृत्तं—इस प्रकार 'गीत के बाद उद्दिष्ट वाद्य' कह कर उसी तरफ संकेत किया है।

कल्लि० ने याद दिलाया कि पिण्डोत्पत्ति प्रकरण में हृत्पंकज को 'चेतन का स्थान' कहा जा चुका है। श्लोक में प्रयुक्त तत, अवनद्ध, घन और सुषिर शब्दों से वाद्यों के भेद व्यक्त किये गये हैं।

चित्रा वाचः प्रवर्तन्ते धातुवृत्तिविचित्रिताः।
यतस्तं नौमि विस्तारतत्त्वौघानुगतं हरम्॥ २॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

२. (अ०) यतः जहाँ से धातुवृत्तिविचित्रिताः धातुओं (और) वृत्तियों से विचित्रित चित्राः वाचः विविध (प्रकार की वेदादि) वाणियाँ प्रवर्तन्ते प्रवृत्त होती हैं तम् उस विस्तार-तत्त्व-ओघ-अनुगतं शिवं विस्तार युक्त (और) (महत् आदि) तत्त्वों के समूह के अनुगत (अर्थात् उनमें अनुस्यूत) शिवं शिव को नौमि नमन करता हूँ।

(सर०) सिंह० के अनुसार मंगलाचरण का बाहुल्य श्रेय के बाहुल्य का हेतु होता है इसलिये ग्रन्थकार ने फिर से मंगलाचरण किया है। इस श्लोक में उस शिव की स्तुति की है जो विस्तारं विस्तार से तत्त्व प्रकृति आदि चौबीस तत्त्वों के ओघ समूह में अनुगत अनुस्यूत होता है और जिससे धांतु त्वचा आदि ७ धातुएँ या कफ आदि तीन धातुएँ वृत्तिः और उनके व्यापारों से विचित्रिताः विचित्रित चित्राः वाचः विचित्र या विविध वेदरूपा वाणियाँ प्रवर्तन्ते प्रवृत्त होती हैं।

सांख्य दर्शन में प्रकृति आदि २४ तत्त्व ये हैं—प्रकृति, महत्, (बुद्धि), अहंकार, पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय, अन्तःकरण, पाँच तन्मात्र और पाँच महाभूत। आयुर्वेद में ७ धातुएँ ये हैं—त्वचा, रक्त, मांस, मेद (चर्बी), अस्थि (हड्डी), मज्जा और शुक्र (सं०र०, १/२/७९)। शरीर को धारण करने वाली ३ धातु वात, पित्त और कफ हैं।

वाद्य पक्ष में सिंह० ने यह अर्थ किया है। उस शिव कल्याणरूप शिव को नमन करता हूँ जो विस्तार आदि धातुओं, वृत्ति चित्रा आदि वृत्तियों, तत्त्व-ओघ-अनुगतं तत्त्व, ओघ आदि 'गीतानुग' वाद्य के भेदों के अनुगत होता है और जिससे चित्राः वाचः विभिन्न प्रकार के वाद्याक्षर या चित्रा नामक वीणा के अक्षर अथवा चित्रा वृत्ति के शब्द उत्पन्न होते हैं।

कल्लि० ने धातु का अर्थ व्याकरण की 'भू' आदि धातुएँ दिया है और वृत्ति यानी समास या अभिधा, गौणी आदि शब्द व्यापार से विचित्रित, चित्राः वाचः वेदादि विविध वाक्य जो शिव से उत्पन्न होते हैं और जो इसलिये कर्ता या प्रवक्ता रूप से कारणभूत हैं, विस्तारतत्त्वौघानुगतं विस्तार और महत् आदि तत्त्वों के समूह का अनुगत या उनकी उत्पत्ति, स्थिति और लय (वापस लीन होना) का आश्रय होकर उनका अनुगत है। ऐसी श्रुति है कि 'उसकी सृष्टि करके उसी में प्रविष्ट हो गया' (तै०उ०, २-६)।

कल्लि० ने वाद्य पक्ष के लिये कहा कि यहाँ धातु आदि शब्दों से आगे कही जाने वाली वाद्यविधियाँ ध्वनित होती हैं।

(वाद्यनिरूपणप्रयोजनम्)

गीतं चतुर्विधाद् वाद्याज्जायते चोपरज्यते।
मीयते च ततोऽस्माभिर्वाद्यमत्र निगद्यते॥ ३॥

वाद्य-निरूपण का प्रयोजन

३. (अ०) चतुर्विधात् वाद्यात् चार प्रकार के वाद्य (वाद्यों) से गीतं गीत जायते उत्पन्न होता है उपरज्यते च और उपरंजित होता है मीयते च तथा मापा जाता है। ततः इससे (इसलिये/इस कारण) अत्र यहाँ (गीत के बाद) अस्माभिः हमारे द्वारा वाद्यं निगद्यते वाद्य कहा जा रहा है (निरूपण किया जा रहा है)।

(सर०) मंगलाचरण करने के बाद पिछले अध्याय में प्रतिपादित गीत के साथ इस अध्याय में वाद्य के प्रतिपादन की संगति या संबन्ध दिखाते हुए चतुर्विध वाद्य का मुख्य कार्य या प्रयोजन भी प्रस्तुत कारिका में ग्रन्थकार ने बता दिया। वाद्य के तीन प्रयोजन हैं। उनके द्वारा गीत या तो उत्पन्न होता है या उपरंजित होता है या उसे नापा जाता है।

यहाँ प्रयुक्त गीत शब्द की व्याप्ति बहुत है। विभिन्न संदर्भों में इसके अनेक अर्थों की चर्चा प्रस्तुत ग्रन्थमाला के दूसरे खण्ड के अन्तर्गत चौथे प्रबन्ध अध्याय के शुरू में 'गीत' की व्याख्या में की जा चुकी है (पृ० २०१)। वाद्य के संदर्भ में यहाँ प्रयुक्त गीत शब्द सांगीतिक रचना के स्वरपक्ष यानी स्वररचना का सूचक है। स्वर की उत्पत्ति मूलतः मनुष्य कण्ठ से होती है लेकिन उसके अनुकरण पर वाद्यों से भी स्वर उत्पन्न होते हैं।

दूसरा प्रयोजन है गीत का उपरंजन यानी उसे ज्यादा रंजक बनाना, समृद्ध करना। और तीसरा प्रयोजन गीत के काल का माप करना है। इस तरह चार प्रकार के वाद्य गीत से सीधे संबद्ध हैं इसीलिये ग्रन्थकार ने गीत के बाद वाद्य का निरूपण इस अध्याय में किया है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

गीत की तरह वाद्य शब्द भी कई अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। उनकी चर्चा की जा चुकी है। वाद्याध्याय में वाद्य के मुख्य अर्थ ये हैं—तत आदि वाद्ययन्त्र, हस्तव्यापारों,की वादनविधि, विशिष्ट तत वाद्यों पर किसी गीतरचना के वादन का प्रकार और अवनद्ध वाद्यों पर बजाई जाने वाली रचनाएँ। प्रस्तुत श्लोक में वाद्य शब्द वाद्ययन्त्रों के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।

(चतुर्विधवाद्यं तत्प्रयोजनसंबन्धश्च)

तत् ततं सुषिरं चावनद्धं घनमिति स्मृतम्।
चतुर्धा तत्र पूर्वाभ्यां श्रुत्यादिद्वारतो भवेत् ॥ ४॥
गीतं ततोऽवनद्धेन रज्यते मीयते घनात्।

चतुर्विध वाद्य और उनका प्रयोजनों से संबन्ध

४-५ ख. (अ०) तत् वह (वाद्य) ततं सुषिरम् अवनद्धं घनं च इति तत, सुषिर अवनद्ध और घन इस तरह चतुर्धा स्मृतं चार प्रकार से जाना गया है। तत्र उनमें से पूर्वाभ्यां पहले दो (तत और सुषिर) से श्रुति-आदि-द्वारतः श्रुति आदि के द्वारा गीतं भवेत् गीत (उत्पन्न) होता है। ततः उसके बाद अवनद्धेन अवनद्ध के द्वारा रज्यते रंजित होता है (और) घनात् घन से मीयते मापा जाता है।

(सर०) इस अंश में चार प्रकार के वाद्यों की संज्ञा और उनके अपने-अपने प्रयोजन बताये गये हैं। चतुर्विध वाद्य ये हैं— तत (वीणादि), सुषिर (वंश आदि), अवनद्ध (पटह आदि) और घन (कांस्यताल आदि)।

तत और सुषिर वाद्यों से श्रुति आदि के द्वारा गीत (स्वरसंनिवेशरूप रचना) उत्पन्न होता है। कल्लि० ने कहा कि श्रुति के साथ प्रयुक्त आदि शब्द से स्वर-मूर्च्छना-क्रम-तान-अलंकार-जाति और गीतियों का ग्रहण होता है। लेकिन इन सबका द्वार यानी मुख श्रुति ही है जिससे गीत यानी संगीत उत्पन्न होता है इसलिये ग्रन्थकार ने श्रुति-आदि कह कर वाद्यों के कार्य कहे हैं।

अवनद्ध के द्वारा रंजन पर कल्लि० ने कहा कि इसका अर्थ यह है कि अवनद्ध का वादन इस तरह किया जाता है जिससे गीत के नाद का साम्य होकर अतिशय रक्ति हो। इसे यों समझें कि गीत में जहाँ-जहाँ अक्षर हों वहाँ-वहाँ अवनद्ध में आघात किये जायँ और जहाँ कोमल, बलवान् आदि ध्वनि हो वहाँ अवनद्ध में वैसी ही ध्वनि उत्पन्न की जाय तो गीत के नाद के साथ अवनद्ध के वादन का साम्य होने से संगीत ज्यादा रंजक हो जाता है। कर्णाटक संगीत में गान या वीणा-बाँसुरी आदि के वादन के साथ मृदंगम् आदि जिस तरह बजाया जाता है वह अवनद्ध के द्वारा उपरंजन का उदाहरण है। उत्तर भारतीय संगीत में भी जब गायन-वादन के साथ तबला, पखावज आदि का इसी तरह वादन होता है तो संगीत का प्रभाव बढ़ जाता है।

घन वाद्यों में लघु आदि अवयवों से नापी गई क्रियाओं के द्वारा गीत-वाद्य का माप होता है, यह तालाध्याय में कहा जा चुका है।

इस तरह चतुर्विध वाद्य गीत के ही उपकारक यानी सहायक हैं यह समझना चाहिये, ऐसा कल्लि० ने कहा।

(चतुर्विधवाद्यस्य सामान्यलक्षणम्)

वाद्यतन्त्री ततं वाद्यं सुषिरं सुषिरं मतम्॥ ५॥
चर्मावनद्धवदनमवनद्धं तु वाद्यते
घनो मूर्तिः साभिघाताद् वाद्यते यत्र तद् घनम्॥ ६॥

चतुर्विध वाद्यों के सामान्य लक्षण

५ ग-६. (अ०) वाद्यतन्त्री ततं वाद्यं वादनीया (बजाने योग्य) तन्त्री वाला तत वाद्य (है, अथवा ततं तन्त्री ततं वाद्यं

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

विस्तारित तन्त्री वाला तत वाद्य है)। सुषिरं छिद्र वाला सुषिरं मतं सुषिर (वाद्य) माना गया (है)। चर्म-अवनद्धवदनं तु (जहाँ) चमड़े से ढका हुआ मुँह तो वाद्यते ध्वनित होता है अवनद्धं (वह) अवनद्ध (कहलाता है)। घनः मूर्तिः घन (का अर्थ) मूर्ति (है)। सा वह (मूर्ति) यत्र जहाँ (जिसमें) अभिघातात् (परस्पर) टकराने से वाद्यते बजाई जाती है तत् घनं वह घन (वाद्य है)।

(सर०) आड्यार का पाठ वाद्यतन्त्रीततं वाद्यं है, कल्लि० का भी यही पाठ है। सिंह० का ततं तन्त्री ततं वाद्यं है। हमने मूल में आड्यार का पाठ रखा है लेकिन अन्वय और अनुवाद दोनों के अनुसार दिया है।

इन कारिकाओं में बहुत संक्षेप में चतुर्विध वाद्यों के सामान्य लक्षण उनमें ध्वनि-उत्पत्ति के माध्यम के द्वारा कहे गये हैं। फैलाई हुई तन्त्री पर आघात से स्वरोत्पत्ति वाला वाद्य तत है। सुषिर का अर्थ है भीतर से खोखला इसलिये भीतर छिद्र वाली यानी खोखली नली में पूरित वायु पर आघात से स्वरोत्पादन वाला वाद्य सुषिर है। मुँह पर मढ़े हुए चमड़े पर आघात से ध्वनि उत्पन्न होने से अवनद्ध वाद्य और दो ठोस पिण्डों को परस्पर टकरा कर ध्वनि की उत्पत्ति वाला वाद्य घन है।

ऊपर दिये गये लक्षणों से यह प्रकट होता है कि वाद्यों के इस चतुर्विध वर्गीकरण का आधार यह नहीं है कि वाद्य किस वस्तु या सामग्री का बना हुआ है बल्कि किस माध्यम से ध्वनि उत्पन्न होती है इस पर आधारित है। इसी अध्याय में वाद्यों के लक्षणों से भी इसकी पुष्टि होती है जहाँ वाद्यविशेष लकड़ी, धातु, खोखली नली आदि विभिन्न प्रकार की सामग्री से बना होने पर भी उसे उस वर्ग में रखा गया है जिसमें ध्वनि उत्पादक माध्यम ऊपर कहे अनुसार है। यह भारतीय वर्गीकरण अत्यन्त प्राचीन और वैज्ञानिक है जो ना०शा० से भी पहले से चला आ रहा है।

(वाद्यभेदानामुद्देशः)

(तत्र ततभेदाः)

ततं वीणा द्विधा सा च श्रुतिस्वरविवेचनात्।
तत्र श्रीशार्ङ्गदेवेन श्रुतिवीणोदिता पुरा॥ ७॥

वक्ष्यते स्वरवीणात्र तस्यामपि विचक्षणाः।
अङ्कित्वा स्वरदेशानां भागानुद्भिन्दते श्रुतीः॥ ८॥

वाद्यों के भेदों का उद्देश

ततभेद

७-८. (अ०) वीणा ततं वीणा तत (वाद्य है) सा च और वह श्रुतिस्वरविवेचनात् श्रुति (और) स्वर के भेद से द्विधा दो प्रकार से (होती है)। तत्र उनमें से श्रीशार्ङ्गदेवेन श्रीशार्ङ्गदेव के द्वारा श्रुतिवीणा श्रुतिवीणा पुरा उदिता पहले (सारणा के निरूपण में) कही गई। स्वरवीणा स्वरवीणा अत्र यहाँ वक्ष्यते कहूँगा। तस्याम् अपि उसमें भी विचक्षणाः संगीत-मर्मज्ञ स्वरदेशानां स्वरस्थानों के भागान् भागों (अंशों) को अङ्कित्वा अंकित करके श्रुतीः श्रुतियाँ उद्भिन्दते उत्पन्न करते हैं।

(सर०) तत वाद्य का ही दूसरा नाम वीणा है क्योंकि सभी प्रकार की वीणाओं में तन्त्रियों से ध्वनि उत्पन्न की जाती है। दो प्रकार की वीणा होती है—श्रुतिवीणा और स्वरवीणा। श्रुतिनिरूपण के समय चतुःसारणा के अन्तर्गत श्रुतिवीणा का निरूपण किया जा चुका है जिसका प्रयोजन सिर्फ़ श्रुतियों को सिद्ध करना है। स्वरवीणा में विभिन्न स्वर उत्पन्न करने के लिये स्वरों के स्थानों के बीच चिन्हित करके श्रुतियाँ उत्पन्न की जाती हैं ताकि, कल्लि० के अनुसार, श्रुति की ध्वनि कम-ज़्यादा न हो जाय। स्वरस्थानों के बीच में श्रुतियाँ उत्पन्न करने के कथन से यह प्रकट होता है कि यह डाँड वाली वीणा के लिये कहा गया है क्योंकि हर स्वर के लिये स्वतन्त्र तार वाली वीणा में ऐसा करना संभव नहीं है। कल्लि० ने दण्ड का उल्लेख भी किया और यह भी कहा कि श्रुतिवीणा में तो स्वर स्वतः उत्पन्न हो जाते हैं। कारण यह है कि श्रुतिवीणा में हर श्रुति के लिये तन्त्री होती है इसलिये उसे छेड़ने से स्वर अपने आप उत्पन्न हो जाता है लेकिन स्वरवीणा में डाँड पर बँधे तार पर स्वरों के बीच श्रुतियाँ उत्पन्न करते समय इसका ध्यान रख कर ध्वनि-उत्पादन होता है कि श्रुति कम-ज़्यादा न हो जाय।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ग्रन्थकार द्वारा प्रयुक्त अङ्कित्वा से श्रुति के स्थानों पर वास्तव में चिन्ह लगाना अभिप्रेत नहीं है क्योंकि 'विचक्षणों' के द्वारा चिन्ह लगाये बिना ही स्वरों के बीच की श्रुतियाँ उत्पन्न कर ली जाती हैं।

(स्वरवीणाभेदोद्देशः)

तद्भेदास्त्वेकतन्त्री स्यान्नकुलश्च त्रितन्त्रिका।
चित्रा वीणा विपञ्ची च ततः स्यान्मत्तकोकिला॥ ९॥
आलापिनी किंनरी च पिनाकीसंज्ञिता परा।
निःशङ्कवीणेत्याद्याश्च शार्ङ्गदेवेन कीर्तिताः॥ १०॥

स्वरवीणा के भेदों का उद्देश

९-१०. (अ०) तत् उस (स्वरवीणा) के भेदाः तु भेद तो एकतन्त्री स्यात् एकतन्त्री होती है (तथा) नकुलः च त्रितन्त्रिका नकुल और त्रितन्त्री, चित्रा वीणा विपञ्ची च चित्रा वीणा और विपंची, ततः मत्तकोकिला स्यात् उसके बाद मत्तकोकिला होती है। आलापिनी किंनरी च आलापिनी और किंनरी, परा पिनाकी संज्ञिता अन्य पिनाकी नाम वाली निःशङ्कवीणा आद्याः च और निःशंकवीणा आदि इति ये शार्ङ्गदेवेन शार्ङ्गदेव के द्वारा कीर्तिताः कही गई (हैं)।

(सर०) कल्लि० ने कहा कि निःशङ्कवीणा-आद्याः में 'आद्य' शब्द से दूसरे स्थानों में प्रचलित अन्य वीणाओं का भी ग्रहण होता है और अपने नाम से निःशंकवीणा नाम देने से यह समझना चाहिये कि अपनी बुद्धि से वाद्यरचना करके अपनी इच्छा से नाम दिया जा सकता है चाहे वह वाद्य अप्रचलित हो। सुषिर आदि वाद्यों में भी ऐसा ही समझना चाहिए।

ग्रन्थकार ने अपने उपनाम निःशङ्क के द्वारा स्वरचित वीणा को निःशङ्कवीणा संज्ञा दी है।

(सुषिरवाद्यभेदोद्देशः)

वंशः पावः पाविका च मुरली मधुकर्यपि।
काहलातुण्डुकिन्यौ च चुक्का शृङ्गमतः परम्॥ ११॥
शङ्खादयश्च वाद्यस्य सुषिरस्य भिदा मताः।

सुषिर वाद्यों के भेदों का उद्देश

११-१२ ख. (अ०) वंशः पावः पाविका च वंश, पाव और पाविका, मुरली मधुकरी अपि मुरली और मधुकरी, काहलातुण्डुकिन्यौ च काहला और तुण्डुकिनी, चुक्का शृङ्गं चुक्का, शृंग, अतः परं च और इसके बाद शङ्ख-आदयः च शंख आदि सुषिरस्य वाद्यस्य सुषिर वाद्य के भिदाः मताः भेद माने गये हैं।

(सर०) भिदाः बहुवचन होते हुए भी वाद्यस्य सुषिरस्य एकवचनान्त है। वास्तव में यहाँ जातिवाचक एकवचन का प्रयोग हुआ है।

(अवनद्धवाद्यभेदोद्देशः)

पटहो मर्दलश्चाथ हुडुक्का करटा घटः॥ १२॥
घडसो ढवसो ढक्का कुडुक्का कुडुवा तथा।
रुञ्जा डमरूको डक्का मण्डिडक्का च डक्कुली॥ १३॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

सेल्लुका झल्लरी भाणस्त्रिवली दुन्दुभिस्तथा।
भेरीनिःसाणतुम्बक्यो भेदाः स्युरवनद्धगाः॥ १४॥

अवनद्ध वाद्य के भेदों का उद्देश

१२ ग-१४. (अ०) पटहः मर्दलः च पटह और मर्दल अथ इसके बाद हुडुक्का करटा घटः हुडुक्का, करटा, घट, घडसः ढवसः ढक्का घडस, ढवस, ढक्का, कुडुक्का तथा कुडुवा कुडुक्का और कुडुवा, रुञ्जा डमरूकः रुंजा, डमरू, डक्का मण्डिडक्का डक्कुली च डक्का, मण्डिडक्का और डक्कुली, सेल्लुका झल्लरी भाणः सेल्लुका, झल्लरी, भाण, त्रिवली तथा दुन्दुभिः त्रिवली और दुन्दुभी, भेरीनिःसाणतुम्बक्यः भेरी, निःसाण और तुम्बकी अवनद्धगाः भेदाः स्युः अवनद्ध संबन्धी भेद होते हैं।

(घनवाद्यभेदोद्देशः)

तालोऽथ कांस्यतालः स्याद् घण्टा च क्षुद्रघण्टिका।
जयघण्टा ततः कम्रा शुक्तिपट्टादयस्तथा ॥ १५॥
प्रभेदा घनवाद्यस्य प्रोक्ताः सोढलसूनुना।

घन वाद्य के भेदों का उद्देश

१५-१६ ख. (अ०) तालः ताल अथ इसके बाद कांस्यतालः स्यात् कांस्यताल होता है। घण्टा च क्षुद्रघण्टिका घंटा और क्षुद्रघंटिका, जयघण्टा जयघंटा ततः कम्रा उसके बाद कम्रा तथा शुक्तिपट्ट-आदयः और शुक्तिं, पट्ट आदि सोढलसूनुना सोढल के पुत्र (शार्ङ्गदेव) के द्वारा घनवाद्यस्य प्रभेदाः घन वाद्य के प्रभेद प्रोक्ताः कहे गये (हैं)।

(प्रयोगभेदेन वाद्यभेदाः)

शुष्कं गीतानुगं नृत्तानुगमन्यद् द्वयानुगम् ॥ १६॥
चतुर्धेति मतं वाद्यं तत्र शुष्कं तदुच्यते।
यद्विना गीतनृत्ताभ्यां तद्गोष्ठीत्युच्यते बुधैः ॥ १७॥
ततः परं तु त्रितयं भवेदन्वर्थनामकम्।

प्रयोग-भेद से वाद्य-भेद

१६ ग-१८ ख. (अ०) शुष्कं शुष्क, गीत-अनुगं गीत का अनुगामी (गीतानुग), नृत्त-अनुगं नृत्त का अनुगामी (नृत्तानुग) अन्यत् अन्य द्वयं-अनुगं दोनों का अनुगामी (द्वयानुग) इति यों वाद्यं वाद्य (प्रयोग) चतुर्धा मतं चार प्रकार का माना गया (है)। तत्र उनमें से शुष्कं शुष्क (वाद्य) तत् उच्यते वह (उसे) कहा जाता है यत् जो गीतनृत्ताभ्यां विना गीत और नृत्त के बिना (होता है)। तत् वह बुधैः बुद्धिमानों के द्वारा गोष्ठी गोष्ठी इति उच्यते इस प्रकार (इस नाम से भी) कहा जाता है। ततः परम् उसके बाद त्रितयं तु तीन का समूह तो अन्वर्थनामकम् अन्वर्थ नाम (अर्थ के अनुसार नाम) वाला भवेत् होता है।

(सर०) वाद्य के तत आदि जो चार भेद कहे गये वे वाद्ययन्त्रों के स्वरूप पर आधारित थे। अब प्रयोग के आधार पर चार भेद कहे हैं। गीत और नृत्त के बिना केवल वाद्यों के प्रयोग को शुष्क कहा है। शुष्क का अर्थ है सूखा। सामान्य बोल-चाल में शुष्क से रूखा-सूखा, रसहीन समझा जाता है। गीत और नृत्त से रहित होने के कारण सिर्फ़ वाद्यों के प्रयोग को शुष्क

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

संज्ञा यह प्रकट करती है कि केवल वाद्यप्रयोग का प्रभाव गीत और नृत्त के साथ होने वाले प्रयोग की अपेक्षा कम होता है। शुष्क ही संगीतज्ञों में गोष्ठी कहा जाता है। गोष्ठी का शब्दार्थ है समूह या समुदाय। इसलिये सिर्फ़ वाद्यों के समूह के लिये गोष्ठी शब्द सार्थक है।

गीतानुग में गीत शब्द गायन का सूचक है। अगर इसका अर्थ स्वरांश समझें तो गीत में ही तत और सुषिर का भी समावेश हो जाने से गीतानुग और नृत्तानुग वाद्य में सिर्फ़ अवनद्ध और घन ही आयँगे और गीतानुग तथा नृत्तानुग में समाविष्ट हुए तत और सुषिर शुष्क में छूट जायँगे जबकि नृत्तानुग में चारों प्रकार के वाद्यों का प्रयोग होता है और शुष्क केवल वाद्यप्रयोग है इसलिये उसमें भी चारों प्रकार के वाद्य हो सकते हैं। इसलिये यहाँ गीत का अर्थ गान समझना चाहिये। तदनुसार गान का अनुगत गीतानुग है।

गीत और नृत्त के साथ अनुग शब्द का प्रयोग इसका सूचक है कि गान प्रधान होने यानी उसका उत्कर्ष ज्यादा होने पर वाद्यप्रयोग गीत का अनुगत होता है इसलिये गीतानुग कहलाता है। नृत्त की प्रधानता और ज्यादा उत्कर्ष की स्थिति में नृत्तानुग वाद्य होता है और गान तथा नृत्त दोनों के उत्कर्ष और प्रधान होने से उनके साथ होने वाला वाद्य प्रयोग दोनों का अनुगत होता है इसलिये द्वयानुग कहा गया है।

(वाद्यस्येश्वरकर्तृकत्वम्)

वाद्यं दक्षाध्वरध्वंसोद्वेगत्यागाय शंभुना॥ १८॥
चक्रे कौतुकतो नन्दिस्वातितुम्बुरुनारदैः।

वाद्य का ईश्वरकर्तृकत्व

१८ ग-१९ ख. (अ०) शंभुना शंकर के द्वारा दक्ष-अध्वरध्वंस-उद्वेगत्यागाय दक्षयज्ञ के ध्वंस (से उत्पन्न) क्षोभ के त्याग (शमन) के लिये नन्दिस्वातितुम्बुरुनारदैः नन्दि, स्वाति, तुम्बुरु और नारद के द्वारा कौतुकतः कौतुकवश वाद्यं चक्रे वाद्य (का प्रयोग) किया (गया)।

(सर०) ग्रन्थकार ने यहाँ वाद्यप्रयोग की ईश्वर-कर्तृकता सूचित की है। दक्षयज्ञ का नाश करने पर शंभु को जो क्षोभ हुआ उसका शमन करने के लिये नन्दि, स्वाति, तुम्बुरु, नारद ने जो वाद्यप्रयोग किया उसी का उल्लेख यहाँ किया गया है।

कल्लि० के अनुसार शंभु प्रयोजक यानी निमित्त हुए और नन्दि, स्वाति आदि प्रयोज्य यानी जो प्रयोग करने के योग्य थे उनके द्वारा वाद्य प्रयोग किया गया।

(वाद्यप्रयोगस्यावसराः)

अभिषेके नरेन्द्राणां यात्रायामुत्सवे तथा ॥ १९॥

मङ्गलेषु च सर्वेषु विवाहोपनयादिषु।
उत्पाते संभ्रमे युद्धे नाटके वीररौद्रिणि॥ २०॥

सर्वातोद्यानि वाद्यन्ते कानिचित्त्वल्पमङ्गले।
विश्रान्तौ रङ्गसंस्थानां गायतां नृत्यतामपि ॥ २१॥

एतान्युत्साहकारीणि वीराणां मङ्गलाय च ।
कुर्वन्ति हृदयस्फूर्तिं दुःखमूलयन्ति च॥ २२॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

गीतनृत्तगतन्यूनप्रच्छादनपटून्यपि।
वाद्यान्यतस्ततादीनि,

वाद्यप्रयोग के अवसर

१९ ग-२३ ग. (अ०) नरेन्द्राणाम् अभिषेके राजाओं के अभिषेक में, **यात्रायां** यात्रा (जुलूस आदि) में **तथा उत्सवे** और उत्सव में, **सर्वेषु मङ्गलेषु च** सारे मंगल (कार्यों) में भी, **विवाह-उपनय-आदिषु** विवाह, उपनयन आदि में, **उत्पाते** उत्पात होने पर, **संभ्रमे** घबराहट (और अव्यवस्था आदि में) **युद्धे** युद्ध में, **नाटके** नाटक में, **वीररौद्रिणि** वीर और रौद्र (रसों के प्रसंगों) में **सर्व-आतोद्यानि** सारे वाद्य **वाद्यन्ते** बजाये जाते हैं। **अल्पमङ्गले तु** अल्प मंगल (प्रसंगों) में तो **कानिचित्** कुछ (वाद्य और) **रङ्गसंस्थानां** रंगमंच पर स्थित **गायतां नृत्यतां विश्रान्तौ अपि** गाते हुए (और) नृत्य करते हुए (पात्रों) की विश्रान्ति में भी (वाद्य बजाये जाते हैं)। **एतानि** ये (वाद्य) **वीराणां** वीरों को **उत्साहकारीणि** उत्साहित करने वाले **मङ्गलाय च** और मंगल के लिये (प्रयुक्त होते हैं और) **हृदयस्फूर्तिं** हृदय की स्फूर्ति **कुर्वन्ति** करते हैं **दुःखम् उन्मूलयन्ति च** और दुःख को नष्ट करते हैं। **गीतनृत्तगतन्यून-प्रच्छादनपटूनि अपि** गान (और) नृत्त में रही हुई (आई हुई) कमी को ढकने में कुशल भी (होते हैं)। **अतः** इसलिये **तत-आदीनि वाद्यानि** तत आदि वाद्य (बजाने चाहियें/बजाये जाते हैं)।

(सर०) इन श्लोकों में वाद्यप्रयोग के विभिन्न अवसर सूचित किये गये हैं जिनसे यह प्रकट होता है कि गीत को उत्पन्न करने, रंजित करने और माप करने के अलावा लोकजीवन में अनेक कार्यों और प्रसंगों में इनका सहचार है, जैसे—राजाओं के अभिषेक, उपनयन आदि। उत्पात आदि की सूचना देने, घबराहट आदि से उत्पन्न अव्यवस्था में व्यवस्था स्थापित करने, नाटक में वीर, रौद्र आदि रसों को तीव्र करने आदि में सभी प्रकार के वाद्यों का प्रयोग किया जा सकता है। लेकिन कुछ अवसर ऐसे होते हैं जिनमें सभी का नहीं कुछ ही वाद्यों का प्रयोग किया जाता है। सिंह० ने इस ओर ध्यान दिलाया कि लोकस्थिति का अतिक्रमण न हो इसलिये अल्पवाद्यों का प्रयोग करना चाहिये। आशय यह है कि लोकधर्म के विरुद्ध नहीं बल्कि अनुरूप वाद्यों का प्रयोग होना चाहिये।

वाद्यों के प्रभाव का भी यहाँ उल्लेख हुआ है। वाद्य युद्धस्थल में वीरों को उत्साहित करते हैं, मंगलकारी होते हैं, स्फूर्ति लाते हैं, दुःखों को दूर करते हैं। इनके अलावा और भी दो प्रयोजन हैं—१. रंगमंच पर गायक, नर्तक आदि को विश्रान्ति देना और २. गान, नृत्त में कोई कमी आने पर उसे ढकना और उभरने न देना।

(पदार्थसंग्रहः)

तत्रादौ ब्रूमहे ततम् ॥ २३॥

तस्य वादनभेदांश्च विविधाः करसारणाः।
सुषिरं पटहं तस्य पाटांस्तद्रचनास्तथा ॥ २४॥

पाटप्रभववाद्यानि प्रबन्धान् वाद्यसंश्रयान्।
मर्दलाख्यं ततो वाद्यं भेदान् मार्दलिकस्य च॥ २५॥

गुणान् दोषांश्च तद्बृन्दं स्वरूपस्य च लक्षणम्।
हुडुक्काद्यवनद्धानां स्वस्वपाटसमन्वितम् ॥ २६॥

घनस्य च गुणान् दोषान् वाद्यवादकसंगतान्।
हस्तयोश्च गुणानत्र वाद्याध्याये यथाक्रमम्॥ २७॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

पदार्थ-संग्रह

२३ घ-२७. (अ०) तत्र उनं (वाद्यों) में से **आदौ** पहले **ततं** तत (वाद्य) को (तथा) **तस्य** उस (तत) के **वादनभेदान् च** वादनभेदों को भी **विविधाः करसारणाः च** और अनेक प्रकार की हाथ की क्रियाएँ (हस्तव्यापार) **ब्रूमहे** कहते हैं। **सुषिरं** सुषिर (वाद्य) को (कहेंगे)। **पटहं** पटह (वाद्य), **तस्य पाटान्** उसके पाटों (अक्षरों) को तथा **तत् रचनाः** और उनकी रचनाएँ (हस्तपाट), **पाटप्रभववाद्यानि** पाटों से उत्पन्न होने (बनने) वाले वाद्य, **वाद्यसंश्रयान् प्रबन्धान्** (उन) वाद्यों के आश्रय प्रबन्धों को, **ततः** उसके बाद **मर्दल-आख्यं वाद्यं** मर्दल नामक वाद्य को, **मार्दलिकस्य भेदान् च** मर्दल-वादक के भेदों को भी **गुणदोषान् च** और गुण-दोषों को, **तत् बृन्दम्** उस (मर्दल) के वृन्द (समूह) **स्वरूपस्य च** और स्वरूप का, **हुडुक्का-आदि** हुडुक्का आदि **अवनद्धानाम्** अवनद्ध (वाद्यों) के **स्वस्वपाटसमन्वितम्** अपने-अपने पाटों के सहित **लक्षणं** लक्षण (कहेंगे)। **घनस्य** घन वाद्य का (लक्षण कहेंगे)। **वाद्यवादकसंगतान्** वाद्यों और वादकों से संबद्ध **गुणान् दोषान् च** गुणों और दोषों को **हस्तयोः च गुणान्** और हाथों के गुणों को **यथाक्रमं** क्रम के अनुसार **अत्र वाद्याध्याये** इस वाद्याध्याय में (कहेंगे)।

(सर०) यहाँ ग्रन्थकार ने उन विषयों का संक्षिप्त संग्रह (उद्देश) दिया है जिनका निरूपण इस अध्याय में किया जायगा। तत संबन्धी विषय ग्रन्थकार ने ये दिये हैं—तत वाद्य, उनके वादन के प्रकार, हस्तव्यापार। वास्तव में तत संबन्धी इतने विषय इस अध्याय में हैं—एकतंत्री वीणा का लक्षण, सारणा, हस्तव्यापार, उनके मेल से बनने वाले वाद्य; नकुल आदि पाँच वीणाओं के लक्षण और उनसे संबद्ध करण, धातुएँ, वृत्ति, गीतानुग वाद्य, निर्गीत वाद्य; आलापिनी, किंनरी और उस पर कुछ रागों के वादन का क्रम; पिनाकी और निःशंकवीणा का लक्षण, वीणा-वादन के फल और वीणावादक के गुण।

ग्रन्थकार ने सुषिर का नाम लेकर ही छोड़ दिया है लेकिन सुषिर वाद्य से संबद्ध विषय ये हैं—वंश का लक्षण, वंश के भेद, स्वरोत्पत्ति के प्रकार, वंशगति, मतान्तर से वंशलक्षण, ग्रन्थकार के मत से वंशलक्षण, वंश का विनियोग, फूँक के गुण-दोष, वंशीवादक के गुण-दोष, वांशिक-वृन्द, वंश में कुछ देशीरागों के वादन की विधि और विभिन्न सुषिर वाद्यों के लक्षण।

अवनद्ध संबन्धी जो संग्रह ग्रन्थकार ने दिया है उसके अलावा अवनद्ध वाद्य के निर्माण में काम में ली जाने वाली लकड़ी (काष्ठ) और चमड़े (चर्म) के लक्षण और गुण-दोषों का निरूपण भी है।

(वाद्यनिर्माणसंबद्धपरिमाणानि)

अङ्गुष्ठपर्वदैर्घ्यं स्यादङ्गुलं द्वादशाङ्गुलम्।
वितस्तिस्तद्द्वयं हस्तो वाद्यभाण्डमितौ भवेत्॥ २८॥

वाद्यनिर्माण संबन्धी नाप

२८. (अ०) वाद्यभाण्डमितौ वाद्य के भाण्ड (शरीर या पात्र) के माप में **अङ्गुष्ठपर्वदैर्घ्यम्** अँगूठे के पर्व (पोर) की लम्बाई **अङ्गुलं स्यात्** अंगुल होती है। **द्वादश-अङ्गुलं वितस्तिः** बारह अंगुल वितस्ति (और) **तत् द्वयम्** उस (वितस्ति) का दो का समूह (अर्थात् दो वितस्ति) **हस्तः भवेत्** हाथ होता है।

(सर०) यहाँ वाद्यों के पात्रों की बनावट से संबन्धित नापों के पारिभाषिक नाम और उनके लक्षण दिये हैं। भाण्ड शब्द का अर्थ पात्र यानी वाद्य का शरीर है। पर्व का अर्थ अंश, भाग, अवयव होता है। अँगूठे के एक भागरूप पर्व यानी पोर का नाप अंगुल और ऐसी १२ अंगुल का नाप वितस्ति कहलाता है। वितस्ति हथेली को पूरा फैलाने पर अँगूठे और कन्नी उँगली के बीच की दूरी मानी गई है। दो वितस्ति के बराबर हस्त कहलाता है।

यहाँ यह शंका हो सकती है कि पर्व और वितस्ति हर व्यक्ति की भिन्न होती है तब इन नापों की प्रामाणिकता क्या होगी? सामान्य दृष्टि से इनका अर्थ पोर और बालिश्त तो है लेकिन इनके मानक (स्टैंडर्ड) नाप और उन्हें नापने के साधन अवश्य रहे होंगे तभी नापों में एकरूपता रखना संभव है। शिल्पशास्त्र में भी अंगुल आदि नापसूचक शब्द हैं और उनके निश्चित नाप भी क्योंकि मंदिर आदि विशाल आकार और स्वरूप के निर्माण नियत नाप के बिना संभव नहीं हैं।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

नाप की दृष्टि से अंगुल, पर्व, वितस्ति और हस्त पारिभाषिक शब्द हैं इसलिये सर० व्याख्या में इन्हीं शब्दों का प्रयोग किया है, पोर, बालिश्त आदि का नहीं।

(वाद्ययन्त्राणां लक्षणानि)
(तत्र ततवाद्यानि)
(एकतन्त्री)
(दण्डलक्षणम्)

ग्रन्थिव्रणभिदा हीनः श्लक्ष्णः खदिरदारुजः।
सुवृत्तः सरलो दण्डो वितस्तिपरिधिर्भवेत्॥ २९॥

त्रिहस्तदैर्घ्यस्तावच्च सुषिरं दधदन्तरा।
सार्धाङ्गुलपरीणाहमूर्ध्वाधो वदने तथा॥ ३०॥

कनिष्ठाङ्गुलिमानं वाभग्नं रन्ध्रत्रयं दधत्।
त्रेताग्निसंस्थितं यद्वा द्वे रन्ध्रे तर्जनीमिते॥ ३१॥

एकमेव त्वधः शङ्कुस्थाने सार्धाङ्गुलायतम्।

वाद्ययन्त्रों के लक्षण
(अ) ततवाद्य
१—एकतन्त्री
डाँड का लक्षण

२९-३२ ख. (अ०) ग्रन्थिव्रणभिदा हीनः बिना गाँठ, कटाव (और बिना) फटी श्लक्ष्णः चिकनी, सुवृत्तः अच्छी गोल, सरलः सीधी खदिरदारुजः खैर की लकड़ी से उत्पन्न (बना), वितस्तिपरिधिः (एक) वितस्ति (के) घेरे वाला, त्रिहस्तदैर्घ्यः तीन हाथ लम्बा, अन्तरा बीच में, तावत् च उतना ही (लम्बा), स-अर्ध-अङ्गुलपरीणाहं डेढ़ अंगुल (भीतरी) घेरे वाला सुषिरं दधत् छेद धारण करता हुआ तथा और ऊर्ध्व-अधः ऊपर-नीचे (दोनों सिरों पर) वदने दो मुँहों वाला, कनिष्ठा-अङ्गुलिमानं वा या कनिष्ठा उँगली के नाप वाले अभग्नं बिना फटे, त्रेता-अग्निसंस्थितं त्रेताग्नि की तरह स्थित रन्ध्रत्रयं तीन छेद यत् वा अथवा तर्जनीमिते द्वे रन्ध्रे तर्जनी (उँगली) के नाप वाले दो छेद दधत् धारण करता हुआ (और) अधः नीचे (की ओर) शङ्कुस्थाने शंकु के स्थान पर (डाँड के निचले सिरे पर जहाँ शंकु लगाया जायगा वहाँ) स-अर्ध-अङ्गुल-आयतं डेढ़ अंगुल चौड़ा एकम् एव तु सिर्फ़ एक (छेद) वाला तो दण्डः भवेत् दण्ड (डाँड) होता है।

(सर०) ग्रन्थकार ने सबसे पहले एकतन्त्री वीणा का लक्षण दिया है। लक्षण बहुत संक्षिप्त हैं। कल्लि० ने उस पर कोई व्याख्या नहीं की है और सिंह० की व्याख्या एकतन्त्री की बनावट को पूरा-पूरा समझने के लिए अपर्याप्त है। ग्रन्थकार ने एकतन्त्री से संबन्धित जिन अनेक पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग किया है उन्हें, आज एकतन्त्री वाद्य और उसके वादन की परम्परा प्राप्त न होने से, पूरी तरह समझना आसान नहीं है। फिर भी प्राचीन शिल्पों और चित्रों तथा वर्तमान तन्त्री वाद्यों के आधार पर इसकी बनावट को काफ़ी हद तक समझा जा सका है।

इन कारिकाओं में एकतन्त्री की डाँड का लक्षण है। डाँड खैर की लकड़ी की होती है जो गाँठ गँठीली या कटी-फटी नहीं होनी चाहिये और सीधी, चिकनी, गोल होनी चाहिये। व्रण का अर्थ है घाव यानी घाव की तरह क्षत न हो। डाँड का बाहरी घेरा एक वितस्ति और लम्बाई तीन हस्त होती है। भीतर उतना ही छेद होने का तात्पर्य यह है कि खोखली होनी चाहिये और दोनों सिरों पर मुँह होते हैं। भीतरी घेरा डेढ़ अंगुल के नाप का होता है या पूरी डाँड में छोटी उँगली की मोटाई के और त्रेताग्नि

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

की तरह स्थित तीन छेद अथवा तर्जनी उँगली जितने मोटे दो छेद होंगे। डाँड के दूसरे यानी नीचे वाले सिरे पर ककुभ स्थापित करने के लिये लगाये जाने वाले शंकु के लिये डेढ़ अंगुल मोटाई का एक छेद होगा।

डाँड को भीतर से खोखली करने के लिये यहाँ तीन विकल्प दिये गये प्रतीत होते हैं—सिर्फ़ एक छेद वाला, दो छेद वाला और तीन छेद वाला। दो और तीन छेदों से खोखला करने का प्रयोजन क्या है यह पता नहीं चलता। शायद वाद्य से उत्पन्न ध्वनि के गुण और प्रभाव में इनसे कुछ अन्तर आता है।

(ककुभलक्षणम्)

दधानः ककुभं सारं खादिरं वान्यदारुजम्॥ ३२॥

तिर्यक्संस्थेन दैर्घ्येणाष्टाङ्गुलं त्र्यङ्गुलायतम्।
अङ्गुलाधिकपार्श्वं च मध्ये कूर्मोन्नताकृतौ॥ ३३॥

स्थितेन पत्रिकाधारगर्तेन च समन्वितम्।
गर्तमध्ये च रन्ध्रेण योन्याकारेण संयुतम्॥ ३४॥

ककुभ का लक्षण

३२ ग-३४. (अ०) खादिरं खैर का अन्यदारुजं वा या किसी दूसरी लकड़ी का दैर्घ्येण अष्ट-अङ्गुलं लम्बाई से (में) आठ अंगुल त्रि-अङ्गुल-आयतं तीन अंगुल चौड़ा अङ्गुल-अधिकं पार्श्वं च और (एक) अंगुल से (कुछ) ज्यादा किनारे (अर्थात् ऊँचाई) वाला तिर्यक्संस्थेन आड़ा स्थित सारं मज़बूत, कूर्म-उन्नत-आकृतौ कछुए (की पीठ) की तरह उठी हुई आकृति में मध्ये स्थितेन बीच में स्थित पत्रिका-आधारगर्तेन समन्वितं च और पत्रिका (पट्टी) के (लिये) आधारभूत खाँचे से युक्त गर्तमध्ये च और खाँचे के बीच में योनि-आकारेण रन्ध्रेन संयुतं योनि के आकार के छेद से युक्त ककुभं दधानः ककुभ को धारण करता हुआ (दण्ड होता है)।

(सर०) ककुभ को मोटे रूप में घुड़च कह सकते हैं। ककुभ खैर या किसी दूसरी लकड़ी का बना आठ अंगुल लम्बा, तीन अंगुल चौड़ा और एक अंगुल से कुछ ज़्यादा ऊँचा होता है और आड़ा स्थित होता है। बीच में कछुए की पीठ की तरह उठा हुआ होता है जिसमें एक खाँचा बना होता है जो ककुभ के आकार से छोटा होता है और खाँचे में योनि के आकार का एक छेद होता है।

(पत्रिकायाः शङ्कोः च लक्षणम्)

रन्ध्रे तस्य निविष्टेन रन्ध्रास्थौल्येन शङ्कुना।
अन्वितां पत्रिकां मिश्रलोहजां द्व्यङ्गुलायताम्॥ ३५॥

चतुरङ्गुलदैर्घ्यां च मध्ये कूर्मोन्नतां बहिः।
निम्नमध्यं मनागन्तर्धारयन्तमधः पुनः॥ ३६॥

द्विदण्डिकं शङ्कुनाष्टाङ्गुलदैर्घ्ययुजा तथा।
वृत्तेन त्र्यङ्गुलस्थूलोत्तरार्धश्लक्ष्णमूर्तिना॥ ३७॥

कूर्मपृष्ठोन्नतं मध्यमुत्तरार्धस्य बिभ्रता।
दण्डवक्त्रमितस्थौल्याधरभागयुतेन च॥ ३८॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

दण्डवक्त्रप्रविष्टाधोभागेन च विराजितम्।

पत्रिका और शंकु का लक्षण

३५-३९ ख. (अ०) तस्य रन्ध्रे उसके (ककुभ के उस) छेद में निविष्टेन स्थित रन्ध्र-अस्थौल्येन छेद से ज़्यादा मोटा न हो ऐसे शङ्कुना अन्वितां शंकु (कील) से युक्त (अर्थात् शंकु पर टिकाई हुई) द्वि-अङ्गुल-आयतां दो अंगुल चौड़ी चतुः अङ्गुलदैर्ध्यां च और चार अंगुल लम्बी मध्ये कूर्म-उन्नतां बहिः बीच में कछुए की (पीठ की) तरह उठे हुए बाहर (के भाग) वाली मिश्रलोहजां पत्रिकां मिश्र लोहे से उत्पन्न (बनी हुई) पट्टी को मनाक् निम्नमध्यं बीच में कुछ दबा हुआ (ककुभ) अन्तः धारयन्तं भीतर (खाँचे में) धारण करता हुआ पुनः अधः और नीचे की ओर अष्ट-अङ्गुलदैर्घ्ययुजा आठ अंगुल लम्बाई से युक्त तथा और वृत्तेन गोलाई से (में) त्रि-अङ्गुलस्थूल-उत्तरार्धश्लक्ष्णमूर्तिना तीन अंगुल मोटे (और) चिकनी आकृति वाले ऊपर के आधे भाग से कूर्मपृष्ठ-उन्नतं कछुए की पीठ की तरह उठे हुए उत्तरार्धस्य मध्यं बिभ्रता ऊपर के आधे भाग के मध्य को धारण किये हुए दण्डवक्त्रमितस्थौल्य-अधरभागयुतेन च और डाँड के मुँह के बराबर मोटाई वाले नीचे के भाग से युक्त दण्डवक्त्रप्रविष्ट-अधोभागेन च और डाँड के मुँह में डाले हुए नीचे के भाग से द्विदण्डिकं शङ्कुना विराजितं दो डंडे वाले शंकु से शोभित (ककुभ को धारण करने वाली डाँड होती है)।

(सर०) यहाँ डाँड में डाला जाने वाला शंकु और उस पर लगी दो डंडियों पर रखा जाने वाला ककुभ, जिसमें एक कील के ऊपर पत्रिका बिठाई जाती है, इन सबका लक्षण दिया है।

ऊपर बताये गये ककुभ के खाँचे के बीच में बने योनि के आकार के छेद जितनी मोटी, संभवतः लकड़ी की, कील उसमें जमा कर उस पर रख कर मिश्र लोहे की पट्टी खाँचे में बिठा दी जाती है। इस कील का प्रयोजन तार से उत्पन्न नाद को पत्रिका और ककुभ से होकर डाँड में ले जाना प्रतीत होता है। पट्टी ककुभ से छोटी चार अंगुल लम्बी और दो अंगुल चौड़ी होती है। कील पर रखी हुई पट्टी वाला यह ककुभ दो डंडी वाले शंकु पर बिठा कर उस शंकु को डाँड के निचले सिरे के मुँह में आड़ा डालकर फँसा दिया जाता है।

एवंविधस्य दण्डस्योर्ध्वाग्रात् सप्तदशाङ्गुले॥ ३९॥

अधोभागेऽक्षिसदृशं विधाय विवरद्वयम्।
एकद्वित्रिगुणां तन्त्रीं क्षिप्त्वा रन्ध्रे परत्र तु ॥ ४०॥

तन्त्रीप्रान्तान्तरे क्षिप्त्वा प्रोतं तद् द्विगुणे ततः।
द्विगुणाकर्षणात् कर्षेत् पुनरेवं समाचरेत्॥ ४१॥

३९ ग-४१. (अ०) एवंविधस्य दण्डस्य ऐसे दण्ड के ऊर्ध्व-अग्रात् ऊपर के सिरे से सप्तदश-अङ्गुले सत्रह अंगुल (की दूरी) पर अधोभागे (डाँड के) नीचे के भाग में अक्षिसदृशम् आँख की तरह विवरद्वयं विधाय दो छेद बना कर एकद्वित्रिगुणाम् एक, दो (या) तीन गुन वाली तन्त्रीं डोरी (के एक सिरे) को रन्ध्रे क्षिप्त्वा एक छेद में डालकर परत्र तु दूसरे (छेद) में तो तन्त्रीप्रान्त-अन्तरे डोरी के दूसरे सिरे को क्षिप्त्वा डाल कर तत् द्विगुणे प्रोतम् उसे दो बार पिरोई हुए बनाकर (दो बार पिरो कर) ततः तब द्विगुण-आकर्षणात् दो बार खींचने से (अर्थात् दो बार आरपार डाल कर) कर्षेत् खींचना चाहिये। एवं पुनः समाचरेत् ऐसे ही फिर से करना चाहिये।

(सर०) डाँड के ऊपर वाले सिरे की ओर तूँबा लगाने के लिये डोरी का फंदा बनाने की प्रक्रिया यहाँ बताई है। इसके लिये डाँड के सिरे से सत्रह अंगुल छोड़ कर आड़े दो छेद आँखों की तरह एक सीध में बनाने हैं जो डाँड के नीचे के भाग में यानी पीछे की ओर होंगे। इनमें से एक छेद में एक, दो या तीन गुन वाली डोरी का एक सिरा और दूसरे में दूसरा सिरा डालकर फिर दोनों को विपरीत छेदों में दो बार पिरो कर डोरी को खींच कर कस दिया जायगा ताकि फंदा मज़बूत हो जाय।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(तुम्बलक्षणम्)

षष्ट्यङ्गुलपरीणाहं सुपक्वं वर्तुलं च यत्।
तुम्बस्योत्सेधतस्तस्य वदनं द्वादशाङ्गुलम्॥ ४२॥

वृन्तस्थानस्थया नाभ्याधोमुख्या मध्यरन्ध्रया।
त्र्यङ्गुलायतया युक्तं पृष्ठसंश्लिष्टपूर्वया ॥ ४३॥

तुम्बकं मध्यरन्ध्रं स्यात् कर्परं नालिकेरजम्।
अन्तस्थरन्ध्रसंलग्नं पृष्ठमध्येन रन्ध्रिणा॥ ४४॥

तं दधत्,

तूँबे का लक्षण

४२-४५ क. (अ०) षष्टि-अङ्गुलपरीणाहं साठ अंगुल परिधि वाला **सुपक्वम्** अच्छा पका हुआ **वर्तुलं च यत्** और जो गोल (हो) **तस्य तुम्बस्य** उस (ऐसे) तूँबे का **उत्सेधतः** ऊँचाई में **द्वादश-अङ्गुलं** बारह अंगुल वाला **वदनं** मुँह (होता है)। **वृन्तस्थानस्थया** वृन्त (फल जुड़ने के) स्थान पर स्थित **मध्यरन्ध्रया** बीच में छेद वाली **त्रि-अङ्गुल-आयतया** तीन अंगुल लम्बी **पृष्ठसंश्लिष्टपूर्वया** (जिसकी) पीठ जुड़ी (है खप्पर के साथ ऐसी) **अधोमुख्या नाभ्या** नीचे की ओर मुँह वाली नाभि के द्वारा **मध्यरन्ध्रं युक्तं तुम्बकं** बीच में छेद वाला तूँबा **अन्तस्थरन्ध्रसंलग्नं** बीच में स्थित छेद से लगे **तं नालिकेरजं कर्परम्** उस नारियल से उत्पन्न (अर्थात् नारियल को काट कर बनाये गये) खप्पर को **पृष्ठमध्येन रन्ध्रिणा दधत्** पीठ के बीच के छेद के द्वारा धारण करता हुआ **स्यात्** होता है।

(सर०) तूँबे और उस पर रखे हुए नारियल के खप्पर का यहाँ लक्षण दिया है। तूँबे के उस स्थान पर जहाँ वह डंडी से जुड़ा रहता है तीन अंगुल लम्बा छेद किया जाता है। यह स्थान नाभि है जो बीच में ऊपर की ओर उठा रहता है। मनुष्य शरीर की नाभि भीतर दबी रहती है लेकिन तूँबे की नाभि उसके विपरीत है क्योंकि दबा हुआ भाग भीतर होता है। इसलिये ग्रन्थकार ने **अधोमुख्या नाभ्या** कहा है। इस नाभि के ऊपर नारियल का उतना बड़ा खप्पर रखा जाता है जिससे नाभि की पीठ यानी ऊपर उठा भाग खप्पर से जुड़ जाय। यह स्थिति **पृष्ठसंश्लिष्टपूर्वया** से व्यक्त की गई है।

(तुम्बस्य बन्धनं तन्त्रीस्थापनं च)

रन्ध्रमध्येऽथ तन्त्रीप्रान्ते निवेश्य तौ।
संवेष्ट्य कीलकेऽन्तस्थे कीलकं भ्रामयेन्मुहुः॥ ४५॥

तावद् यावत् दृढो बन्धस्तुम्बकस्यैव जायते।
एवं तुम्बकमुत्तानं दण्डे तज्ज्ञैर्निबध्यते॥ ४६॥

तूँबे का बन्धन और तन्त्री की स्थापना

४५ क-४६. (अ०) अथ अब **रन्ध्रमध्ये** छेद के बीच में **तन्त्रीप्रान्ते** डोरी के दोनों सिरे **निवेश्य** डाल कर **तौ** वे **अन्तस्थे कीलके** भीतर स्थित कील में **संवेष्ट्य** लपेट कर **कीलकं** कील को **मुहुः** बार-बार **तावत् भ्रामयेत्** उतनी बार (तब तक) घुमाना चाहिये **यावत्** जब तक **तुम्बकस्य बन्धः** तूँबे का बन्धन **दृढः एव जायते** बहुत मज़बूत हो जाता है (हो जाय)। **एवम्** इस प्रकार **उत्तानं तुम्बकम्** ऊपर की ओर (मुँह वाले, खड़े) तूँबे को **तज्ज्ञैः** उसके ज्ञाताओं के द्वारा **दण्डे** डाँड पर **निबध्यते** बाँधा जाता है।

(सर०) तूँबे के भीतर उसकी छत से छूती हुई एक कील आड़ी डाल कर खप्पर और तूँबे के छेदों में से डाली गई डोरी के दोनों

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

सिरे उस कील पर लपेट दिये जाते हैं। फिर कील को उतनी बार घुमाया जाता है जिससे कील तूँबे की छत के साथ लग कर कस जाय। इस तरह तूँबे का डाँड के साथ बन्धन मज़बूत कर दिया जाता है।

तूँबे की बनावट में यहाँ यह कहा नहीं गया है कि तूँबे का नीचे का भाग काट कर उसमें मुँह बनाना चाहिये लेकिन इसे अन्वित समझना चाहिये। आगे श्लोक ५७ क में अधोवक्त्रं तुम्बं के द्वारा तूँबे के नीचे मुँह का होना सूचित होता है। अन्दर डाली गई कील को उसी मुँह में से घुमा कर बन्धन को मज़बूत किया जायगा।

दोरकं नागपाशेन द्विगुणेनान्वितं ततः।
सुबलश्लक्ष्णसूत्रोत्थं दण्डे तुम्बोर्ध्वदेशतः॥ ४७॥

संवेष्ट्य नागपाशेऽस्मिन् बद्धप्रान्तां दृढां घनाम्।
श्लक्ष्णां स्नायुमयीं तन्त्रीं कृष्ट्वा संपीड्य पत्रिकाम्॥ ४८॥

तन्त्र्या संवेष्ट्य ककुभं निबध्नीयाद् दृढं,

४७-४९ ख. (अ०) ततः तब सुबलश्लक्ष्णसूत्र-उत्थम् अच्छे बल युक्त चिकने (मुलायम) सूत से बनी, द्विगुणेन नागपाशेन अन्वितं दोहरे नागपाश (फाँस) से अन्वित दोरकं डोरी दण्डे डाँड पर तुम्ब-ऊर्ध्वदेशतः तूँबे से ऊपर के (बायें) भाग में संवेष्ट्य लपेट कर अस्मिन् नागपाशे इस नागपाश में बद्धप्रान्तां बँधा सिरा है जिसका (ऐसी) दृढां मज़बूत, घनां मोटी, श्लक्ष्णां चिकनी स्नायुमयीं तन्त्रीं स्नायु (ताँत) के स्वरूप वाली (अर्थात् ताँत की) तन्त्री को कृष्ट्वा खींच कर पत्रिकां संपीड्य (दूसरी ओर ककुभ पर लगी) पट्टी को (उससे) अच्छी तरह दबा कर तन्त्र्या तन्त्री से ककुभं संवेष्ट्य ककुभ को लपेट कर दृढं निबध्नीयात् मज़बूती से बाँधें।

(सर०) डाँड पर वाद्यतन्त्री बाँधने की विधि यहाँ बताई गई है। पहले सूत की डोरी से दोहरे नागपाश की एक फाँस बना कर फिर डाँड पर तूँबे से पहले के भाग में फाँस में ताँत की तन्त्री खींच कर फँसा दी जाती है और दूसरी तरफ़ ककुभ पर लगी पत्रिका के ऊपर तन्त्री रख कर ककुभ के चारों ओर कस कर लपेट दी जाती है।

(जीवालक्षणम्)

ततः।
वैणवी यवविस्तारा तन्त्री द्व्यङ्गुलदैर्घ्यभाक्॥ ४९॥

तन्त्रीपत्रिकयोरन्तर्जीवा नादस्य सिद्धये।
सन्दिग्धपत्रिकातन्त्रीश्लेषं क्षेप्या कला च सा॥ ५०॥

जीवा का लक्षण

४९ ग-५०. (अ०) ततः तब यवविस्तारा एक यव चौड़ी (और) द्वि-अङ्गुलदैर्घ्यभाक् दो अंगुल लम्बी वैणवी तन्त्री वेणु संबन्धी (बाँस की छाल से बनी) तन्त्री (रेशा) नादस्य सिद्धये नाद की सिद्धि (वृद्धि) के लिये तन्त्रीपत्रिकयोः अन्तः वाद्य(तन्त्री) और पट्टी के बीच संदिग्धपत्रिकातन्त्रीश्लेषं तन्त्री और पट्टी का श्लेष (संबन्ध) संदिग्ध हो जाये (इस तरह) जीवा जीवा (नाम वाली वह तन्त्री) क्षेप्या डालनी चाहिये कला च सा और वह कला (कही जाती है)।

(सर०) बाँस की छाल से बना धागानुमा रेशा (जीवा) पट्टी और तन्त्री के बीच डालने का प्रयोजन तार से उत्पन्न ध्वनि में अनुरणन लाकर उसे बुलन्द बनाना, खुलापन लाना, आज के संगीतज्ञों की भाषा में 'गोल' बनाना है जैसा कि तम्बूरे में तार और घुड़च के बीच धागा लगा कर किया जाता है और जिसे 'जवारी खोलना' कहा जाता है। जवारी शब्द जीवा का अपभ्रंश रूप प्रतीत होता है।

संदिग्धपत्रिकातन्त्रीश्लेषं का अर्थ यह है कि पट्टी के जिस बिन्दु पर तन्त्री छूती है वहाँ उसका छूना संदेहास्पद हो जाय यानी दोनों छू रही हैं या नहीं ऐसा संदेह होना। आशय यह है कि छुएँ भी नहीं लेकिन बीच का अन्तराल नहीं के बराबर रह भी जाय।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

श्लोक ५० घ में आड्यार सं० के 'कलावता' पाठ के बजाय हमने कला च सा रखा है जो आनन्द० की पादटिप्पणी में है। इस पाठ की पुष्टि आगे कहे जाने वाले सकल-निष्कल वाद्य के लक्षण से भी होती है।

(मन्द्रस्वरस्थानोपलक्षिका दोरिका)

या पक्ववेणुवल्कोत्था दोरिका त्रिवृता शुभा।
कनिष्ठाङ्गुलिविस्तारा द्वादशाङ्गुलदैर्घ्यभाक् ॥ ५१ ॥

सुवृता मसृणा तुम्बादधस्तादङ्गुलत्रये।
दण्डे संवेष्टयेन्मन्द्रस्वरस्थानोपलक्षिकाम् ॥ ५२ ॥

यत्राभिदधिरे धीरास्तां वीणामेकतन्त्रिकाम्।

मन्द्र स्वरस्थान की लक्षिका डोरी

५१-५३ ख. (अ०) या जो पक्ववेणुवल्क-उत्था पके बाँस की छाल से उत्पन्न, त्रिवृता तिहेरी, कनिष्ठा-अङ्गुलिविस्तारा कनिष्ठा उँगली जितनी चौड़ी, द्वादश-अङ्गुलदैर्घ्यभाक् बारह अंगुल लम्बाई वाली, सुवृत्ता अच्छी गोल, मसृणा चिकनी शुभा दोरिका शुभ डोरी मन्द्रस्वरस्थान-उपलक्षिकां (उस) मन्द्र स्वरों के स्थान के उपलक्षण वाली (मन्द्र स्थान को दिखाने वाली डोरी) को तुम्बात् अधस्तात् तूँबे से नीचे की ओर (बाद) अङ्गुलत्रये तीन अंगुल पर (तीन अंगुल छोड़ कर) दण्डे संवेष्टयेत् डाँड पर लपेटना चाहिये। यत्र जहाँ (अर्थात् जिस वीणा में ऐसे लक्षण हों) ताम् उसे धीराः धैर्यवान् विद्वानों ने एकतन्त्रिकां वीणाम् एकतन्त्री वीणा अभिदधिरे कहा है।

(सर०) मन्द्रस्वरों के स्थान की सूचिका कहने का आशय संभवतः यह है कि वादनक्रिया शुरू करने का स्थान यही है।

(एकतन्त्रीवीणास्तुतिः)

प्रकृतिः सर्ववीणानामेषा श्रीशार्ङ्गिणोदिता ॥ ५३ ॥

दर्शनस्पर्शने चास्या भोगस्वर्गापवर्गदे।
पुनाति ब्रह्महत्यादिपातकैः पतितं जनम् ॥ ५४ ॥

एकतन्त्री वीणा की स्तुति

५३ ग-५४. (अ०) श्रीशार्ङ्गिणा श्रीशार्ङ्गदेव के द्वारा एषा यह (एकतन्त्री) सर्ववीणानां सारी वीणाओं की प्रकृतिः उदिता मूल कही गई (है)। अस्याः इसका दर्शनस्पर्शने च दर्शन और स्पर्श भोगस्वर्ग-अपवर्गदे भोग, स्वर्ग और मोक्ष देने वाले (हैं)। विप्रहत्या-आदिपातकैः (यह) ब्राह्मण की हत्या आदि पापों से पतितं जनं पतित लोगों को पुनाति पवित्र करती है।

(सर०) सिंह० के अनुसार 'प्रकृति' कहने का यह अर्थ है कि दूसरी वीणाओं में जो लक्षण कहे न गये हों वे इससे ग्रहण करने चाहियें।

(एकतन्त्र्यां देवतानामधिष्ठानम्)

दण्डः शम्भुरुमा तन्त्री ककुभः कमलापतिः।
इन्दिरा पत्रिका ब्रह्मा तुम्बं नाभिः सरस्वती ॥ ५५ ॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

दोरको वासुकिर्जीवा सुधांशुः सारिका रविः
सर्वदेवमयी तस्माद् वीणेयं सर्वमङ्गला ॥ ५६ ॥

एकतन्त्री में देवताओं का अधिष्ठान

५५-५६. (अ०) दण्डः शम्भुः डाँड शंभु (है), तन्त्री उमा तन्त्री (तार) उमा, ककुभः कमलापतिः ककुभ विष्णु, पत्रिका इन्दिरा पत्रिका लक्ष्मी, तुम्बं ब्रह्मा तूँबा ब्रह्मा, नाभिः सरस्वती (तूँबे की) नाभि सरस्वती, दोरकः वासुकिः डोरी वासुकि, जीवा सुधांशुः जीवा चन्द्रमा, सारिका रविः सारिका (संभवतः मन्द्रस्थानसूचिका डोरी) सूर्य (है)। तस्मात् इस प्रकार सर्वदेवमयी सारे देवताओं के स्वरूप वाली इयं यह (वीणा) सर्वमङ्गला सारे मंगल (करने) वाली (है)।

(सर०) वैदिक और तान्त्रिक पद्धति में अंगों में देवी-देवताओं का वास बताने की परंपरा है। उसी के अनुरूप वीणा के विभिन्न अंगों में भी देवताओं को अधिष्ठित किया है।

शंभु को आधाररूप मान कर डाँड में अधिष्ठित किया है क्योंकि वीणा का आधार उसका दण्ड ही होता है। शंभु की क्रियाशक्ति उमा मानी गई है। वीणा की क्रियाशक्ति तन्त्री में निहित होने से उसे उमा कहा है। विष्णु धारण करने वाले हैं तद्वत् वीणा में ध्वनि का धारक ककुभ होता है इसलिये उसे विष्णु कहा। समृद्धि की देवी लक्ष्मी है। वीणा में पत्रिका ध्वनि को समृद्ध करती है इसलिये उसे इन्दिरा कहा। ध्वनि के अनुनादक के रूप में तूँबा ही ध्वनि को उपन्न करता है इसलिये वह ब्रह्मा है। ब्रह्मा की नाभि में सरस्वती स्थित मानी गई है जो वाग्देवता है इसलिये तूँबे की नाभि में सरस्वती कही गई है। इसी तरह अन्य देवी-देवताओं के वास स्थान की भी सार्थकता समझनी चाहिये।

(वीणाया धारणविधिः वादनविधिश्च)

अधस्तुम्बमधोवक्त्रमूर्ध्वा तन्त्री यथा भवेत्।
तथास्या दोरिकादेशं वामस्कन्धे निधाय च ॥ ५७ ॥

ककुभं दक्षिणस्याङ्घ्रेः पार्ष्ण्या संधाय यत्नतः।
न्यस्तां पृष्ठे कनिष्ठाया वामहस्तस्य कम्रिकाम् ॥ ५८ ॥

सारणात् सारणेत्युक्तामनामाङ्गुलिवेष्टिताम्।
आकुञ्चन्मध्यमापार्श्वलग्नां तर्जनिकाग्रतः ॥ ५९ ॥

निपीड्योरःस्थलासन्नां तन्त्रीमधिनिधाय च।
ऊर्ध्वाधः सारयेन्नादसिद्ध्यै हस्तं तु दक्षिणम् ॥ ६० ॥

त्यक्त्वा वितस्तिं जीवातस्तन्त्रीं विन्यस्य सारयेत्।
अन्यत्रोपरिवाद्यात्तं नोर्ध्वं वक्षःस्थलान्नयेत् ॥ ६१ ॥

वीणा की धारण और वादन-विधि

५७-६१. (अ०) यथा जिस तरह अधः वक्त्रं नीचे मुँह वाला तुम्बं तूँबा अधः नीचे (और) तन्त्री (वाद्य) तन्त्री ऊर्ध्वा ऊपर भवेत् हो तथा उस तरह अस्याः इस (वीणा का) दोरिकादेशं (मन्द्रस्थान की सूचक) डोरी (से बँधा) स्थान वामस्कन्धे निधाय च बायें कन्धे पर रख कर और ककुभं ककुभ को दक्षिणस्य अङ्घ्रेः दाहिने पैर की पार्ष्ण्या एड़ी से (एड़ी पर) यत्नतः संधाय यत्नपूर्वक (अच्छी तरह) जमा कर वामहस्तस्य बायें हाथ की कनिष्ठायाः कनिष्ठा (उँगली) के पृष्ठे न्यस्तां पिछले (नख वाले) भाग पर धारण की हुई अनामा-अङ्गुलिवेष्टिताम् अनामिका उँगली से सटाई हुई (और) आकुञ्चन-मध्यमापार्श्वलग्नां कुछ सिकोड़ी हुई मध्यमा

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

के पार्श्व (बाजू) से लगी हुई सारणात् (ऊपर-नीचे) सारणा करने (सरकाने) से सारणा इति उक्तां सारणा इस प्रकार (इस नाम से) कही गई कम्रिकां कम्रिका को (जिससे वादन करना है) तर्जनिका-अग्रतः निपीड्य तर्जनी के अग्र (पोर के सिरे) से दबा कर उरःस्थल-आसन्नां तन्त्रीम् अभिनिधाय च और छाती के पास तन्त्री पर रख कर नादसिद्ध्यै नाद की सिद्धि (स्वर उत्पन्न करने) के लिये ऊर्ध्व-अधः ऊपर-नीचे सारयेत् सारित (चालन) करना चाहिये। दक्षिणं हस्तं तु दाहिना हाथ तो जीवातः जीवा से वितस्तिं त्यक्त्वा एक वितस्ति छोड़ कर तन्त्रीं विन्यस्य तार पर रख कर सारयेत् चलाना चाहिये। तम् उस (दाहिने हाथ) को उपरिवाद्यात् अन्यत्र उपरिवाद्य के अलावा वक्षःस्थलात् ऊर्ध्वं छाती से ऊपर न नयेत् नहीं ले जाना चाहिये।

(सर०) सिंह० ने कम्रिका का अर्थ वेणुदण्ड यानी बाँस की डंडी दिया है। ना०शा० में जिसे कोण कहा गया है संभवतः उसी को कम्रिका कहते हैं। (ना०शा०, २९/११७-१८)। अभिनव ने इस श्लोक की व्याख्या में एकतन्त्री का उल्लेख किया है।

सं०र० का एकतन्त्री का संपूर्ण लक्षण पूर्ववर्ती मान० में लगभग ज्यों का त्यों मिलता है (१७/४/५८७-६१८)। सं०र० के समकालीन सं०स०सार में भी एकतन्त्री को सारी वीणाओं में प्रधान कहा है यद्यपि बनावट आदि का निरूपण उसमें नहीं है।

(सारणाभेदाः)

कम्रिका तत्क्रिया चोक्ता सारणा सा चतुर्विधा।
उत्क्षिप्ता संनिविष्टाख्योभयी स्यात् कम्पितेत्यपि॥ ६२॥

सारणा के भेद

६२. (अ०) कम्रिका तत् क्रिया च कम्रिका और उसकी क्रिया सारणा उक्ता सारणा कही गई (है)। सा वह (क्रिया) उत्क्षिप्ता संनिविष्टा-आख्या उत्क्षिप्ता (और) संनिविष्टा नामक, उभयी कम्पिता अपि उभयी और कम्पिता इति यों चतुर्विधा स्यात् चार प्रकार की होती है।

शिलष्टा तन्त्रीं यदोत्प्लुत्य निपतेत् सारणान्मुहुः।
तदोत्क्षिप्ता संनिविष्टा स्पृष्ट्वैव सारणे भवेत्॥ ६३॥

६३. (अ०) तन्त्रीं श्लिष्टा तार को लगी हुई (तार पर रखी हुई) (कम्रा) यदा जब मुहुः बार-बार उत्प्लुत्य उछल कर सारणात् सारणा करते हुए निपतेत् गिरे तदा तब उत्क्षिप्ता उत्क्षिप्ता (सारणा होती है)। स्पृष्ट्वा एव (तार से) छुए हुए ही सारणे चालन करने पर संनिविष्टा भवेत् संनिविष्टा (सारणा) होती है।

(सर०) कम्रा को तार पर बार-बार रख कर और उठा कर वादन करने पर खण्डित ध्वनि होती है जिसे उत्क्षिप्ता कहा है। कम्रा को तार से लगाये रख कर यानी हटाये बिना सारणा करने पर संनिविष्टा होती है जिसमें ध्वनि खण्डित नहीं होती बल्कि निरन्तरता बनी रहती है।

क्रमादेतद् द्वयाभ्यां स्यादुभयी सारणा मता।
स्वरस्थाने कम्पनेन कम्पिता कम्रिकोच्यते॥ ६४॥

६४. (अ०) क्रमात् क्रम से एतत् द्वयाभ्याम् इन दोनों (उत्क्षिप्ता और संनिविष्टा के प्रयोग) से उभयी सारणा मता स्यात् उभयी सारणा मानी गई है। स्वरस्थाने स्वर के स्थान पर कम्पनेन कम्पन से कम्पिता कम्रिका कम्पिता सारणा उच्यते कही जाती है।

(हस्तव्यापारसंग्रहः)

घातः पातश्च संलेखस्तथोल्लेखावलेखकौ।
भ्रमरः संधितच्छिन्नौ नवमी नखकर्तरी॥ ६५॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

व्यापारा दक्षिणस्येति,

हस्तव्यापारों का संग्रह

६५-६६ क. (अ०) घातः पातः च घात और पात, संलेखः तथा उल्लेख-अवलेखकौ संलेख और उल्लेख तथा अवलेख, भ्रमरः भ्रमर संधित-च्छिन्नौ संधित और छिन्न, नवमी नखकर्तरी नवीं नखकर्तरी इति ये दक्षिणस्य दाहिने (हाथ) के व्यापाराः व्यापार (हैं)।

(सर०) यहाँ से वीणा पर दाहिने और बायें हाथ की अलग-अलग क्रियाओं और फिर दोनों हाथों से एक साथ की जाने वाली क्रियाओं का निरूपण शुरू होता है। इन्हें शास्त्रीय भाषा में व्यापार कहा जाता है। पहले सारे व्यापारों का संग्रह किया है। यहाँ दाहिने हाथ के ये नौ व्यापार गिनाये हैं—घात, पात, संलेख, उल्लेख, अवलेख, भ्रमर, संधित, छिन्न और नखकर्तरी।

पाणेर्वामस्य तु द्वयम्।
स्फुरितः खसितश्चेति करयोरुभयोस्त्वमी॥ ६६ ॥

घोषो रेफोऽथ बिन्दुः स्यात् कर्तरी चार्धकर्तरी।
निष्कोटिताख्यः स्खलितः शुकवक्त्रश्च मूर्च्छना॥ ६७॥

तलहस्तोऽर्धचन्द्रश्च प्रसारः कुहरोऽपरः।
त्रयोदशेति सर्वेऽमी स्युश्चतुर्विंशतिर्युताः॥ ६८॥

करनामान्यपीमानि मन्वते वाद्यवेदिनः।

६६ ख -६९ ख. (अ०) वामस्य पाणेः तु बायें हाथ के तो स्फुरितः खसितः च स्फुरित और खसित इति द्वयं ये दो (व्यापार होते हैं)। उभयोः करयोः तु दोनों हाथों के तो अमी ये (व्यापार हैं)—घोष, रेफ, बिन्दु, कर्तरी और अर्धकर्तरी, निष्कोटित, स्खलित और शुकवक्त्र, मूर्च्छना, तलहस्त और अर्धचन्द्र, प्रसार, अन्य कुहर इति त्रयोदश इस प्रकार तेरह (हैं)। अमी ये सर्वे युताः सारे मिला कर चतुर्विंशतिः स्युः चौबीस होते हैं। इमानि ये वाद्यवेदिनः वाद्य के वेत्ताओं के द्वारा करनामानि अपि करनाम भी मन्वते माने जाते हैं।

(सर०) दाहिने हाथ के ९, बायें के २ और दोनों हाथों के संयुक्त १३ मिला कर २४ हस्तव्यापार होते हैं।

(हस्तव्यापारनिरूपणम्)
(तत्र दक्षिणहस्तव्यापाराः)
(घातः)

घातः स्यान्मध्यमाक्रान्ततर्जन्या तन्त्रिकाहतिः॥ ६९॥

इति घातः (१)

हस्तव्यापारों का निरूपण
दाहिने हाथ के व्यापार

१—घात

६९ ग-घ. (अ०) मध्यमा-आक्रान्ततर्जन्या मध्यमा (उँगली) से दबी हुई (अथवा सटी हुई) तर्जनी के द्वारा तन्त्रिकाहतिः तार पर आघात घातः स्यात् 'घात' होता है।

यह घात है ॥ (१)

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(पातः)

घातः केवलया पातः,

इति पातः (२)

२—पात

७० क. (अ०) केवलया केवल (तर्जनी) से (किया गया) घातः घात (हस्तव्यापार) पातः 'पात' (होता है)।

यह पात है। (२)

(संलेखः)

संलेखोऽन्तस्तयाऽऽहतिः।

इति संलेखः (३)

३—संलेख

७० ख. (अ०) तया उस (तर्जनी) से अन्तः भीतर (की ओर से) हतिः आघात संलेखः 'संलेख' (है)।

(सर०) पिछले दोनों व्यापारों में तन्त्री के ऊपर आघात समझना चाहिये। संलेख में तन्त्री पर भीतर से बाहर की ओर आघात है। ये तीनों तर्जनी उँगली के आघात हैं।

यह संलेख है। (३)

(उल्लेखः)

अन्तर्मध्यमया घातमुल्लेखं संप्रचक्षिरे ॥ ७० ॥

इत्युल्लेखः (४)

४—उल्लेख

७० ग-घ. (अ०) मध्यमया मध्यमा (उँगली) के द्वारा अन्तः घातः भीतर (की ओर) आघात उल्लेखः उल्लेख संप्रचक्षिरे कहा जाता है।

(सर०) यह संलेख का उल्टा है क्योंकि संलेख में भीतर से बाहर और उल्लेख में बाहर से भीतर आघात होता है जैसे आज सितार आदि में 'रा' और 'दा' में किया जाता है।

यह उल्लेख है। (४)

(अवलेखः)

अवलेखो मध्यमया स्यात् तन्त्रीताडनं बहिः।

इत्यवलेखः (५)

५—अवलेख

७१ क-ख. (अ०) मध्यमया मध्यमा के द्वारा बहिः बाहर (की ओर) तन्त्रीताडनं तार पर आघात करना अवलेखः स्यात् 'अवलेख' होता है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(सर०) ये दोनों मध्यमा उँगली के आघात हैं।

यह अवलेख है। (५)

अङ्गुल्यान्येऽन्ययाप्याहुरुल्लेखं चावलेखकम्॥ ७१॥

सर्वाभिस्तिसृभिस्द्वाभ्यामथवेति च ते जगुः।
अन्तर्बहिर्मुखौ घातौ तयोस्ते ब्रुवते क्रमात्॥ ७२॥

इति मतान्तरेणोल्लेखावलेखौ

७१ ग -७२. (अ०) अन्ये अन्य आचार्य अन्यया अङ्गुल्या अपि दूसरी उँगली से भी उल्लेखं च अवलेखकम् उल्लेख और अवलेख आहुः कहते हैं। सर्वाभिः सारी (उँगलियों) से (अथवा) तिसृभिः तीन (उँगलियों) से अथवा ताभ्यां या उन दो से इति च इस प्रकार भी ते वे (उल्लेख और अवलेख) जगुः कहते हैं। (अन्य मत से) तयोः उन दोनों में क्रमात् क्रम से अन्तः बहिर्मुखौ अन्दर (और) बाहर की ओर घातौ घात ते वे (उल्लेख और अवलेख) ब्रुवते कहते हैं।

ये मतान्तर से उल्लेख और अवलेख हैं।

(भ्रमरः)

भ्रमरोऽन्तःक्रमाच्छीघ्रं चतुरङ्गुलिताडनम्।

इति भ्रमरः (६)

६—भ्रमर

७३ क-ख. (अ०) शीघ्रं द्रुत गति से अन्तः भीतर (की ओर) क्रमात् क्रम से चतुः-अङ्गुलिताडनं चारों उँगलियों से आघात भ्रमरः 'भ्रमर' (है)।

(सर०) भौंरे के गुजन में ध्वनि की जो निरन्तरता, कम्प और गुनगुन सुनाई देती है उसका कुछ सादृश्य द्रुत गति से एक के बाद दूसरी यों चारों उँगलियों से आघात करने में दिखाई देता है। संभवतः इसीलिये इसे भ्रमर नाम दिया गया है।

यह भ्रमर है। (६)

(संधितः)

मध्यमानामिकाभ्यां तु बहिर्घातोऽत्र संधितः॥ ७३॥

इति संधितः (७)

७—संधित

७३ ग-घ. (अ०) अत्र यहाँ (हस्तव्यापारों में) मध्यमा-अनामिकाभ्यां तु मध्यमा और अनामिका से तो बहिः घातः बाहर (की ओर) आघात संधितः 'संधित' (कहा जाता है)।

यह संधित है। (७)

(छिन्नः)

तर्जनीपार्श्वलग्नायास्तन्त्र्या बहिरनामया।
हननं च्छिन्नमाचष्टे श्रीमत्सोढलनन्दनः॥ ७४॥

इति च्छिन्नः (८)

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

८—छिन्न

७४. (अ०) तर्जनीपार्श्वलग्नायाः तर्जनी की बाजू से लगी हुई तन्त्र्याः तन्त्री का (तन्त्री पर) अनामया अनामिका (उँगली) के द्वारा बहिः हननं बाहर आघात करने को श्रीमत्सोढलनन्दनः श्रीमान् सोढल का पुत्र (शार्ङ्गदेव) छिन्नं 'छिन्न' आचष्टे कहता है।

यह छिन्न है। (८)

(नखकर्तरी)

क्रमाद् द्रुतं नखैर्घातश्चतुर्भिर्नखकर्तरी।

इति नखकर्तरी (९)

इति नव दक्षिणहस्तव्यापाराः

९—नखकर्तरी

७५ क-ख. (अ०) क्रमात् क्रम से चतुर्भिः नखैः चारों नखों से द्रुतं घातः द्रुत आघात नखकर्तरी 'नखकर्तरी' है।

यह नखकर्तरी है। (९)

ये दाहिने हाथ के नौ व्यापार हैं।

(वामहस्तव्यापारद्वयम्)

(स्फुरितः)

स्फुरिते कम्पिता तन्त्रीपृष्ठलग्नेव सारणा॥ ७५॥

इति स्फुरितः (१)

बायें हाथ के व्यापार

१—स्फुरित

७५ ग-घ. (अ०) स्फुरिते 'स्फुरित' में तन्त्रीपृष्ठलग्ना तार के ऊपर लगी हुई सारणा कम्रिका कम्पिता इव कंपिता (सारणा) जैसी (योजित होती है)।

यह स्फुरित है (१)

(खसितः)

मुहुः सारणया तन्त्रीघर्षणं खसितो मतः।

इति खसितः (२)

इति वामहस्तव्यापारद्वयम्

२—खसित

७६ क-ख. (अ०) सारणया कम्रा के द्वारा मुहुः बार-बार तन्त्रीघर्षणं तार को घिसना खसितः मतः 'खसित' माना गया (है)।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

यह खसित है। (२)

ये बायें हाथ के दो व्यापार हैं।

(उभयहस्तव्यापाराः)

(घोषः)

तन्त्री लग्नाङ्गुष्ठपार्श्वा कर्तरीवच्च हन्यते॥ ७६॥
कनिष्ठासारणाभ्यां वा यत्रासौ घोष उच्यते।

इति घोषः (१)

दोनों हाथों के व्यापार

१—घोष

७६ ग-७७ ख. (अ०) लग्न-अङ्गुष्ठपार्श्वा अँगूठे का बाजू (जिसके) लगा (है ऐसी) तन्त्री तन्त्री (पर) कर्तरीवत् च कर्तरी के समान ही हन्यते आघात किया जाता है कनिष्ठासारणाभ्यां वा अथवा कनिष्ठा उँगली और कम्रा से यत्र जहाँ (जिसमें) (आघात किया जाता है) असौ यह घोषः 'घोष' उच्यते कहा जाता है।

(सर०) कर्तरी व्यापार आगे बताया जाने वाला है जिसमें दोनों हाथों की चारों उँगलियों से द्रुत गति में तार पर बाहर की ओर आघात किया जाता है।

घोष में अँगूठे का पार्श्व तार पर लगा होने पर कर्तरी जैसा आघात होगा तो ध्वनि कैसे उत्पन्न होगी—यह प्रश्न है।

घोष की क्रिया नीचे पड़ी हुई वीणा में ही संभव है, लक्षण से ऐसा प्रतीत होता है।

यह घोष है। (१)

(रेफः)

दक्षिणानामया यत्र तन्त्रीरन्तर्निहन्यते॥ ७७॥
वामस्य मध्यमाङ्गुल्या बहिस्तं रेफमूचिरे।

इति रेफः (२)

२—रेफ

७७ ग-७८ ख. (अ०) यत्र जहाँ दक्षिण अनामया दाहिने (हाथ की) अनामिका के द्वारा तन्त्रीः तार को अन्तः अन्दर (की ओर) वामस्य (और) बायें (हाथ) की मध्यमा-अङ्गुल्या मध्यमा उँगली के द्वारा बहिः बाहर (की ओर) निहन्यते ताड़ित किया जाता है तम् उसे रेफम् ऊचिरे 'रेफ' कहा जाता है।

यह रेफ है। (२)

(बिन्दुः)

अनामया बहिस्तन्त्रीघाताज्जातो यदा ध्वनिः॥ ७८॥
तर्जन्या धार्यते बिन्दुर्निःशङ्केनोदितस्तदा।

इति बिन्दुः (३)

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

३—बिन्दु

७८ ग-७९ ख. (अ०) अनामया अनामिका के द्वारा बहिः बाहर (की ओर) तन्त्रीघातात् तार पर आघात से जातः ध्वनिः उत्पन्न नाद यदा जब तर्जन्या तर्जनी के द्वारा धार्यते धारण किया जाता है तदा तब निःशङ्केन निःशंक (शार्ङ्गदेव) के द्वारा बिन्दुः उदितः 'बिन्दु' कहा गया (है)।

(सर०) धारण का अर्थ स्पष्ट नहीं है। सिंह० की 'स्थिते सति' व्याख्या भी सहायक नहीं है।

यह बिन्दु है। (३)

(कर्तरी)

अङ्गुलीभिश्चतसृभिः क्रमेण करयोर्द्वयोः ॥ ७९ ॥
बहिस्तन्त्रीहतिस्तूर्णं कर्तरी कीर्तिता बुधैः।

इति कर्तरी (४)

४—कर्तरी

७९ ग-८० ख. (अ०) द्वयोः करयोः दोनों हाथों की चतसृभिः अङ्गुलीभिः चारों उँगलियों से क्रमेण क्रम से बहिः बाहर (की ओर) तूर्णं द्रुत गति से तन्त्रीहतिः तार पर आघात बुधैः बुधजनों के द्वारा कर्तरी कीर्तिता 'कर्तरी' कही गई है।

यह कर्तरी है। (४)

(अर्धकर्तरी)

दक्षिणः कर्तरीं कुर्याद् वामहस्तस्तु तन्त्रिकाम् ॥ ८० ॥
यत्र सारणया हन्ति प्राहुस्तामर्धकर्तरीम्।

इत्यर्धकर्तरी (५)

५—अर्धकर्तरी

८० ग-८१ ख. (अ०) यत्र जहाँ दक्षिणः दाहिना (हाथ) कर्तरीं कुर्यात् कर्तरी को करता है (और) वामहस्तः तु बायाँ हाथ तो सारणया कम्रा से तन्त्रिकां हन्ति तार पर आघात करता है ताम् उसे अर्धकर्तरीं प्राहुः 'अर्धकर्तरी' कहते हैं।

यह अर्धकर्तरी है। (५)

(निष्कोटितः)

उत्सृष्टसारणां यत्र हन्ति तन्त्रीं प्रदेशिनी ॥ ८१ ॥
निष्कोटिताभिधं पाणिममुं वाद्यविदो विदुः।

इति निष्कोटितः (६)

६—निष्कोटित

८१ ग-८२ ख. (अ०) उत्सृष्टसारणां तन्त्रीं कम्रा (जिस पर से) उठा ली गई (हो ऐसी) तन्त्री को यत्र जहाँ (जिस व्यापार में) प्रदेशिनी हन्ति प्रदेशिनी (तर्जनी उँगली) आहत करती है अमुम् इसे वाद्यविदः वाद्यों के जानकार निष्कोटित-अभिधं 'निष्कोटित' नामक पाणिं हस्त विदुः जानते हैं।

यह निष्कोटित है। (६)

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(स्खलितः)

उत्क्षिप्तया सारणया वामस्तन्त्रीं द्रुतं यदा ॥ ८२॥

निहन्ति कर्तरीतुल्यो दक्षिणः स्खलितस्तदा।

इति स्खलितः (७)

७—स्खलित

८२ ग-८३ ख. (अ०) यदा जब उत्क्षिप्तया सारणया उत्क्षिप्ता सारणा से वामः बायाँ (हाथ) तन्त्रीं तार को द्रुतं द्रुत (गति से) निहन्ति ताड़ित करता है (और) दक्षिणः दाहिना (हाथ) कर्तरीतुल्यः कर्तरी की तरह (आघात करता है) तदा तब स्खलितः 'स्खलित' (होता है)।

यह स्खलित है। (७)

(शुकवक्त्रकः)

तन्त्रीकर्षोऽङ्गुष्ठतर्जन्यग्राभ्यां शुकवक्त्रकः ॥ ८३॥

इति शुकवक्त्रकः (८)

८—शुकवक्त्रक

८३ ग-घ. (अ०) अङ्गुष्ठतर्जनि-अग्राभ्याम् अँगूठे और तर्जनी के अग्रों से तन्त्रीकर्षः तार को खींचना शुकवक्त्रकः 'शुकवक्त्रक' (है)।

यह शुकवक्त्रक है। (८)

(मूर्च्छना)

उद्वेष्टपरिवर्ताभ्यां तन्त्र्या भ्राम्यति दक्षिणे।
स्वरस्थाने द्रुतं कम्प्रासारणं मूर्च्छना मता॥ ८४॥

इति मूर्च्छना (९)

९—मूर्च्छना

८४. (अ०) उद्वेष्टपरिवर्ताभ्याम् उद्वेष्ट और परिवर्त से (अर्थात् बाईं और दाहिनी ओर) दक्षिणे भ्राम्यति दाहिना (हाथ) घूमता हुआ होने पर तन्त्र्याः स्वरस्थाने तार के स्वरस्थान पर द्रुतं कम्प्रासारणं द्रुत (गति से) कम्प्रा का चालन मूर्च्छना मता मूर्च्छना मानी गई (है)।

यह मूर्च्छना है। (९)

(तलहस्तः)

तलेन दक्षिणो हस्तस्तन्त्रीं हन्तीतरः पुनः।
प्रदेशिन्या स्पृशेद् यत्र तलहस्तो भवेदसौ॥ ८५॥

इति तलहस्तः (१०)

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

१०—तलहस्त

८५. (अ०) यत्र जहाँ (जिसमें) दक्षिणः हस्तः दाहिना हाथ तलेन तल (हथेली) के द्वारा तन्त्रीं हन्ति तार पर आघात करता है पुनः इतरः और दूसरा (बायाँ हाथ) प्रदेशिन्या तर्जनी से स्पृशेत् (तार का) स्पर्श करता है असौ यह तलहस्तः भवेत् 'तलहस्त' होता है।

यह तलहस्त है। (१०)

(अर्धचन्द्रः)

स्पर्शोऽङ्गुष्ठकनिष्ठाभ्यामर्धचन्द्रोऽभिधीयते।

इत्यर्धचन्द्रः (११)

११—अर्धचन्द्र

८६ क-ख. (अ०) अङ्गुष्ठकनिष्ठाभ्यां स्पर्शः अँगूठे और कनिष्ठा से छूना अर्धचन्द्रः 'अर्धचन्द्र' अभिधीयते कहा जाता है।

यह अर्धचन्द्र है। (११)

(प्रसारकः)

चतुरङ्गुलिसंघाते कुञ्चिताङ्गुष्ठके तले॥ ८६॥
कनिष्ठातर्जनीपार्श्वस्पर्शस्तन्त्र्याः प्रसारकः।

इति प्रसारकः (१२)

१२—प्रसारक

८६ ग-८७ ख. (अ०) चतुः-अङ्गुलिसंघाते चारों उँगलियों के जुड़े होने (और) तले हथेली में कुञ्चित-अङ्गुष्ठके सिकोड़ा हुआ अँगूठा होने पर तन्त्र्याः तार का कनिष्ठातर्जनीपार्श्वस्पर्शः कनिष्ठा (और) तर्जनी के पार्श्व से स्पर्श प्रसारकः 'प्रसारक' (है)।

यह प्रसारक है। (१२)

(कुहरः)

करस्य किंचित् साङ्गुष्ठसकलाङ्गुलिकुञ्चने॥ ८७॥
कनिष्ठाङ्गुष्ठसंस्पर्शस्तन्त्र्याः स्यात् कुहरः करः।

इति कुहरः (१३)

इति त्रयोदशोभयहस्तव्यापाराः

१३—कुहर

८७ ग-८८ ख. (अ०) करस्य हाथ की स-अङ्गुष्ठसकल-अङ्गुलिकुञ्चने किंचित् अँगूठे सहित सारी उँगलियों का कुछ कुंचन होने पर तन्त्र्याः तार से कनिष्ठ-अङ्गुष्ठसंस्पर्शः (दूसरे हाथ की) कनिष्ठा (और) अँगूठे का स्पर्श कुहरः करः स्यात् 'कुहर' हस्त होता है।

यह कुहर है। (१३)

ये तेरह दोनों हाथों के व्यापार हैं।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(वाद्यम्)

एतद्धस्तसमायोगाद् वादनं वाद्यमुच्यते॥ ८८॥

वाद्य

८८ ग-घ. (अ०) एतत् इस (इन) हस्तसमायोगात् हस्तों के मेल से (होने वाला) वादनं वादन वाद्यम् उच्यते 'वाद्य' कहा जाता है।

(सर०) विभिन्न हस्तों के मेल से बनने वाले नियत संनिवेशों से यहाँ आशय है।

(दशविधवाद्यम्)

छन्दो धारा कैकुटी च कङ्कालं वस्तु च द्रुतम्।
गजलीलं दण्डकं चोपरिवाद्यमतः परम्॥ ८९॥

वाद्यं पक्षिरुतं चेति दशधा परिकीर्तितम्।

दस प्रकार का वाद्य

८९-९० ख. (अ०) छन्दः धारा कैकुटी च छन्द, धारा और कैकुटी, कङ्कालं वस्तु च द्रुतं कंकाल, वस्तु और द्रुत, गजलीलं दण्डकं च गजलील और दण्डक, अतः परम् इसके बाद उपरिवाद्यम् उपरिवाद्य पक्षिरुतं च और पक्षिरुत इति यों वाद्यं 'वाद्य' दशधा दस प्रकार का परिकीर्तितं जाना गया है।

(छन्दः)

खसितस्फुरितौ यत्र क्रियेते बहुधा करौ॥ ९०॥

तारं च स्पृश्यते स स्याच्छन्दो यतिमनोहरः।

इति च्छन्दः (१)

१—छन्द

९० ग-९१ ख. (अ०) यत्र जहाँ खसितस्फुरितौ करौ खसित और स्फुरित हस्त बहुधा कई बार क्रियेते किये जाते हैं तारं च स्पृश्यते और तार (स्थान) को छुआ जाता है स वह यतिमनोहरः मनोहर यति वाला छन्दः स्यात् 'छन्द' होता है।

यह छन्द है। (१)

(धारा)

स्खलितो मूर्च्छना चाथ कर्तरीरेफसंयुतौ ॥ ९१॥

उल्लेखरेफौ यत्रास्तां धारां ब्रूते हरप्रियः।

इति धारा (२)

२—धारा

९१ ग-९२ ख. (अ०) यत्र जहाँ स्खलितः मूर्च्छना च स्खलित और मूर्च्छना, अथ इसके बाद कर्तरीरेफसंयुतौ कर्तरी

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

और रेफ से संयुक्त उल्लेखरेफौ उल्लेख और रेफ आस्तां हों हरप्रियः शिवप्रिय (शार्ङ्गदेव) धारां ब्रूते (उसे) 'धारा' कहता है।

यह धारा है। (२)

(कैकुटी)

शुकवक्त्रः स्फुरितको घोषः स्यादर्धकर्तरी॥ ९२॥

क्रमादेते करा यत्र तामाहुः कैकुटीं बुधाः।

इति कैकुटी (३)

३—कैकुटी

९२ ग-९३ ख. (अ०) यत्र जहाँ क्रमात् क्रम से शुकवक्त्रः स्फुरितकः शुकवक्त्र, स्फुरित, घोषः अर्धकर्तरी घोष (और) अर्धकर्तरी एते कराः ये हस्त स्यात् होता है (होते) हैं ताम् उसे बुधाः बुद्धिमान् कैकुटीम् आहुः 'कैकुटी' कहते हैं।

यह कैकुटी है। (३)

(कङ्कालम्)

स्फुरितैर्मूर्च्छनासंज्ञैः कर्तरीत्रितयेन च ॥ ९३॥

युक्तं करैः क्रमादेभिः कङ्कालं कथितं बुधैः।

इति कङ्कालम् (४)

४—कंकाल

९३ ग-९४ ख. (अ०) स्फुरितैः स्फुरितों, मूर्च्छनासंज्ञैः मूर्च्छना संज्ञा वालों कर्तरीत्रितयेन च और तीन कर्तरियों (कर्तरी, अर्धकर्तरी, नखकर्तरी) के समूह से क्रमात् एभिः करैः युक्तं क्रम से इन हस्तों से युक्त, बुधैः बुद्धिमानों के द्वारा, कङ्कालं कथितं 'कंकाल' कहा गया (है)।

यह कंकाल है। (४)

(वस्तु)

स्पृष्टतारमुपेतं यत् कर्तर्या खसितेन च ॥ ९४॥

कुहरेणाथ तद्वाद्यं वस्तु वस्तुविदो विदुः।

इति वस्तु (५)

५—वस्तु

९४ ग-९५ ख. (अ०) कर्तर्या खसितेन च कर्तरी और खसित से अथ कुहरेण इसके बाद कुहर से स्पृष्टतारम्-उपेतं तार(स्थान) के स्पर्श से युक्त (अर्थात् तारस्थान में) यत् वाद्यं जो वाद्य (हो) तत् उसे वस्तुविदः वस्तु (वाद्य के तत्त्व) को जानने वाले वस्तुं विदुः 'वस्तु' जानते हैं।

यह वस्तु है। (५)

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(द्रुतम्)

कर्तरीखसितौ यत्र क्रमेण कुहरः करः॥ ९५॥

रेफभ्रमरघोषाश्च तद् द्रुतं ब्रुवते बुधाः।

इति द्रुतम् (६)

६—द्रुत

९५ ग-९६ ख. (अ०) यत्र जहाँ क्रमेण क्रम से कर्तरीखसितौ कर्तरी और खसित, कुहरः करः कुहर हस्त, रेफभ्रमरघोषाः च रेफ, भ्रमर और घोष (हों) तत् उसे बुधाः बुधजन द्रुतं ब्रुवते 'द्रुत' कहते हैं।

यह द्रुत है। (६)

(गजलीलम्)

बहुधा मूर्च्छना हस्ताः स्फुरिताः कर्तरी ततः॥ ९६॥

खसितो यत्र तत् प्राहुर्गजलीलं कलाविदः।

इति गजलीलम् (७)

७—गजलील

९६ ग-९७ ख. (अ०) यत्र जहाँ मूर्च्छना स्फुरिताः हस्ताः बहुधा मूर्च्छना (और) स्फुरित हस्त बहुत बार (हों), ततः तब कर्तरी खसितः कर्तरी (और) खसित (हों) तत् उसे कलाविदः कला के वेत्ता गजलीलं प्राहुः 'गजलील' कहते हैं।

यह गजलील है। (७)

(दण्डकम्)

स्खलितो मूर्च्छनाख्यश्च कर्तरीरेफसंयुतः॥ ९७॥

खसितो यत्र वाद्यज्ञा दण्डकं तद्बभाषिरे।

इति दण्डकम् (८)

८—दण्डक

९७ ग-९८ ख. (अ०) यत्र जहाँ स्खलितः मूर्च्छना-आख्यः च स्खलित और मूर्च्छना नामक (हस्त), कर्तरीरेफसंयुतः कर्तरी (और) रेफ के सहित खसितः खसित (हो) तत् उसे वाद्यज्ञाः वादन के ज्ञाता दण्डकं बभाषिरे 'दण्डक' कह चुके हैं।

यह दण्डक है। (८)

(उपरिवाद्यकम्)

ऊर्ध्वाधोगौ क्रमाद्धस्तौ रेफकर्तरिकाह्वयौ॥ ९८॥

निष्कोटिततले हस्तौ द्वावप्युपरिवाद्यके।

इत्युपरिवाद्यकम् (९)

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

९—उपरिवाद्यक

९८ ग-९९ ख. (अ०) क्रमात् क्रम से ऊर्ध्व-अधोगौ ऊपर और नीचे जाने वाले रेफकर्तरिका-आह्वयौ हस्तौ रेफ और कर्तरी नामक हंस्त (तथा) निष्कोटिततले हस्तौ निष्कोटित और तल हस्त द्वौ अपि ये दो भी उपरिवाद्यके 'उपरिवाद्य' में (होते हैं)।

(सर०) सिंह० के अनुसार ऊर्ध्व-अधोगौ का अर्थ है दाहिना हाथ ऊपर और बाँया नीचे वादन करता है। फिर दाहिने से रेफ और बायें से कर्तरी, फिर दाहिने से निष्कोटित और बायें से तलहस्त करने पर उपरिवाद्य होता है।

यह उपरिवाद्यक है। (९)

(पक्षिरुतम्)

समस्तहस्तवाद्यं तु वाद्यं पक्षिरुतं मतम् ॥ ९९॥

इति पक्षिरुतम् (१०)

इति दशविधं वाद्यम्

१०—पक्षिरुत

९९ ग-घ. (अ०) समस्तहस्तवाद्यं तु सारे हस्तों का वाद्य तो पक्षिरुतं वाद्यं मतं 'पक्षिरुतं' वाद्य माना गया (है)।

यह पक्षिरुत है। (१०)

ये दस प्रकार के वाद्य हैं।

(ध्वनिगुणाधारितं द्विविधवाद्यम्)

सकलं निष्कलं चेति द्विविधं वाद्यमुच्यते।

ध्वनि के गुण पर आधारित द्विविध वाद्य

१०० क-ख. (अ०) सकलं निष्कलं च सकल और निष्कल इति यों वाद्यं 'वाद्य' द्विविधम् उच्यते दो प्रकार का कहा जाता है।

(सर०) वाद्य से उत्पन्न होने वाली ध्वनि के गुण के आधार पर यहाँ सकल और निष्कल यों दो तरह का वाद्य कहा है।

(सकलवाद्यम्)

तन्त्रीसंलग्नजीवातः स्थूलो यत्र ध्वनिर्भवेत्॥ १००॥

तदुक्तं सकलं वाद्यमपरे त्वन्यथा जगुः।
आदोरिकां पत्रिकां चेत् तर्जनीस्पर्शवर्जितम्॥ १०१॥

सार्यते कम्रिकावाद्यं तदाहुः सकलाभिधम्।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

सकलवाद्य

१०० ग-१०२ ख. (अ०) यत्र जहाँ तन्त्रीसंलग्नजीवातः तार से लगी हुई जीवा से स्थूलः ध्वनिः भवेत् बुलन्द ध्वनि होती है तत् वह सकलं वाद्यम् उक्तं सकल वाद्य कहा गया (है)। अपरे तु अन्य (आचार्य) तो अन्यथा जगुः अन्य प्रकार से कहते हैं। पत्रिकां आदोरिकां पत्रिका से लेकर दोरिका तक तर्जनीस्पर्शवर्जितं तर्जनी से छुए बिना कम्रिका सार्यते चेत् यदि कम्रिका सारित की जाती है तत् वह (उसे) सकल-अभिधं वाद्यं सकल नामक वाद्य आहुः कहते हैं।

(सर०) आड्यार सं० और सिंह० की टीका का पाठ आधोरिकां है लेकिन इस शब्द का कोई स्पष्टीकरण व्याख्या में नहीं है और न मूल या टीका में यह शब्द अन्यत्र कहीं आया है। आनन्द० में आदोरिकं है और पादटिप्पणी में आदोरिकां हैं। दोरिका शब्द एकतन्त्री के लक्षण में आ चुका है इसलिये हमने आदोरिकां का ग्रहण किया है। आदोरिका संभवतः उस स्थान का सूचक है जहाँ डोरी से फंदा बना होता है।

(निष्कलवाद्यम्)

अपनीय कलां कम्रामधो नैषाददेशतः॥ १०२॥

न नयेत् तर्जनीस्पर्शं तन्त्र्याश्चेन्निष्कलं तदा।
सूक्ष्मश्चात्र भवेन्नादः सारणामत्र केचन॥ १०३॥

आमध्यमस्वरस्थानं सारणायां प्रपेदिरे।

निष्कलवाद्य

१०२ ग-१०४ ख. (अ०) कलां कम्रां अपनीय कला (नाम वाली) कम्रा को हटा कर नैषाददेशतः अधः निषाद के स्थान से नीचे तन्त्र्याः तार से तर्जनीस्पर्शं न नयेत् चेत् यदि तर्जनी का स्पर्श न करें तदा तब निष्कलं निष्कल (वाद्य होता है) अत्र च और इसमें सूक्ष्मः नादः भवेत् सूक्ष्म नाद होता है। अत्र यहाँ (निष्कल वाद्य में) केचन कुछ (आचार्यों ने) सारणायां सारणा (चालन) में आमध्यमस्वरस्थानं मध्यम स्वर के स्थान तक सारणां सारणा (कम्रा के प्रयोग) को प्रपेदिरे स्वीकार किया है।

अवोचदिति निःशङ्कः शिष्याभ्यासाय वादनम्॥ १०४॥

श्रुत्यादिक्रमतो गीतनिष्पत्तौ त्विदमादिशेत्।

१०४ ग-१०५ख. (अ०) निःशङ्कः निःशंक (शार्ङ्गदेव) ने शिष्य-अभ्यासाय शिष्यों के अभ्यास के लिये इति वादनं इस प्रकार (यह) वादन अवोचत् कहा। गीतनिष्पत्तौ तु गीत की निष्पत्ति में (निष्पत्ति के लिये) तो श्रुति-आदि-क्रमतः श्रुति आदि के क्रम से (अर्थात् श्रुति से शुरू करके) इदम् आदिशेत् यह बतायें।

वक्ष्यामः स्वररन्ध्राणां यद् वंशेऽष्टादशाङ्गुले॥ १०५॥

प्रथमे सप्तके स्थानं वीणायामपि तन्मतम्।
स्वराणां किंतु वैणानामधराधरतारता॥ १०६॥

१०५ ग-१०६. (अ०) अष्टादश-अङ्गुले वंशे अठारह अंगुल वाले वंश में प्रथमे सप्तके पहले सप्तक में यत् स्वररन्ध्राणां जिन स्वररन्ध्रों को वक्ष्यामः (वंश प्रकरण में) कहेंगे वीणायाम् अपि वीणा में भी तत् स्थानं वह (पहला) स्थान मतं माना गया (है)। किंतु लेकिन वैणानां स्वराणां वीणा के स्वरों में अधर-अधरतारता नीचे-नीचे (की ओर) तारता (ऊँचापन होता जाता है)।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(सर०) वंश में नीचे की ओर जाने से मन्द्र स्वर उत्पन्न होते हैं क्योंकि ऊपर की ओर से वायु पर आघात से वंशी में नीचे की ओर जाने से कम्पित वायु का क्षेत्र बढ़ता है। वीणा में नीचे जाने से तार स्वर उत्पन्न होते हैं क्योंकि तार का कम्पन क्षेत्र नीचे आघात के कारण छोटा होता जाता है।

मध्यमे सप्तके स्थानं ततः स्याद् द्विगुणान्तरम्।
तृतीये सप्तके स्थानं ततोऽपि द्विगुणान्तरम् ॥ १०७॥

१०७. (अ०) मध्यमे सप्तके मध्य सप्तक में स्थानं (स्वरों का) स्थान ततः उस (प्रथम सप्तक) से द्विगुण-अन्तरं दुगने अंतर वाला स्यात् होता है। तृतीये सप्तके तीसरे सप्तक में स्थानं (स्वरों का) स्थान ततः अपि उससे भी द्विगुण-अन्तरं दुगने अंतर वाला (होता है)।

(सर०) वीणा में वंश की अपेक्षा अधराधर तारता का जो भेद कहा गया वह स्थान की दृष्टि से है क्योंकि वंश में नीचे जाने से स्थान बड़ा हो जाता है और वीणा में इसके विपरीत नीचे की ओर जाने से स्थान छोटा हो जाता है। लेकिन मध्य और तीसरे सप्तक में जो दुगना-दुगना अन्तर कहा वह स्थान की दृष्टि से नहीं बल्कि तारता के आधार पर है।

अष्टादशांगुल वंश के ही स्वरस्थान वीणा में भी कहने से ऐसा अनुमान किया जा सकता है कि इस वंश विशेष के मूल स्वर के आधार पर वीणा में भी मूल स्वर स्थापित किया जाता होगा क्योंकि वंश में जो स्वर उत्पन्न होता है उसमें कोई परिवर्तन नहीं होता। संभवतः इस वंश की मन्द्रतम ध्वनि ही वीणा में भी मन्द्रतम ध्वनि रहती होगी।

प्रथम, मध्यम, तृतीय शब्दों का स्वर स्थानों के लिये प्रयोग करने का यह कारण है कि वंश का जो मूलस्थान है वह प्रथम भी है और वीणा में वही आधार होने से उसमें भी वही प्रथम स्थान है। इस दृष्टि से अन्तिम स्थान तीसरा है और मध्य स्थान इन दोनों के बीच में है इसलिये मध्यम स्थान कहा है।

अङ्केत च स्वरस्थानान्यमूनि सुखबुद्धये।
यथास्वं स्वरभेदानां विभागाच्छ्रुतिदेशधीः ॥ १०८॥

स्याद् ग्राममूर्च्छनादीनामुद्बोधः सुकरस्ततः।

१०८-१०९ ख. (अ०) श्रुतिदेशधीः श्रुति के स्थान की बुद्धि (समझ) वाले (संगीतज्ञ) सुखबुद्धये सुख के बोध के लिये अमूनि स्वरस्थानानि ये स्वरस्थान स्वरभेदानां विभिन्न स्वरों के यथास्वं विभागात् अपने-अपने (चार, तीन आदि श्रुतियों के) विभाग से (विभाग के अनुसार) अंकेत च अंकित करें। ततः उससे ग्राममूर्च्छना-आदीनाम् उद्बोधः ग्राम, मूर्च्छना आदि का विशेष ज्ञान सुकरः स्यात् सरल हो जाता है।

एषाऽपि जनकः प्रोक्ता घोषकश्चैकतन्त्रिका ॥ १०९॥

इत्येकतन्त्रीवीणालक्षणम्

१०९ ग-घ. (अ०) एषा एकतन्त्रिका यह एकतन्त्री (वीणा) जनकः घोषकः च अपि जनक और घोषक भी प्रोक्ता कही गई (है)।

(सर०) ना०शा० में भी घोषक का उल्लेख है लेकिन वहाँ इसे प्रत्यंग वाद्य कहा गया है। अभिनव ने इसका अन्य नाम पिष्टनका भी बताया है (३४/१४ ग और अभि०)

एकतन्त्री वीणा का लक्षण समास

(नकुलादिपञ्चवीणालक्षणम्)

तन्त्रीद्वयेन नकुलः स्यादन्वर्था त्रितन्त्रिका।
तन्त्रीभिः सप्तभिश्चित्रा विपञ्ची नवभिर्मता ॥ ११०॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

२, ३, ४, ५, ६—नकुल आदि पाँच वीणाओं का लक्षण

११०. (अ०) तन्त्रीद्वयेन दो तारों से नकुलः स्यात् नकुल होता है। त्रितन्त्रिका अन्वर्था त्रितन्त्री अर्थ के अनुसार (नाम वाली यानी तीन तार वाली है)। सप्तभिः तन्त्रीभिः सात तारों से चित्रा चित्रा (और) नवभिः नौ (तारों) से विपञ्ची मता विपंची मानी गई (है)।

कोणाङ्गुलीवादनीया चित्रा तद्वद् विपञ्चिका।
क्रमादन्येऽङ्गुलीकोणव्यवस्थामूचिरे तयोः॥ १११॥

चित्रायामङ्गुलीमात्रं विपञ्च्यामुभयं परे।

१११-११२ ख. (अ०) चित्रा चित्रा तत्वत् उसी प्रकार (अर्थात् और) विपञ्चिका विपंची कोण-अङ्गुलीवादनीया (क्रम से) कोण और उँगली से बजाई जाने वाली (हैं)। अन्ये अन्य (आचार्य) तयोः उनमें क्रमात् क्रम से अङ्गुलीकोणव्यवस्थाम् उँगली (और) कोण से (वादन की) व्यवस्था ऊचिरे कहते हैं। परे अन्य (आचार्य) चित्रायां चित्रा में अङ्गुलीमात्रं केवल उँगली से (और) विपञ्च्यां विपंची में उभयं दोनों (उँगली और कोण से वादन कहते हैं)।

(सर०) ना०शा० में विपंची को कोण से और चित्रा को उँगलियों से बजाने का उल्लेख है (२९/११८ ग-घ)। इसकी व्याख्या में अभिनव ने कहा कि श्लोक में प्रयुक्त 'च' के द्वारा यह समझना चाहिये कि दोनों को दोनों से बजाया जाता है। उसने दो अन्य मत देकर उनका खण्डन किया है। एक के अनुसार विपंची को कोण से और चित्रा को उँगलियों से ही बजाया जाता है। दूसरे के अनुसार विपंची को कोण और उँगली दोनों से और चित्रा को सिर्फ़ उँगली से बजाया जाता है (वही, पृ० १२४)। शार्ङ्ग० ने भी इन दो मतों का उल्लेख किया है लेकिन अपना मत, अभिनव के अनुरूप, दोनों का दोनों से वादन ही है।

तन्त्रीणामेकविंशत्या कीर्तिता मत्तकोकिला॥ ११२॥

मुख्येयं सर्ववीणानां त्रिस्थानैः सप्तभिः स्वरैः।
संपन्नत्वात् तदन्यास्तु तस्याः प्रत्यङ्गमीरिताः॥ ११३॥

करणैश्चित्रयन्त्यस्तास्तस्याः स्युरुपरञ्जिकाः।

११२ ग-११४ ख. (अ०) तन्त्रीणाम् एकविंशत्या तारों की इक्कीस (संख्या) के द्वारा (अर्थात् इक्कीस तारों वाली) मत्तकोकिला कीर्तिता मत्तकोकिला कही गई (है)। सप्तभिः स्वरैः सात स्वरों (और) त्रिस्थानैः तीन स्थानों से संपन्नत्वात् संपन्न होने से इयं यह सर्ववीणानां सारी वीणाओं में मुख्या मुख्य (है)। ततः अन्याः तु उसके अलावा (दूसरी वीणाएँ) तो तस्याः उसकी प्रत्यङ्गम् ईरिताः प्रत्यंग कही गई (हैं)। ताः वे करणैः चित्रयन्त्यः करणों के द्वारा (वादन को) चित्रित (समृद्ध) करते हुए तस्याः उस (मत्तकोकिला) की उपरञ्जिकाः स्युः उपरंजिका (रंजन करने वाली) होती हैं।

(सर०) ग्रन्थकार ने मत्तकोकिला को सारी वीणाओं में मुख्या कहा। कल्लि० के अनुसार मुख्या यानी सारी वीणाओं की प्रकृति है। लेकिन ग्रन्थकार ने मुख्या शब्द का प्रयोग प्रकृति के अर्थ में किया हो ऐसा नहीं लगता क्योंकि पहले एकतन्त्री को सारी वीणाओं की प्रकृति यानी मूल कहा जा चुका है (श्लोक ५३ ग-घ)। इसलिये या तो यह समझना होगा कि एक ही तार पर विभिन्न स्थानों पर अलग-अलग स्वर उत्पन्न करने वाली वीणाओं की प्रकृति एकतन्त्री है और हर स्वर के लिये स्वतन्त्र तार वाली वीणाओं की प्रकृति मत्तकोकिला है। अथवा यह समझ सकते हैं कि तीनों स्थानों में सातों स्वर उत्पन्न करने की क्षमता के आधार पर ग्रन्थकार ने मत्तकोकिला को मुख्या कहा है, प्रकृति यानी मूल के अर्थ में नहीं। करण के संदर्भ में मत्तकोकिला मुख्य है क्योंकि उसी के आधार पर दूसरी वीणाओं में, करणों के द्वारा, निर्दिष्ट विधि से वादन किया जाता है।

कल्लि० ने मुख्या का अर्थ प्रकृति करते हुए मत्तकोकिला को प्रकृति और दूसरी वीणाओं को उसकी विकृति कहा।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ना०शा० में करणों के वादन संबन्धी श्लोकों की टीका में अभिनव ने अङ्ग-प्रत्यङ्ग वीणाओं का जो विभाजन कहा है (२९/११२-११३) उसके अनुरूप ही यहाँ शार्ङ्ग० ने मुख्य-प्रत्यङ्ग दिया है।

ना०शा० में मत्तकोकिला नाम नहीं है। लेकिन भरत द्वारा उल्लिखित 'वीणा' को अभिनव ने मत्तकोकिला ही कहा है। २९/११२ की व्याख्या में स्पष्ट रूप से कहा कि मत्तकोकिला प्रधानभूत है। उसी के लिये धातु का प्रयोग कहा गया और दूसरी वीणाएँ उसी की उपजीवी यानी उसी पर आश्रित होती हैं। तदनुरूप शार्ङ्ग० ने भी मत्तकोकिला को मुख्या और दूसरी वीणाओं को उसकी प्रत्यंग कहा।

ग्रन्थकार ने इन वीणाओं की बनावट और धारण करने की विधि आदि नहीं दी लेकिन इनके वाद्य यानी वादन सामग्री और वादनविधि का विस्तार से निरूपण किया जिसमें करण, वृत्ति और तत्त्व आदि वाद्यों के रूप में वादनविधि तथा धातु और निर्गीत के रूप में वादन सामग्री है।

कल्लि० ने उल्लेख किया है कि लोक में त्रितन्त्रिका को ही जन्त्र और मत्तकोकिला को स्वरमण्डल कहा जाता है। दूसरी वीणाएँ मत्तकोकिला के वाद्य को पुष्ट और समृद्ध करती हैं इसलिये वे उपरंजिका कही गई हैं।

(करणानि)

रूपं कृतप्रतिकृतं प्रतिभेदस्ततः परम् ॥ ११४॥

स्याद् रूपशेषमोघश्च प्रतिशुष्केति षड्विधम्।
करणं तस्य वक्ष्यामि लक्ष्मोदाहरणैः समम् ॥ ११५॥

करण

११४ ग-११५. (अ०) रूपं रूप, कृतप्रतिकृतं कृतप्रतिकृत, प्रतिभेदः प्रतिभेद, ततः परम् उसके बाद रूपशेषं रूपशेष, ओघः ओघ प्रतिशुष्का च और प्रतिशुष्का इति इस प्रकार करणं करण षट्विधं छ प्रकार का स्यात् होता है। तस्य लक्ष्म उसका लक्षण उदाहरणैः समम् उदाहरणों के साथ वक्ष्यामि कहूँगा।

(रूपम्)

मुख्यवीणाप्रयुक्तस्य गुर्वादेर्भञ्जनेन यत्।
युगपद्वादनं रूपं विपञ्च्यादिषु तद्यथा॥ ११६॥

वाद्यते गुरुमुख्यायां यदा द्वे लघुनी तदा।
विपञ्च्यादौ यदा त्वस्या लस्तदान्यासु दद्वयम्॥ ११७॥

इति रूपम् (१)

१—रूप

११६-११७. (अ०) मुख्यवीणाप्रयुक्तस्य मुख्य वीणा में प्रयुक्त गुरु-आदेः भञ्जनेन गुरु आदि के भंजन के द्वारा विपञ्ची-आदिषु विपंची आदि (वीणाओं) में यत् युगपत् वादनं जो साथ-साथ वादन (होता है) तत् रूपं वह 'रूप' है। यथा जैसे यदा जब गुरुमुख्यायां मुख्य (वीणा) में गुरु वाद्यते बजाया जाता है तदा तब विपञ्ची-आदौ विपंची आदि में द्वे लघुनी दो लघु (और) यदा जब अस्याः तु इस (मुख्य) का तो लः लघु तदा अन्यासु तब दूसरी (वीणाओं) में द-द्वयं दो द्रुत (बजाये जाते हैं)।

(सर०) मुख्य और अंग वीणाओं में युगपत् यानी एकसाथ वादन रूप कहलाता है। लेकिन मुख्य में जो बजाया जा रहा

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

हो उसके साथ प्रत्यंग में उसकी आधी लय में बजाया जाता है। जैसे, मुख्य में गुरु के साथ प्रत्यंग में दो लघु और लघु के साथ दो द्रुत।

यह स्मरणीय है कि लय का अर्थ दो क्रियाओं के बीच का विश्रान्ति काल है। इसलिये मध्य से विश्रान्ति आधी होने पर आधी या द्रुतलय होती है और विश्रान्ति दुगनी होने पर लय दुगनी या विलम्बित होती है।

यह रूप है। (१)

(कृतप्रतिकृतम्)

एतत् कृतप्रतिकृतं पश्चात् प्रत्यङ्गवादने।

इति कृतप्रतिकृतम् (२)

२—कृतप्रतिकृत

११८ क-ख. (अ०) एतत् यह (रूप) पश्चात् बाद में प्रत्यङ्गवादने प्रत्यंग में बजाने पर कृतप्रतिकृतं 'कृतप्रतिकृत' (होता है)।

(सर०) अभिनव के अनुसार रूप के बाद उसी का प्रयोग प्रत्यंग में करने पर प्रतिबिम्ब जैसा होने से प्रतिकृत होता है (ना०शा०, २९/१४४ ग-घ और अभि०)

यह कृतप्रतिकृत है। (२)

(प्रतिभेदः)

रूपक्रियाविपर्यासात् प्रतिभेदो भवेद् यथा ॥ ११८॥

वाद्यते लद्वयं तज्ज्ञैर्मत्तकोकिलया यदा।
गुरुस्तदा विपञ्च्यादिवीणाभिरिति तद्विधिः ॥ ११९॥

इति प्रतिभेदः (३)

३—प्रतिभेद

११८ ग-११९. (अ०) रूपक्रियाविपर्यासात् रूप की क्रिया के उलटने से प्रतिभेदः भवेत् 'प्रतिभेद' होता है। यथा जैसे यदा जब मत्तकोकिलया मत्तकोकिला के द्वारा (अर्थात् मत्तकोकिला में) तज्ज्ञैः उसके ज्ञाताओं के द्वारा लद्वयं वाद्यते लघु का जोड़ा (दो लघु) बजाया जाता है तदा तब विपञ्ची-आदिवीणाभिः विपंची आदि वीणाओं के द्वारा गुरुः गुरु इति इस प्रकार तत् विधिः उस (प्रतिभेद) की विधि (है)।

(सर०) रूप की क्रिया को उलट देने से यानी मुख्य वीणा की लय की अपेक्षा दुगनी लय में वादन करने पर प्रतिभेद होता है। यानी मुख्य में दो लघु के वादन के समय प्रत्यंग में गुरु और दो द्रुत के वादन के साथ लघु का वादन हो।

यह प्रतिभेद है। (३)

(रूपशेषम्)

यदा विदारीविच्छेदं कुरुते मुख्यवैणिकः।
तदान्यासां वादनं यद् रूपशेषं तदुच्यते ॥ १२०॥

इति रूपशेषम् (४)

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

४—रूपशेष

१२०. (अ०) यदा जब मुख्यवैणिकः मुख्यवीणा वादक विदारीविच्छेदं कुरुते विदारी (के कारण) विराम करता है तदा तब अन्यासां दूसरी (वीणाओं) में यत् वादनं जो वादन (हो) तत् वह रूपशेषम् उच्यते 'रूपशेष' कहा जाता है।

(सर०) तालाध्याय में गीत के भागों को विदारी कहा है। तदनुसार जब मत्तकोकिला में विदारी के कारण वादन रुकता है उस समय प्रत्यंग वीणा में वादन होने पर रूपशेष होता है।

यह रूपशेष है। (४)

(ओघः)

यदा विलम्बितलयं प्रयुङ्क्ते मुख्यवैणिकः।
तदैवातिद्रुतलयं करचातुर्ययोगतः॥ १२१॥

वैपञ्चिकाद्याः कुर्युश्चेदोघमाचक्षते तदा।

इत्योघः (५)

५—ओघ

१२१-१२२ ख. (अ०) यदा जब मुख्यवैणिकः मुख्यवीणा का वादक विलम्बितलयं प्रयुङ्क्ते विलंबित लय को प्रयुक्त करता है तदा-एव तभी (उसी के साथ) वैपञ्चिक-आद्याः विपंचीवादक आदि करचातुर्ययोगतः हाथ की कुशलता के साथ अतिद्रुतलयं कुर्युः चेत् यदि अति द्रुतलय को (प्रयुक्त) करते हैं तदा तब ओघः आचक्षते 'ओघ' कहते हैं।

यह ओघ है। (५)

(प्रतिशुष्का)

अंशसंवाद्यन्यतरस्वरव्यञ्जिकया यदा ॥ १२२॥

तन्त्र्यैकयैव करणं स्यान्मुख्यामुख्यवीणयोः।
प्रतिशुष्कां तदाचष्ट शार्ङ्गदेवो विदांवरः ॥ १२३॥

इति प्रतिशुष्का (६)

इति षट् करणानि

६—प्रतिशुष्का

१२२ ग-१२३. (अ०) यदा जब अंशसंवादी-अन्यतरस्वरव्यञ्जिकया अंश के संवादी (में से) किसी एक स्वर को व्यक्त करने वाली एकया एव तन्त्र्या एक ही तन्त्री के द्वारा मुख्य-अमुख्यवीणयोः मुख्य (अंग) और अमुख्य (प्रत्यंग) वीणाओं में करणं स्यात् करण (वादन) होता है तदा तब विदांवरः शार्ङ्गदेवः विद्वानों में श्रेष्ठ शार्ङ्गदेव प्रतिशुष्कां 'प्रतिशुष्का' आचष्टे कहता है।

(सर०) सिंह० ने इसकी व्याख्या यह की है कि अंश और संवादी स्वरों को छोड़कर किसी दूसरे स्वर के व्यंजक एक

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ही तार पर मत्तकोकिला और विपंची आदि में करण हो तो प्रतिशुष्का करण होता है।

यह प्रतिशुष्का है। (६)

ये छ करण हैं।

अथ धातवः

(तत्र धातुलक्षणम्)

पुष्णन्ति वीणावाद्यं ये रक्तिं दधति चातुलाम्
कुर्वन्त्यदुष्टपुष्टिं च तान् धातूनधुना ब्रुवे॥ १२४॥
ये प्रहारविशेषोत्थाः स्वरास्ते धातवो मताः।

धातुएँ

धातु का लक्षण

१२४-१२५ ख. (अ०) ये जो वीणावाद्यं वीणा के वादन को पुष्णन्ति पुष्ट करते हैं, अतुलां रक्तिं च दधति अतुल रंजकता को भी धारण करते हैं अदुष्टपुष्टिं च कुर्वन्ति और दोषरहित (नाद) की पुष्टि करते हैं तान् धातून् उन धातुओं को अधुना ब्रुवे अब कहता हूँ। ये जो प्रहारविशेष-उत्थाः स्वराः आघात विशेष से उत्पन्न स्वर (होते हैं) ते वे धातवः मताः धातुएँ माने गये (हैं)।

(सर०) संस्कृत में धातु पुल्लिंग शब्द है इसलिये अनुवाद तदनुसार किया है। हिन्दी में स्त्रीलिंग होने से अन्यत्र इसी रूप में प्रयोग किया है।

धातु का ग्रन्थकार का लक्षण अभिनव के धातुलक्षण को प्रतिबिंबित करता है। अभिनव ने २९/५० की व्याख्या में कहा— अदृष्ट को धारण करने, रक्ति का अतिशय आधान करने और वीणा के वाद्य के स्वरूप को धारण करने से धातुएँ हैं। प्रहार विशेष से उत्पन्न स्वर धातु हैं। यहाँ सिर्फ़ प्रहारों या स्वरों को धातु नहीं कहा क्योंकि विशेष और विभिन्न प्रकार के प्रहारों से ही स्वर उत्पन्न होते हैं और दूसरी ओर प्रहारों का प्रयोजन स्वर उत्पन्न करना ही है।

'धा' धातु से निष्पन्न 'धातु' शब्द व्याकरण, आयुर्वेद और संगीत में लगभग समान रूप से अपने मूल अर्थ 'धारण' को समेटता है। व्याकरण की दृष्टि से सारे पद धातु में ही प्रत्यय लगाने पर निष्पन्न होते हैं और धातु ही उनके अर्थ को धारण करती है। आयुर्वेद में वात, पित्त, कफ को और त्वचा आदि को धातु कहा गया है क्योंकि यही देह को धारण करती हैं। संगीत में वीणा के वाद्य को भी प्रहारविशेष रूप धातुएँ ही धारण करती हैं इसीलिये इन प्रहारों और उनसे उत्पन्न स्वरों को धातु कहा गया।

'शब्द' (कण्ठ भेदों) में भी कण्ठ के गुण को वात, पित्त आदि धारण करती हैं क्योंकि धातु के गुण के अनुसार ही कण्ठ का गुण बनता और निर्धारित होता है। प्रबन्ध की धातु-अंग में धातु यानी स्वरयोजना ही प्रबन्ध के पद को धारण करती है इसलिये वहाँ भी धातु कही गई।

(चतुर्विधधातवः)

विस्तारकरणाविद्धव्यञ्जनाश्चेति धातवः॥ १२५॥
चतुर्धा,

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

चार प्रकार की धातुएँ

१२५ ग-१२६ क. (अ०) विस्तारकरण-अविद्धव्यञ्जनाः च इति विस्तार, करण, आविद्ध और व्यंजन ये चतुर्धा धातवः चार प्रकार की धातुएँ (हैं)।

(चतुर्विधधातूनां भेदोद्देशः)

(तत्र विस्तारभेदाः)

तेषु विस्तारश्चतुर्धा बोधितो बुधैः।
विस्तारजश्च संघातजोऽथ स्यात् समवायजः॥ १२६॥
अनुबन्धश्चेति,

चतुर्विध धातुओं के भेदों का उद्देश

१—विस्तार के भेद

१२६-१२७ क. (अ०) तेषु उनमें से विस्तारः विस्तार (धातु) बुधैः विद्वानों के द्वारा चतुर्धा बोधितः चार प्रकार से जाना गया (है)। विस्तारजः संघातजः च विस्तारज और संघातज, अथ इसके बाद समवायजः अनुबन्धः च समवायज और अनुबन्ध इति यों (चार प्रकार का) स्यात् होता है।

चतुर्भेदः संघातजो भवेत्।
द्विरुत्तरो द्विरधरोऽप्यधराद्युत्तरान्तकः॥ १२७॥
उत्तराद्यधरान्तश्चेति,

१२७ क-१२८ क. (अ०) द्विरुत्तरः द्विरुत्तर, द्विरधरः द्विरधर अधरादि-उत्तरान्तकः अपि और अधराद्युत्तरान्त, उत्तरादि-अधरान्तः च तथा उत्तराद्यधरान्त इति यों संघातजः संघातज चतुर्भेदः भवेत् चार भेद वाला होता है।

अष्टधा समवायजः।
त्रिरुत्तरस्त्रिरधरोऽथ द्विरुत्तरपूर्वकः॥ १२८॥

अधरान्तो द्विरधरोत्तरान्तश्चोत्तरादिकात्।
परो द्विरधरोऽथ स्यादधरादिर्द्विरुत्तरः॥ १२९॥

मध्योत्तरद्विरधरोऽधरमध्यद्विरुत्तरः।

१२८ ख-१३० ख. (अ०) समवायजः समवायज त्रिरुत्तरः त्रिरुत्तर, त्रिरधरः त्रिरधर, अथ इसके बाद द्विः उत्तरपूर्वकः अधर-अन्तः पहले दो ऊपर अन्त नीचे वाला (द्विरुत्तराधरान्त) द्विः अधर-उत्तर-अन्तः च और दो नीचे ऊपर अन्त वाला (द्विरधरोत्तरान्त), उत्तर-आदिकात् शुरू ऊपर से परः बाद में द्विः अधरः दो नीचे (उत्तरादिद्विरधर), अथ अब अधर-आदि-द्विः उत्तरः नीचे शुरू दो ऊपर (अधरादिद्विरुत्तर), मध्य-उत्तरद्विः अधरः बीच (का) ऊपर (और शेष) दो नीचे (मध्योत्तरद्विरधर), अधरमध्य द्विः उत्तरः नीचे बीच (वाला और शेष) दो ऊपर (अधरमध्यद्विरुत्तर) (यों) अष्टधा स्यात् आठ प्रकार से होता है।

एवं चतुर्दशविधो विस्तारः शार्ङ्गिणोदितः॥ १३०॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

१३० ग-घ. (अ०) एवम् इस प्रकार शार्ङ्गिणा शार्ङ्गदेव के द्वारा विस्तारः विस्तार चतुर्दशविधः चौदह प्रकार का उदितः कहा गया (है)।

(सर०) विस्तारज १, संघातज ४, समवायज ८ और अनुबन्ध १—यों कुल मिलाकर विस्तार धातु के १४ भेद होते हैं।

(करणभेदाः)

करणस्य तु भेदाः स्यू रिभितोच्चयसंज्ञकौ।
तथा नीरटितो ह्रादोऽनुबन्ध इति पञ्च ते॥ १३१॥

२—करण के भेद

१३१. (अ०) करणस्य तु करण के तो रिभित-उच्चयसंज्ञकौ रिभित और उच्चय संज्ञा वाले तथा नीरटितः और नीरटित, ह्रादः अनुबन्धः इति ह्राद, अनुबन्ध यों ते वे पञ्च भेदाः स्युः पाँच भेद होते हैं।

(आविद्धभेदाः)

क्षेपः प्लुतोऽतिपातश्चातिकीर्णोऽप्यनुबन्धकः।
इत्याविद्धे पञ्च भेदाः,

३—आविद्ध के भेद

१३२ क-ग. (अ०) क्षेपः क्षेप, प्लुतः अतिपातः च प्लुत और अतिपात, अतिकीर्णः अनुबन्धकः अपि अतिकीर्ण और अनुबन्ध इति यों आविद्धे आविद्ध में पञ्च भेदाः पाँच भेद (होते हैं)।

(व्यञ्जनभेदाः)

दश तु व्यञ्जने मताः॥ १३२॥

पुष्पं कलं तलं बिन्दू रेफोऽनुस्वनितं ततः।
निष्कोटितमथोन्मृष्टमवमृष्टोऽनुबन्धनौ॥ १३३॥

इति सर्वे चतुस्त्रिंशन्मिलिता धातवो मताः।

इति धातवः

४—व्यंजन के भेद

१३२ घ-१३४ ख. (अ०) व्यञ्जने तु व्यंजन में तो दश मताः (ये)दस (भेद) माने गये (हैं)—पुष्पं कलं तलं बिन्दुः पुष्प, कल, तल, बिन्दु, रेफः अनुस्वनितं रेफ, अनुस्वनित, ततः उसके बाद निष्कोटितं निष्कोटित, अथ उन्मृष्टम् इसके बाद उन्मृष्ट, अवमृष्ट-अनुबन्धनौ अवमृष्ट और अनुबन्ध। इति इस प्रकार सर्वे मिलिताः सब मिलाकर चतुस्त्रिंशत् धातवः चौंतीस धातुएँ मताः माने गये (हैं)।

ये धातुएँ हैं।

अथ लक्षणम्

(तत्र विस्तारभेदलक्षणम्)

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(विस्तारजलक्षणम्)

विस्तीर्णनादभेदत्वाद् विस्तारो धातुरुच्यते॥ १३४॥

प्रहारलाघवात् कृत्वा स्वरानेकीकृतानिव।
वैचित्र्यात् क्वापि विश्रान्तः स्वरो विस्तारजो भवेत्॥ १३५॥

धातुओं के लक्षण

१—विस्तार के भेदों के लक्षण

(अ) विस्तारज

१३४ ग-१३५. (अ०) विस्तीर्णनादभेदत्वात् नाद के भेद (रूप स्वर) का विस्तार होने से **विस्तारः धातुः** विस्तार धातु **उच्यते** कहा जाता है। **वैचित्र्यात्** कुशलता से **प्रहारलाघवात्** आघात की द्रुतता से **स्वरान्** (कई) स्वरों को **एकीकृतान् इव** एक (स्वर) जैसा **कृत्वा** करके (बजा कर) **क्वापि विश्रान्तः स्वरः** कोई विराम वाला स्वर (अर्थात् विराम करने से वह स्वर) **विस्तारजः** विस्तार से उत्पन्न हुआ ('विस्तारज' भेद) **भवेत्** होता है।

(सर०) विस्तार धातु का सामान्य लक्षण देकर फिर उसके भेदों के लक्षण दिये हैं। 'विस्तीर्ण' का अर्थ है फैला हुआ या देर तक बना रहने वाला। इस धातु में ध्वनि का विस्तार होता है इसलिये इसे विस्तार कहा गया है।

अभिनव ने विस्तार धातु की व्याख्या में कहा कि उदात्तता आने और हृदय का विस्तार करने से विस्तार धातु कही गई है।

कल्लि० ने यह अर्थ किया कि नादभेद की विस्तीर्णता में नाद-भेद यानी यह अमुक स्वर है इसका स्पष्ट रूप से बोध होना। आशय यह है कि एक ही स्वर का विस्तार होने से उसकी विस्तीर्णता और उस स्वर की अलग से पहचान होती है इसलिये नादभेद कहा है।

विस्तार धातु के पहले भेद विस्तारज में आघात एक ही होता है और विस्तार भी एक ही स्वर का होता है लेकिन वादन प्रक्रिया में एक ही स्वर उत्पन्न नहीं किया जाता बल्कि आघात करके मुख्य स्वर उत्पन्न करने से पहले कई स्वर बहुत द्रुत गति से उसी आघात में बजाने के बाद अन्त में उसी आघात में मुख्य स्वर बजाया जाता है। कई स्वर होते हुए भी उन्हें इतनी कुशलता से बजाया जाता है जिससे एक स्वर जैसा सुनाई दे। अन्तिम यानी मुख्य स्वर पर विराम करने से उसका विस्तार होता है इसलिये विस्तारज धातु कहलाती है।

उक्त लक्षण के आधार पर उसका रूप सितार आदि वाद्यों की मुरकी में देखा जा सकता है जिसमें एक ही आघात में कई स्वर बहुत द्रुत गति से बजाते हुए अन्त में एक स्वर पर रुका जाता है जिससे एक स्वर की अनुभूति होती है।

एकविस्तारसंज्ञं तमपरे सूरयो जगुः।
अलंकारत्वमप्यस्य निःशङ्को निरदीधरत्॥ १३६॥

इति विस्तारजः

१३६. (अ०) अपरे सूरयः अन्य आचार्यों ने **तम्** उसे **एकविस्तारसंज्ञम्** एक विस्तार नाम वाला **जगुः** कहा है। **निःशङ्कः** निःशंक (शार्ङ्गदेव) **अस्य** इसका **अलंकारत्वम् अपि** अलंकारत्व भी **निरदीधरत्** निर्धारित करता है।

(सर०) एक विस्तार संज्ञा का भाव, कल्लि० के अनुसार, यह है कि एक ही स्वर की 'विविक्तता' (स्पष्ट बोध/पहचान) होती है। उसने यह भी कहा कि विस्तारज में सिर्फ़ स्वररूपता ही नहीं होती (यानी एक, स्वर विशेष ही नहीं होता) बल्कि विशिष्ट स्वरसंदर्भ का रूप भी होता है इसलिये अलंकारत्व कहा है। इस कथन का आशय यह प्रतीत होता है कि विस्तार और

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

पहचान तो एक ही स्वर की होती है लेकिन उस स्वर से पहले द्रुत गति में अन्य स्वरों के प्रयोग में कुल मिलाकर स्वरों का एक वर्णसंदर्भ भी बनता है जो अलंकार का लक्षण कहा गया है।

यह विस्तारज है।

(संघातजभेदानां लक्षणानि)

अत्रोत्तराधरौ ज्ञेयौ मन्द्रतारौ स्वरौ क्रमात्।
उत्तराधरघातौ हि तयोर्निष्पादकाविह॥ १३७॥

(आ) संघातज के भेदों के लक्षण

१३७. (अ०) अत्र यहाँ (वीणा में) उत्तर-अधरौ उत्तर (ऊपर) और अधर (नीचे) क्रमात् क्रम से मन्द्रतारौ स्वरौ मन्द्र और तार स्वर ज्ञेयौ जाने गये (हैं) हि क्योंकि इह यहाँ उत्तर-अधरघातौ ऊपर और नीचे के प्रहार तयोः उन (मन्द्र और तार स्वरों) के निष्पादकौ संपन्न करने वाले (होते हैं)।

(सर०) सामान्य रूप से शरीर में उत्तर यानी ऊपर के स्वरों को तार और अधर यानी नीचे के स्वरों को मन्द्र कहा जाता है। लेकिन यहाँ क्रम उल्टा है क्योंकि ऊपर के स्वरों को मन्द्र और नीचे के स्वरों को तार कहा है। यह विपरीत क्रम वीणाओं में तार की लम्बाई और वीणा को धारण करने की विधि पर आधारित है। हर स्वर के लिये स्वतन्त्र तार वाली वीणाओं में लम्बे तारों की ध्वनि नीची और छोटे तारों की ऊँची होती है। अगर वीणा इस तरह धारण की जाय जिससे लम्बे तार ऊपर की ओर रहें तो ऊपर होते हुए भी उनसे उत्पन्न ध्वनि नीची यानी मन्द्र होगी और छोटे तार नीचे रहने से ध्वनि ऊँची यानी तार होगी। एकतन्त्री जैसी डाँड पर बँधी एक वाद्यतन्त्री वाली वीणाओं में भी यही स्थिति होती है क्योंकि उनमें प्रहार नीचे की ओर होता है और ऊपर की ओर तार को दबाकर स्वर उत्पन्न करने में तार का कम्पन्न क्षेत्र ज्यादा होने से मन्द्र यानी नीचे के स्वर पैदा होते हैं। लेकिन जैसे-जैसे नीचे की ओर बढ़ते हुए दबाया जाता है कम्पन्न का क्षेत्र घटता जाने से ऊँचे स्वर उत्पन्न होते हैं।

अगले श्लोकों में विस्तार धातु के संघातज और समवायज भेदों में, उत्तर-अधर के उक्त लक्षण के अनुसार, उत्तर मन्द्र स्वर के लिये और अधर तार स्वर के लिये प्रयुक्त हैं। लेकिन यह भी ध्यान रहना चाहिये कि मन्द्र और तार शब्द यहाँ नीचे और ऊपर के बोधक भी हैं, सिर्फ़ मन्द्रस्थान और तारस्थान के नहीं।

संघातजे ये चत्वारस्तथाष्टौ समवायजे।
भेदास्तेऽन्वर्थनामानस्तल्लक्ष्मोक्तिरनर्थिका॥ १३८॥

तथापि बालबोधाय तान् वयं विवृणीमहे।

१३८-१३९ ख. (अ०) संघातजे संघातज में ये चत्वारः जो चार तथा और समवायजे समवायज में अष्टौ भेदाः आठ भेद (हैं) ते वे अन्वर्थनामानः अर्थ के अनुसार नाम वाले (हैं इसलिये) तत् लक्ष्म-उक्तिः उसका लक्षण कहना अनर्थिका निरर्थक है तथापि फिर भी बालबोधाय बच्चों (अर्थात् शिष्यों) की शिक्षा के लिये वयं हम तान् उन्हें (उनका) विवृणीमहे विवरण दे रहे हैं।

(द्विरुत्तरः)

मन्द्रस्वरद्विरुच्चाराद् धातुरत्र द्विरुत्तरः॥ १३९॥

इति द्विरुत्तरः (१)

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

द्विरुत्तर—१

१३९ ग-घ. (अ०) मन्द्रस्वरद्विः-उच्चारात् मन्द्र स्वर (का) दो बार उच्चारण करने (लगाने) से अत्र यहाँ द्विरुत्तरः द्विरुत्तर धातुः धातु (होता है)

यह द्विरुत्तर (है)। (१)

(द्विरधरः)

तारस्थाने द्विराघाताद् धातुर्द्विरधरो भवेत्।

इति द्विरधरः (२)

द्विरधर—२

१४० क-ख. (अ०) तारस्थाने तारस्थान में द्विः आघातात् दो आघातों से द्विरधरः धातुः द्विरधर धातु भवेत् होता है।

यह द्विरधर है। (२)

(अधराद्युत्तरान्तकः)

यस्त्वादितारो मन्द्रान्तः सोऽधराद्युत्तरान्तकः ॥ १४० ॥

इत्यधराद्युत्तरान्तकः (३)

अधराद्युत्तरान्तक—३

१४० ग-घ. (अ०) यः जो आदितारः शुरू तार मन्द्र-अन्तः मन्द्र अन्त वाला सः तु वह तो अधराद्युत्तरान्तकः अधराद्युत्तरान्तक (होता है)।

यह अधराद्युत्तरान्तक है। (३)

(उत्तराद्यधरान्तकः)

आदौ मन्द्रस्ततस्तार उत्तराद्यधरान्तके।

इत्युत्तराद्यधरान्तकः (४)

उत्तराद्यधरान्तक—४

१४१ क-ख. (अ०) उत्तराद्यधरान्तके उत्तराद्यधरान्तक में आदौ शुरू में मन्द्रः मन्द्र ततः तारः उसके बाद तार (होता है)।

यह उत्तराद्यधरान्तक है। (४)

एते संघातजे भेदा द्विःप्रहारभवे मताः ॥ १४१ ॥

इति संघातजस्य भेदचतुष्टयम्

१४१ ग-घ. (अ०) संघातजे संघातज में एते ये द्विःप्रहारभवे दो आघातों से होने वाले भेदाः मताः भेद माने गये (हैं)।

ये संघातज के चार भेद हुए।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(समवायजभेदानां लक्षणानि)

(त्रिरुत्तरः)

मन्द्रस्वरत्रिराघाताद् धातुमाहुस्त्रिरुत्तरम्।

इति त्रिरुत्तरः (१)

(इ) समवायज के भेदों के लक्षण

त्रिरुत्तर—१

१४२ क-ख. (अ०) मन्द्रस्वरत्रिः-आघातात् मन्द्र स्वर के तीन (बार) आघात से त्रिरुत्तरं धातुं त्रिरुत्तर धातु आहुः कहते हैं।

यह त्रिरुत्तर है। (१)

(त्रिरधरः)

त्रिस्तारस्वरघातेन धातुस्त्रिरधरो भवेत्॥ १४२॥

इति त्रिरधरः (२)

त्रिरधर—२

१४२ ग-घ. (अ०) त्रिः तारस्वरघातेन तीन (बार) तार स्वर के प्रहार से त्रिरधरः धातुः भवेत् त्रिरधर धातु होता है।

यह त्रिरधर है। (२)

(द्विरुत्तराधरान्तः)

द्विरुत्तराधरान्तो द्विर्मन्द्रस्तारान्तगो भवेत्।

इति द्विरुत्तराधरान्तः (३)

द्विरुत्तराधरान्त—३

१४३ क-ख. (अ०) द्विः मन्द्रः दो मन्द्र तार-अन्तगः तार अन्त वाला द्विरुत्तराधरान्तः द्विरुत्तराधरान्त भवेत् होता है।

यह द्विरुत्तराधरान्त है। (३)

(द्विरधरोत्तरान्तः)

तारस्थाने द्विः प्रहृत्य विदध्यान्मन्द्रमन्ततः॥ १४३॥
यदा तदा द्विरधरोत्तरान्तो धातुरुच्यते।

इति द्विरधरोत्तरान्तः (४)

द्विरधरोत्तरान्त—४

१४३ ग-१४४ ख. (अ०) यदा जब तारस्थाने तारस्थान में द्विः प्रहृत्य दो बार आघात करके मन्द्रम् अन्ततः मन्द्र

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

को अन्त में विदध्यात् धारण करें तदा तब द्विरधरोत्तरान्तः धातुः द्विरधरोत्तरान्त धातु उच्यते कहा जाता है।

यह द्विरधरोत्तरान्त है। (४)

(उत्तरादिद्विरधरः)

उत्तरादिद्विरधरे मन्द्रस्तारो द्विरिष्यते॥ १४४॥

इत्युत्तरादिद्विरधरः (५)

उत्तरादिद्विरधर—५

१४४ ग-घ. (अ०) उत्तरादिद्विरधरे उत्तरादिद्विरधर में मन्द्रः मन्द्र (एक बार) तारः द्विः (और) तार दो बार इष्यते इच्छित होता है।

यह उत्तरादिद्विरधर है। (५)

(अधरादिद्विरुत्तरः)

सकृत् तारोऽथ मन्द्रो द्विरधरादिद्विरुत्तरे।

इत्यधरादिद्विरुत्तरः (६)

अधरादिद्विरुत्तर—६

१४५ क-ख. (अ०) अधरादिद्विरुत्तरे अधरादिद्विरुत्तर में सकृत् तारः एक बार तार अथ इसके बाद द्विः मन्द्रः दो बार मन्द्र (होता है)।

यह अधरादिद्विरुत्तर है। (६)

(मध्योत्तरद्विरधरः)

मध्योत्तरद्विरधरे तारौ मध्यस्थमन्द्रकौ॥ १४५॥

इति मध्योत्तरद्विरधरः (७)

मध्योत्तरद्विरधर—७

१४५ ग-घ. (अ०) मध्योत्तरद्विरधरे मध्योत्तरद्विरधर में मध्यस्थमन्द्रकौ तारौ मध्य में स्थित है मन्द्र जिनके ऐसे दो तार (आघात होते हैं)।

यह मध्योत्तरद्विरधर है। (७)

(अधरमध्यद्विरुत्तरः)

मन्द्राद्यन्तो भवेत् तारोऽधरमध्यद्विरुत्तरे।

इत्यधरमध्यद्विरुत्तरः (८)

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अधरमध्यद्विरुत्तर—८

१४६ क-ख. (अ०) अधरमध्यद्विरुत्तरे अधरमध्यद्विरुत्तर में तारः तार (स्वर) मन्द्र आदि-अन्तः शुरू और अन्त में मन्द्र वाला भवेत् होता है।

यह अधरमध्यद्विरुत्तर है। (८)

त्रिप्रहारभवे भेदाः स्युरिमे समवायजे॥ १४६॥

इष्यष्टौ समवायजभेदाः

१४६ ग-घ. (अ०) समवायजे समवायज में त्रिप्रहारभवे तीन आघातों से होने वाले इमे भेदाः ये (आठ) भेद स्युः होते हैं।

ये समवायज के आठ भेद हैं।

(अनुबन्धलक्षणम्)

सजातीयविजातीयभेदसंमिश्रणोद्भवः।
अनुबन्धाभिधो धातुः शार्ङ्गदेवेन कीर्तितः॥ १४७॥

इत्यनुबन्धः

इति चतुर्दश विस्तारधातुभेदाः

(ई) अनुबन्ध का लक्षण

१४७. (अ०) सजातीयविजातीयभेदसंमिश्रण-उद्भवः सजातीय (अपने ही वर्ग के और) विजातीय (दूसरे वर्गों के) भेदों के मिश्रण से उत्पन्न धातुः धातु शार्ङ्गदेवेन शार्ङ्गदेव के द्वारा अनुबन्ध-अभिधः अनुबन्ध नामक कीर्तितः कहा गया (है)।

यह अनुबन्ध है।

ये विस्तारधातु के चौदह भेद हैं।

लघुगुर्वात्मकैर्घातैः करणाविद्धयोः क्रियाः।

१४८ क-ख. (अ०) करण-अविद्धयोः क्रियाः करण और आविद्ध की क्रियाएँ लघुगुरु-आत्मकैः घातैः लघु-गुरु स्वरूप वाले घातों के द्वारा (होती हैं)।

(करणभेदानां लक्षणानि)

करणोऽल्पगुरुस्तत्र तद्भेदाँल्लक्षयेऽधुना॥ १४८॥

२—करणभेदों के लक्षण

१४८ ग-घ. (अ०) तत्र इनमें से करणः करण अल्पगुरुः अल्प गुरु वाला (है)। अधुना अब तत् भेदान् उसके भेदों को लक्षये लक्षित करता हूँ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(रिभितः)

रिभितो द्वौ लघू गान्तौ,

इति रिभितः (१)

रिभित—१

१४९ क. (अ०) ग-अन्तौ गुरु से अन्त होने वाले द्वौ लघू दो लघुओं वाला रिभितः 'रिभित' (है)।

यह रिभित है (१)

(उच्चयः)

चतुर्लान्तगुरुच्चयः।

इत्युच्चयः (२)

उच्चय—२

१४९ ख. (अ०) चतुः लः चार लघु अन्तगुरुः अन्तिम गुरु वाला उच्चयः 'उच्चय' (है)।

यह उच्चय है। (२)

(नीरटितः)

षड्लोऽन्तगुर्नीरटितः,

इति नीरटितः (३)

नीरटित—३

१४९ ग. (अ०) षट् लः छ लघु अन्तगुः अन्तिम गुरु वाला नीरटितः 'नीरटित' (है)।

यह नीरटित है। (३)

(ह्लादः)

ह्लादोऽष्टलघुरन्तगः॥ १४९॥

इति ह्लादः (४)

ह्लाद—४

१४९ घ. (अ०) अष्टलघुः आठ लघु अन्त-गः अन्त (में) गुरु वाला ह्लादः 'ह्लाद' (है)।

यह ह्लाद है। (४)

(अनुबन्धः)

करणस्यानुबन्धस्तु स्याद् विस्तारानुबन्धवत्।

इत्यनुबन्धः (५)

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

इति पञ्च करणधातुभेदाः

अनुबन्ध—५

१५० क-ख. (अ०) करणस्य अनुबन्धः तु करण का 'अनुबन्ध' तो **विस्तार-अनुबन्धवत्** विस्तार (धातु) के अनुबन्ध के समान **स्यात्** होता है।

(सर०) विस्तार के अनुबन्ध में सजातीय-विजातीय भेदों का मिश्रण कहा गया है। उसी तरह करण के अनुबन्ध में भी होता है।

ये करण धातु के पाँच भेद हैं।

(आविद्धभेदानां लक्षणानि)

भूरिगुर्गुरुहीनो वाऽऽविद्धोऽस्य विवृतेर्भिदाः॥ १५०॥

३—आविद्धभेदों के लक्षण

१५० ग-घ. (अ०) आविद्धः आविद्ध **भूरि गुः** गुरु बहुल **गुरुहीनः वा** अथवा गुरुहीन (होता है)। **अस्य विवृतेः** इसके प्रकटीकरण के **भिदाः** प्रकार (ये हैं)।

(सर०) भरत ने आविद्ध धातु में सिर्फ़ प्रहारों की संख्या बताई है, लघु-गुरु का निर्देश नहीं किया है। भरत के श्लोकों की दो प्रकार से की गई व्याख्या के आधार पर अभिनव ने दो मतों का उल्लेख किया है। एक के अनुसार आविद्ध में गुरु प्रहार अधिक रहते हैं और दूसरे के अनुसार इसमें सिर्फ़ लघु प्रहार होते हैं। अभिनव को पहला स्वीकार है, दूसरा मत उसने अन्यों का कह कर दिया है (ना०शा०, २९/६२ पर अभि०, पृ० ९८)।

आविद्ध धातु के भेदों के शार्ङ्ग० ने जो लक्षण दिये हैं उनमें लघु, गुरु दोनों प्रहार हैं। गुरु प्रहारों की संख्या लघु प्रहारों से ज्यादा नहीं है। संख्या बराबर होते हुए भी गुरु प्रहारों का कुल काल लघु प्रहारों के कुल काल से ज्यादा होने से यह अनुभूति होती है कि गुरु ज्यादा हैं। इसलिये भूरिगुरु का आशय गुरुओं की संख्या के बजाय उनका काल समझ सकते हैं।

(क्षेपः)

क्षेपो लघुगुरुभ्यां स्यात्,

इति क्षेपः (१)

क्षेप—१

१५१ क. (अ०) क्षेपः 'क्षेप' **लघुगुरुभ्यां** (एक) लघु (एक) गुरु (इन दो) से **स्यात्** होता है।

(सर०) सिंह० ने लघुगुरुभ्यां का अर्थ एक लघु, दो गुरु किया है। ना०शा० में क्षेप दो प्रहार वाला कहा गया है (२९/६२)। तदनुसार 'लघुगुरुभ्यां' का अर्थ एक लघु, एक गुरु ही उचित है।

यह क्षेप है। (१)

(प्लुतः)

प्लुतो लगुरुलैर्भवेत्।

इति प्लुतः (२)

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

प्लुत—२

१५१ ख. (अ०) प्लुतः 'प्लुत' ल-गुरु-लैः लघु, गुरु और लघु से भवेत् होता है।

(सर०) आनन्द० और आड्यार का मुद्रित पाठ 'लघुगुरुर्भवेत्' है। इसके अनुसार प्लुत एक लघु एक गुरु वाला होता है। ना०शा० में इसे तीन आघात वाला कहा है। सिंह० ने प्लुत में लघु, गुरु, लघु कहे हैं। आनन्द० की पादटिप्पणी में लगुरुलैः पाठ भेद है जो सिंह० की व्याख्या का आधार है। तदनुसार हमने यही पाठ रखा है।

यह प्लुत है। (२)

(अतिपातः)

अतिपातो लगाभ्यां द्विः,

इत्यतिपातः (३)

अतिपात—३

१५१ ग. (अ०) द्विः ल-गाभ्यां दो बार लघु और गुरु से अतिपातः 'अतिपात' (होता है)।

यह अतिपात है। (३)

(अतिकीर्णः)

चतुर्वारं लगौ ततः॥ १५१॥

लघुर्यत्रातिकीर्णोऽसौ,

इत्यतिकीर्णः (४)

अतिकीर्ण—४

१५१ घ-१५२ क. (अ०) यत्र जहाँ चतुर्वारं चार बार ल-गौ लघु और गुरु ततः लघुः तब लघु (हो) असौ यह अतिकीर्णः 'अतिकीर्ण' (होता है)।

यह अतिकीर्ण है। (४)

(अनुबन्धः)

अनुबन्धस्तु पूर्ववत्।

इत्यनुबन्धः (५)

अनुबन्ध—५

१५२ ख. (अ०) अनुबन्धः तु 'अनुबन्ध' तो पूर्ववत् पूर्ववत् (होता है)।

यह अनुबन्ध है। (५)

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

द्वाभ्यां त्रिभिश्चतुर्भिश्च नवभिर्लघुभिः क्रमात्॥ १५२॥

क्षेपादयोऽत्र चत्वारो भवन्तीत्यपरेऽब्रुवन्।

इति पञ्चाविद्धधातुभेदाः

१५२ ग-१५३ ख. (अ०) अत्र यहाँ (आविद्ध के भेदों में) क्रमात् क्रम से द्वाभ्यां दो से, त्रिभिः तीन से, चतुर्भिः चार से नवभिः लघुभिः च और नौ लघुओं से क्षेप-आदयः क्षेप आदि चत्वारः चार (क्षेप, प्लुत, अतिपात, अतिकीर्ण) भवन्ति होते हैं इति ऐसा अपरे अन्यों ने अब्रुवन् कहा।

(सर०) आविद्ध धातु के सामान्य लक्षण में ग्रन्थकार ने कहा था कि यह भूरि गुरुओं से अथवा गुरुरहित यानी केवल लघुओं से होता है। इनमें से दूसरा प्रकार अन्य मत का है जिसके अनुसार इस श्लोक में आविद्ध भेदों का लक्षण दिया गया है।

विस्तार, करण और आविद्ध धातुओं के सभी भेदों का वर्तमान वादन शैली में बहुत प्रयोग होता है।

ये आविद्ध धातु के पाँच भेद हैं।

(व्यञ्जनभेदानां लक्षणानि)

अङ्गुलीभेदमात्रेण व्यञ्जनस्तद्भिदां ब्रुवे॥ १५३॥

४—व्यंजनभेदों के लक्षण

१५३ ग-घ. (अ०) अङ्गुलीभेदमात्रेण केवल उँगलियों के भेद से व्यञ्जनः व्यंजन (धातु होता है)। तत् भिदाम् उसके भेदों को ब्रुवे कहता हूँ।

(सर०) कल्लि० ने स्पष्ट किया कि इसका अर्थ यह है कि व्यंजन के भेदों में आघातों की संख्या का और लघु-गुरु का नियम नहीं होता।

(पुष्पम्)

अङ्गुष्ठाभ्यां कनीयस्या तन्त्रीरेका निहन्यते।
युगपद् यत्र तत्पुष्पमभिलेषुः पुरातनाः॥ १५४॥

इति पुष्पम् (१)

पुष्प—१

१५४. (अ०) यत्र जहाँ अङ्गुष्ठाभ्यां दोनों अँगूठों से (और) कनीयस्या एक कनिष्ठा से युगपत् एक साथ एका तन्त्रीः एक तंत्री निहन्यते आहत की जाती है तत् वह पुरातनाः प्राचीन आचार्यों ने पुष्पं 'पुष्प' अभिलेषुः अभिलषित किया है।

यह पुष्प है। (१)

(कलम्)

एकस्वरं यदा नानास्थानकं तन्त्रिकाद्वयम्।
अङ्गुष्ठाभ्यामेककाले निहन्ति स्यात् कलं तदा॥ १५५॥

इति कलम् (२)

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

कल—२

१५५. (अ०) यदा जब नानास्थानकं भिन्न स्थान (सप्तक) एकस्वरम् (लेकिन) एक स्वर वाली तन्त्रिकाद्वयं दो तन्त्रियाँ अङ्गुष्ठाभ्याम् अँगूठों के द्वारा एककाले एक साथ निहन्ति आहत होती हैं तदा तब कलं 'कल' स्यात् होता है।

यह कल है। (२)

(तलम्)

दक्षिणाङ्गुष्ठतो हन्ति वामाङ्गुष्ठनिपीडिताम्।
तन्त्रीं यत्र तदाचष्ट तलं सोढलनन्दनः॥ १५६॥

इति तलम् (३)

तल—३

१५६. (अ०) यत्र जहाँ वाम-अङ्गुष्ठनिपीडितां बायें अँगूठे से दबाई गई तन्त्रीं तन्त्री को (पर) दक्षिण-अङ्गुष्ठतः दाहिने अँगूठे से हन्ति आघात किया जाता है तदा तब सोढलनन्दनः सोढलपुत्र (शार्ङ्गदेव) तलं 'तल' आचष्टे कहता है।

(सर०) ये तीन भेद स्वरमण्डल प्रकार की वीणाओं में ही संभव हैं।

यह तल है। (३)

(बिन्दुः)

बिन्दुरेकत्र तन्त्र्यां स्यात् प्रहारो गुरुनादकृत्।

इति बिन्दुः (४)

बिन्दु—४

१५७ क-ख. (अ०) एकत्र तन्त्र्याम् एक तार में गुरुनादकृत् बुलन्द ध्वनि (उत्पन्न) करने वाला प्रहारः आघात बिन्दुः स्यात् 'बिन्दु' होता है।

यह बिन्दु है। (४)

(रेफः)

रेफस्त्वेकस्वरो घातः क्रमात् सर्वाङ्गुलीकृतः॥ १५७॥

इति रेफः (५)

रेफ—५

१५७ ग-घ. (अ०) रेफः तु 'रेफ' तो क्रमात् क्रम से सर्व-अङ्गुलीकृतः सारी उँगलियों से किया हुआ एकस्वरः घातः एक स्वर वाला (अर्थात् एक स्वर पर) आघात (है)।

यह रेफ है। (५)

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(अनुस्वनितम्)

तलं कृत्वावरोहेण घातोऽनुस्वनितं मतम्।

इत्यनुस्वनितम् (६)

अनुस्वनित—६

१५८ क-ख. (अ०) तलं कृत्वा तल (धातु की क्रिया) करके अवरोहेण अवरोह से (अर्थात् नीचे के स्वरों की ओर जाते हुए) घातः आघात अनुस्वनितं मतम् 'अनुस्वनित' माना गया (है)।

यह अनुस्वनित है। (६)

(निष्कोटितम्)

वामाङ्गुष्ठेन तूर्ध्वाधोघातो निष्कोटितं मतम्॥ १५८॥

इति निष्कोटितम् (७)

निष्कोटित—७

१५८ ग-घ. (अ०) वाम-अङ्गुष्ठेन तु बायें अँगूठे से तो ऊर्ध्व-अधः घातः ऊपर नीचे आघात निष्कोटितं मतं 'निष्कोटित' माना गया (है)।

यह निष्कोटित है। (७)

(उन्मृष्टम्)

घातोऽतिमधुरध्वानस्तर्जन्योन्मृष्टमुच्यते।

इत्युन्मृष्टम् (८)

उन्मृष्ट—८

१५९ क-ख. (अ०) अतिमधुरध्वानः अत्यन्त मधुर ध्वनि वाला तर्जन्या घातः तर्जनी से घात उन्मृष्टम् उच्यते 'उन्मृष्ट' कहा जाता है।

यह उन्मृष्ट है। (८)

(अवमृष्टम्)

कनिष्ठया दक्षिणयाङ्गुष्ठाभ्यामप्यधः सरन्॥ १५९॥
हन्ति त्रिस्थानकं तन्त्रीत्रयमेकस्वरं पृथक्।
यत्रावमृष्टमाचष्ट तद् यज्ञपुरमण्डनः॥ १६०॥

इत्यवमृष्टम् (९)

अवमृष्ट—९

१५९ ग-१६०. (अ०) यत्र जहाँ त्रिस्थानकं तीन स्थान के एकस्वरं तन्त्रीत्रयम् एक स्वर वाले तीन तार पृथक् अलग-

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अलग (एक के बाद एक) अधः सरन् (ऊपर से) नीचे (की ओर) जाते हुए दक्षिणया कनिष्ठया दाहिने हाथ की कनिष्ठा से (और) अङ्गुष्ठाभ्याम् अपि अँगूठों से भी हन्ति आहत किये जाते हैं तत् उसे यज्ञपुरमण्डनः यज्ञपुर का भूषण (शार्ङ्गदेव) अवमृष्टम् आचष्टे 'अवमृष्ट' कहता है।

(सर०) पृथक् का अर्थ है अलग-अलग एक के बाद दूसरे के क्रम से। अधःसरन् यानी मन्द्र, मध्य, तार के क्रम से क्योंकि अधः का अर्थ है नीचे जो 'अधर' के लक्षण के अनुसार तार का सूचक है।

यह अवमृष्ट है। (९)

(अनुबन्धः)

उक्तानुबन्धवद् बोध्यमनुबन्धस्य लक्षणम्।
नन्वेकलक्ष्मभेदोऽयं गण्यते किं पृथक्पृथक्॥ १६१॥

मैवं तद्धातुभेदानां बाहुल्यं यत्र दृश्यते।
विशिष्टो धातुना तेन सोऽनुबन्धो भिदां व्रजेत्॥ १६२॥

इत्यनुबन्धः (१०)

अनुबन्ध—१०

१६१-१६२. (अ०) अनुबन्धस्य लक्षणम् 'अनुबन्ध' का लक्षण उक्त-अनुबन्धवत् (पहले) कहे गये अनुबन्ध के समान बोध्यं समझना चाहिये। ननु शंका यह है कि अयं यह एकलक्ष्मभेदः एक से लक्षण वाला भेद है पृथक्-पृथक् (फिर) अलग-अलग किं गण्यते क्यों गिना जाता है? मा एवम् (उत्तर यह है कि) ऐसा नहीं है। यत्र जहाँ तत् उस (विशेष) धातुभेदानां बाहुल्यं धातु के भेदों का बाहुल्य दृश्यते दिखाई देता है तेन धातुना उस (विशेष) धातु से सः वह विशिष्टः अनुबन्धः विशिष्ट अनुबन्ध भिदां भेद को व्रजेत् प्राप्त करता है।

(सर०) ग्रन्थकार की शंका का आशय यह है कि परस्पर मिश्रण ही सभी अनुबन्धों का लक्षण कहा गया इसलिये एकसा लक्षण होने पर भी अनुबन्ध को बार-बार क्यों कहा गया? इसका उत्तर यह दिया कि जहाँ जिस विशेष धातु के भेदों में परस्पर मिश्रण होता है वहाँ उस धातु की प्रधानता दिखाई देती है इसलिये वहाँ उसी धातु का अनुबन्ध होता है।

कल्लि० ने यह ध्यान दिलाया कि चारों धातुओं के लक्षण भिन्न हैं इसलिये हरेक को अलग-अलग गिनना यानी हरेक का अनुबन्ध अलग-अलग कहना उचित है।

धातु के संदर्भ में यह ध्यान देने की बात है कि स्वर का मन्द्र-तार आदि के रूप में वैचित्र्य लघु-गुरु आघातों के साथ तो होगा ही क्योंकि ये दोनों युगपत् होते हैं, आघातों के द्वारा ही स्वर उत्पन्न होते हैं; लेकिन प्रधानता या यों कहें कि आनन्द की प्राप्ति स्वर के द्वारा होती है इसलिये विस्तार जैसी धातु कही गई। दूसरी ओर कोण आदि के द्वारा आघातप्रधान काम के समय यद्यपि स्वर भी रहेगा लेकिन प्रधानता आघातों की होगी इसलिये समवायज, संघातज जैसी धातुएँ अलग कही गईं।

व्यंजन धातु के भेदों के स्वरूप से यह प्रकट होता है कि सारे व्यंजन भेदों का प्रयोग सभी तन्त्री वाद्यों में संभव नहीं है। मत्तकोकिला जैसी वीणा में सारे भेद प्रयुक्त हो सकते हैं लेकिन दूसरी सभी में नहीं। बिन्दु और अवमृष्ट सभी में संभव हैं। इसलिये ग्रन्थकार ने अगले श्लोक में धातुओं का यथास्थान यानी जहाँ जो संभव हो, प्रयोग करने का निर्देश किया।

व्यंजन धातु में विभिन्न उँगलियों के विभिन्न प्रकार के आघातों से उत्पन्न स्वरों का प्रभाव भिन्न हो जाता है इसलिये व्यंजन धातु मुख्य रूप से प्रभाव से संबद्ध है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

विस्तार धातु तार-मन्द्र स्वरों से, करण और आविद्ध लघु-गुरु प्रहारों से और व्यंजन ध्वनि की तीव्रता और समग्र प्रभाव से संबद्ध है। इस प्रकार धातुएँ ध्वनि के सभी पक्षों का अन्तर्भाव करती हैं।

इत्येते धातवः प्रोक्ताः सर्ववाद्योपयोगिनः।
यथास्थानं प्रयोक्तव्यास्ते च वृत्तिसमाश्रयाः॥ १६३॥

१६३. (अ०) इति इस प्रकार एते धातवः ये धातुएँ सर्ववाद्य-उपयोगिनः सारे वाद्यों में उपयोगी प्रोक्ताः कहे गये हैं ते च और वे वृत्तिसमाश्रयाः वृत्तियों के आश्रित यथास्थानम् उचित स्थान पर प्रयोक्तव्याः प्रयोग करने चाहियें।

(सर०) ग्रन्थकार द्वारा धातुओं को सभी वाद्यों के लिये उपयोगी कहने से तत के साथ सुषिर और अवनद्ध तथा घन भी अन्तर्भूत हो जाते हैं। कल्लि० के अनुसार सर्व शब्द संकुचित अर्थ में सिर्फ़ तत वाद्यों के लिये है क्योंकि दूसरे वाद्यों में प्रहार विशेष से सभी स्वर उत्पन्न होना संभव नहीं है। उसका यह कथन ग्रन्थकार का अभिप्रेत नहीं लगता क्योंकि अगर सिर्फ़ तत वाद्य दृष्टि में होते तो वैसा निर्देश हो सकता था। आगे चलकर वंश में भी शार्ङ्ग० ने धातु, वृत्ति आदि का प्रयोग कहा है और वहाँ कल्लि० ने 'वीणा की तरह वंश में भी धातु आदि का प्रयोग करना चाहिये' कहकर इसे स्वीकार किया है (६/६४७ और कल्लि०)।

दूसरे, ना०शा० में 'तिसृणामपि वृत्तीनां येपु वाद्यं प्रतिष्ठितं' (२९/७० ग-घ) में 'वाद्यं' की व्याख्या में अभिनव ने बहुत साफ़ शब्दों में कहा कि ततवाद्यों के अलावा अवनद्ध आदि सभी वाद्यों के तीन वृत्तियों से संबद्ध सभी प्रकार के वादन के लिये धातुओं में आधार है और इसलिये धातु सभी वाद्यों के लिये प्रकृति है।

यथास्थानं को कल्लि० ने इस तरह समझाया है—जिस राग में जिस धातु से विशेष प्रकार की रक्ति प्राप्त होती है वह उस (धातु) का स्थान है उसका अतिक्रमण किये बिना—यह अर्थ है। यहाँ कल्लि० ने 'स्थान' का अर्थ राग किया है जो 'सर्ववाद्य' के उसके दिये गये अर्थ ततवाद्य से संबद्ध है। लेकिन धातुओं का प्रयोग अवनद्ध में भी हो सकता है। इतना ही नहीं घन में भी लघु-गुरु प्रहारों और प्रहारों की संख्या से संबद्ध धातुओं का प्रयोग हो सकता है। इसलिये 'यथास्थान' का सीधा अर्थ यह है कि जहाँ यानी जिस वाद्य पर जिस धातु का प्रयोग संभव हो उसके अनुरूप वहाँ प्रयोग करना चाहिये। उदाहरण के लिये सुषिर पर विस्तार, करण और आविद्ध धातुएँ संभव हैं लेकिन व्यंजन धातु के अधिकांश भेदों में कई उँगलियों के विभिन्न प्रकार के प्रहार, एकाधिक तारों पर एक साथ आघात और एक साथ कई स्वर उत्पन्न करना अन्वित है जो वंश में संभव नहीं है। इसी तरह व्यंजन और विस्तार धातु का उसी रूप में अवनद्ध में प्रयोग नहीं हो सकता।

वृत्ति आगे कही जाने वाली है।

(धातूनां जातयः)

तत्र जातिरुदात्ता स्याद् विस्तारे करणे घना।
आविद्धधातौ रिभिता व्यञ्जने ललिता मता॥ १६४॥

इति चतुस्त्रिंशद्धातवः

धातुओं की जातियाँ

१६४. (अ०) तत्र उनमें से विस्तारे विस्तार (धातु) में उदात्ता जातिः उदात्ता जाति स्यात् होती है। करणे करण में घना घना (जाति), आविद्धधातौ आविद्ध धातु में रिभिता रिभिता (जाति) व्यञ्जने (और) व्यंजन (धातु) में ललिता मता ललिता (जाति) मानी गई (है)।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(सर०) धातुविशेष की प्रधानता के आधार पर यहाँ उनकी जातियाँ कही हैं। ना०शा० में धातु और जाति का संबन्ध वादन के गुण के आधार पर दिया गया है। विस्तार धातु में उदात्तता (ऊपर उठना) होने से उदात्ता जाति, व्यंजन सुकुमार होने से उसमें ललिता जाति, आविद्ध में लघुओं का समूह होने से रिभिता जाति और करण धातु में गुरु-लघु समूह के कारण घना जाति कही है (२९/७४-७५)। अभिनव ने इनकी विस्तार से व्याख्या करते हुए इनकी सार्थकता दी है।

ये चौंतीस धातुएँ हैं।

(वृत्तयः)

वृत्तिर्गुणप्रधानत्वरूपा व्यवहृतिर्मता।
चित्रा वृत्तिर्दक्षिणा च तिस्रः स्युरिति वृत्तयः॥ १६५॥

वृत्तियाँ

१६५. (अ०) गुणप्रधानत्वरूपा (गीत और वाद्य की) गौणता-प्रधानता रूप वाली व्यवहृतिः क्रिया वृत्तिः मता वृत्ति मानी गई (है)। चित्रा वृत्तिः दक्षिणा च चित्रा, वृत्ति और दक्षिणा इति ये तिस्रः वृत्तयः स्युः तीन वृत्तियाँ होती हैं।

(सर०) वृत्ति गीत और वाद्य के एक साथ प्रयोग में उनके प्रधान-गौण संबन्ध की सूचक है।

वृत्ति के संदर्भ में गीत और वाद्य का अर्थ समझना जरूरी है। वाद्य के भेदों के प्रसंग में श्लोक १६ ग-१८ ख की व्याख्या में गीत का अर्थ गान (गायन) किया गया था। यहाँ भी गीत का अर्थ गायन है और वाद्य का वादन।

ना०शा० का वृत्तिसंबन्धी श्लोक इस प्रकार है—

तिस्रस्तु वृत्तयश्चित्रादक्षिणावृत्तिसंज्ञिताः।
वाद्यगीतोभयगुणा निर्दिष्टास्ता यथाक्रमम्॥ (२९/७१)

इसकी व्याख्या में अभिनव ने वृत्ति का यह सामान्य लक्षण दिया—'वृत्तिर्गुणप्रधानभावात्मा व्यवहारः'। शार्ङ्ग० ने भी ठीक यही लक्षण दिया है। भरत द्वारा प्रयुक्त 'गुण' शब्द पर अभिनव ने कहा कि यहाँ गुण शब्द उत्कर्ष का वाचक है, अप्रधान का नहीं। इसलिये वाद्य का और गीत का गुण यानी उत्कर्ष अर्थात् प्रधानता—यह समझना चाहिये। लेकिन अभिनव ने 'गुणता' शब्द के द्वारा गौणता भी व्यक्त की है क्योंकि उसने कहा—तत वाद्य की प्रधानता होने पर गीत की गुणता से चित्रा वृत्ति होती है और इसके विपर्यय से दक्षिणा वृत्ति।

शार्ङ्ग० ने गुण का प्रयोग गौण के अर्थ में ही किया है जैसा कि वृत्ति के लक्षण से प्रकट होता है। भरत के वृत्तिलक्षण में क्रम से चित्रा, दक्षिणा और वृत्ति में वाद्य का, गीत का और दोनों का गुण कहा है। चित्रा में वाद्य का गुण यानी उत्कर्ष होता है, गौणता नहीं।

ग्रन्थकार के प्रस्तुत श्लोक पर कल्लि० की व्याख्या का आशय यह है कि यहाँ प्रकृत विषय वाद्य है फिर वाद्य के बजाय गीत और वाद्य दोनों को लेकर वृत्ति क्यों कही गई? और इसका उत्तर उसने यह दिया कि अकेले वाद्य का ग्रहण करने से उसका एक साथ गौण और प्रधान होना संभव नहीं इसलिये दोनों के संबन्ध से लक्षण दिया। यह शंका मन में रखकर कि प्रस्तुत विषय वाद्य है और उसके साथ गीत और नृत्त दोनों का साहचर्य है लेकिन सिर्फ़ गीत का ही ग्रहण क्यों किया गया, उसने कहा कि नृत्त की अपेक्षा गीत ही वाद्य का अन्तरंग है इसलिये गीत का ग्रहण किया।

'साहचर्य' का आधार संगीत का यह लक्षण है—'गीतं वाद्यं तथा नृत्तं त्रयं संगीतमुच्यते'। गीत का अन्तरंगत्व इस रूप में है कि वाद्य का आधार गीत ही है और वाद्यों के तीन प्रयोजन—गीत को उत्पन्न करना, उसका माप करना और उसका रंजन करना—भी गीत के संबन्ध से ही हैं।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(चित्रावृत्तिः)

चित्रा वाद्यप्रधानत्वाद् गीतस्य गुणतोच्यते।

चित्रावृत्ति

१६६ क-ख. (अ०) वाद्यप्रधानत्वात् वाद्य की प्रधानता से गीतस्य गुणता गीत की गौणता (होने पर) चित्रा उच्यते चित्रा (वृत्ति) कही जाती है।

(वृत्तिवृत्तिः)

उभयोः समभावेन वृत्तिर्वृत्तिरुदाहृता॥ १६६॥

वृत्ति-वृत्ति

१६६ ग-घ. (अ०) उभयोः समभावेन दोनों के समानभाव (में होने) से वृत्तिः वृत्ति (नाम वाली) वृत्तिः उदाहृता वृत्ति कही गई है।

(दक्षिणावृत्तिः)

गीतप्रधानता वाद्यगुणता दक्षिणा मता।

दक्षिणा वृत्ति

१६७ क-ख. (अ०) गीतप्रधानता गीत की प्रधानता वाद्यगुणता वाद्य की गौणता वाली दक्षिणा मता दक्षिणा (वृत्ति) मता मानी गई (है)।

(सर०) वादन प्रधान होने पर चित्रा, गायन-वादन दोनों समान होने पर वृत्ति और गायन प्रधान हो तो दक्षिणा वृत्ति होती है।

द्रुतादिकाँल्लयानासां नियच्छन्ति क्रमात् परे॥ १६७॥

समां स्त्रोतोगतां तद्वद् गोपुच्छां च यतिं क्रमात्।
मागधीं संभाविताख्यां गीतिं च पृथुलां क्रमात्॥ १६८॥

ओघं चानुगतं तत्त्वं वाद्यान्येतान्यनुक्रमात्।
मार्गं चित्रं वार्तिकाख्यं दक्षिणाख्यं यथाक्रमम्॥ १६९॥

अनागतसमातीतान् ग्रहानिह च मन्वते।

इति वृत्तित्रयम्

१६७ ग-१७० ख. (अ०) परे अन्य आचार्य आसाम् इनमें क्रमात् क्रम से द्रुत-आदिकान् लयान् द्रुत आदि लयों को नियच्छन्ति नियमित करते हैं। तत्-वत् उसी तरह क्रमात् क्रम से समां स्त्रोतोगतां गोपुच्छां च समा, स्त्रोतोगता, गोपुच्छा यति को; क्रमात् क्रम से मागधीं संभाविता-आख्यां मागधी (और) संभाविता नाम वाली पृथुलां गीतिं च और पृथुला गीति को; ओघम् अनुगतं तत्त्वं च ओघ, अनुगत और तत्त्व अनुक्रमात् क्रम से एतानि वाद्यानि ये वाद्य; यथाक्रमं क्रम के अनुसार चित्रं वार्तिक-आख्यं चित्र (और) वार्तिक नामक (तथा) दक्षिण-आख्यं मार्गं दक्षिण नाम वाले मार्ग को अनागतसम-अतीतान् ग्रहान् च और अनागत, सम, अतीत ग्रहों को इह यहाँ (वृत्ति में) मन्वते मानते हैं।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(सर०) यहाँ ग्रन्थकार ने अन्य मत से तीन वृत्तियों के साथ लय, यति, गीति, वाद्य, मार्ग और ग्रह के तीन-तीन प्रकारों का संबन्ध दिया है। ना०शा० में वृत्ति और ललिता आदि जातियों के बीच में एक गद्यखण्ड में भी यह संबन्ध दिया गया है लेकिन अभिनव ने इसे कोई महत्त्व नहीं दिया है।

प्रस्तुत श्लोक के आधार पर इनका संबन्ध इस प्रकार है—

	चित्रा	वृत्ति	दक्षिणा
लय	द्रुत	मध्य	विलंबित
यति	समा	स्रोतोगता	गोपुच्छा
गीति	मागधी	संभाविता	पृथुला
वाद्य	ओघ	अनुगत	तत्त्व
मार्ग	चित्र	वार्तिक	दक्षिण
ग्रह	अनागत	सम	अतीत

ये तीन वृत्ति हैं।

(गीतानुगवाद्यलक्षणम्)

तत्त्वं भवेदनुगतमोघश्चेति निरूपितम्॥ १७०॥
गीतानुगं त्रिप्रकारं वाद्यं तल्लक्ष्म कथ्यते।

गीतानुग वाद्य का लक्षण

१७० ग-१७१ ख. (अ०) तत्त्वम् अनुगतम् ओघः च इति तत्त्व, अनुगत और ओघ यों गीतानुगं वाद्यं गीतानुग (गीत का अनुसरण करने वाला) वाद्य (वादन) त्रिप्रकारं तीन प्रकार वाला निरूपितं भवेत् निरूपित होता (किया जाता) है। तत् लक्ष्म उसका लक्षण कथ्यते कहा जा रहा है।

(सर०) गीत को वाद्य पर बजाने के विभिन्न प्रकार गीतानुग वाद्य के अन्तर्गत आते हैं। यहाँ इनका निरूपण ना०शा० के अनुसार ही हुआ है।

(तत्र तत्त्वलक्षणम्)

लयं तालं विरामं च यतिं गीतिं तथाक्षरम् ॥ १७१॥
वर्णग्रामविभागं च नानाजात्यंशकादिकम्।
व्यञ्जद्गीतगतं गीतमिलितं तत्त्वमुच्यते॥ १७२॥

इति तत्त्वम्

तत्त्व का लक्षण

१७१ ग-१७२. (अ०) गीतगतं गीत के लयं तालं विरामं च लय, ताल और विराम, यतिं गीतिं तथा अक्षरं यति, गीति और अक्षर, वर्णग्रामविभागं च वर्ण और ग्राम के विभाग, नानाजाति-अंशक-आदिकं विभिन्न जातियों के अंश आदि को व्यञ्जत् व्यंजित करता हुआ गीतमिलितं गीत से मिला हुआ तत्त्वम् उच्यते तत्त्व (वाद्य) कहा जाता है।

(सर०) तत्त्व के लक्षण में ना०शा० में प्रयुक्त पद शब्द के स्थान पर यहाँ विराम शब्द है और अभि० के आधार पर जाति का अंश आदि जोड़ा गया है, शेष लक्षण ना०शा० जैसे ही हैं।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

गायन में जो पक्ष व्यक्त होते हैं वे यहाँ तत्त्व के लक्षण में दिये हैं। गीत के उन सारे तत्त्वों के अनुसार गीत के जैसा वादन तत्त्व में होता है।

कल्लि० के अनुसार विराम का अर्थ शब्द की समाप्ति है यानी शब्द की समाप्ति के द्वारा होने वाले विराम से तात्पर्य है। अक्षर यानी गीत के अक्षर, लेकिन अक्षर वाद्य से उत्पन्न नहीं होते। किन्तु हर अक्षर पर उसके काल के अनुसार आघात के द्वारा अक्षर का साम्य खड़ा करना संभव है, यहाँ उसी से तात्पर्य है।

गीतमिलितं का आशय यह है कि वादन गीत के ठीक अनुरूप या अनुसार हो जिससे वादन में गीत की ही अनुभूति हो।

यह तत्त्व है।

(अनुगतलक्षणम्)

किंचद्गीतानुहरणाद्वाद्यं त्वनुगतं मतम्।
यथा विरतिरन्यत्र स्थितिः स्थानान्तरेष्वपि॥ १७३॥

विलम्बिते गीतलये वैदग्ध्याद् द्रुतवादनम्।

इत्यनुगतम्

(अनुगत का लक्षण)

१७३-१७४ ख. (अ०) किंचित् गीत-अनुहरणात् गीत के कुछ अनुसरण से (होने वाला) वाद्यं तु वादन तो अनुगतं मतम् अनुगत माना गया (है)। यथा जैसे अन्यत्र विरतिः अन्यत्र (गीत में) विराम (उसी तरह वाद्य में भी विराम हो), स्थानान्तरेषु अन्य स्थानों में स्थितिः अपि स्थिति (उसी तरह वाद्य में) भी (हो) गीतलये विलम्बिते (लेकिन) गीत में लय विलंबित होने पर वैदग्ध्यात् चातुर्य से द्रुतवादनं द्रुत (लय में) वादन (होने पर अनुगत वाद्य होता है)।

(सर०) अनुगत का अर्थ है पीछे जाने वाला और अनुहरण का सामान्य अर्थ है मिलता-जुलता। दोनों का आशय गीत का साम्य खड़ा करना है, ठीक गीत जैसा वादन नहीं। इसीलिये ग्रन्थकार ने 'किंचित् अनुहरणात्' कहा। इसे यों समझें कि गीत में जहाँ विराम हो, जहाँ लम्बा उच्चारण हो और स्वर प्रयोग जिस स्थान में हो वादन भी उसके अनुरूप तो हो लेकिन गीत में जहाँ विलंबित लय हो वहाँ वादन द्रुत लय में हो।

ना०शा० के अनुगतलक्षण पर अभिनव ने कहा कि सब कुछ 'तद्रूप' यानी ठीक वैसा ही नहीं बल्कि 'किंचित्' यानी कुछ-कुछ। 'देवं' शब्द का उदाहरण देते हुए द्रुतवादन को इस तरह समझाया कि देवं के दो अक्षर को गाये जाते समय वाद्य में तीन या चार आघात किये जायँ। ऐसा होने पर द्रुत लय हो जाने से अनुगत वाद्य कहा जायगा।

यह अनुगत है।

(ओघलक्षणम्)

गीतस्यान्तेऽनुकर्तापि भागशश्चातुरीवशात्॥ १७४॥
निरन्तरैः पाणिघातैः समुदायानुकारितम्।
वादको दर्शयेद् वाद्ये यत्रौघं तं प्रचक्षते॥ १७५॥

इत्योघः

ओघ का लक्षण

१७४ ग-१७५. (अ०) यत्र जहाँ गीतस्य अन्ते गीत के अन्त में अनुकर्ता अपि अनुकर्ता (होते हुए) भी वादकः वादक

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

भागशः आंशिक रूप से, चातुरीवशात् चातुर्य के द्वारा वाद्ये वाद्य में निरन्तरैः पाणिघातैः लगातार हाथ के प्रहारों से समुदाय-अनुकारितं (गीत के भागरूप) समुदायों का अनुकरण दर्शयेत् दिखाता है तम् उसे ओघं प्रचक्षते ओघ कहा जाता है।

(सर०) गीतानुग वाद्य के तीनों प्रकारों में वादक अनुकर्ता ही होता है यानी गीत का अनुकरण ही करता है। लेकिन ओघ में गीत के अन्तिम भाग में वह कुशलता से लगातार आघात करते हुए यानी हर अक्षर का नहीं बल्कि समूह का अनुकरण करके गीत का कुछ-कुछ अनुकरण प्रस्तुत करता है।

ओघ शब्द का अर्थ है धारा, बाढ़ आदि। ओघ वाद्य के लगातार किये जाने वाले आघातों में धारा का भाव है। अभिनव के अनुसार गीत की विदारी, विच्छेद आदि इसमें अपेक्षित नहीं हैं यानी विदारी के आधार पर वादन नहीं होता बल्कि निरन्तर घात होते हैं इसलिये ओघ धारा के समान है—'ओघः इवौघः' (२९/७७-७८ पर अभि०, पृ० १०४)।

यह ओघ है।

एकविंशतितन्त्रीस्थमेतद् धात्वादिवादनम्।
एकतन्त्र्यादिवीणासु यथायोगं प्रवर्तयेत्॥ १७६॥

एकतन्त्र्यां च यत् प्रोक्तं तज्ज्ञेयं नकुलादिषु।
वेणावपि तदिच्छन्ति वेणुप्रावीण्यशालिनः॥ १७७॥

इति गीतानुगं वाद्यम्
इति वृत्तित्रयलक्षणम्

१७६-१७७. (अ०) एकविंशतितन्त्रीस्थम् इक्कीस तार वाली (वीणा) में स्थित एतत् यह धातु-आदिवादनं धातु आदि का वादन एकतन्त्री-आदिवीणासु एकतंत्री आदि वीणाओं में यथायोगं प्रवर्तयेत् यथासंभव प्रयुक्त करना चाहिये एकतन्त्र्यां च और एकतंत्री में यत् प्रोक्तं जो कहा गया तत् वह नकुल-आदिषु नकुल आदि (वीणाओं) में (भी) ज्ञेयं जानना चाहिये। वेणुप्रावीण्यशालिनः वंश के वादन में प्रवीणता से संपन्न (वादक) तत् वह (उसे) वेणौ अपि वंश में भी इच्छन्ति इच्छा करते हैं।

(सर०) धातु आदि का आशय धातु, वृत्ति और गीतानुग वाद्य हैं जिन्हें शार्ङ्ग० ने इक्कीस तार वाली मत्तकोकिला के लिये कहा है। एकतंत्री में हस्त-व्यापार और उनके मेल से बनने वाले दस प्रकार के वाद्य कहे गये हैं। यहाँ शार्ङ्ग० ने यह भी कहा कि इन सबका यथायोग प्रयोग दूसरी वीणाओं और वंश में भी करना चाहिये।

यह गीतानुग वाद्य है।

यह तीन वृत्तियों का लक्षण है।

(निर्गीतवाद्यलक्षणम्)

भेदान्निर्गीतवाद्यस्य वैणस्याथ प्रचक्ष्महे।

निर्गीतवाद्य का लक्षण

१७८ क-ख. (अ०) अथ अब वैणस्य वीणा संबन्धी निर्गीतवाद्यस्य भेदान् निर्गीतवाद्य के भेदों को प्रचक्ष्महे कहते हैं।

(सर०) भरत ने निर्गीत का यह लक्षण दिया है—

निर्गीतं गीयते यस्मादपदं वर्णयोजनात्।
असूयया च देवानां बहिर्गीतमिदं स्मृतम्॥ (ना०शा०, ५/४३)

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अर्थात् अपद वर्णों की योजना से गाया जाता है इसलिये निर्गीत कहा जाता है। देवताओं की ईर्ष्या के कारण इसे बहिर्गीत कहा गया। इसमें 'अपदं' महत्त्वपूर्ण है। संस्कृत व्याकरण के 'सुप्तिङन्तं पदं' के अनुसार 'सुप्' अथवा 'तिङ्' प्रत्यय के लगने पर ही कोई शब्द पद कहलाता है और तभी वह अर्थ देता है। ना०शा० में निर्गीतों में जो शुष्काक्षर दिये हैं उनमें पशुपति, गणपति भी हैं लेकिन ये पद नहीं हैं क्योंकि इनमें प्रत्यय न होने से ये अर्थवान् नहीं हैं। भरत ने इसी कारण 'अपद' शब्द का प्रयोग किया है। निर्गीत में इसी अर्थ में अपद होते हैं।

भरत ने निर्गीतों में शुष्काक्षर दिये हैं जो कंठ से ही उत्पन्न हो सकते हैं इसलिये 'गीत' में कंठ यानी गायन का ग्रहण है। लेकिन स्वराधारित रचनाएँ होने और मुख्यतः वाद्य प्रयोग होने से निर्गीतों में तत और सुषिर वाद्यों का भी ग्रहण होगा।

सं०र० में निर्गीतों में शुष्काक्षर की चर्चा नहीं है और कल्लि० ने स्पष्टतः कहा कि निर्गीत वाद्य ही शुष्कवाद्य कहे जाते हैं। इससे यह समझ सकते हैं कि शार्ङ्ग० के निर्गीत विशुद्ध वाद्य रचनाएँ हैं। आश्रावणा निर्गीत के लक्षण में वर्णों का लघु-गुरु क्रम बताने के साथ ही यह भी कहा कि ऐसी ध्रुवा गानी चाहिये ('गेया')। वर्ण शब्द इनमें अक्षरों की योजना का और 'गेया' उनके गेय होने का सूचक है।

शुष्क का अर्थ है सूखा। अर्थहीन होने से निर्गीतों को शुष्क कहना यह संकेत देता है कि निर्गीत में निरर्थक अक्षर होते हैं। यह स्मरणीय है कि वाद्य के गीतानुग आदि भेदों में भी एक भेद शुष्कवाद्य कहा जा चुका है (६/१६ क)। लेकिन वहाँ गीत और नृत्त के बिना सिर्फ़ वाद्यों के प्रयोग को शुष्क कहा है।

निर्गीतों के लक्षणों में धातु, ध्रुवा (अक्षरों का लघु-गुरु क्रम) और तालविधि—शार्ङ्ग० ने इतना ही दिया है, शुष्काक्षर नहीं हैं और न नाट्य के पूर्वरंग के साथ इनके संबन्ध की या भरत की विधि कीं कोई चर्चा है। ना०शा० में निर्गीतों का निरूपण पूर्वरंग में पर्दा खुलने से पहले (अन्तर्यवनिका) होने वाले प्रयोग में किया है और यह गान्धर्व का अंग है। निर्गीत वास्तव में निबद्ध वाद्य रचनाएँ हैं जो मूलतः गेय रचनाओं के आधार पर बनाई गईं और उनका वादन मत्तकोकिला, चित्रा, विपंची आदि वीणाओं पर उनकी विशिष्ट वादन-विधि के द्वारा किया जाता था।

ऊपर अद्धृत ना०शा० के श्लोक में जिस कथा का संकेत है वह इस प्रकार है। देव और दानवों की सभा में नारदादि के द्वारा देवताओं की स्तुति में गाये गये गीतों को सुनकर ईर्ष्या के कारण दानव क्षुब्ध हुए और उन्होंने गीतकों में से स्तुतिपद निकाल कर झण्टुम् आदि अर्थहीन वर्ण रख कर साथ में वीणावाद्य प्रयोग रहने दिया और कहा कि देवता अपनी स्तुति करके प्रसन्न हों, हम निर्गीत से ही सन्तुष्ट रहेंगे। इस पर क्षोभ के कारण देवताओं ने इन निर्गीतों को बहिर्गीत कहा।

(निर्गीतवाद्यभेदाः)

आश्रावणारम्भविधिर्वक्त्रपाणिस्ततः परम्॥ १७८॥

संखोटना चतुर्थी च पञ्चमी परिघट्टना।
मार्गासारितकं लीलाकृतमासारितत्रयम्॥ १७९॥

दशेति शुष्कवाद्यानि तल्लक्ष्म व्याहरेऽधुना।

निर्गीतवाद्य के भेद

१७८ ग-१८० ख. (अ०) आश्रावणा आरम्भविधिः वक्त्रपाणिः आश्रावणा, आरम्भविधि, वक्त्रपाणि **ततः परम्** उसके बाद **चतुर्थी च** चौथी तो **संखोटना** संखोटना, **पञ्चमी परिघट्टना** पाँचवीं परिघट्टना, **मार्गासारितकं लीलाकृतम् आसारितत्रयं** मार्गासारित, लीलाकृत, आसारितों का तीन का समूह **इति ये दश शुष्कवाद्यानि** दस शुष्कवाद्य (हैं)। **अधुना** अब **तत् लक्ष्म** उसका लक्षण **व्याहरे** कहते हैं।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(निर्गीतवाद्यभेदानां लक्षणानि)

(तत्र आश्रावणा)

विस्तारधातुभेदानामादिमं द्विः प्रयुज्यते॥ १८०॥

द्वितीयं च प्रयुज्य द्विराद्यं भेदं द्वितीयकम्।
लीनाकृतिं द्विरुच्चार्य तद्वद् युग्मान्तराण्यपि॥ १८१॥

प्राक्प्राग्युग्मोत्तरादीनि प्रयुञ्जीत तदा भवेत्।
आश्रावणं शुष्कवाद्यं,

निर्गीतवाद्य के भेदों के लक्षण

१—आश्रावणा

१८० ग-१८२ ग. (अ०) विस्तारधातुभेदानां विस्तार धातु के भेदों में (से) आदिमं पहले (भेद) को द्विः प्रयुज्यते दो बार प्रयुक्त किया जाता है। द्वितीयं च दूसरे को भी द्विः प्रयुज्य दो बार प्रयुक्त करके आद्यं द्वितीयं भेदं पहले (और) दूसरे भेद को लीन-आकृतिम् अन्तर्भूत सा (बिल्कुल जोड़कर) द्विः उच्चार्य दो बार उच्चारण करके तत्-वत् उसी तरह युग्म-अन्तराणि-अपि अन्य (भेदों के) जोड़ों का भी प्राक्-प्राक् युग्म पूर्व-पूर्व जोड़ा (जोड़े का) उत्तर-आदीनि बाद वाला (भेद) शुरू में (हो इस तरह) प्रयुञ्जीत प्रयुक्त किया जाता है तदा तब आश्रावणं शुष्कवाद्यम् आश्रावणा शुष्कवाद्य भवेत् होता है।

(सर०) आश्रावणा में सिर्फ़ विस्तार धातु के भेदों का प्रयोग होता है। पहला भेद यानी विस्तारज दो बार, फिर अगला यानी संघातज का पहला भेद द्विरुत्तर दो बार, फिर विस्तारज-द्विरुत्तर दो बार। अंकों के द्वारा व्यक्त करें तो १-१, २-२, १-२, १-२ रूप होगा। इसी तरह अगले जोड़े अगले-अगले भेद लेकर बनेंगे—द्विरुत्तर दो बार, द्विरधर दो बार, फिर द्विरुत्तर-द्विरधर दो बार (२-२, ३-३, २-३, २-३)। अगले जोड़े द्विरधर दो बार, अधराद्युत्तरान्त दो बार, फिर द्विरधर-अधराद्युत्तरान्त दो बार (३-३, ४-४, ३-४, ३-४)। इसी तरह संघातज, समवायज आदि के भेदों को लेकर जोड़ों में प्रयोग होगा।

कल्लि० ने भेदों का क्रम अलग ढंग से दिया है। उसके अनुसार कुल ७ जोड़े बनते हैं। पहले क्रम में विस्तारज और द्विरुत्तर को लेकर ये ४ जोड़े बनाये—२ बार विस्तारज, २ बार द्विरुत्तर, विस्तारज और द्विरुत्तर २ बार। इसके बाद ६ जोड़ों में धातुओं के नाम न देकर संख्या दी हैं जो इस प्रकार हैं—दूसरे जोड़े में तीसरा-चौथा भेद, तीसरे में पाँचवाँ-छठा, चौथे में सातवाँ-आठवाँ और इसी तरह ७ जोड़े। उक्त क्रम से शेष ३ जोड़ों में पाँचवें में नवाँ-दसवाँ भेद, छठे में ग्यारहवाँ-बारहवाँ और सातवें में तेरहवाँ-चौदहवाँ—यों इनके साथ अनुबन्ध मिलाकर विस्तारज धातु के १४ भेदों को लेकर जोड़े बनाये। लेकिन इस क्रम में हर अगले जोड़े के शुरू में पिछले क्रम का दूसरा-दूसरा भेद नहीं रहता जो ग्रन्थोक्त लक्षण के अनुरूप नहीं है। ग्रन्थगत लक्षण के अनुसार विस्तार धातु के १४ भेदों से ये १३ क्रम बनते हैं—१-२. २-३, ३-४, ४-५, ५-६, ६-७, ७-८, ८-९, ९-१०, १०-११, ११-१२, १२-१३, १३-१४।

अत्र त्वाह विशाखिलः॥ १८२॥

विस्तारधातुभेदानां प्रयोगे द्रुतरूपताम्।

१८२ घ-१८३ ख. (अ०) अत्र इसमें विशाखिलः तु विशाखिल ने तो विस्तारधातुभेदानां प्रयोगे विस्तार धातु के भेदों के प्रयोग में द्रुतरूपतां द्रुतरूपता (द्रुत गति) आह कही (है)।

(सर०) शार्ङ्ग० ने आघातों का लघु-गुरु क्रम नहीं बताया है। विशाखिल संबन्धी कथन का आशय शायद यह है कि आघात लघु यानी १-१ मात्रिक होते हैं।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

आद्यखण्डे यदाद्यौ द्वावेकादशचतुर्दशौ ॥ १८३ ॥

वर्णः पञ्चदशस्तद्वच्चतुर्विंशो गुरुर्भवेत्।
लघवोऽष्टादशान्ये स्युरेवं खण्डे द्वितीयके ॥ १८४ ॥

तृतीये तु तृतीयो गोऽष्टमपञ्चदशौ तथा।
शेषा द्वादश लाः खण्डैस्त्रिभिरेवं ध्रुवा भवेत् ॥ १८५ ॥

आश्रावणायां गेया सा सूरिभिः सिद्धिमीप्सुभिः।

१८३ ग-१८६ ख. (अ०) यदा जब आद्यखण्डे पहले खण्ड में आद्यौ द्वौ शुरू के दो, एकादशचतुर्दशौ ग्यारहवाँ और चौदहवाँ, पञ्चदशः पन्द्रहवाँ तत्-वत् उसी तरह चतुर्विंशः वर्णः चौबीसवाँ अक्षर गुरुः भवेत् गुरु होता है अन्ये अष्टादश शेष अठारह लघवः स्युः लघु होते हैं, एवम् इसी तरह द्वितीये खण्डे दूसरे खण्ड में (भी) स्युः होते हैं, तृतीये तु तीसरे (खण्ड) में तो तृतीयः तीसरा, अष्टमपञ्चदशौ आठवाँ और पन्द्रहवाँ गः गुरु तथा शेषाः और शेष द्वादश लाः बारह लघु (होते हैं)। एवम् इस तरह त्रिभिः खण्डैः तीन खण्डों से आश्रावणायाम् आश्रावणा में ध्रुवा भवेत् ध्रुवा होती है। सा वह सिद्धिम् ईप्सुभिः सिद्धि की इच्छा वाले सूरिभिः विद्वानों के द्वारा गेया गाई जानी चाहिये।

(सर०) भरत ने ध्रुवाध्याय में लघु-गुरु क्रम और उनमें बँधे पदों को ध्रुवा कहा है। अभिनव ने कई जगह सिर्फ़ लघु-गुरु क्रम के लिये भी ध्रुवा शब्द का प्रयोग किया है। शार्ङ्ग० के निर्गीत-निरूपण का मुख्य आधार भरत और अभिनव ही हैं इसलिये उन्होंने वहीं से ध्रुवा शब्द लेकर निर्गीतों के लघु-गुरु क्रम को ध्रुवा कहा है। इसका यह आशय भी है कि यह क्रम ध्रुव यानी नियत और अपरिवर्तनीय है।

आश्रावणा की ध्रुवा तीन खण्ड वाली है जिसमें से पहले दो में २४-२४ और तीसरे में १५ अक्षर हैं। इनमें बताये गये लघु-गुरु क्रम के अनुसार प्रस्तार यह बनेगा—

	१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६	१७	१८	१९	२०	२१	२२	२३	२४
पहला खण्ड	ऽ	ऽ	।	।	।	।	।	।	।	।	ऽ	।	।	ऽ	ऽ	।	।	।	।	।	।	।	।	ऽ
दूसरा खण्ड	वैसा ही																							
तीसरा खण्ड	।	।	ऽ	।	।	।	।	ऽ	।	।	।	।	।	।	ऽ									

ग्रन्थकार ने लघु-गुरु की संख्या और उनका क्रम अक्षर के आधार पर दिया है। इससे यह स्पष्ट है कि ये छन्द के लघु-गुरु हैं यानी लघु एक ह्रस्व अक्षर का और गुरु एक दीर्घ अक्षर का है।

सिद्धिं का अर्थ सिंह० ने वाद्य में सिद्धि किया है और कल्लि० ने दृष्ट-अदृष्ट फल।

गेया यह प्रकट करता है कि निर्गीतों को गाया भी जाता था। लक्षण में प्रयुक्त 'वर्ण' भी यह संकेत देता है कि निर्गीतों में अक्षरों की योजना भी रहती थी जिन्हें गाया जाता था। हालाँकि शार्ङ्ग० ने निर्गीतों में सार्थक या अर्थहीन पद नहीं दिये और न कहीं अक्षरों का स्पष्ट उल्लेख ही किया है।

वक्ष्यामहे मुनिमतादस्यां पातकलाविधिम् ॥ १८६ ॥

द्वाविंशतिं कलाः केचित् येऽप्यष्टाविंशतिं कलाः।
अन्ये द्वात्रिंशतं प्राहुस्तत्रैवं तालयोजना ॥ १८७ ॥

१८६ ग-१८७. (अ०) मुनिमतात् मुनि (भरत) के मत से अस्याम् इसकी पातकलाविधिं सशब्द-निःशब्द क्रियाओं की विधि को वक्ष्यामहे कहेंगे। ये केचित् कोई-कोई (कुछ आचार्य) द्वाविंशतिं कलाः बाईस कलाएँ, अष्टाविंशतिं कलाः

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अपि अट्ठाईस कलाएँ भी अन्ये अन्य आचार्य द्वात्रिंशतं प्राहुः बत्तीस (कलाएँ) कहते हैं। तत्र उन (कलाओं) में तालयोजना ताल की योजना एवम् इस प्रकार (है)।

शम्यात्रयं ततस्तालास्त्रयोऽत्रानागतग्रहे।
ततः समग्रहे शम्याद्वयं तालद्वयं तथा॥ १८८॥
ततोऽतीतग्रहे शम्यातालौ द्वादश ताः कलाः
यथाक्षरस्योत्तरस्य षट्चतस्त्रस्तु युग्मजाः॥ १८९॥

कला द्वाविंशतावेवम्,

१८८-१९० क. (अ०) अत्र इसमें शम्यात्रयं तीन (बार) शम्या, ततः तब त्रयः तालाः तीन (बार) ताल अनागतग्रहे अनागत ग्रह में, ततः उसके बाद शम्याद्वयं दो (बार) शम्या तथा तालद्वयम् और दो (बार) ताल समग्रहे समग्रह में, ततः उसके बाद शम्यातालौ शम्या और ताल अतीतग्रहे अतीतग्रह में (इस प्रकार) ताः द्वादशकलाः वे बारह कलाएँ (प्रयुक्त करके) यथाक्षरस्य उत्तरस्य यथाक्षर उत्तर की षट् छ (और) चतस्त्रः तु चार तो युग्मजाः चच्चत्पुट से उत्पन्न एवम् इस प्रकार द्वाविंशतौ बाईस (कलाओं) में कलाः क्रियाएँ (करनी चाहियें)।

(सर०) इसके अनुसार आश्रावणा के ताल का प्रस्तार यह होगा—

१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६	१७	१८	१९	२०	२१	२२
श	श	श	ता	ता	ता	श	श	ता	ता	श	ता	सं	ता	श	ता	श	ता	सं	श	ता	श
												यथाक्षर उत्तर						यथा० चच्च०			

इस विधि से यह प्रकट होता है कि गीतकों की ही तरह निर्गीतों में भी किसी एक ही ताल या एक नियत कलाविधि की पूरे निर्गीत में आवृत्ति नहीं होती बल्कि अलग-अलग खण्डों में अलग-अलग क्रियाएँ या ताल हैं।

अथाष्टाविंशतौ विधिः।
द्वादशात्र कलाः प्राग्वद् द्विकलोत्तरवत् ततः॥ १९०॥
कला द्वादश शेषास्तु स्युरेककलयुग्मवत्।

१९० ख-१९१ ख. (अ०) अथ अब अष्टाविंशतौ अट्ठाईस (कलाओं) में विधिः (ताल) विधि (कहते हैं)। अत्र इसमें द्वादश कलाः बारह कलाएँ प्राक्-वत् पहले की तरह, ततः उसके बाद द्वादश कलाः बारह कलाएँ द्विकल-उत्तरवत् द्विकल उत्तर के जैसी (और) शेषाः तु शेष (चार) तो एककलयुग्मवत् एककल चच्चत्पुट की तरह स्युः होती हैं।

(सर०) इसके अनुसार प्रस्तार यों होगा—

१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६	१७	१८	१९	२०	२१	२२	२३	२४
श	श	श	ता	ता	ता	श	श	ता	ता	श	ता	नि	प्र	ता	श	नि	ता	नि	श	ता	प्र	नि	सं
												द्विकल उत्तर											

२५	२६	२७	२८
सं	श	ता	श
यथा० चच्च०			

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अथ द्वात्रिंशतिः प्राच्याः स्युश्चतुर्विंशतिः कलाः॥ १९१॥

द्वितीयपक्षवत् प्रान्ते त्वष्टौ द्विकलयुग्मवत्।

१९१ ग-१९२ ख. (अ०) अथ अब द्वात्रिंशतिः बत्तीस (कलाओं वाला पक्ष कहते हैं)। प्राच्याः शुरू वाली चतुर्विंशतिः कलाः चौबीस कलाएँ द्वितीयपक्षवत् दूसरे पक्ष के जैसी स्युः होती हैं। प्रान्ते तु अन्त में तो अष्टौ आठ द्विकल युग्मवत् द्विकल चच्चत्पुट के समान (होती हैं)।

(सर०) इसका प्रस्तार यह होगा—

१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६	१७	१८	१९	२०	२१	२२	२३	२४
श	श	श	ता	ता	ता	श	श	ता	ता	श	ता	नि	प्र	ता	श	नि	ता	नि	श	ता	प्र	नि	सं

(१३–२४: द्विकल उत्तर)

२५	२६	२७	२८	२९	३०	३१	३२
नि	श	नि	ता	श	प्र	नि	सं

द्विकल चच्चत्पुट

एषु त्रिष्वपि पक्षेषूत्तरश्चच्चत्पुटस्तथा॥ १९२॥

अतीतेन ग्रहेण स्याद् विदारीरथ कीर्तयेत्।

१९२ ग-१९३ ख. (अ०) एषु त्रिषु अपि पक्षेषु इन तीनों ही पक्षों में उत्तरः तथा चच्चत्पुटः उत्तर और चच्चत्पुट अतीतेन ग्रहेण अतीत ग्रह से स्यात् होता है। अथ अब विदारीः कीर्तयेत् विदारियाँ कहते हैं।

(सर०) ऊपर २२, २८ और ३२ कला वाले तीन पक्षों के अनुसार कलाविधि बताई गई। अब निर्गीत की विदारियाँ कही जा रही हैं।

शम्यात्रयेण प्रथमा परा तालत्रयेण तु॥ १९३॥

शम्याद्वया तृतीया स्यात् तुर्या तालद्वयेन तु।
पञ्चमी शम्यातालाभ्यां षष्ठी स्यात् पञ्चपाणिना॥ १९४॥

चच्चत्पुटा सप्तमी स्यात्

१९३ ग-१९५ क. (अ०) शम्यात्रयेण तीन शम्या से प्रथमा पहली, तालत्रयेण तु तीन ताल से तो परा दूसरी, शम्याद्वया दो शम्या वाली तृतीया स्यात् तीसरी (विदारी) होती है। तालद्वयेन तु दो ताल से तो तुर्या चौथी शम्यातालाभ्यां शम्या और ताल से पञ्चमी पाँचवीं, पञ्चपाणिना पंचपाणि से षष्ठी स्यात् छठी होती है। चच्चत्पुटा चच्चत्पुट वाली सप्तमी स्यात् सातवीं होती है।

तास्तिस्त्रो मन्वते परे।
यथाक्षरस्य युग्मस्य द्विरावृत्त्या विदारिका॥ १९५॥

आद्या तथा द्वितीया स्यात् तयोरन्ते कलाद्वयम्।
एवमष्टादश कलास्ततो युग्माद्यथाक्षरात्॥ १९६॥

विदारी स्यात् तृतीया,

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

१९५ ख-१९७ क. (अ०) परे अन्य (आचार्य) ताः वे (विदारियाँ) तिस्रः मन्वते तीन मानते हैं। यथाक्षरस्य युग्मस्य यथाक्षर चच्चत्पुट की द्विः आवृत्त्या दो आवृत्तियों से आद्या विदारिका पहली विदारी तथा वैसी ही द्वितीया स्यात् दूसरी होती है। तयोः अन्ते उनके अन्त में कलाद्वयं दो कलाएँ (अधिक हैं)। एवम् इस तरह अष्टादश कलाः अठारह कलाएँ (होती हैं)। ततः उसके बाद यथाक्षरात् युग्मात् यथाक्षर चच्चत्पुट से तृतीया विदारी तीसरी विदारी स्यात् होती है।

अन्ये विदारीरन्यथा जगुः।
आद्या द्विकलयुग्मेन द्वितीया च तथा भवेत्॥ १९७॥

यथाक्षरेणोत्तरेण तृतीयान्येऽन्यथा जगुः।
पूर्वोक्ता द्वादश कला विदार्याद्या परा पुनः॥ १९८॥

यथाक्षरेणोत्तरेण शेषा युग्माद्यथाक्षरात्।
एवमाश्रावणामाह श्रीमान्यज्ञपुराग्रणीः॥ १९९॥

इत्याश्रावणा

१९७ ख-१९९. (अ०) अन्ये दूसरे आचार्यों ने विदारीः विदारियों को अन्यथा जगुः अलग तरह से कहा है। आद्या पहली द्विकलयुग्मेन द्विकल चच्चत्पुट से द्वितीया च दूसरी भी तथा वैसी ही भवेत् होती है (और) तृतीया तीसरी यथाक्षरेण उत्तरेण यथाक्षर उत्तर से (होती है) अन्ये अन्य आचार्यों ने अन्यथा जगुः अलग प्रकार से कहा है। पूर्व-उक्ताः पहले कही गईं द्वादशकलाः बारह कलाएँ आद्या विदारी पहली विदारी, पुनः परा फिर दूसरी यथाक्षरेण उत्तरेण यथाक्षर उत्तर से, शेषा शेष (अन्तिम) यथाक्षरात् युग्मात् यथाक्षर चच्चत्पुट से (होती है)। एवम् इस प्रकार श्रीमान् यज्ञपुर-अग्रणीः श्रीमान् यज्ञपुर के अग्रणी (शार्ङ्गदेव) आश्रावणाम् आह आश्रावणा को कहते हैं।

(सर०) विदारियों के बारे में ग्रन्थकार ने तीन मत दिये हैं। पहले में ७, दूसरे में ३ और तीसरे में भिन्न कलाविधि से ३ विदारियाँ कही गई हैं।

यह आश्रावणा है।

(आरम्भविधिः)

स्युरारोहावरोहाभ्यां युक्ता विस्तारधातुजाः।
भेदास्तलेन रिभितह्रादाभ्यां मिश्रिताः क्रमात्॥ २००॥

ततः करणभेदं द्विस्त्रिर्वाभ्यस्य विलीनवत्।
बहुलेन प्रयुक्ते चैकविस्तारे पुनस्तथा॥ २०१॥

द्विरभ्यस्येदेवमेव करणस्य भिदाः पराः।
यत्रारम्भविधिः स स्यात्,

२—आरंभविधि

२००-२०२ ग. (अ०) आरोह-अवरोहाभ्यां युक्ताः आरोह और अवरोह से युक्त विस्तारधातुजाः भेदाः विस्तार धातु से उत्पन्न भेद क्रमात् क्रम से तलेन तल (धातु) से (और) रिभितह्रादाभ्यां मिश्रिताः रिभित तथा ह्राद से मिश्रित स्युः होते हैं। ततः उसके बाद करणभेदं करण (धातु) का (कोई एक) भेद द्विः त्रिः वा अभ्यस्य दो या तीन बार आवृत्त करके

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

विलीनवत् (परस्पर) विलीन होते हुए से, पुनः फिर बहुलेन बहुलता से एकविस्तारे प्रयुक्ते एकविस्तार (धातु को) प्रयुक्त करने पर तथा और करणस्य पराः भिदाः करण के दूसरे भेद यत्र जहाँ एवम्-एव इसी तरह द्विः अभ्यस्येत् दो बार प्रयुक्त हों सः वह आरम्भविधिः स्यात् आरंभविधि होता है।

(सर०) आरंभविधि में विस्तार धातु के भेदों का आरोही और अवरोही वर्ण में प्रयोग करते हुए उसके साथ क्रम से तल, रिभित और ह्राद भेदों का प्रयोग कहा है। क्रम का अर्थ यह है कि विस्तार धातु के भेद के साथ तल का, फिर रिभित का और फिर ह्राद का प्रयोग होता है। तल व्यंजन धातु का भेद है और रिभित तथा ह्राद करण धातु के। इसलिये आविद्ध को छोड़कर शेष तीन धातु के भेदों के मिश्रण से आरंभविधि का वादन होता है।

तल धातु में तार को बायें अँगूठे से दबाकर दाहिने अँगूठे से आघात करके स्वर उत्पन्न किया जाता है। रिभित में ।।ऽ और ह्राद में ।। ।। ।। ।। ऽ—इस क्रम से आघात होते हैं। विस्तार धातु के भेदों की विविधता के कारण उनके प्रयोग से वादन में विविधता रहती है।

शुरू में इस तरह वादन करने के बाद करण धातु के किसी एक भेद का दो या तीन बार और एकविस्तार (विस्तार धातु का पहला भेद) का बार-बार प्रयोग होता है। कल्लि० के अनुसार करण के पाँच भेदों में से किसी का भी प्रयोग होता है।

इसके बाद एकविस्तार धातु के साथ करण के शेष भेदों का प्रयोग दो-दो बार किया जाता है। कल्लि० के अनुसार करण के पराः भिदाः का यह अर्थ है कि जिस भेद का प्रयोग हो चुका हो उसे छोड़कर दूसरे भेदों का प्रयोग हो।

ना० शा० और अभि० में इस निर्गीत का नाम केवल 'आरम्भ' है, शार्ङ्ग० ने आरम्भविधि ही कहा है।

अथ तस्य ध्रुवां ब्रुवे॥ २०२॥

गुरवोऽष्टौ द्वादशाथ लघवः पञ्च गा इति।
पञ्चविंशत्यक्षरं स्यादाद्यखण्डं ततः परम्॥ २०३॥

लघवोऽष्टौ गुरुर्लाश्च चत्वारो गश्चतुर्लघुः।
गश्चेत्येकोनविंशत्या वर्णैः खण्डं द्वितीयकम्॥ २०४॥

यस्यास्तृतीयखण्डेऽष्टौ ला गोऽन्ते स्याद् ध्रुवात्र सा।

२०२ घ-२०५ ख. (अ०) अथ अब तस्य ध्रुवाम् उसकी ध्रवा को ब्रुवे कहता हूँ। अष्टौगुरवः आठ गुरु, अथ इसके बाद द्वादश लघवः बारह लघु, पञ्च गाः पाँच गुरु इति यों पञ्चविंशति-अक्षरं पच्चीस अक्षर वाला आद्यखण्डं पहला खण्ड स्यात् होता है। ततः परम् उसके बाद अष्टौ लघवः आठ लघु, गुरुः (एक) गुरु चत्वारः लाः च और चार लघु गः च और (एक) गुरु इति इस प्रकार एकविंशत्या वर्णैः इक्कीस अक्षरों से द्वितीयकं खण्डं दूसरा खण्ड (होता है)। यस्याः जिसके तृतीये खण्डे तीसरे खण्ड में अष्टौ लाः आठ लघु (और) अन्ते अन्त में गः स्यात् गुरु होता है अत्र यहाँ सा ध्रुवा वह ध्रुवा है।

(सर०) इसकी ध्रुवा में कुल ५३ वर्ण हैं और तीन खण्ड हैं। पहले खण्ड में २५, दूसरे में १९ और तीसरें में ९ वर्ण हैं। पहले खण्ड में शुरू के ८ और अन्त के ५ गुरु और बीच के १२ लघु होते हैं। दूसरे खण्ड में नवें, चौदहवें और उन्नीसवें गुरु और शेष लघु होते हैं। तीसरे खण्ड में अन्तिम गुरु और बाक़ी लघु होते हैं।

इसका प्रस्तार यों होगा—

पहला खण्ड

१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६	१७	१८	१९	२०	२१	२२	२३	२४	२५
ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	।	।	।	।	।	।	।	।	।	।	।	।	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

दूसरा खण्ड	१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६	१७	१८	१९
	।	।	।	।	।	।	।	।	ऽ	।	।	।	।	ऽ	।	।	।	।	ऽ

तीसरा खण्ड	१	२	३	४	५	६	७	८	९
	।	।	।	।	।	।	।	।	ऽ

भरतोक्त ध्रुवा में २१, १८, १३ वर्णों के तीन खण्डों में कुल ५२ वर्ण हैं (२९/८९-९०)। प्रस्तार यह होगा—

१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६	१७	१८	१९	२०	२१
ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	।	।	।	।	।	।	।	ऽ	।	।	।	।	ऽ

१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६	१७	१८
ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	।	।	।	।	।	।	।	।	ऽ	।	।	।	।	ऽ

१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	११	१२	१३
ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	।	।	।	।	।	।	।	।	ऽ

एकविंशे गुरौ कार्या विश्रान्तिः पूर्वखण्डके॥ २०५॥

द्वितीयखण्डे विश्राम्येद् गुरौ वर्णे चतुर्दशे।
स्याद् द्वादशकलं खण्डमाद्यमन्यत्तु षट्कलम्॥ २०६॥

चतुष्कलं तृतीयं स्यात्,

२०५ ग-२०७ क. (अ०) पूर्वखण्डके पहले खण्ड में एकविंशे गुरौ इक्कीसवें गुरु पर विश्रान्तिः कार्या विश्रान्ति करनी चाहिये। द्वितीयखण्डे दूसरे खण्ड में चतुर्दशे गुरौ वर्णे चौदहवें गुरु वर्ण पर विश्राम्येत् विश्राम करना चाहिये। आद्यं खण्डं पहला खण्ड द्वादशकलं स्यात् बारह कला वाला होता है। अन्यत् तु दूसरा तो षट्कलं छ कला वाला (और) तृतीयं तीसरा चतुष्कलं स्यात् चार कला वाला होता है।

(सर०) अक्षरों के आधार पर खण्ड बताने के बाद यहाँ दो बातें बताई गईं हैं—१. उन खण्डों में विराम कहाँ होगा और २. उन खण्डों में ताल की कलाएँ कितनी होंगी।

पहले खण्ड में विराम २१वें वर्ण पर और दूसरे में १४वें वर्ण पर कहा है। विश्रान्ति का अर्थ ग्रन्थकार या टीकाकारों ने नहीं बताया। लेकिन ना०शा० के २९/८९-९० की टीका के अन्त में (पृ० १०८) अभिनव ने जो स्पष्टीकरण दिया है उसके आधार पर यह समझा जा सकता है कि जिन वर्णों पर विश्रान्ति कही है वहाँ गायन रुक जायगा, ताल चलता रहेगा। वर्तमान उत्तर भारतीय संगीत में 'दम देना' इसके ठीक समकक्ष है। जितना दम देना हो उतनी देर गायन-वादन रुक जाता है और ताल चलता रहता है।

ध्रुवा के तीन खण्डों में ताल की कलाओं की नियत संख्या वाले खण्डों का संबन्ध इस तरह समझना चाहिये। ध्रुवा और ताल दोनों में ३-३ खण्ड हैं। भरत की ध्रुवा के पहले और दूसरे खण्ड की कलाएँ मिला कर ३९ अक्षरों में से २५ में ताल का पहला खण्ड १२ कलाओं से, शेष १४ वर्णों में ६ ताल कला से दूसरा खण्ड और ताल की ४ कलाओं से तीसरा खण्ड होगा। अन्तिम खण्ड में भरत की ध्रुवा के १३ वर्ण होंगे और शार्ङ्ग० के १४ वर्ण। इस तरह ध्रुवा के खण्ड २५, १९, ९ वर्णों के होंगे और ताल के खण्ड उनमें से २५, १४, १४ वर्णों के। यानी ताल और ध्रुवा के खण्ड अलग हैं।

अथ तालोऽत्र कथ्यते।

२०७ ख. (अ०) अथ अब अत्र यहाँ तालः कथ्यते ताल कहते हैं।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(सर०) ऊपर कहे गये ध्रुवा और ताल के ३-३ खण्डों की अब तालयोजना दी जा रही है।

तालत्रयं च शम्यैका तालौ द्वौ शम्ययोर्द्वयम्॥ २०७॥

द्वौ तालौ संनिपातौ द्वावित्याद्ये शकले कलाः।
यथाक्षरस्योत्तरस्य क्रमाच्चच्चत्पुटस्य च॥ २०८॥

कला भवन्ति शकले द्वितीये च तृतीयके।

इत्यारम्भंविधिः

२०७ ग-२०९ ख. (अ०) तालत्रयं ताल तीन (बार) शम्या एका च और शम्या एक (बार), तालौ द्वौ ताल दो (बार), शम्ययोः द्वयं शम्याओं का दो का समूह (२ बार), तालौ द्वौ ताल दो (बार), संनिपातौ द्वौ संनिपात दो (बार) इति ये आद्ये शकले पहले खण्ड में कलाः क्रियाएँ (होती हैं)। द्वितीये च तृतीयके शकले दूसरे और तीसरे खण्ड में क्रमात् क्रम से यथाक्षरस्य उत्तरस्य यथाक्षर उत्तर की चच्चत्पुटस्य च और चच्चत्पुट की कलाः भवन्ति क्रियाएँ होती हैं।

(सर०) ताल के खण्डों में क्रियाओं का यह क्रम है—

पहला खण्ड	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ
	ता	ता	ता	श	ता	ता	श	श	ता	ता	सं	सं
दूसरा खण्ड	ऽ॑	।	ऽ	ऽ	।	ऽ॑						
	सं	ता	श	ता	श	ता						
तीसरा खण्ड	ऽ	ऽ	।	ऽ॑								
	सं	श	ता	श								

ताल की एक कला (गुरु) में ध्रुवा के चार अक्षरों का संयोजन किया जाता है। अक्षर केवल लघु या लघु-गुरु मिश्रित हो सकते हैं। ताल के ३ खण्डों में ध्रुवा, ताल कलाओं और क्रियाओं का संयोजन इस प्रकार हो सकता है—

पहला शकल (खण्ड)

वर्ण संख्या	१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६	१७	१८	१९	२०
ध्रुवा	ऽ,	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	।	।	।	।	।	।	।	।	।	।	।	।
तालकला	ऽ		ऽ		ऽ		ऽ		ऽ				ऽ				ऽ			
क्रिया	ता		ता		ता		श		ता				ता				श			
	२१				२२		२३		२४.		२५									
	ऽ		विश्रान्ति		ऽ		ऽ		ऽ		ऽ		विश्रान्ति							
	ऽ		ऽ		ऽ				ऽ				ऽ							
	श		ता		ता				सं				सं							

दूसरा शकल

वर्ण संख्या	१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	११	१२	१३	१४		
ध्रुवा	।	।	।	।	।	।	।	।	ऽ	।	।	।	।	ऽ	विश्रान्ति	
तालकला	ऽ॑						।		ऽ			ऽ			।	ऽ॑
क्रिया	सं						ता		श			ता			श	ता

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

तीसरा शकल

वर्ण संख्या	१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	११	१२	१३	१४
ध्रुवा	।	।	।	।	ऽ	।	।	।	।	।	।	।	।	ऽ
ताल कला	ऽ				ऽ			।		ऽ				
क्रिया	सं				श			ता		श				

यह आरंभविधि है।

(वक्त्रपाणिः)

बहुलाविद्धकरणः स्तोकव्यञ्जनधातुकः॥ २०९॥
विस्तारधातुना हीनो वक्त्रपाणिः प्रकीर्तितः।

३—वक्त्रपाणि

२०९ ग-२१० ख. (अ०) बहुल-आविद्धकरणः आविद्ध और करण धातु बहुल, स्तोकव्यञ्जनधातुकः अल्प व्यंजन धातु (और) विस्तारधातुना हीनः विस्तार धातु के बिना वक्त्रपाणिः प्रकीर्तितः वक्त्रपाणि कहा गया है।

(सर०) विस्तार धातु में मन्द्र-तार स्वरों की प्रधानता होती है। सामान्य रूप से मन्द्र-तार को स्थानों के रूप में समझा जाता है लेकिन विस्तार धातु के प्रसंग में यह कहा जा चुका है कि इनका अर्थ नीचे-ऊपर भी हो सकता है। यहाँ विस्तार धातु को स्थान के अर्थ में समझना होगा यानी वक्त्रपाणि में बार-बार स्थानभेद पर आधारित स्वरों का प्रयोग नहीं होता। भरत ने विस्तार धातु का निषेध नहीं किया है।

मुखप्रतिमुखे स्यातां तालाङ्गे द्वे च नाथवा॥ २१०॥
प्रवृत्तं चैककं वर्णाङ्गम्,

२१० ग-२११ क. (अ) मुखप्रतिमुखे मुख और प्रतिमुख द्वे च तालाङ्गे ये दो तालांग स्यातां होते हैं अथवा न या नहीं (होते)। अत्र यहाँ (इनमें) प्रवृत्तं च एककं प्रवृत्त और एकक वर्णाङ्गं वर्णांग (होते हैं)।

(सर०) मुख-प्रतिमुख और एकक-प्रवृत्त गीतकों के अन्तर्गत कहे जा चुके हैं। मुख और प्रतिमुख के लिए ग्रन्थकार ने जो विकल्प दिया है वह शायद किसी अन्य मत पर आधारित है क्योंकि शार्ङ्ग० ने स्वयं इनके आधार पर ही कलाविधि दी है। भरत, अभिनव या कुम्भा ने ऐसा विकल्प नहीं दिया।

अभि० के अनुसार एकक और प्रवृत्त में से किसी एक वर्णांग का प्रयोग वक्त्रपाणि में होता है (ना०शा०, २९/२७ पर अभि०, पृ० ११२)।

अथ ब्रुवे ध्रुवाम्।
गुरवः पञ्च लाः षट् च गुरवः षड् लघुद्वयम्॥ २११॥

चत्वारो गास्तथा लाः स्युस्त्रयो गा लघवोऽष्ट च।
यत्र स्याद् गुरुरन्ते सा वक्त्रपाणौ ध्रुवा भवेत्॥ २१२॥

२११ ख-२१२. (अ०) अथ अब ध्रुवां ब्रुवे ध्रुवा को कहता हूँ। यत्र जहाँ पञ्च गुरवः पाँच गुरु षट् च लः और छ लघु, षट् गुरवः छ गुरु, लघुद्वयं दो लघु, चत्वारः गाः चार गुरु तथा और लाः स्युः तीन लघु होते हैं, त्रयः गाः तीन गुरु अष्ट च

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

लघवः और आठ लघु (तथा) अन्ते अन्त में गुरुः स्यात् गुरु होता है सा वह वक्त्रपाणौ वक्त्रपाणि में ध्रुवा भवेत् ध्रुवा होती है।

या मात्रा वस्तुनोऽन्त्या स्याद् द्विकले मद्रके स्थिता।
तस्यास्तालोऽत्र कर्तव्यः कलास्वष्टासु तन्मुखम्॥ २१३॥

२१३. (अ०) द्विकले मद्रके स्थिता द्विकल मद्रक में स्थित वस्तुनः वस्तु की या जो अन्त्या मात्रा स्यात् अन्तिम मात्रा होती है तस्याः तालः उसका ताल अत्र यहाँ अष्टासु कलासु आठ कलाओं में कर्तव्यः करना चाहिए। तत् मुखं वह मुख (है)।

(सर०) द्विकल मद्रक की ८ कला वाली अन्तिम मात्रा में शताताशताश तासं क्रियाएँ कही गई हैं। उन्हीं का प्रयोग वक्त्रपाणि की मुख नाम वाली शुरू की ८ कलाओं में होगा।

अथ प्रतिमुखं कार्यं चतुरावृत्तियोगिना।
उत्तरेणापरेत्याहुः पूर्वोक्तो यः कलाष्टकः॥ २१४॥

सोऽत्र कार्यस्त्रिरावृत्तो मात्रया तु विदारिका।

इति वक्त्रपाणिः

२१४-२१५ ख. (अ०) अथ अब चतुः-आवृत्तियोगिना उत्तरेण चार आवृत्तियों से युक्त उत्तर (ताल) से प्रतिमुखं कार्यं प्रतिमुख करना चाहिए। अपरे अन्य आचार्य इति आहुः ऐसा कहते हैं (कि) यः कला-अष्टकः जो कलाओं का आठ का समूह पूर्व-उक्तः पहले कहा गया सः वह अत्र यहाँ त्रिः आवृत्तः कार्यः तीन बार आवृत्त करना चाहिए। मात्रया तु एक मात्रा से तो विदारिका विदारी (होती है)।

(सर०) अपरे इति आहुः का अर्थ दोनों टीकाकारों ने अलग-अलग तरह से किया है। सिंह० ने इसे दूसरी विधि के साथ जोड़ कर पहले मत को ग्रन्थकार का स्वमत और दूसरे को परमत समझा है। लेकिन कल्लि० ने पहली विधि को मतान्तर और दूसरी को ग्रन्थकार का स्वमत कहा है। अभि० से सिंह० की ही पुष्टि होती है। यों भी ग्रन्थकार ने प्रायः स्वमत का निरूपण पहले करके उसके बाद ही अन्य मत की चर्चा की है।

प्रतिमुख में यथाक्षर उत्तर ताल चार बार प्रयुक्त होता है यानी संताशताशता क्रियाएँ २४ कलाओं में ४ बार की जायँगी। अन्य मत से मुख की ही क्रियाओं का तीन बार प्रयोग होगा। एक मात्रा की विदारी होने का अर्थ यह है कि २४ कलाओं में ८-८ कला के ३ खण्ड होंगे।

३९ वर्णों की एक खण्ड वाली ध्रुवा में २० वर्णों से मुख होगा। उक्त लक्षण के आधार पर प्रतिमुख में उत्तर ताल की ४ आवृत्ति होती हैं लेकिन ध्रुवा में १९ ही वर्ण प्रतिमुख के लिए बचते हैं। इसलिए १८ वर्णों में उत्तर का एक बार प्रयोग होने के बाद गान के बिना सिर्फ़ वादन के साथ उत्तर की तीन आवृत्ति और होंगी।

प्रस्तार—

मुख

वर्ण संख्या	१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६	१७	१८	१९	२०
ध्रुवा	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	।	।	।	।	।	।	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	।	।	ऽ
तालकला	ऽ		ऽ		ऽ			ऽ				ऽ		ऽ		ऽ		ऽ		
क्रिया	श		ता		ता			श				ता		श		ता		सं		

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

प्रतिमुख

वर्ण संख्या	२१	२२	२३	२४	२५	२६	२७	२८	२९	३०	३१	३२	३३	३४	३५	३६	३७	३८
ध्रुवा	ऽ	ऽ	ऽ	।	।	।	।	ऽ	ऽ	ऽ	।	।	।	।	।	।	।	।
तालकला	ऽे			।		ऽ			ऽ		।		ऽे					
क्रिया	सं			ता		श			ता		श		ता					

वर्ण संख्या	३९																	
ध्रुवा	ऽ																	
तालकला	ऽे	।	ऽ	ऽ	।	ऽे	ऽे	।	ऽ	ऽ	।	ऽे	ऽे	।	ऽ	ऽ	।	ऽे
क्रिया	सं	ता	श	ता	श	ता	सं	ता	श	ता	श	ता	सं	ता	श	ता	श	ता

प्रतिमुख में उत्तर का पहली बार प्रयोग होने पर ध्रुवा का ३९वाँ वर्ण उससे बाहर हो जाता है। सम्भवतः वहीं से उत्तर की तीन आवृत्ति होंगी। इसी के अनुसार प्रस्तार में ३९ वें वर्ण से उत्तर की पहली आवृत्ति दिखाई है।

यह वक्त्रपाणि है

(संखोटना)

अङ्गुष्ठाभ्यां च तर्जन्या तन्त्रीं निष्पीड्य वादयन्॥ २१५॥

बिन्दु मिथो मेलयेत वादिसंवादिनौ स्वरौ।
बहुधा तद् गुणत्वेन प्रयुञ्जीतानुवादिनः॥ २१६॥

विवादिनोऽल्पकान् कुर्याद् विस्तारस्य भिदास्तथा।
धात्वन्तरैर्मिश्रयित्वाभ्यस्येद् द्विस्त्रिः पृथक्ततः॥ २१७॥

केवलास्ताः प्रयुज्य द्विस्तासु मग्नानिवापरान्।
धातून्यत्र प्रयुञ्जीत प्राहुः संखोटनाममूम्॥ २१८॥

४—संखोटना

२१५ ग-२१८. (अ०) अङ्गुष्ठाभ्यां तर्जन्या च अँगूठों और तर्जनी से तन्त्रीं निष्पीड्य तार को दबा कर बिन्दुं वादयन् बिन्दु (धातु) को बजाते हुए वादिसंवादिनौ स्वरौ वादी और संवादी स्वर मिथः मेलयेत परस्पर मिलाने चाहियें। तत् गुणत्वेन उससे गौण रूप में (कम मात्रा में) अनुवादिनः अनुवादी स्वर बहुधा प्रयुञ्जीत बहुत बार प्रयुक्त करें। विवादिनः विवादी (स्वर) अल्पकान् कुर्यात् अल्प (रूप में प्रयोग) करने चाहियें। तथा फिर विस्तारस्य भिदाः विस्तार (धातु) के भेद धात्वन्तरैः मिश्रयित्वा दूसरी धातुओं के साथ मिला कर द्विः त्रिः दो (या) तीन बार पृथक् अभ्यस्येत् अलग-अलग प्रयुक्त करने चाहियें। ततः उसके बाद केवलाः ताः केवल वे (विस्तार भेद) द्विः प्रयुज्य दो बार प्रयोग करके तासु उन (विस्तार भेदों) में अपरान् धातून् अन्य धातुओं को मग्नान् इव लीन हुआ सा यत्र प्रयुञ्जीत जहाँ प्रयुक्त किया जाता है अमूम् इसे संखोटनां प्राहुः संखोटना कहते हैं।

(सर०) व्यंजन धातु के बिन्दु नामक भेद का लक्षण एक तार पर बुलन्द नाद है। यहाँ बिन्दु के वादन की विधि बताई है। इसके अनुसार दोनों अँगूठों और एक हाथ की तर्जनी से तार को दबाकर गुरु नाद उत्पन्न किया जाना चाहिये।

बिन्दु का प्रयोग वादी-संवादी स्वरों को एकसाथ उत्पन्न करने के लिए होगा। संवादी से कम मात्रा में अनुवादी का और अल्प मात्रा में विवादी का प्रयोग भी कहा है। कल्लि० ने कहा कि अनभ्यास या लंघन से अल्पत्व करना चाहिये।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

धातु प्रयोग के यहाँ चार चरण हैं—१. सबसे पहले बिन्दु धातु, २. उसके बाद विस्तार के भेदों का करण आदि के भेदों से मिश्रण करके २ या ३ बार, ३. फिर सिर्फ़ विस्तार धातु का दो बार और ४. विस्तार के भेदों में दूसरी धातुओं को लीन करता हुआ सा प्रयोग। विस्तार धातु के साथ किन धातुओं का मिश्रण हो, यह ग्रन्थकार ने नहीं कहा। ना०शा० (२९/१०४) में विस्तार भेदों के साथ करण भेदों का २-३ बार प्रयोग कहा। अभिनव ने 'तुल्य' यानी समान मिश्रण कहा जो दूसरे चरण के लिये है। भरत का 'उपचययुक्तैः द्विः अभ्यस्तैः' चौथे चरण से संबद्ध है और उसमें विस्तार का 'उपचय' यानी प्राधान्य होता है।

गुरू द्वौ लघवोऽष्टौ च द्वौ गुरू च लघुर्गुरुः।
यत्र द्वादश लाः गोऽन्ते सा स्यात् संखोटना ध्रुवा॥ २१९॥

२१९. (अ०) यत्र जहाँ द्वौ गुरू दो गुरु अष्टौ च लघवः और आठ लघु, द्वौ गुरू दो गुरु, लघुः गुरुः च एक लघु और एक गुरु, द्वादश लाः बारह लघु (और) अन्ते गः अन्त में गुरु (हो) सा वह संखोटना ध्रुवा स्यात् संखोटना (की) ध्रुवा होती है।

(सर०) २७ कला वाली यह ध्रुवा इस प्रकार है—

१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६	१७	१८	१९	२०	२१	२२
ऽ	ऽ	।	।	।	।	।	।	।	।	ऽ	ऽ	।	ऽ	।	।	।	।	।	।	।	।

२३	२४	२५	२६	२७
।	।	।	।	ऽ

यथाक्षर द्विकलयोः स्युरत्रोत्तरयोः कलाः।
नात्र संख्या विदारीणां भणिता भरतादिभिः॥ २२०॥

इति संखोटना

२२०. (अ०) अत्र इसमें यथाक्षरद्विकलयोः उत्तरयोः यथाक्षर और द्विकल उत्तर से कलाः स्युः कलाएँ होती हैं। अत्र इसमें भरत-आदिभिः भरत आदि के द्वारा विदारीणां संख्या विदारियों की संख्या न भणिता नहीं कही गई।

(सर०) इसकी कलाविधि यह होगी—

ऽ	।	ऽ	ऽ	।	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ
सं	ता	श	ता	श	ता	नि	प्र	ता	श	नि	ता	नि	श	ता	प्र	नि	सं

आश्रावणा, आरंभविधि और वक्त्रपाणि में ध्रुवा और ताल में जैसा सामंजस्य है वैसा संखोटना में नहीं समझ में आता इसलिए लक्षण के आधार पर प्रस्तार बनाना सम्भव नहीं है।

यह संखोटना है।

(परिघट्टना)

भेदा व्यञ्जनधातूत्था भेदैः करणधातुजैः।
चित्रिता ललिताः स्निग्धा क्रियन्ते करलाघवात्॥ २२१॥

आरोहबहुला यस्यां तामाहुः परिघट्टनाम्।

५—परिघट्टना

२२१-२२२ ख. (अ०) यस्यां जिसमें व्यञ्जनधातु-उत्थाः भेदाः व्यंजन धातु से उत्पन्न भेद करणधातुजैः भेदैः करण धातु से उत्पन्न भेदों के साथ चित्रिताः चित्रित किए हुए (विविधता लाते हुए) स्निग्धाः कोमल, आरोहबहुला : आरोह की बहुलता

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

वाले (और) करलाघवात् हल्के प्रहारों से ललिताः सुकुमार (ललिता जाति में) क्रियन्ते किए जाते हैं ताम् उसे परिघट्टनाम् आहुः परिघट्टना कहते हैं।

(सर०) परिघट्टना में व्यंजन धातु की प्रधानता होती है जिनके साथ करण भेदों का मिश्रण होता हैं। हल्के प्रहारों से आरोही वर्ण की प्रधानता वाले स्वर कोमलता से उत्पन्न करते हुए ललिता जाति के अनुरूप सुकुमार वादन किया जाता है।

गुरूण्यष्टौ च लघवः स्युश्चतुर्विंशतिर्गुरू॥ २२२॥

द्वौ षोडश लघून्यन्ते गुरुर्यत्र ध्रुवाऽत्र सा।

२२२ ग-२२३ ख. (अ०) यत्र जहाँ अष्टौ गुरूणि आठ गुरु चतुर्विंशति लघवः च और चौबीस लघु, द्वौ गुरू दो गुरु, षोडश लघूनि सोलह लघु (और) अन्ते अन्त में गुरुः स्युः गुरु (इस प्रकार) होते हैं अत्र यहाँ (परिघट्टना में) सा ध्रुवा वह ध्रुवा (होती है)।

(सर०) ५१ कला वाली बड़ी ध्रुवा है जिसमें खण्ड नहीं है। स्वरूप यह है—

१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६	१७
ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	।	।	।	।	।	।	।	।	।

१८	१९	२०	२१	२२	२३	२४	२५	२६	२७	२८	२९	३०	३१	३२	३३	३४
।	।	।	।	।	।	।	।	।	।	।	।	।	।	।	ऽ	ऽ

३५	३६	३७	३८	३९	४०	४१	४२	४३	४४	४५	४६	४७	४८	४९	५०	५१
।	।	।	।	।	।	।	।	।	।	।	।	।	।	।	।	ऽ

संपक्वेष्टाकवद् यद्वा स्युः संपिष्टकवत् कलाः॥ २२३॥

संपिष्टके कलाः प्रोक्ता दश द्वादश वा पुरा।
संपिष्टककलास्त्वत्र द्वादशैवेति संमतम्॥ २२४॥

द्वादशानां दशानां च प्राहुरन्ये समुच्चयम्।
संपक्वेष्टाकतालं च द्विकलीकृत्य केचन॥ २२५॥

तद्द्वादशकला तालयोगमत्र प्रचक्षते।
यथाक्षरद्विकलयोः संपक्वेष्टाकयोरिह॥ २२६॥

अष्टादश कलाः केचिदाचक्षत समुच्चिताः।

इति परिघट्टना

२२३ ग-२२७ ख. (अ०) संपक्वेष्टाकवत् संपक्वेष्टाक के समान यत् वा संपिष्टकवत् अथवा संपिष्टक की तरह कलाः क्रियाएँ स्युः होती हैं। संपिष्टके संपिष्टक में पुरा पहले (तालाध्याय में) दश द्वादश वा दस या बारह कलाः प्रोक्ताः कलाएँ कही गईं। अत्र यहाँ संपिष्टक कलाः तु संपिष्टक की कलाएँ तो द्वादश एव बारह ही (हैं) इति संमतम् ऐसा माना गया (है)। अन्ये अन्य आचार्य द्वादशानां दशानां च बारह और दस का समुच्चयम् आहुः समूह कहते हैं। केचन कुछ आचार्य संपक्वेष्टाकतालं च संपक्वेष्टाक ताल को ही द्विकलीकृत्य द्विकल बनाकर तत् द्वादशकला तालयोगं वह बारह कला वाला ताल का योग अत्र प्रचक्षते यहाँ कहते हैं। केचित् कोई आचार्य इह यहाँ यथाक्षरद्विकलयोः संपक्वेष्टाकयोः यथाक्षर और द्विकल संपक्वेष्टाक की अष्टादश कलाः अठारह कलाएँ समुच्चिताः संयुक्त की हुई आचक्षते कहते हैं।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

(सर०) तालविधि में तीन मत हैं। एक के अनुसार संपक्वेष्टाक ताल होता है और दूसरे में संपिष्टक जैसा। शार्ङ्ग० को संपिष्टक वाला मान्य है। संपक्वेष्टाक का रूप यह है— ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ । संपिष्टक ओवेणक गीतक का तालांग है।
ता श ता श ता
७ अंग वाले संपिष्टक में १२ कला का और १२ अंग वाले में १० कला का ताल होता है। शार्ङ्ग० का संमत १० कला वाला ताल है।

तीसरे मत के अनुसार संपिष्टक के १२ और १० कला वाले दोनों प्रकारों को मिलाकर यानी २२ कला वाला प्रयोग कहा गया है।

संपक्वेष्टाक ताल के प्रयोग से संबन्धित भी ३ मत ग्रन्थकार ने दिये हैं। एक में संपक्वेष्टाक की ही क्रियाएँ होती हैं। दूसरे में द्विकल यानी १२ कला वाले संपक्वेष्टाक का और तीसरे मत में यथाक्षर और द्विकल संपक्वेष्टाक का यानी १८ कलाओं में प्रयोग होता है।

यह परिघट्टना है।

(मार्गासारितम्)

विस्ताराविद्धकरणभेदमिश्रप्रयोगतः॥ २२७॥

यथा कलतलाख्याभ्यां मार्गासारितकं भवेत्।
अन्ये कलतलोन्मिश्रकरणं लक्ष्म चक्ष्महे।। २२८॥

६—मार्गासारित

२२७ ग-२२८. (अ०) विस्तार-आविद्धकरणभेदमिश्रप्रयोगतः विस्तार, आविद्ध, करण (धातुओं) के भेदों के मिश्र प्रयोग से तथा और कलतल-आख्याभ्यां (व्यंजन धातु के) कल और तल नामक भेदों से मार्गासारितकं भवेत् मार्गासारित होता है। अन्ये अन्य आचार्य कलतल-उन्मिश्रकरणं कल, तल और करण का मिश्रण लक्ष्म चक्ष्महे लक्षण कहते हैं।

(सर०) धातु प्रयोग के बारे में दो मत दिये गये हैं। एक में कल और तल के साथ विस्तार आदि शेष तीनों धातुओं के भेदों का मिश्रण किया जाता है। अन्य मत में सिर्फ़ करण धातु का मिश्रण किया जाता है।

गाश्चत्वारो लघून्यष्टौ गौ द्वावष्टौ लघून्यथ।
गौल इत्याद्यखण्डं स्यादेवं खण्डद्वयं परम्॥ २२९॥

यस्यामसौ ध्रुवा ज्ञेया मार्गासारितसंश्रया।

२२९-२३० ख. (अ०) चत्वारः गाः चार गुरु, अष्टौ लघूनि आठ लघु, द्वौ गौ दो गुरु, अष्टौ लघूनि आठ लघु, अथ इसके बाद गौ लः दो गुरु, एक लघु इति ऐसा आद्यखण्डं स्यात् पहला खण्ड होता है एवं परं खण्डद्वयम् (और) ऐसे ही अन्य दो खण्ड यस्यां जिसमें (होते हैं) असौ यह मार्गासारितसंश्रया मार्गासारित के संश्रित ध्रुवा ज्ञेया ध्रुवा जानी गई (है)।

(सर०) इसके अनुसार ध्रुवा में २५-२५ अक्षर वाले ३ एक से खण्ड हैं। स्वरूप यह होगा—

१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६	१७	१८	१९	२०	२१	२२	२३	२४	२५
ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	।	।	।	।	।	।	।	।	ऽ	ऽ	।	।	।	।	।	।	।	।	ऽ	ऽ	।

एकं चच्चत्पुटे खण्डमुत्तरे शकलद्वयम्॥ २३०॥

कनिष्ठासारितोक्तेन कार्यस्तालकलाविधिः।

इति मार्गासारितम्

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

२३० ग-२३१ ख. (अ०) एकं खण्डं चच्चत्पुटे एक खण्ड चच्चत्पुट में, शकलद्वयम् उत्तरे दो खण्ड उत्तर में कनिष्ठासारित-उक्तेन कनिष्ठासारित में कही गई तालकलाविधिः कार्यः ताल की कलाविधि करनी चाहिये।

(सर०) इसमें कनिष्ठासारित की कलाविधि कही है। कनिष्ठासारित की १७ कलाओं में चच्चत्पुट और फिर दो बार पंचपाणि और अन्त में संनिपात इस तरह क्रियाएँ होती हैं। यथा—

ऽ	ऽ	।	ऽ	ऽ	।	ऽ	ऽ	।	ऽ	ऽ	।	ऽ	ऽ	।	ऽ	ऽ
श	ता	श	ता	सं	ता	श	ता	श	ता	सं	ता	श	ता	श	ता	सं

मार्गासारित की ध्रुवा में २५-२५ अक्षर वाले ३ खण्ड हैं। पहले खण्ड में चच्चत्पुट और शेष दो में उत्तर ताल के प्रयोग में ध्रुवा और ताल का सामंजस्य कैसे होगा, यह प्रश्न ही है।

यह मार्गासारित है।

(लीलाकृतम्)

प्रयोगोऽभिसृतस्य स्यात् तथा परिसृतस्य चेत्॥ २३१॥

तथा लयान्तरगतो वाद्यतालकलाविधौ।
माधुर्यं सौकुमार्यं च तदा लीलाकृतं भवेत्॥ २३२॥

७—लीलाकृत

२३१ ग-२३२. (अ०) अभिसृतस्य तथा परिसृतस्य चेत् यदि अभिसृत और परिसृत का तथा लयान्तरगतः और लयान्तरगत वाद्यतालकलाविधौ वाद्य और ताल की कलाविधि में माधुर्यं सौकुमार्यं च मधुर और सुकुमार प्रयोगः स्यात् प्रयोग होता है तदा तब लीलाकृतं भवेत् लीलाकृत होता है।

(सर०) लीलाकृत में अभिसृत, परिसृत और लयान्तर का प्रयोग कहा है। ये तीनों आसारित गीतक से ही संबद्ध हैं जैसा कि ग्रन्थकार द्वारा अगले श्लोकों में कहा गया है। लयान्तर का निरूपण तालाध्याय में हो चुका है लेकिन शेष दो की गीतकों में चर्चा नहीं है। दूसरे निर्गीतों की तरह लीलाकृत की ध्रुवा या वाद्य नहीं बताया गया है।

षड्जग्रामस्थजात्यंशे यद्गीतं वार्तिके पथि।
आसारितं तदेवोक्तं धीरैरभिसृताह्वयम्॥ २३३॥

जात्यंशे मध्यमग्रामसंस्थे परिसृतं त्विदम्।

२३३-२३४ ख. (अ०) षड्जग्रामस्थजाति-अंशे षड्जग्राम की जाति के अंश में वार्तिके पथि वार्तिक मार्ग में यत् आसारितं गीतं जो आसारित गीत (होता है) तत् एव वही धीरैः धैर्यवानों के द्वारा अभिसृत-आह्वयम् अभिसृत नाम वाला उक्तं कहा गया (है)। इदं तु यह तो मध्यमग्रामसंस्थे मध्यम ग्राम में स्थित जाति-अंशे जाति के अंश में (प्रयुक्त) होने पर परिसृतं परिसृत (होता है)।

(सर०) आसारित गीतक षड्जग्राम की किसी जाति के अंश की स्वरावली और वार्तिक मार्ग में प्रयुक्त होने पर अभिसृत कहलाता है और मध्यमग्रामिक जाति के अंश की स्वरावली में बद्ध होने पर परिसृत कहलाता है।

अन्ये तु माषघातादिसप्ताङ्गमपरान्तकम्॥ २३४॥

ब्रुवतेऽभिसृतं तत्तु प्रदानादिनवाङ्गकम्।
प्राहुः परिसृतं मृग्यं तालाध्याये लयान्तरम्॥ २३५॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

२३४ ग-२३५. (अ०) अन्ये तु अन्य आचार्य तो माषघात-आदिसप्ताङ्गम् अपरान्तकं माषघात आदि सात अंग वाले अपरान्तक को अभिसृतं ब्रुवते अभिसृत कहते हैं। प्रदान-आदिनव-अङ्गकं प्रदान आदि नौ अंग वाला तत् तु वह (अपरान्तक) तो परिसृतं प्राहुः परिसृत कहते हैं। लयान्तरं लयान्तर तालाध्याये तालाध्याय में मृग्यं खोजना (देखना) चाहिये।

(सर०) एक अन्य मत के अनुसार माषघात आदि ७ अंगों वाला अपरान्तक अभिसृत होता है और प्रदान आदि ९ अंगों वाला परिसृत। अपरान्तक के दो भेदों में से किसी में भी प्रदान नाम से किसी अंग का उल्लेख नहीं हुआ है। टीकाकारों ने भी प्रदान का उल्लेख तो ऊपर के श्लोक की टीका में किया है लेकिन कोई स्पष्टीकरण नहीं दिया है।

गीतकत्रयसंयोगादेवं लीलाकृतं त्रिधा।

२३६ क-ख. (अ०) एवम् इस प्रकार गीतकत्रयसंयोगात् तीन गीतकों के संयोग से लीलाकृतं लीलाकृत (होता है)।

प्रयोगौ द्वौ पदैश्चान्यः सार्थकैंश्च निरर्थकैः॥ २३६॥

२३६ ग-घ. (अ०) सार्थकैः पदैः च सार्थक पदों के द्वारा अन्यः च और अन्य निरर्थकैः निरर्थक (पदों) से द्वौ प्रयोगौ दो प्रयोग (होते हैं)।

(सर०) कल्लि० ने दो प्रयोगों में अभिसृत और परिसृत को सार्थक पदों से और अन्यः से लयान्तर को तीसरा प्रयोग निरर्थक पदों से कहा है। ग्रन्थकार ने दो ही प्रयोग कहे हैं।

वीणावाद्यं मानतालयुक्तं शम्यादिवर्जितम्।
आहुरेके मानहीनमपि त्वाह विशाखिलः॥ २३७॥

ध्रुवायां तूभयस्तालः परैस्त्वनियमात्मकः।

इति लीलाकृतम्

२३७-२३८ ख. (अ०) एके एक मत में वीणावाद्यं वीणा के वाद्य को शम्या-आदिवर्जितं शम्या आदि के बिना मानतालयुक्तं (लेकिन) माप और ताल से युक्त आहुः कहते हैं। विशाखिलः तु विशाखिल ने तो मानहीनम् अपि मानरहित भी (कहा)। (अन्य मत में) ध्रुवायां तु ध्रुवा में तो उभयः तालः दोनों ताल (चतुरश्र और त्र्यश्र का प्रयोग है)। परैः तु अन्यों के द्वारा तो अनियमात्मकः नियमित स्वरूप वाला (नहीं माना जाता)।

(सर०) मान का अर्थ नियत माप समझना चाहिये। ताल से आशय लघु-गुरु आदि कलाओं की नियत संख्या वाला ताल है। शम्यादिवर्जितः यानी माप भी हो और ताल भी हो लेकिन शम्यादि क्रियाएँ न हों। ताल के बारे में यह पहला मत है। दूसरा मत विशाखिल का है जिसमें मान भी नहीं है। ये मत वीणावाद्य यानी वादन से संबन्धित हैं। ध्रुवा यानी गान में उभय ताल का अर्थ, कल्लि० के अनुसार, चतुरश्र और त्र्यश्र दोनों प्रकार के ताल का प्रयोग है। सिंह० ने कहा कि ध्रुवा में स्वेच्छा से किन्हीं दो तालों का प्रयोग करना चाहिये।

ग्रन्थकार ने लीलाकृत और आसारितत्रय की अपनी तालविधि नहीं दी है। इससे यह समझ सकते हैं कि इनमें गाये जाने वाले गीतकों की ही तालविधि इन निर्गीतों में भी होगी।

इसी तरह इन दोनों निर्गीतों की ध्रुवा और धातुएँ भी नहीं बताई गई हैं। संभवतः लीलाकृत में अभिसृत, परिसृत और लयान्तर के ही पदों वाली ध्रुवा और आसारित निर्गीत में आसारित गीतकों के ही पद प्रयुक्त होंगे तथा दोनों निर्गीतों में पदों के लघु-गुरु क्रम के अनुरूप वीणा में आघातों के द्वारा धातु प्रयोग होगा।

यह लीलाकृत है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(आसारितत्रयम्)

आसारितत्रयं पूर्वं तालाध्याये निरूपितम्॥ २३८॥
यथाक्षरं द्विसंख्यातं त्रिसंख्यातमिति त्रिधा।

८, ९, १०—तीन आसारित

२३८ ग-२३९ ख. (अ०) आसारितत्रयं तीन आसारित पूर्वं पहले तालाध्याये तालाध्याय में यथाक्षरं यथाक्षर, द्विसंख्यातं द्विसंख्यात (और) त्रिसंख्यातं त्रिसंख्यात इति यों त्रिधा निरूपितं तीन प्रकार का निरूपित किया गया (है)।

प्रत्येकं तस्य चावृत्तिवर्णालंकारशोभना॥ २३९॥

वृत्तित्रयेण वाद्यैश्च तत्त्वाद्यैः करणेन च।
धातुना चित्रिता कार्या बुधैर्वीणाविधाविह॥ २४०॥

इत्यासारितत्रयम्

इति नकुलादिपञ्चवीणालक्षणम्

२३९ ग-२४०. (अ०) बुधैः बुद्धिमानों के द्वारा इह यहाँ (आसारित निर्गीत के) वीणाविधौ वीणा वादन की विधि में तस्य प्रत्येकम् उस (यथाक्षर आदि) के हरेक की वृत्तित्रयेण (चित्रा आदि) तीन वृत्तियों से तत्त्व-आद्यैः वाद्यैः च और तत्त्व आदि वाद्यों से करणेन धातुना च और करण धातु से चित्रिता विविध की गई वर्ण-अलंकारशोभना आवृत्तिः वर्ण और अलंकारों की शोभा वाली आवृत्ति कार्या करनी चाहिये।

(सर०) आवृत्ति पर कल्लि० ने कहा कि आसारित के तीन प्रकारों में से हरेक की आवृत्ति वर्ण-अलंकार, तीन वृत्ति, तत्त्वादि तीन वाद्यों और करण धातु—इन आठ के द्वारा करनी चाहिये।

निर्गीतों के निरूपण के अन्त में इति नकुलादिपञ्चवीणालक्षणं विचारणीय है। ग्रन्थकार ने श्लोक १०९ के बाद इत्येकतन्त्रीवीणालक्षणं कह कर एकतन्त्रीगत विधि समाप्त की जिसमें एकतन्त्री की बनावट, हस्तव्यापार और उनके मेल से बनने वाले दस वाद्यों का निरूपण किया। उसके बाद श्लोक ११० से नकुल, त्रितन्त्री, चित्रा, विपंची और मत्तकोकिला का आरम्भ किया। इनके साथ करण, धातु, वृत्ति, गीतानुग वाद्य का निरूपण करके श्लोक १७६-१७७ में कहा कि इनका एकतन्त्री आदि वीणाओं में यथायोग प्रयोग करना चाहिये। इसका अभिप्राय यह है कि करण से गीतानुग वाद्य तक नकुलादि की विधि है। इस तरह एकतंत्री को अलग करके नकुल से मत्तकोकिला तक का एक अलग वर्ग बनाया।

एकतन्त्री में एक ही तार के विभिन्न स्थानों पर दबा कर भिन्न-भिन्न स्वर उत्पन्न किये जाते हैं। उससे भिन्न चित्रा आदि में हर स्वर के लिये अलग तार समझे जाते हैं। इसी वर्ग में नकुल और त्रितंत्री जैसे दो और तीन तार वाले वाद्य भी हैं। इससे यह प्रश्न खड़ा होता है कि इनमें दो और तीन स्वर ही उत्पन्न होते हों तो करण, धातु और गीतानुग वाद्यों का प्रयोग कैसे संभव होगा? संभवतः यथायोग के द्वारा यह सूचित किया गया है कि जिसमें जितना संभव हो उतना प्रयोग किया जायगा।

निर्गीतों के निरूपण में एकतंत्री का उल्लेख न होने और अन्त में 'इति नकुलादिपञ्चवीणालक्षणं' से ऐसा लगता है कि संभवतः एकतंत्री निर्गीतों के लिये विशेष उपयोगी नहीं समझी गई लेकिन उसमें यथासंभव निर्गीतों का वादन होता होगा।

ये तीन आसारित हैं।

नकुलादि पाँच वीणाओं का लक्षण समाप्त

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(आलापिनी)

आलापिनीगतं लक्ष्म वक्ष्ये लक्ष्यविदां मतम्।

७—आलापिनी

२४१ क-ख. (अ०) आलापिनीगतं लक्ष्म आलापिनी (वीणा) का लक्षण लक्ष्यविदां मतं लक्ष्य के विद्वानों के मत से वक्ष्ये कहता हूँ।

(दण्डककुभयोः लक्षणम्)

नवमुष्टिमितो दैर्घ्ये वैणवः सुषिरान्तरः॥ २४१॥

अङ्गुलद्वन्द्वपरिधिः प्राग्वद् ग्रन्थ्यादिवर्जितः।
श्लक्ष्णः समः सुवृत्तश्च दण्डः स्यात् ककुभं दधत्॥ २४२॥

अङ्गुलद्वयविस्तारमङ्गुलार्धायतं तथा।
तदर्धं पिण्डसंयुक्तमुन्मुखं पत्रिकोज्झितम्॥ २४३॥

एकदण्डमधोभागे शङ्कुना तु विराजितम्।
चतुरङ्गुलदैर्घ्येण बहिर्मध्योन्नतेन च॥ २४४॥

डाँड व ककुभ का लक्षण

२४१ ग-२४४. (अ०) वैणवः वेणु (बाँस) से बना दैर्घ्ये नवमुष्टिमितः लम्बाई में नौ मुट्ठी नाप वाला सुषिर-अन्तरः भीतर से खोखला अङ्गुलद्वन्द्वपरिधिः दो अंगुल परिधि वाला प्राक्-वत् पहले (एकतंत्री) की तरह ग्रन्थि-आदिवर्जितः गाँठ आदि से रहित, श्लक्ष्णः चिकना, समः (ऊपर से नीचे तक) एकसा सुवृत्तः च और अच्छा गोल दण्डः स्यात् दण्ड (डाँड) होता है (जो) अङ्गुलद्वयविस्तारं दो अंगुल लम्बे, अङ्गुल-अर्ध-आयतम् आधे अंगुल चौड़े तथा तत् अधर्म् और उसके आधे (अर्थात् चौथाई अंगुल) पिण्डसंयुक्तं पिण्ड से युक्त (अर्थात् मोटे) उन्मुखम् ऊपर मुँह वाले, पत्रिका-उज्झितं पत्रिका से रहित, एकदण्डं ककुभं दधत् एक डंडी वाले ककुभ को धारण करता हुआ (होता है)। (यह ककुभ) अधोभागे नीचे के भाग में चतुः अङ्गुलदैर्घ्येण चार अंगुल लम्बे बहिः मध्य-उन्नतेन च और बाहर की ओर बीच में उठे हुए शङ्कुना तु विराजितं शंकु से तो शोभित (होता है)।

(सर०) शंकु से युक्त ककुभ को धारण करने वाली डाँड यहाँ दी है।

(तुम्बलक्षणम्)

तस्य तुम्बं परीणाहे द्वादशाङ्गुलसंमितम्।
चतुरङ्गुलवक्त्रं च दन्तनाभिसमन्वितम्॥ २४५॥

अग्रादधस्तात् पादोने मुष्टियुग्मे निबध्यते।

तूँबे का लक्षण

२४५-२४६ ख. (अ०) तस्य उस (आलापिनी) का तुम्बं तूँबा परीणाहे परिधि में द्वादश-अङ्गुलसंमितं बारह अंगुल नाप वाला चतुः अङ्गुलवक्त्रं च और चार अंगुल मुँह वाला, दन्तनाभिसमन्वितं हाथी दाँत से युक्त नाभि वाला अग्रात् ऊपर (के

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

सिरे) से पाद-ऊने मुष्टियुग्मे चौथाई कम मुट्ठी के जोड़े (अर्थात् पौने दो मुट्ठी) अधस्तात् नीचे (अर्थात् छोड़ कर) निबध्यते बाँधा जाता है।

(सर०) आलापिनी में एक तूँबा डाँड के ऊपरी सिरे की ओर होता है जिसकी बनावट यहाँ दी गई है।

(तन्त्रीलक्षणम्)

अत्र मेषान्त्रतन्त्री स्यात् सूक्ष्मा श्लक्ष्णा समा दृढा॥ २४६॥

तन्त्री का लक्षण

२४६ ग-घ. (अ०) अत्र इसमें सूक्ष्मा पतली, श्लक्ष्णा चिकनी, समा एकसी (मोटाई वाली), दृढा मज़बूत मेष-आन्त्रतन्त्री बकरे की आँत की तन्त्री स्यात् होती है।

(सर०) एकवचनान्त तन्त्री से आलापिनी में एक ही तार सूचित होता है। मान० (४/१७/६६०) और सं० राज (३/१/२/२२) में भी ऐसा ही है। सं० स० सार (६/५९-६२) में तन्त्री शब्द नहीं है लेकिन विवरण से एक ही तार प्रतीत होता है।

कर्परं नारिकेलोत्थं दोरकः सारिकास्तथा।
त्रीण्येतानि न विद्यन्ते यत्र सालापिनी मता॥ २४७॥

२४७. (अ०) यत्र जहाँ (जिसमें) नारिकेल-उत्थं कर्परं नारियल से उत्पन्न खप्पर, दोरकः डोरी तथा सारिकाः और सारिकाएँ एतानि त्रीणि ये तीन न विद्यन्ते नहीं रहते सा वह आलापिनी मता आलापिनी मानी गई (है)।

(सर०) सं० र० में वाद्यों के लक्षणों में ऐसे बहुत से शब्द हैं जिनमें एक ही शब्द अलग-अलग जगह भिन्न अंगों के सूचक प्रतीत होते हैं लेकिन उनके अर्थ या अन्तर को ग्रन्थकार या टीकाकारों ने स्पष्ट नहीं किया है। दोरक और सारिका भी ऐसे शब्द हैं। इसका कारण यह हो सकता है कि उस काल में वे शब्द और अभिप्रेत अर्थ इतने स्पष्ट और प्रचलित रहे होंगे कि उन्हें बताने की ज़रूरत नहीं रही होगी।

आनन्द० और आड्० में मुद्रित पाठ निबध्यन्ते है और 'न विद्यन्ते' पाठभेद दिया गया है। मान० में स्पष्टतः कहा गया है कि आलवणी (आलापिनी) पत्रिका, दोरीबन्धन और कर्पर से रहित होती है (४/१७/६६१-६६२)। सं० राज में पाठभेद 'न बध्येंते' है लेकिन मुद्रित पाठ में 'त्रीण्येतानि निबध्यन्ते बुधैस्यां कदाचन' में 'कदाचन' 'न बध्यन्ते' की पुष्टि करता है जिसका अर्थ होगा—बुद्धिमानों के द्वारा इस (आलापिनी) में ये तीन कभी (कदाचन) नहीं बाँधे जाते। सं० र० में आलापिनी के लक्षण में दोरक, सारिका और कर्पर की बनावट या लगाने का विवरण नहीं है। सारिका शब्द तन्त्रीवाद्यों में प्रायः पर्दे का सूचक होता है। अगर यहाँ भी यही समझें तो आलापिनी के स्वरोत्पादन और वादन की विधि में सारिकाओं का उल्लेख न होना भी 'निबध्यन्ते' पाठ के बारे में शंक़ा उत्पन्न करता है।

यह उल्लेखनीय है कि इससे मिलता-जुलता तुइला नामक एक वाद्य आज उड़ीसा में प्रचलित है उसमें भी पर्दे नहीं हैं।

उक्त तथ्यों के आधार पर न विद्यन्ते पाठ की ही पुष्टि होती है और सं० र० में आलापिनी में सारिकाओं का निरूपण न होने से यह माना जा सकता है कि आलापिनी बिना पर्दे वाली वीणा थी।

दशमुष्टिमितं दण्डमत्राहुः खादिरं परे।
पट्टसूत्रमयीं तन्त्रीं यद्वा कार्पाससूत्रजाम् ॥ २४८॥
रक्तचन्दनजान् सर्वान् वीणादण्डान् परे जगुः।

२४८-२४९ ख. (अ०) परे अन्य आचार्य अत्र इसमें दशमुष्टिमितं दस मुष्टि (मुट्ठी) नाप वाला खादिरं दण्डम् आहुः

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

खैर (की लकड़ी) का दण्ड कहते हैं। पट्टसूत्रमयीं रेशम के धागे वाली यत् वा अथवा कार्पाससूत्रजां तन्त्रीं कपास के सूत से उत्पन्न (बनी) तन्त्री (कहते हैं)। परे अन्य आचार्य सर्वान् वीणादण्डान् सारे वीणादण्डों (सारी वीणाओं की डाँडों) को रक्तचन्दनजान् लाल चन्दन से उत्पन्न (बने हुए) जगुः कहते हैं।

दशमुष्ट्यधिकं मानं क्वचिल्लक्ष्येषु दृश्यते॥ २४९॥

२४९ ग-घ. (अ०) लक्ष्येषु लक्ष्यों में क्वचित् कभी-कभी (दण्ड का) मानं नाप (लम्बाई) दशमुष्टि-अधिकं दस मुष्टि अधिक (दस मुष्टि तक) दृश्यते दिखाई देता है।

(वादनविधिः)

तुम्बं वक्षसि निक्षिप्य वामाङ्गुष्ठेन तस्य च।
मूलमुत्पीड्य धृत्वा तामथ मध्यमया सुधीः॥ २५०॥

दक्षिणस्यानामया वा वादयेद् बिन्दुधातुवत्।
बिन्दुहस्तेन वा मन्द्रे मध्ये तारे च वादयेत्॥ २५१॥

वादनविधि

२५०-२५१. (अ०) तुम्बं तूँबे को वक्षसि निक्षिप्य छाती पर रखकर वाम-अङ्गुष्ठेन च और बायें अँगूठे से तस्य मूलम् उत्पीड्य उसके मूल को दबा कर धृत्वा धारण करके अथ अब ताम् उस (वीणा) को सुधीः बुद्धिमान् (वादक) दक्षिणस्य मध्यमया दाहिने (हाथ) की मध्यमा (उँगली) से अनामया वा या अनामिका से बिन्दुधातुवत् बिन्दु धातु की तरह बिन्दुहस्तेन वा या बिन्दु हस्त से मन्द्रे मध्ये तारे च मन्द्र, मध्य और तार (स्थानों) में वादयेत् वादन करें।

(सर०) बिन्दु धातु और बिन्दु हस्त के लक्षण पहले दिए गए हैं (६/१५७ क-ख, ७८ ग-७९ ख)।

त्रयस्तु दक्षिणात् पाणेश्चत्वारो वामतः स्वराः।
इत्युक्तं कैश्चिदाचार्यैः,

२५२ क-ग. (अ०) त्रयः स्वराः तु तीन स्वर तो दक्षिणात् पाणेः दाहिने हाथ से (और) चत्वारः वामतः चार बायें (हाथ) से (बजाने चाहियें) इति ऐसा कैः चित् आचार्यैः किन्हीं आचार्यों के द्वारा उक्तं कहा गया।

अपरे त्वन्यथा जगुः॥ २५२॥

मध्यमो मुक्तया तन्त्र्या तर्जन्याद्यङ्गुलीत्रयात्।
वामस्यानामिकावर्ज्यात् त्रयः स्युः पञ्चमादयः॥ २५३॥

मुक्ततन्त्र्याथ षड्जः स्यादृषभस्तर्जनीभवः।
गान्धारो मध्यमाङ्गुल्या दक्षिणेन,

२५२ घ-२५४ घ. (अ०) अपरे तु अन्य आचार्य तो अन्यथा अलग तरह से जगुः कहते हैं। मुक्तया तन्त्र्या मध्यमः खुले तार से मध्यम वामस्य बायें (हाथ) की अनामिका वर्ज्याः अनामिका छोड़ी हुई तर्जनी-आदि-अङ्गुलीत्रयात् (शेष) तर्जनी आदि तीन उँगलियों से पञ्चम-आदयः त्रयः पंचम आदि तीन (स्वर) स्युः (उत्पन्न) होते हैं। अथ अब मुक्ततन्त्र्या खुले तार से षड्जः षड्ज दक्षिणेन दाहिने (हाथ) से तर्जनीभवः तर्जनी से उत्पन्न होने वाला ऋषभः ऋषभ (और) मध्यमा अङ्गुल्या मध्यमा उँगली से गान्धारः गान्धार स्यात् (उत्पन्न) होता है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(सर०) आलापिनी में किसी ग्रन्थ में दो तन्त्रियाँ नहीं बताई हैं। लेकिन मुक्ततार से मध्यम और फिर मुक्त तार से ही षड्ज कहने से यह अनुमान होता है कि इसमें दो तार होने चाहियें क्योंकि एक ही तार की मुक्तध्वनि से मध्यम और षड्ज दोनों को उत्पन्न करना संभव नहीं है।

उक्तं दोनों ही विधि ग्रन्थकार ने अन्य मतों से कही हैं।

सं० स० सार में मुक्त तार से षड्ज उत्पन्न करने के बाद पंचम के स्थान पर तर्जनी से ऋषभ और धैवत के स्थान पर मध्यमा से गान्धार कहा है (६/६१-६२ ख)। यह तभी संभव है जब दो तार हों। एक तार पर जहाँ प और ध उत्पन्न होते हैं उन्हीं स्थानों पर रि, ग तभी मिल सकते हैं जब दूसरा तार हो।

अथ वादनम्॥ २५४॥

आरोहेणावरोहेण सप्तकद्वितये भवेत्।
एभिः स्वैरैर्विरचितं विचित्रं रागमालपेत्॥ २५५॥

गायेद् गीतं निबद्धं च प्रवीणो वीणयानया।
इदमालापिनीलक्ष्म श्रीनिःशङ्केन कीर्तितम्॥ २५६॥

इत्यालापिनीलक्षणम्

२५४ घ-२५६. (अ०) अथ अब सप्तकद्वितये दो सप्तकों में आरोहेण-अवरोहेण आरोह और अवरोह के द्वारा वादनं भवेत् वादन होता है। प्रवीणः कुशल वादक अनया वीणया इस वीणा के द्वारा एभिः स्वरै विरचितं इन स्वरों से रचित विचित्रं रागम् आलपेत् विविधता से युक्त राग का आलाप करते हैं निबद्धं गीतं च और निबद्ध गीत गायेत् गाते हैं। श्रीनिःशङ्केन श्रीनिःशंक (शार्ङ्गदेव) के द्वारा इदम् आलापिनी लक्ष्म यह आलापिनी का लक्षण कीर्तितं कहा गया है।

(सर०) यहाँ म-प-ध-नि और स-रि-ग—ये ७ स्वर उत्पन्न करने की विधि बताई है। इससे यह शंका उत्पन्न होती है कि ७ स्वरों में दो सप्तकों का वादन कैसे संभव है? सिंह० के 'सप्तकद्वयस्थैः स्वरैः' से यह समझा जा सकता है कि सप्तक का आशय स्थान है। इस तरह एक स्थान के मपधनि और दूसरे स्थान के सरिग—यों दो स्थानों में स्थित ७ स्वरों में आलाप करना अभिप्रेत हो सकता है।

मान० में स्पष्ट रूप से एक ही सप्तक कहा गया है (४/१७/६६६ ख)।

मान० (४/१७/६५९-६६६ ख) और सं० स० सार (६/५८ ग-६३) में आलवणी वीणा का जो संक्षिप्त विवरण है सं० र० की आलापिनी वैसी ही है। संभव है कि आलापिनी का प्रचलित नाम आलवणी रहा हो।

आलापिनी का लक्षण समाप्त

(किंनरी)

(तत्र मार्गकिंनरी)

किंनरी द्विविधा लघ्वी बृहती चेति कीर्तिता।

८—किंनरी

मार्ग किंनरी

२५७ क-ख. (अ०) लघ्वी लघ्वी (छोटी) बृहती च और बृहती (बड़ी) इति यों किंनरी किंनरी द्विविधा कीर्तिता दो प्रकार से कही गई (है)।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(सर०) यहाँ ग्रन्थकार ने मार्ग और देशी किंनरी के रूप में किंनरी का विभाजन तो नहीं किया लेकिन लघ्वी और बृहती— इन दो प्रकार की किंनरियों के लक्षण-निरूपण के बाद देशी किंनरी कह.कर उसके तीन भेद बृहती, मध्यमा और लघ्वी कहने वाले हैं। इससे यह समझ सकते हैं कि यहाँ निरूपण की जा रही लघ्वी और बृहती मार्ग किंनरी के भेद हैं।

(लघ्वीकिंनरी)

तत्र लघ्वीगतं लक्ष्म सांप्रतं प्रतिपाद्यते॥ २५७॥

लघ्वी किंनरी

२५७ ग-घ. (अ०) तत्र उनमें से लघ्वीगतं लक्ष्म लघ्वी के लक्षण सांप्रतं प्रतिपाद्यते पहले प्रतिपादित किये जाते हैं (किये जा रहे हैं)।

(दण्डलक्षणम्)

स्याद्वितस्तित्रयं दैर्घ्ये मानं पञ्चाङ्गुलाधिकम्।
पञ्चाङ्गुलः परीणाहो वेणुदण्डस्य यत्र च॥ २५८॥
गर्भेऽस्य व्यापकं रन्ध्रं,

डाँड का लक्षण

२५८-२५९ क. (अ०) दैर्घ्ये लम्बाई में पञ्च-अङ्गुल-अधिकं पाँच अंगुल ज्यादा वितस्तित्रयं तीन वितस्ति मानं स्यात् नाप होता है यत्र च और जहाँ वेणुदण्डस्य बाँस के दण्ड (डाँड) का परीणाहः घेरा पञ्च-अङ्गुलः पाँच अंगुल (होता है और) अस्य गर्भे इसके भीतर व्यापकं रन्ध्रं पूरा छेद (खोखला) (होता है, वह लघ्वी किंनरी होती है)

(ककुभलक्षणम्)

ककुभः शाकदारुजः।
सार्धद्व्यङ्गुलविस्तारो दैर्घ्ये पञ्चाङ्गुलश्च सः॥ २५९॥

ककुभ का लक्षण

२५९ ख-घ. (अ०) शाकदारुजः शाक की लकड़ी से उत्पन्न (बना हुआ) स-अर्धद्वि-अङ्गुलविस्तारः आधे सहित दो (ढाई) अंगुल चौड़ा दैर्घ्ये च और लंबाई में पञ्च-अङ्गुलः पाँच अंगुल वाला सः ककुभः वह ककुभ (होता है)।

(पत्रिकालक्षणम्)

तस्मादर्धाङ्गुलन्यूना दैर्घ्यविस्तारयोर्भवेत्।
मध्ये कूर्मोन्नता लौही पत्रिका ककुभस्थिता॥ २६०॥

पत्रिका का लक्षण

२६०. (अ०) तस्मात् उस (ककुभ) से दैर्घ्यविस्तारयोः लंबाई और चौड़ाई में अर्ध-अङ्गुलन्यूना आधी अंगुल छोटी मध्ये कूर्म-उन्नता बीच में कछुए की (पीठ की) तरह उठी हुई, ककुभस्थिता ककुभ पर जमाई हुई लौही पत्रिका लोहे की पत्रिका (पट्टी) भवेत् होती है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(सारिकालक्षणम्)

गृध्रवक्षोऽस्थिनलिका कनिष्ठाङ्गुलिसंमिता।
लौही कांस्यमयी यद्वा कीर्तिता सारिकाख्यया॥ २६१॥

श्लिष्टा वस्त्रमषीमिश्रमदनेन चतुर्दश।
चतुर्दश स्वरस्थाने दण्डपृष्ठे निवेशयेत्॥ २६२॥

सारिका का लक्षण

२६१-२६२. (अ०) कनिष्ठा-अङ्गुलिसंमिता कनिष्ठा उँगली के नाप की (मोटी) गृध्रवक्षः अस्थिनलिका गिद्ध की छाती की हड्डी की नली लौही कांस्यमयी यत् वा अथवा लोहे (या) काँसे की (नली) सारिका-आख्यया सारिका नाम से कीर्तिता कही गई (है)। वस्त्रमषीमिश्रमदनेन (जले हुए) कपड़े की काली राख को मोम से मसल कर चतुर्दश चौदह (सारिका) दण्डपृष्ठे डाँड की पीठ पर (डाँड के ऊपर) चतुर्दश स्वरस्थाने चौदह स्वरस्थानों पर श्लिष्टा चिपकाई हुई (चिपका कर) निवेशयेत् लगानी चाहियें।

(सर०) सारिका यानी पर्दे गिद्ध की छाती की हड्डी की नलीनुमा यानी भीतर से खोखली होती हैं जिन्हें जले कपड़े की राख और मोम को मसल कर उससे डाँड पर चिपकाया जाता है। स्पष्ट है कि १४ सारिकाएँ अचल होंगी।

कुम्भा ने अन्य मत से २२ सारिकाएँ भी कही हैं (सं० राज, ३/१/४/२६ क-ख)।

सप्तकस्य द्वितीयस्य यो निषादो भवेदधः।
तस्य स्थाने भवेदाद्या सारिकान्योर्ध्वमङ्गुलात्॥ २६३॥

स्थापयेदन्तरे किंचित् किंचित् पूर्वाधिके परा।
द्व्यङ्गुलावध्यष्टमीं तु पूर्वस्यास्त्र्यङ्गुलान्तरे॥ २६४॥

स्थापयित्वा पराः षट् च पूर्वपूर्वाधिकान्तरे।
चतुरङ्गुलपर्यन्तं सारिकाः संनिवेशयेत्॥ २६५॥

२६३-२६५. (अ०) द्वितीयस्य सप्तकस्य दूसरे सप्तक का अधः नीचे (की ओर) यः निषादः भवेत् जो निषाद होता है तस्य स्थाने उसकी जगह पर आद्या सारिका भवेत् पहली सारिका होती है। अन्या दूसरी अङ्गुलात् ऊर्ध्वम् एक अंगुल ऊपर स्थापयेत् स्थापित करनी चाहिये। परा (इसके) बाद वाली (पाँच सारिकाएँ) किंचित् किंचित् पूर्व-अधिके अन्तरे पिछली (-पिछली) से कुछ-कुछ ज़्यादा अन्तर पर (करते हुए) द्वि-अङ्गुल-अवधि दो अंगुल तक, अष्टमीं तु आठवीं को तो पूर्वस्याः पिछली वाली (सातवीं) से त्रि-अङ्गुल-अन्तरे तीन अंगुल की दूरी पर स्थापयित्वा स्थापित करके पराः षट् च और बाद की छ सारिकाः सारिकाएँ चतुः अङ्गुलपर्यन्तं चार अंगुल तक पूर्व पूर्व-अधिक-अन्तरे पिछली-पिछली से ज़्यादा दूरी पर संनिवेशयेत् स्थापित करनी चाहियें।

(सर०) अधः का आशय ककुभ की ओर है जहाँ पहली सारिका कही है। इसका अर्थ यह है कि लघ्वी किंनरी में नीचे की ओर से शुरू करके सारिकाएँ स्थापित की जाती हैं। पहली से ऊपर दूसरी सारिका में एक अंगुल की, दूसरी से सातवीं तक ५ सारिकाओं में थोड़ी-थोड़ी दूरी बढ़ाते हुए छठी और सातवीं के बीच २ अंगुल की, सातवीं और आठवीं में तीन अंगुल की, आठवीं से चौदहवीं सारिकाओं के बीच उसी तरह दूरी बढ़ाते हुए तेरहवीं और चौदहवीं में चार अंगुल की दूरी होती है।

ऊपर बताये गये क्रम से इन सारिकाओं पर नि ध प म ग रि स नि ध प म ग रि स—ये १४ स्वर उत्पन्न होंगे। दूसरे सप्तक का आशय यहाँ स्पष्ट नहीं है। लेकिन क्रम के अनुसार यहाँ मध्य स्थान समझना चाहिए। तदनुसार तन्त्री अणुमन्द्र निषाद में मिली होनी चाहिये।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(तुम्बस्थापनम्)

तुम्बं दण्डस्थककुभस्याधःसन्धौ निवेशयेत्।
तृतीयतुर्यसार्योस्तु मध्येऽधस्ताद् द्वितीयकम्॥ २६६॥
पूर्वस्मादपरं तुम्बं विस्तारेऽभ्यधिकं मनाक्।

तूँबे की स्थापना

२६६-२६७ ख. (अ०) दण्डस्थ ककुभस्य डाँड पर स्थित ककुभ के अधः सन्धौ नीचे के जोड़ में तुम्बं निवेशयेत् तूँबे को लगाना चाहिये। तृतीयतुर्य-सार्योः मध्ये तु तीसरी और चौथी सारिकाओं के बीच में तो अधस्तात् (डाँड के) नीचे द्वितीयकं दूसरा (तूँबा लगाना चाहिये)। पूर्वस्मात् पहले वाले से अपरं तुम्बं दूसरा तूँबा विस्तारे चौड़ाई में मनाक् थोड़ा अभि-अधिकं ज़्यादा (होता है)।

(सर०) ककुभ के नीचे के जोड़ से तात्पर्य डाँड के पीछे की ओर तूँबे के स्थान से है।

तीसरी और चौथी सारिकाओं से यह समझना चाहिये कि सारिकाओं की स्थापना के क्रम से उल्टे क्रम से यानी मेरु की ओर से तीसरी चौथी सारिकाओं के बीच में अर्थात् ग और म के बीच में तूँबा लगाया जाना चाहिये। सारिका स्थापना क्रम में तीसरी-चौथी यानी दूसरे सप्तक के प और म के बीच तूँबा लगाने पर दोनों तूँबे एक ही तरफ़ पास-पास आ जाएँगे जो अभिप्रेत नहीं है।

यह समझना ज़रूरी है कि सारिकाओं की स्थापना के लिये जो नीचे की ओर से गिनाई हुई वह सिर्फ़ सारिका स्थापित करने के लिए है, तूँबों की स्थापना में नहीं। आज भी पर्दों की संख्या मेरु की ओर से ही गिनी जाती है। इसी तरह तूँबा लगाने में भी गिनाई मेरु की ओर से की जाती रही होगी। यह अवश्य विचारणीय है कि सारिकास्थापना मेरु के बजाय ककुभ की ओर से क्यों कही गई।

(चलशङ्कुस्थापनम्)

दण्डाग्राद् द्व्यङ्गुलेऽधस्ताद्रन्ध्रं कृत्वाथ निक्षिपेत्॥ २६७॥
चलशङ्कुं गले रन्ध्रं दधमानम्,

चलशंकु की स्थापना

२६७ ग-२६८ ख. (अ०) अथ अब दण्ड-अग्रात् डाँड के (ऊपर वाले) सिरे से द्वि-अङ्गुले अधस्तात् दो अंगुल नीचे रन्ध्रं कृत्वा छेद करके गले (अपने) गले में रन्ध्रं दधमानं छेद को धारण करने वाला (गले में छेद वाला) चलशङ्कुं चलशंकु (घुमाई जा सकने वाली खूँटी) को निक्षिपेत् डालना चाहिये।

(सर०) वाद्यतंत्री को लपेटकर कसने या ढीला करने के लिये यह खूँटी डाँड के ऊपरी सिरे पर छेद करके उसमें डालने का निर्देश है।

(मेढकस्य स्थिरशङ्कोः च स्थापनम्)

अतोऽङ्गुलात्।
अधस्तादङ्गुलोत्सेधं मेढकं बाणपुङ्खवत्॥ २६८॥
कृत्वा ततोऽग्रतः किंचित् स्थिरशङ्कुं निवेशयेत्।

मेढक और स्थिरशंकु की स्थापना

२६८ ख-२६९ ख. (अ०) अतः इस (चलशंकु) से अङ्गुलात् अधस्तात् एक अंगुल नीचे अङ्गुल-उत्सेधम् एक अंगुल

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ऊँचा बाणपुङ्खवत् बाण के पंख जैसा मेढकं कृत्वा मेढक (मेरु) लगा कर ततः किंचित् अग्रतः उससे कुछ आगे स्थिरशङ्कुम् अचल (न घूमने वाली कील) निवेशयेत् लगानी चाहिये।

(सर०) बाण का पंख यानी बाण के नीचे के भाग जैसा जिसमें दो सींग जैसे होते हैं, उस आकार का मेरु होता है। इसीलिये सिंह० ने 'द्विशृङ्गमेढकं' (दो सींग वाला मेढक) कहा है। इसका अर्थ यह है कि मेरु की ऊपर की आकृति वैसी होती है जैसी बाण को उल्टा करने से होती है। इस मेढक पर टिका कर तार को चलशंकु में लपेटा जाता है।

(तन्त्रीस्थापनम्)

ततो लोहमयीं श्लक्ष्णां वर्तुलां च समां दृढाम्॥ २६९॥
गजकेशोपमां तन्त्रीं निबध्य ककुभे दृढम्।
सारिकामस्तकन्यस्तामानीतां मेढकोपरि॥ २७०॥
लग्नां द्वितीयप्रान्तेन वेष्टयेच्चलकीलके।

तन्त्री की स्थापना

२६९ ग-२७१ ख. (अ०) ततः तब लोहमयीं लोहे की श्लक्ष्णां चिकनी, वर्तुलां गोल, समाम् (ऊपर से नीचे तक) एक सी दृढां च और मज़बूत, गजकेश-उपमां हाथी के बाल जैसी (मोटी) तन्त्रीं तन्त्री को ककुभे ककुभ में दृढं निबध्य मज़बूती से बाँध कर सारिकामस्तकन्यस्तां सारिकाओं के ऊपर (से) रख कर आनीतां लाई हुई मेढक-उपरि लग्नां मेरु के ऊपर लगी हुई (लगा कर) द्वितीयप्रान्तेन दूसरे सिरे से चलकीलके खूँटी में वेष्टयेत् लपेटना चाहिये।

(सर०) तार को ककुभ में कस कर बाँधकर पर्दों पर से होकर दूसरे सिरे के मेरु पर टिका कर खूँटी में लपेटा जाता है।

शङ्कुं तं भ्रामयेत् तावद् यावत् तन्त्री दृढा भवेत्॥ २७१॥
भ्रामणं वैपरीत्येन तन्त्री शैथिल्यकारणम्।

२७१ ग-२७२ ख. (अ०) तं शङ्कुम् उस खूँटी को तावत् भ्रामयेत् उतना घुमाना चाहिये यावत् जितने से तन्त्री तन्त्री दृढा भवेत् कस जाती है (कस जाय)। वैपरीत्येन भ्रामणं विपरीत (दिशा) से घुमाना तन्त्रीशैथिल्यकारणं तार के ढीले होने का कारण (होता है)।

(सर०) खूँटी को कसने से तार कस जाता है और उल्टी तरफ़ घुमाने से ढीला होता है।

तन्त्रीदैर्घ्येऽथ दार्ढ्याय चलशङ्कोर्गलस्थिते॥ २७२॥
छिद्रे न्यस्याथ संकीलं स्थिरशङ्कौ निवेशयेत्।

२७२ ग-२७३ ख. (अ०) अथ अब तन्त्री दैर्घ्ये तार (अधिक) लंबा होने पर दार्ढ्याय दृढ़ता (खिंचे रहने) के लिये चलशङ्कोः खूँटी के गलस्थिते छिद्रे गले में स्थित छेद में संकीलं न्यस्य (एक) कील डाल कर अथ अब स्थिरशङ्कौ (तार को) अचल कील में निवेशयेत् लगा देना चाहिये।

(सर०) तार को लपेटने के लिये लगाई गई खूँटी के छेद में एक कील, सिंह० के अनुसार सोने या लोहे की बनी, आड़ी डाल कर उसका दूसरा सिरा अचल कील में बाँध दिया जाता है ताकि तार ढीला न हो जाय।

लघ्वी सा किंनरी प्रोक्ता शार्ङ्गदेवेन सूरिणा॥ २७३॥

२७३ ग-घ. (अ०) सूरिणा शार्ङ्गदेवेन विद्वान् शार्ङ्गदेव के द्वारा सा वह (ऐसे लक्षण वाली) लघ्वी किंनरी प्रोक्ता छोटी किंनरी कही गई (है)।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(वादनविधिः)

अस्यां स्थायिनमारभ्य गणयेत् सप्तकद्वयम्।

वादनविधि

२७४ क-ख. (अ०) अस्याम् इस (वीणा) में **स्थायिनम् आरभ्य** स्थायी (स्वर) से शुरू करके **सप्तकद्वयं** दो सप्तक **गणयेत्** गिनने चाहियें।

(सर०) लघ्वी किंनरी में पहले सप्तक के पहले पर्दे को स्थायी यानी अंश बना कर दो सप्तक १४ पर्दों पर मिलते हैं। तदनुरूप अलग-अलग रागों में अंश स्वर अलग होने पर पहले पर्दे के स्वर को तदनुसार स, रि, ग आदि संज्ञा प्राप्त होगी। लेकिन पर्दे अचल होने के कारण स्वरों के श्रुत्यन्तर ग्राम व्यवस्था के अनुसार नहीं हो सकते क्योंकि मोम में गड़े पर्दों के अन्तराल तो नियत ही रहेंगे उनमें राग के अनुसार परिवर्तन करना संभव नहीं होगा। संभवतः इसीलिये मतंग ने एक श्रुति की न्यूनाधिकता को जातिराग के लिये हानिकर नहीं बताया। लेकिन मतंग का यह कथन देशी के संबन्ध में है जबकि शार्ङ्ग० ने यहाँ लघ्वी किंनरी का जो लक्षण दिया है वह मार्ग किंनरी का है। इससे यह समझ सकते हैं कि किंनरी लक्षण के संदर्भ में 'मार्ग' की सार्थकता उसके नाप जोख और बनावट में है उस पर बजाई जाने वाली सामग्री के सन्दर्भ में नहीं, क्योंकि किंनरी का लक्षण देकर अन्त में ग्रन्थकार ने किंनरी पर देशीरागों के वादन की विधि दी है, मार्ग रागों की नहीं।

सारीककुभयोर्मध्ये तर्जन्याद्यङ्गुलित्रयात्॥ २७४॥

वादयेत् किंनरीवीणातन्त्रीं दक्षिणपाणिना।
वामस्य तिसृभिस्ताभिरङ्गुलीभिस्तु तन्त्रिकाम्॥ २७५॥

तत्तत्सारीप्रदेशस्थां स्वरव्यक्त्यै निपीडयेत्।

(इति लघ्वीकिंनरी)

२७४ ग-२७६ ख. (अ०) सारीककुभयोः मध्ये पर्दे और ककुभ के बीच में **दक्षिणपाणिना** दाहिने हाथ से **तर्जनी-आदि-अङ्गुलित्रयात्** तर्जनी आदि (तर्जनी, मध्यमा, अनामिका) तीन उँगलियों से **किंनरीवीणातन्त्रीं** किंनरी वीणा के तार को **वादयेत्** बजाना चाहिये (आघात करना चाहिये)। **वामस्य** बायें (हाथ) की **ताभिः तिसृभिः अङ्गुलीभिः** उन्हीं तीन उँगलियों से **तो तत् तत् सारीप्रदेशस्थाम्** उस-उस पर्दे के स्थान पर स्थित (आई हुई) **तन्त्रिकां** तन्त्री को **स्वरव्यक्त्यै** (उस-उस) स्वर की अभिव्यक्ति के लिये **निपीडयेत्** दबाना चाहिये।

(सर०) अन्तिम पर्दे और घुड़च के बीच में तार पर दाहिने हाथ की तर्जनी आदि तीन उँगलियों से आघात किया जाता है और पर्दों को बाएँ हाथ की तर्जनी आदि तीन उँगलियों को दबा कर स्वर उत्पन्न किये जाते हैं।

यह लघ्वी किंनरी है

(बृहतीकिंनरी)

वितस्त्यभ्यधिका दैर्घ्ये परिणाहेऽङ्गुलाधिका॥ २७६॥

लघ्व्याः स्याद् बृहती स्नायुमया तन्त्रीस्त्रितुम्बिका।
आलापिनीवदस्यां च स्थाप्यं तुम्बं तृतीयकम्॥ २७७॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अन्यल्लघ्वीगतं लक्ष्म बृहतीं किंनरीं श्रयेत्।

(इति बृहतीकिन्नरी)

इति द्विविधकिंनरीलक्षणम्

(इति मार्ग किंनरीलक्षणम्)

बृहती किंनरी

२७६ ग-२७८ ख. (अ०) लघ्व्याः छोटी (किंनरी) से बृहती बड़ी (किंनरी) दैर्घ्ये लंबाई में वितस्ति-अभ्यधिका एक वितस्ति ज्यादा (और) परिणाहे परिधि में अङ्गुल-अधिका एक अंगुल ज्यादा, स्नायुमया तन्त्रीः स्नायु (पेशी) की तन्त्री वाली (और) त्रितुम्बिका स्यात् तीन तूँबे वाली होती है। अस्याम् इसमें आलापिनीवत् आलापिनी (की विधि) की तरह तृतीयकं तुम्बकं च तीसरा तूँबा भी स्थाप्यं लगाना चाहिये। लघ्वीगतं लघ्वी के अन्यत् लक्षणं दूसरे लक्षण बृहतीं किंनरीं श्रयेत् बृहती किंनरी में आश्रित करने चाहियें।

(सर०) सिंह० ने इसमें गाय की स्नायु की तन्त्री कही है। उसने यह भी स्पष्ट किया कि आलापिनीवत् तीसरा तूँबा स्थापित करने का अर्थ यह है कि आलापिनी में तूँबा जिस तरह स्थापित किया जाता है किंनरी का तीसरा तूँबा उसी तरह लगाया जाता है। इस व्याख्या का अभिप्राय यह है कि आलापिनी में भी तीन तूँबे होते हैं यह न समझ लिया जाय बल्कि उसकी विधि का ही यहाँ अनुसरण करना है।

सं० र० की लघ्वी और बृहती क़िंनरियों के लक्षण मान० जैसे ही हैं (४/१७/६६६ ग-६८७ ख)।

यह बृहती किंनरी है।

द्विविध किंनरी का लक्षण समाप्त

मार्ग किंनरी का लक्षण समाप्त

(देशीकिंनरी)

किंनरीत्रितयं तत्र देशीसंसिद्धमन्यथा॥ २७८॥

बृहती मध्यमा लघ्वीत्यथाऽऽसां लक्ष्म कथ्यते।

देशी किंनरी

२७८ ग-२७९ ख. (अ०) तत्र वहाँ (किंनरियों में) अन्यथा अन्य प्रकार से (प्रकीर की) बृहती मध्यमा लघ्वी बृहती, मध्यमा (और) लघ्वी इति ये किंनरीत्रितयं किंनरी के तीन का समूह देशीसंसिद्धं देशी (रूप में) प्रसिद्ध (है)। अथ अब आसां लक्ष्म इनके लक्षण कथ्यते कहे जा रहे हैं।

(सर०) मार्ग किंनरी में बृहती और लघ्वी—ये दो ही प्रकार थे। देशी किंनरी में इनके अलावा मध्यमा भी है। इस प्रकार देशी तीन तरह की है।

तिर्यग्यवोदरैः षड्भिर्निस्तुषैः स्यादिहाङ्गुलम्॥ २७९॥

२७९ ग-घ. (अ०) इह यहाँ (देशी किंनरी में) निस्तुषैः बिना छिलके वाले षड्भिः तिर्यक्-यव-उदरैः ६ आड़े जौ के उदर (पेट, मोटे भाग) से अङ्गुलं स्यात् अंगुल होता है।

(सर०) इसी अध्याय में एकतंत्री का लक्षण शुरू करने से पहले जो माप दिये गये उनमें अंगुल को अँगूठे के पर्व की लंबाई के बराबर कहा गया। देशी किंनरी में आधार नाप भिन्न यानी छिलका उतरे हुए ६ आड़े जौ के मोटे भाग के बराबर अंगुल का नाप है। यह अंगुल के पहले वाले नाप से छोटा होगा।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(देशी बृहतीकिंनरी)

(दण्डस्य ककुभस्य च लक्षणम्)

बृहतीदण्डमानं स्याद् दैर्घ्ये पञ्चाशदङ्गुलम्।
षडङ्गुलोऽत्र परिधिर्दण्डे दैर्घ्यं तु काकुभे॥ २८०॥

षडङ्गुलं शिरस्त्वस्य दैर्घ्यविस्तारयोर्भवेत्।
चतुरङ्गुलसंमानं द्व्यङ्गुलं तु तदुच्छ्रये॥ २८१॥

देशी बृहती किंनरी

डाँड और ककुभ का लक्षण

२८०-२८१. (अ०) अत्र यहाँ बृहती दण्डमानं बृहती की डाँड का नाप दैर्घ्ये लंबाई में पञ्चाशत् अङ्गुलं पचास अंगुल (और) परिधिः घेरा षट्-अङ्गुलः छ अंगुल (होता है)। काकुभे दण्डे तु ककुभ संबन्धी डंडी तो षट्-अङ्गुलं दैर्घ्यं छ अंगुल लम्बी (होती है)। अस्य शिरः तु इस (ककुभ) का सिर (ऊपर का भाग) तो दैर्घ्यविस्तारयोः लंबाई और चौड़ाई में चतुः-अङ्गुल-संमानं चार(-चार) अंगुल नाप वाला भवेत् होता है। द्वि-अङ्गुलं तु दो अंगुल तो तत् उच्छ्रये वह ऊँचाई में (होता है)।

निक्षिपेत् काकुभं दण्डं वीणादण्डोत्तरे तथा।
दण्डांशः परिशेषोऽत्र तावान् यावति शेषिते।। २८२॥

वीणादण्डान्तककुभशिरोमध्यान्तरे स्थितः।
तन्त्रीभागस्तृतीयांशाधिकत्र्यङ्गुलको भवेत्॥ २८३॥

२८२-२८३. (अ०) काकुभं दण्डं ककुभ की डंडी को वीणादण्ड-उत्तरे वीणा की डाँड के पार (अन्दर) तथा निक्षिपेत् उस तरह डालना चाहिये (जिससे) अत्र यहाँ तावान् दण्ड-अंशः डाँड का उतना भाग परिशेषः शेष रहता है (शेष रहे) यावति शेषिते जितना शेष रहने पर वीणादण्ड-अन्तककुभशिरः मध्य-अन्तरे स्थितः वीणा की डाँड के अन्तिम भाग (और) ककुभ के सिर के बीच के अन्तर में स्थित तन्त्रीभागः तार का हिस्सा तृतीयांश-अधिकत्रि-अङ्गुलकः एक तिहाई ज्यादा तीन अंगुल (३$\frac{१}{३}$ अंगुल) भवेत् होता है।

(सर०) आशय यह है कि ककुभ की डंडी को वीणा की डाँड में ऐसी जगह पर डालना है जिससे ककुभ और डाँड़ के सिरे के बीच की दूरी ३$\frac{१}{३}$ अंगुल रह जाय।

(पत्रिकालक्षणम्)

मध्ये कूर्मोन्नतां लौहीं पत्रिकां शिरसि क्षिपेत्।
परितोऽर्धाङ्गुलन्यूना शिरसोऽसौ प्रकीर्तिता॥ २८४॥

(पत्रिका का लक्षण)

२८४. (अ०) मध्ये बीच में कूर्म-उन्नतां कछुए की (पीठ की) तरह उठी हुई लौहीं पत्रिकां लोहे की पत्रिका को शिरसि (ककुभ के) सिर पर (ऊपर) क्षिपेत् लगाना चाहिये। असौ यह (पत्रिका) शिरसः (ककुभ के) सिर से परितः चारों ओर से अर्ध-अंङ्गुलन्यूना आधा अंगुल कम (छोटी) प्रकीर्तिता कही गई (है)।

वीणाशीर्षादधस्ताच्च सार्धद्व्यङ्गुलतः स्थितम्।
ऊर्ध्वाधो दैर्घ्यभाग्रन्ध्रं विस्तारेऽर्धाङ्गुलायतम्॥ २८५॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

तिर्यग्दैर्घ्यं तावदन्यद्रन्ध्रं चोभयतोमुखम्।

२८५-२८६ ख. (अ०) वीणाशीर्षात् वीणा के सिर (ऊपरी सिरे) से सार्धद्वि-अङ्गुलतः अधस्तात् ढाई अंगुल नीचे की ओर स्थितं स्थित ऊर्ध्व-अधः ऊपर से नीचे दैर्घ्यभाक् विस्तारे लंबाई जितने विस्तार में (अर्थात् ऊपर से नीचे डाँड के आरपार) अर्ध-अङ्गुल-आयतम् आधा अंगुल चौड़ाई वाला रन्ध्रं छेद (होता है)। तावत् दैर्घ्यं उतना ही लंबा उभयतः मुखं च और (डाँड की बाजू से) दोनों तरफ़ मुँह वाला अन्यत् दूसरा तिर्यक् रन्ध्रं च आड़ा छेद भी (होता है)।

(सर०) डाँड में दो छेद होते हैं—एक ऊपर से नीचे आरपार और दूसरा आड़ा एक तरफ़ से दूसरी तरफ़ आरपार। दूसरा छेद पहले वाले के ठीक नीचे होना चाहिये। अगले श्लोक में बताई गई लोहे की नली और चलशंकु को डालने की विधि से ऐसा समझा जा सकता है।

तिर्यग्रन्ध्रे चलं शङ्कुमूर्ध्वरन्ध्रनिविष्टया॥ २८६॥

लौह्या सारिकया युक्तं न्यसेत् प्रान्तान्तरं पुनः।
सारिकायाः शिरोमूले बध्नीयात् काकुभे सुधीः॥ २८७॥

२८६ ग-२८७. (अ०) ऊर्ध्वरन्ध्रनिविष्टया ऊपर के छेद में लगाई हुई (डाली हुई) लौह्या सारिकया युक्तं लोहे की सारिका से युक्त चलशङ्कुं खूँटी को तिर्यक् रन्ध्रे आड़े छेद में न्यसेत् डालना चाहिये। पुनः फिर सारिकायाः तार के प्रान्त-अन्तरं दूसरे सिरे को सुधीः विद्वान् काकुभे शिरोमूले ककुभ के सिर के मूल में बध्नीयात् बाँधे।

(सर०) खूँटी आड़े छेद में डाली जाती है और तार का एक सिरा ऊपर के छेद में से डाल कर खूँटी में लपेट दिया जाता है। दूसरा सिरा, अगले श्लोक के अनुसार, मेरु के छेद या कर्तरी में से होकर वीणा की डाँड के दूसरे सिरे पर लगे ककुभ के शिरोमूल में बाँधा जाता है।

सिंह० ने लोहे की सारिका का अर्थ नलिका दिया है। इसका प्रयोजन संभवतः उसी तरह का है जैसा मार्ग किंनरी में तार लम्बा होने पर उसे कसा रखने के लिये चलशंकु के गले में डाली हुई कील का है। लेकिन प्रस्तुत श्लोक में सारिका शब्द का प्रयोग करते हुए कहा गया कि फिर सारिका का दूसरा सिरा ककुभ में बाँधना चाहिये। यहाँ प्रयुक्त 'पुनः सारिकायाः प्रान्तान्तरं' से लगता है कि पहले प्रयुक्त 'सारिकया' भी तन्त्री के अर्थ में है जिसका एक सिरा खूँटी में और दूसरा ककुभ में बाँधने के लिये कहा गया है। अगर इन दोनों जगह सारिका का अर्थ तन्त्री न समझें तो उसका पहला सिरा कहाँ बाँधा जाय इसका कोई निर्देश प्राप्त न होने से लक्षण अधूरा रह जाता है। अगर लोहे की सारिका का अर्थ नली ही समझा जाय तो यह मान लेना होगा कि दूसरी बार प्रयुक्त सारिका यानी तार के द्वारा पहले सिरे को खूँटी में लपेट दिया जायगा। यह ध्यान देने की बात है कि यहाँ प्रयुक्त लोहे की सारिका के अलावा देशी किंनरी के किसी प्रकार में तार लोहे या स्नायु में से कैसा होगा इसका उल्लेख नहीं है। इस दृष्टि से भी लोहे की सारिका का अर्थ लोहे की तन्त्री समझना ज्यादा उपयुक्त लगता है।

तन्त्रीरन्ध्रात् पुरः साङ्घ्रिद्व्यङ्गुले मेढको भवेत्।
स च स्यात् कर्तरीयुक्तो गले रन्ध्रान्वितोऽथवा॥ २८८॥

कर्तर्यां गलरन्ध्रे वा सारिकां तां निवेशयेत्।
तद्रन्ध्रे दण्डान्तरालं विदध्यात् सयवाङ्गुलम्॥ २८९॥

२८८-२८९. (अ०) तन्त्रीरन्ध्रात् पुरः तन्त्री वाले छेद से आगे स-अङ्घ्रिद्वि-अङ्गुलके चौथाई सहित दो अंगुल (सवा दो अंगुल की दूरी) पर मेढकः भवेत् मेढक होता है स च और वह कर्तरीयुक्तः कर्तरी से युक्त अथवा या गले रन्ध्र-अन्वितं गले में छेद वाला स्यात् होता है। तां सारिकाम् उस सारिका को कर्तर्यां गलरन्ध्रे वा कर्तरी में या गले के छेद में निवेशयेत् डालना चाहिये। तत् रन्ध्रे उस छेद में दण्ड-अन्तरालं डाँड से दूरी सयव-अङ्गुलम् एक जौ सहित एक अंगुल विदध्यात् रखें।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

मेढकात् पुरतः शङ्कुः स्थिरः सार्धाङ्गुलान्तरे।
तिर्यग्रन्ध्रे निवेशोऽस्य चलशङ्कुवदिष्यते॥ २९०॥

चलशङ्कुभ्रामणादि ज्ञेयं पूर्वोक्तरीतितः।

२९०-२९१ ख. (अ०) मेढकात् पुरतः मेढक से आगे स-अर्ध-अङ्गुल-अन्तरे आधे सहित एक (डेढ़) अंगुल (की दूरी) पर स्थिरः शङ्कुः अचल शंकु (होता है)। तिर्यक् रन्ध्रे आड़े छेद में अस्य निवेशः इसका निवेश (लगाना) चलशङ्कुवत् खूँटी की तरह इष्यते इष्ट होता है। चलशङ्कुभ्रामणादि खूँटी को घुमाना आदि पूर्व-उक्तरीतितः पहले कही गई रीति से ज्ञेयं जानना चाहिये।

(सारिकालक्षणम्)

गृध्रवक्षोस्थिजा यद्वा तत्पादास्थिसमुद्भवाः॥ २९१॥

कांस्यमय्योऽथवा लौह्यो नलिकाः सारिका मताः।
सार्धाङ्गुलास्ताः परिधौ दण्डपृष्ठे निवेशयेत्॥ २९२॥

सारिका का लक्षण

२९१ ग-२९२. (अ०) गृध्रवक्ष-अस्थिजाः गिद्ध की छाती की हड्डी से उत्पन्न (बनी) यत् वा अथवा तत् पाद-अस्थिसमुद्भवाः उसके पैर की हड्डी से उत्पन्न (बनी) कांस्यमय्यः अथवा लौह्यः काँसे की या लोहे की नलिकाः नलियाँ सारिकाः मताः सारिकाएँ मानी गई (हैं)। परिधौ परिधि में स-अर्ध-अङ्गुलाः ताः डेढ़ अंगुल वाली वे (सारिकाएँ) दण्डपृष्ठे डाँड के ऊपर निवेशयेत् लगानी चाहियें।

(सर०) किंनरी की डाँड पर लगाई जाने वाली सारिकाएँ गिद्ध की छाती या पैर की हड्डी की अथवा काँसे या लोहे की, भीतर से खोखली और गोलाई में डेढ़ अंगुल नाप की होती हैं।

किंनरी लक्षण में सारिका शब्द का प्रयोग तीन अर्थों में किया गया है—लोहे की नलिका, तन्त्री और पर्दा।

यन्मेढकशिरोमध्यादुपक्रम्यान्तरं भवेत्।
सारीमस्तकमध्यानां तदिदानीं निरूप्यते॥ २९३॥

२९३. (अ०) मेढकशिरःमध्यात् मेरु के सिर के बीच (के भाग) से उपक्रम्य शुरू करके सारीमस्तकमध्यानां पर्दों के सिर के बीच (के भागों) का यत् अन्तरं भवेत् जो अन्तर (दूरी) होता है तत् (वह) इदानीं निरूप्यते अब निरूपित किया जाता है (किया जा रहा है)।

आद्यान्तरं तत्र यवाधिकं पञ्चाङ्गुलं मतम्।
द्वितीयमन्तरालं तु चतुरङ्गुलमुत्तरम्॥ २९४॥

तस्मात् तृतीयतुर्ये तु यवन्यूने मते सताम्।

२९४-२९५ ख. (अ०) तत्र उनमें (से) आद्य-अन्तरं पहला (मेरु और पहले पर्दे का) अन्तर यव-अधिकं पञ्च-अङ्गुलम् एक जौ ज़्यादा पाँच अंगुल मतं माना गया (है)। द्वितीयम् अन्तरालं तु दूसरा अन्तराल तो चतुः-अङ्गुलम्-उत्तरं चार अंगुल जितना, तस्मात् उस (दूसरे) से तृतीयतुर्ये तु तीसरे और चौथे तो सतां सज्जनों का (के द्वारा) यवन्यूने मते एक(-एक) यव कम माने गये (हैं)।

यवाधिकत्र्यङ्गुलं तु ज्ञेयं पञ्चममन्तरम्॥ २९५॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

यवोनत्र्यङ्गुलं षष्ठं सयवद्व्यङ्गुलं पुनः।
अन्तरालं सप्तमं स्यात् सार्धद्व्यङ्गुलमष्टमम्॥ २९६॥

नवमं तु यवार्धोनं सार्धाङ्गुलमितं मतम्।

२९५ ग-२९७ ख. (अ०) पञ्चमम् अन्तरं तु पाँचवाँ अन्तर तो यव-अधिकं त्रि-अङ्गुलम् एक यव ज्यादा तीन अंगुल ज्ञेयं जाना गया (है)। यव-ऊनत्रि-अङ्गुलम् एक जौ कम तीन अंगुल षष्ठं छठा, पुनः फिर सयवद्वि-अङ्गुलम् एक जौ सहित दो अंगुल सप्तमम् अन्तरालं सातवाँ अन्तराल स्यात् होता है। स-अर्धद्वि-अङ्गुलम् आधे सहित दो (ढाई) अंगुल अष्टमम् आठवाँ, नवमं तु नवाँ तो यव-अर्ध-ऊनम् आधा जौ कम स-अर्ध-अङ्गुलमितम् आधे सहित एक (डेढ़) अंगुल नाप वाला मतं माना गया (है)।

दशमं द्व्यङ्गुलं हीनं यवेनैकादशं ततः॥ २९७॥

द्वादशं तु तृतीयांशन्यूनं तस्मात् त्रयोदशम्।
सतृतीयांशाङ्गुलं स्यादङ्गुलं तु चतुर्दशम्॥ २९८॥

२९७ ग-२९८. (अ०) दशमं दसवाँ द्वि-अङ्गुलं दो अंगुल, ततः उससे यवेन हीनम् एकादशम् एक जौ कम (अर्थात् एक जौ कम दो अंगुल) ग्यारहवाँ, द्वादशं तु बारहवाँ तो तृतीयांशन्यूनं (दो अंगुल से) एक तिहाई कम, तस्मात् उससे सतृतीयांश-अङ्गुलम् एक तिहाई सहित एक अंगुल त्रयोदशं तेरहवाँ (और) अङ्गुलं तु एक अंगुल तो चतुर्दशं स्यात् चौदहवाँ होता है।

(तुम्बलक्षणम्)

द्वितीयान्तरतोऽधस्तान्न्यस्येत् तुम्बमधोमुखम्।
अन्यत् ककुभमूर्ध्वाधस्तुम्बकं संनिवेशयेत्॥ २९९॥

षट्त्रिंशदङ्गुलं चक्रे परिधिस्त्वाद्यतुम्बके।
किंचिन्न्यूनं ततस्तुम्बं परिधौ स्यादधस्तनम्॥ ३००॥

तूँबे का लक्षण

२९९-३००. (अ०) द्वितीय-अन्तरतः (पहले और) दूसरे (पर्दे) के अन्तर (बीच) में अधस्तात् (डाँड के) नीचे की ओर अधोमुखं तुम्बं नीचे मुँह वाला तूँबा न्यस्येत् लगाना चाहिये। अन्यत् तुम्बकं दूसरा तूँबा ककुभम् ऊर्ध्व-अधः ककुभ के ऊपर (के भाग) के नीचे संनिवेशयेत् लगाना चाहिये। आद्यतुम्बके पहले तूँबे में परिधिः तु घेरा तो षट्त्रिंशत्-अङ्गुलं छत्तीस अंगुल चक्रे करना चाहिये। अधस्तनं तुम्बं नीचे वाला (दूसरा) तूँबा ततः उस (पहले तूँबे) से परिधौ घेरे में किंचित् न्यूनं स्यात् कुछ कम होता है।

(सारिकास्थापनम्)

ईषदस्पृष्टसरिका सारिकास्ता निवेशयेत्।
मदनेनेष्टकाचूर्णमिश्रेण श्लेषणं दृढम्॥ ३०१॥

सारीणामथवा वस्त्रमषीमिश्रेण संमतम्।

सारिकाओं की स्थापना

३०१-३०२ ख. (अ०) ईषत् अस्पृष्टसरिकाः कुछ बिना छुए तार वाली (तार से छुए बिना उससे कुछ नीची) ताः सारिकाः वे सारिकाएँ (पर्दे) निवेशयेत् लगानी चाहियें। मदनेन इष्टकाचूर्णमिश्रेण मोम के साथ ईंट के चूरे के मिश्रण से अथवा

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

या वस्त्रमषीमिश्रेण (जले हुए) कपड़े की स्याही के (मोम के साथ) मिश्रण से सारीणां पर्दों का दृढं श्लेषणं (डाँड के साथ) मज़बूत जोड़ संमतं योग्य माना गया (है)।

(सर०) आड्० के दूसरे संस्करण में पाठ 'ईषदस्पष्टसरिकाः' है। लेकिन पहले सं० में और सिंह० की टीका में ईषदस्पृष्टसरिकाः है। यही संगत पाठ है क्योंकि यहाँ यह अभिप्रेत है कि सारिकाएँ तार से छूती हुई न हों बल्कि दोनों के बीच कुछ दूरी रहे।

मुक्ततन्त्रीभवं कृत्वा स्वरमाद्यं चतुर्दशम्॥ ३०२॥

स्वराः परे स्युः सारीणां चतुर्दशभिरन्तरैः।
सप्तकद्वयमेवं स्यादेकतारस्वराधिकम्॥ ३०३॥

३०२ ग-३०३. (अ०) मुक्ततन्त्रीभवं मुक्त तार से उत्पन्न होने वाले स्वरं स्वर को आद्यं पहला चतुर्दशं (यानी) चौदहवाँ (स्वर) कृत्वा करके परे स्वराः शेष स्वर सारीणां पर्दों के चतुर्दशभिः अन्तरैः चौदह अन्तरों से स्युः (उत्पन्न) होते हैं। एवम् इस तरह सप्तकद्वयं दो सप्तक (और) एकतारस्वर-अधिकम् एक तार (स्थान का) स्वर ज्यादा स्यात् होता है।

(सर०) समान विभक्ति के आधार पर चतुर्दशं का अन्वय आद्यस्वरं के साथ होना संगत है। तदनुसार 'पहले स्वर को चौदहवाँ बनाकर'—यह अर्थ होगा। लेकिन पहले स्वर को चौदहवाँ बनाने की संगति दिखाई नहीं देती। शायद आशय यह है कि मुक्त तार के पहले स्वर से मन्द्र सप्तक शुरू करके छठे पर्दे तक मन्द्र और ७वें से १३वें तक मध्य स्थान यों दो स्थान प्राप्त होने के बाद १४वें पर्दे पर फिर से मुक्त तार वाला स्वर प्राप्त होगा जो तारस्थान का होगा। इस तरह पर्दों पर प्राप्त होने वाले १४ स्वरों में १४वाँ स्वर मुक्त तार वाला पहला स्वर ही होता है। शायद इसी अर्थ में ग्रन्थकार ने मुक्त तार के पहले स्वर को चौदहवाँ कहा है।

यथास्वं स्वरदेशांशैः श्रुतिस्तस्या वितन्वते।
द्वित्रास्ततोऽधिकाः सारीर्निबध्नीयात् परे त्विह॥ ३०४॥

लक्षयन्त्यन्तराण्यासां स्वराविर्भावतो बुधाः।

३०४-३०५ ख. (अ०) तस्याः उस (वीणा) से यथास्वं जहाँ जैसे हैं (वैसे) स्वरदेश-अंशैः स्वर के देश (स्थान) के अंशों (स्वरों के बीच के श्रुतिरूप भागों) से श्रुतिः श्रुति (श्रुतियाँ) वितन्वते विस्तारित (प्रकट) करते हैं। परे तु अन्य आचार्य तो इह यहाँ (वीणा पर) द्वित्राः ततः अधिकाः दो, तीन (या) उससे ज्यादा सारीः पर्दे निबध्नीयात् बाँधने चाहियें (ऐसा कहते हैं)। बुधाः बुद्धिमान् स्वर-आविर्भावतः स्वर के आविर्भाव से (स्वर उत्पन्न करके) आसाम् अन्तराणि इन (श्रुतियों) के अन्तरों को लक्षयन्ति प्रकट करते हैं।

श्रीशार्ङ्गदेवोपदेशात् तद्बोधः सुलभो नृणाम्॥ ३०५॥

केचित् त्रयोदशैवात्र सारीर्निदधते बुधाः।
बृहती किंनरीत्येषा शार्ङ्गदेवेन कीर्तिता॥ ३०६॥

इति बृहती किन्नरी

३०५ ग-३०६. (अ०) श्रीशार्ङ्गदेव-उपदेशात् श्रीशार्ङ्गदेव के विशेष निर्देश (अथवा निरूपण) से नृणां मनुष्यों को तत् बोधः उसका (श्रुतियों का) ज्ञान सुलभः सरलता से (प्राप्त होता है)। केचित् बुधाः कुछ बुधजन अत्र यहाँ (इस वीणा पर) त्रयोदश एव सारीः तेरह ही पर्दे निदधते रखते हैं। शार्ङ्गदेवेन शार्ङ्गदेव के द्वारा एषा यह बृहती किंनरी बृहती किंनरी इति कीर्तिता इस प्रकार कही गई (है)।

यह बृहती किंनरी है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(मध्यमाकिंनरी)

(दण्डलक्षणम्)

मध्यमायां दण्डदैर्घ्यं त्रिचत्वारिंशदङ्गुलम्।
परिधिर्दृश्यते तत्र द्वियवोनषडङ्गुलः॥ ३०७॥

मध्यमा किंनरी

(डाँड का लक्षण)

३०७. (अ०) मध्यमायां मध्यमा (किंनरी) में दण्डदैर्घ्यं डाँड की लम्बाई त्रिचत्वारिंशत्-अङ्गुलं तेंतालीस अंगुल तत्र परिधिः और घेरा द्वियव-ऊनषट्-अङ्गुलं दो जौ कम छ अंगुल दृश्यते दिखाई देता है।

(ककुभलक्षणम्)

सार्धत्र्यङ्गुलविस्तारं प्राग्दैर्घ्यं काकुभं शिरः।
क्षिपेत् ककुभदण्डस्य वीणादण्डेऽङ्गुलत्रयम्॥ ३०८॥

तावांश्च परिशेषेऽसौ यावतः परिशेषणे।
दण्डान्तशीर्षमध्यान्तः सारिकावयवस्थितिः॥ ३०९॥

तृतीयभागरहिताङ्गुलत्रयमितो भवेत्।

ककुभ का लक्षण

३०८-३१० ख. (अ०) प्राक् पहले (की तरह) काकुभं शिरः ककुभ संबन्धी (अर्थात् ककुभ का) सिर स-अर्धत्रि-अङ्गुलविस्तारं दैर्घ्यम् आधे सहित तीन (साढ़े तीन) अंगुल चौड़ा (और) लम्बा (होता है)। ककुभदण्डस्य ककुभ की डंडी का अङ्गुलत्रयं तीन अंगुल (भाग) वीणादण्डे वीणा की डाँड में क्षिपेत् डालना चाहिये। असौ यह तावान् च परिशेषे उतना ही शेष होने पर यावतः परिशेषणे जितना शेष रहने (बचने) पर दण्ड-अन्तशीर्षमध्य-अन्तः डाँड का अन्त और (ककुभ के) सिर के बीच का अन्त (जो) सारिका-अवयवस्थितिः तार के अवयव (हिस्से) का स्थान (है, वह) तृतीयभागरहित-अङ्गुलत्रयमितः तीसरे भाग से रहित (अर्थात् तृतीयांश कम) तीन अंगुल ($२\frac{२}{३}$ अंगुल) माप वाला भवेत् होता है।

(सर०) अभिप्राय यह है कि ककुभ की डंडी को डाँड में डालने के बाद ककुभ के ऊपर के मध्य भाग और डाँड के सिरे के बीच $२\frac{२}{३}$ अंगुल की दूरी रहनी चाहिये।

(तन्त्रीस्थापनम्)

दण्डान्ते सारिकोत्सेधः स्याद् यवोनाङ्गुलद्वयः॥ ३१०॥
तदर्धो मेढकोपान्त्ये,

तार की स्थापना

३१० ग-३११ क. (अ०) दण्ड-अन्ते डाँड के अन्त में सारिका उत्सेधः तार की ऊँचाई यव-ऊन-अङ्गुलद्वयम् एक जौ कम दो अंगुल स्यात् होती है (और) मेढक-उपान्त्ये मेढक के अन्त के पास तत् अर्धः उससे आधी।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(सारिकास्थापनम्)

सारीणामन्तरं त्विह।
प्रथमं प्रथितं प्राज्ञैः सार्धाङ्गुलचतुष्टयम्॥ ३११॥

द्वितीयमन्तरं मेयं सयवैरङ्गुलैस्त्रिभिः।
तृतीयं तु तृतीयांशाभ्यधिकैस्त्रिभिरङ्गुलैः॥ ३१२॥

चतुर्थं त्र्यङ्गुलं प्रोक्तं पञ्चमं सारिकान्तरम्।
यवाधिकाभ्यां सार्धाभ्यामङ्गुलाभ्यां मितं मतम्॥ ३१३॥

पर्दों की स्थापना

३११ ख-३१३. (अ०) इह इस (वीणा) पर सारीणाम् अन्तरं तु पर्दों का अन्तर (बीच की दूरी) तो प्राज्ञैः जानकारों के द्वारा प्रथमं पहला स-अर्ध-अङ्गुलचतुष्टयम् आधे सहित चार (साढ़े चार) अंगुल प्रथितं घोषित किया गया। द्वितीयम् अन्तरं दूसरा अन्तर सयवैः त्रिभिः अङ्गुलैः एक जौ सहित तीन अंगुलों से मेयं नापा हुआ (अर्थात् नाप वाला होता है)। तृतीयं तु तीसरा तो त्रिभिः अङ्गुलैः तृतीयांश-अभ्यधिकैः तीन अंगुलों के साथ तृतीयांश ज्यादा, चतुर्थं चौथा त्रि-अङ्गुलं प्रोक्तं तीन अंगुल कहा गया (है)। पञ्चमं सारिका-अन्तरं पाँचवें पर्दे का अन्तर यव-अधिकाभ्यां सार्धाभ्याम् अङ्गुलाभ्याम् एक जौ ज्यादा आधे सहित एक (डेढ़) अंगुल मितं नाप वाला मतं माना गया (है)।

षष्ठं यवद्वयन्यूनद्व्यङ्गुलं सप्तमं पुनः।
सयवार्धाङ्गुलद्वन्द्वमष्टमं त्वङ्गुलद्वयम्॥ ३१४॥

अङ्गुलं सयवद्वन्द्वं नवमं दशमं पुनः।
यवोनमङ्गुलद्वन्द्वमन्तरत्रितयं पुनः॥ ३१५॥

इतः परस्याः प्रत्येकं सपादाङ्गुलसंमितम्।
विशेषोऽयमिहान्यत्तु लक्ष्म स्याद् बृहतीगतम्॥ ३१६॥

इति मध्यमा किंनरी

३१४-३१६. (अ०) षष्ठं छठा यवद्वयन्यूनद्वि-अङ्गुलं दो जौ कम दो अंगुल, पुनः फिर सप्तमं सातवाँ स-यवार्ध-अङ्गुलद्वन्द्वं आधे जौ सहित दो अंगुल, अष्टमं तु आठवाँ तो अङ्गुलद्वयं दो अंगुल, नवमं नवाँ सयवद्वन्द्वम् अङ्गुलं दो जौ सहित एक अंगुल, पुनः फिर दशमं दसवाँ यव-ऊनम् अङ्गुलद्वन्द्वम् एक जौ कम दो अंगुल, पुनः फिर इतः परस्याः इसके बाद (की सारिकाओं) के अन्तरत्रितयं तीन अन्तर (में से)प्रत्येकं हर एक सपाद-अङ्गुलसंमितं चौथाई सहित एक (सवा-सवा) अंगुल नाप वाले (होते हैं)। इह यहाँ अयं विशेषः यह (इतना लक्षण) विशेष (है)। अन्यत् लक्ष्म तु अन्य लक्षण तो बृहतीगतं बृहती (किंनरी) का स्यात् होता है।

यह मध्यमा किंनरी है।

(लघ्वी किंनरी)

(दण्डलक्षणम्)

लघ्वीदण्डगतं दैर्घ्यं स्यात् पञ्चत्रिंशदङ्गुलम्।
परिधिस्तु तृतीयांशाधिकाङ्गुलपञ्चकः॥ ३१७॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

लघ्वी किंनरी

डाँड का लक्षण

३१७. (अ०) लघ्वीदण्डगतं दैर्घ्यं छोटी (किंनरी) की डाँड की लंबाई पञ्चत्रिंशत् अङ्गुलं पैतीस अंगुल (और) परिधिः तु घेरा तो तृतीयांश-अधिक-अङ्गुलपञ्चकः एक तिहाई ज्यादा पाँच अंगुल का समूह (५$\frac{१}{३}$) स्यात् होता है।

(ककुभलक्षणम्)

अङ्गुलत्रयविस्तारं ककुभस्य शिरो भवेत्।
पूर्ववत् काकुभो दण्डो वीणादण्डे निधीयते॥ ३१८॥

परिशेषस्तथा सा स्याद् यथा दण्डान्ततन्त्रिका।
आ ककुभशिरोमध्याद् भवेत् त्र्यङ्गुलसंमिता॥ ३१९॥

दण्डान्ते सरिकोत्सेधः स्यात् सार्धाङ्गुलसंमितः।
तदर्धे मेढकोपान्ते,

ककुभ का लक्षण

३१८-३२० ग. (अ०) ककुभस्य शिरः ककुभ का सिर (ऊपर का भाग) अङ्गुलत्रयविस्तारं तीन अंगुल चौड़ा भवेत् होता है। काकुभः दण्डः ककुभ की डंडी पूर्ववत् पहले की तरह वीणादण्डे वीणा की डाँड में निधीयते रखी (डाली) जाती है। परिशेषः तथा स्यात् शेष अंश उस तरह होता है यथा जिससे आ ककुभशिरः मध्यात् ककुभ के सिर के बीच से लेकर सा वह दण्ड-अन्ततन्त्रिका डाँड के अन्त की तन्त्री (तार) त्रि-अङ्गुलसंमिता तीन अंगुल नाप वाली भवेत् होती है (हो जाय)। दण्ड-अन्ते डाँड के अन्त में सारिका-उत्सेधः तार की ऊँचाई स-अर्ध-अङ्गुलसंमितः आधे सहित एक (डेढ़) अंगुल नाप वाली स्यात् होती है। मेढक-उपान्ते मेरु के अन्त के पास (ऊँचाई) तत-अर्धे उससे आधी (होती है)।

(सारिकास्थापनम्)

तत्राद्यं सारिकान्तरम्॥ ३२०॥

प्रोक्तं यवेनाभ्यधिकैश्चतुर्भिर्मितमङ्गुलैः।
द्वितीयं द्वियवोपेताङ्गुलद्वन्द्वमितं भवेत्॥ ३२१॥

यवोनाभ्यामङ्गुलीभ्यां तृतीयं मीयते बुधैः।

पर्दों की स्थापना

३२० घ-३२२ ख. (अ०) तत्र उस (लघ्वी) में आद्यं सारिका-अन्तरं पहला सारिका का अन्तर यवेन अभ्यधिकैः एक जौ ज्यादा चतुर्भिः अङ्गुलैः मितं चार अंगुलों से नापा हुआ प्रोक्तं कहा गया (है)। द्वितीयं दूसरा द्वियव-उपेत-अङ्गुलद्वन्द्वमितं दो जौ युक्त दो अंगुल नाप वाला भवेत् होता है। तृतीयं तीसरा बुधैः बुधजनों के द्वारा यव-ऊनाभ्याम् अङ्गुलीभ्याम् एक जौ कम दो अंगुलों से मीयते मापा जाता है।

पादोनत्र्यङ्गुलं तुर्यमथ पञ्चममन्तरम्॥ ३२२॥

यवार्धोनाङ्गुलद्वन्द्वं षष्ठं सार्धाष्टभिर्यवैः।
सप्तमं तु यवोनेनाङ्गुलद्वन्द्वेन मीयते॥ ३२३॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

३२२ ग-३२३. (अ०) तुर्यं चौथा पाद-ऊनत्रि-अङ्गुलं चौथाई कम तीन (पौने तीन) अंगुल, अथ अब पञ्चमम् अन्तरं पाँचवाँ अन्तर यव-अर्ध-ऊन-अङ्गुलद्वन्द्वं आधा जौ कम दो अंगुल, षष्ठं छठा स-अर्ध-अष्टभिः यवैः आधे सहित आठ जौ (एक अंगुल साढ़े आठ जौ) से, सप्तमं तु सातवाँ तो यव-ऊनेन-अङ्गुलद्वन्द्वेन एक जौ कम दो अंगुलों से मीयते मापा जाता है।

सार्धाङ्गुलं त्वष्टमं स्यान्नवमं त्वष्टभिर्यवैः।
दशमैकादशे प्रोक्ते सपादाङ्गुलके पृथक्॥ ३२४॥

यवन्यूनाङ्गुलमितं द्वादशं च त्रयोदशम्।

३२४-३२५ ख. (अ०) स-अर्ध-अङ्गुलं तु आधे सहित एक (डेढ़) अंगुल तो अष्टमं स्यात् आठवाँ होता है। नवमं तु नवाँ तो अष्टभि : यवैः आठ जौ से, दशम-एकादशे दसवाँ और ग्यारहवाँ पृथक् अलग-अलग सपाद-अङ्गुलके चौथाई सहित एक-एक (सवा-सवा) अंगुल पर प्रोक्ते कहे गये (हैं)। द्वादशं त्रयोदशं च बारहवाँ और तेरहवाँ यवन्यून-अङ्गुलमितम् एक जौ कम एक(-एक) अंगुल नाप वाला (है)।

अन्यत्तु लघुकिंनर्यां लक्ष्म पूर्ववदिष्यते॥ ३२५॥

३२५ ग-घ. (अ०) लघुकिंनर्यां लघु किंनरी में अन्यत् लक्ष्म तु अन्य लक्षण तो पूर्ववत् इष्यते पहले की तरह इष्ट होता है।

न बृहत्यधिकं मानं न हीनं त्रिंशदङ्गुलात्।
आदर्तव्यं किंनरीणां रक्तिमाधुर्यवर्जनात्॥ ३२६॥

एतयोरन्तराले तु यथेष्टं मानकल्पना॥
शक्ता विवेक्तुमत्रापि स्वरस्थानानि तद्विदः॥ ३२७॥

इति लघ्वी किंनरी

३२६-३२७ (अ०) रक्तिमाधुर्यवर्जनात् रंजकता (और) मधुरता न रहने से किंनरीणां किंनरियों में न बृहती-अधिकं न बृहती से ज्यादा न त्रिंशत्-अङ्गुलात् हीनं न तीस अंगुल से कम मानं नाप को आदर्तव्यम् आदर देना चाहिये। एतयोः अन्तराले तु इन दोनों के बीच में तो यथा-इष्टं जैसी इष्ट (हो वैसी) मानकल्पना नाप की योजना (करनी चाहिये)। अत्र अपि इसमें भी तत् विदः उस (किंनरी) के जानकार स्वरस्थानानि स्वरों के स्थान विवेक्तुं निर्धारित करने के लिये (करने में) शक्ताः समर्थ होते हैं।

यह लघ्वी किंनरी है।

(किंनर्यां देशीरागाणां वादनप्रकारः)

प्रदर्शनार्थं केषांचिद् रागाणां वादनक्रमम्।
अस्यां किंनरवीणायां वक्ति श्रीकरणेश्वरः॥ ३२८॥

किंनरी में देशीरागों का वादन

३२८. (अ०) अस्यां किंनरवीणायां इस किंनरी वीणा में प्रदर्शन-अर्थम् उदाहरण के लिये केषांचित् रागाणां वादनक्रमं कुछ रागों का वादन-क्रम श्रीकरणेश्वरः श्रीकरणेश्वर (शार्ङ्गदेव) वक्ति कहता है।

(सर०) किंनरी में जिन रागों की वादनविधि ग्रन्थकार ने यहाँ दी है वे सभी देशीराग हैं जो रागाध्याय में अधुनाप्रसिद्ध देशी रागों के वर्ग में दिये गये हैं इसलिये कल्लि० ने व्याख्या शुरू करते हुए कहा कि कुछ अधुना प्रसिद्ध देशीरागों का वादनक्रम ग्रन्थकार ने दिखाया है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(रागाङ्गाणि)

(मध्यमादिः)

स्थायिनं मध्यमं मन्द्रं मध्यं वा स्थायिनः परान्।
आरुह्य पनिसान् पञ्चावरोह्य क्रमतः स्वरान्॥ ३२९॥

षड्जतः स्थायिपर्यन्ताद्यदाहन्यात्तु धैवतम्॥
मध्यमादेः समाख्यातं स्वस्थानं प्रथमं तथा॥ ३३०॥

रागांग

१—मध्यमादि

३२९-३३०. (अ०) मन्द्रं मध्यं वा मध्यमं मन्द्र या मध्य (स्थान के) मध्यम को स्थायिनं स्थायी (स्वर बनाकर) स्थायिनः परान् स्थायी से बाद वाले पनिसान् आरुह्य प-नि और स को (तक) आरोह करके क्रमतः क्रम से षड्जतः षड्ज से स्थायिपर्यन्तात् स्थायी (स्वर म) तक पञ्च स्वरान् अवरोह्य पाँच स्वरों का अवरोह करके यदा जब धैवतं तु धैवत को तो हन्यात् आहत करें (आहत गमक से प्रयुक्त करें तो) मध्यमादेः मध्यमादि (राग) का प्रथमं स्वस्थानं पहला 'स्वस्थान' समाख्यातं कहा गया (है)।

(सर०) ग्रन्थकार ने सबसे पहले ९ रागांगों की, उसके बाद २ भाषांगों की, फिर ३ क्रियांगों की और अन्त में ७ उपांग रागों की विधि दी है। यहाँ पहले रागांग मध्यमादि से शुरू किया है।

प्रकीर्णकाध्याय में कही गई रागालप्ति में चार स्वस्थान, स्थायी स्वर, द्व्यर्ध, अर्धस्थित और द्विगुण—इन पारिभाषिक संज्ञाओं के लक्षण दिये जा चुके हैं। उनके अनुसार रागालप्ति करने की विधि ही यहाँ दी गई है।

रागाध्याय में मध्यमादि के लक्षण में म ग्रह, अंश कहा गया है (२/२/७० ग)। मध्यमादि में मन्द्र या मध्य स्थान का मध्यम स्थायी स्वर कहा है। वहाँ से शुरू करके पनिस तक आरोह करके फिर स से ५ स्वर का अवरोह और धैवत पर आहत गमक का प्रयोग करने पर मध्यमादि का पहला स्वस्थान होता है। कल्लि० ने कहा कि इस राग में धैवत और उसका संवादी ऋषभ वर्जित है। लेकिन ग्रन्थकार ने क्रम से ५ स्वरों का अवरोह कहा इसलिये यह समझना चाहिये कि वर्जित स्वर का अवरोह में क्वचित् प्रयोग करने से राग की हानि नहीं होती।

मन्द्र मध्यम से शुरू करने की छूट पर कुम्भा ने रक्ति की हानि कह कर उसे अस्वीकार किया है। साथ ही यह आपत्ति भी की है कि स से मन्द्र स्थायी तक ५ स्वरों का अवरोह संभव होने पर भी स्वस्थान स्थापित नहीं किया जा सकता और इस राग में धैवत का अभाव होने से धैवत पर आघात भी संभव नहीं है। इसलिये सभी रागों में मध्यस्थान के स्वर को स्थायी बनाकर रागालपन शुरू करना चाहिये। (सं० राज, ३/१/४/ १४६-१५०)

द्व्यर्धमर्धस्थितं तद्वदारुह्य द्विगुणं स्वरम्।
आद्यं स्वस्थानमातिष्ठेत् स्वस्थानत्रितये परे॥ ३३१॥

असंभवे पूर्वपूर्वस्वरस्य तु परं परम्।
क्रमेण स्वरमारोहेत् सर्वरागेष्विति स्थितिः॥ ३३२॥

इति मध्यमादिः

३३१-३३२. (अ०) तद्वत् उसी तरह परे स्वस्थानत्रितये अन्य तीन स्वस्थानों में द्व्यर्धम् अर्धस्थितं द्विगुणं स्वरम् आरुह्य द्व्यर्ध, अर्धस्थित (और) द्विगुण स्वर को (स्वर तक) चढ़ कर आद्यं स्वस्थानम् आतिष्ठेत् पहले स्वस्थान पर रुकना चाहिये।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

पूर्वपूर्वस्वरस्य असंभवे तु पूर्व-पूर्व स्वर संभव न होने पर तो क्रमेण क्रम से परं परं स्वरं बाद-बाद वाले स्वर को (स्वर पर) आरोहेत् आरोह करना चाहिये। सर्वरागेषु सब रागों में इति स्थितिः ऐसी (ही) स्थिति (समझनी चाहिये)।

(सर०) दूसरे स्वस्थान में द्व्यर्ध यानी स्थायी से चौथे स्वर तक, तीसरे में अर्धस्थित यानी ७वें तक और चौथे में द्विगुण यानी आठवें व उससे ऊपर के स्वरों में आलप्ति की जाती है। ग्रन्थकार ने कहा कि अगर इनमें कहीं पूर्व स्वर का प्रयोग संभव न हो तो बाद वाले स्वर तक जा सकते हैं। कल्लि० के अनुसार संभव न होने का अर्थ है उस स्वर का वर्जित होना।

रागा० में स्वस्थान का जो नियम दिया गया है वह सामान्य लक्षण है। लेकिन यहाँ उससे यह समझना चाहिये कि देशी रागों में राग के स्वरूप की दृष्टि से नियम में आवश्यकतानुसार परिवर्तन करना संभव है। अगर अगले स्वस्थान के स्वर को छुए बिना रागरूप व्यक्त न हो सके तो उसे छुआ जा सकता है। ग्रन्थकार ने अगले-अगले स्वर के प्रयोग की जो छूट दी है वह उन रागों के संदर्भ में समझनी चाहिये जहाँ पूर्व वर्ज्य हो और अगले के बिना राग के स्वरूप की अभिव्यक्ति न होती हो।

आगे वंश में भी इन रागों की वादनविधि दी गई है। 'पूर्व पूर्व-असंभवे' पक्ष को वहाँ कल्लि० ने मध्यमादि की व्याख्या में उदाहरण सहित स्पष्ट किया है।

कुम्भा ने स्पष्ट रूप से कहा कि षाडव आदि रागों में पूर्व-पूर्व स्वर का क्रम से प्रयोग संभव न होने पर हमेशा बाद-बाद वाले स्वर पर जाना चाहिये (वही, १४५)।

यह मध्यमादि है।

(बङ्गाल)

किंनरीवादकाः प्रायः स्थायिनं पञ्चमं स्वरम्।
रागे कुर्वन्ति बङ्गाले तदज्ञानविजृम्भितम्॥ ३३३॥

ग्रहो हि मध्यमो रागस्यास्य शास्त्रे प्रकीर्तितः।
यद्वा लक्ष्यप्रधानानि शास्त्राण्येतानि मन्वते॥ ३३४॥

तस्माल्लक्ष्यविरुद्धं यत् तच्छास्त्रं नेयमन्यथा।

२—बंगाल

३३३-३३५ ख. (अ०) किंनरीवादकाः किंनरीवादक प्रायः सामान्य रूप से बङ्गाले रागे बंगाल राग में पञ्चमं स्वरं पंचम स्वर को स्थायिनं कुर्वन्ति स्थायी करते हैं तत् वह अज्ञानविजृम्भितम् अज्ञान का प्रदर्शक (है)। शास्त्रे शास्त्र में अस्य रागस्य ग्रहः इस राग का ग्रह मध्यमः हि निश्चित रूप से मध्यम प्रकीर्तितः कहा गया (है)। यत् वा अथवा एतानि शास्त्राणि ये शास्त्र (इन शास्त्रों को) लक्ष्यप्रधानानि लक्ष्यप्रधान (प्रयोगाधारित) मन्वते मानते हैं तस्मात् इसलिये यत् शास्त्रं जो शास्त्र लक्ष्यविरुद्धं लक्ष्य का विरोधी (हो) तत् वह अन्यथा अन्य प्रकार से (अर्थात् लक्ष्यविरोधी न रहे इस तरह) नेयं लेना चाहिये (उसकी व्याख्या करनी चाहिये)।

(सर०) ग्रन्थकार ने बंगाल रागांग के शास्त्रोक्त नियम और प्रयोगगत रूप के भेद को दिखाते हुए यह कहा कि शास्त्र लक्ष्य यानी क्रिया पर आधारित होता है इसलिये अगर दोनों में कहीं विरोध दिखाई दे तो शास्त्र की व्याख्या इस तरह होनी चाहिये जिससे वह लक्ष्य का विरोधी न रहे।

रागा० में बंगाल के लक्षण में मध्यम ग्रह, अंश, न्यास कहा है (२/२/७८) जो शास्त्रोक्त नियम है। लेकिन उसके लक्ष्यगत रूप में प को स्थायी बनाया जाता है, इस अन्तर का ग्रन्थकार ने यहाँ उल्लेख किया है।

मध्यमादिपदं ज्ञेयं पञ्चमाद्युपलक्षणम्॥ ३३५॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

प्राथम्यसाम्यतो यद्वा नियमादृष्टकल्पना।
मध्यमादिग्रहे कार्या,

३३५ ग-३३६ ग. (अ०) प्राथम्यसाम्यतः प्राथमिकता की समानता से **मध्यम-आदिपदं** मध्यम आदि शब्द को **पञ्चम-आदि-उपलक्षणं** पंचम आदि का उपलक्षण (निदर्शक) **ज्ञेयं** जानना चाहिये। **यत् वा** अथवा **मध्यम-आदिग्रहे** मध्यम आदि ग्रह (इस कथन) में **नियम-अदृष्टकल्पना कार्या** (ग्रह संबन्धी) नियम के अनुसार अदृष्ट (फल) की कल्पना करनी चाहिये।

(सर०) लक्ष्य और लक्षण (शास्त्र) में विरोध न रहे इस प्रकार, मध्यम ग्रह संबन्धी शास्त्रोक्त नियम की, व्याख्या किस तरह की जाय यह ग्रन्थकार ने यहाँ बताया है।

कल्लि० ने इस पर विस्तृत व्याख्या करते हुए कहा कि मूर्च्छना के संदर्भ में ग्रन्थकार ने 'षड्ज के स्थान पर स्थित निषाद आदि से रजनी मूर्च्छना' (१/४/१४) संबन्धी अन्य आचार्यों के मत का उल्लेख देशी संगीत के विस्तार को ध्यान में रखकर किया है। प्राथम्य सबका समान होता है। प्राथम्य के साम्य का आशय सम्भवतः यह है कि मध्यम या पंचम जो भी स्थायी स्वर हो वह प्रथम यानी पहला ही कहा जायगा। बंगाल देशी राग है इसलिये इसमें भी प्राथम्य के साम्य से मध्यम पंचम का निदर्शक है। आशय यह है कि देशी राग होने के कारण बंगाल में शास्त्रोक्त मध्यम से पंचम का ग्रहण किया जा सकता है।

एक और दृष्टि से, फल के आधार पर भी ग्रन्थकार ने विरोध का परिहार किया है। कल्लि० के अनुसार बंगाल में मध्यम का ग्रहत्व अदृष्ट फल के लिये है लेकिन देशी में रंजकता यानी देशी फल प्रमुख है। इसलिये मध्यम ग्रह होने पर अधिक फल यानी अदृष्ट प्राप्त होता है और पंचम ग्रह हो तो रक्तिलाभ यानी दृष्ट फल होता है।

नन्वस्मिन् मध्यमे ग्रहे॥ ३३६॥

अधस्तनः स्याद् गान्धारो मध्यमः पञ्चमे ग्रहे।
तुर्यादिव्यत्ययेऽप्येवं रागसाम्यं कथं भवेत्॥ ३३७॥

३३६ घ-३३७. (अ०) नुन प्रश्न यह है कि **अस्मिन्** इस (बंगाल राग) में **मध्यमे ग्रहे** मध्यम ग्रह होने पर **गान्धारः** गान्धार **अधस्तनः स्यात्** (उससे) नीचे वाला (स्वर) होता है (और) **पञ्चमे ग्रहे** पंचम ग्रह होने पर **मध्यमः** मध्यम (नीचे का स्वर होता है)। **एवम् अपि** इसी तरह **तुर्य-आदिव्यत्यये** चौथे आदि (स्वरों) का क्रम परिवर्तन होने पर **रागसाम्यं** राग का साम्य (अर्थात् पहचान) **कथं भवेत्** कैसे हो?

(सर०) विरोध परिहार पर ग्रन्थकार ने स्वयं ही जो शंका उठाई उसका आशय यह है कि पंचम के ग्रहत्व में उसके नीचे और ऊपर के स्वर भी बदल जायँगे तब यह पहचान कैसे होगी कि यह वही राग है?

निःशङ्कोऽत्र समाधत्ते गान्धाराद्यप्रयोजकम्।
किंतु स्थायिनमारभ्य ये स्युस्तुर्यादयः स्वराः॥ ३३८॥

रागाभिव्यक्तिशक्ताः स्युर्ननु शास्त्रेष्वनर्थिका।
षड्जाद्युक्तिः प्रसज्येत,

३३८-३३९ ग. (अ०) अत्र यहाँ (इस शंका का) **निःशङ्कः** निःशंक (शार्ङ्गदेव) **समाधत्ते** समाधान करता है। **गान्धार-आदि-अप्रयोजकं** (यहाँ) गान्धार आदि प्रयोजक नहीं हैं **किंतु** बल्कि **स्थायिनम् आरभ्य** स्थायी (स्वर) से शुरू करके **ये** जो **तुर्य-आदयः** चौथे आदि **स्वराः स्युः** स्वर होते हैं (वे) **राग-अभिव्यक्तिशक्ताः स्युः** राग को प्रकट करने में समर्थ होते हैं। **ननु** (फिर) शंका यह है कि **शास्त्रेषु** शास्त्रों में **षड्ज़-आदि-उक्तिः** 'षड्ज आदि' उक्ति (कथन) **अनर्थिका प्रसज्येत** निर्थक सिद्ध होगी।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(सर०) ग्रन्थकार द्वारा शंका के समाधान का आशय टीकाकारों के अनुसार यह है। मध्यम से नीचे के गान्धार और पंचम से नीचे के मध्यम से यहाँ प्रयोजन नहीं है बल्कि ग्राम के अनुसार षड्ज या मध्यम के स्थान पर जो स्वर स्थित यानी स्थायी किया जाय उससे शुरू करके यानी उसे पहला मानकर उससे नीचे या ऊपर के चौथे आदि स्वर राग की अभिव्यक्ति करने में समर्थ होते हैं।

ग्रन्थकार ने फिर शंका उठाई कि इस तरह तो शास्त्र में जो षड्ज आदि का ग्रहत्व कहा वह निरर्थक हो जायेगा।

सत्यं तत्रोच्यते त्विदम्॥ ३३९॥

मध्यमादिग्रहः शास्त्रे नियतस्तदपेक्षया।
तुर्यादयो निषादाद्या भवन्तीत्युपपद्यते॥ ३४०॥

३३९ घ-३४०. (अ०) सत्यं (यह) सही है। तत्र तु उस (बारे) में तो इदम् उच्यते यह कहा जाता है (अर्थात् उत्तर देता हूँ)। शास्त्रे शास्त्र में मध्यम-आदि ग्रहः मध्यम आदि ग्रह नियतः निश्चत (है)। तत् अपेक्षया उसकी अपेक्षा से (अर्थात् आधार पर) निषाद-आद्याः निषाद आदि तुर्य-आदयः चौथे आदि भवन्ति होते हैं इति उपपद्यते यह युक्तिसंगत है।

(सर०) टीकाकारों ने कहा कि शास्त्रों में षड्जादि संबन्धी उक्ति की निरर्थकता को आधा स्वीकार करके ग्रन्थकार ने फिर जो परिहार किया उसका आशय यह है कि शास्त्रों में मध्यम आदि का ग्रह के रूप में नियत होना अदृष्ट फल के लिये है। इसलिये यह नियम निरर्थक नहीं है। मध्यम आदि के आधार पर निषाद आदि ही चौथे होते हैं इसलिये उक्त कथन सार्थक है।

ग्रहांशन्यासनियमो यद्वा शास्त्रस्य गोचरः।
गुम्फः स्वरान्तराणां तु लक्ष्यस्थो न विरुध्यते॥ ३४१॥

३४१. (अ०) यत् वा अथवा ग्रह-अंशन्यासनियमः ग्रह, अंश, न्यास का नियम शास्त्रस्य गोचरः शास्त्र का विषय (है) लक्ष्यस्थः (लेकिन) लक्ष्य (प्रचार) में होने वाली स्वरान्तराणां गुम्फः तु अन्य स्वरों की रचना तो न विरुध्यते विरोधी नहीं होती।

(सर०) यहाँ अनर्थकता का एक और प्रकार से भी ग्रन्थकार ने परिहार किया है। कल्लि० के अनुसार शास्त्र में ग्रह, अंश, न्यास का ही नियम है लेकिन इनके अलावा अपन्यास आदि और अन्तरमार्ग वाले स्वर भी होते हैं जिनका प्रयोग लक्ष्य में होता है और वे शास्त्र के विरोधी नहीं होते। सिंह० के अनुसार लक्ष्य में स्थित अन्य स्वरों के गुम्फ का ग्रह आदि के रूप में प्रयोग होता है जो शास्त्र में निषिद्ध न होने से शास्त्र का विषय कहा जायगा।

परवर्ती देशीरागों में राग का स्वरूप मुख्य था। इस दृष्टि से नियमों में ढील आवश्यक हो तो वैसा किया जा सकता था इसीलिये लक्ष्य और लक्षण में विरोध दिखाई देने लगा।

सर्वत्र परिहारोऽयं लक्ष्ये लक्ष्माविरोधिनि।
देशीरागेषु निर्णीतः शार्ङ्गदेवेन सूरिणा॥ ३४२॥

३४२. (अ०) लक्ष्म-अविरोधिनि लक्ष्ये लक्षण के विरोधी न होने वाले लक्ष्य (के संबन्ध) में अयं परिहारः यह निराकरण सूरिणा शार्ङ्गदेवेन विद्वान् शार्ङ्गदेव के द्वारा देशीरागेषु देशी रागों में सर्वत्र सभी जगह निर्णीतः निश्चित किया गया (है)।

(सर०) इसका आशय यह है कि यहाँ विरोध परिहार के लिये जो तर्क दिये गये वे उन सभी देशी रागों में लागू होते हैं जहाँ लक्ष्य और लक्षण में विरोध दिखाई दे।

कल्लि० ने याद दिलाया कि रागांग, भाषांग, क्रियांग और उपांग देशी राग हैं उन्हीं के संदर्भ में विरोध दूर करने का यह रास्ता निश्चित किया गया है। शुद्धसाधारित तक के ग्रामराग मार्गराग के स्वरूप वाले हैं उनमें लक्षण प्रधान है इसलिये लक्ष्य में उनका प्रयोग तदनुसार ही होने से विरोध प्राप्त ही नहीं होता फिर वहाँ परिहार कैसा?—यह अभिप्राय समझना चाहिये। कल्लि० ने उदाहरण दिया कि मूर्च्छना-लक्षण में ग्रन्थकार ने कहा कि षड्ज आदि और मध्यम आदि से नीचे-नीचे के स्वरों से अगली

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

मूर्च्छनाएँ प्राप्त होती हैं यह जो जाति आदि का अन्तरभाषा विषयक अन्तरमार्ग संबन्धी पक्ष कहा गया उसमें षड्ज आदि का ग्रहत्व कहने से उससे भिन्न स्वरूप नहीं होता इसलिये विरोध उत्पन्न ही नहीं होता।

बंगाल राग के संदर्भ में लक्ष्य और लक्षण में जो विरोध दिखाया गया, उसका जो परिहार ग्रन्थकार ने किया और टीकाकारों ने उसकी जो व्याख्या की उससे यह स्पष्ट है कि शार्ङ्गदेव के समय से पहले ही रागों के प्रयोगगत रूप में हुए परिवर्तन के कारण शास्त्रोक्त नियम ज्यों के त्यों संगत नहीं रह गये थे। लक्ष्य और लक्षण में संगति बिठाने का प्रयत्न इस रूप में किया जाता रहा कि मार्गसंगीत के अदृष्ट फल के लिये शास्त्रोक्त नियम अनिवार्य थे लेकिन देशी संगीत में दृष्ट फल यानी रंजकता ही मुख्य होने से शास्त्रोक्त नियमों से भिन्न ऐसे प्रयोग भी होते थे जो शास्त्र के विरोधी नहीं थे।

लक्ष्य-लक्षण में विरोध के बजाय यह कहना ज्यादा तर्कसंगत लगता है कि तत्कालीन रागों के स्वरूप के आधार पर शास्त्र में जो नियम बनाये गये वे उन रागों के लिये सार्थक थे लेकिन परिवर्तित रूपों में पूरे-पूरे संगत नहीं थे और पूर्व नियम नये रागों के वर्गीकरण के लिये पर्याप्त भी नहीं थे।

मध्यमं स्थायिनं कृत्वा गान्धारात् तदधस्तनात्।
पञ्चारुह्य निषादान्तान् गपर्यन्तावरोहणम्॥ ३४३॥

कृत्वा स्थायिनिषादौ च विधायाहत्य धैवतम्।
स्थाय्यन्तमवरोहेच्चेद् बङ्गालो जायते तदा॥ ३४४॥

इति बङ्गालः

३४३-३४४. (अ०) मध्यमं मध्यम को स्थायिनं कृत्वा स्थायी (स्वर) बनाकर तत् अधस्तनात् गान्धारात् उससे नीचे के गान्धार से (शुरू करके) निषाद-अन्तान् निषाद से अन्त होने वाले पञ्च आरुह्य पाँच (स्वरों तक) आरोह करके ग-पर्यन्त-अवरोहणं कृत्वा (नि से) ग तक अवरोह करके स्थायिनिषादौ विधाय स्थायी (स्वर म) और निषाद का प्रयोग करके धैवतम् आहत्य च और धैवत को आहत करके स्थायि-अन्तम् अवरोहेत् चेत् यदि स्थायी के अन्त तक अवरोह किया जाय तदा तब बङ्गालः जायते बंगाल (राग) उत्पन्न होता है।

(सर०) मध्यम स्थायी होने पर बंगाल के पहले स्वस्थान में स्वरों का जो क्रम बताया है उसके अनुसार यह संनिवेश होगा—

म गमपधनि निधपमग मनि ध(आहत) पम

यह बंगाल है।

(भैरवः)

धैवतं स्थायिनं कृत्वा तृतीयं च चतुर्थकम्।
तस्मात् कृत्वावरोहेण स्थायिपर्यन्तमेत्य च॥ ३४५॥

तृतीयं च ततोऽधस्थं विधाय स्थायिनं व्रजेत्।
यदा तदा भैरवः स्याल्लक्ष्ये स्थायी निरिष्यते॥ ३४६॥

इति भैरवः

३—भैरव

३४५-३४६. (अ०) धैवतं धैवत को स्थायिनं कृत्वा स्थायी करके (बना कर) तस्मात् उससे तृतीयं चतुर्थकं च तीसरा

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

और चौथा अवरोहेण कृत्वा अवरोह से करके स्थायिपर्यन्तं च और स्थायी तक एत्य जा कर तृतीयं च तीसरा और ततः अधस्थम् उससे नीचे स्थित (स्वर) को विधाय प्रयुक्त करके यदा स्थायिनं व्रजेत् जब स्थायी (स्वर) पर जायँ तदा तब भैरवः स्यात् भैरव होता है। लक्ष्ये प्रचार में निः निषाद स्थायी इष्यते स्थायी इच्छित होता है।

(सर०) रागा० में ध अंश, म न्यास और रि-प वर्जित भैरव का लक्षण है (२/२/८२ क)।

यहाँ दिये गये लक्षण के अनुसार भैरव का यह स्वरविन्यास होगा—

ध मग मध सनिध

यह भैरव है।

(वराटी)

स्थायिनो धैवतात् पूर्वं स्वरमागत्य तत्परान्।
पञ्चानारुह्य तुर्यं च द्वितीयं द्विः प्रयुज्यते॥ ३४७॥

स्थायिनि न्यस्यते रागो वराटी जायते तदा।
लक्ष्ये तु दृश्यते स्थायी किंनर्यामृषभस्वरः॥ ३४८॥

इति वराटी

४—वराटी

३४७-३४८. (अ०) स्थायिनः धैवतात् स्थायी (स्वर) धैवत से पूर्वं स्वरम् आगत्य (उससे) पहले स्वर पर आकर तत् परान् पञ्चान् आरुह्य उसके बाद पाँच (स्वरों) तक चढ़कर तुर्यं च द्वितीयं चौथा और दूसरा द्विः प्रयुज्यते दो बार प्रयोग किया जाता है (और) स्थायिनि स्थायी पर न्यस्यते समाप्त किया जाता है तदा तब वराटी रागः वराटी राग जायते उत्पन्न होता है। लक्ष्ये तु लक्ष्य में तो किंनर्यां किंनरी में ऋषभः स्वरः ऋषभ स्वर स्थायी दृश्यते स्थायी दिखाई देता है।

(सर०) पाँच स्वरों का आरोह करने के बाद चौथे और दूसरे स्वर का दो बार प्रयोग ग्रन्थकार ने कहा है। सिंह० ने स्थायी से नीचे के दूसरे और चौथे का प्रयोग बताया है।

कल्लि० ने वराटी से ललिता तक रागों के लक्षण को स्पष्ट कह कर छोड़ दिया है। लेकिन कई रागों का उदाहरण देकर इस तरफ़ ध्यान दिलाया है कि इन रागों के लक्षणों में पहले किसी स्वर को स्थायी कह कर अन्त में लक्ष्य के अनुसार उससे भिन्न स्वर को ग्रह शब्द से सूचित किया है। इस तरह बड़े प्रयत्न से की गई परिहार परंपरा निरर्थक हो जाती है। इसलिये स्थायी को ग्रह का पर्याय समझना चाहिये। आशय यह है कि ग्रह ही स्थायी है और स्थायी ही ग्रह होता है।

यह वराटी है।

(गुर्जरी)

स्थायिनं मध्यमृषभं कृत्वा द्वौ तदधस्तनौ।
गत्वा स्थायिनमारभ्य त्रीनारुह्यावरुह्य तु॥ ३४९॥

पञ्च स्वरान् न्यस्यते चेदृषभे गुर्जरी तदा।
ग्रहो गान्धार एवास्या दृश्यते लक्ष्यगोचरे॥ ३५०॥

इति गुर्जरी

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

५—गुर्जरी

३४९-३५०. (अ०) मध्यम् ऋषभं मध्य (स्थान के) ऋषभ को स्थायिनं कृत्वा स्थायी करके तत् अधस्तनौ द्वौ गत्वा उससे नीचे वाले दो (स्वरों) तक जाकर स्थायिनम् आरभ्य स्थायी से शुरू करके त्रीन् आरुह्य तीन (स्वरों) का आरोह करके पञ्चस्वरान् तु अवरुह्य पाँच स्वरों का तो (अवरोह करके) ऋषभे न्यस्यते चेत् यदि ऋषभ पर समाप्त किया जाता है तदा गुर्जरी तब गुर्जरी (होती है)। लक्ष्यगोचरे लक्ष्य में दृष्टिगत गान्धारः एव गान्धार ही अस्याः ग्रहः इसका ग्रह दृश्यते दिखाई देता है।

यह गुर्जरी है।

(वसन्तः)

मध्यषड्जाद् ग्रहात् पूर्वं स्वरमेत्य तृतीयकम्।
तुर्यं चोक्त्वा द्वितीयादींस्त्रीनारुह्यावरुह्य च॥ ३५१॥

ग्रहन्यासाद्वसन्तः स्याल्लक्ष्ये त्वस्यर्षभो ग्रहः।

इति वसन्तः

६—वसन्त

३५१-३५२ ख. (अ०) ग्रहात् मध्यषड्जात् ग्रह मध्य षड्ज से पूर्वं स्वरम् एत्य पहले वाले स्वर पर जाकर तृतीयकं तुर्यं च उक्त्वा तीसरा और चौथा कह कर द्वितीय-आदीन् त्रीन् दूसरे से शुरू करके तीन (स्वरों) का आरुह्य अवरुह्य च आरोह और अवरोह करके ग्रहन्यासात् ग्रह पर न्यास करने से वसन्तः स्यात् वसन्त होता है। लक्ष्ये तु लक्ष्य में तो ऋषभः ऋषभ अस्य ग्रहः इसका ग्रह (दिखाई देता है)।

यह वसन्त है।

(धन्नासी)

मध्यषड्जं ग्रहं कृत्वा तृतीयं च चतुर्थकम्॥ ३५२॥

उक्त्वा द्वितीयतृतीयौ स्पृष्ट्वा तुर्यं च पञ्चमम्
एत्य क्रमेणावरोहस्त्यक्त्वा स्थायिद्वितीयकम्॥ ३५३॥

स्थायिपूर्वान्तमागत्य ग्रहं तस्मात् तृतीयकम्।
तुर्यं ततस्तृतीयं च प्रोच्यते न्यस्यते ग्रहे॥ ३५४॥

धन्नासी स्यात् तदा दृष्टो लक्ष्ये स्यात् पञ्चमो ग्रहः।

इति धन्नासी

७—धन्नासी

३५२ ग-३५५ ख. (अ०) मध्यषड्जं ग्रहं कृत्वा मध्य षड्ज को ग्रह (स्थायी) करके तृतीयं चतुर्थकं च उक्त्वा तीसरा और चौथा कह कर द्वितीयतृतीयौ स्पृष्ट्वा दूसरा और तीसरा छूकर, तुर्यं पञ्चमं च एत्य चौथे और पाँचवें तक जाकर, स्थायिद्वितीयकं त्यक्त्वा स्थायी से दूसरा छोड़ कर क्रमेण अवरोहः क्रम से अवरोह (करते हुए) स्थायिपूर्व-अन्तम् आगत्य स्थायी से पहले वाले (स्वर) तक आकर, ग्रहं ग्रह को, तस्मात् तृतीयकं उससे तीसरे को, तुर्यं चौथे को ततः तृतीयं च और उसके

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

बाद तीसरे को प्रोच्यते कहा जाता है ग्रहे न्यस्यते (और) ग्रह में समाप्त किया जाता है तदा तब धन्नासी स्यात् धन्नासी होती है। लक्ष्ये लक्ष्य में ग्रहः ग्रह पञ्चमः पंचम दृष्टः स्यात् दिखाई देता है।

(सर०) सिंह० ने इस राग का नाम धनाश्री दिया है। रागा० में धन्नासी है जिसमें रि-प वर्जित हैं।

यह धन्नासी है।

(देशी)

ऋषभं स्थायिनं कृत्वा परं स्पृष्ट्वा ततः परम्॥ ३५५॥

बिलम्ब्य तुर्यमान्दोल्य स्पृष्ट्वा तुर्यादधस्तनौ।
ग्रहान्निःसरणं कृत्वा परौ प्रोच्य द्वितीयकम्॥ ३५६॥

एत्य स्थायिनि चेन्न्यासो देशीरागस्तदा भवेत्।
गान्धारस्तु ग्रहो देश्यां देशीवेदिषु दृश्यते॥ ३५७॥

इति देशी

८—देशी

३५५ ग-३५७. (अ०) ऋषभं स्थायिनं कृत्वा ऋषभ को स्थायी करके, परं स्पृष्ट्वा (उससे) बाद वाले (स्वर) को छूकर, ततः परम् उसके बाद वाले को विलम्ब्य विलंबित करके, तुर्यम् आन्दोल्य चौथे को आन्दोलित (गमकयुक्त) करके, तुर्यात् अधः तनौ चौथे से नीचे के दो (तीसरे और दूसरे) स्पृष्ट्वा छूकर, ग्रहात् ग्रह (स्थायी) से निःसरणं कृत्वा फिसलते हुए परौ अगले दो (स्वर) प्रोच्य कह कर द्वितीयकम् एत्य दूसरे तक जाकर स्थायिनि न्यासः चेत् यदि स्थायी पर न्यास (हो) तदा तो देशीरागः देशी (नामक) राग भवेत् होता है। देशीवेदिषु देशी (रागों) के वेत्ताओं (के प्रयोग) में देश्यां देशी (राग) में गान्धारः तु गान्धार तो ग्रहः दृश्यते ग्रह (स्थायी) दिखाई देता है।

(सर०) रागा० में देशी में पंचम वर्जित है (२/२/१०२ घ)।

यह देशी है।

(देशाख्या)

स्थायिनं मध्यगान्धारं कृत्वाधस्तुर्यमेत्य च।
तस्मादाषष्ठमारुह्य स्वरांस्तानवरुह्य च॥ ३५८॥

ग्रहाधस्तात् तृतीयं च कृत्वा चेन्न्यस्यते ग्रहे।
देशाख्या सा तदा लक्ष्ये दृष्टोऽस्या मध्यमो ग्रहः॥ ३५९॥

इति देशाख्या

इति रागाङ्गाणि

९—देशाख्या

३५८-३५९. (अ०) मध्यगान्धारं मध्य गान्धार को स्थायिनं कृत्वा स्थायी करके अधः तुर्यम् एत्य च और नीचे (के) चौथे तक जाकर तस्मात् उससे आषष्ठम् आरुह्य छठे तक आरोह करके, तान् स्वरान् अवरुह्य च उन स्वरों का अवरोह भी करके

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ग्रह-अधस्तात् ग्रह से नीचे वाले तृतीयं च कृत्वा तीसरे को भी (प्रयुक्त) करके ग्रहे स्थायी में न्यस्यते चेत् यदि समाप्त किया जाता है तदा सा तो वह देशाख्या देशाख्या (होती है)। लक्ष्ये लक्ष्य में मध्यमः मध्यम अस्याः ग्रहः इसका ग्रह दृश्यते दिखाई देता है।

(सर०) रागा० में देशाख्या को ऋषभवर्जित कहा गया है (२/२/१०५ घ)।

यह देशाख्या है।

रागांग समाप्त

(भाषाङ्गाणि)

(डोम्बक्री)

ग्रहान्मध्यस्थितात् षड्जाद् द्वितीयं स्वरमेत्य च।
तृतीयं तदधस्थं च विलम्ब्य स्थायिनं स्पृशेत्॥ ३६०॥

अधस्तृतीयतुर्यौ च तं तृतीयं पुनः स्वरम्।
कृत्वा स्थायिस्वरे न्यासो डोम्बक्री जायते तदा।। ३६१॥

भूपाली सा जनैरुक्ता स्थाय्यस्या मध्यमो मतः।

इति डोम्बक्री

भाषांग

१—डोम्बक्री

३६०-३६२ ख. (अ०) मध्यस्थितात् मध्य (स्थान में) स्थित ग्रहात् षड्जात् ग्रह (स्थायी) षड्ज से द्वितीयं स्वरम् एत्य च दूसरे स्वर पर जाकर तृतीयं तीसरे तत् अधस्थं च और उससे नीचे स्थित (स्वर) को विलम्ब्य बिलंबित (प्रयुक्त) करके स्थायिनं स्पृशेत् स्थायी को छूना चाहिये। अधः तृतीयतुर्यौ च फिर (स्थायी से) नीचे वाले तीसरे और चौथे, पुनः फिर तं तृतीयं स्वरम् उस तीसरे स्वर को कृत्वा (प्रयुक्त) करके स्थायिस्वरे न्यासः स्थायी स्वर पर समाप्त (हो) तदा तो डोम्बक्री जायते डोम्बक्री उत्पन्न होती है। जनैः लोगों के द्वारा सा वह भूपाली उक्ता भूपाली कही गई (अर्थात् कही जाती है)। अस्याः स्थायी (लक्ष्य में) इसका स्थायी (स्वर) मध्यमः मतः मध्यम माना गया (है)।

(सर०) रागा० में इसे रि-प रहित कहा है (२/२/१०८ ख)।

सिंह० ने तं तृतीयं पुनः स्वरं का अर्थ यह किया है—तीसरे को भी इसी तरह घन यानी निबिड उच्चार कर। संभवतः 'स्वरं' के बजाय उसका पाठ 'घनं' है।

लोक में इसे भूपाली कहा जाता है, ऐसा ग्रन्थकार ने उल्लेख किया। कल्लि० ने भी रागा० में भूपाली को डोम्बक्री का पर्याय कहा है (२/२/११ ग पर कल्लि०)।

यह डोम्बक्री है।

(प्रथममञ्जरी)

मन्द्रस्थं पञ्चमं कृत्वा स्थायिनं सह तेन च॥ ३६२॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

आरुह्य षट् स्वरानेषामवरोहे तृतीयकम्।
विलम्ब्य कम्पितं कृत्वा तुर्यं स्थायिनमाव्रजेत्॥ ३६३॥

क्रमेण यदि जायेत तदा प्रथममञ्जरी।
अस्यास्तु मन्द्रगान्धारः स्थायी लक्ष्येषु दृष्यते॥ ३६४॥

इति प्रथममञ्जरी

२—प्रथममंजरी

३६२ ग-३६४. (अ०) मन्द्रस्थं पञ्चमं मन्द्र (स्थान में) स्थित पंचम को स्थायिनं कृत्वा स्थायी करके तेन च सह और उसके साथ षट्स्वरान् आरुह्य छ स्वरों तक चढ़ कर (आरोह करके) एषाम् अवरोहे इनके अवरोह में तृतीयकं विलम्ब्य तीसरा विलंबित (प्रयोग) करके तुर्यं कम्पितं कृत्वा चौथा कम्पित करके यदि क्रमेण यदि क्रम से स्थायिनम् आव्रजेत् स्थायी पर आएँ तदा तब प्रथममञ्जरी जायेत प्रथममंजरी उत्पन्न हो (होती है)। लक्ष्येषु लक्ष्यों में अस्याः इसका स्थायी तु स्थायी तो मन्द्रगान्धारः मन्द्र गान्धार दृश्यते दिखाई देता है।

(सर०) इसके अनुसार स्वरविन्यास यह होगा—

पं पंधंनिंसरिग गरिसानिं(कम्पित)धंपं

यह प्रथममंजरी है।

(कामोदा)

धैवतं स्थायिनं कृत्वान्दोल्य तस्मादधस्तनम्।
आरुह्य चतुरस्तस्मादवरुह्य ग्रहं व्रजेत्॥ ३६५॥

यदा तदा स्यात् कामोदा मध्यमोऽस्या ग्रहो भवेत्।

इति कामोदा

इति भाषाङ्गाणि

३—कामोदा

३६५-३६६ ख. (अ०) यदा जब धैवतं स्थायिनं कृत्वा धैवत को स्थायी करके तस्मात् अधस्तनम् आन्दोल्य उससे नीचे वाले को आन्दोलित करके तस्मात् उससे चतुरः आरुह्य चार (स्वर) चढ़ कर (अर्थात् आरोह करके) अवरुह्य अवरोह करके ग्रहं व्रजेत् ग्रह को जायँ तदा तब कामोदा स्यात् कामोदा होती है। अस्याः ग्रहः (लक्ष्य में) इसका ग्रह मध्यमः भवेत् मध्यम होता है।

(सर०) आनन्द० और आड्यार० में 'अवरोहे ग्रहं' पाठ है। आड्० की पादटिप्पणी में 'अवरुह्य ग्रहं' पाठान्तर है जो अर्थ की संगति की दृष्टि से उपयुक्त है। हमने यही रखा है।

'अवरोहे ग्रहं व्रजेत्' पर सिंह० की टीका यह है 'तेषामेव ग्रहवर्जमवरोहे'—जिसका अर्थ यह होगा—उन्हीं स्वरों में ग्रह को छोड़ कर अवरोह में। श्लोक में 'वर्जं' न होने से व्याख्या में 'वर्ज' होने का औचित्य नहीं है।

राग० में कामोदा नाम से कोई भाषांग राग नहीं है लेकिन आडीकामोदिका है। कामोदा उसी का नामान्तर प्रतीत होता है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

लक्षण के आधार पर स्वरविन्यास यह होगा—

ध प(आन्दोलित) पधनिस सनिध

यह कामोदा है।

भाषांग समाप्त

(क्रियाङ्गाणि)

(रामकृतिः)

षड्जं तु स्थायिनं कृत्वा तत्पूर्वस्वरमेत्य च॥ ३६६॥

स्वरद्वयं द्विरारुह्य तृतीयं च चतुर्थकम्।
प्रकम्प्याथ तृतीयं च विलम्ब्याहत्य पञ्चमम्॥ ३६७॥

स्थाय्यन्तमवरोहेच्चेत् स्वरानृषभवर्जितान्।
मध्यषड्जं ग्रहं कृत्वा सह प्राचा परौ स्वरौ॥ ३६८॥

प्रोच्य तुर्यं विलम्ब्याथ तृतीयं सद्वितीयकम्।
स्पृष्ट्वा यदा ग्रहे न्यासस्तदा रामकृतिर्भवेत्॥ ३६९॥

इति रामकृतिः

क्रियांग

१—रामकृति

३६६ ग-३६९. (अ०) षड्जं तु षड्ज को तो स्थायिनं कृत्वा स्थायी करके तत् पूर्वस्वरम् उससे पहले वाले स्वर पर एत्य च जाकर और स्वरद्वयं दो स्वर द्विः आरुह्य दो बार आरोह करके तृतीयं चतुर्थकं च तीसरे और चौथे को प्रकम्प्य कंपित करके अथ फिर तृतीयं च विलम्ब्य और तीसरे को विलंबित (प्रयुक्त) करके पञ्चमम् आहत्य पाँचवें को आहत (गमक से लगा) करके ऋषभवर्जितान् स्वरान् ऋषभ छोड़े हुए स्वरों को स्थायि-अन्तं स्थायी के अन्त तक अवरोहेत् चेत् यदि अवरोह करें (फिर) मध्यषड्जं मध्य षड्ज को ग्रहं कृत्वा ग्रह करके प्राचा सह पिछले (स्वर) के साथ परौ स्वरौ बाद के दो स्वर प्रोच्य कह कर (लगा कर) तुर्यं बिलम्ब्य चौथे को विलम्बित (प्रयुक्त) करके अथ अब तृतीयं सद्वितीयकं स्पृष्ट्वा तीसरे को दूसरे के साथ छूकर यदा जब ग्रहे न्यासः ग्रह में न्यास (किया जाय) तदा तब रामकृतिः भवेत् रामकृति होती है।

यह रामकृति है।

(गौडकृतिः)

स्थायिनं मध्यमं कृत्वाधश्चतुर्थमुपेत्य च।
ग्रहाधरांस्त्रीनारुह्य स्वरं स्पृष्ट्वा तृतीयकम्॥ ३७०॥

ग्रहाधस्तुर्यपर्यन्तमागत्याप्यवरोहिणा।
ततस्तृतीयमारुह्य क्रमादेत्य प्रकम्प्य च॥ ३७१॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ग्रहे न्यासो यदा रागस्तदा गौडकृतिर्भवेत्।
पञ्चमो लक्ष्यते स्थायी लक्ष्ये स्याल्लक्ष्यवेदिभिः॥ ३७२॥

इति गौडकृतिः

२—गौडकृति

३७०-३७२. (अ०) मध्यमं स्थायिनं कृत्वा मध्यम को स्थायी करके अधः चतुर्थं उपेत्य च और नीचे के चौथे पर आकर ग्रह-अधरान् ग्रह से नीचे के त्रीन् आरुह्य तीन (स्वरों) का आरोह करके तृतीयकं स्वरं स्पृष्ट्वा तीसरे स्वर को छूकर अवरोहिणा अवरोह से ग्रह-अधः तुर्यपर्यन्तं ग्रह से नीचे चौथे (स्वर) तक आगत्य आकर ततः अपि उसके बाद क्रमात् क्रम से आरुह्य एत्य आरोह करके जाकर प्रकम्प्य च और कम्पित (गमकयुक्त) करके यदा जब ग्रहे न्यासः ग्रह में न्यास (हो) तदा तब गौडकृतिः रागः भवेत् गौडकृति राग होता है। लक्ष्यवेदिभिः लक्ष्य के वेत्ताओं के द्वारा लक्ष्ये लक्ष्य में पञ्चमः स्थायी लक्ष्यते स्यात् पंचम स्थायी देखा जाता है।

(सर०) रागा० में गौडकृति में रि-ध वर्जित कहे हैं (२/२/१२८ ग)।

यह गौडकृति है।

(देवकृतिः)

मध्यषड्जं ग्रहं कृत्वाधस्थमेत्य पुनर्ग्रहम्।
कृत्वा तृतीयतुर्यौ च कम्पितं पञ्चमं स्वरम्॥ ३७३॥

वादयित्वा ग्रहात् तुर्यं तृतीयं स्थायिनं तथा।
द्वितीयं कम्पयित्वा च तृतीयं स्वरमास्पृशेत्॥ ३७४॥

ततो यदि ग्रहे न्यासस्तदा देवकृतिर्भवेत्।
अस्यास्तु मध्यमो न्यासो लक्ष्ये श्रीशार्ङ्गिणोदितः॥ ३७५॥

इति देवकृतिः

इति क्रियाङ्गाणि

३—देवकृति

३७३-३७५. (अ०) मध्यषड्जं ग्रहं कृत्वा मध्य षड्ज को ग्रह करके अधस्थम् एत्य नीचे वाले पर जाकर पुनः ग्रहं कृत्वा फिर से ग्रह करके (लेकर) तृतीयतुर्यौ च तीसरा और चौथा भी, पञ्चमं स्वरं कम्पितं पाँचवाँ स्वर कम्पित (करके), ग्रहात् ग्रह से तुर्यं तृतीयं तथा स्थायिनं चौथे, तीसरे और स्थायी को वादयित्वा बजा कर द्वितीयं कम्पयित्वा च और दूसरे को कंपित करके तृतीयं स्वरम् आस्पृशेत् तीसरे स्वर को स्पर्श करें, ततः उसके बाद यदि ग्रहे न्यासः यदि ग्रह पर न्यास (हो) तदा तब देवकृतिः भवेत् देवकृति होती है। श्रीशार्ङ्गिणा श्रीशार्ङ्गदेव के द्वारा लक्ष्ये लक्ष्य में अस्याः न्यासः तु इसका न्यास तो मध्यमः उदितः मध्यम कहा गया है।

(सर०) रागा० में देवकृति में रि-प त्यक्त कहे हैं (२/२/१२९)।

यह देवकृति है।

क्रियांग समाप्त

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(उपाङ्गानि)

(भैरवी)

थैवतं स्थायिनं कृत्वा गं चाधःस्थं पुनर्ग्रहम्।
तत्परं स्थायिनं तस्मात् पूर्वमागत्य च ग्रहम्॥ ३७६॥

आरुह्य त्रींस्तृतीयादीन् पञ्चमादवरुह्य च।
षट् स्वरान् ग्रहमुच्चार्य तृतीयं कम्पयेत् ततः॥ ३७७॥

तुर्यपञ्चमतुर्यांश्च स्पृष्ट्वा प्रोच्य तृतीयकम्
द्वितीयं च ग्रहे न्यासो यदा स्याद् भैरवी तदा॥ ३७८॥

अस्य रागस्य गान्धारः स्थायी लक्ष्येषु दृष्यते।

इति भैरवी

उपांग

१—भैरवी

३७६-३७९ ख. (अ०) धैवतं स्थायिनं कृत्वा धैवत को स्थायी करके गं ग (को लगा कर) अधःस्थं च और नीचे वाले को, पुनः फिर से ग्रहं तत् परं ग्रह (और) उसके बाद वाले को, स्थायिनं स्थायी को, तस्मात् उससे पूर्वम् आगत्य पहले वाले पर आकर ग्रहं च और (फिर से) ग्रह, तृतीय-आदीन् त्रीन् तीसरे से शुरू करके तीन (का) आरुह्य आरोह करके पञ्चमात् पाँचवें से षट् स्वरान् छ स्वरों को (तक) अवरुह्य च अवरोह भी करके ग्रहम् उच्चार्य ग्रह का उच्चारण (प्रयोग) करके तृतीयं कम्पयेत् तीसरे को कंपित करना चाहिये। ततः उसके बाद तुर्यपञ्चमतुर्यान् च चौथे, पाँचवें और चौथे को स्पृष्ट्वा छूकर तृतीयकं द्वितीयं च तीसरे और दूसरे को प्रोच्य कह कर (लगा कर) यदा ग्रहे न्यासः जब ग्रह में न्यास (हो) तदा तब भैरवी स्यात् भैरवी होती है। लक्ष्येषु लक्ष्यों में गान्धारः गान्धार अस्य रागस्य इस राग का स्थायी दृश्यते स्थायी दिखाई देता है।

यह भैरवी है

(च्छायानट्टा)

मन्द्रषड्जं ग्रहं कृत्वा मध्यषड्जमुपेत्य च॥ ३७९॥

अवरोहिक्रमादेत्य ग्रहमारोहिणा ततः।
पमागत्य विलम्ब्यामुं स्पृष्ट्वा धैवतमाव्रजेत्॥ ३८०॥

ग्रहं चेदवरोहेण च्छायानट्टा तदा भवेत्।

इति च्छायानट्टा

२—छायानट्टा

३७९ ग-३८१ ख. (अ०) मन्द्रषड्जं ग्रहं कृत्वा मन्द्र षड्ज को ग्रह करके मध्यषड्जम् उपेत्य च और मध्य षड्ज पर जाकर, अवरोहिक्रमात् अवरोही क्रम से ग्रहम् एत्य ग्रह तक पहुँच कर ततः उसके बाद आरोहिणा आरोह से पम् आगत्य प पर आकर अमुं विलम्ब्य इसको विलंबित करके धैवतं स्पृष्ट्वा धैवत को छूकर अवरोहेण अवरोह से ग्रहम् आव्रजेत् चेत् यदि ग्रह पर आयें तदा तब च्छायानट्टा भवेत् छायानट्टा होती है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(सर०) अन्तिम पंक्ति में मुद्रित पाठ 'ग्रहाच्चेदवरोहेण' है। 'ग्रहात्' में पंचमी विभक्ति होने से सही अर्थ नहीं निकलता इसलिये सं० राज के आधार पर 'ग्रहात्' के बजाय ग्रहं पाठ रख कर अनुवाद किया है। (सं० राज, ३/१/४/१८३ क-ख)

यह छायानट्टा है

(बहुलीरामक्री)

मध्यषड्जं ग्रहं कृत्वा तत्परौ द्वौ च पञ्चमम्॥ ३८१॥

षष्ठं कृत्वावरुह्येमौ तृतीयादवरुह्य च।
आग्रहं प्राक्तृतीयाद् वावरुह्य प्राक् तृतीयकम्॥ ३८२॥

प्रकम्प्य तत्परं प्रोच्य ग्रहे चेन्न्यस्यते तदा।
रामक्री स्यादसौ प्रोक्ता बहुलीपूर्विका जनैः॥ ३८३॥

इति बहुलीरामक्री

३—बहुलीरामक्री

३८१ ग-३८३. (अ०) मध्यषड्जं ग्रहं कृत्वा मध्य षड्ज को ग्रह करके तत् परौ द्वौ उसके बाद के दो पञ्चमं षष्ठं च कृत्वा पाँचवाँ और छठा (प्रयोग) करके इमौ अवरुह्य च और ये दोनों अवरोह करके तृतीयात् तीसरे से आ-ग्रहम् अवरुह्य च ग्रह तक अवरोह भी करके प्राक् तृतीयात् वा पहले वाले या तीसरे से अवरुह्य अवरोह करके प्राक् तृतीयकं तीसरे से पहले वाले को प्रकम्प्य कंपित करके तत् परं प्रोच्य उससे बाद वाले को कह कर (लगा कर) ग्रहे न्यस्यते चेत् यदि ग्रह पर न्यास किया जाता है तदा तब रामक्री स्यात् रामक्री होती है। जनैः लोगों के द्वारा असौ यह बहुलीपूर्विका बहुली पूर्व वाली (अर्थात् बहुलीरामक्री) प्रोक्ता कही गई है।

(सर०) रागाध्याय में इसे रामकृति कहा है जिसमें प वर्जित है। वहाँ कल्लि० ने कहा था कि रामकृति का पर्याय बहुली है यह वाद्याध्याय में कहा जायगा (२/२/१४५ ग-घ पर कल्लि०)। प्रस्तुत वादनविधि में ग्रन्थकार ने इस राग का प्रचलित नाम बहुलीरामक्री दिया है।

यह बहुलीरामक्री है।

(मल्हार)

धैवतं स्थायिनं कृत्वा तत्परं तु विलम्बितम्।
स्पृष्ट्वा ग्रहद्वितीयौ च ग्रहात् तु प्राक् तृतीयकम्॥ ३८४॥

ईषद् विलम्ब्य चारुह्य ग्रहादीन् वा तृतीयकम्।
विलम्ब्य तदधःस्थं चावरुह्य स्पर्शनात् ततः॥ ३८५॥

ग्रहादींस्त्रीन् स्वरान् स्पृष्ट्वा ग्रहमुच्चार्य तत्परम्।
ग्रहे चेन्न्यस्यते रागो मल्हारो जायते तदा॥ ३८६॥

रागेऽत्र पञ्चमः स्थायी दृश्यते लक्ष्यगोचरः।

इति मल्हारः

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

४—मल्हार

३८४-३८७ ख. (अ०) धैवतं स्थायिनं कृत्वा धैवत को स्थायी करके तत् परं तु उसके बाद वाला तो विलम्बितं विलंबित (प्रयोग) करके ग्रहद्वितीयौ च स्पृष्ट्वा और ग्रह तथा दूसरा छूकर ग्रहात् तु ग्रह से तो प्राक् तृतीयकं पहले का तीसरा ईषत् विलम्ब्य कुछ विलंबित करके ग्रह-आदीन् च और ग्रह आदि (तीन स्वरों) का आरुह्य आरोह करके तृतीयकं विलम्ब्य वा अथवा तीसरे को विलंबित करके तत् अधःस्थं च अवरुह्य और उससे नीचे वाले का अवरोह करके ततः उसके बाद ग्रह-आदीन् त्रीन् स्वरान् ग्रह आदि तीन स्वरों को स्पर्शनात् छूने से, ग्रहं स्पष्ट्वा ग्रह को छूकर तत् परम् उससे बाद वाले का उच्चार्य उच्चारण (प्रयोग) करके ग्रहे न्यस्यते चेत् यदि ग्रह पर न्यास होता है तदा तब मल्हारः रागः मल्हार राग जायते उत्पन्न होता है। अत्र रागे इस राग में लक्ष्यगोचरः लक्ष्य में दिखाई देने वाला स्थायी स्थायी पञ्चमः दृश्यते पंचम दिखाई देता है।

(सर०) रागा० में मल्हार को षड्ज-पंचम वर्जित कहा है (वही १५५)।

यह मल्हार है।

(कर्णाटगौडः)

स्थायिनो मध्यसात् पञ्चावरुह्य यदि मावधीन्॥ ३८७॥

मात् तृतीयं व्रजेत् तस्मादारुह्य चतुरः स्वरान्।
स्पृष्ट्वा स्थायिनमेतस्मात् पूर्वं कृत्वा विलम्बितम्॥ ३८८॥

षड्जे चेन्न्यस्यते गौडकर्णाटो जायते तदा।
लक्ष्ये तु पञ्चमः स्थायी गौडस्यास्य विलोक्यते॥ ३८९॥

इति कर्णाटगौडः

५—कर्णाटगौड

३८७ ग-३८९. (अ०) यदि यदि स्थायिनः मध्य-सात् स्थायी मध्य स से म-अवधीन् म तक पञ्च अवरुह्य पाँच (स्वरों का) अवरोह करके मात् म से तृतीयं व्रजेत् तीसरे (स्वर) पर जायँ तस्मात् (फिर) उससे चतुरः स्वरान् आरुह्य चार स्वरों का आरोह करके, स्थायिनं स्पृष्ट्वा स्थायी को छूकर, एतस्मात् पूर्वम् इससे पहले वाले को विलम्बितं कृत्वा विलंबित (प्रयुक्त) करके षड्जे न्यस्यते चेत् यदि षड्ज पर न्यास किया जाता है तदा तब गौडकर्णाटः कर्णाटगौड जायते उत्पन्न होता है। लक्ष्ये तु लक्ष्य में तो अस्य गौडस्य इस गौड का स्थायी स्थायी पञ्चमः विलोक्यते पंचम देखा जाता है।

(सर०) मुद्रित पाठ 'स्थायिनो मध्यमात्' है। वहाँ से म तक पाँच स्वरों का अवरोह कहा है। मध्यम स्थायी होने पर वहाँ से पाँच स्वर उतरने से नि प्राप्त होता है, म नहीं। इसलिये 'मध्यमात्' ग्राह्य नहीं है। रागा० में कर्णाटगौड में षड्ज को ग्रह, अंश, न्यास कहा गया है (वही, १५६ ख)। तदनुसार 'मध्यमात्' के बजाय मध्यसात् ही तर्कसंगत होता है। स से ५ स्वरों का अवरोह करने से म प्राप्त हो जाता है। षड्ज पर न्यास कहने से भी षड्ज का स्थायी होना ही संगत है।

यह कर्णाटगौड है।

(तुरुष्कगौडः)

ग्रहान्मन्द्रनिषादाच्चेत् समुच्चार्य स्वरं परम्।
ततस्तृतीयतुर्यौ च गत्वा स्थायितृतीयकम्॥ ३९०॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

स्थायितुर्यं च कृत्वास्मात् स्वरान् पञ्चावरुह्य च।
स्थायिनोऽधस्तुरीयं च स्थायिनोऽधस्तनं ततः॥ ३९१॥

स्थायिनं तत्परं चोक्त्वा स्थायितुर्यं ग्रहात् परम्।
कृत्वा न्यासे ग्रहे गौडस्तुरुष्को जायते तदा॥ ३९२॥

स एव मालवीत्युक्तः स्थायी लक्ष्येऽस्य पञ्चमः।

इति तुरुष्कगौडः

६—तुरुष्कगौड

३९०-३९३ ख. (अ०) ग्रहात् मन्द्रनिषादात् चेत् यदि ग्रह मन्द्र निषाद से परं स्वरं समुच्चार्य अगले स्वर को लगा कर ततः तब तृतीयतुर्यौ च गत्वा तीसरे और चौथे पर भी जाकर स्थायितृतीयकं स्थायी से तीसरा स्थायिचतुर्थं च कृत्वा और स्थायी से चौथा लगा कर, तस्मात् उससे पञ्चस्वरान् अवरुह्य च पाँच स्वरों तक उतर कर (अवरोह करके), स्थायिनः अधः तुरीयं स्थायी से नीचे वाला चौथा स्थायिनः स्थायी से अधस्तनं च नीचे वाला भी, ततः उसके बाद स्थायिनं स्थायी को तत् परं च उक्त्वा और उसके बाद वाले को कह कर स्थायितुर्यं स्थायी से चौथा (और) ग्रहात् परं कृत्वा ग्रह से अगला (प्रयोग) करके ग्रहे न्यासे ग्रह में न्यास करने पर तदा तब तुरुष्कः गौडः तुरुष्कगौड जायते उत्पन्न होता है। स एव वही मालवी इति उक्तः मालवी (है) ऐसा कहा गया (है)। लक्ष्ये लक्ष्य में अस्य स्थायी इसका स्थायी पञ्चमः पंचम (दिखाई देता है)।

(सर०) रागा० में इसमें रि-प वर्जित कहे हैं (वही, १५७ ख)।

यह तुरुष्कगौड है।

(द्राविडगौडः)

ग्रहं मालविनः कृत्वा द्वितीयं प्रोच्य तत्परम्॥ ३९३॥

लङ्घयेल्लङ्घितादूर्ध्वं त्रीण्यारुह्यावरुह्य च।
प्रकम्प्य लङ्घितं तस्मात् पूर्वं प्रोच्य ग्रहं व्रजेत्॥ ३९४॥

यदा तदा द्राविडः स्याद् गौडोऽसौ सालगो जनैः।
अस्यापि स्थायिनं प्राहुर्लक्ष्यज्ञाः पञ्चमं स्वरम्॥ ३९५॥

इति द्राविडगौडः

७—द्राविडगौड

३९३ ग-३९५. (अ०) मालविनः मालवी का ग्रहं कृत्वा ग्रह करके द्वितीयं प्रोच्य (उससे) दूसरा (स्वर) लगा कर तत् परं लङ्घयेत् उससे बाद वाला लंघित करना चाहिये। लङ्घितात् ऊर्ध्वं लंघित (स्वर) से ऊपर के त्रीणि तीन (स्वरों का) आरुह्य अवरुह्य च आरोह और अवरोह करके लङ्घितं प्रकम्प्य लंघित को कंपित करके तस्मात् पूर्वम् उससे पहले वाला प्रोच्य लगा कर यदा ग्रहं व्रजेत् जब ग्रह पर जायँ तदा तब द्राविडः गौडः स्यात् द्राविडगौड होता है। जनैः लोगों के द्वारा असौ यह सालगः सालग (कहा जाता है)। लक्ष्यज्ञाः लक्ष्य को जानने वाले पञ्चमं स्वरं पंचम स्वर को अस्य अपि इसका भी स्थायिनं स्थायी प्राहुः कहते हैं।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(सर०) इस राग से पहले तुरुष्कगौड को मालवी भी कहा गया है। उसका ग्रह मन्द्र निषाद ही द्राविडगौड में भी ग्रह यानी स्थायी होता है।

यह द्राविडगौड है।

(ललिता)

स्थायिनो धैवतात् प्राच्यादवरुह्यग्रहान्तरम्।
ग्रहं चोक्त्वा तृतीयं च तुर्यं कृत्वा विलम्बितम्॥ ३९६॥

तस्मादधस्तनौ स्पृष्ट्वा तृतीयं तु विलम्बयेत्।
स्पृष्ट्वा ग्रहात् परं पूर्वौ पूर्वं चोक्त्वा ग्रहे यदि॥ ३९७॥

कम्पिते न्यस्यते रागस्तदा स्याल्ललिताभिधः।
अत्र गान्धारमेवाहुः स्थायिनं लक्ष्यवेदिनः॥ ३९८॥

इति ललिता

इत्युपाङ्गानि

८—ललिता

३९६-३९८. (अ०) स्थायिनः धैवतात् स्थायी धैवत से प्राच्यात् अवरुह्य (उससे) पहले वाले से अवरोह करके ग्रह-अन्तरं ग्रह के बाद वाले ग्रहं च उक्त्वा और ग्रह को लगा कर तृतीयं च तुर्यं तीसरे और चौथे को विलम्बितं कृत्वा विलंबित (प्रयुक्त) करके तस्मात् अधस्तनौ उससे नीचे के दो स्वर स्पृष्ट्वा छूकर तृतीयं तु तीसरा तो विलम्बयेत् विलंबित करना चाहिये। ग्रहात् परं ग्रह से बाद वाले को स्पृष्ट्वा छूकर पूर्वौ (उससे) पहले के दो पूर्वं च उक्त्वा और पहले वाला (स्वर) लगा कर यदि अगर कम्पिते ग्रहे कंपित ग्रह में न्यस्यते न्यास किया जाता है तदा तब ललिता-अभिधः ललिता नाम वाला रागः स्यात् राग होता है। लक्ष्यवेदिनः लक्ष्य को जानने वाले अत्र इसमें गान्धारम् एव गान्धार को ही स्थायिनम् आहुः स्थायी कहते हैं।

(सर०) रागा० में उपांगों में ललिता नहीं है लेकिन इस नाम से दो भाषाएँ हैं जिनमें से टक्क की भाषा ललिता है (वही १७४ ग-१७५) और दूसरी भिन्नषड्ज की भाषा है(१७६-१७७ ख)। पहली ललिता का ग्रह षड्ज है और दूसरी का धैवत। आगे वंश में भी उन सभी रागों की वादनविधि दी है जो यहाँ किंनरी में दिये गये हैं। वहाँ ललिता भाषाराग के रूप में है जिसमें षड्ज ग्रह है। किंनरी में दी गई ललिता धैवत ग्रह के आधार पर संभवतः भिन्नषड्ज संबन्धी भाषाराग है।

'स्थायिनः धैवतात् .... ग्रहान्तरं' का अर्थ सिंह० ने यह दिया है—धैवत को स्थायी बना कर उससे पहले के 'द्वौ स्वरौ अवरुह्य ग्रहात् स्थायिनोऽधरं पूर्वं स्वरं ग्रहं चोक्त्वा'। इससे लगता है कि सिंह० का पाठ 'प्राच्यावरुह्य ग्रहाधरं' है। आड्० की पादटिप्पणी में 'प्राञ्चाववरुह्य' और 'ग्रहाधरं' दिया भी है।

'स्पृष्ट्वा ग्रहात् परं.........चोक्त्वा' का अर्थ उसने यह किया है—'ततो ग्रहस्वरं स्पृष्ट्वा ग्रहस्वरात् पूर्वात् पूर्वमधस्तृतीयमुच्चार्य'। यहाँ संभवतः उसका पाठ 'स्पृष्ट्वा ग्रहं परं पूर्वात् पूर्वं चोक्त्वा' है।

यह ललिता है।

उपांग समाप्त

एवं कतिपये रागाः प्रोक्ताः संमुग्धबुद्धये।
वस्तुतः सर्वयन्त्रेषु रागाणां वादनं समम्॥ ३९९॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ग्रहादिस्वरसंभूतिद्वारतोऽन्विष्यतां बुधैः।
किंनर्यां यैः स्वरैः स्वस्वस्थानजैर्यस्य संभवः॥ ४००॥

रागस्य तस्य तैरेव वंशादावपि दृश्यते।

इति किंनरीलक्षणम्

३९९-४०१ ख. (अ०) एवम् इस प्रकार कतिपये रागाः कुछ राग संमुग्धबोधये अज्ञानियों के बोध के लिये प्रोक्ताः कहे गये। वस्तुतः वास्तव में सर्वयन्त्रेषु सारे वाद्यों में रागाणां वादनं रागों का वादन समम् एक जैसा (होता है)। बुधैः बुधजनों के द्वारा ग्रह-आदि-स्वरसंभूतिद्वारतः ग्रह आदि स्वरों की निष्पत्ति (का विशेष वाद्यों) के द्वारा अन्विष्यताम् अन्वेषण किया जाय। किंनर्यां किंनरी में स्व-स्व-स्थानजैः अपने-अपने स्थानों से उत्पन्न होने वाले यैः स्वरैः जिन स्वरों के द्वारा यस्य रागस्य जिस राग की संभवः उत्पत्ति (अभिव्यक्ति होती है) तैः एव उन्हीं (स्वरों) से (उन रागों की अभिव्यक्ति) वंश-आदौ अपि वंश आदि में भी दृश्यते दिखाई देती है।

(सर०) किंनरी में रागों की वादनविधि के निरूपण का जो प्रयोजन यहाँ बताया गया उसका आशय यह है कि यद्यपि सभी वाद्यों में राग वही रहता है और स्वर भी वही रहते हैं लेकिन रागों के ग्रह आदि स्वरों की निष्पत्ति वादनविधि के अनुसार होती है। उदाहरणस्वरूप किंनरी में कुछ प्रचलित रागों की वादनविधि बताई। इन रागों का वादन वंश में भी होता है। उनका निरूपण ग्रन्थकार वंश में करने वाले हैं।

किंनरी का लक्षण समाप्त

(पिनाकी)

(कम्रालक्षणम्)

पिनाक्यां धनुषः कम्रैकचत्वारिंशदङ्गुला॥ ४०१॥

दैर्घ्ये स्यान्मध्यविस्तारः स्यात् सपादाङ्गुलद्वयम्।
अन्ते चाङ्गुलमानेन शिखां कुर्यादधस्तनीम्॥ ४०२॥

सपादाङ्गुलमात्रा तु कार्मुकस्योत्तरा शिखा।
कार्यावङ्गुलदैर्घ्यौ च पादोनाङ्गुलपिण्डकौ॥ ४०३॥

खेटकौ शिखयोर्लग्नौ ताभ्यां त्वर्वागुपान्त्ययोः।
पादोनमङ्गुलद्वन्द्वं विस्तारे मानमिष्यते॥ ४०४॥

मध्यप्रान्तान्तराले तु विस्तारं कल्पयेत्सुधीः।
तन्त्रीमानेन बध्नीयाच्छिखयोर्निपुणो गुणम्॥ ४०५॥

९—पिनाकी

कम्रा (डाँड) का लक्षण

४०१ ग-४०५. (अ०) पिनाक्यां पिनाकी में धनुषः कम्रा धनुष (के आकार) की डाँड दैर्घ्ये लंबाई में एक चत्वारिंशत्-अङ्गुला इक्तालीस अंगुल वाली स्यात् होती है। मध्यविस्तारः बीच की चौड़ाई सपाद-अङ्गुलद्वयं सवा दो अंगुल स्यात् होती है। अन्ते अन्त में अङ्गुलमानेन एक अंगुल के नाप से अधस्तनीं शिखां नीचे की ओर शिखा कुर्यात् करें। सपाद-अङ्गुलमात्रा

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

तु सवा अंगुल माप वाली तो कार्मुकस्य धनुष की उत्तरा शिखा ऊपर वाली शिखा (करें)। ताभ्यां शिखयोः लग्नौ तु अर्वाक् उन दोनों शिखाओं से जुड़े हुए (भाग) से पहले तो अङ्गुलदैर्घ्यौ एक अंगुल लंबे पाद-ऊन-अङ्गुलपिण्डकौ च और एक चौथाई कम एक (पौन) अंगुल मोटाई वाले खेटकौ कार्यौ दो खेटक (खूँटी) करने चाहियें उपान्त्ययोः (जिनके) अन्तिम के पास वाले (भागों) का विस्तारे मानं चौड़ाई में नाप पाद-ऊन-अङ्गुलद्वन्द्वं चौथाई कम दो अंगुलों का जोड़ा (पौने दो अंगुल) इष्यते इष्ट होता है। मध्यप्रान्त-अन्तराले बीच के भाग के अन्तराल में विस्तारं तु विस्तार तो सुधीः अच्छी बुद्धि वाले कल्पयेत् कल्पना से (योजित) करें। निपुणः कुशल (वादक) शिखयोः तन्त्रीमानेन शिखाओं के तार के नाप से गुणं बध्नीयात् डोरी बाँधें।

(सर०) जैसा कि पिनाकी नाम से ही सूचित होता है यह वीणा धनुष के आकार की डाँड वाली होती है जिसके दोनों सिरों पर लगी खूँटियों में वादनतन्त्री यानी डोरी बाँधी जाती है। इस डोरी पर धनुष के आकार के चाप को रगड़कर स्वरोत्पादन किया जाता है।

सिंह० ने कम्रा का अर्थ तन्त्री को बजाने का कोण दिया है। वास्तव में कम्रा कोण के लिये नहीं बल्कि पिनाकी की डाँड के लिये प्रयुक्त हुआ है।

(वादनचापलक्षणम्)

मानं वादनचापे स्यादङ्गुलान्येकविंशतिः।
दैर्घ्ये मुष्टौ तु विस्तारोऽत्राङ्गुलित्रितयोन्मितः॥ ४०६॥

स त्वङ्गुलतृतीयांशः शिखे त्यक्त्वान्तयोर्भवेत्।
ऊर्ध्वाधरशिखाद्वन्द्वमानं पादोनमङ्गुलम्॥ ४०७॥

अश्ववालधिकेशोत्थो गुणो वादनधन्वनः।

वादनचाप का लक्षण

४०६-४०८ ख. (अ०) वादनचापे बजाने के चाप (धनुष) का मानं नाप दैर्घ्ये लंबाई में एकविंशतिः अङ्गुलानि इक्कीस अंगुल (और) अत्र मुष्टौ तु इसकी मूठ में तो अङ्गुलित्रितय-उन्मितः तीन अंगुलों से नापा हुआ विस्तारः विस्तार (चौड़ाई) स्यात् होता है। स तु वह (मूठ) तो शिखे अन्तयोः शिखाओं के अन्त में अङ्गुलतृतीय-अंशः त्यक्त्वा अंगुल का एक तिहाई हिस्सा छोड़ कर भवेत् होती है। ऊर्ध्व-अधरशिखाद्वन्द्वमानं ऊपर (और) नीचे की दो शिखाओं का नाप पाद-ऊनम् अङ्गुलं चौथाई कम एक (पौन) अंगुल (होता है)। वादनधन्वनः गुणः बजाने के धनुष की डोरी अश्ववालधिकेश-उत्थः घोड़े की पूँछ के बालों से उत्पन्न (बनी होती है)।

(सर०) धनुष इक्कीस अंगुल लम्बा होता है जिसकी मूठ सिरे से पौन अंगुल छोड़कर होती है और उस पर घोड़े की पूँछ के बाल बँधे होते हैं।

सिंह० ने घोड़े की पूँछ के बाल या कृमिकोश (रेशम के कोये) से उत्पन्न रेशमी धागे की धनुष की डोरी का उल्लेख किया है।

(धारणवादनविधिः)

तुम्बं धृत्वाथ पादाभ्यां भुवि न्यस्तमधोमुखम्॥ ४०८॥

तत्र लग्नशिखाथोर्ध्वा पिनाकीस्कन्धसंश्रिता।
आक्रम्य वामहस्तस्थतुम्बमूलेन तद्गुणम्॥ ४०९॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ततो दक्षिणहस्तस्थधनुषो वादयेज्ज्यया।
रालासंलिप्तयास्यां च स्वरस्थानानि निर्णयेत्॥ ४१०॥

एकतन्त्रीवदधराधरतारतया सुधीः।

(इति पिनाकीलक्षणम्)

धारण और वादनविधि

४०८ ग-४११ ख. (अ०) भुवि धरती पर अधोमुखं न्यस्तं तुम्बं नीचे की ओर मुख करके रखे हुए तूँबे को अथ अब पादाभ्यां धृत्वा पैरों से धारण करके (पैरों के बीच दबा कर) अथ अब तत्र ऊर्ध्वा लग्नशिखा उससे जुड़ी हुई ऊपर की शिखा वाली पिनाकीस्कन्धसंश्रिता पिनाकी कंधे के आश्रित करें (कंधे पर रखें)। तत् गुणम् उस (पिनाकी) की डोरी को वामहस्तस्थ बायें हाथ में स्थित (पकड़े हुए) तुम्ब-मूलेन तूँबे के मूल से आक्रम्य दबा कर ततः तब दक्षिणहस्तस्थ दाहिने हाथ में स्थित धनुषः धनुष की रालासंलिप्तया ज्यया राल लगी हुई डोरी से वादयेत् बजाना चाहिये। अस्यां च इस (वीणा) में भी सुधीः बुद्धिमान् (वादक) एकतन्त्रीवत् एकतंत्री की तरह अधर-अधरतारतया नीचे-नीचे की ओर तार (स्थान) के द्वारा स्वरस्थानानि स्वरों के स्थान निर्णयेत् निश्चित करें।

(सर०) इसमें तूँबे का नाप या लगाने का स्थान नहीं बताया है। लेकिन तूँबा दोनों पैरों के बीच दबा कर और पिनाकी की ऊपर की शिखा वाले भाग को कन्धे पर रखने का विधान है। डोरी पर हस्त-चालन तुँब यानी बट्टे जैसी गोल वस्तु के माध्यम से करके स्वर उत्पन्न किये जाते हैं और दाहिने हाथ में पकड़े हुए धनुष से तार पर रगड़ कर ध्वनि पैदा की जाती है। इसमें भी एकतन्त्री की तरह नीचे जाने से तारता बढ़ती है।

पिनाकी का लक्षण समाप्त

(निःशङ्कवीणा)

बध्यप्रान्तातिरिक्तेंऽशे तन्त्री दैर्घ्ये चतुष्करा॥ ४११॥

उपरिस्थे क्वचित् काष्ठे प्रान्तेनैकेन बध्यते।
प्रान्तान्तरेणान्यकाष्ठेऽधस्थे सार्धकरायते॥ ४१२॥

स्थौल्येनालापिनीतुल्ये त्यक्त्वाग्रादङ्गुलद्वयम्।
तन्त्रीं बद्ध्वा ततोऽधस्तात् तुम्बमाबद्ध्य दारु तत्॥ ४१३॥

वामोरुमूलाक्रान्ताग्रं जङ्घायां कुञ्चिताकृतौ।
भूलग्नबाह्यपार्श्वायां वामायां न्यस्य जङ्घया॥ ४१४॥

आक्रम्य वामेतरया पिनाक्यामिव वादनम्।
धनुषा वामहस्तस्थतुम्बकेन च सारणा॥ ४१५॥

आर्द्रचर्मकृतां शुष्कां पेशीं कोणान्वितां खराम्।
वामेनादाय तत्कोणेनाथवा सारणा भवेत्॥ ४१६॥

यत्र निःशङ्कवीणा सा शार्ङ्गदेवेन कीर्तिता।
त्रिस्थानस्वररागादिव्यक्तिः संजायते तया॥ ४१७॥

इति निःशङ्कवीणालक्षणम्

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

१०—निःशंकवीणा

४११ ग-४१७. (अ०) दैर्घ्ये चतुःकरा तन्त्री लंबाई में चार हाथ वाली तन्त्री **बध्यप्रान्त-अतिरिक्ते अंशे** बाँधने की जगह थोड़ा भाग छोड़ कर **उपरिस्थे क्वचित् काष्ठे** ऊपर स्थित किसी (एक) लकड़ी पर **एकेन प्रान्तेन** (तन्त्री के) एक सिरे से **बध्यते** बाँधी जाती है। **प्रान्त-अन्तरेण** दूसरे सिरे से **स-अर्धकर-आयते** डेढ़ हाथ लम्बी **स्थौल्येन** मोटाई से **आलापिनीतुल्ये** आलापिनी के बराबर (अर्थात् आलापिनी जितनी मोटी) **अधःस्थे अन्यकाष्ठे** नीचे की ओर स्थित एक और लकड़ी में **अग्रात् अङ्गुलद्वयं त्यक्त्वा** अग्रभाग (सिरे) से दो अंगुल छोड़ कर **तन्त्रीं बद्ध्वा** तन्त्री को बाँध कर **ततः अधस्तात्** उससे नीचे **तुम्बम् आबद्ध्य** तूँबे को बाँध कर **तत् दारु** वह लकड़ी **वाम-ऊरुमूल-आक्रान्त-अग्रं** बायीं जाँघ के जोड़ से दबाया गया जिसका अग्र है ऐसी **भूलग्नबाह्यपार्श्वायां** धरती से बाहरी बाजू लगी हुई **कुञ्चित-आकृतौ वामायां जङ्घायां** मोड़ी हुई बाईं जाँघ पर **न्यस्य** रख कर **वाम-इतरया जङ्घया** बाईं से अन्य (अर्थात् दाहिनी) जाँघ से **आक्रम्य** दबा कर **धनुषा** धनुष से **पिनाक्याम् इव** पिनाकी की तरह **वादनं** वादन (किया जाता है) **वामहस्तस्थतुम्बकेन च** और बायें हाथ में पकड़े हुए तूँबे (बट्टे) से **सारणा** सारणा (चालन) होती है। **अथवा** या **यत्र** जहाँ **आर्द्रचर्मकृतां शुष्कां** गीले चमड़े को सुखा कर बनाई गई **खरां** कड़ी (सख़्त) **कोण-अन्वितां पेशीं** कोण-युक्त पेशी (टुकड़े) को **वामेन आदाय** बायें (हाथ) से लेकर (पकड़ कर) **तत् कोणेन** उस कोण से **सारणा भवेत्** सारणा होती है **सा** वह **शार्ङ्गदेवेन** शार्ङ्गदेव के द्वारा **निःशङ्कवीणा कीर्तिता** निःशंकवीणा कही गई (है)। **तया** उसके द्वारा **त्रिस्थानस्वररागादिव्यक्तिः** तीन स्थानों के स्वरों (और) राग आदि की अभिव्यक्ति **संजायते** उत्पन्न होती है।

(सर०) निःशंकवीणा में दाहिने हाथ में धनुष पकड़ कर उसे तार पर रगड़ कर और बायें हाथ में गोल बट्टा या चमडे का कोण लेकर उसके द्वारा हस्तचालन यानी सारणा करके विभिन्न स्वर उत्पन्न किये जाते हैं।

निःशंकवीणा का लक्षण समाप्त

यथा यथा स्वरे व्यक्ती रक्तेः प्रचुरता भवेत्।
तथा तथा विधातव्यं ततं लो्कानुसारतः॥ ४१८॥

सम्यक्स्वरोपयोगीनि तन्त्रीवाद्यानि कानिचित्
उक्तान्यन्यान्यपि प्राज्ञस्तर्कयेदनया दिशा॥ ४१९॥

यो वीणावादनं वेत्ति तत्त्वतः श्रुतिजातिवित्।
तालपातकलाभिज्ञः सोऽक्लेशान्मोक्षमृच्छति॥ ४२०॥

तस्माद् वीणा निषेव्येति याज्ञवल्क्यादयोऽब्रुवन्।

४१८-४२१ ख. (अ०) यथा यथा जैसे जैसे (जिस तरह) **स्वरे व्यक्तिः** स्वरों में स्पष्टता (और) **रक्तेः प्रचुरता भवेत्** रंजकता की बहुलता होती है (अर्थात् बहुत रंजकता हो) **तथा तथा** वैसे वैसे (उसी तरह) **लोक-अनुसारतः** लोक (प्रचार) के अनुसार **ततं विधातव्यं** तत (वाद्यों) का विधान करना चाहिये। **सम्यक् स्वर-उपयोगीनि** समीचीन स्वरों (की अभिव्यक्ति) में उपयोगी **कानिचित् तन्त्रीवाद्यानि** कुछ तन्त्री वाद्य **उक्तानि** (मेरे द्वारा) कहे गये। **प्राज्ञः** विद्वान् **अनया दिशा** इसी तरह **अन्यानि अपि** अन्य (वाद्य) भी **तर्कयेत्** कल्पना करें। **यः** जो **श्रुतिजातिवित्** श्रुति (और) जाति को जानने वाला, **तालपातकला-अभिज्ञः** ताल, पात (और) कला का ज्ञाता **वीणावादनं** वीणा के वादन को **तत्त्वतः** तत्त्व रूप से **वेत्ति** जानता है **सः** वह **अक्लेशात्** कष्ट के बिना **मोक्षं** मोक्ष को **ऋच्छति** प्राप्त करता है। **तस्मात्** इसलिये **वीणा निषेव्या** वीणा का सेवन करना चाहिये (अर्थात् वीणा के वादन में लगे रहना चाहिये) **इति** ऐसा **याज्ञवल्क्य-आदयः** याज्ञवल्क्य आदि ने **अब्रुवन्** कहा।

(सर०) वीणावादन से मोक्षप्राप्ति संबन्धी याज्ञवल्क्य का यह श्लोक प्रसिद्ध है—

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

वीणावादनतत्त्वज्ञः श्रुतिजातिविशारदः।
तालज्ञश्चाप्रयासेन मोक्षमार्गं नियच्छति॥ (याज्ञ०, ३/४/११५)

सिंह० ने इसे उद्धृत किया है।

(वैणिकगुणाः)

नादश्रुतिस्वरग्रामजातिरागादितत्त्ववित्॥ ४२१॥

देहसौष्ठवसंपन्नः स्थिरासनपरिग्रहः।
जितश्रमकरद्वन्द्वस्त्यक्तभीतिर्जितेन्द्रियः॥ ४२२॥

प्रगल्भधीः सुशारीरो गीतवादनकोविदः।
सावधानमनाश्चेति वैणिके वर्णिता गुणाः॥ ४२३॥

(इति वैणिकगुणाः)

इति ततवाद्यलक्षणम्

वीणावादक के गुण

४२१ ग-४२३. (अ०) नाद-श्रुति-स्वर-ग्राम-जाति-राग-आदितत्त्ववित् नाद, श्रुति, स्वर, ग्राम, जाति, राग आदि के तत्त्व को जानने वाला, देहसौष्ठवसंपन्नः शरीर के सौष्ठव से युक्त, स्थिर-आसनपरिग्रहः स्थिरता से आसन ग्रहण करने वाला, जितश्रमकरद्वन्द्वः श्रम को जीत लिया हो ऐसे दो हाथों वाला, त्यक्तभीतिः निर्भय, जित-इन्द्रियः इन्द्रियों को जीत लिया हो जिसने ऐसा, प्रगल्भधीः प्रौढ़ बुद्धि वाला, सुशारीरः अच्छे 'शारीर' (कंठगुण) वाला, गीतवादनकोविदः गीत के वादन में निष्णात सावधानमनाः च और सावधान मन वाला इति गुणाः ये गुण वैणिके वीणा वादक में वर्णिताः वर्णित हुए (हैं)।

(सर०) तीसरे अध्याय में कहे गये गायक के गुणों से वीणावादक के गुण तुलनीय हैं। वहाँ भी जितश्रम, सावधान और सुशारीर हैं। इनके अलावा यहाँ जो गुण कहे हैं उनमें से देहसौष्ठव, स्थिर आसन, गीतवादनकोविद वीणावादक से संबद्ध हैं।

ये वीणावादक के गुण हैं।

ततवाद्यों का लक्षण समाप्त

(सुषिरवाद्यानि)

(वंशः)

वैणवः खादिरो दान्तश्चान्दनो रक्तचन्दनः।
आयसः कांस्यजो रौप्यो वंशः स्यात् काञ्चनोऽथवा॥ ४२४॥

वर्तुलः सरलः श्लक्ष्णो ग्रन्थिभेदव्रणोज्झितः।
कनिष्ठाङ्गुलिविस्तारं गर्भे च सुषिरं दधत्॥ ४२५॥

स्वदैर्घ्यमानदैर्घ्यं च समाकृति समन्ततः।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(आ) सुषिरवाद्य

१—वंश

४२४-४२६ ख. (अ०) वंशः वंश वैणवः बाँस का, खादिरः खैर (की लकड़ी) का, दान्तः (हाथी)दाँत का, चान्दनः चन्दन का, राक्तचन्दनः लाल चंदन का, आयसः लोहे का, कांस्यजः काँसे से उत्पन्न, रौप्यः चाँदी का अथवा काञ्चनः या सोने का वर्तुलः गोल, सरलः सीधा, श्लक्ष्णः चिकना, ग्रन्थि-भेद-व्रण-उज्झितः गाँठ, फटेपन, छेद से रहित गर्भे च और गर्भ में (अर्थात् भीतर) स्वदैर्घ्यमानदैर्घ्यं अपनी लंबाई के नाप की लंबाई (अर्थात् पूरी लंबाई) में कनिष्ठा-अङ्गुलिविस्तारं छोटी उँगली जितने विस्तार वाला सुषिरं दधत् छेद धारण करता हुआ समंततः सम-आकृतिः च और चारों ओर से सम (एकसे) आकार वाला स्यात् होता है।

(सर०) सुषिर वाद्यों में पहला और प्रमुख वाद्य वंश है। मूलतः वंश यानी बाँस से बना होने के कारण इसका प्राचीन नाम वंश है। मध्ययुगीय कृष्णभक्तिपदों में इसी को बाँसुरी कहा जाता रहा है और वर्तमान समय में भी यह नाम प्रचलित है।

बाँस, विभिन्न वृक्षों की लकड़ी, हाथीदाँत और कई धातुओं से वंश की नली बनती है जो भीतर से पूरी खोखली होती है। भीतर का यह छेद कनिष्ठा उँगली के नाप का होता है।

तस्य द्वे त्रीणि चत्वारि चाङ्गुलानि शिरःस्थलात्॥ ४२६॥

त्यक्त्वा फूत्कारसुषिरं कार्यमङ्गुलसंमितम्।
मुखरन्ध्रात्ताररन्ध्रं भवेदेकाङ्गुलान्तरम्॥ ४२७॥

अर्धाङ्गुलान्तराणि स्यू रन्ध्राण्यन्यानि सप्त च।
तान्यष्टौ बदरीबीजसंकाशानि प्रचक्षते॥ ४२८॥

वंशेऽधः सर्वरन्ध्रेभ्यः परिशेष्याङ्गुलद्वयम्।

४२६ ग-४२९ ख. (अ०) तस्य उस (वंश) के शिरःस्थलात् ऊपरी सिरे से द्वे त्रीणि चत्वारि च अङ्गुलानि त्यक्त्वा दो, तीन या चार अंगुल छोड़कर अङ्गुलसंमितम् एक अंगुल नाप वाला फूत्कारसुषिरं फूँकने का छेद कार्यं करना चाहिये। मुखरन्ध्रात् (इस) मुखरन्ध्र से एक-अङ्गुल-अन्तरम् एक अंगुल की दूरी वाला ताररन्ध्रं भवेत् ताररन्ध्र होता है। अन्यानि च सप्त रन्ध्राणि इनके अलावा और भी सात छेद अर्ध-अङ्गुल-अन्तराणि आधी(-आधी) अंगुल की दूरी वाले स्युः होते हैं। तानि अष्टौ वे आठ (छेद) बदरीबीज-संकाशानि बेर के बीज के बराबर प्रचक्षते कहे जाते हैं। वंशे वंश में सर्वरन्ध्रेभ्यः अधः सारे छेदों से नीचे परिशेष्य-अङ्गुलद्वयं (बिना छेद वाला) बचा हुआ (भाग) दो अंगुल (रखा जाता है)।

(सर०) फूत्कार सुषिर यानी वह छेद जिसमें से वंश में फूँक भरी जाती है। फूँक मुँह से भरी जाती है इसलिये फूँक वाले छेद को ही मुखरन्ध्र कहा जाता है। इसी को ग्रन्थकार ने आगे जातिमुख भी कहा है।

फूत्काररन्ध्र वंश के ऊपरी सिरे से दो, तीन या चार अंगुल की दूरी पर होता है। इस छिद्र के एक अंगुल बाद तार स्थान के स्वरों को व्यक्त करने के लिये एक छेद होता है जो ताररन्ध्र कहलाता है।

ताररन्ध्र पर कल्लि० ने यह उदाहरण दिया कि जैसे शरीर में सभी स्वर समान रूप से तालु, ओठ आदि के व्यापार (क्रिया) से उत्पन्न होने पर भी मूर्धा (सिर) उनके संनिहित होने से मूर्धा में ही तारस्वर उत्पन्न होता है या जैसे एकतन्त्री आदि वीणा में सभी स्वर दाहिने हाथ की क्रिया के द्वारा उत्पन्न होने पर भी पास वाली सारिका में ही तारस्वर उत्पन्न होता है उसी तरह वंश में भी समझना चाहिये। तात्पर्य यह है कि वंश में सभी स्वर मुँह की फूँक से ही उत्पन्न होते हैं लेकिन ताररन्ध्र मुखरन्ध्र के पास होता है इसलिये उसी से तार स्वर उत्पन्न होते हैं।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

'वेर के बीज के बराबर' कथन पर कल्लि० ने कहा कि छेद आकाशरूप होने से निराकार होता है इसलिये बेर के बीज के बराबर कहना सार्थक नहीं है। फिर भी छेद में बेर के बीज का प्रवेश संभव होने के आधार पर औपाधिक नाप कहा गया इसलिये विरोध नहीं है। औपाधिक का अर्थ है मर्यादित करने वाला, विशेष परिस्थिति में होने वाला। छेद आकाशरूप होता है। आकाश अखण्ड, निराकार होता है इसलिये छेद का भी नाप संभव नहीं है। यहाँ छेद का नाप दिया गया है जो औपाधिक है यानी छेद को बेर के बीज जितना सीमित करने के लिये दिया है।

ग्रन्थकार के अनुसार मुखरन्ध्र वंश के ऊपरी सिरे से दो, तीन या चार अंगुल छोड़कर होता है। इसे ध्यान में रखकर कल्लि० ने कहा कि दो अंगुल छोड़ने पर वंश की कुल लंबाई १२ अंगुल होती है, ३ अंगुल छोड़ने पर १३ अंगुल और ४ अंगुल छोड़ने पर १४ अंगुल होती है।

तेषु स्वरविभागाय सप्तरन्ध्राणि मन्वते॥ ४२९॥

नादहेतोर्मारुतस्य निर्गमायाष्टमं मतम्।
फूत्कारप्रभवो वायुः पूर्यते मुखरन्ध्रतः॥ ४३०॥

वंशस्थैर्नवभी रन्ध्रैरेकवीरो निगद्यते।

४२९ ग-४३१ ख. (अ०) तेषु उन (आठ छेदों) में (से) सप्तरन्ध्राणि सात छेद स्वरविभागाय (सात) स्वरों के विभाग (अलग-अलग अभिव्यक्ति) के लिये मन्वते माने जाते हैं। अष्टमम् आठवाँ नादहेतोः नाद (उत्पन्न करने) के लिये मारुतस्य निर्गमाय वायु के बाहर जाने के लिये मतं माना गया (है)। फूत्कार-प्रभवः वायुः (मुँह की) फूत्कार से उत्पन्न होने वाला वायु मुखरन्ध्रतः पूर्यते मुखरन्ध्र से भरा जाता है। वंशस्थैः वंश में स्थित नवभिः रन्ध्रैः नौ छेदों से (अर्थात् नौ छेदों वाला यह वंश) एकवीरः निगद्यते एकवीर कहा जाता है।

(सर०) कल्लि० ने कहा कि मुखरन्ध्र और ताररन्ध्र के बीच एक अंगुल का अन्तर होने से एकवीर संज्ञा अन्वर्थ समझनी चाहिये। अगले श्लोकों में ग्रन्थकार इन दोनों रन्ध्रों के बीच १-१ अंगुल की दूरी बढ़ा कर उनकी संख्या के आधार पर उनके नामों की अन्वर्थता दिखाने वाले हैं। इसे ध्यान में रख कर यहाँ कल्लि० ने एकवीर की सार्थकता दिखाई है।

(वंशभेदाः)

वंशस्य मुखरन्ध्रस्य ताररन्ध्रस्य चान्तरे॥ ४३१॥

एकैकाङ्गुलवृद्ध्या स्युरन्ये वंशाश्चतुर्दश।
अष्टादशाङ्गुलाद्वंशादेतदङ्गुलवर्धनम्॥ ४३२॥

उमापतिर्द्व्यङ्गुलः स्यात् त्रिभिस्त्रिपुरुषोऽङ्गुलैः।
चतुर्मुखश्चतुर्भिः स्यात् पञ्चवक्त्रस्तु पञ्चभिः॥ ४३३॥

षडङ्गुलः षण्मुखः स्यान्मुनिः सप्ताङ्गुलो मतः।
वसुरष्टाङ्गुलः प्रोक्तो नागेन्द्रस्तु नवाङ्गुलः॥ ४३४॥

दशाङ्गुलो महानन्दो रुद्रस्त्वेकादशाङ्गुलः।
द्वादशाङ्गुल आदित्यो मनुर्वंशश्चतुर्दशः॥ ४३५॥

कलानिधिः षोडशः स्यादन्वर्थोऽष्टादशाङ्गुलः।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

वंश के भेद

४३१ ग-४३६ ख. (अ०) वंशस्य वंश के मुखरन्ध्रस्य ताररन्ध्रस्य च अन्तरे मुखरन्ध्र और ताररन्ध्र के बीच में एक-एक-अङ्गुलवृद्ध्या एक-एक अंगुल बढ़ाने से अन्ये अन्य चतुर्दश वंशाः स्युः चौदह वंश होते हैं। एतत् यह अङ्गुलवर्धनम् अंगुलों का बढ़ाना आ-अष्टादश-अङ्गुलात् वंशात् अठारह अंगुल (अन्तर वाले) वंश तक (समझना चाहिये)।

उमापतिः द्वि-अङ्गुलः उमापति दो अंगुल (अंतर) वाला स्यात् होता है। त्रिभिः अङ्गुलैः तीन अंगुलों से त्रिपुरुषः त्रिपुरुष, चतुर्भिः चतुर्मुखः चार (अंगुलों) से चतुर्मुख स्यात् होता है। पञ्चवक्त्रः तु पञ्चभिः पंचवक्त्र तो पाँच से, षडङ्गुलः षण्मुखः छ अंगुल वाला षण्मुख स्यात् होता है। मुनिः मुनि सप्त-अङ्गुलः मतः सात अंगुल वाला माना गया (है)। वसुः अष्ट-अङ्गुलः वसु आठ अंगुल वाला प्रोक्तः कहा गया (है)। नागेन्द्रः तु नव-अङ्गुलः नागेन्द्र तो नौ अंगुल वाला, महानन्दः दश-अङ्गुलः महानन्द दस अंगुल वाला, रुद्रः तु एकादश-अङ्गुलः रुद्र तो ग्यारह अंगुल वाला, आदित्यः द्वादशः-अङ्गुलः आदित्य बारह अंगुल वाला, मनुः वंशः मनु (नाम वाला) वंश चतुर्दशः चौदह (अंगुल अंतर) वाला, कलानिधिः षोडशः कलानिधि सोलह वाला स्यात् होता है। अष्टादशाङ्गुलः अष्टादशाङ्गुल (नामक वंश) अन्वर्थः अर्थानुसार (नाम वाला यानी अठारह अंगुल की दूरी वाला है)।

(सर०) मुखरन्ध्र और ताररन्ध्र के बीच दो अंगुल अन्तर से शुरू करके अठारह अंगुल तक बढ़ा कर १४ वंश और होते हैं। इनमें कुछ नाम अंगुलसंख्या के सूचक हैं जैसे—चतुर्मुख ४ का, पंचवक्त्र ५ का, षण्मुख ६ का, वसु ८ माने गये हैं इसलिये वसु ८ का, रुद्र ग्यारह होते हैं इसलिये रुद्र ११ का, आदित्य (सूर्य) बारह होते हैं इसलिये आदित्य १२ का, मनु चौदह होते हैं इसलिये मनु १४ का और कलानिधि यानी चन्द्रमा की १६ कला होती हैं इसलिये कलानिधि १६ अंगुल अन्तर का सूचक है।

अविस्पष्टान्तरत्वेन नेष्टः सप्तदशाङ्गुलः॥ ४३६॥

त्रयोदशाङ्गुलस्तद्वन्न च पञ्चदशाङ्गुलः।

४३६ ग-४३७ ख. (अ०) अविस्पष्ट-अन्तरत्वेन अस्पष्ट अन्तर होने से सप्तदश-अङ्गुलः सत्रह अंगुल (अंतर) वाला (और) त्रयोदश-अङ्गुलः तेरह अंगुल वाला न इष्टः इष्ट नहीं (है)। तत्-वत् उसी तरह पञ्चदश-अङ्गुलः च न पन्द्रह अंगुल (अंतर) वाला भी (इष्ट) नहीं (होता)।

(सर०) ग्रन्थकार ने १-१ अंगुल दूरी बढ़ा कर वंश के अन्य १४ भेद कहे। इस तरह एकवीर को लेकर वंश १५ प्रकार का होता है।

भेदों में तेरह, पन्द्रह और सत्रह अंगुल अन्तर को छोड़ दिया। इसका कारण यह बताया कि इनमें अन्तर स्पष्ट नहीं होता। इस पर कल्लि० ने कहा कि इनमें अन्तर स्पष्ट नहीं होता इसलिये भ्रान्ति उत्पन्न होती है। बारह अंगुल अन्तर से पहले के वंशों में अंगुलों की संख्या कम होने से भेद स्पष्ट हो जाता है इसलिये भ्रान्ति नहीं होती। इस बारे में आगे ग्रन्थकार ने भी आपत्ति उठाई है। अन्तर स्पष्ट न होने का आशय क्या है यह स्पष्ट नहीं है।

मुरल्याख्योऽपरैर्वंशो विंशत्यङ्गुलकः श्रितः॥ ४३७॥

द्वाविंशत्यङ्गुलोऽप्यन्यो वंशस्तज्ज्ञेषु दृश्यते।
तं च श्रुतिनिधिं प्राहुर्वंशं वंशविदो जनाः॥ ४३८॥

अतिमन्द्रध्वनित्वेन नेष्यतेऽसौ विचक्षणैः।
विरलाश्चातितारत्वाद्वंशा पञ्चाङ्गुलादधः॥ ४३९॥

४३७ ग-४३९. (अ०) अपरैः अन्य (आचार्यों) के द्वारा मुरली-आख्यः वंशः मुरली नामक वंश विंशति-अङ्गुलकः

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

श्रितः बीस अंगुल (अन्तर) के आश्रित (माना गया है)। तज्ज्ञेषु उसके (वंश के) जानकारों में द्वाविंशति-अङ्गुलः बाईस अंगुल वाला अन्यः अपि वंशः एक और वंश भी दृश्यते दिखाई देता है तं च और उसे वंशविदः जनाः वंश को जानने वाले जन श्रुतिनिधिं वंशं प्राहुः श्रुतिनिधि वंश कहते हैं। अतिमन्द्रध्वनित्वेन अति मन्द्र ध्वनि होने से असौ यह विचक्षणैः विद्वानों के द्वारा न इष्यते इष्ट नहीं होता। पञ्च-अङ्गुलात्-अधः पाँच अंगुल से कम (अंतर) वाले वंशाः वंश अतितारत्वात् अति तार (बहुत ऊँचे स्वर वाले) होने से विरलाः कम (होते हैं)।

(सर०) वंश के उक्त लक्षणों से यह स्पष्ट होता है कि मुख्यतः मुखरन्ध्र औरताररन्ध्र के बीच की दूरी वंश की मूल तारता और मन्द्र-तार ध्वनि की प्रधानता की नियामक होती है। इन रन्ध्रों के बीच की दूरी जितनी कम होगी वंश की ध्वनि उतनी ऊँची होगी और दूरी बढ़ने से ध्वनि नीची होगी। इसमें यह अन्वित है कि यह दूरी कम होने पर वंश की कुल लंबाई कम होगी, फलतः वंश ऊँची ध्वनि वाला होगा और दूरी ज्यादा होने पर वंश की लंबाई ज्यादा होने से वंश नीची ध्वनि वाला होगा।

ग्रन्थकार ने अन्य आचार्यों द्वारा मान्य बीस और बाईस अंगुल की दूरी वाले और ५ अंगुल से कम दूरी वाले वंश का उल्लेख करके यह कहा कि २२ अंगुल वाले वंश की ध्वनि अतिमन्द्र यानी बहुत नीची होने से वह वादन के लिये इष्ट नहीं होता और पाँच अंगुल से कम अंतर वाला अतितार यानी बहुत ऊँची ध्वनि के कारण बहुत कम प्रयोग में आता है। इसका अर्थ यह है कि एकवीर आदि शुरू के ४ वंश जिनमें दूरी क्रम से १, २, ३ और ४ अंगुल होती है वे अतितारत्व के कारण कम प्रयुक्त होते हैं।

(स्वरोत्पादनविधिः)

अष्टादशाङ्गुले वंशे स्वररन्ध्रेषु सप्तसु।
मुद्रितेषु भवेत् षड्जो मन्द्रसप्तकसंस्थितः॥ ४४०॥

षट्स्वेवमन्यवंशेषु स्युः क्रमादृषभादयः।
आरभ्याष्टाङ्गुलादेवमधो वंशेषु सप्तसु॥ ४४१॥

मध्यस्थानगताः सप्तोद्यन्ति षड्जादयः क्रमात्।
तारस्थानस्थितः षड्जस्त्वेकवीरस्य जायते॥ ४४२॥

स्वरोत्पादन की विधि

४४०-४४२. (अ०) अष्टादशाङ्गुले वंशे अष्टादशाङ्गुल (नामक) वंश में सप्तसु स्वररन्ध्रेषु मुद्रितेषु सातों स्वररन्ध्र बन्द होने पर मन्द्रसप्तकसंस्थितः मन्द्र सप्तक में स्थित षड्जः भवेत् षड्ज (उत्पन्न) होता है। एवम् इसी तरह षट्सु अन्यवंशेषु दूसरे छ वंशों में क्रमात् क्रम से ऋषभ-आदयः स्युः (मन्द्र सप्तक के) ऋषभ आदि (छ स्वर उत्पन्न) होते हैं। एवम् इसी तरह अष्ट-अङ्गुलात् आरभ्य आठ अंगुल (अंतर वाले वसु नामक वंश) से शुरू करके अधः (उससे) नीचे के (अर्थात् कम दूरी वाले) सप्तसु वंशेषु सात वंशों में क्रमात् क्रम से मध्यस्थानगताः मध्यस्थान के षड्ज-आदयः सप्त षड्ज आदि सात (स्वर) उद्यन्ति उत्पन्न होते हैं। तारस्थानस्थितः तार स्थान में स्थित षड्जः तु षड्ज तो एकवीरस्य एकवीर का (में) जायते उत्पन्न होता है।

(सर०) वंश के १५ भेदों में अन्तिम अष्टादशांगुल सबसे लंबा है उसकी ध्वनि सबसे नीची होती है। वंश में कहे गये ९ छेदों में से पहले मुखरन्ध्र के बाद के ७ छेदों को बन्द रखने पर वंश का मूल स्वर उत्पन्न होता है जो अष्टादशांगुल में मन्द्र षड्ज होता है। ८वाँ छेद वायु बाहर निकलने के लिये होता है इसलिये हमेशा खुला रहता है। इसी तरह अष्टादशांगुल से पहले-पहले के कलानिधि, मनु, आदित्य, रुद्र, महानन्द और नागेन्द्र में क्रम से मन्द्र सप्तक के रि, ग, म, प, ध, नि उत्पन्न होते हैं।

नागेन्द्र से पहले के ७ यानी वसु, मुनि, षण्मुख, पंचवक्त्र, चतुर्मुख, त्रिपुरुष और उमापति में क्रम से मध्य स्थान के स, रि, ग, म, प, ध, नि स्वर उत्पन्न होते हैं। एकवीर में तारस्थान का षड्ज उत्पन्न होता है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

यहाँ तक वंश के १५ भेदों में उत्पन्न होने वाला हरेक का मूल स्वर कहा गया। अगले श्लोकों में अगले-अगले स्वर उत्पन्न करने की विधि बताई है।

इसके अनुसार एकवीर से शुरू करें तो १५ वंशों में क्रम से ये आधार स्वर मिलेंगे—सं नि ध प म ग रि स निं धं पं मं गं रिं सं। अन्तिम मन्द्र स अष्टादशाङ्गुल वंश का आधार स्वर होगा।

सर्वेष्वेतेषु वंशेषु मुक्ते रन्ध्रद्वयेऽन्तिमे।
स्वरो द्वितीयो जायेत तृतीयाद्यास्ततः परम्॥ ४४३॥

सप्तमान्ताः प्रजायन्ते त्र्यादिरन्ध्रविमोचनात्।
मुक्ते तुताररन्ध्रेऽन्यरन्ध्रेषु पिहितेषु च॥ ४४४॥

अष्टमस्वरसंभूतिः पूर्वाचार्यैरुदीरिता।

४४३-४४५ ख. (अ०) एतेषु सर्वेषु वंशेषु इन सभी वंशों में अन्तिमे रन्ध्रद्वये मुक्ते अन्तिम दो छेद खुले रहने पर द्वितीयः स्वरः दूसरा स्वर जायेत उत्पन्न होता है। ततः परम् उसके बाद त्रि-आदिरन्ध्रविमोचनात् तीन आदि छेद खुले रखने से तृतीय-आद्याः तीसरे से शुरू करके सप्तम-अन्ताः सातवें से अन्त होने वाले (स्वर) प्रजायन्ते उत्पन्न होते हैं। ताररन्ध्रे मुक्ते तु ताररन्ध्र खुला रहने पर तो अन्यरन्ध्रेषु पिहितेषु च और अन्य छेद बन्द रहने पर पूर्व-आचार्यैः पूर्व आचार्यों के द्वारा अष्टमस्वरसंभूतिः आठवें स्वर की उत्पत्ति उदीरिता कही गई (है)।

(सर०) सातों स्वररन्ध्र बन्द रखने पर मूल स्वर उत्पन्न होता है। उसके बाद अन्तिम दो छेद खुले रखने से हर वंश में दूसरा-दूसरा स्वर उत्पन्न होता है। कल्लि० ने यह स्पष्ट किया कि इसका यह अर्थ है कि जिस स्वर में जो पहला स्वर कहा गया उसकी अपेक्षा से उसका दूसरा स्वर उत्पन्न होता है। जैसे—अष्टादशाङ्गुल में पहला मन्द्र षड्ज होता है इसलिये दूसरा मन्द्र ऋषभ होगा। कलानिधि में पहला स्वर मन्द्र ऋषभ होने से दूसरा मन्द्र गान्धार होगा।

इसी तरह अन्तिम ३, ४ आदि छेद खुले रहने पर तीसरे-चौथे आदि स्वर उत्पन्न होते हैं। जैसे—अष्टादशांगुल में तीन छेद खुले हों तो पहले स्वर मन्द्र षड्ज का तीसरा मन्द्र गान्धार होगा। चार छेद खोलने पर चौथा स्वर मन्द्र मध्यम होगा।

जिस वंश में ताररन्ध्र आदि ७ छेद बन्द रखने पर जो स्वर उत्पन्न होता है उसका आठवाँ यानी दुगना स्वर ताररन्ध्र खुला रख कर बाक़ी छेद बन्द रखने से उत्पन्न होता है।

व्यक्तमुक्ताङ्गुलित्वेन समग्रो जायते स्वरः॥ ४४५॥

अङ्गुल्याः कम्पने त्वत्र श्रुतिरेकापचीयते।
श्रुतिद्वयं त्वर्धमुक्ते तत्कम्पे तु श्रुतित्रयम्॥ ४४६॥

४४५ ग-४४६. (अ०) व्यक्तमुक्त-अङ्गुलित्वेन पूरी तरह खुली (खुले छेद वाली) उँगली होने से समग्रः स्वरः पूर्ण स्वर जायते उत्पन्न होता है। अत्र यहाँ (छेद पर) अङ्गुल्याः कम्पने तु उँगली का कंपन होने पर तो एका श्रुतिः एक श्रुति अपचीयते कम हो जाती है, श्रुतिद्वयं तु दो श्रुति तो अर्धमुक्ते आधा (छेद) खुला होने पर तत् कम्पे तु उस (आधे मुक्त छेद वाली उँगली) के कंपित होने पर तो श्रुतित्रयं तीन श्रुति (कम हो जाती हैं)।

(सर०) छेद पर से उँगली पूरी तरह हटी होने पर समग्र स्वर उत्पन्न होता है। कल्लि० के अनुसार समग्र यानी अपनी शुद्ध अवस्था में कही गई श्रुतियों से युक्त होता है। छेद पर उँगली कंपित करने से एक श्रुति कम हो जाती है, छेद को आधा खुला रखने पर दो श्रुति कम हो जाती हैं और आधे खुले छेद पर उँगली कंपित करने पर तीन श्रुतियाँ कम हो जाती हैं।

अन्यथा वर्णयन्तीह केचित् सप्तस्वरोदयम्।
अर्धेन्दुनागफणवद् वंशे स्थाप्यं करद्वयम्॥ ४४७।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

वामस्यानामिकाङ्गुल्या षड्जो मध्यमया पुनः।
ऋषभः स्यात् प्रदेशिन्या गान्धार इति वामतः ॥ ४४८ ॥

त्रयः स्वराः प्रजायन्ते चत्वारो दक्षिणात् करात्।
कनिष्ठया मध्यमः स्यात् पञ्चमोऽनामया स्वरः ॥ ४४९ ॥

धैवतः स्यान्मध्यमया प्रदेशिन्या निषादवान्।
स्थानत्रयस्य निष्पत्तिर्नैवास्मिन्,

४४७-४५० घ. (अ०) केचित् कुछ आचार्य इह वंश में सप्तस्वर-उदयं सात स्वरों की उत्पत्ति अन्यथा वर्णयन्ति अलग तरह से वर्णित करते हैं। अर्ध-इन्दु-नागफणवत् अर्धेन्दु और नागफण (नृत्यहस्तों) की तरह करद्वयं दोनों हाथ वंशे स्थाप्यं वंश पर स्थापित करने चाहियें। वामस्य बायें (हाथ) की अनामिका-अङ्गुल्या अनामिका उँगली से षड्जः षड्ज, पुनः मध्यमया फिर मध्यमा से ऋषभः ऋषभ (और) प्रदेशिन्या प्रदेशिनी से गान्धारः स्यात् गान्धार (उत्पन्न) होता है। इति इस तरह वामतः बायें (हाथ) से त्रयः स्वराः तीन स्वर (होते हैं)। दक्षिणात् करात् दाहिने हाथ से चत्वारः चार (स्वर) प्रजायन्ते उत्पन्न होते हैं। कनिष्ठया कनिष्ठा से मध्यमः मध्यम, अनामया अनामिका से पञ्चमः स्वरः पंचम स्वर स्यात् होता है। धैवतः धैवत मध्यमया स्यात् मध्यमा से होता है। प्रदेशिन्या प्रदेशिनी से निषादवान् निषाद वाला (उत्पन्न होता है)। अस्मिन् इस (पक्ष) में स्थानत्रयस्य निष्पत्तिः तीन स्थानों की उत्पत्ति न एव नहीं ही (होती)।

(सर०) ग्रन्थकार ने एक भिन्न मत से स्वरों की उत्पत्ति अलग तरह से बताई है। इसमें नृत्त के अर्धेन्दु और नागफण (सर्पशिरा) हस्तों के आकार में हाथों को वंश पर रख कर स्वर उत्पन्न किये जाते हैं।

सिंह० के अनुसार बायें हाथ को अर्धचन्द्र की आकृति में विमुख यानी हथेली का पिछला भाग बाहर की ओर रहे इस तरह रखकर और दाहिने हाथ को नागफण की आकृति में संमुख यानी हथेली सामने की ओर रख कर वादन किया जाता है।

कल्लि० ने नर्तनाध्याय से इन दोनों हस्तों के लक्षण उद्धृत करके व्याख्या की है। अर्धचन्द्र हस्त का लक्षण यह है—जहाँ एक ओर उँगलियों का समूह (अंगुलिसंघात) और दूसरी ओर अँगूठा रखने पर चन्द्र की रेखा जैसी आकृति बनती है वह अर्धचन्द्र हस्त है (७/११७)। नागफण के स्थान पर नर्तनाध्याय में सर्पशिरा नाम है जिसका यह लक्षण है—बीच में से झुका हुआ पताक हस्त होने पर सर्पशिरा होता है (वही, १५२)। तर्जनी के मूल में आकुंचित अँगूठा लगा कर हथेली और उँगलियाँ फैली हुई रखने से पताक हस्त होता है (वही, १०२)। इसी पताक हस्त की फैली उँगलियों को बीच में थोड़ा सा भीतर की ओर मोड़ देने पर साँप के फन जैसी आकृति बन जाती है जो सर्पशिरा हस्त है।

कल्लि० ने यह भी कहा कि वंश में हस्त उसी रूप में नहीं रहते बल्कि उनका सादृश्य दिखाई देता है। दोनों हाथों के अँगूठे अलग रखते हुए हथेली अर्धचन्द्र की तरह रहे और दोनों में उँगलियों को कुछ मोड़ते हुए वंश पर इस तरह रखें जिससे नागफन की तरह दिखाई दें। अँगूठे वाले भाग से वंश को पकड़ कर उँगली वाले भागों को वंश पर रख कर धारण करना चाहिये। कल्लि० ने यह उल्लेख भी किया कि बायें हाथ की अनामिका से षड्ज होता है इसके द्वारा हाथों का व्यत्यास (उलट-पुलट) से संनिवेश सूचित किया है।

अन्यथा जगुः ॥ ४५० ॥

सुशिक्षितेन रचितात् फूत्कारान्मध्यसप्तके।
जायन्ते वैणशारीरस्वरसंवादिनः स्वराः ॥ ४५१ ॥

तारस्था मुखसंयोगसंकटे मुखरन्ध्रके।
तं वादनप्रकारं च टीपामाचक्षते जनाः ॥ ४५२ ॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

तया यद् वाद्यते रन्ध्रे तत् स्वरो द्विगुणो भवेत्।
रन्ध्रस्य मुखसंयोगविप्रकर्षात् मन्द्रगाः॥ ४५३॥

४५० घ-४५३. (अ०) अन्यथा जगुः (अन्य आचार्य) भिन्न प्रकार से कहते हैं। सुशिक्षितेन अच्छा शिक्षण पाये हुये (वादकों के) द्वारा रचितात् फूत्कारात् योजित फूँक से वैणशारीरस्वरसंवादिनः वीणा और कंठ से उत्पन्न स्वरों के संवादी (अर्थात् एकरूप) मध्यसप्तके स्वराः मध्य सप्तक के स्वर जायन्ते उत्पन्न होते हैं। मुखरन्ध्रके मुखरन्ध्र (और) मुखसंयोगसंकटे मुँह का संयोग निकट होने पर तारस्थाः तार (स्थान में) स्थित (स्वर उत्पन्न होते हैं) तं वादनप्रकारं च और बजाने के उस प्रकार को जनाः लोग टीपाम् आचक्षते टीपा कहते हैं। तया उस प्रकार के द्वारा रन्ध्रे छेद में यत् वाद्यते जो बजाया जाता है तत् स्वरः वह स्वर द्विगुणः भवेत् दुगना होता है। रन्ध्रस्य छेद का मुखसंयोगविप्रकर्षात् तु मुँह से संयोग दूर होने से तो मन्द्रगाः मन्द्र स्थान के (स्वर होते हैं)।

(सर०) वंश में स्वरोत्पादन की विधि के बारे में एक अन्य मत के अनुसार सुशिक्षित वादक विशेष ढंग से फूँक भर कर ठीक उसी तरह के मध्यस्थान के स्वर उत्पन्न करते हैं जैसे वीणा और कंठ से उत्पन्न होते हैं। फूँक भरते समय मुँह मुखरन्ध्र के बहुत पास रख कर तार स्थान के स्वर उत्पन्न करते हैं जिन्हें टीपा कहा जाता है। जिस छेद से मूलतः जो स्वर उत्पन्न होता है, इस विधि से, उसका दुगना यानी तार स्वर निकलता है। मुँह और मुखरन्ध्र में दूरी ज़्यादा होने पर मन्द्रस्थानीय स्वर उत्पन्न होते हैं।

तीव्रातीव्रतया वायोः शीघ्रमन्थरभावतः।
पूरणापूरणाभ्यां चोपचयापचयाद् ध्वनेः॥ ४५४॥
कुर्वन्त्येकत्र रन्ध्रेऽपि तज्ज्ञा नानास्वरोदयम्।

४५४-४५५ ख. (अ०) एकत्र रन्ध्रे अपि एक ही छेद में वायोः वायु के तीव्र-अतीव्रतया ज़ोरदार या हल्की (फूँक) से, शीघ्रमन्थरभावतः जल्दी या धीमे प्रकार से, पूरण-अपूरणाभ्यां पूरी भरने या पूरी न भरने से ध्वनेः उपचय-अपचयात् च और ध्वनि के पुष्ट (भरावदार) और अपुष्ट होने से तज्ज्ञाः उसके ज्ञाता नानास्वर-उदयं कुर्वन्ति अनेक स्वरों को उत्पन्न करते हैं।

(सर०) वंश में फूँक पर नियन्त्रण सबसे महत्त्वपूर्ण होता है और कुशलवादक अलग-अलग तरह से फूँक भर कर एक ही छेद से कई स्वर उत्पन्न करते हैं।

(वंशगतयः)

कम्पिता वलिता मुक्तार्धमुक्ता च निपीडिता॥ ४५५॥
इति वंशे गतिः प्रोक्ता शार्ङ्गदेवेन पञ्चधा।

वंशगतियाँ

४५५ ग-४५६ ख. (अ०) कम्पिता वलिता मुक्ता अर्धमुक्ता कंपिता, वलिता, मुक्ता अर्धमुक्ता निपीडिता च और निपीडिता इति यों वंशे वंश में पञ्चधा गतिः पाँच प्रकार की गति शार्ङ्गदेवेन प्रोक्ता शार्ङ्गदेव के द्वारा कही गई (है)।

(सर०) सिंह० के अनुसार गति का अर्थ वंश के वादन का प्रकार है। कंपिता, वलिता, मुक्ता अर्धमुक्ता और निपीड़िता— इन पाँच प्रकार की गतियों के लक्षण अगले श्लोकों में दिये हैं।

अधरस्थस्य वंशस्य कम्पनात् कम्पिता मता॥ ४५६॥
वर्णालंकारनिष्पत्तिः प्रयोगेऽस्याः प्रयोजनम्।

इति कम्पिता

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

४५६ ग-४५७ ख. (अ०) अधरस्थस्य वंशस्य ओठ पर रखे हुए वंश के कम्पनात् कंपन से कम्पिता मता कंपिता (गति) मानी गई (है)। प्रयोगे प्रयोग (वादन) में वर्ण-अलंकारनिष्पत्तिः वर्ण (और) अलंकारों का निष्पादन अस्याः प्रयोजनम् इसका प्रयोजन (है)।

यह कंपिता है।

भवेत्संचारिनिष्पत्तौ वलिताङ्गुलिचालनम्॥ ४५७॥

इति वलिता

४५७ ग-घ. (अ०) अङ्गुलिचालनम् उँगली हिलाना वलिता वलिता (है जो) संचारिनिष्पत्तौ संचारी वर्ण की निष्पत्ति में भवेत् होती है।

(सर०) कंपिता का प्रयोजन वर्णों की निष्पत्ति कहा जा चुका है। वलिता में विशेष रूप से संचारी वर्ण कहा है।

यह वलिता है।

रन्ध्रेऽखिलेऽङ्गुलीमुक्ते मुक्ता स्यान्मुक्तशब्दकृत्।

इति मुक्ता

४५८ क-ख. (अ०) अखिले रन्ध्रे अङ्गुलीमुक्ते सारे छेद उँगलियों से मुक्त होने पर मुक्तशब्दकृत् खुली ध्वनि उत्पन्न करने वाली मुक्ता स्यात् मुक्ता (गति) होती है।

यह मुक्ता है।

अर्धमुक्तार्धमुक्तेः स्याद् धृतशब्दविधायिनी॥ ४५८॥

इत्यर्धमुक्ता

४५८ ग-घ. (अ०) अर्धमुक्तेः (छेद) आधे खुले होने पर अर्धमुक्ता स्यात् अर्धमुक्ता होती है (जो) धृतशब्दविधायिनी (उत्पन्न हुए) नाद के धारण का विधान करने वाली (होती है)।

(सर०) कल्लि० के अनुसार अर्धमुक्ते का अर्थ उँगली के आगे के आधे भाग से छेद का आधा भाग खुला रखना है। ऐसा वादन उत्पन्न हुए नाद को धारण करता है यानी बनाये रखता है।

यह अर्धमुक्ता है।

समन्तात् सर्वरन्ध्राणि पिधायाङ्गुलिभिर्यदा।
वंशं पूरयते तज्ज्ञैस्तदा ज्ञेया निपीडिता॥ ४५९॥

इति निपीडिता

४५९. (अ०) यदा जब सर्वरन्ध्राणि सारे छेद अङ्गुलिभिः उँगलियों से समन्तात् सब तरफ़ से (अर्थात् पूरी तरह) पिधाय ढक कर (बन्द करके) वंशं पूरयते वंश को (फूँक से) भरा जाता है तदा तब तज्ज्ञैः उसके ज्ञाताओं के द्वारा निपीडिता ज्ञेया निपीडिता जानी गई (है)।

यह निपीडिता है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(मतान्तरेण वंशव्यवस्था)

अत्र कीर्तिधरस्त्वन्यां व्यवस्थामभ्युपागमत्।
षट्सप्ताष्टाङ्गुला वंशास्तारस्वरविधायकाः॥ ४६०॥

मध्यस्वरा नवदशैकादशाङ्गुलकास्त्रयः।
अङ्गुलैर्यो द्वादशभिः स्यात्त्रयोदशभिश्च यः॥ ४६१॥

हेतू मन्द्रस्वराणां तौ सर्ववंशमयः पुनः।
चतुर्दशाङ्गुलो वंशस्त्रिस्थानस्वरसाधकः॥ ४६२॥

वर्णालंकारधात्वादिवाद्यसंवादनक्षमः।
एवं वंशा नवैवेति युक्तायुक्तविदो विदुः॥ ४६३॥

मतान्तर से वंशव्यवस्था

४६०-४६३. (अ०) अत्र यहाँ (वंश के संबन्ध में) कीर्तिधरः तु कीर्तिधर ने तो अन्यां व्यवस्थाम् इससे भिन्न व्यवस्था अभ्युपागमत् स्वीकार की है। षट्सप्त-अष्ट-अङ्गुलाः वंशाः छ, सात (और) आठ अंगुल (अन्तर) वाले वंश तारस्वरविधायकाः तार स्वर का विधान (उत्पन्न) करने वाले (होते हैं)। मध्यस्वराः मध्य (स्थान) के स्वर वाले नवदश-एकादश-अङ्गुलकाः नौ, दस (और) ग्यारह अंगुल वाले त्रयः (ये) तीन (हैं)। यः जो द्वादशभिः अङ्गुलैः बारह अंगुलों के द्वारा त्रयोदशभिः च यः स्यात् और तेरह (अंगुलों के अन्तर) से जो होता है तौ वे दोनों मन्द्रस्वराणां हेतू मन्द्र स्वरों के कारण (होते हैं) पुनः सर्ववंशमयः और सारे (इन आठों) वंशों के स्वरूप वाला चतुर्दशाङ्गुलः वंशः चौदह अंगुल (अन्तर) वाला वंश त्रिस्थानस्वरसाधकः तीनों स्थानों के स्वरों को संपन्न करने वाला (और) वर्ण-अलंकारधातु-आदि-वाद्यसंवादनक्षमः वर्ण, अलंकार, धातु आदि वाद्यों के सम्यक् वादन की क्षमता वाला (होता है)। एवम् इस प्रकार युक्त-अयुक्तविदः योग्य-अयोग्य को जानने वाले नव-एव वंशाः नौ ही वंश (हैं) इति विदुः ऐसा जानते हैं।

(सर०) ग्रन्थकार ने कीर्तिधर के मत से नौ प्रकार के वंश बताये हैं। इनमें मुखरन्ध्र और तारन्ध्र के बीच ६, ७ और ८ अंगुल दूरी वाले तीन वंश तार स्वर उत्पन्न करते हैं, ९, १० और ११ वाले मध्य स्वर और १२ तथा १३ वाले मन्द्र स्वरों के जनक होते हैं। नवाँ १८ अंगुल दूरी वाला इन आठों वंशों के स्वरूप वाला यानी तीनों स्थानों के स्वर और वर्ण तथा अलंकार, धातु आदि के वादन की क्षमता वाला होने से सर्वोत्तम कहा जायगा।

वंशों के निरूपण में अंगुलसंख्या मुखरन्ध्र और तारन्ध्र के बीच की दूरी की सूचक है, सर्वत्र ऐसा समझना चाहिये।

(मतान्तरेण मानभेदः)

केचिद् देशीविदो वंशानेकवीरादिकानमून्।
मानान्तरेणाभिदधुस्तेषां मतमिदं ब्रुवे॥ ४६४॥

प्राक् चतुर्दशवंशात् तेऽङ्गुलं पञ्चयवं जगुः।
चतुर्दशादिवंशेषु सार्धपञ्चयवं त्विदम्॥ ४६५॥

मतान्तर से वंशों के भिन्न नाप

४६४-४६५. (अ०) केचित् देशीविदः कुछ देशी के वेत्ताओं ने अमून् इन एकवीर-आदिकान् वंशान् एकवीर आदि

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

वंशों को मान-अन्तरेण भिन्न नाप से अभिदधुः कहा है। तेषाम् उनके इदं मतम् इस मत को ब्रुवे कहता हूँ। ते वे चतुर्दशवंशात् प्राक् चौदह अंगुल (अन्तर वाले) वंश (मनु) से पहले पञ्चयवम् अङ्गुलं पाँच यव अंगुल (का नाप) जगुः कहते हैं। चतुर्दश-आदि वंशेषु तु चौदह (अंगुल) आदि (मनु, कलानिधि और अष्टादशांगुल) वंशों में तो इदं यह (नाप) स-अर्धपञ्चयवं आधे सहित पाँच (साढ़े पाँच) यव (है)।

(सर०) देशी वंशों के प्रयोक्ताओं के मतानुसार यहाँ ग्रन्थकार ने वंशों के पूर्वोक्त नापों से भिन्न नाप दिये हैं। एकवीर से चौदह अंगुल वाले मनु तक के भेदों में अंगुल का नाप ५ यव और १४, १६ तथा १८ अंगुल वाले ३ भेदों में अंगुल ५$\frac{1}{2}$ यव का होता है।

चतुर्दशाङ्गुलं दण्डमेकवीरे प्रचक्षते।
सार्धाङ्गुलौ शिरःप्रान्तौ पृथग्जातिमुखेऽङ्गुलम्॥ ४६६॥

मानं तारादिरन्ध्राणि प्रत्येकं त्रियवानि तु।
त्रियवान्यन्तरालानि पृथक् स्थानेषु मूलतः॥ ४६७॥

पञ्चमांशोनितं मानं कनिष्ठापर्वमध्यतः।

४६६-४६८ ख. (अ०) एकवीरे एकवीर में दण्डं दण्ड चतुर्दश-अङ्गुलं चौदह अंगुल वाला प्रचक्षते कहा जाता है। शिरःप्रान्तौ सिर (मूल का सिरा) और अन्त दोनों पृथक् अलग-अलग स-अर्ध-अङ्गुलौ डेढ़ अंगुल (नाप) वाले (और) जातिमुखे फूत्काररन्ध्र में अङ्गुलं मानम् एक अंगुल नाप (होता है)। तार-आदिरन्ध्राणि तु तार आदि रन्ध्र तो प्रत्येकं हरेक त्रियवानि तीन यव (नाप) वाले (होते हैं)। अन्तरालानि बीच के अन्तर पृथक् हरेक त्रियवानि तीन यव वाले, स्थानेषु मानं स्थानों में नाप मूलतः मूल से कनिष्ठापर्वमध्यतः कनिष्ठा (उँगली) के बीच के पोर से पञ्चम-अंश-ऊनितं पाँचवाँ भाग कम किया हुआ (होता है)।

(सर०) मुद्रित पाठ 'स्थानेषु मूलतः' है जिसका संगत अर्थ नहीं निकलता क्योंकि इससे पहले तार आदि रन्ध्रों का और अन्तरालों का नाप दिया जा चुका है। इससे पहले या बाद में छेदों और अन्तरालों के अलावा 'स्थानों' के नाप कहे भी नहीं हैं। लेकिन कनिष्ठा मध्यपर्व के द्वारा जहाँ भी नाप दिया गया है वह 'खान' (गर्भरन्ध्र) का ही है। (द्रष्टव्य ४८३-५९४) इसलिये खानेस्तु पाठ तर्कसंगत लगता है। इसके अनुसार अनुवाद यों होगा—

खानेः तु खान (गर्भरन्ध्र) का तो मानं नाप कनिष्ठापर्वमध्यतः मूलतः कनिष्ठा (उँगली) के बीच के पोर के मूल से पञ्चम-अंश-ऊनितं पाँचवाँ भाग कम किया हुआ (होता है)।

सं० र० के दोनों संस्करणों और सिंह० की टीका में 'स्थानेषु' पाठ है। आड्० की पादटिप्पणी में 'जातेषु', 'जातेस्तु' और 'स्थानेस्तु' पाठ भेद दिये हैं। ग० ओ० मै० ला०, मद्रास की पाण्डुलिपियों में यही पाठ प्राप्त होते हैं। लेकिन इनमें से किसी के द्वारा संगत अर्थ नहीं निकलता।

उमापतेस्तु वंशस्य दण्डः पञ्चदशाङ्गुलः॥ ४६८॥

पादोनेन यवद्वन्द्वेनाधिकोऽस्यान्तरेषु तु।
सपादत्रियवं मानं पृथगन्यत्तु पूर्ववत्॥ ४६९॥

४६८ ग-४६९. (अ०) उमापतेः वंशस्य उमापति वंश का दण्डः तु दंड तो पञ्चदश अङ्गुलः पन्द्रह अंगुल (और) पाद-ऊनेन यवद्वयेन चौथाई कम दो (पौने दो) यव अधिकः ज़्यादा (होता है)। अस्य इसके अन्तरेषु तु अन्तरों में तो पृथक् हरेक सपादत्रियवं मानं चौथाई सहित तीन (सवा तीन) यव नाप वाला (होता है)। अन्यत् तु अन्य सब तो पूर्ववत् पहले जैसा (होता है)।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अङ्गुलैः सप्तदशभिर्यवयुग्माधिकैर्मतः।
दण्डस्त्रिपुरुषे वंशे पृथगन्तरसप्तके॥ ४७०॥

यवोनमङ्गुलं मानमपरं लक्ष्म पूर्ववत्।

४७०-४७१ ख. (अ०) त्रिपुरुषे वंशे त्रिपुरुष वंश में दण्डः दंड यवयुग्म-अधिकैः सप्तदशभिः अङ्गुलैः यव के एक जोड़े अधिक सत्रह अंगुलों से मतः माना गया (है)। अन्तरसप्तके पृथक् सात अन्तरों में (से) हरेक यव-ऊनम्-अङ्गुलं मानम् एक यव कम एक अंगुल नाप वाला (होता है)। अपरं लक्ष्म अन्य लक्षण पूर्ववत् पहले की तरह (होता है)।

यवद्वयाधिकैः सार्धैरष्टादशभिरङ्गुलैः॥ ४७१॥

मितश्चतुर्मुखे दण्डे शिरोन्तौ तु मितौ पृथक्।
पादोनाभ्यामङ्गुलाभ्यां लक्षणं पूर्ववत् परम्॥ ४७२॥

४७१ ग-४७२. (अ०) यवद्वय-अधिकैः दो यव ज्यादा स-अर्धैः अष्टादशभिः अङ्गुलैः आधे सहित अठारह (साढ़े अठारह) अंगुलों से मितः नापे हुए (नाप वाले) चतुर्मुखे दण्डे चतुर्मुख के दण्ड में शिर-अन्तौ तु मितौ पृथक् सिर और अन्तिम सिरा तो नाप में हरेक पाद-ऊनाभ्याम्-अङ्गुलाभ्यां चौथाई कम दो (पौने दो) अंगुलों से (होते हैं)। परं लक्षणम् दूसरे लक्षण पूर्ववत् पहले की तरह (होते हैं)।

यवस्य सार्धपादेन न्यूना द्वाविंशतिर्मता।
अङ्गुलानां दण्डमानं पञ्चवक्त्रे शिरोन्तयोः॥ ४७३॥

सार्धाङ्गुलद्वयं मानं पृथगन्तरसप्तके।
चतुर्यवी सार्धपादाभ्यधिकान्यत्तु पूर्ववत्॥ ४७४॥

४७३-४७४. (अ०) पञ्चवक्त्रे पंचवक्त्र में दण्डमानं दंड का नाप यवस्य यव के स-अर्धपादेन न्यूना आधे सहित चौथाई (तीन अष्टमांश और) द्वाविंशतिः अङ्गुलानां बाईस अंगुलों का मता माना गया (है)। शिर-अन्तयोः मानं सिर और अन्तिम भाग का नाप स-अर्ध-अङ्गुलद्वयम् आधे सहित दो (ढाई) अंगुल (तथा) अन्तरसप्तके सात अन्तरों में (से) पृथक् हरेक स-अर्धपादाभ्यधिक चतुःयवी आधे सहित चौथाई ज्यादा चार (चार और तीन अष्टमांश) यव वाले (होते हैं)। अन्यत् तु अन्य सब तो पूर्ववत् पहले जैसा (होता है)।

षण्मुखे यवपादाभ्यां सपादाभ्यां सहाङ्गुलैः।
चतुर्विंशतिसंख्यैः स्याद् दण्डः परिमितस्ततः॥ ४७५॥

ताराद्यष्टसु रन्ध्रेषु सपादत्रियवा मितिः।
प्रत्येकमन्तरालेषु षोडशांशोनिता यवाः॥ ४७६॥

पञ्चमानमिताः शेषं लक्ष्म स्यात् पञ्चवक्त्रवत्।

४७५-४७७ ख. (अ०) षण्मुखे षण्मुख में सपादाभ्यां यवपादाभ्यां सह दो चौथाई सहित चौथाई (पौन) यवों के साथ चतुर्विंशतिसंख्यैः अङ्गुलैः चौबीस अंगुलों से परिमितः नापा हुआ दण्डः स्यात् दंड होता है। ततः उसके बाद तार-आदि-अष्टसु रन्ध्रेषु तार आदि आठ छेदों में सपादत्रियवा मितिः चौथाई सहित तीन (सवा तीन) यव वाली मिति (माप) (होती है)। अन्तरालेषु अन्तरालों में प्रत्येकं हरेक षोडश-अंश-ऊनिताः सोलहवाँ अंश कम पञ्चमानमिताः यवाः पाँच संख्या से नापे गये (अर्थात् ४$\frac{१५}{१६}$) यव (होते हैं)। शेषं लक्ष्म शेष लक्षण पञ्चवक्त्रवत् स्यात् पंचवक्त्र जैसा होता है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

इतः परेषु वंशेषु सप्तस्वभ्यधिको यवः ॥ ४७७ ॥

स्वमानाद् दृश्यते ताररन्ध्रे जातिमुखान्तरे।

४७७ ग-४७८ ख. (अ०) इतः परेषु सप्तसु वंशेषु इसके बाद वाले सात वंशों में ताररन्ध्रे जातिमुख-अन्तरे ताररन्ध्र (और) फूत्काररन्ध्र के बीच में स्वमानात् अपने नाप से अभ्यधिकः यवः एक यव ज़्यादा दृश्यते दिखाई देता है।

(सर०) ये सात वंश मुनि, वसु, नागेन्द्र, महानन्द, रुद्र, आदित्य और मनु हैं।

युक्ता यवेन सार्धेनाङ्गुलषड्विंशतिर्भवेत्।। ४७८ ॥

प्रमाणं मुनिदण्डस्य मानं रन्ध्राष्टके पुनः।
यवत्रयं सार्धपादाधिकं प्रत्येकमीरितम्॥ ४७९ ॥

पृथक् पञ्चयवी सार्धान्तरेष्वन्यत्तु पूर्ववत्॥

४७८ ग-४८० ख. (अ०) मुनिदण्डस्य प्रमाणं मुनि (वंश) के दण्ड का माप स-अर्धेन यवेन युक्ता आधे जौ सहित अङ्गुलषड्विंशतिः भवेत् छब्बीस अंगुल होता है। पुनः और रन्ध्र-अष्टके प्रत्येकं मानं छेदों के आठ के समूह (आठ छेदों) में हरेक (का) नाप स-अर्धपाद-अधिकम् आधे सहित चौथाई (तीन चौथाई) ज़्यादा यवत्रयं तीन यव ईरितं कहा गया (है)। अन्तरेषु (छेदों के बीच के) अन्तरों में (से) पृथक् हरेक स-अर्ध पञ्चयवी आधे सहित पाँच (साढ़े पाँच) यव (होता है)। अन्यत् तु अन्य (लक्षण) तो पूर्ववत् पहले की तरह (है)।

वसुवंशे तु दण्डस्याङ्गुलाष्टाविंशतिर्मितिः ॥ ४८० ॥

यवाधिका जातिमुखं यवेनाधिकमङ्गुलम्।
यवाधिकाङ्गुला ज्ञेयान्तरालेषु मितिः पृथक् ॥ ४८१ ॥

शेषं तु पूर्ववत्,

४८० ग-४८२ क. (अ०) वसुवंशे तु वसु वंश में तो दण्डस्य मितिः दण्ड की मिति यव-अधिका अङ्गुल-अष्टाविंशतिः एक यव ज़्यादा अट्ठाईस अंगुल (होती है)। जातिमुखं फूत्काररन्ध्र यवेन अधिकम्-अङ्गुलम् एक यव ज़्यादा एक अंगुल (और) अन्तरालेषु पृथक् अन्तरालों में हरेक की मितिः मिति यव-अधिका-अङ्गुला एक यव ज़्यादा एक अंगुल ज्ञेया जानी गई (है)। शेषं तु शेष (लक्षण) तो पूर्ववत् पहले की तरह (होता है)।

वंशे नागेन्द्रे दण्डसंमितिः।
यवपादाधिका त्रिंशदङ्गुलानां शिरोन्तयोः ॥ ४८२ ॥

पदोनत्र्यङ्गुलं मानं पृथगन्तरसप्तके।
सपादमङ्गुलं मानं खानिमानं तु मूलतः ॥ ४८३ ॥

षष्ठभागविहीनं स्यात् कनिष्ठापर्वमध्यमम्।
अन्यत्तु पूर्ववत्,

४८२ ख-४८४ ग. (अ०) नागेन्द्रे वंशे नागेन्द्र वंश में यवपाद-अधिका त्रिंशत्-अङ्गुलानां चौथाई यव ज़्यादा तीस अंगुलों की दण्डसंमितिः दंड की मिति (होती है)। शिर-अन्तयोः मानं सिर (मूल भाग) और (दूसरे) सिरे का नाप पाद-ऊनत्रि-अङ्गुलं चौथाई कम तीन (पौने तीन) अंगुल (होता है)। अन्तरसप्तके सात अन्तरों में (से) पृथक् हरेक सपादम्

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अङ्गुलं मानं चौथाई संहित एक (सवा) अंगुल नाप वाला (होता है)। खानिमानं तु (दंड के भीतर के) खोखले भाग का नाप तो कनिष्ठापर्वमध्यमं कनिष्ठा के बीच की पोर के मूलतः मूल से षष्ठभागविहीनं छठे भाग से रहित स्यात् होता है। अन्यत् तु बाक़ी तो पूर्ववत् पहले की तरह (होता है)।

दण्डे महानन्दस्य संमितिः॥ ४८४॥

पादन्यूनेन पादेन यवस्याभ्यधिका भवेत्।
द्वात्रिंशदङ्गुलानां तच्छिरोन्तौ त्र्यङ्गुलौ पृथक्॥ ४८५॥

सपादाङ्गुलकं जातिमुखमन्तरसप्तके।
पृथक्सपादपादेनाभ्यधिकं मानमङ्गुलम्॥ ४८६॥

मूलतः सप्तमांशोनकनिष्ठामध्यपर्वणा।
मिता खानिः परं लक्ष्म पूर्वोक्तं तैरुदीरितम्॥ ४८७॥

४८४ ग-४८७. (अ०) महानन्दस्य दण्डे महानन्द के दण्ड में यवस्य एक यव के पादेन पादन्यूनेन चौथाई से चौथाई कम (अंश, $\frac{3}{16}$) से अभ्यधिका ज्यादा द्वात्रिंशत् अङ्गुलानां बत्तीस अंगुल (३२ अंगुल $\frac{3}{16}$ यव) संमितिः भवेत् मिति होती है। तत् शिरः-अन्तौ उसका सिर और अन्त (अर्थात् दोनों सिरे) पृथक् अलग-अलग त्रि-अङ्गुलौ तीन अंगुल वाले (होते हैं)। जातिमुखं फूत्काररन्ध्र सपाद-अङ्गुलकं चौथाई सहित एक (सवा) अंगुल वाला, अन्तरसप्तके सात अन्तरालों में पृथक् अलग-अलग सपादपादेन अभ्यधिकं चौथाई सहित चौथाई (पाँच षोडशांश, $\frac{5}{16}$) ज्यादा अङ्गुलं मानं अंगुल नाप (और) खानिः खान सप्तम-अंश-ऊनकनिष्ठामध्यपर्वणा मूलतः सातवाँ भाग कम कनिष्ठा के बीच के पर्व के मूल से मिता माप वाली (होती है)। परं लक्ष्म दूसरे लक्षण तैः उन (आचार्यों) के द्वारा पूर्व-उक्तं पहले कहे हुए उदीरितं कहे गये (हैं)।

(सर०) पादेन पादन्यूनेन का अर्थ है चौथाई से उसका चौथाई कम यानी $\frac{1}{4} - \frac{1}{16} = \frac{3}{16}$। इसी तरह सपादपादेन अभ्यधिकं अर्थात् चौथाई और उसका चौथाई ज्यादा यानी $\frac{1}{4} + \frac{1}{16} = \frac{5}{16}$।

सपादानि चतुस्त्रिंशदङ्गुलानि मितिर्भवेत्।
यवार्धसहिता रुद्रदण्डस्यान्तरसप्तके॥ ४८८॥

सार्धाङ्गुलं पृथङ्मानं कनिष्ठामध्यपर्वणा।
खानिः परिमिता शेषं पूर्ववंशवदिष्यते॥ ४८९॥

४८८-४८९. (अ०) रुद्रदण्डस्य मितिः रुद्र (वंश) के दंड की मिति यव-अर्धसहिता आधे यव सहित सपादानि चतुस्त्रिंशत् अङ्गुलानि चौथाई सहित चौंतीस (सवा चौंतीस) अंगुल भवेत् होती है। अन्तरसप्तके सात अन्तरालों में पृथक् अलग-अलग स-अर्ध-अङ्गुलम् आधे सहित एक (डेढ़) अंगुल, खानिः खान कनिष्ठामध्यपर्वणा कनिष्ठा के बीच के पर्व से परिमिता नापी हुई (होती है)। शेषं शेष पूर्ववंशवत् पिछले वंश के जैसा इष्यते इष्ट होता है (माना जाता है)।

सप्तत्रिंशद्यवार्धेनाभ्यधिकान्यङ्गुलानि तु।
आदित्ये दण्डमानं स्यात् पादोनं त्वङ्गुलद्वयम्॥ ४९०॥

अन्तरेषु पृथङ्मानमपरं रुद्रवंशवत्।

४९०-४९१ ख. (अ०) यव-अर्धेन-अभ्यधिकानि आधा यव ज्यादा सप्तत्रिंशत् अङ्गुलानि तु सैंतीस अंगुल तो आदित्ये आदित्य (वंश) में दण्डमानं स्यात् दंड का नाप होता है। पाद-ऊनम् अङ्गुलद्वयं तु चौथाई कम दो (पौने दो) अंगुल तो अन्तरेषु

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अन्तरालों में पृथक् अलग-अलग मानं नाप (होता है)। अपरम् अन्य (लक्षण) रुद्रवंशवत् रुद्र वंश के समान (होता है)।

मनोर्दण्डे सपादैकोनचत्वारिंशदङ्गुलम्॥ ४९१॥

यवाधिकं सपादेनाष्टमांशेन यवस्य च।
सहितं मानमाख्यातं पादन्यूनाङ्गुलत्रयैः॥ ४९२॥

शिरःप्रान्तौ पृथग्जातिमुखे स्यान्मानमङ्गुलम्।
षोडशांशोनपादेनाधिकं रन्ध्राष्टके पुनः॥ ४९३॥

यवत्रयं पृथक्सार्धमन्तरेषु च सप्तसु।
प्रत्येकं यवपादेन न्यूनं स्यादङ्गुलद्वयम्॥ ४९४॥

मानं लक्षणमन्यत्तु भेदादादित्यवंशवत्।

४९१ ग-४९५ ख. (अ०) मनोः दण्डे मनु के दण्ड में सपाद-एक-ऊनचत्वारिंशत् अङ्गुलम् एक चौथाई सहित उन्तालीस अंगुल सपादेन यव-अधिकं चौथाई यव ज्यादा यवस्य अष्टम-अंशेन च सहितम् और यव के आठवें भाग सहित (सवा उन्तालीस अंगुल और तीन अष्टमांश यव) मानम् आख्यातं नाप कहा गया (है)। शिरःप्रान्तौ ऊपर और नीचे के सिरे पृथक् अलग-अलग पादन्यून-अङ्गुलत्रयैः चौथाई कम तीन (पौने तीन) अंगुलों से (नापे गये और) जातिमुखे मुखरन्ध्र में षोडश-अंश-ऊनपादेन-अधिकम् अङ्गुलं सोलहवाँ भाग कम चौथाई ज्यादा के साथ एक अंगुल (एक और तीन षोडशांश, १$\frac{३}{१६}$) मानं स्यात् नाप होता है। पुनः फिर रन्ध्र-अष्टके आठ छेदों में पृथक् अलग-अलग स-अर्धं यवत्रयम् आधे सहित तीन (साढ़े तीन) यव सप्तसु च अन्तरेषु और सात अन्तरालों में प्रत्येकं हरेक यवपादेन न्यूनं जौ के चौथाई से कम अङ्गुलद्वयं दो अंगुल (दो अंगुल में चौथाई यव कम) मानं नाप (होता है)। अन्यत् लक्षणं तु अन्य लक्षण तो भेदात् आदित्यवंशवत् आदित्य (नामक) वंश भेद जैसे (होते हैं)।

(सर०) मनु के जातिमुख के नाप से संबन्धित पाठ सभी संस्करणों में षोडशांशोनपादेनाधिकमङ्गुलं है जिसका अर्थ है—चौथाई के साथ सोलहवाँ भाग कम एक अंगुल यानी एक अंगुल और तीन षोडशांश ($\frac{१}{४} - \frac{१}{१६} = \frac{३}{१६}$)। सिंह० का पाठ 'षोडशांशोन' के बजाय संभवतः 'षोडशांशेन' है क्योंकि उसने 'सषोडशांश' अर्थ दिया है। इसके आधार पर एक चौथाई और एक षोडशांश ($\frac{१}{४} + \frac{१}{१६} = \frac{५}{१६}$) यानी एक अंगुल और पाँच षोडशांश (१$\frac{५}{१६}$) नाप होगा। आड्० द्वितीय सं० में 'षोडशांशेन' पाठान्तर दिया गया है।

यवस्य सार्धपादाभ्यां द्वात्रिंशांशेन चाधिकैः॥ ४९५॥
चतुश्चत्वारिंशता स्यात् पादोनैरङ्गुलैर्मितः।
दण्डः कलानिधौ वंशे,

४९५ ग-४९६ ग. (अ०) कलानिधौ वंशे कलानिधि वंश में दण्डः दंड यवस्य यव का स-अर्धपादाभ्याम् आधे सहित (उसके) चौथाई के साथ ($\frac{१}{२} + \frac{१}{८}$) द्वात्रिंश-अंशेन च अधिकैः बत्तीसवें अंश ज्यादा सहित ($\frac{१}{२} + \frac{१}{८} + \frac{१}{३२} = \frac{२१}{३२}$) पाद-ऊनैः चतुः-चत्वारिंशता अङ्गुलैः चौथाई कम चवालीस अंगुलों के द्वारा मितः स्यात् नापा हुआ होता है।

(सर०) सभी संस्करणों में 'द्वात्रिंशाशे नवाधिकैः' पाठ है जिसके अनुसार संगत अर्थ नहीं मिलता क्योंकि 'अङ्गुलैः' और 'नवाधिकैः' में समान विभक्ति(सप्तमी) होने से तदनुसार दण्ड का नाप 'नवाधिकैः चतुश्चत्वारिंशता अङ्गुलैः' यानी ५३ अंगुल होता है जो अष्टादशांगुल वंश के ४८ अंगुल से भी बड़ा हो जाने से असंगत है।

सिंह० की व्याख्या में 'द्वात्रिंशाशविभागेन चाधिकपादोनचतुश्चत्वारिंशदङ्गुलः' नाप दिया है। इसके अनुसार द्वात्रिंशांशेन

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

चाधिकैः पाठ बनता है जिससे ४३ $\frac{३}{४}$ अंगुल और $\frac{२१}{३२}$ यव दण्ड का नाप प्राप्त होता है। यह समीचीन लगता है। इसी पाठ के आधार पर अन्वय और अनुवाद किया गया है।

शिरोन्तौ त्र्यङ्गुलौ पृथक्॥ ४९६॥

अन्तरेष्वङ्गुलद्वन्द्वं सपादयवसंयुतम्।
प्रत्येकं मानमाख्यातं लक्ष्मान्यन्मनुवन्मतम्॥ ४९७॥

४९६ घ-४९७. (अ०) शिरः-अन्तौ ऊपर और अन्त के (दोनों) सिरे पृथक् अलग-अलग त्रि-अङ्गुलौ तीन अंगुल वाले (और) अन्तरेषु अन्तरालों में (से) प्रत्येकं हरेक सपादयवसंयुतं चौथाई सहित एक (सवा) यव से युक्त अङ्गुलद्वन्द्वं दो अंगुल मानम् आख्यातं नाप कहा गया (है)। अन्यत् लक्ष्म अन्य लक्षण मनुवत् मतं मनु जैसा माना गया (है)।

यवस्याष्टमभागेन सपादेन समन्वितैः।
अष्टाचत्वारिंशता स्यात् पादोनैः संमितोऽङ्गुलैः॥ ४९८॥

अष्टादशाङ्गुले दण्डः सार्धं त्वङ्गुलयोर्द्वयम्।
अन्तरेषु पृथङ्मानं वेद्यमन्यत् कलानिधेः॥ ४९९॥

४९८-४९९. (अ०) अष्टादशाङ्गुले अष्टादशांगुल (वंश) में दण्डः दंड यवस्य यव के सपादेन अष्टमभागेन समन्वितैः चौथाई के साथ आठवें (तीन अष्टमांश) भाग से युक्त पाद-ऊनैः चौथाई कम अष्टाचत्वारिंशता अङ्गुलैः संमितः अड़तालीस अंगुलों से नापा हुआ (पौने अड़तालीस अंगुल तीन अष्टमांश यव) स्यात् होता है। अन्तरेषु तु अन्तरालों में तो पृथक् अलग-अलग स-अर्धं अङ्गुलयोः द्वयम् आधे सहित दो (ढाई) अंगुल मानं नाप (होता है)। अन्यत् अन्य (लक्षण) कलानिधेः कलानिधि का वेद्यं जानना चाहिये।

नात्र त्रयोदशो वंशो न वा पञ्चदशाङ्गुलः।
इष्यतेऽल्पान्तरत्वेन न च सप्तदशाङ्गुलः॥ ५००॥

एवं पञ्चदशैवैते वंशास्तेषामिमे मताः।
माधुर्यरक्तिसंयुक्ता रागाभिव्यक्तिहेतवः॥ ५०१॥

५००-५०१. (अ०) अत्र इनमें (वंशों में) न त्रयोदश वंशः ने तेरह (अंगुल अन्तर) वाला न वा पञ्चदश-अङ्गुलः न ही पन्द्रह अंगुल वाला न च और न सप्तदश-अङ्गुलः सत्रह अंगुल (अन्तर) वाला अल्प-अन्तरत्वेन (पास वाले वंशों से) थोड़ा अन्तर होने से इष्यते अभीष्ट होते हैं। एवम् इमे इस तरह ये माधुर्यरक्तिसंयुक्ता मधुरता और रंजकता से युक्त राग-अभिव्यक्तिहेतवः राग की अभिव्यक्ति के लिये कारणरूप एते पञ्चदश एव वंशाः ये पन्द्रह ही वंश तेषाम् उन (आचार्यों) के (मत से) मताः माने गये (हैं)।

(ग्रन्थकारस्य विप्रतिपत्तयः)

यदिदं लक्ष्म शास्त्रोक्तं यच्च देशीगतं मतम्।
ते द्वे रञ्जयितुं शक्ते न मनांसि कलाविदाम्॥ ५०२॥

ग्रन्थकार की आपत्तियाँ

५०२. (अ०) यत् इदं जो यह शास्त्र-उक्तं लक्ष्म शास्त्र में कहा गया लक्षण यत् च और जो देशीगतं मतं देशी विषयक

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

माना गया (लक्षण) ते द्वे वे दोनों कलाविदां मनांसि कला के वेत्ताओं के मनों को रञ्जयितुं रंजित करने के लिये (करने में) न शक्ते समर्थ नहीं हैं।

(सर०) शास्त्रोक्त और देशीगत—यों दो प्रकार के जो नाप कहे गये (श्लो० २८ और ४६४-६५) उनकी ग्रन्थकार ने यह कह कर आलोचना की है कि वे कलाविदों की दृष्टि से उचित नहीं हैं। श्लो० २८ में अंगुल का नाप अँगूठे के पर्व के बराबर कहा गया और ४६४-४६५ में एकवीर से आदित्य तक के १२ वंशों में अंगुल का नाप ५ यव और मनु से लेकर शेष ३ वंशों में ५$\frac{१}{२}$ यव कहा गया।

अङ्गुष्ठपर्वदैर्घ्यं यदङ्गुलं तत्समीरितम्।
तेन मानेन वंशेषु कृतेष्वष्टादशादिषु॥ ५०३॥

वक्त्रे फूत्काररन्ध्रस्थे कस्य वा विततकृतेः।
स्वररन्ध्राण्याप्नुयातामपि दीर्घतरौ करौ॥ ५०४॥

५०३-५०४. (अ०) तत् यत् वह जो अङ्गुष्ठपर्वदैर्घ्यम् अङ्गुलम् अँगूठे के पर्व की लंबाई वाला अंगुल (का नाप) समीरितं कहा गया तेन मानेन उस नाप से अष्टादश-आदिषु वंशेषु कृतेषु अठारह (अंगुल) आदि (अंतर वाले) वंशों में करने पर (वंश बनाने पर) फूत्काररन्ध्रस्थे वक्त्रे फूँक वाले छेद पर मुँह रखने पर कस्य वा वितत-आकृतेः कौन से विशाल आकार (वाले वंशीवादक) के दीर्घतरौ अपि करौ बहुत लम्बे हाथ (होते हुए) भी स्वररन्ध्राणि स्वररन्ध्रों को आप्नुयातां प्राप्त करेंगे (तक पहुँच सकेंगे)?

(सर०) आड्० सं० में श्लोक ५०२ पर पादटिप्पणी में एक पाण्डुलिपि के आधार पर 'अङ्गुष्ठपर्वदैर्घ्यं.......कृतेष्वष्टादशादिषु' श्लोक दिया है। यह श्लोक आनन्द० और आड्० दोनों ही संस्करणों में मूल पाठ में नहीं है। लेकिन दोनों व्याख्याकारों ने इस पर व्याख्या की है और अगले श्लोक के साथ इस श्लोक की संगति भी है इसलिये हमने इसे मूल में सम्मिलित किया है।

उक्त श्लोक पर दोनों टीकाकारों की व्याख्या परस्पर भिन्न है। सिंह० के अनुसार ग्रन्थकार ने अँगूठे के पर्व के बराबर अंगुल के नाप की भी आलोचना की है। कल्लि० ने इस नाप को ग्रन्थकार द्वारा प्रशंसित कहा है।

जैसा पिछले श्लोक की व्याख्या में कहा गया ग्रन्थकार ने शास्त्रोक्त, अँगूठे के पर्व के बराबर अंगुल, नाप को अमान्य किया है। इसलिये कल्लि० का उसे ग्रन्थकार द्वारा प्रशंसित कहा जाना तर्क संगत नहीं लगता।

कस्य वा विततकृतेः पर कल्लि० ने कहा कि काकु* के द्वारा यह कहा गया समझना चाहिये कि हाथ बहुत लम्बे होने पर भी स्वररन्ध्रों तक नहीं पहुँच सकते।

अन्तरं स्वररन्ध्राणामुक्तमर्धाङ्गुलं च यत्।
शास्त्रेण तेन कस्यापि स्वरस्य व्यक्तिरीरिता॥ ५०५॥

५०५. (अ०) यत् च और जो स्वररन्ध्राणां स्वरों के छेदों का अर्ध-अङ्गुलम् अन्तरम् आधे अंगुल वाला अन्तर शास्त्रेण उक्तं शास्त्र के द्वारा कहा गया तेन उससे कस्य अपि स्वरस्य किसी भी स्वर की व्यक्तिः ईरिता अभिव्यक्ति कही गई?

(सर०) श्लोक ४२८ क-ख में ७ स्वररन्ध्रों के बीच आधे-आधे अंगुल की दूरी कही गई है। उस पर ग्रन्थकार ने आपत्ति करते हुए कहा कि इस नाप की दूरी वाले छेदों से कोई स्वर निष्पन्न नहीं हो सकते। यह स्मरणीय है कि देशी वंशों में कई जगह स्वररन्ध्रों के बीच आधे अंगुल से भी कम अन्तर है।

* काकु' नाट्य से संबन्धित एक शास्त्रीय धारणा है जो कंठध्वनि में होने वाले उन परिवर्तनों की सूचक है जिनसे विभिन्न भाव व्यक्त होते हैं और शब्दों के द्वारा सूचित भाव से भिन्न भावों की अभिव्यक्ति भी होती है। (विशेष विवरण के लिये देखें लेखिका की पुस्तक 'संगीत संचयन' में 'काकु' पर लेख।)

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ये पूर्वोक्तक्रमाः सप्त स्वराः सरिगमादयः।
मानेऽत्र दृश्यते तेषां नासौ क्रमपरिक्रमः॥ ५०६॥

मूर्च्छनारागभाषादेः सुदूरोत्सारिता कथा।

५०६-५०७ ख. (अ०) ये जो पूर्व-उक्तक्रमाः पहले कहे गये क्रम वाले सरिगम-आदयः सप्तस्वराः स, रि, ग, म आदि सात स्वर तेषाम् उनकी असौ क्रमपरिक्रमः यह (इस) क्रम (से) निष्पत्ति अत्र माने इस नाप से न दृश्यते नहीं दिखाई देती। मूर्च्छनारागभाषा-आदेः कथा मूर्च्छना, राग, भाषा आदि की बात (तो) सुदूर-उत्सारिता बहुत दूर ले जाई गई (अर्थात् निरस्त करने योग्य है)।

(सर०) आधे-आधे अंगुल की दूरी वाले छेदों से पहले जो स्वरों की अभिव्यक्ति कही गई उस पर ग्रन्थकार का यह आक्षेप है कि उस नाप से बने वंश से ७ स्वर ही निष्पन्न नहीं होते फिर मूर्च्छना, राग आदि कैसे व्यक्त हो सकते हैं?

कल्लि० ने राग से ग्रामराग-उपराग, भाषा से भाषा-विभाषा-अन्तरभाषा और आदेः से रागांग-भाषांग-क्रियांग-उपांग का ग्रहण किया है। इसमें ग्राम और देशी वर्ग के सभी राग आ गये हैं।

किंचिच्छास्त्रकृतां प्राचामाचार्याणां महात्मनाम्॥ ५०७॥

उपालम्भोऽपि दोषाय किं तया कथयापि नः।

५०७ ग-५०८ ख. (अ०) शास्त्रकृतां शास्त्र (की रचना) करने वाले प्राचां पहले के महात्मनाम् आचार्याणां महान् आत्मा वाले आचार्यों की किंचित् अपि उपालम्भः थोड़ी भी निन्दा दोषाय दोषपूर्ण (होती है)। तया कथया अपि उस कहानी (बात) से नः हमें किं क्या (हमारा क्या प्रयोजन है)?

(सर०) ग्रन्थकार ने शास्त्र में कहे गये कुछ लक्षणों को अमान्य करते हुए भी यह कहा कि महान् शास्त्रकार आचार्यों की निंदा करना दोषास्पद है। इसलिये यह कह कर ग्रन्थकार ने स्वयं को अलग कर लिया कि निंदा से कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता।

तदास्तामुच्यते किंतु केचिद् देशीविदः प्रति॥ ५०८॥

माने पञ्चयवे कस्माद् दृश्यतेऽत्र यवोऽधिकः।
सप्ताङ्गुलादिवंशेषु कथं चोर्ध्वं चतुर्दशात्॥ ५०९॥

पूर्वमानाधिकाः सन्ति ते सप्ताष्ट नवा यवाः।

५०८ ग-५१० ख. (अ०) तत् आस्तां वह तो ठीक है। किंतु लेकिन केचित् कुछ देशीविदः प्रति देशी के वेत्ताओं के लिये उच्यते कहा जाता है (अर्थात् कहता हूँ)। अत्र पञ्चयवे माने यह पाँच यव का नाप होने पर सप्त-अङ्गुल-आदिवंशेषु सात अंगुल आदि वाले वंशों में यवः अधिकः एक यव ज्यादा कस्मात् दृश्यते कैसे दिखाई देता है? चतुर्दशात् ऊर्ध्वं च और चौदह (अंगुल वाले वंशों) से बाद (वाले वंशों में) पूर्वमान-अधिकाः पहले के नापों से ज्यादा ते सप्त अष्ट नवा यवाः वे सात, आठ (और) नौ यव कथं सन्ति कैसे होते हैं?

(सर०) निंदा से कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता, यह तो ठीक है—यह कह कर ग्रन्थकार ने देशीविदों की देशी वंशों से संबन्धित कुछ असंगतियों का यहाँ उल्लेख किया है। ये ४६४-४९९ में दिये गये नापों के संबन्ध में हैं।

कल्लि० ने श्लोक ५०८-५२४ की कोई व्याख्या नहीं की। लेकिन सामान्य रूप से यह कहा कि शास्त्र में कहे गये कुछ वंशों के लक्षणों को दोहरा कर, उनका और लक्ष्य का विरोध दिखा कर और शास्त्र में अमान्य तेरह आदि अंगुल अंतर वाले वंशों का लक्ष्य में प्रयोग दिखा कर प्राचीन आचार्यों के मत का दोष इन श्लोकों में दिखाया है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

सार्धपञ्चयवे माने लक्ष्म स्यादव्यवस्थितम्॥ ५१०॥

त्रयोदशादयो ये च त्रयो वंशा निराकृताः।
न तत्र युक्तिलेशोऽस्ति येन तुष्यन्ति सूरयः॥ ५११॥

अल्पान्तरत्वमुक्तं यत् तदसारतरं पुनः।
वंशान्तरान्तैरस्तुल्यमन्तरं तेषु दृश्यते॥ ५१२॥

५१० ग-५१२. (अ०) स-अर्धपञ्चयवे माने आधे सहित पाँच (साढ़े पाँच) यव माप में लक्ष्म लक्षण अव्यवस्थितं स्यात् अव्यवस्थित होता है। ये च और जो त्रयोदश-आदयः तेरह आदि (अंगुल अंतर वाले) त्रयः वंशाः तीन वंश निराकृताः अस्वीकार किये तत्र उसमें युक्तिलेशः न अस्ति तर्क का अंश (भी) नहीं है येन जिससे सूरयः विद्वान् तुष्यन्ति संतुष्ट हों। पुनः फिर यत् जो अल्प-अन्तरत्वम् उक्तं थोड़ा अन्तर (कारण) कहा गया तत् वह असारतरं बहुत दुर्बल (है)। तेषु उनमें वंश-अन्तर-अन्तैः तुल्यम् अन्तरं दूसरे वंशों के अन्तरों जितना (ही) अन्तर दृश्यते दिखाई देता है।

(सर०) श्लोक ४३६ ग-४३७ ग और ५००-५०१ में कहा गया कि १३, १५ और १७ अंगुल की दूरी वाले तीन वंशों का अपने पास वाले वंशों से अंतर कम होने से उनका परस्पर अन्तर स्पष्ट नहीं होता इस कारण ये इष्ट नहीं होते। प्रस्तुत श्लोकों में इस ओर ध्यान दिलाते हुए ग्रन्थकार ने कहा कि उक्त कारण इतना तर्कसंगत नहीं है कि विद्वानों को संतुष्ट कर सके क्योंकि जो आधार दिया है वह कमज़ोर है। कारण यह है कि इनमें भी उतना ही अन्तर है जितना दूसरे वंशों में।

यह स्मरणीय है कि कीर्तिधर की वंशव्यवस्था में तेरह अंगुल वाला वंश भी लक्ष्यगत रहा है (श्लोक ४६३ ग-घ)।

द्वादशोऽर्धस्वरन्यूनो यथैकादशवंशतः।
मुद्रितः स्वररन्ध्रः स्यात् तथा तस्मात् त्रयोदशः॥ ५१३॥

एवं चतुर्दशात् पञ्चदशो वंशात्तु षोडशात्।
वंशः सप्तदशो लक्ष्माप्रसिद्धमिति चेन्न तत्॥ ५१४॥

वक्तुं तदुक्तरीत्या हि शक्यं तेष्वपि लक्षणम्।

५१३-५१५ ख. (अ०) स्वररन्ध्रः मुद्रितः द्वादशः स्वररन्ध्र बन्द किया हुआ बारह (अंगुल अन्तर) वाला (वंश) एकादशवंशतः ग्यारह (अंगुल अन्तर) वाले वंश से यथा अर्धस्वरन्यूनः जैसे आधा स्वर कम स्यात् होता है तथा उसी तरह तस्मात् उससे (उसकी अपेक्षा) त्रयोदशः तेरह (अंगुल अन्तर) वाला (आधा स्वर कम होता है)। एवम् इसी तरह चतुर्दशात् वंशात् तु पञ्चदशः चौदह (अंगुल अन्तर) वाले से तो पन्द्रह (अंगुल अन्तर) वाला (और) षोडशात् सोलह वाले से सप्तदशः वंशः सत्रह वाला वंश (कम होता है)। लक्ष्म अप्रसिद्धम् इति चेत् यदि (ऐसा कहें कि) लक्षण प्रसिद्ध नहीं है तत् न (तो) वैसा नहीं (है क्योंकि) हि निश्चित रूप से, तत् उस उक्तरीत्या कही गई विधि से, तेषु अपि उनमें भी लक्षणं वक्तुं शक्यं लक्षण कहना संभव है।

त्रयोदशाङ्गुलो वंशो विश्वमूर्तिरुदाहृतः॥ ५१५॥

अधिकं यवपादेन स्याच्चत्वारिंशदङ्गुलम्।
विश्वमूर्तौ दण्डमानं तारादौ सुषिराष्टके॥ ५१६॥

प्रत्येकं त्रियवी सार्धा मानमन्तरसप्तके।
अङ्गुलद्वितयं मानं पृथगादित्यवत् परम्॥ ५१७॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

५१५ ग-५१७. (अ०) त्रयोदश-अङ्गुलः वंशः तेरह अंगुल (अन्तर वाला) वंश विश्वमूर्तिः उदाहृतः विश्वमूर्ति कहा गया है। विश्वमूर्तौ विश्वमूर्ति में दण्डमानं दंड का नाप चत्वारिंशत् अङ्गुलं चालीस अंगुल (और) यवपादेन अधिकं चौथाई यव ज़्यादा स्यात् होता है। तार-आदौ सुषिर-अष्टके तार आदि (स्वरों के) आठ छेदों में से प्रत्येकं हरेक स-अर्धा त्रियवी मानं आधे सहित तीन (साढ़े तीन) यव वाला नाप (और) अन्तरसप्तके सात (स्वररन्ध्रों) के बीच पृथक् हरेक (में) अङ्गुलद्वितयं मानं दो अंगुल नाप (होता है)। परम् आदित्यवत् अन्य (लक्षण) आदित्य (वंश) जैसा (है)।

(सर०) यहाँ से ग्रन्थकार ने तेरह, पन्द्रह और सत्रह अंगुल अन्तर वाले उन तीन वंशों के लक्षण दिये हैं जो शास्त्र में तो अमान्य हैं लेकिन देशी के लक्ष्य में प्रचलित रहे हैं। इनमें से तेरह अंगुल वाले का नाम विश्वमूर्ति है।

युक्तैर्यवेन पादेन द्वाचत्वारिंशदङ्गुलैः।
यवस्य चाष्टमांशेन सपादेनाधिकैर्मतः॥ ५१८॥

दण्डः श्रीशार्ङ्गदेवोक्तो वंशे पञ्चदशाङ्गुले।
अङ्गुलत्रितयं मानं शिरःप्रान्ते प्रदेशयोः॥ ५१९॥

प्रत्येकमन्तरालेषु सप्तस्वर्धयवाधिकम्।
अङ्गुलद्वितयं मानं मनुवल्लक्षणं परम्॥ ५२०॥

५१८-५२०. (अ०) पञ्चदश-अङ्गुले वंशे पन्द्रह अंगुल (अन्तर) वाले वंश में दण्डः दंड द्वाचत्वारिंशत्-अङ्गुलैः बयालीस अंगुल सहित पादेन यवेन युक्तैः चौथाई यव से युक्त यवस्य (और) यव के सपादेन अष्टम-अंशेन च अधिकैः चौथाई सहित और आठवें अंश से ज़्यादा के द्वारा ($\frac{१}{४} + \frac{१}{४} + \frac{१}{८} = \frac{५}{८}$, पाँच अष्टमांश यव) श्रीशार्ङ्गदेव-उक्तः श्रीशार्ङ्गदेव के द्वारा कहा हुआ मतः माना गया (है)। शिरःप्रान्ते प्रदेशयोः ऊपर और दूसरे सिरे के भागों में (से) प्रत्येकं हरेक अङ्गुलत्रितयं मानं तीन अंगुल नाप वाला (होता है)। सप्तसु अन्तरालेषु सात अन्तरालों में अर्धयव-अधिकम् आधा यव ज़्यादा अङ्गुलद्वितयं मानं दो अंगुल नाप (होता है)। परं लक्षणं दूसरा लक्षण मनुवत् मनु जैसा (होता है)।

यवस्य सार्धपादेन द्वात्रिंशांशयवाधिकः।
षट्चत्वारिंशता पादन्यूनैः स्यादङ्गुलैर्मितः॥ ५२१॥

दण्डः सप्तदशे वंशेऽन्तरेषु त्वङ्गुलद्वयम्।
पृथक्सद्वियवं मानं स्यात् कलानिधिवत् परम्॥ ५२२॥

५२१-५२२. (अ०) सप्तदशे वंशे सत्रह (अंगुल अन्तर) वाले वंश में दण्डः दंड पादन्यूनैः षट्चत्वारिंशता अङ्गुलैः चौथाई कम छियालीस (पौने छियालीस) अंगुलों से यवस्य यव के स-अर्धपादेन आधे सहित चौथाई (और) द्वात्रिंश-अंशयव-अधिकः बत्तीसवाँ अंश यव ज़्यादा ($\frac{१}{२} + \frac{१}{४} + \frac{१}{३२} = \frac{२५}{३२}$ यव) मितः नाप वाला (होता है)। अन्तरेषु तु अन्तरों (स्वररन्ध्रों) में तो पृथक् अलग-अलग सद्वियवम्-अङ्गुलद्वयं दो यव सहित दो अंगुल मानं स्यात् नाप होता है। परं दूसरा (लक्षण) कलानिधिवत् कलानिधि जैसा (होता है)।

एवं प्रसिद्धलक्ष्माणो रागादिव्यक्तिहेतवः।
त्रयोदशादयो वंशा निषिध्यन्ते मुधा परैः॥ ५२३॥

अपि पञ्चयवं मानं वंशेष्वष्टादशस्वपि।
व्यक्तं प्रगल्भते वक्तुं सूरिः श्रीकरणाग्रणीः॥ ५२४॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

तस्माद् देश्यनुसारेण लक्ष्यलक्षणतत्त्ववित्।
शार्ङ्गदेवोऽन्यथा वंशस्वरूपं प्रत्यपादयत्॥ ५२५॥

५२३-५२५. (अ०) एवं प्रसिद्धलक्ष्माणः ऐसे प्रसिद्ध लक्षण वाले (और) राग-आदिव्यक्तिहेतवः राग आदि की अभिव्यक्ति में कारणभूत त्रयोदश-आदयः वंशाः तेरह आदि (अन्तर वाले) वंश परैः अन्यों (दूसरे आचार्यों) के द्वारा मुधा व्यर्थ (ही) निषिध्यन्ते निषिद्ध किये जाते हैं। अपि और भी सूरिः श्रीकरणाग्रणीः विद्वान् महालेखाधिकारी (शार्ङ्गदेव) अष्टादशसु वंशेषु अठारह वंशों में पञ्चयवं मानं अपि पाँच यव वाला नाप भी व्यक्तं वक्तुं स्पष्ट रूप से कहने के लिये (कहने में) प्रगल्भते समर्थ है। तस्मात् इसलिये लक्ष्यलक्षणवित् शार्ङ्गदेवः लक्ष्य और लक्षण के वेत्ता शार्ङ्गदेव ने देशी-अनुसारेण देशी के अनुसार वंशस्वरूपं वंश का स्वरूप अन्यथा अलग तरह से प्रत्यपादयत् प्रतिपादित किया।

(सर०) वंशेषु अष्टादशसु अपि के अपि पर टीका में सिंह० ने पाणिनि की अष्टाध्यायी से 'अपि' संबन्धी सूत्र उद्धृत करके कहा कि उस सूत्र के अनुसार 'अपि' गर्हा (निन्दा) के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। आशय यह है कि यद्यपि ग्रन्थकार साढ़े पाँच यव वाले नाप को भी अस्वीकार कर चुके हैं (श्लोक ५१० ग-घ) लेकिन उनमें इतनी सामर्थ्य है कि ५ यव वाला नाप भी अठारह वंशों में दिखा सकते हैं।

(ग्रन्थकर्तुः स्वाभिमतेन वंशलक्षणम्)

अङ्गुलं निबबन्धासौ सिद्धं गणितशास्त्रतः।
न ह्यङ्गुलं पञ्चयवं दृश्यते शास्त्रलोकयोः॥ ५२६॥

अङ्गुलं निस्तुषैः षड्भिस्तिर्यग्भिः स्याद्यवोदरैः।
दक्षिणस्य करस्य स्यात् खानिमानं कनिष्ठिका॥ ५२७॥

न स्थूला न कृशात्यन्तं गृह्यते किंतु मध्यमा।
मूलशब्दोऽन्वयं याति मध्यमेनात्र पर्वणा॥ ५२८॥

समा सर्वत्र खानिः स्याद् विषमा स्वरभङ्गकृत्।

ग्रन्थकार के मत से वंश का लक्षण

५२६-५२९ ख. (अ०) गणितशास्त्रतः सिद्धं गणितशास्त्र से सिद्ध हुआ असौ अङ्गुलं यह अंगुल (का नाप) निबबन्ध निबद्ध (निश्चित) किया। शास्त्रलोकयोः शास्त्र और लोक में पञ्चयवम् अङ्गुलं पाँच यव वाला अंगुल न हि दृश्यते नहीं ही (बिल्कुल नहीं) दिखाई देता। निस्तुषैः छिलके (तुस) के बिना तिर्यग्भिः षड्भिः यव-उदरैः आड़े यव के पेट (मोटे भागों) से अङ्गुलं स्यात् अंगुल होता है। दक्षिणस्य करस्य दाहिने हाथ की कनिष्ठिका छोटी (उँगली) खानिमानं खान (खोखले दण्ड) के नाप वाली स्यात् होती है (जो) न अत्यन्तं स्थूला न कृशा न बहुत मोटी न (बहुत) पतली किंतु बल्कि मध्यमा बीच वाली गृह्यते ग्रहण की जाती है। मूलशब्दः 'मूल' शब्द अत्र यहाँ मध्यमेन पर्वणा बीच के पोर के साथ अन्वयं याति जोड़ा जाता है। खानिः खान (नली) सर्वत्र सब जगह (सब वंशों में) समा स्यात् समान (नाप वाली) होती है विषमा असमान (नली) स्वरभङ्गकृत् स्वर में विकार (उत्पन्न) करने वाली (होती है)।

(सर०) मूलशब्द का मध्यपर्व से अन्वय होने का आशय यह है कि कनिष्ठा के मध्यपर्व का मूल—यों समझना चाहिये।

चतुर्दशाङ्गुलो दण्ड एकवीरस्य दृश्यते॥ ५२९॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

तच्छिरःप्रान्तयोर्मानमङ्गुलद्वितयं पृथक्।
मानं जातिमुखाख्ये स्यात् फूत्कारसुषिरेऽङ्गुलम्॥ ५३०॥

ताररन्ध्रं ततोऽधस्तादङ्गुलान्तरितं मतम्।
षोडशांशाधिकं तस्य मानमर्धाङ्गुलं विदुः॥ ५३१॥

तदधोऽधश्च तावन्ति सप्त रन्ध्राणि कल्पयेत्।
तेष्वष्टासूर्ध्वरन्ध्राणि सप्त स्युः स्वरसिद्धये॥ ५३२॥

अन्तिमं वायुरन्ध्रं स्यादन्तरालानि सप्त च।
पृथगर्धाङ्गुलान्येषां गर्भरन्ध्रं तु संमितम्॥ ५३३॥

मूलतः पञ्चमांशोनकनिष्ठामध्यपर्वणा।
खानिस्तदुच्यते देश्यां पूर्वोक्तास्त्रिस्वरादयः॥ ५३४॥

५२९ ग-५३४. (अ०) एकवीरस्य दण्डः एकवीर का दण्ड चतुर्दश-अङ्गुलः दृश्यते चौदह अंगुल (लम्बा) दिखाई देता है। तत् शिरः प्रान्तयोः उसके ऊपरी भाग और दूसरे सिरे में (से) पृथक् हरेक अङ्गुलद्वितयं मानं दो अंगुल नाप वाला (होता है)। जातिमुख-आख्ये जातिमुख नामक फूत्कारसुषिरे फूँकने वाले छेद में अङ्गुलं मानं स्यात् एक अंगुल नाप होता है। ततः अधस्तात् उससे नीचे अङ्गुल-अन्तरितम् एक अंगुल की दूरी वाला ताररन्ध्रं ताररन्ध्र मतं माना गया है। तस्य मानम् उसका नाप षोडश-अंश-अधिकं सोलहवाँ भाग ज्यादा अर्ध-अङ्गुलम् आधा अंगुल ($\frac{१}{१६} + \frac{१}{२} = \frac{९}{१६}$, नौ षोडशांश) विदुः जानते हैं। तत् अधः अधः च और उससे नीचे-नीचे तावन्ति उतने ही (नाप वाले) सप्त रन्ध्राणि सात छेद कल्पयेत् बनाने चाहियें। तेषु अष्टासु उन आठ में सप्त रन्ध्राणि सात छेद स्वरसिद्धये स्वर की निष्पत्ति के लिये स्युः होते हैं। अन्तिमं वायुरन्ध्रम् अन्तिम (वायु बाहर निकलने के लिये) वायुरन्ध्र स्यात् होता है। सप्त च अन्तरालानि और सात अन्तर पृथक् हरेक अर्ध-अङ्गुलानि आधा-आधा अंगुल वाले (होते हैं)। एषाम् इनका गर्भरन्ध्रं तु नली वाला छेद तो पञ्चम-अंश-ऊनकनिष्ठामध्यपर्वणा मूलतः छोटी उँगली के बीच के पोर के मूल से पाँचवाँ भाग कम ($\frac{४}{५}$) संमितं नाप वाला (होता है)। देश्यां देशी में तत् वह खानिः उच्यते खानि कहा जाता है। त्रिस्वर-आदयः तीन स्वर आदि पूर्व-उक्ताः पहले कहे गये (कहे जा चुके हैं)।

(सर०) ग्रन्थकार ने यहाँ अपने मत से एकवीर वंश का लक्षण दिया है। इससे पहले वंशभेदों के शास्त्रोक्त लक्षण (श्लोक ४२४-४३९) और देशी लक्षण (श्लोक ४६४-४९९) दिये जा चुके हैं। इन तीनों के एकवीर के लक्षण नीचे की सारिणी में तुलनीय हैं।

	स्वमत	शास्त्रोक्त	देशी
१. अंगुल का नाप	६ निस्तुष आड़े यवोदर	अंगुष्ठ पर्व	५ यव
२. दण्ड की लंबाई	१४ अंगुल	×	१४ अंगुल
३. दोनों सिरे	२ अंगुल	×	$१\frac{१}{२}$ अंगुल
४. जातिमुख का नाप	१ अंगुल	१ अंगुल	१ अंगुल
५. ताररन्ध्र की दूरी	१ अंगुल	१ अंगुल	×
और			
६. नाप	$\frac{९}{१६}$ अंगुल	×	३ यव

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

७. स्वररन्ध्रों की दूरी और	$\frac{१}{२}$-$\frac{१}{२}$ अंगुल	$\frac{१}{२}$-$\frac{१}{२}$ अंगुल	३ यव
८. नाप	$\frac{९}{१६}$ अंगुल	बेर के बीज के बराबर	कनिष्ठा मध्य पर्व का $\frac{४}{५}$ भाग
९. खान	कनिष्ठा के मध्य पर्व का $\frac{४}{५}$ भाग	कनिष्ठा जितना	×

तीन स्वर आदि का उल्लेख श्लोक ४४७-४५० में अन्य आचार्यों के मत से किया गया है।

त्रयोदशापरे तारान्ध्रजातिमुखान्तरे।
एकैकाङ्गुलवृद्ध्या स्युराचतुर्दशवंशतः ॥ ५३५ ॥

५३५. (अ०) आ चतुर्दशवंशतः (मुखरन्ध्र औरताररन्ध्र के बीच चौदह अंगुल अन्तर वाले) चौदहवें वंश तक अपरे त्रयोदश अन्य तेरह (वंश) ताररन्ध्रजातिमुख-अन्तरे ताररन्ध्र और मुखरन्ध्र के बीच एक-एक-अङ्गुलवृद्ध्या एक-एक अंगुल (की दूरी) बढ़ाने से स्युः होते हैं।

उमापतौ दण्डमानं भवेत् पञ्चदशाङ्गुलम्।
एकवीरवदन्यत्तु लक्ष्म,

५३६ क-ग. (अ०) उमापतौ उमापति में दण्डमानं दण्ड का नाप पञ्चदश-अङ्गुलं भवेत् पन्द्रह अंगुल होता है। अन्यत् लक्ष्म तु दूसरा लक्षण तो एकवीरवत् एकवीर जैसा (होता है)।

त्रिपुरुषे पुनः ॥ ५३६ ॥

दण्डः सार्धैः षोडशभिः सयवार्धैर्मितोऽङ्गुलैः।
सप्तान्तराण्यधस्तारात् पृथक्सार्धैस्त्रिभिर्यवैः ॥ ५३७ ॥

मितानि लक्षणं शेषं पूर्ववंशवदिष्यते।

५३६ घ-५३८ ख. (अ०) पुनः फिर त्रिपुरुषे त्रिपुरुष में दण्डः दंड सयव-अर्धैः आधे यव सहित स-अर्धैः षोडशभिः अङ्गुलैः आधे सहित सोलह (साढ़े सोलह) अंगुलों से मितः नापा हुआ (नाप वाला होता है)। तारात् अधः तार(रन्ध्र) से नीचे सप्त-अन्तराणि सात अन्तर पृथक् हरेक सार्धैः त्रिभिः यवैः मितानि आधे सहित तीन (साढ़े तीन) यवों से नापे गये (नाप वाले होते हैं)। शेषं लक्षणं बाक़ी लक्षण पूर्ववंशवत् पहले के वंश जैसे इष्यते इष्ट होते हैं।

दण्डश्चतुर्मुखे सार्धाष्टादशाङ्गुलसंमितः ॥ ५३८ ॥

पृथक्सप्तान्तरालानि चतुर्भिः साङ्घ्रिभिर्यवैः।
मितानि पूर्ववच्छेषं,

५३८ ग-५३९ ग. (अ०) चतुर्मुखे चतुर्मुख में दण्डः दण्ड स-अर्ध-अष्टादश-अङ्गुलसंमितः आधे सहित अठारह (साढ़े अठारह) अंगुल नाप वाला (होता है)। सप्त-अन्तरालानि सात अन्तर पृथक् हरेक स-अङ्घ्रिभिः चतुर्भिः यवैः चौथाई सहित चार (सवा चार) यवों से मितानि नापे गये (और) शेषं बाक़ी (लक्षण) पूर्ववत् पहले की तरह (होते हैं)।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

पञ्चवक्त्रे तु संमितिः॥ ५३९॥
दण्डश्च यवयुग्मेनाभ्यधिकाङ्गुलविंशतिः।
सप्तानामन्तरालानां पृथक् पञ्चयवा मितिः॥ ५४०॥
अन्यत्तु पूर्ववल्लक्ष्म,

५३९ घ-५४१ क. (अ०) पञ्चवक्त्रे तु पंचवक्त्र में तो दण्डः दंड यवयुग्मेन अभ्यधिक-अङ्गुलविंशतिः च यव के जोड़े (दो यव) से ज़्यादा (अर्थात् दो यव) और बीस अंगुल संमितिः मिति वाला (होता है) सप्तानाम् अन्तरालानां सात अन्तरालों में (से) पृथक् प्रत्येक पञ्चयवा मितिः पांच यव मिति वाला (होता है)। अन्यत् लक्ष्म तु बाक़ी लक्षण तो पूर्ववत् पहले जैसा (होता है)।

दण्डमानं तु षणमुखे।
अङ्गुलानां यवार्धानां द्वाविंशतिरुदीरिता॥ ५४१॥
सार्धपञ्चयवं मानं पृथगन्तरसप्तके।
शेषं तु पूर्ववत्,

५४१ ख-५४२ ग. (अ०) षणमुखे तु षणमुख में तो दण्डमानं दंड का नाप यव-अर्धानां द्वाविंशतिः अङ्गुलामाम् आधा यव (और) बाईस अंगुल उदीरिता कही गई है। अन्तरसप्तके अन्तरों के सप्तक (सात अन्तरों) में पृथक् अलग-अलग स-अर्धपञ्चयवं मानम् आधे सहित पाँच (साढ़े पाँच) यव वाला नाप (होता है)। शेषं तु बाक़ी (लक्षण) तो पूर्ववत् पहले की तरह (होता है)।

वंशे मुनौ दण्डमितिः पुनः॥ ५४२॥
त्रयोविंशत्यङ्गुलानां सार्धयान्तरसप्तके।
प्रत्येकमङ्गुलं मानं शेषं पूर्ववदिष्यते॥ ५४३॥

५४२ ग-५४३. (अ०) पुनः फिर मुनौ वंशे मुनि वंश में दण्डमितिः दंड की मिति स-अर्धया त्रयोविंशति-अङ्गुलानां आधे सहित तेईस (साढ़े तेईस) अंगुल की (होती है)। अन्तरसप्तके सात अन्तरों में प्रत्येकं हरेक अङ्गुलं मानम् एक अंगुल नाप वाला (होता है)। शेषं बाक़ी (लक्षण) पूर्ववत् पहले जैसा इष्यते इच्छित होता है।

वंशे वसौ दण्डमानं चतुर्भिरधिका यवैः।
पञ्चविंशतिराख्याताङ्गुलानामन्तराणि तु॥ ५४४॥
पृथक्सप्त यवानि स्युः शेषं पूर्वोक्तमिष्यते।

५४४-५४५ ख. (अ०) वसौ वंशे वसु वंश में दण्डमानं दंड का नाप चतुर्भिः यवैः अधिका चार यवों से ज़्यादा पञ्चविंशतिः अङ्गुलानां पच्चीस अंगुलों की आख्याता कही गई। अन्तराणि तु अन्तर तो पृथक् अलग-अलग सप्त यवानि स्युः सात यव वाले होते हैं। शेषं बाक़ी (लक्षण) पूर्व-उक्तं पहले कहा गया इष्यते इच्छित होता है।

नागेन्द्रदण्डमानं स्यात् सपादा सप्तविंशतिः॥ ५४५॥
अङ्गुलानामन्तराणि स्युः सपादाङ्गुलानि तु।
प्रत्येकं मूलतः षष्ठांशोनमध्यमपर्वणा॥ ५४६॥
कनिष्ठाया मिता खानिरन्यल्लक्ष्म तु पूर्ववत्।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

५४५ ग-५४७ ख. (अ०) नागेन्द्रदण्डमानं नागेन्द्र के दंड का नाप सपादा सप्तविंशतिः अङ्गुलानां चौथाई सहित सत्ताईस अंगुल का स्यात् होता है। अन्तराणि तु अन्तर तो प्रत्येकं हरेक सपाद-अङ्गुलानि स्युः चौथाई सहित एक (सवा) अंगुल होते हैं। खानिः खान कनिष्ठाया कनिष्ठा के षष्ठ-अंश-ऊनमध्यमपर्वणा मूलतः छठा भाग कम ($\frac{५}{६}$, पाँच षष्ठांश) बीच के पर्व के मूल के द्वारा मिता नापी हुई (नाप वाली होती है)। अन्यत् लक्ष्म तु बाक़ी लक्षण तो पूर्ववत् पहले जैसा (होता है)।

मानं महानन्ददण्डे त्रिंशदङ्गुलकं मितम्॥ ५४७॥

पृथग्सार्धाङ्गुलानि स्युरन्तरालानि सप्त च।
नागेन्द्रवत् परं लक्ष्म,

५४७ ग-५४८ ग. (अ०) महानन्ददण्डे महानन्द के दण्ड में त्रिंशत्-अङ्गुलकं मितं तीस अंगुल से नापा गया मानं नाप (होता है) सप्त च अन्तरालानि और सात अन्तराल पृथक् अलग-अलग स-अर्ध-अङ्गुलानि स्युः आधे सहित एक (डेढ़) अंगुल वाले होते हैं। परं लक्ष्म दूसरे लक्षण नागेन्द्रवत् नागेन्द्र जैसे (होते हैं)।

रुद्रे दण्डमितिः पुनः॥ ५४८॥

सपादानि त्रयस्त्रिंशदङ्गुलान्यन्तरेषु तु।
प्रत्येकं मानमाख्यातं पादन्यूनाङ्गुलद्वयम्॥ ५४९॥

रन्ध्रष्वष्टसु तारादिष्वष्टमांशसमन्वितम्।
अङ्गुलार्धं पृथङ्मानं खानेर्मानं तु मूलतः॥ ५५०॥

सप्तमांशविहीनं स्यात् कनिष्ठापर्वमध्यमम्।
पूर्वोक्तमन्यत्,

५४८ घ-५५१ ग. (अ०) पुनः इसके बाद रुद्रे रुद्र में सपादानि त्रयस्त्रिंशत्-अङ्गुलानि चौथाई सहित तेंतीस (सवा तेंतीस) अंगुल वाली दण्डमितिः दंड की मिति (होती है)। अन्तरेषु तु अन्तरों में तो प्रत्येकं हरेक पादन्यून-अङ्गुलद्वयं मानं चौथाई कम दो (पौने दो) अंगुल नाप आख्यातं कहा गया है। तार-आदिषु अष्टसु रन्ध्रेषु तार आदि आठ छेदों में पृथक् अलग-अलग अष्टम-अंश-समन्वितम् अर्ध-अङ्गुलम् आठवें भाग सहित आधा ($\frac{१}{८} + \frac{१}{२} = \frac{५}{८}$, पाँच अष्टमांश) अंगुल वाला मानं नाप (होता है)। खानेः मानं तु खान का नाप तो सप्त-अंशविहीनं सातवें भाग से रहित मूलतः मूल से कनिष्ठा-पर्वमध्यमं कनिष्ठा के बीच वाला पोर स्यात् होता है। अन्यत् बाक़ी (लक्षण) पूर्व-उक्तं पहले कहा गया (होता है)।

आदित्ये वंशे दण्डस्तु कथ्यते॥ ५५१॥

अष्टमांशाधिकैः पञ्चत्रिंशता संमितोऽङ्गुलैः।
अन्तरेष्वष्टमांशोनमङ्गुलद्वितयं पृथक्॥ ५५२॥

मानं खानौ त्वष्टमांशन्यूनमामूलदेशतः।
कनिष्ठामध्यपर्वोक्तमपरं रुद्रवंशकम्॥ ५५३॥

५५१ ग-५५३. (अ०) आदित्ये वंशे आदित्य वंश में दण्डः तु दंड तो अष्टम-अंश-अधिकैः आठवाँ हिस्सा ज़्यादा पञ्चत्रिंशता-अङ्गुलैः संमितः पैंतीस अंगुलों से (पैंतीस और एक अष्टमांश, $३५\frac{१}{८}$) नापा गया कथ्यते कहा जाता है। अन्तरेषु अन्तरों में पृथक् अलग-अलग अष्टम-अंश-ऊनम्-अङ्गुलद्वितयम् आठवाँ भाग कम दो (एक और सात अष्टमांश, $१\frac{७}{८}$) अंगुल मानं नाप (होता है)। खानौ मानं तु खान में नाप तो अष्टम-अंशन्यूनम् आठवाँ भाग कम आमूलदेशतः मूल स्थान से

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

कनिष्ठामध्यपर्व-उक्तं कनिष्ठा का बीच का पोर (सात अष्टमांश मध्य पर्व, $\frac{७}{८}$) कहा गया है। अपरं रुद्रवंशकं दूसरा (लक्षण) रुद्र वंश वाला (होता है)।

षोडशांशोनितैः सार्धैः सप्तत्रिंशन्मिताङ्गुलैः।
मितो दण्डो विश्वमूर्तावन्तरेष्वङ्गुलद्वयम्॥ ५५४॥

षोडशांशाधिकं माने प्रत्येकं मध्यपर्वणा।
कनिष्ठाया मिता खानिः शेषमादित्यवंशवत्॥ ५५५॥

५५४-५५५. (अ०) विश्वमूर्तौ विश्वमूर्ति में स-अर्धैः षोडश-अंश-ऊनितैः आधे सहित सोलहवाँ भाग कम (सात षोडशांश) सप्तत्रिंशत्-मित-अङ्गुलैः सैंतीस से नापी गई अंगुलों ($३७\frac{७}{१६}$) मितः दण्डः नाप वाला दंड (होता है)। अन्तरेषु प्रत्येकं माने अन्तरों में (से) हरेक नाप में षोडश-अंश-अधिकम् अङ्गुलद्वयं सोलहवाँ भाग ज्यादा दो (दो और एक षोडशांश, $२\frac{१}{१६}$) अंगुल (होता है)। खानिः खान कनिष्ठाया मध्यपर्वणा मिता छोटी उँगली के बीच के पोर से नापी हुई (पोर के नाप वाली होती है)। शेषं बाक़ी आदित्यवंशवत् आदित्य वंश जैसा (होता है)।

(सर०) सिंह० की व्याख्या में दंड का नाप सोलहवाँ भाग कम सैंतीस अंगुल ही दिया है। मूल में षोडशांशोनितैः सार्धैः है। इसके अनुसार यह अंश इस प्रकार बनेगा—$\frac{१}{२} + \frac{१}{१६} = \frac{९}{१६}$ $१ - \frac{९}{१६} = \frac{७}{१६}$।

मनौ दण्डस्तु पादोनैकचत्वारिंशताङ्गुलैः।
मितः शिरः पृथक्प्रान्तदेशौ सार्धाङ्गुलद्वयौ॥ ५५६॥

प्रत्येकमन्तरालेषु सपादद्व्यङ्गुला मितिः।
विश्वमूर्तिवदन्यत्तु लक्ष्म श्रीशार्ङ्गिणोदितम्॥ ५५७॥

५५६-५५७. (अ०) मनौ मनु में दण्डः तु दंड तो पाद-ऊन-एकचत्वारिंशत्-अङ्गुलैः मितः चौथाई कम इक्तालीस (पौने इक्तालीस) अंगुलों से नापा हुआ (होता है)। शिरः प्रान्तदेशौ ऊपर और नीचे की जगह पृथक् अलग-अलग स-अर्ध-अङ्गुलद्वयौ आधे सहित दो (ढाई) अंगुल वाले (होते हैं)। अन्तरालेषु अन्तरालों में प्रत्येकं हरेक सपादद्वि-अङ्गुला मितिः चौथाई सहित दो (सवा दो) अंगुल वाली मिति (होती है)। अन्यत् लक्ष्म तु दूसरा लक्षण तो श्रीशार्ङ्गिणा श्रीशार्ङ्गदेव के द्वारा विश्वमूर्तिवत् विश्वमूर्ति के जैसा उदितं कहा गया।

वंशाश्चतुर्दशैवैवं प्रोक्ताः सोढलसूनुना।
नातः परं तु वंशानामीदृशामस्ति संभवः॥ ५५८॥

तेषु रन्ध्राङ्गुलीप्राप्तिर्न कस्यापि हि दृश्यते।
अतिमन्द्रध्वनित्वाच्च न ते तत्त्वविदां मताः॥ ५५९॥

५५८-५५९. (अ०) एवम् इस तरह सोढलसूनुना सोढल के पुत्र (शार्ङ्गदेव) के द्वारा चतुर्दश एव वंशाः चौदह ही वंश प्रोक्ताः कहे गये। ईदृशां वंशानाम् ऐसे वंशों का (अर्थात् ऐसे वंश) अतः परं तु इससे आगे तो संभवः न अस्ति संभव नहीं है। हि निश्चय ही तेषु उनमें कस्य अपि किसी की भी रन्ध्र-अङ्गुलीप्राप्तिः छेदों तक उँगली की पहुँच न दृश्यते नहीं दिखाई देती अतिमन्द्रध्वनित्वात् च और बहुत मन्द्र ध्वनि होने से ते वे तत्त्वविदां (वंश के) तत्त्व के वेत्ताओं का न मताः माना हुआ (मान्य) नहीं है।

गतानुगतिकत्वेन त्वेकवीरादयस्त्रयः।
कथिता न तु तेष्वस्ति रक्तिमाधुर्यधुर्यता॥ ५६०॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

चतुर्मुखादयस्तस्मादेकादश मनोहराः।
स्वमतेऽभ्युपगम्यन्ते वंशाः सोढलसूनुना॥ ५६१॥

५६०-५६१. (अ०) गतानुगतिकत्वेन तु पूर्वप्रसिद्धि के आश्रय से तो एकवीर-आदयः त्रयः एकवीर आदि तीन कथिता कहे गये तेषु (लेकिन) उनमें रक्तिमाधुर्यधुर्यता तु रंजकता और मधुरता का उत्कर्ष तो न अस्ति नहीं है। तस्मात् इस कारण से सोढलसूनुना सोढल के पुत्र (शार्ङ्गदेव) के द्वारा चतुर्मुख-आदयः चतुर्मुख आदि एकादश वंशाः ग्यारह वंश मनोहराः मनोहर अभि-उपगम्यन्ते विशेष रूप से माने जाते हैं।

(सर०) एकवीर आदि तीन यानी एकवीर, उमापति और त्रिपुरुष हैं जिनमें मधुरता और रंजकता नहीं है इसलिये इन्हें छोड़ कर बाक़ी ग्यारह ही मनोहर होने से ग्रहण करने योग्य है, यह ग्रन्थकार का आशय है।

(स्वमते भिन्नमानेन वंशनिरूपणम्)

शार्ङ्गदेवोऽन्यमानेन वंशरूपं न्यरूपयत्।
तिर्यग्यवोदरैः सार्धैश्चतुर्भिर्निस्तुषैरिह॥ ५६२॥

अङ्गुलं तेन पूर्वोक्तरीत्यारभ्यैकवीरतः।
सन्ति द्वाविंशतिर्वंशविशेषास्तेषु चक्ष्महे॥ ५६३॥

वंशश्रेणीमिमामाह निःशङ्कोऽनुपमाभिधाम्।

स्वमत में भिन्न नाप से वंशनिरूपण

५६२-५६४ ख. (अ०) शार्ङ्गदेवः शार्ङ्गदेव ने अन्यमानेन अलग नाप से वंशरूपं वंश का स्वरूप न्यरूपयत् निरूपित किया। इह इसमें निस्तुषैः तुस रहित स-अर्धैः चतुर्भिः आधे सहित चार (साढ़े चार) तिर्यक् यव-उदरैः आड़े यव के मोटे भागों से अङ्गुलम् अंगुल (का नाप होता है)। तेन उस (नाप) से पूर्व-उक्तरीत्या पहले कही गई रीति से एकवीरतः आरभ्य एकवीर से शुरू करके द्वाविंशतिः वंशविशेषाः बाईस विशेष वंश सन्ति होते हैं। तेषु उन (के बारे) में चक्ष्महे कहता हूँ। इमां वंशश्रेणीम् इस वंशश्रेणी को निःशङ्कः निःशंक (शार्ङ्गदेव) अनुपमा-अभिधाम् अनुपम नाम वाली आह कहता है।

(सर०) इससे पहले ग्रन्थकार ने गणितशास्त्र से सिद्ध ६ यवों वाला अंगुल का नाप स्वीकार करके अपने मतानुसार १४ वंशों का निरूपण किया और उससे ज़्यादा वंशों को रक्ति और माधुर्य विहीनता के कारण अमान्य किया।

यहाँ से ४$\frac{१}{२}$ यवोदरों वाले अंगुल के आधार पर २२ वंशों का शार्ङ्गदेव ने निरूपण किया है और इन्हें अनुपमा वंशश्रेणी कहा है।

एकवीरे दण्डमानं स्यात् षोडशभिरङ्गुलैः॥ ५६४॥

सार्धेन यवपादेनाभ्यधिकैस्तच्छिरोन्तयोः।
सार्धाङ्गुलद्वयं मानं प्रत्येकं परिकीर्तितम्॥ ५६५॥

सपादमङ्गुलं जातिमुखे रन्ध्राष्टके पुनः।
पृथक्तृतीयभागोनमङ्गुलं मानमिष्यते॥ ५६६॥

अर्धाङ्गुलानि प्रत्येकमन्तरालानि सप्त च।
मूलतः पञ्चमांशोनकनिष्ठामध्यपर्वणा॥ ५६७॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

मिता खानिर्भवेत्ताररन्ध्रजातिमुखान्तरम्।
एकवीरादिसंज्ञाभिः सर्ववंशेषु वेदितम्॥ ५६८॥

५६४ ग-५६८. (अ०) **एकवीरे** एकवीर में **स-अर्धेन यवपादेन अभ्यधिकैः षोडशभिः अङ्गुलैः** आधे सहित चौथाई यव ज्यादा सोलह अंगुलों (सोलह अंगुल तीन अष्टमांश यव) से **दण्डमानं स्यात्** दंड का नाप होता है। **तत् शिरः अन्तयोः** उसका ऊपर का और दूसरा सिरा **प्रत्येकं** हरेक **स-अर्ध-अङ्गुलद्वयं मानम्** आधे सहित दो अंगुल नाप वाला **परिकीर्तितं** कहा गया है। **जातिमुखे** मुखरन्ध्र में **सपादं अङ्गुलं** चौथाई सहित एक (सवा) अंगुल **पुनः रन्ध्र-अष्टके** और आठ छेदों में **पृथक्** अलग-अलग **तृतीयभाग-ऊनम्-अङ्गुलं** तृतीयांश कम एक (दो तृतीयांश, $\frac{2}{3}$) अंगुल **मानम् इष्यते** नाप इष्ट होता है। **सप्त च अन्तरालानि** और सात अन्तराल **प्रत्येकं** हरेक **अर्ध-अङ्गुलानि** आधा अंगुल वाले (होते हैं)। **पञ्चम-अंश-ऊनकनिष्ठामध्यपर्वणा मूलतः** पाँचवाँ भाग कम ($\frac{4}{5}$) कनिष्ठा के बीच के पोर के मूल से **मिता** नापी गई (नाप वाली) **खानिः भवेत्** खान होती है। **ताररन्ध्रजातिमुख-अन्तरं** ताररन्ध्र (और) फूत्काररन्ध्र की दूरी **सर्ववंशेषु** सारे वंशों में **एकवीर-आदिसंज्ञाभिः** एकवीर आदि नाम वाले (वंशों) से **वेदितं** जानी गई है।

(सर०) यहाँ ग्रन्थकार ने यह सामान्य निर्देश किया कि ताररन्ध्र और मुखरन्ध्र के बीच जो अन्तर एकवीर आदि में बताया वही दूसरे सभी वंशों में भी समझना चाहिये। यहाँ एकवीर में इन दोनों छेदों के बीच की दूरी नहीं बताई। इससे यह समझना चाहिये कि इससे पहले स्वमत से एकवीर में जो एक अंगुल की दूरी और उसके बाद हर वंश में एक-एक अंगुल की दूरी बढ़ाना कहा गया वही यहाँ भी होगा।

अष्टमांशविहीनेन यवार्धेनाधिकैर्भवेत्।
अङ्गुलैः सप्तदशभिर्दण्डमानमुमापतौ॥ ५६९॥

५६९. (अ०) **उमापतौ दण्डमानं** उमापति में दंड का नाप **अष्टम-अंशविहीनेन यव-अर्धेन अधिकैः** आठवें भाग के बिना आधा यव ज्यादा ($\frac{1}{2} - \frac{1}{8} = \frac{3}{8}$, तीन अष्टमांश) **सप्तदशभिः अङ्गुलैः** सत्रह अंगुलों से **भवेत्** होता है।

एकाङ्गुलाधिकस्तस्माद् दण्डस्त्रिपुरुषे मतः।
अनयोर्वंशयोः शेषं लक्ष्म स्यादेकवीरवत्॥ ५७०॥

५७०. (अ०) **त्रिपुरुषे** त्रिपुरुष में **दण्डः** दंड **तस्मात्** उस (उमापति) से **एक-अङ्गुल-अधिकः मतः** एक अंगुल ज्यादा (अर्थात् अठारह अंगुल तीन अष्टमांश यव) **मतः** माना गया है। **अनयोः वंशयोः** इन दोनों वंशों में **शेष लक्ष्म** शेष लक्षण **एकवीरवत् स्यात्** एकवीर जैसा होता है।

मानं स्याद् यवपादेन विहीनाङ्गुलविंशतिः।
चतुर्मुखस्य दण्डस्यान्तरालेष्वर्धमङ्गुलम्॥ ५७१॥

अष्टमांशाधिकं मानं पृथगन्यत्तु पूर्ववत्।

५७१-५७२ ख. (अ०) **चतुर्मुखस्य दण्डस्य मानं** चतुर्मुख के दंड का नाप **यवपादेन विहीन-अङ्गुलविंशतिः** चौथाई यव से रहित बीस अंगुल **स्यात्** होता है। **अन्तरालेषु** अन्तरालों में **पृथक्** अलग-अलग **अष्टम-अंश-अधिकम् अर्धम्-अङ्गुलं** आठवाँ भाग ज्यादा आधा ($\frac{1}{2} + \frac{1}{8} = \frac{5}{8}$, पाँच अष्टमांश) अंगुल **मानं** नाप (और) **अन्यत् तु** अन्य तो **पूर्ववत्** पहले जैसा (होता है)।

सद्वात्रिंशांशपादोनद्वियवाधिकया मितः॥ ५७२॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

दण्डोऽङ्गुलैकविंशत्या पञ्चवक्त्रस्य कीर्तितः।
अङ्गुलस्य त्रिभिः पादैः पादोनैरन्तराणि तु॥ ५७३॥

मितानि सप्त प्रत्येकं पूर्ववल्लक्षणं परम्।

५७२ ग-५७४ ख. (अ०) पञ्चवक्त्रस्य दण्डः पंचवक्त्र का दंड एकविंशत्या अङ्गुलैः इक्कीस अंगुल के साथ सद्वात्रिंश-अंशपाद-ऊनद्वियव-अधिकया बत्तीसवें अंश और चौथाई कम दो यव ज़्यादा ($\frac{१}{३२} + \frac{३}{४} + १ = १\frac{२५}{३२}$ यव) से मितः कीर्तितः नापा हुआ माना गया है। सप्त अन्तराणि तु सात अन्तर तो प्रत्येकं हरेक अङ्गुलस्य अंगुल के त्रिभिः पादैः पाद-ऊनैः तीन चौथाइयों से चौथाई कम ($\frac{३}{४} - \frac{१}{१६} = \frac{११}{१६}$) मितानि नाप वाले (होते हैं)। परं लक्षणं अन्य लक्षण पूर्ववत् पहले जैसे (होते हैं)।

सार्धत्रयोविंशतिः स्यादङ्गुलानां यवाधिका॥ ५७४॥

मानं षण्मुखदण्डस्य पादोनं त्वङ्गुलत्रयम्।
पृथक्शिरोन्तयोर्मानमन्तरेषु तु सप्तसु ॥ ५७५॥

यवपादाधिकं मानं पृथक्पादोनमङ्गुलम्।
शेषं तु पूर्ववत्,

५७४ ग-५७६ ग. (अ०) षण्मुखदण्डस्य मानं षण्मुख के दंड का नाप यव-अधिका एक यव ज़्यादा, स-अर्धत्रयोविंशतिः अङ्गुलानाम् साढ़े तेईस अंगुल का स्यात् होता है। शिरःअन्तयोः ऊपर (के भाग) और (दूसरे) सिरे का पृथक् मानं तु अलग-अलग नाप तो पाद-ऊनम् अङ्गुलत्रयं चौथाई कम तीन (पौने तीन) अंगुल (और) सप्तसु अन्तरेषु तु सात अन्तरों में तो पृथक् मानं अलग-अलग नाप यवपाद-अधिकं चौथाई यव ज़्यादा पाद-ऊनम्-अङ्गुलं चौथाई कम एक अंगुल (पौन अंगुल और चौथाई यव होता है)। शेषं तु बाक़ी (लक्षण) तो पूर्ववत् पहले जैसा (होता है)।

वंशे मनौ स्याद् दण्डसंमितिः॥ ५७६॥

यवपादोनपादोनाङ्गुलषड्विंशतिर्मता।
अङ्गुलं यवपादेन न्यूनमन्तरसप्तके॥ ५७७॥

प्रत्येकं मानमाख्यातं शेषं षण्मुखवंशवत्।

५७६ ग-५७८ ख. (अ०) मुनौ वंशे मुनि वंश में दण्डसंमितिः दण्ड की मिति यवपाद-ऊन चौथाई यव कम पाद-ऊन-अङ्गुलषड्विंशतिः चौथाई कम छब्बीस अंगुल (पौने छब्बीस अंगुल से चौथाई यव कम) मता स्यात् मानी हुई होती है। अन्तरसप्तके सात अन्तरों में प्रत्येकं हरेक यवपादेन न्यूनं अङ्गुलं चौथाई यव कम एक अंगुल मानम् आख्यातं नाप कहा गया है। शेषं बाक़ी षण्मुखवत् षण्मुख वंश जैसा (होता है)।

वसौ वंशे यवार्धेन द्वात्रिंशांशयुजाधिका॥ ५७८॥

स्यात् सप्तविंशतिः सार्धाङ्गुलानां दण्डसंमितिः।
सपादेन तु पादेन द्वात्रिंशांशयुतेन च॥ ५७९॥

यवस्याभ्यधिकं मानमन्तरेष्वङ्गुलं पृथक्।
शेषं तु मुनिवत्,

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

५७८ ग-५८० ग. (अ०) वसौ वंशे वसु वंश में यव-अर्धेन आधे यव सहित द्वात्रिंश-अंशयुजा अधिका बत्तीसवाँ अंश अधिक युक्त ($\frac{१}{२} + \frac{१}{३२} = \frac{१७}{३२}$, सत्रह बत्तीसांश यव) स-अर्ध-अङ्गुलानां सप्तविंशतिः साढ़े सत्ताईस अंगुल दण्डसंमितिः स्यात् दण्ड की मिति होती है। अन्तरेषु अन्तरों में पृथक् अलग-अलग यवस्य यव के द्वात्रिंश-अंशयुतेन बत्तीसवें अंश से युक्त सपादेन पादेन अभ्यधिकं चौथाई (और उसके) चौथाई ($\frac{१}{३२} + \frac{१}{४} + \frac{१}{१६} = \frac{११}{३२}$, ग्यारह बत्तीसांश) ज़्यादा सहित अङ्गुलं मानम् एक अंगुल नाप (होता है)। शेषं तु बाक़ी तो मुनिवत् मुनि (वंश) जैसा (होता है)।

दण्डे नागेन्द्रस्य तु संमितिः ॥ ५८० ॥

यवाष्टमांशसहितैरेकोनत्रिंशदङ्गुलैः।
सार्धपादाधिकैरुक्ता पृथक्तु सुषिराष्टके ॥ ५८१ ॥

तारादौ यवयुक्तेनार्धाङ्गुलेन मितिर्भवेत्।
अन्तरेषु पृथङ्मानमष्टमांशाधिकाङ्गुलम् ॥ ५८२ ॥

शेषं तु पूर्ववत्,

५८० ग-५८३ क. (अ०) नागेन्द्रस्य दण्डे तु नागेन्द्र के दंड में तो यव-अष्टम-अंशसहितैः यव के आठवें भाग सहित स-अर्धपाद-अधिकैः एकोनत्रिंशत्-अङ्गुलैः आधे सहित चौथाई ज़्यादा (पौन) उन्तीस अंगुलों (पौने तीस अंगुल और एक अष्टमांश यव) से संमितिः उक्ता मिति कही गई है। तार-आदौ सुषिर-अष्टके तु तार(रन्ध्र) आदि आठ छेदों में तो पृथक् अलग-अलग यवयुक्तेन अर्ध-अङ्गुलेन एक यव युक्त आधे अंगुल से मितिः भवेत् मिति होती है। अन्तरेषु पृथक् मानं अन्तरों में हरेक का नाप अष्टम-अंश-अधिक-अङ्गुलम् आठवाँ भाग ज़्यादा एक ($१\frac{१}{८}$) अंगुल (और) शेषं तु बाक़ी तो पूर्ववत् पहले जैसा (होता है)।

(सर०) सिंह० ने सार्धपादाधिकैः का अर्थ 'चतुर्थांश-अधिक' किया है। इसमें अर्ध का अर्थ छूट गया है।

दण्डे महानन्दस्य संमितिः।
उक्ता यवाष्टमांशोनाङ्गुलैकत्रिंशदिष्यते ॥ ५८३ ॥

सपादा त्वन्तरालेषु प्रत्येकं मानमुच्यते।
सपादमङ्गुलं शेषं पूर्वोक्तं शार्ङ्गिणोदितम् ॥ ५८४ ॥

५८३ क-५८४. (अ०) महानन्दस्य दण्डे महानन्द के दण्ड में उक्ता संमितिः कही गई मिति सपादा यव-अष्टम-अंश-ऊन-अङ्गुल-एकत्रिंशत् चौथाई यव के आठवें भाग कम सहित ($\frac{१}{४} - \frac{१}{८} = \frac{१}{८}$) इकत्तीस अंगुल (अर्थात् ३१ अंगुल और एक पाँच अष्टमांश यव) (अथवा) यव-अष्टम-अंश-ऊन-अङ्गुल-एकत्रिंशत् सपादा यव का एक अष्टमांश कम इकत्तीस अंगुल चौथाई सहित ($३१\frac{१}{४}$ अंगुल में $\frac{१}{८}$ यव कम) इष्यते इष्ट होती है। अन्तरालेषु तु अन्तरों में तो प्रत्येकं मानं हरेक (का) नाप सपादम् अङ्गुलं चौथाई सहित एक (सवा) अंगुल उच्यते कहा जाता है। शेषं बाक़ी (लक्षण) पूर्व-उक्तं पूर्वोक्त शार्ङ्गिणा उदितं शार्ङ्गदेव के द्वारा कहे गये (हैं)।

(सर०) सिंह० ने महानन्द के दण्ड का नाप एक अष्टमांश यव और इकत्तीस अंगुल दिया है। संभवतः उसका पाठ 'यवाष्टमांशेन' है जो पादटिप्पणी में दिया गया है। मुद्रत पाठ 'यवाष्टमांशोन' है। इसके अनुसार एक अष्टमांश यव कम नाप होता है। अगली पंक्ति में 'सपादावन्तरालेषु' है। इसमें सन्धिविच्छेद करने पर 'सपादौ' शब्द मिलता है जो विशेषण शब्द है लेकिन इसका कहीं अन्वय नहीं होता। सिंह० ने भी इसका कहीं अन्वय नहीं किया। अगर 'सपादा' ग्रहण करें तो इसका दो तरह से अन्वय किया जा सकता है। 'यवाष्टमांशोन' के साथ 'सपादा' से आठवाँ भाग कम चौथाई यानी $\frac{१}{४} - \frac{१}{८} = \frac{१}{८}$ प्राप्त

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

होता है। अगर 'सपादा' का अन्वय 'अङ्गुलैकत्रिंशत्' के साथ करें तो सवा इकत्तीस अंगुल में एक अष्टमांश यव कम अर्थ निकलता है। फिर भी 'सपादावन्तरालेषु में 'सपादौ' और 'अन्तरालेषु' की सन्धि से प्राप्त 'व' के स्थान पर क्या पाठ हो, यह समस्या है। डॉ० तारळेकर ने यहाँ 'त्व' सुझाया है। तदनुसार 'सपादा तु अन्तरालेषु' में सन्धि होकर 'सपादा त्वन्तरालेषु' बनता है जो तर्कसंगत है। हमने यही पाठ रख कर दो अर्थ दिये हैं।

अङ्गुलानि त्रयस्त्रिंशदष्टमांशयुतानि तु।
यवाष्टमांशयुक्तानि रुद्रे दण्डमितिर्भवेत्॥ ५८५॥

युक्तं सार्धेन पादेनाङ्गुलमन्तरसप्तके।
प्रत्येकं मानमाख्यातं खानेर्मानं तु मूलतः॥ ५८६॥

षष्ठोनांशं मध्यपर्व कनिष्ठायाः प्रकीर्तितम्।
शेषं प्राग्वत्,

५८५-५८७ ग. (अ०) रुद्रे तु रुद्र में तो अष्टम-अंशयुतानि आठवें भाग से युक्त त्रयस्त्रिंशत् अङ्गुलानि तेंतीस अंगुल यव-अष्टम-अंशयुक्तानि यव के आठवें भाग के सहित दण्डमितिः भवेत् दंड की मिति होती है। अन्तरसप्तके सात अन्तरों में प्रत्येकं मानं हरेक नाप स-अर्धेन पादेन चौथाई (और उसके) आधे सहित ($\frac{१}{४} + \frac{१}{८} = \frac{३}{८}$) अङ्गुलं युक्तम् एक अंगुल से युक्त ($१\frac{३}{८}$ अंगुल) आख्यातं कहा गया है। खानेः मानं तु खान का नाप तो मूलतः मूल से षष्ठ-अंश-ऊनं छठा भाग कम ($\frac{५}{६}$) कनिष्ठायाः कनिष्ठा का मध्यपर्वः बीच का पोर प्रकीर्तितं कहा गया है। शेषं प्राक्वत् शेष पहले जैसा (होता है)।

अथादित्ये स्यात् पञ्चत्रिंशताङ्गुलैः॥ ५८७॥

यवाष्टमांशसहितैर्दण्डमानमथान्तरम्।
सार्धाङ्गुलकमेकैकं खानिमानं तु कीर्तितम्॥ ५८८॥

मूलतः सप्तमांशोनं कनिष्ठापर्व मध्यमम्।
प्राग्वत् परं,

५८७ ग-५८९ ग. (अ०) अथ आदित्ये इसके बाद आदित्य में यव-अष्टम-अंशसहितैः यव के आठवें भाग सहित पञ्चत्रिंशता अङ्गुलैः पैंतीस अंगुलों से दण्डमानं स्यात् दंड का नाप होता है। अथ एक-एकम् अन्तरम् और हरेक अन्तर स-अर्ध-अङ्गुलकम् आधे सहित एक (डेढ़) अंगुल (होता है)। खानिमानं तु खान का नाप तो मूलतः मूल से सप्तम-अंश-ऊनं सातवाँ भाग कम ($\frac{६}{७}$) कनिष्ठापर्व मध्यमं छोटी उँगली के बीच का पोर कीर्तितं कहा गया है। परं प्राक्वत् अन्य पहले की तरह (होता है)।.

विश्वमूर्तौ वंशे दण्डस्य संमितिः॥ ५८९॥

यवाष्टमांशसहितैः स्यात् सप्तत्रिंशताङ्गुलैः।
सार्धपादाधिकैः शीर्षप्रान्तौ त्र्यङ्गुलकौ पृथक्॥ ५९०॥

अन्तरेष्वष्टमांशोनाधिकं सार्धाङ्गुलं पृथक्।
मानं खानेस्त्वष्टमांशन्यूनमामूलतो मतम्॥ ५९१॥

मध्यपर्व कनिष्ठायाः पूर्वोक्तं शेषमिष्यते।

५८९ ग-५९२ ख. (अ०) विश्वमूर्तौ वंशे विश्वमूर्ति वंश में दण्डस्य संमितिः दंड का नाप यव-अष्टम-अंशसहितैः

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

यव के आठवें भाग सहित स-अर्धपाद-अधिकैः आधे सहित चौथाई ($\frac{१}{४}$ + $\frac{१}{८}$ = $\frac{३}{८}$) ज्यादा सप्तत्रिंशता-अङ्गुलैः सैंतीस अंगुलों (३७$\frac{३}{८}$ अंगुल $\frac{१}{८}$ यव) से स्यात् होता है। शीर्षप्रान्तौ सिर और (दूसरा) सिरा पृथक् अलग-अलग त्रि-अङ्गुलकौ तीन अंगुल वाले (होते हैं)। अन्तरेषु अन्तरों में पृथक् अलग-अलग अष्टम-अंश-ऊन-अधिकं स-अर्ध-अङ्गुलम् आठवाँ भाग कम आधा ज्यादा एक ($\frac{१}{२}$ − $\frac{१}{८}$ = $\frac{३}{८}$ + १ = १$\frac{३}{८}$) अंगुल (नाप होता है)। खानेः मानं तु खान का नाप तो आमूलतः मूल से अष्टम-अंशन्यूनम् आठवाँ भाग कम कनिष्ठायाः मध्यपर्व कनिष्ठा का बीच का पोर मतं माना गया है। शेषं पूर्व-उक्तं शेष पहले कहा गया इष्यते इष्ट होता है।

दण्डमानं मनोरेकोनचत्वारिंशताङ्गुलैः ॥ ५९२ ॥

सपादैरष्टमांशेन यवस्य सहितैरपि।
पादोनमङ्गुलद्वन्द्वं पृथगन्तरसप्तके ॥ ५९३ ॥

मानं खानिस्तु मातव्या कनिष्ठामध्यपर्वणा।
पूर्वोक्तमपरं,

५९२ ग-५९४ ग. (अ०) मनोः दण्डमानं मनु के दण्ड का नाप सपादैः एकोनचत्वारिंशता अङ्गुलैः चौथाई सहित उन्तालीस अंगुलों से यवस्य अष्टम-अंशसहितैः अपि और यव के आठवें भाग के साथ (३९$\frac{१}{४}$ अंगुल $\frac{१}{८}$ यव) (होता है)। अन्तरसप्तके सात अन्तरों में पृथक् अलग-अलग पाद-ऊनम्-अङ्गुलद्वन्द्वं मानं चौथाई कम दो (पौने दो) अंगुल नाप (होता है)। खानिः तु खान तो कनिष्ठामध्यपर्वणा कनष्ठा के बीच की पोर से मातव्या नापी जानी चाहिये। अपरम् अन्य (लक्षण) पूर्व-उक्तं पहले कहा गया (समझना चाहिये)।

सार्धैकचत्वारिंशताङ्गुलैः ॥ ५९४ ॥

युक्तैर्यवस्य पादोनपादद्वन्द्वेन संमितिः।
दण्डे पञ्चदशस्य स्यात् ततः सार्धयवत्रया ॥ ५९५ ॥

प्रत्येकमष्टरन्ध्री स्यादन्तरेष्वङ्गुलद्वयम्।
अष्टमांशोनितं मानं प्रत्येकं मनुवत् परम् ॥ ५९६ ॥

५९४ ग-५९६. (अ०) पञ्चदशस्य दण्डे पंचदश (वंश) के दंड में स-अर्ध-एकचत्वारिंशता अङ्गुलैः युक्तैः आधे सहित इक्तालीस अंगुलों से युक्त यवस्य यव के पाद-ऊनपादद्वन्द्वेन चौथाई कम चौथाइयों के जोड़े ($\frac{१}{४}$ + $\frac{१}{४}$ = $\frac{१}{२}$ − $\frac{१}{१६}$ = $\frac{७}{१६}$ यव) से संमितिः स्यात् मिति होती है। ततः उसके बाद अष्टरन्ध्री आठ छेद वाली प्रत्येकं हरेक स-अर्धयवत्रया आधे सहित तीन यव वाली स्यात् होती है। अन्तरेषु अन्तरों में प्रत्येकं मानं हरेक नाप अष्टम-अंश-ऊनितम् आठवाँ भाग कम किया हुआ अङ्गुलद्वयम् अंगुल का जोड़ा (१$\frac{७}{८}$) (होता है)। परं मनुवत् बाक़ी मनु जैसा (होता है)।

कलानिधौ सपादैः स्यात् त्रिचत्वारिंशताङ्गुलैः।
यवाधिकैर्दण्डमानमन्तरालेषु सप्तसु ॥ ५९७ ॥

प्रत्येकमङ्गुलद्वन्द्वं सपादं पूर्ववत् परम् ॥

५९७-५९८ ख. (अ०) कलानिधौ कलानिधि में यव-अधिकैः सपादैः त्रिचत्वारिंशता अङ्गुलैः एक यव ज्यादा चौथाई सहित तेतालीस अंगुलों (४३$\frac{१}{४}$ अंगुल १ यव) से दण्डमानं स्यात् दंड का नाप होता है। सप्तसु अन्तरालेषु सात अन्तरालों में प्रत्येकं हरेक सपादम् अङ्गुलद्वन्द्वं चौथाई सहित दो अंगुल (नाप होता है)। परं पूर्ववत् बाक़ी पहले की तरह (समझना चाहिये)।

दण्डोऽष्टादशवंशस्याष्टाचत्वारिंशताङ्गुलैः ॥ ५९८ ॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

यवान्वितैः सपादेन सपादेनाधिकैर्मितः।
प्रत्येकं षोडशांशोनसार्धाङ्गुलयुगं मतम्॥ ५९९॥

प्रमाणमन्तरालेषु परं पूर्ववदिष्यते।

५९८ ग-६०० खः (अ०) अष्टादशवंशस्य दण्डः अष्टादश वंश का दण्ड यव-अन्वितैः यव से युक्त सपादेन सपादेन अधिकैः चौथाई (और उसके) चौथाई सहित ($\frac{१}{४} + \frac{१}{१६} = \frac{५}{१६}$) (अथवा चौथाई और चौथाई अर्थात् आधा) अष्टाचत्वारिंशता अङ्गुलैः अड़तालीस अंगुलों से मितः मापा हुआ (होता है)। अन्तरालेषु प्रत्येकम् अन्तरालों में (से) हरेक षोडश-अंश-ऊन-स-अर्ध-अङ्गुलयुगं सोलहवाँ भाग कम आधे अंगुल सहित अंगुल का जोड़ा ($२\frac{१}{२} - \frac{१}{१६} = २\frac{७}{१६}$ अंगुल) मतं माना गया है। परं अन्य पूर्ववत् इष्यते पहले जैसा इष्ट होता है।

(सर०) सिंह० ने सपादेन सपादेन का अर्थ 'सचतुर्थांशपादाधिकं' दिया है जिसके अनुसार $\frac{५}{१६}$ नाप समझा जा सकता है। लेकिन दो बार सपादेन से $\frac{१}{२}$ नाप भी संभव है।

दण्डे त्वेकोनविंशस्य साङ्घ्रिपञ्चाशदङ्गुलम्॥ ६००॥

यवेनाभ्यधिकं मानमन्तरेषु तु सप्तसु।
प्रत्येकं षोडशांशेनाधिकं सार्धाङ्गुलद्वयम्॥ ६०१॥

प्राग्वत् परं,

६०० ग-६०२ क. (अ०) एकोनविंशस्य दण्डे तु एकोनविंश के दण्ड में तो यवेन अभ्यधिकं स-अङ्घ्रिपञ्चाशत्-अङ्गुलम् एक यव ज्यादा चौथाई सहित पचास अंगुल (सवा पचास अंगुल और एक यव) मानं नाप (होता है)। सप्तसु अन्तरेषु तु सात अन्तरों में तो प्रत्येकं हरेक षोडश-अंशेन अधिकं सोलहवाँ भाग ज्यादा स-अर्ध-अङ्गुलद्वयम् आधे सहित अंगुल का जोड़ा ($\frac{१}{१६} + २\frac{१}{२} = २\frac{९}{१६}$) (नाप होता है)। परं प्राक्वत् अन्य पहले जैसा (समझना चाहिये)।

मुरल्यां तु दण्डमानं यवाधिकम्।
द्वापञ्चाशद् भवेत् सार्धाङ्गुलानामन्तराणि तु॥ ६०२॥

पादोनत्र्यङ्गुलानि स्युः प्रत्येकं पूर्ववत् परम्।

६०२ क-६०३ ख. (अ०) मुरल्यां तु मुरली (नामक वंश) में तो यव-अधिकम् एक यव ज्यादा द्वापञ्चाशत् स-अर्ध-अङ्गुलानाम् आधे सहित बावन अंगुल दण्डमानं भवेत् दंड का नाप होता है। अन्तराणि तु अन्तर तो प्रत्येकं हरेक पाद-ऊनत्रि-अङ्गुलानि स्युः चौथाई कम तीन (पौने तीन) अंगुल वाले होते हैं। परं पूर्ववत् अन्य पहले जैसा (होता है)।

एकविंशे दण्डमानं पञ्चपञ्चाशदङ्गुलम्॥ ६०३॥

सपादं षोडशांशेनाभ्यधिकं यवसंयुतम्।
त्र्यङ्गुलान्यन्तराणि स्युः प्रत्येकं पूर्ववत् परम्॥ ६०४॥

६०३ ग-६०४. (अ०) एकविंशे एकविंश (वंश) में दण्डमानं दंड का नाप सपादं षोडश-अंशेन-अभ्यधिकं यवसंयुतं चौथाई सहित सोलहवाँ भाग ज्यादा ($\frac{१}{४} + \frac{१}{१६} = \frac{५}{१६}$) यव से युक्त पञ्चपञ्चाशत्-अङ्गुलं पचपन अंगुल (५५ अंगुल $\frac{५}{१६}$ यव) (होता है)। अन्तराणि प्रत्येकम् अन्तरों (में से) हरेक त्रि-अङ्गुलानि तीन अंगुल वाले स्युः होते हैं। परं पूर्ववत् अन्य पहले जैसा (होता है)।

दण्डमानं श्रुतिनिधावष्टापञ्चाशदङ्गुलम्।
सार्धं यवाधिकं तस्य त्वन्तरेष्वङ्गुलत्रयम्॥ ६०५॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

सपादषोडशांशेनाधिकं मानं पृथङ्मतम्।
पूर्वोक्तमपरं लक्ष्म शार्ङ्गदेवेन कीर्तितम्॥ ६०६॥

सर्वेषामपि वंशानां पिण्डः सार्धयवो भवेत्।

६०५-६०७ ख. (अ०) श्रुतिनिधौ श्रुतिनिधि में दण्डमानं दंड का नाप स-अर्धं यव-अधिकम् आधा यव ज़्यादा सहित अष्टापञ्चाशत्-अङ्गुलम् अट्ठावन अंगुल (होता है)। तस्य अन्तरेषु तु उसके अन्तरों में तो सपादषोडश-अंशेन अधिकं चौथाई सहित सोलहवाँ भाग ज़्यादा (पाँच षोडशांश) अङ्गुलत्रयं तीन अंगुल पृथक् मानं मतम् अलग-अलग नाप माना गया है। अपरं लक्ष्म अन्य लक्षण पूर्व-उक्तं पहले कहा गया शार्ङ्गदेवेन शार्ङ्गदेव के द्वारा कीर्तितं माना गया है। सर्वेषाम् अपि वंशानां सभी वंशों में पिण्डः पिंड (मोटाई) स-अर्ध यवः डेढ़ यव भवेत् होता है।

(सर०) श्लोक ६०६ क में मुद्रित पाठ 'सपादषोडशांशोनाधिकं' है जिसका अर्थ सिंह० ने 'षोडशांशाधिकसपाद' दिया है। मुद्रित पाठ में 'ऊन-अधिकं' साथ-साथ होने से अर्थसंगति नहीं होती। सिंह० के आधार पर हमने षोडशांशेनाधिकं पाठ रखा है।

रक्तिमाधुर्यविरहात् पञ्चवक्त्रादधस्तनाः॥ ६०७॥

चतुर्मुखादयो वंशा नेष्टाः श्रीशार्ङ्गिसूरिणा।

६०७ ग-६०८ ख. (अ०) रक्तिमाधुर्यविरहात् रंजकता और मधुरता का अभाव होने से पञ्चवक्त्रात् अधः तनाः पंचवक्त्र से नीचे वाले चतुर्मुख-आदयः वंशाः चतुर्मुख आदि (चार) वंश श्रीशार्ङ्गिसूरिणा विद्वान् शार्ङ्गदेव के द्वारा न इष्टाः इष्ट (मान्य) नहीं हुए।

देशीवंशेषु सर्वेषु मुद्रितात् पूर्ववंशतः॥ ६०८॥

उत्तरो मुद्रितो वंशः स्वरार्धेनाधिको भवेत्।
वंशानामल्पमानानां सर्वत्रोत्तरता मता॥ ६०९॥

स्वरार्धं स्यादुद्धृतया दक्षिणस्य कनिष्ठया।
अतस्तस्यामुद्धृतायां पूर्ववंशस्य जायते॥ ६१०॥

उत्तरो मुद्रितो वंशः पूर्वतुल्यस्वरोदयः।

६०८ ग-६११ ख. (अ०) सर्वेषु देशीवंशेषु सभी देशी वंशों में मुद्रितात् पूर्ववंशतः (स्वररन्ध्र) बन्द किये हुए पिछले वंश (की अपेक्षा) से मुद्रितः उत्तरः वंशः (छेद) बन्द किया हुआ अगला वंश स्वर-अर्धेन आधा स्वर अधिकः भवेत् ज़्यादा (चढ़ा हुआ) होता है। अल्पमानानां वंशानां कम नाप वाले वंशों की सर्वत्र उत्तरता सर्वत्र बाद वाली स्थिति (पिछले की अपेक्षा स्वर ऊँचा होना) मता मानी गई है। दक्षिणस्य दाहिने (हाथ) की उद्धृतया कनिष्ठया ऊपर उठाई हुई (छेद से दूर की हुई) कनिष्ठा (उँगली) से स्वर-अर्धं स्यात् आधा स्वर (उत्पन्न) होता है। अतः इस प्रकार तस्यां उद्धृतायां उस (कनिष्ठा) के (छेद से) ऊपर उठाई हुई होने पर मुद्रितः उत्तरः वंशः (छेद) ढका हुआ बाद वाला वंश पूर्ववंशस्य पहले के वंश का (अर्थात् वंश में) जायते (जो स्वर) उत्पन्न होता है (उस) पूर्वतुल्यस्वर-उदयः पूर्व (वंश) जैसे स्वर के उदय (उत्पन्न करने) वाला (होता है)।

(सर०) पिछले-पिछले यानी बड़े नाप वाले वंशों की अपेक्षा अगले-अगले यानी छोटे नाप वाले वंशों में, छेद बन्द करने पर, आधा स्वर ऊँचा होता है। इसी तरह दाहिने हाथ की कनिष्ठा को बन्द छेद पर से हटा लेने पर आधा स्वर नीचा उत्पन्न होता है। इसलिये बाद वाले (छोटे नाप वाले) वंश के छेद पर से उँगली हटा लेने पर स्वर आधा नीचा होकर पिछले (बड़े नाप वाले) ढके छेद वाले वंश के स्वर में मिल जाता है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

उद्धृताङ्गुलिवृद्धौ तु तस्मादप्युत्तरोत्तरे ॥ ६११ ॥

मिलन्ति मुद्रिता वंशा यथासंख्यं पुरातनैः ।

६११ ग–६१२ ख. (अ०) तस्मात् अपि उससे भी (उसकी अपेक्षा) उत्तरे-उत्तरे तु अगले-अगले (वंश) में तो उद्धृत-अङ्गुलिवृद्धौ ऊपर उठाई हुई उँगलियाँ बढ़ाने पर मुद्रिताः वंशाः ढके (छेद वाले बाद के) वंश यथासंख्यं संख्या के (क्रम के) अनुसार पुरातनैः पिछले (वंशों) से मिलन्ति मिल जाते हैं।

(सर०) जैसे एक उँगली छेद से उठा लेने पर एक पिछले वंश का और उसका स्वर मिल जाता है उसी तरह दो उँगलियाँ उठाने से दूसरे पिछले वंश के स्वर से और तीन उँगलियाँ उठा लेने पर तीसरे पिछले से मिल जाता है—यथासंख्यं का यह आशय है।

स्वरोदयेऽप्यङ्गुलत्रयः शास्त्रीये लौकिके तथा ॥ ६१२ ॥

वंशे तुल्यप्रकाराः स्युरिति श्रीशार्ङ्गिणोदितम् ।
एकस्वराणि रन्ध्राणि संनिधौ व्यवधावपि ॥ ६१३ ॥

मिलन्ति सर्ववंशानामिति ब्रूते हरप्रियः ।

६१२ ग–६१४ ख. (अ०) शास्त्रीये तथा लौकिके वंशे अपि शास्त्रीय और देशी वंशों में भी स्वर-उदये स्वरों के उत्पादन में अङ्गुलयः उँगलियाँ (उँगलियों का संचालन) तुल्यप्रकाराः स्युः एक जैसी होती हैं इति ऐसा श्रीशार्ङ्गिणा उदितं श्रीशार्ङ्गदेव के द्वारा कहा गया है। सर्ववंशानां सारे वंशों की एकस्वराणि रन्ध्राणि एक स्वर (उत्पन्न करने) वाले छेद संनिधौ व्यवधौ अपि संनिकर्ष ओर विप्रकर्ष में मिलन्ति मिल जाते हैं इति ऐसा हरप्रियः शंकर का प्रिय (शार्ङ्गदेव) ब्रूते कहता है।

(सर०) उँगली संचालन के भेद से जो स्वरों का मिल जाना यानी एक जैसा स्वर होना या ऊँचा-नीचा होना कहा गया वह शास्त्रोक्तऔर देशी—दोनों प्रकार के वंशों में समान रूप से होता है। संनिधौ का अर्थ है छेद के साथ उँगली का संबन्ध यानी छेद उँगली से ढका (मुद्रित) होने पर और व्यवधौ यानी व्यवधान या छेद से उँगली दूर (उद्धृत) होने पर।

मानहीनं तु यद् रन्ध्रं खानिर्वा यत्र तादृशी ॥ ६१४ ॥

न तद् रन्ध्रैः स्वजातीयैर्मिलन्ति स्वरभङ्गतः ।

६१४ ग–६१५ ख. (अ०) यत् रन्ध्रं तु मानहीनं जो छेद तो प्रमाणहीन हो खानिः वा अथवा खान यत्र तादृशी जहाँ वैसी (मानहीन) हो तत् वह स्वरभङ्गतः स्वर में विकार होने से स्वजातीयैः रन्ध्रैः अपनी जाति के (अर्थात् समान स्वर उत्पन्न करने वाले) छेदों (के स्वरों) से न मिलन्ति नहीं मिलते।

(सर०) श्लोक ५२९ ख में कहा जा चुका है कि खान सम यानी ऊपर से नीचे तक एकसे प्रमाण की न हो तो स्वरभंग होता है। अपेक्षित स्वर उत्पन्न करने के लिये वंशों में छेदों का नाप भी बताया गया है। उसी की याद दिलाते हुए ग्रन्थकार ने यहाँ कहा कि छेद और खान नियत प्रमाण के न होने पर स्वरभंग होने से, पिछले श्लोकों में बताये अनुसार, वंशों में परस्पर स्वर नहीं मिलते।

चतुर्दशादिवंशानामावंशादेकवीरतः ॥ ६१५ ॥

यथैकैकस्वराधिक्यं वंशे स्यादुत्तरोत्तरे ।
मुद्रिते पूर्वपूर्वस्माद् वंशान्मुद्रितरन्ध्रकात् ॥ ६१६ ॥

इदानीं तादृशीं वंशस्वरूपरचनामिमाम् ।
शार्ङ्गदेवः समाचष्टे शिवानुग्रहशुद्धधीः ॥ ६१७ ॥

वंशपद्धतिरेषा च शार्ङ्गविद्याभिधीयते ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

६१५ ग-६१८ ख. (अ०) चतुर्दश-आदिवंशानां चतुर्दश आदि वंशों से आ वंशात् एकवीरतः एकवीर वंश तक उत्तरे उत्तरे मुद्रित वंशे अगले-अगले (स्वररन्ध्र) ढके हुए वंश में पूर्व-पूर्वस्मात् पिछले-पिछले मुद्रितरन्ध्रकात् वंशात् ढके हुए छेद वाले वंश से यथा जिस तरह एक-एकस्वर-आधिक्यं स्यात् एक-एक स्वर चढ़ा हुआ होता है तादृशीं उसी तरह की इमां वंशस्वरूपरचनाम् वंश के स्वरूप की इस रचना को शिव-अनुग्रहशुद्धधीः शार्ङ्गदेवः शिव की कृपा (प्रसाद) से शुद्ध (हुई) बुद्धि वाला शार्ङ्गदेव समाचष्टे कहता है। एषा वंशपद्धतिः च और वंश की यह पद्धति शार्ङ्गविद्या अभिधीयते शार्ङ्गविद्या कही जाती है।

(सर०) छेद ढके हुए पिछले-पिछले वंशों के स्वरों की अपेक्षा उसी प्रकार के अगले-अगले वंशों में एक-एक स्वर चढ़ा हुआ होता है।

इन वंशों की पद्धति को शार्ङ्गदेव ने शार्ङ्गविद्या नाम दिया है।

अङ्गुलं षड्यवं चात्र रन्ध्रादिमितये मतम्॥ ६१८॥

६१८ ग-घ. (अ०) अत्र च इन (वंशों) में रन्ध्र-आदि मितये छेद आदि नापने के लिये अङ्गुलं षट्यवम् अंगुल छ यव वाला मतं माना गया है।

एकवीरे दण्डमानं सपादद्वादशाङ्गुलम्।
यवार्धेनाधिकं तस्य शिरोन्तौ द्व्यङ्गुलौ पृथक्॥ ६१९॥

मुखरन्ध्रेऽङ्गुलं मानं तारादौ सुषिराष्टके।
प्रत्येकमङ्गुलदलं तेषां त्वन्तरसप्तके॥ ६२०॥

यवद्वयं पृथङ्मानमुक्तं श्रीशार्ङ्गिसूरिणा।

६१९-६२१ ख. (अ०) एकवीरे दण्डमानं एकवीर में दंड का नाप यव-अर्धेन-अधिकम् एक यव ज्यादा सपादद्वादश-अङ्गुलं चौथाई सहित बारह (सवा बारह) अंगुल, तस्य शिरः-अन्तौ उसके सिर और अन्त पृथक् द्वि-अङ्गुलौ अलग-अलग दो अंगुल वाले (होते हैं)। मुखरन्ध्रे मुखरन्ध्र में अङ्गुलं मानं एक अंगुल नाप, तार-आदौ सुषिर-अष्टके तार आदि आठ छेदों में प्रत्येकं हरेक अङ्गुलदलम् अंगुल का आधा (और) तेषाम् उनके अन्तरसप्तके तु सात अन्तरों में तो पृथक् अलग-अलग यवद्वयं मानं दो यव नाप श्रीशार्ङ्गिसूरिणा विद्वान् श्रीशार्ङ्गदेव के द्वारा उक्तं कहा गया है।

सर्ववंशेषु तारस्य मुखरन्ध्रस्य चान्तरे॥ ६२१॥

एकवीरादिसंज्ञाभिर्विज्ञेयाङ्गुलसंमितिः।

६२१ ग-६२२ ख. (अ०) सर्ववंशेषु सारे वंशों में तारस्य मुखरन्ध्रस्य च अन्तरे तार(रन्ध्र) के और मुखरन्ध्र के अन्तर में अङ्गुलसंमितिः अंगुल की मिति एकवीर-आदिसंज्ञाभिः एकवीर आदि नाम वाले (वंशों) से विज्ञेया जाननी चाहिये।

उमापतौ त्रिपुरुषे चैकैकाङ्गुलवर्धितम्॥ ६२२॥

दण्डमानं परं लक्ष्म त्वेकवीरवदिष्यते।

६२२ ग-६२३ ख. (अ०) उमापतौ त्रिपुरुषे च उमापति और त्रिपुरुष में एक-एक-अङ्गुलवर्धितं मानं एक-एक अंगुल बढ़ाया हुआ नाप (होता है)। परं लक्ष्म तु अन्य लक्षण तो एकवीरवत् इष्यते एकवीर की तरह इच्छित होता है।

चतुर्मुखे दण्डमानं पादन्यूनयवाधिकैः॥ ६२३॥

अङ्गुलैः पञ्चदशभिः सार्धैरस्यान्तरेषु तु।
सपादद्वियवी मानं पृथगन्यत्तु पूर्ववत्॥ ६२४॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

६२३ ग-६२४. (अ०) चतुर्मुखे दण्डमानं चतुर्मुख में दंड का नाप **पादन्यूनयव-अधिकैः** चौथाई कम एक (पौन) यव ज़्यादा **स-अर्धैः पञ्चदशभिः अङ्गुलैः** आधे सहित पन्द्रह (साढ़े पन्द्रह) अंगुलों से (होता है)। **अस्य अन्तरेषु तु** इसके अन्तरों में तो **सपादद्वियवी** चौथाई सहित दो (सवा दो) यव वाला **पृथक् मानं** अलग-अलग नाप (होता है)। **अन्यत् तु पूर्ववत्** बाक़ी (लक्षण) तो पहले की तरह (होता है)।

सपादैः सप्तदशभिः पादन्यूनयवाधिकैः।
अङ्गुलैर्दण्डमानं स्यात् पञ्चवक्त्रेऽन्तरेषु तु॥ ६२५॥

षोडशांशाधिका मानं पादोनत्रियवी पृथक्।
शेषं तु पूर्ववत्,

६२५-६२६ ग. (अ०) पञ्चवक्त्रे तु पंचवक्त्र में तो **पादन्यूनयव-अधिकैः** चौथाई कम एक (पौन) यव ज़्यादा **सपादैः सप्तदशभिः अङ्गुलैः** चौथाई सहित सत्रह अंगुलों से **दण्डमानं स्यात्** दंड का नाप होता है। **अन्तरेषु तु** अन्तरों में तो **षोडश-अंश-अधिका** सोलहवाँ भाग ज़्यादा **पाद-ऊनत्रियवी** चौथा कम तीन ($३ - \frac{१}{४} = \frac{११}{४} + \frac{१}{१६} = २\frac{१३}{१६}$) यव वाला **मानं** नाप (होता है)। **शेषं तु पूर्ववत्** शेष (लक्षण) तो पहले जैसा (होता है)।

दण्डे षण्मुखस्य तु संमितिः॥ ६२६॥

युक्ता यवेन सार्धेनाष्टमांशसहितेन च।
एकोनविंशतिः प्रोक्ताङ्गुलानामन्तरेषु तु॥ ६२७॥

यवस्य सार्धपादाभ्यां युक्तमर्धाङ्गुलं पृथक्।
पूर्वोक्तमपरं लक्ष्म,

६२६ ग-६२८ ग. (अ०) षण्मुखस्य दण्डे तु षण्मुख के दंड में तो **संमितिः** मिति **यवेन स-अर्धेन अष्टम-अंशसहितेन च** एक यव आधे सहित और आठवें भाग के साथ ($१ + \frac{१}{२} + \frac{१}{८} = १\frac{५}{८}$ यव) **एक-ऊनविंशतिः अङ्गुलानाम्** उन्नीस अंगुलों की **प्रोक्ता** कही गई है। **अन्तरेषु तु** अन्तरों में तो **पृथक्** अलग-अलग **यवस्य स-अर्धपादाभ्यां युक्तं** यव के आधे और (उसके) चौथाई ($\frac{१}{२} + \frac{१}{८} = \frac{५}{८}$ अथवा आधे और चौथाई $\frac{१}{२} + \frac{१}{४} = \frac{३}{४}$) से युक्त **अर्ध-अङ्गुलम्** आधा अंगुल (नाप होता है)। **अपरं लक्ष्म** अन्य लक्षण **पूर्व-उक्तं** पहले कहा हुआ है।

दण्डे तु स्यान्मितिर्मुनेः॥ ६२८॥

अङ्गुलैरेकविंशत्या सार्धपादद्वयाधिकैः।
यवस्य चाष्टमांशेन सपादेन समन्वितैः॥ ६२९॥

सपादयवपादेन द्वात्रिंशांशयुतेन च।
युक्तमन्तरमानं स्यात् पृथक्पादोनमङ्गुलम्॥ ६३०॥

शेषं तु पूर्ववल्लक्ष्म ज्ञेयं,

६२८ घ-६३१ ख. (अ०) मुनेः दण्डे तु मुनि के दंड में तो **स-अर्धपादद्वय-अधिकैः** आधे सहित दो पाद (चौथाई) (अर्थात् $\frac{१}{४} + \frac{१}{४} + \frac{१}{८} = \frac{५}{८}$ और) **एकविंशत्या अङ्गुलैः** इक्कीस ($२१\frac{५}{८}$) अंगुलों से **यवस्य च** और यव के **सपादेन अष्टम-अंशेन** चौथाई सहित आठवें अंश ($\frac{१}{४} + \frac{१}{८} = \frac{३}{८}$) से **समन्वितैः** समन्वित (होता है)। **प्रत्येकम् अन्तरमानं** हरेक अन्तर का नाप **सपादयवपादेन** चौथाई सहित यव का चौथाई **द्वात्रिंश-अंशयुतेन च** और बत्तीसवें अंश ($\frac{१}{४} + \frac{१}{१६} + \frac{१}{३२} = \frac{११}{३२}$ यव)

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

से युक्त पाद-ऊनम् अङ्गुलं चौथाई कम एक (पौन) अंगुल स्यात् होता है। शेषं लक्ष्म तु बाक़ी लक्षण तो पूर्ववत् ज्ञेयं पहले जैसा जानना चाहिये।

वंशे वसौ पुनः।
अष्टमांशविहीनेन यवेनाधिकया भवेत्॥ ६३१॥

चतुर्विंशत्यङ्गुलानां चरणन्यूनया मितिः।
पृथगष्टसु रन्ध्रेषु सपादत्रियवी मितिः॥ ६३२॥

प्रत्येकमन्तरालेषु साष्टमांशयवाधिकम्।
पादोनमङ्गुलं मानमपरं लक्ष्म पूर्ववत्॥ ६३३॥

६३१ ख-६३३. (अ०) पुनः वसौ वंशे फिर वसु वंश में अष्टम-अंशविहीनेन यवेन अधिकया आठवाँ भाग कम एक यव ज्यादा ($\frac{7}{8}$ यव) चतुर्विंशति-अङ्गुलानां चौथाई अंगुल के चरणन्यूनया चौथाई कम (पौने चौबीस अंगुल) के द्वारा मितिः भवेत् (दंड का) नाप होता है। पृथक् अष्टसु रन्ध्रेषु अलग-अलग आठ छेदों में सपादत्रियवी चौथाई सहित तीन (सवा तीन) यव वाली मितिः मिति (होती है)। अन्तरालेषु अन्तरालों में प्रत्येकं हरेक स-अष्टम-अंशयव-अधिकम् आठवें भाग सहित एक यव ज्यादा पाद-ऊनम्-अङ्गुलं मानं चौथाई कम एक (पौन) अंगुल नाप (होता है)। अपरं लक्ष्म दूसरा लक्षण पूर्ववत् पहले जैसा (होता है)।

सपादयवसंयुक्ताङ्गुलषड्विंशतिर्भवेत्।
मानं नागेन्द्रदण्डस्यान्तरालेषु तु सप्तसु॥ ६३४॥

अष्टमांशाधिकं मानमङ्गुलं पूर्ववत् परम्।

६३४-६३५ ख. (अ०) नागेन्द्रदण्डस्य मानं नागेन्द्र के दंड का नाप सपाद-यवसंयुक्त-अङ्गुलषट्विंशतिः चौथाई सहित एक (सवा) यव से युक्त छब्बीस अंगुल भवेत् होता है। सप्तसु अन्तरालेषु तु सात अन्तरालों में तो अष्टम-अंश-अधिकम् अङ्गुलं मानम् आठवाँ भाग ज्यादा एक ($1\frac{1}{8}$) अंगुल नाप (और) परं पूर्ववत् अन्य (लक्षण) पहले जैसा (होता है)।

यवाष्टमांशसहिता सार्धाष्टाविंशतिर्मता॥ ६३५॥

अङ्गुलानां दण्डमानं महानन्देऽन्तरेषु तु।
सपादमङ्गुलं सार्धयवपादाधिकं पृथक्॥ ६३६॥

प्राग्वत् परं,

६३५ ग-६३७ क. (अ०) महानन्दे महानन्द में दण्डमानं दंड का नाप यव-अष्टम-अंशसहिता अष्टमांश यव सहित स-अर्ध-अष्टाविंशतिः अङ्गुलानाम् आधे सहित अट्ठाईस (साढ़े अट्ठाईस) अंगुलों का मता माना गया है। अन्तरेषु तु पृथक् अन्तरों में तो अलग-अलग स-अर्ध-यवपाद-अधिकम् आधे यव सहित चौथाई (तीन अष्टमांश) ज्यादा सपादम् अङ्गुलं चौथाई सहित एक (सवा) अंगुल (नाप माना जाता है)। परं प्राक्-वत् अन्य पहले जैसा (है)।

रुद्रदण्डे त्वङ्गुलानां यवाधिका।
एकत्रिंशन्मिता मानमथ सार्धयवत्रया॥ ६३७॥

प्रत्येकमष्टरन्ध्री स्यादन्तरालेषु सप्तसु।
सार्धाङ्गुलं पृथङ्मानं पूर्वोक्तं शेषमिष्यते॥ ६३८॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

६३७ क-६३८. (अ०) रुद्रदण्डे मानं तु रुद्र के दंड का नाप तो यव-अधिका मिता एक यव ज्यादा से नापी गई एकत्रिंशत् अङ्गुलानाम् इकत्तीस अंगुलों का (होता है)। अथ और अष्टरन्ध्री आठ छेद प्रत्येकं हरेक स-अर्धयवत्रया आधे सहित तीन (साढ़े तीन) यव वाला स्यात् होता है। सप्तसु अन्तरालेषु सात अन्तरालों में पृथक् अलग-अलग स-अर्ध-अङ्गुलं मानं आधे सहित एक (डेढ़) अंगुल नाप (होता है)। शेषं पूर्व-उक्तं शेष (लक्षण) पहले कहा हुआ इष्यते इच्छित होता है।

दण्डस्य मानमादित्ये स्याच्चतुस्त्रिंशदङ्गुलम्।
यवेन च सपादेन द्वात्रिंशांशयुजाधिकम्॥ ६३९॥

द्वात्रिंशांशोनपादाभ्यां यवस्य सहितं पृथक्।
पादोनमङ्गुलद्वन्द्वं मानमन्तरसप्तके॥ ६४०॥

प्राग्वत् परं,

६३९-६४१ क. (अ०) आदित्ये आदित्य में दण्डस्य मानं दंड का नाप यवेन च एक यव और सपादेन चौथाई सहित द्वात्रिंश-अंशयुजा अधिकं बत्तीसवें अंश से युक्त ज्यादा ($१ + \frac{१}{४} + \frac{१}{३२} = १\frac{९}{३२}$ यव) चतुस्त्रिंशत्-अङ्गुलं चौंतीस अंगुल स्यात् होता है। अन्तरसप्तके मानं अन्तरों के सप्तक (सात अन्तरों) में नाप पृथक् अलग-अलग यवस्य एक यव के द्वात्रिंश-अंश-ऊनपादाभ्यां सहितं बत्तीसवें अंश कम दो चौथाइयों ($\frac{१}{४} + \frac{१}{४} - \frac{१}{३२} = \frac{१५}{३२}$) के सहित पाद-ऊनम्-अङ्गुलद्वन्द्वं चौथाई कम अंगुल का जोड़ा (पौने दो अंगुल) (होता है)। परं प्राक्-वत् अन्य पहले जैसा (होता है)।

विश्वमूर्तौ स्यात् सप्तत्रिंशदङ्गुलम्।
दण्डमानं युतं सार्धयवपादद्वयेन च॥ ६४१॥

प्रत्येकमन्तरालेषु त्वङ्गुलद्वितयं मतम्।
यवस्य सार्धपादेनाभ्यधिकं पूर्ववत् परम्॥ ६४२॥

६४१ क-६४२. (अ०) विश्वमूर्तौ विश्वमूर्ति में दण्डमानं दंड का नाप स-अर्ध-यवपादद्वयेन च युतम् दो चौथाई आधे सहित ($\frac{१}{४} + \frac{१}{४} + \frac{१}{८} = \frac{५}{८}$) यव से युक्त सप्तत्रिंशत्-अङ्गुलं सैंतीस अंगुल स्यात् होता है। अन्तरालेषु तु प्रत्येकम् अन्तरालों में से तो हरेक यवस्य यव का स-अर्धपादेन-अभ्यधिकम् चौथाई आधे सहित ($\frac{१}{४} + \frac{१}{८} = \frac{३}{८}$) ज्यादा अङ्गुलद्वितयम् दो अंगुल मतं माना गया (है)। परं पूर्ववत् अन्य पहले जैसा (होता है)।

दण्डो यवाष्टमांशेन सपादेन समन्वितैः।
चतुश्चत्वारिंशता स्यादङ्गुलैः संमितो मनोः॥ ६४३॥

सार्धाङ्गुलद्वयमितौ शिरःप्रान्तौ मतौ पृथक्।
सार्धेन षोडशांशेन यवस्याभ्यधिकैस्त्रिभिः॥ ६४४॥

पादोनैरङ्गुलैर्मानमन्तरालेषु सप्तसु।
पूर्वोक्तं लक्षणं शेषमवोचत् करणाग्रणीः॥ ६४५॥

६४३-६४५. (अ०) मनोः दण्डः मनु का दंड चतुः चत्वारिंशता अङ्गुलैः समन्वितैः चवालीस अंगुलों से युक्त सपादेन यव-अष्टम-अंशेन चौथाई सहित यव के आठवें भाग (तीन अष्टमांश यव) से संमितः स्यात् नापा हुआ होता है। शिरः प्रान्तौ ऊपर का भाग और नीचे का सिरा पृथक् अलग-अलग स-अर्ध-अङ्गुलद्वयमितौ आधे सहित दो (ढाई) अंगुल नाप वाले मतौ माने गये हैं। सप्तसु अन्तरालेषु सात अन्तरालों में यवस्य यव के स-अर्धेन षोडश-अंशेन आधे सहित सोलहवें अंश

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

($\frac{१}{२} + \frac{१}{१६} = \frac{९}{१६}$ यव) अभ्यधिकैः ज़्यादा त्रिभिः पांद-ऊन-अङ्गुलैः चौथाई कम तीन (पौने तीन) अंगुलों से मानं नाप (होता है)। शेषं लक्षणं शेष लक्षण करणाग्रणीः लेखाकारों में अग्रणी (शार्ङ्गदेव) ने पूर्व-उक्तम् अवोचत् पूर्वोक्त कहा है।

खानिः सर्वेषु वंशेषु कनिष्ठामध्यपर्वणा।
मूलेन संमिता कार्येत्युक्तं सोढलसूनुना॥ ६४६॥

सर्वमन्यत्तु वंशानां देशीशास्त्रभुवां समम्।
एकवीरादयोऽत्रापि त्रयः प्राग्वन्न संमताः॥ ६४७॥

६४६-६४७. (अ०) सर्वेषु वंशेषु सभी वंशों में खानिः खान कनिष्ठामध्यपर्वणा मूलेन कनिष्ठा (उँगली) के बीच के पोर के मूल से संमिता नापी गई कार्या करनी चाहिये इति ऐसा सोढलसूनुना उक्तं सोढल के पुत्र (शार्ङ्गदेव) के द्वारा कहा गया। अन्यत् सर्वं तु बाक़ी सब तो देशीशास्त्रभुवां देशी और शास्त्र के अनुसार बनने वाले वंशानां वंशों में समं समान (होता है)। अत्र अपि यहाँ भी एकवीर-आदयः त्रयः एकवीर आदि तीन (वंश) प्राक्-वत् पहले की तरह न संमताः मान्य नहीं हैं।

धातून् वृत्तित्रयं तत्त्वानुगतौघांश्च यान् पुरा।
वाद्यान्याश्रावणादीनि वीणायां यान्यवादिषम्॥ ६४८॥

गेयं श्रुतिस्वरग्राममूर्च्छनादि च यन्मतम्।
तत्सर्वं वंशवाद्येऽत्र विशेषेणोपदर्शयेत्॥ ६४९॥

६४८-६४९. (अ०) यान् धातून् वृत्तित्रयं तत्त्व-अनुगत-ओघान् च जिन धातुओं, तीन वृत्तियों और तत्त्व, अनुगत, ओघ को, यानि (और) जो आश्रावणा-आदीनि वाद्यानि आश्रावणा आदि (निर्गीत) वाद्य पुरा पहले अवादिषं (मैंने) कहा यत् च और जो श्रुतिस्वरग्राममूर्च्छना-आदि गेयं श्रुति, स्वर, ग्राम, मूर्च्छना आदि गेय मतं माना गया (है) तत् सर्वं वह सब अत्र वंशवाद्ये यहाँ वंश के वादन में विशेषेण उपदर्शयेत् विशेष रूप से दिखाना चाहिये।

वंशवीणाशरीराणि त्रयोऽमी स्वरहेतवः।
ललितो मधुरः स्निग्धस्तेषु वंशः प्रशस्यते॥ ६५०॥

वंशवीणाशरीराणामेकीभावेन यो ध्वनिः।
तत्र रक्तिविशेषस्य प्रमाणं विबुधा विदुः॥ ६५१॥

६५०-६५१. (अ०) वंशवीणाशरीराणि वंश, वीणा और शरीर (कंठ) अमी त्रयः ये तीन स्वरहेतवः स्वर (की उत्पत्ति) के कारण (हैं)। तेषु उनमें ललितः मधुरः स्निग्धः मनोहर, मधुर, स्निग्ध वंशः प्रशस्यते वंश श्रेष्ठ होता है। वंशवीणाशरीराणाम् एकीभावेन वंश, वीणा और कंठ की एकरूपता (पूरी तरह मिल जाने) से यः ध्वनिः जो नाद (उत्पन्न होता है) तत्र उसमें विबुधाः बुद्धिमान् रक्तिविशेषस्य प्रमाणं विशेष रंजकता का प्रमाण विदुः जानते हैं।

(वंशस्य विनियोगम्)

अध्वन्यानां प्रवासेषु कामिनीनिर्जितेषु च।
शोकार्तेषु प्रयुञ्जीत मृदुमध्यलयध्वनिम्॥ ६५२॥

वंशं प्रयुञ्जीत शृङ्गारे द्रुतादिललितध्वनिम्।
कम्पितस्फुरितध्वानं वंशं द्रुतलयाश्रयम्॥ ६५३॥

क्रोधाभिमानयोः कुर्यान्मतङ्गेनेति कीर्तितम्।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

वंश का विनियोग

६५२-६५४ ख. (अ०) अध्वन्यानां प्रवासेषु पथिकों के प्रवास में, कामिनीनिर्जितेषु स्त्री द्वारा प्रणय अस्वीकृत हुए (पुरुषों) में शोक-आर्तेषु च और शोक से व्याकुल हुओं में मृदुमध्यलयध्वनिं वंशं कोमल (और) मध्य लय (में ध्वनि उत्पन्न करने) वाले वंश को प्रयुञ्जीत प्रयुक्त करना चाहिये। शृङ्गारे शृंगार में द्रुत-आदिलिलतध्वनिं द्रुत आदि (लय और) रम्य ध्वनि वाला, क्रोध-अभिमानयोः क्रोध और अभिमान में कम्पितस्फुरितध्वानं कंपित और स्फुरित ध्वनि वाला द्रुतलय-आश्रयं वंशं द्रुत लय के आश्रित वंश (का वादन) कुर्यात् करना चाहिये इति ऐसा मतङ्गेन कीर्तितं मतंग के द्वारा कहा गया है।

(सर०) किस परिस्थिति और किस रस-भाव में वंश का वादन किस तरह किया जाना चाहिये, यह इन श्लोकों में कहा गया है। यह विनियोग ग्रन्थकार ने मतंग के अनुसार दिया है। मतंग श्रेष्ठ वंशीवादक माने जाते हैं लेकिन बृहद्देशी का वाद्याध्याय आज लुप्त होने से वंश के संबन्ध में उनका निरूपण जानना संभव नहीं है। मतंग के बाद के कई ग्रन्थों में मतंग के वाद्य संबन्धी उल्लेख प्राप्त होते हैं। लेकिन यह आश्चर्यजनक है कि शार्ङ्गदेव ने वंश निरूपण में कीर्तिधर का उल्लेख तो किया है किन्तु मतंग का, यहाँ वंश के विनियोग के अलावा, कहीं उल्लेख नहीं किया।

वंशलक्षण पर दृष्टिपात करें तो वंश के लिये अंगुल के नाप में काफ़ी भिन्नता दिखाई देती है। शुरू में एकवीर से अष्टादशांगुल तक १५ वंशों के लिये अंगुल का नाप नहीं बताया। इससे यह समझ सकते हैं कि वाद्याध्याय के शुरू में (श्लोक २८) अंगुल का नाप अँगूठे के पर्व के बराबर कहा गया वही यहाँ भी लागू होगा और वह शास्त्रोक्त नाप है। कोश के अनुसार अंगुल ८ यव के बराबर होता है।

इसके बाद श्लोक ४६४-५०१ तक १५ देशी वंशों के लक्षण में तीन अलग-अलग नाप दिये हैं। यहाँ से अंगुल का नाप यव के द्वारा दिया गया है। श्लोक ४६४-६५ में एकवीर से आदित्य तक १२ वंशों में अंगुल ५ यव के बराबर और इसके बाद के ३ वंशों में ५$\frac{1}{2}$ यव बताया गया है। ग्रन्थकार ने यह उल्लेख भी किया है कि इनमें ७वें से १३वें (मुनि से मनु तक) अंगुल का नाप एक यव ज्यादा दिखाई देता है।

ग्रन्थकार ने अपने मत से तीन प्रकार से वंशलक्षण दिये हैं। श्लोक ५२६-२७ में ५ यव वाले अंगुल के नाप को शास्त्र और लोक में अमान्य बता कर निस्तुष ६ आड़े यवोदरों वाले नाप को गणितशास्त्र से सिद्ध बताया है। तदनुसार १४ वंश कहे हैं।

इसके बाद श्लोक ५६२ ग-घ में ४$\frac{1}{2}$ निस्तुष यवोदरों का नाप कह कर अपने मत से २२ वंशों का निरूपण किया है और इस वंशश्रेणी का नाम अनुपमा दिया है।

अन्त में शार्ङ्गविद्या नाम से १४ वंशों के लक्षण फिर से ६ यव वाले नाप से दिये हैं। इसमें क्रम से एक उँगली से शुरू करके अगली-अगली उँगली से स्वररन्ध्रों को बन्द करने से आधा-आधा स्वर चढ़ना और उसी तरह उँगलियों से मुक्त करने से आधा-आधा स्वर उतर कर पिछले वंश के स्वर से मिल जाना—इस परिणाम के आधार पर इस वंशश्रेणी का निरूपण किया है।

इस तरह वंश लक्षण में अंगुल का नाप ४$\frac{1}{2}$, ५, ५$\frac{1}{2}$, ६ और ८ यव के बराबर प्राप्त होता है।

वाद्य निरूपण में मार्ग और देशी वर्गों के आधार पर किंनरी, वंश और पटह के लक्षण दिये गये हैं। मार्ग वाद्यों का आकार देशी की अपेक्षा बड़ा है। किंनरी और पटह के मार्ग और देशी भेदों के लक्षण सीधे वाद्य की कम-ज्यादा लम्बाई-चौड़ाई आदि के रूप में दिये हैं लेकिन वंश में अंगुल के छोटे-बड़े नाप के द्वारा दिये हैं, यद्यपि इसके आधार पर भी वंश की लंबाई कम-ज्यादा होती ही है। मार्ग का प्रयोग मूलतः और मुख्यतः मार्ग संगीत से और देशी का देशी संगीत से संबद्ध माना गया है। संभवतः इस प्रयोजनभेद के आधार पर बड़े वाद्यों को श्रेष्ठ मान कर उनमें बड़ा नाप और देशी वाद्यों में छोटा नाप मान्य किया गया।

यह ध्यातव्य है कि प्रमाण का भेद स्थापत्यशास्त्र में और वैदिक अनुष्ठानों में यज्ञवेदी के निर्माण में भी होता है।

(फूत्कारगुणाः)

स्निग्धता घनता रक्तिर्व्यक्तिः प्रचुरता ध्वनेः ॥ ६५४॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

लालित्यं कोमलत्वं च नादानुरणनं तथा।
त्रिस्थानत्वं श्रावकत्वं माधुर्यं सावधानता॥ ६५५॥
द्वादशेति गुणाः प्रोक्ता फूत्कारे सूरिशार्ङ्गिणा।

फूत्कार के गुण

६५४ ग-६५६ ख. (अ०) स्निग्धता स्निग्धता, घनता घनता, रक्तिः रंजकता, व्यक्तिः स्पष्ट प्रकटता, ध्वनेः प्रचुरता ध्वनि की स्थूलता (बाहुल्य), लालित्य लावण्य कोमलत्वं च और कोमलता, नाद-अनुरणनं ध्वनि का अनुरणन तथा और त्रिस्थानत्वं तीनों स्थानों में व्याप्ति, श्रावकत्वं (दूर तक) सुनाई देना, माधुर्यं मधुरता, सावधानता एकाग्रता सूरिशार्ङ्गिणा विद्वान् शार्ङ्गदेव के द्वारा फूत्कारे फूत्कार (फूँक) में इति द्वादश गुणाः ये बारह गुण प्रोक्ताः कहे गये (हैं)।

(सर०) सिंह० ने इन गुणों के अर्थ इस प्रकार दिये हैं—स्निग्धता = स्नेह, घनता = अन्तःसारता, रक्ति = रंजकता, व्यक्ति = प्रकटता, प्रचुरता = बाहुल्य, लालित्य = अङ्गनाओं (सुन्दर स्त्रियों) में लावण्य के समान, प्रसिद्ध चातुर्य, कोमलत्वं = सुकुमारता, अनुरणन = प्रतिशब्द (गूँज), त्रिस्थानत्व = तीन स्थानों में व्याप्ति, श्रावकत्व = श्रोताओं को सुख देना, माधुर्य = मधुरता, सावधानत्व = अवहितता (एकाग्रता)।

तत्र शब्दगुणेष्वेवैकादश प्रोक्तलक्षणाः॥ ६५६॥
फूत्कृतेः सावधानत्वं न्यूनताधिक्यवर्जनम्।

६५६ ग-६५७ ख. (अ०) तत्र उनमें से एकादश ग्यारह शब्दगुणेषु एव शब्दगुणों में ही प्रोक्तलक्षणाः कहे गये लक्षण वाले (हैं)। फूत्कृतेः सावधानत्वं फूत्कार की सावधानता (एकाग्रता) न्यूनता-आधिक्यवर्जनं (स्वर के) उतरेपन (और) चढ़ेपन का अभाव (है)।

(सर०) कल्लि० ने ग्रन्थकार के कथन के संदर्भ में याद दिलाया कि ऊपर कहे गये बारह गुणों में से सावधानता को छोड़ कर शेष ग्यारह के लक्षण प्रकीर्णकाध्याय में दिये गये मृष्ट आदि 'शब्द' के पन्द्रह गुणों में दिये गये हैं, वहाँ से देख लेने चाहियें। साथ ही यह भी कहा कि ग्रन्थकार के प्रोक्तलक्षणाः का यह भाव है कि शरीर (कण्ठ) और वंश की ध्वनि के द्वारा एकरूपता का संपादन होता है। अर्थात् दोनों की ध्वनि एकसी होती है इसलिये 'शब्द' के और फूत्कार के गुणों में भी समानता है।

कल्लि० के अनुसार फूत्कार शब्द के द्वारा मुखरन्ध्र से उत्पन्न ध्वनि समझनी चाहियें। तात्पर्य यह है कि मुखरन्ध्र में मुँह से भरी गई फूँक से जो ध्वनि उत्पन्न होती है, ऊपर कहे गये गुण उससे संबद्ध हैं। इसलिये कंठ और फूत्कार से उत्पन्न ध्वनि के गुण भी एकसे होना सहजगम्य है। सावधानता को इसलिये अलग किया है कि वंश से सही स्वर निकले यानी न उतरा और चढ़ा हो इसके लिये फूँक भरने में बहुत एकाग्रता की आवश्यकता होती है। फूँक में ज़रा सी भी कमी-बेशी स्वर को कम-ज़्यादा यानी बेसुरा कर देती है।

'शब्द' और फूत्कार के ८ गुण बिल्कुल समान हैं जो नीचे की सारिणी में दिये हैं—

शब्दगुण	फूत्कारगुण
१. स्निग्ध	स्निग्धता
२. घन	घनता
३. रक्तियुक्त	रक्ति
४. प्रचुर	प्रचुरता
५. कोमल	कोमलत्व
६. त्रिस्थानक	त्रिस्थानत्व
७. श्रावक	श्रावकत्व
८. मधुर	माधुर्य

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

लेकिन फूत्कार के व्यक्ति, लालित्य और अनुरणन—इन्हीं नामों या नामभेद से शब्द गुणों में नहीं है। इनके जो अर्थ हैं उनके समकक्ष लक्षण वाले गुण भी शब्दगुणों में नहीं हैं। फूत्कार में 'व्यक्ति' गुण का अर्थ, सिंह० के अनुसार प्रकटता है। कण्ठध्वनि अगर प्रबल हो तो स्पष्टता या प्रकटता होती है। इस दृष्टि से प्रबल लक्षण वाले 'शब्द' के गाढ़ गुण को फूत्कार के 'व्यक्ति' के समकक्ष रख सकते हैं। फूत्कार में लालित्य को सिंह० ने लावण्य कहा है। शब्दगुणों में 'चेहाल' और 'छविमान्' के मिले-जुले रूप को लालित्य समझ सकते हैं। स्त्रियों की कंठध्वनि का वह गुण चेहाल है जो ऊँचा, प्रौढ़, मधुर, रंजक, न बहुत भारी न बहुत दुर्बल, स्निग्ध और घनतायुक्त होता है। 'छविमान्' में मुख्य लक्षण उज्ज्वलता है। फूत्कार का 'अनुरणन' शब्द गुणों में तो नहीं है लेकिन 'सुशारीर' में प्रमुख रूप से विद्यमान है।

श्लोक ६५७ क में 'फूत्कारैः' पाठ है जिसका अन्वय या अर्थसंगति नहीं होती। लेकिन आनन्द० और उसमें कल्लि० की टीका तथा आड्यार द्वितीय संस्करण की पादटिप्पणी में फूत्कृतेः पाठ है। इसमें षष्ठी विभक्ति के द्वारा सावधानत्वं के साथ उसका अन्वय होकर संगत अर्थ प्राप्त होता है इसलिये हमने इसी का ग्रहण किया है।

फूत्कार के बारह गुण समाप्त

(फूत्कारदोषाः)

फूत्कारो यमलः स्तोकः कृशः स्खलित इत्यमी॥ ६५७॥

फूत्कारदोषा यमलं ब्रुवते प्रतिफूत्कृतिम्।
एवमन्वर्थनामत्वान्नोच्यते लक्षणं पृथक्॥ ६५८॥

फूत्कार के दोष

६५७ ग-६५८. (अ०) फूत्कारः फूत्कार, यमलः यमल, स्तोकः स्तोक, कृशः कृश, स्खलितः स्खलित इति अमी इस प्रकार ये फूत्कारदोषाः फूँक के दोष (होते हैं)। प्रतिफूत्कृतिं फिर से फूत्कार (/करना) यमलं ब्रुवते यमल कहा जाता है। एवम् इस तरह अन्वर्थनामत्वात् अर्थ के अनुसार नाम होने से पृथक् लक्षणं (सबका) अलग-अलग लक्षण न ब्रुवते नहीं कहा जा रहा है।

(सर०) सिंह० के अनुसार यमल, स्तोक, कृश औ स्खलित—ये चार फूत्कार के दोष होते हैं। इनके बाद ग्रन्थकार ने अन्य मत से ५ दोष और कहे हैं। दोनों को मिलाने पर ९ दोष होते हैं। लेकिन ग्रन्थकार ने दोषों के अन्त में इति दश फूत्कारदोषाः कहा है। दोषों के शुरू में आये फूत्कारः को भी एक दोष माना जाय तभी १० दोष होते हैं। हमने तदनुसार अनुवाद किया है।

फूँक भरने पर 'फू-फू' जैसी ध्वनि हो तो उसे फूत्कार दोष कह सकते हैं। स्वर उत्पन्न करने के लिये एक फूँक के तुरन्त बाद दूसरी फूँक भरनी पड़े तो उसे यमल कहते हैं। सिंह० के अनुसार स्थूल (बुलन्द) होते हुए भी स्थान प्राप्त न कर सके तो स्तोक है, स्थान प्राप्त करने में समर्थ होते हुए भी बारीक कृश दोष है। बीच-बीच में टूटने वाली ध्वनि स्खलित होती है।

कम्पितस्तुम्बकी काकी संदष्टश्चाव्यवस्थितः।

पञ्चेति फूत्कृतेर्दोषानपरानूचिरे परे॥ ६५९॥

६५९. (अ०) कम्पितः कम्पित, तुम्बकी तुम्बकी, काकी काकी, संदष्टः संदष्ट अव्यवस्थितः च और अव्यवस्थित इति ये फूत्कृतेः फूँक के अपरान् पञ्च दोषान् अन्य पाँच दोष परे ऊचिरे अन्य मत में कहे जाते हैं।

(सर०) ये पाँचों दोष प्रकीर्णकाध्याय में गायक के दोषों में भी कहे गये हैं।

यः कफोपहताद् वक्त्राद् विस्वरः स्फुरितो भवेत्।
कम्पितोऽसौ,

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

६६० क-ग. (अ०) कफ-उपहतात् वक्त्रात् कफ भरे हुए मुँह से (फूँक भरने से) यः जो विस्वरः बेसुरा स्फुरितः हिलता हुआ (नाद उत्पन्न होता है) असौ यह कम्पितः भवेत् कम्पित (दोष) होता है।

(सर०) गायक के दोषों में काँपती आवाज़ और काँपते शरीर से गाना कम्पित कहा गया है।

तुम्बध्वानप्रायः प्रोक्तस्तु तुम्बकी॥ ६६०॥

६६० ग-घ. (अ०) तुम्बध्वानप्रायः तु तूँबे जैसी ध्वनि की प्रचुरता तो तुम्बकी प्रोक्तः तुम्बकी (दोष) कहा गया (है)।

(सर०) गालों को तूँबे जैसा फुला कर गाना गायक का तुम्बकी दोष कहा गया है। फूत्कार में भी आशय यही लगता है कि फूले गालों से फूँक भरने से जैसा नाद उत्पन्न होता है वह तुम्बकी दोषयुक्त है।

सिंह० ने तूँबे के सदृश नाद को तुम्बकी कहा है। कल्लि० ने तुम्ब को अनुकरण शब्द बता कर तुम्बध्वान का अर्थ तुम्बध्वनि की प्रचुरता दिया है। तुम्ब के स्थान पर 'तुसु' पाठभेद का भी कल्लि० ने उल्लेख करके उसे भी अनुकरण शब्द कहा है।

तारन्यूनतया काकस्वरः काकीति कथ्यते।

६६१ क-ख. (अ०) तारन्यूनतया तार (स्थान) में कम लगने वाला काकस्वरः कौओ (की ध्वनि) जैसा स्वर काकी इति कथ्यते काकी इस तरह (इस नाम से) कहा जाता है।

(सर०) सिंह० ने तारन्यूनतया का अर्थ तारप्राप्तिरहित दिया है। कल्लि० ने तारस्थान में श्रुतिहीनत्व अर्थ किया है। गायक के दोषों में काकी का लक्षण कौओ जैसी क्रूर (कर्कश और तीखी) ध्वनि वाला दिया गया है।

अल्पः संदष्टवद्भाति योऽसौ संदष्ट उच्यते॥ ६६१॥

६६१ ग-घ. (अ०) यः जो अल्पः संदष्टवत् कुछ संदष्ट के जैसा भाति भासित होता है असौ यह (वह) संदष्टः उच्यते संदष्ट कहा जाता है।

(सर०) कल्लि० ने संदष्ट की यह व्याख्या की कि जैसे लोक में 'उपदंश' (साँप-बिच्छू के काटने) से कोई अवयव अल्प दिखाई देता है उसी तरह फूत्कार में भी कमी रह जाने पर संदष्ट की तरह लगता है उसे संदष्ट (दोष) कहा जाता है।

गायक के संदष्ट दोष का लक्षण दाँतों को पीस कर गाना है।

ऊनोऽधिको वा यो रूक्षः कथ्यते सोऽव्यवस्थितः।

६६२ क-ख. (अ०) यः जो (फूत्कार) ऊनः अधिकः वा कम या ज़्यादा (उतरा या चढ़ा हुआ) रूक्षः (और) रूखा (हो) सः वह अव्यवस्थितः कथ्यते अव्यवस्थित कहा जाता है।

(सर०) गायक का अव्यवस्थित दोष तीन स्थानों में व्यवस्थितता न होना यानी संबद्धता न रहना है।

कण्ठस्य गुणदोषा ये पुरोक्तास्तेषु केचन॥ ६६२॥

फूत्कारेऽपि यथायोगं योजनीया मनीषिभिः।

इति दश फूत्कारदोषाः

६६२ ग-६६३ ख. (अ०) पुरा पहले कण्ठस्य कंठ के ये गुणदोषाः उक्ताः जो गुण-दोष कहे गये तेषु उनमें (से) केचन कुछ फूत्कारे अपि फूत्कार में भी मनीषिभिः मनीषियों के द्वारा यथायोगं यथासंभव योजनीयाः योजित करने चाहियें।

(सर०) यथायोगं का आशय यह है कि जो गुण-दोष फूत्कार में संभव हों उन्हें लागू कर लेना चाहिये।

फूत्कार के दस दोष समाप्त

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(वांशिकगुणाः)

अङ्गुलीसारणाभ्यासः सुस्थानत्वं सुरागता॥ ६६३॥

सुरागव्यक्तिर्माधुर्यान्विता वेगाद् गतागते।
गीतवादनदक्षत्वं गातॄणां तानदायिता/स्थानदायिता॥ ६६४॥

तद्दोषाच्छादनं मार्गदेशीरागेषु कौशलम्।
स्वस्थानवदपस्थाने रागोद्भूतिप्रगल्भता॥ ६६५॥

वांशिकस्य गुणानेतान् वक्ति श्रीकरणाग्रणीः।

इति वांशिकगुणाः

वंशीवादक के गुण

६६३ ग-६६६ ख. (अ०) अङ्गुलीसारणा-अभ्यासः उँगलियों के चालन का अभ्यास, सुस्थानत्वं स्थान की सम्यक् (सही) प्राप्ति, सुरागता रंजकता, वेगात् गत-आगते वेग से आरोह और अवरोह (युक्त प्रयोग) में माधुर्य-अन्विता मधुरता से युक्त होना, सुरागव्यक्तिः अच्छी रागाभिव्यक्ति, गीतवादनदक्षत्वं (गाये हुए) गीत के वादन में दक्षता, गातॄणां गायकों को तानदायिता तान (राग के स्वरूप का प्रदर्शक मुख्य स्वरसमूह) देना (अथवा) स्थानदायिता स्थान (मन्द्र आदि तीन स्थान) प्रदान करना, तत् उस (गायक) के दोष-आच्छादनं दोषों (भूलों) को ढकना, मार्गदेशीरागेषु कौशलं मार्ग और देशी रागों (के वादन) में कुशलता, स्वस्थानवत् स्वस्थानों के समान (ही) अपस्थाने अपस्थान (स्वस्थानों से भिन्न स्वस्थान) में (भी) राग-उद्भूतिप्रगल्भता राग की उद्भावना में प्रौढ़ता एतान् वांशिकस्य गुणान् इन वांशिक के गुणों को श्रीकरण-अग्रणीः लेखाकारों में अग्रणी (महालेखाकार शार्ङ्गदेव) वक्ति कहता है।

(सर०) सिंह० के अनुसार उँगलियों की सारणा का अर्थ है छेदों को उँगलियों से ढकना और खुला कर देना। सुस्थानत्व का आशय संभवतः स्वरस्थानों की सम्यक् प्राप्ति है।

श्लोक ६६४ घ में सिंह० का पाठ स्थानदायिता है जिसका अर्थ गायकों को स्थान प्रदान करना दिया है। कल्लि० ने तानदायिता और स्थानदायिता—इन दो पाठों के आधार पर व्याख्या की है। उसके अनुसार तानदायिता यानी गायक जो तान गाने की इच्छा रखता हो उसका उस राग के अनुरूप पहले प्रदर्शन करना। आशय यह है कि गायक द्वारा गाये जाने वाले राग की तान को गायक के लिये प्रस्तुत करना। यहाँ तान का अर्थ रागवाची स्वरगुच्छ प्रतीत होता है जो किसी राग को गाने से पहले यानी शुरू में आज भी गायक प्रायः गाते हैं। वंशीवादक द्वारा उसे शुरू में बजाना तानदायिता है। इस संदर्भ में यह उल्लेखनीय है कि अहोबलरचित संगीतपारिजात में रागों के शाब्दी लक्षण देने के बाद उनके जो रागवाची स्वरसमुदाय दिये हैं उन्हें तान कहा गया है।

कल्लि० के अनुसार स्थानदायिता का अर्थ है मन्द्र, मध्य, तार स्थानों का प्रदर्शन करना। आशय गायक को तीन स्थानों में साथ देना है।

एकतन्त्री वीणा के लक्षण में (श्लो० १०५ ग-१०६ ख) कहा गया है कि अष्टादशांगुल वंश के पहले सप्तक का स्थान ही वीणा में भी पहला स्थान माना जाता है। इसका अर्थ यह है कि वंश का मूल स्वर ही एकतन्त्री का भी मूल स्वर होता है। वाद्याध्याय में कई जगह वंश, वीणा और कण्ठ का 'एकीभाव' कहा गया है जो तभी संभव है जब तीनों का आधार स्वर एक हो। इन तथ्यों के आधार पर यह समझा जा सकता है कि 'स्थानदायिता' का अर्थ संभवतः गायक को आधार स्वर प्रदान करना भी है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

कालिदास के कुमारसंभव नाटक में भी हिमालय वर्णन के प्रसंग में पाठभेद से 'तानप्रदायित्व' और 'स्थानप्रदायित्व' शब्द हैं।*

दोषाच्छादन की व्याख्या में कल्लि० ने कहा कि प्रकीर्णकाध्याय में गायक के संदष्ट आदि जो २५ दोष कहे गये हैं उन्हें ढकना यानी श्रोताओं के लिये रंजकता का भंग न हो इस तरह उस दोष का तिरोधान वांशिक को करना चाहिये।

स्वस्थान की ही तरह अपस्थान में भी राग की अभिव्यक्ति कर सकने की शक्ति—सिंह० ने अपस्थान की यह व्याख्या की। कल्लि० ने कहा कि पहले जो मुखचाल आदि चार स्वस्थान कहे गये उनके अलावा स्वरस्थानों को अपस्थान कहा जाता है। हालाँकि राग की संपूर्ण अभिव्यक्ति स्वस्थानों में ही होती है अपस्थान में नहीं फिर भी यदि अपनी प्रगल्भता से वांशिक अपस्थान में भी स्वस्थान की तरह ही राग को उत्पन्न करता है तो यह उसका गुण है।

अगर 'अप' का त्याग (बिना) अर्थ ग्रहण करें तो अपस्थान का अर्थ 'स्वस्थान के बिना' होगा। तदनुसार ग्रन्थकार के कथन का यह आशय हो सकता है कि स्वस्थानों (खण्डों में विभक्त आलप्ति) के समान ही स्वस्थानों के बिना यानी खण्डविभाजन के बिना एकाकार रूप में भी, रागालाप की तरह, राग को व्यक्त करने की क्षमता का होना।

वंशीवादक के गुण समाप्त

(वांशिकदोषाः)

मिथ्याप्रयोगबाहुल्यमेतद्गुणविपर्ययः ॥ ६६६ ॥

इष्टस्थानानवाप्तिश्च शिरसः कम्पनं तथा।
वांशिकस्येति दोषाः स्युर्वर्जनीयाः प्रयत्नतः ॥ ६६७ ॥

इति वांशिकदोषाः

वंशीवादक के दोष

६६६ ग-६६७. (अ०) एतत् गुणविपर्ययः इन गुणों का उल्टा, मिथ्याप्रयोगबहुल्यम् अस्थानीय (अथवा अरंजक) प्रयोग की बहुलता इष्टस्थान-अन्-अवाप्तिः च और इच्छित स्थान की प्राप्ति न होना तथा शिरसः कम्पनं और सिर का हिलना इति ये वांशिकस्य दोषाः स्युः वांशिक के दोष होते हैं। प्रयत्नः (इन्हें) प्रयत्नपूर्वक वर्जनीयाः वर्जित करना चाहिये।

(सर०) सिंह० ने मिथ्याप्रयोग को अरंजक प्रयोग कह कर प्रयोग का सामान्य अर्थ में ग्रहण किया है। प्रबन्धाध्याय में ग्रन्थकार द्वारा अक्षररहित गमकालप्ति को 'प्रयोग' कह कर जो पारिभाषिक अर्थ दिया है, कल्लि० ने यहाँ 'मिथ्याप्रयोग' में उसी का ग्रहण करके कहा कि अस्थान में यानी जहाँ उचित न हो वहाँ भी 'प्रयोग' की बहुलता का होना—यह अर्थ है।

वंशीवादक के जो गुण ऊपर कहे गये उनके विपरीत को भी ग्रन्थकार ने दोष कहा है।

वंशीवादक के दोष समाप्त

---

* संबद्ध अंश यों है—

यः पूरयन्कीचकरन्ध्रभागान्दरीमुखोत्थेन समीरणेन।
उद्गास्यतामिच्छति किंनराणां तानप्रदायित्वमिवोपगन्तुम्॥ १/८

पादटिप्पणी में 'तान' के लिये 'स्थान' पाठ है। अर्थ यह है—हिमालय अपनी गुफ़ारूप मुखों से उत्पन्न वायु से कीचक (वेणु विशेष) के छेदों को पूरित करके गाते हुए किंनरों को तान (अथवा स्थान) प्रदान करने की इच्छा करता है।

इस पर मल्लिनाथ ने अपनी टीका में अभिनव को उद्धृत करते हुए कहा कि तान का अर्थ अंशस्वर है, वह किंनरों को प्रदान करना तानप्रदायिता है। २८ वें अध्याय में तान की या सुषिराध्याय की टीका में अभि० में मल्लिनाथ द्वारा उद्धृत 'तानस्त्वंशस्वरो मतः' उपलब्ध नहीं है। लेकिन अगर अभि० में यह रहा हो तो इस दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है कि इसके अनुसार वंश अंशस्वर प्रदान करता है और अंशस्वर ही आधार स्वर होता है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(वांशिकबृन्दम्)

एकः स्याद् वांशिको मुख्यश्चत्वारोऽस्यानुयायिनः।
वांशिकानामिति प्रायस्तज्ज्ञैर्बृन्दं निगद्यते॥ ६६८॥

इति वांशिकबृन्दम्

वांशिकवृन्द

६६८. (अ०) एकः मुख्यः वांशिकः एक मुख्य वंशीवादक स्यात् हो (और) चत्वारः चार अस्य अनुयायिनः इसका अनुसरण करने वाले (हों तो) इति तज्ज्ञैः यह उसके ज्ञाताओं के द्वारा प्रायः सामान्य रूप से वांशिकानां बृन्दं वंशीवादकों का वृन्द (समूह) निगद्यते कहा जाता है।

वांशिकवृन्द समाप्त

(वंशे केषांचिद्देशीरागाणां वादनम्)

अधुना मुग्धबोधार्थमुदाहरणमात्रतः।
वंशे देशीस्थरागाणां केषांचिद् वादनं ब्रुवे॥ ६६९॥

वंश में कुछ देशीरागों का वादन

६६९. (अ०) अधुना अब मुग्धबोध-अर्थं अज्ञों के बोध के लिये उदाहरणमात्रतः केवल उदाहरण के रूप में केषांचित् कुछ देशीस्थरागाणां देशी (वर्ग) में स्थित रागों का वंशे वंश में वादनं ब्रुवे वादन कहता हूँ।

(सर०) जैसे किंनरी में देशी रागों को बजाने की विधि दी गई उसी तरह वंश में भी कुछ रागों का वादन बताया जा रहा है। किंनरी की अपेक्षा वंश में ११ राग ज्यादा हैं।

(रागाङ्गाः)

(मध्यमादिः)

मध्यमं स्थायिनं कृत्वा तृतीये कम्पिते स्वरे।
विलम्बिते द्वितीयेऽथ स्थायिनि न्यस्यते यदा॥ ६७०॥

स्वस्थानं प्रथमं प्रोक्तं मध्यमादेस्तदा बुधैः।

१—मध्यमादि

६७०-६७१ ख. (अ०) मध्यमं मध्यम को स्थायिनं कृत्वा स्थायी (ग्रह) बना कर तृतीये स्वरे कम्पिते तीसरा स्वर (निषाद) कम्पित होने पर, द्वितीये विलम्बिते दूसरा (पंचम) विलम्बित होने पर अथ इसके बाद यदा जब स्थायिनि स्थायी (मध्यम) पर न्यस्यते न्यास किया जाता है तदा तब बुधैः बुद्धिमानों के द्वारा (उसे) मध्यमादेः मध्यमादि का प्रथमं स्वस्थानं पहला स्वस्थान प्रोक्तं कहा गया (है)।

(सर०) मध्यमादि की कल्लि० ने विस्तार से व्याख्या की है। तृतीये पर उसने स्पष्टीकरण दिया कि मध्यम से शुरू करके तीसरा स्वर धैवत होता है जो मध्यमादि में विवादी है जिसे बजाने पर राग की हानि होगी। इसलिये उसे छोड़ कर अगले स्वर निषाद को तीसरे स्वर के रूप में ग्रहण करना चाहिये, यह मन्तव्य है। इसका प्रमाण पहले (श्लो० ३३२, किंनरी में) कहा गया

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

'असंभवे पूर्वपूर्वस्वरस्यतु .... इति स्थितिः' श्लोक है जिसे कल्लि० ने यहाँ उद्धृत करके स्पष्ट किया कि असंभव का वर्ज्यत्व पहले कहा जा चुका है और व्याख्या भी की जा चुकी है।

इस प्रकार म नि(कम्पित) पा म—यों मध्यमादि का पहला स्वस्थान होगा।

सिंह० ने तृतीय का अर्थ धैवत किया है, मध्यमादि में धैवत वर्ज्य है।

कल्लि० ने किंनरी में मध्यमादि में कहा कि यद्यपि इसमें धैवत-ऋषभ वर्जित हैं लेकिन अवरोह में क्वचित् प्रयोग संभव है। यानी आरोह में इन स्वरों का प्रयोग नहीं करना चाहिये।

तृतीयकम्पनादूर्ध्वं चतुर्थं पञ्चमं ततः ॥ ६७१ ॥

तुर्यस्वरं द्वितीयं च कृत्वा न्यासो ग्रहे यदा।
तदा द्वितीयं स्वस्थानं शार्ङ्गदेवेन कीर्तितम् ॥ ६७२ ॥

६७१ ग-६७२. (अ०) तृतीयकम्पनात् ऊर्ध्वं तीसरे (निषाद) के कम्पन से (अर्थात् कम्पित करके) ऊर्ध्वम् उसके बाद चतुर्थं चौथा (निषाद) पञ्चमं पाँचवाँ (षड्ज), ततः उसके बाद तुर्यस्वरं चौथा स्वर (निषाद) द्वितीयं च कृत्वा और दूसरा (पंचम) बजा कर यदा जब ग्रहे न्यासः ग्रह (मध्यम) पर न्यास (किया जाता है) तदा तब (उसे) शार्ङ्गदेवेन शार्ङ्गदेव के द्वारा द्वितीयं स्वस्थानं दूसरा स्वस्थान कीर्तितं कहा गया है।

(सर०) कल्लि० ने तीसरे को और चतुर्थं चौथे को भी निषाद कहा। इस पर उसने यह शंका उठाई कि एक ही निषाद तीसरा और चौथा दोनों कैसे हो सकता है? उत्तर यह दिया कि निषाद का तीसरा होना लक्षणा के आश्रित है, मुख्य तो चौथा होना ही है। तात्पर्य यह है कि वास्तव में तो मध्यम से निषाद चौथा ही होता है लेकिन यहाँ उसे तीसरे के रूप में जो ग्रहण किया है वह लक्षणा से यानी गौण रूप से हुआ है क्योंकि धैवत वर्जित होने से तीसरे के रूप में उसका ग्रहण नहीं किया जा सकता। इसलिये धैवत के असंभव होने से उसके बाद वाले निषाद को तीसरा मान लिया गया। कल्लि० ने यहाँ 'गङ्गायां घोषः' का उदाहरण देकर गौण रूप से तृतीय के रूप में निषाद के ग्रहण की सार्थकता दिखाई। उक्त वाक्य का मुख्य अर्थ है 'गंगा में ग्वालों की बस्ती' जो संभव नहीं है। इसलिये गौण रूप से अर्थात् लक्षणा वृत्ति से 'गङ्गायां' का 'गंगा के तट पर' अर्थ ग्रहण किया जाता है। इसी तरह तीसरे के रूप में धैवत का ग्रहण संभव न होने से लक्षणा से उसके पास वाले अगले स्वर का ग्रहण करना उचित है। कल्लि० ने ग्रन्थकार का पूर्व कथन (श्लो० ३३४ ग-३३५ ख) याद दिलाया कि देशी में सर्वत्र लक्ष्य के आधार पर लक्ष्यविरोधी शास्त्र को ग्रहण करना चाहिये।

नि(कम्पित) नि स नि प म—यह दूसरा स्वस्थान होगा।

चतुर्थस्वरमाहत्य स्थायिनं तत्परं ततः।
समुच्चार्य स्वरं तुर्यं पञ्चमं तु विलम्ब्य च ॥ ६७३ ॥

षष्ठं च पञ्चमं कृत्वा द्वितीयं च ग्रहे यदा।
न्यासस्तदा तृतीयं स्यात् स्वस्थानमिति तद्विदः ॥ ६७४ ॥

६७३-६७४. (अ०) चतुर्थस्वरम् आहत्य चौथे स्वर (निषाद) को गमकयुक्त करके स्थायिनं स्थायी (मध्यम) को तत् परम् उसके बाद वाले (पंचम) को ततः उसके बाद तुर्यं स्वरं समुच्चार्य चौथे स्वर (निषाद) को लगा कर पञ्चमं तु विलम्ब्य च और पाँचवाँ (षड्ज) तो विलंबित करके, षष्ठं छठा (गान्धार) पञ्चमं च और पाँचवाँ (षड्ज) द्वितीयं च कृत्वा और दूसरा (पंचम प्रयुक्त) करके यदा जब ग्रहे न्यासः ग्रह में न्यास (किया जाता है) तदा तब (वह) तृतीयं स्वस्थानं स्यात् तीसरा स्वस्थान होता है इति ऐसा तत् विदः उसके ज्ञाता (कहते हैं)।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(सर०) षष्ठं की व्याख्या में कल्लि ने ध्यान दिलाया कि छठा स्वर ऋषभ वर्जित होने से उसके बाद वाले गान्धार का प्रयोग किया जाता है। तीसरे के रूप में जिस तरह लक्षणा से धैवत के बजाय निषाद का ग्रहण किया गया उसी तरह यहाँ भी लक्षणा से गान्धार को छठा माना जायेगा, कल्लि० के कथन का यह आशय है।

इस प्रकार तीसरे स्वस्थान में यह स्वरक्रम होगा—

नि(गमकयुक्त) म प नि सा ग स प म

ग्रहद्वितीयतुर्यांश्च पञ्चमं सप्तमं ततः।
कृत्वाष्टमं विलम्ब्याथ द्वितीयं तत्परं ततः॥ ६७५॥

द्वितीयं सप्तमं कृत्वा पञ्चमं च चतुर्थकम्।
द्वितीयं च ग्रहे न्यासः स्वस्थानं तुर्यमिष्यते॥ ६७६॥

६७५-६७६. (अ०) ग्रहद्वितीयतुर्यान च ग्रह (मध्यम), दूसरा (पंचम) और चौथे (निषाद स्वरों) को, पञ्चमं पाँचवें (षड्ज) ततः उसके बाद सप्तमं कृत्वा सातवें (गान्धार) को बजा कर अथ फिर अष्टमं आठवें (तार स्थान के मध्यम) को विलम्ब्य लंबा करके, द्वितीयं दूसरे (पंचम) को तत् परम् (फिर) उसके बाद वाले (निषाद) को, ततः फिर द्वितीयं दूसरे (पंचम) को सप्तमं कृत्वा सातवें (गान्धार) को बजा कर, पञ्चमं चतुर्थकं च पाँचवें (षड्ज) और चौथे (निषाद) को द्वितीयं च और दूसरे (पंचम) को (बजा कर) ग्रहे न्यासः ग्रह पर न्यास (हो तो वह) तुर्यं स्वस्थानं चौथा स्वस्थान इष्यते माना जाता है।

(सर०) द्वितीयं तत्परं से दूसरे (पंचम) के बाद वाले धैवत के वर्जित होने से निषाद का ग्रहण किया जाना चाहिये।

मध्यमादि के लक्षण से यह प्रकट होता है कि अगर मध्यम से तीसरे और छठे स्वर का प्रयोग करने का निर्देश हो तो संख्या क्रम के ध और रि के स्थान पर नि और ग का ग्रहण किया जाता है क्योंकि म से तीसरा ध और छठा रि मध्यमादि में वर्जित हैं। इसका यह अर्थ है कि वर्जित स्वर संख्या के क्रम की दृष्टि से बीच में आये तभी अगले स्वर का ग्रहण होगा।

लक्षण के अनुसार चौथे स्वस्थान में स्वर प्रयोग इस प्रकार होगा—

म प नि स ग मा प नि प ग स नि प म

स्वस्थानों में स्वरों की जो सीमा रागालप्ति में कही गई है उसके अनुसार यहाँ स्वस्थान दिखाये गये हैं। दूसरे स्वस्थान में ग्रह से चौथे स्वर के प्रयोग का नियम है लेकिन यहाँ ग्रह मध्यम से पाँचवें स का प्रयोग भी कहा गया है।

मध्यमादि के लक्षण तथा उस पर और ३/१९२ क पर कल्लि० की व्याख्या से यह समझा जा सकता है कि रागालप्ति की व्याख्या में कल्लि० ने यह जो कहा कि द्व्यर्ध में स्थायी से चौथे स्वर में लोप्य स्वर को लेकर गिनना चाहिये यह सामान्य नियम है जो स्वरों की संख्या गिनने में ही लागू होता है लेकिन प्रयोग में यदि उस संख्या से राग का वर्जित स्वर आता हो तो लक्षणा से उससे अगला स्वर लिया जाता है।

दृश्यते मध्यमादेस्तु ग्रहो वंशेषु मुद्रितः।

इति मध्यमादिः

६७७ क-ख. (अ०) वंशेषु वंशों में मुद्रितः (छेद उँगली से) ढका हुआ (होने पर उत्पन्न होने वाला स्वर) मध्यमादेः तु मध्यमादि का तो ग्रहः दृश्यते ग्रह दिखाई देता है।

(सर०) कल्लि० की व्याख्या के अनुसार सातों छेद उँगलियों से ढके होने पर जिस वंश में जो स्वर निकले वही मध्यमादि में ग्रह होता है। उदाहरण के लिये—अष्टादशांगुल में मन्द्र षड्ज, कलानिधि में मन्द्र ऋषभ, मनु में मन्द्र गान्धार मुद्रित स्वर होता

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

है, इसलिये इन वंशों में मध्यमादि में यही ग्रह स्वर होते हैं। आगे भी वंशों में जहाँ मुद्रित को ग्रह कहा जाय वहाँ भी ऐसा ही समझना चाहिये।

ग्रन्थकार के इस कथन का यह अर्थ है कि जिस वंश में जो मुद्रित यानी मूल स्वर उत्पन्न होता है वह रि, ग, म आदि कुछ भी हो मध्यमादि में उसे ग्रह मध्यम मान कर तदनुसार राग के अन्य स्वरों का वादन अपेक्षित है।

जिस वंश में मुद्रित स्वर ही किसी राग का ग्रह स्वर हो उससे भिन्न किसी दूसरे मुद्रित स्वर वाले वंश में उस राग का वादन करने का प्रयोजन गायक के आधार स्वर के अनुरूप वंश में भी आधार स्वर प्राप्त करना प्रतीत होता है।

मध्यमादि समाप्त

(मालवश्रीः)

षड्जे ग्रहे ममाहत्य षड्जं कृत्वा हतौ रिमौ॥ ६७७॥

पमान्दोल्य प्रकम्प्यापि पमगान् द्विः प्रयुज्य च।
आन्दोल्य मं प्रकम्प्यापि लघुषड्जं विधाय च॥ ६७८॥

कम्पयित्वा रिमौ द्वित्रान् वारानावर्त्य षड्जगौ।
स्थायिन्यासाद् भवेदाद्यं स्वस्थानं मालवश्रियः॥ ६७९॥

२—मालवश्री

६७७ ग-६७९. (अ०) षड्जे ग्रहे षड्ज ग्रह होने पर मम् आहत्य म को आघातयुक्त करके, षड्जं कृत्वा षड्ज लगा कर, रि-मौ हतौ रि और म आहत करके, पम् आन्दोल्य प को आन्दोलित करके प्रकम्प्य अपि और कम्पित करके प-म-गान् द्वि प्रयुज्य च तथा प, म और ग को दो बार प्रयुक्त करके, मम् आन्दोल्य प्रकम्प्य अपि म को आन्दोलित और कम्पित करके लघुषड्जं विधाय च और षड्ज को अल्प लगा कर, रि-मौ कम्पयित्वा रि और म को कम्पित करके, षड्ज-गौ षड्ज और गान्धार द्वि-त्रान् वारान् आवर्त्य दो-तीन बार आवृत्त करके स्थायिन्यासात् स्थायी (ग्रह स्वर) में न्यास (करने) से मालवश्रियः मालवश्री का आद्यं स्वस्थानं पहला स्वस्थान भवेत् होता है।

(सर०) 'षड्ज ग्रह होने पर'—ग्रन्थकार के इस कथन से यह समझना चाहिये कि लक्ष्य के अनुसार किसी दूसरे स्वर को भी ग्रह माना जा सकता है, इस ओर कल्लि० ने ध्यान दिलाया।

आद्यस्वस्थानविधिना विधाय स्वरपञ्चकम्।
निं विलम्ब्यावरोही चेत् पूर्वः स्वस्थानगः कृतः॥ ६८०॥

तदा द्वितीयं स्वस्थानमास्थितं रागवेदिभिः।

६८०-६८१ ख. (अ०) आद्यस्वस्थानविधिना पहले स्वस्थान की विधि से स्वरपञ्चकं विधाय पाँच स्वरों का विधान करके, निं विलम्ब्य नि को लम्बा करके पूर्वः स्वस्थानगः अवरोही कृतः चेत् यदि पिछले स्वस्थानगत अवरोही (स्वरों का प्रयोग) किया गया हो तदा तब रागवेदिभिः राग के वेत्ताओं के द्वारा द्वितीयं स्वस्थानम् आस्थितं दूसरा स्वस्थान आश्रित (होता है)।

(सर०) दूसरे स्वस्थान की दोनों टीकाकारों ने व्याख्या नहीं की है।

पहले स्वस्थान की तरह स के बाद म (आघातयुक्त) स रि म (आघात) प (आन्दोलित और कम्पित) यहाँ भी अभिप्रेत हैं। इसी तरह पूर्व स्वस्थान की तरह प-म-ग का दो बार प्रयोग करना चाहिये।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

कृत्वा द्वितीयं स्वस्थानं धान्तमादोल्य सप्तमम्॥ ६८१॥

आहत्य च द्वितीयस्य स्वस्थानस्यावरोहणम्।
कृतं यत्र तृतीयं तत् स्वस्थानमुदितं बुधैः॥ ६८२॥

६८१ ग-६८२. (अ०) ध-अन्तं धैवत तक द्वितीयं स्वस्थानं कृत्वा दूसरा स्वस्थान करके, सप्तमम् आन्दोल्य सातवें (निषाद) को आन्दोलित करके आहत्य च और आघातयुक्त करके यत्र जहाँ द्वितीयस्य स्वस्थानस्य दूसरे स्वस्थान का अवरोहणं कृतं अवरोह किया गया (हो) तत् वह बुधैः बुद्धिमानों के द्वारा तृतीयं स्वस्थानं तीसरा स्वस्थान उदितं कहा गया (है)।

(सर०) द्वितीय स्वस्थान में धैवत का उल्लेख नहीं है। रागाध्याय में मालवश्री में उसके जनकराग मालवकैशिक के अनुसार धैवत अल्प होता है (२/२/७१ ख)।

आहत्य मं द्विगुणसं कृत्वा रिं तत्परं ततः।
तं सं प्रोच्य निमाहत्य विलम्ब्य पुनरप्यमुम्॥ ६८३॥

कृत्वा तृतीयं स्वस्थानावरोही क्रियते यदा।
तदा चतुर्थं स्वस्थानमाख्यातं मालवश्रियः॥ ६८४॥

६८३-६८४. (अ०) मम् आहत्य म को आहत करके, द्विगुणं सं कृत्वा रिं दुगने (तार स्थान के) स को लगा कर रिं को, तत् परम् उसके बाद वाले (गान्धार) को, ततः उसके बाद तं सं प्रोच्य उस (तार) स को कह कर (बजा कर), निम् आहत्य विलम्ब्य नि को गमकयुक्त करके विलंबित लगा कर, पुनः अपि फिर से अमुं कृत्वा इसे (प्रयुक्त) करके यदा जब तृतीयं स्वस्थान-अवरोही तीसरे स्वस्थान का अवरोही (स्वरप्रयोग) क्रियते किया जाता है तदा तब मालवश्रियः मालवश्री का चतुर्थं स्वस्थानं चौथा स्वस्थान आख्यातं कहा गया है।

षड्जोऽन्यो वा स्वरो वंशे ग्रहोऽस्या मुद्रितः स्वरः।
प्रकल्प्य तस्य षड्जत्वं परेषामृषभादिताम्॥ ६८५॥

लक्ष्मेदं योजयेत् सर्वमित्युक्तं सूरिशार्ङ्गिणा।

इति मालवश्रीः

६८५-६८६ ख. (अ०) वंशे वंश में षड्जः अन्यः वा षड्ज या कोई दूसरा मुद्रितः स्वरः मुद्रित स्वर अस्याः इस (मालवश्री) का ग्रहः स्वरः ग्रह स्वर (होता है)। तस्य उस (मुद्रित स्वर) का षड्जत्वं प्रकल्प्य षड्ज होना मान कर (अर्थात् उसे षड्ज मान कर) परेषां अन्यों की ऋषभ-आदितां ऋषभ आदिता (ऋषभ आदि स्वरूपता मानकर) इदं सर्वं लक्ष्म यह सारा लक्षण योजयेत् योजित करना चाहिये इति ऐसा सूरिशार्ङ्गिणा विद्वान् शार्ङ्गदेव के द्वारा उक्तं कहा गया (है)।

(सर०) मध्यमादि की व्याख्या से यह स्पष्ट होता है कि रागों का वादन किसी भी मुद्रित स्वर वाले वंश में किया जा सकता है और तब जिस वंश में वादन किया जाय उसका मुद्रित स्वर ही प्रयोज्य राग का ग्रह स्वर होता है।

यहाँ ग्रन्थकार ने स्पष्ट निर्देश किया कि जिस वंश में वादन करना हो उसका मुद्रित स्वर जो भी हो वह प्रयोज्य राग का ग्रह तो होता ही है लेकिन राग के स्वरों के संख्याक्रम की दृष्टि से उसे षड्ज यानी पहला मान कर ही उसके अनुसार ऋषभ आदि स्वरों की दूसरी आदि संख्या समझनी चाहिये।

मालवश्री समाप्त

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(तोडी)

स्थायिनं मध्यमं कृत्वा कम्पयित्वा परं स्वरम्॥ ६८६॥

तुर्यं विलम्ब्य कृत्वा च तृतीयं तं द्रुताहतम्।
विधाय तं पुनः प्रोच्य ग्रहन्यासेन जायते॥ ६८७॥

स्वस्थानं प्रथमं तोड्याः प्रोक्तं मुनिवरैरिति।

३—तोडी

६८६ ग-६८८ ख. (अ०) मध्यमं स्थायिनं कृत्वा मध्यम को स्थायी बनाकर, परं स्वरं कम्पयित्वा अगले स्वर (पंचम) को कंपित करके तुर्यं विलम्ब्य कृत्वा च और चौथे (नि) को विलंबित करके, तं तृतीयं उस तीसरे (धैवत) को द्रुत-आहतं विधाय वेग से आघातयुक्त प्रयोग करके, तं पुनः प्रोच्य उसे फिर से कह कर (बजा कर) ग्रहन्यासेन ग्रह में न्यास (करने) से तोड्याः तोडी का प्रथमं स्वस्थानं जायते पहला स्वस्थान उत्पन्न होता है इति ऐसा मुनिवरैः श्रेष्ठ मुनियों के द्वारा प्रोक्तं कहा गया (है)।

प्राक्स्वस्थानवदारुह्य पञ्चमादवरुह्यते॥ ६८८॥

स्थायिस्वरान्तं यत्रादः स्वस्थानं स्याद् द्वितीयकम्।

६८८ ग-६८९ ख. (अ०) यत्र जहाँ प्राक्-स्वस्थानवत् आरुह्य पिछले (पहले) स्वस्थान की तरह आरोह करके पञ्चमात् पंचम से स्थायिस्वर-अन्तं ग्रह स्वर पर अन्त करके अवरुह्यते अवरोह किया जाता है अदः यह द्वितीयकं स्वस्थानं स्यात् दूसरा स्वस्थान होता है।

प्राग्वदाषष्ठमारोहावरोही च ग्रहावधिः॥ ६८९॥

अस्यास्तृतीये स्वस्थाने,

६८९ ग-६९० क. (अ०) अस्याः इस (तोडी) के तृतीये स्वस्थाने तीसरे स्वस्थान में प्राक्-वत् पिछले (स्वस्थान) की तरह आ-षष्ठम् आरोह-अवरोही च ग्रह-अवधिः छठे (स्वर) तक आरोह और ग्रह तक अवरोह (होता है)।

चतुर्थे त्वष्टमावधौ।
आरोहिण्यवरोही स्यात् पूर्ववत् तद्विदां मतः॥ ६९०॥

मुद्रितस्तु ग्रहः प्रोक्तो लक्ष्ये स्याल्लक्ष्मवेदिभिः।

इति तोडी

६९० ख-६९१ ख. (अ०) तत् विदाम् उस (स्वस्थान) को जानने वालों का मतः मत (है कि) चतुर्थे स्वस्थाने तु चौथे स्वस्थान में तो अष्टम-अवधौ आठवें (स्वर) तक आरोहिणि आरोही में (और) अवरोही अवरोही पूर्ववत् स्यात् पहले की तरह होता है। लक्ष्मवेदिभिः लक्ष्य के वेत्ताओं के द्वारा लक्ष्ये लक्ष्य में मुद्रितः तु मुद्रित (स्वर) तो ग्रहः ग्रह प्रोक्तः स्यात् कहा गया है।

तोडी समाप्त

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(बङ्गालः)

मध्यमं ग्रहमास्थाय प्राञ्चं प्रोच्य ततो ग्रहम्॥ ६९१ ॥

सद्वितीयं कम्पयित्वा तृतीयं सचतुर्थकम्।
लघूकृत्य तृतीयं चोच्चार्याहत्य च तं ततः॥ ६९२॥

प्राचीनं स्वरमुच्चार्य स्थायिनि न्यस्यते यदा।
भवेद् बङ्गालरागस्य स्वस्थानं प्रथमं तदा॥ ६९३॥

४—बंगाल

६९१ ग-६९३. (अ०) मध्यमं ग्रहम् आस्थाय मध्यम (स्वर) को ग्रह स्थिर करके प्राञ्चं प्रोच्य (उससे) पहले वाले (गान्धार) को कह कर (बजा कर) ततः ग्रहम् उसके बाद ग्रह सद्वितीयं कम्पयित्वा दूसरे (स्वर) सहित कम्पित करके, तृतीयं सचतुर्थकं तीसरा चौथे सहित लघूकृत्य छोटा करके (जल्दी बजा कर) तृतीयं च उच्चार्य और तीसरा बजा कर ततः तं फिर उसे आहत्य च आघातयुक्त करके, प्राचीनं स्वरं पिछले स्वर को उच्चार्य लगा कर यदा जब स्थायिनि स्थायी पर न्यस्यते न्यास किया जाता है तदा तब बङ्गालरागस्य बंगाल राग का प्रथमं स्वस्थानं भवेत् पहला स्वस्थान होता है।

आरोही पञ्चमान्तः स्यात् स्वस्थानेऽस्य द्वितीयके।
सप्तमान्तस्तृतीये स्यात् तुर्ये स्यादष्टमावधिः॥ ६९४॥

प्राक्प्राग्वदवरोही स्यात् स्वस्थाने तूत्तरोत्तरम्।

६९४-६९५ ख. (अ०) अस्य इसके द्वितीयके स्वस्थाने दूसरे स्वस्थान में पञ्चम-अन्तः पाँचवें (स्वर) तक आरोही स्यात् आरोह होता है, तृतीये तीसरे में सप्तम-अन्तः सातवें तक स्यात् (आरोह) होता है (और) तुर्ये चौथे में अष्टम-अवधिः आठवें तक स्यात् होता है। उत्तर-उत्तरं स्वस्थाने तु बाद-बाद वाले स्वस्थान में तो प्राक्-वत् पहले की तरह अवरोही स्यात् अवरोह होता है।

लक्ष्ये तु सर्ववंशस्थो द्वितीयोऽस्य ग्रहो मतः॥ ६९५॥

इति बङ्गालः

६९५ ग-घ. (अ०) लक्ष्ये तु लक्ष्य में तो सर्ववंशस्थः सारे वंशों में स्थित द्वितीयः दूसरा (स्वर) अस्य इसका ग्रहः मतः ग्रह माना गया (है)।

(सर०) बंगाल में पूर्वोक्त रागों की तरह सारे मुद्रित रन्ध्रों से उत्पन्न स्वर ग्रह नहीं होता बल्कि दूसरा स्वर ग्रह होता है। कल्लि० ने याद दिलाया कि अन्तिम दो रन्ध्रों को खुला रखने पर दूसरा स्वर उत्पन्न होता है, यह पहले कहा जा चुका है। आगे भी भैरव आदि रागों में दूसरे स्वर को स्थायी कहा जाने वाला है वहाँ भी दो छेद खुले रखने से उत्पन्न स्वर को स्थायी बनाना अपेक्षित है।

बंगाल समाप्त

(भैरवः)

धैवतं स्थायिनं कृत्वा प्राञ्चं तं च तृतीयकम्।
पुनः प्राञ्चं विधायाथ कम्पयित्वा तृतीयकम्॥ ६९६॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

विलम्ब्य चाहतं कृत्वा द्वित्रिवारं द्वितीयकम्।
ग्रहे न्यासाद् भैरवस्य स्वस्थानं प्रथमं भवेत्॥ ६९७॥

५—भैरव

६९६-६९७. (अ०) **धैवतं स्थायिनं कृत्वा** धैवत को स्थायी करके, **प्राञ्चम्** उससे पहले वाले को, **तं तृतीयकं च** उसको और तीसरे को, **पुनः प्राञ्चं विधाय** फिर से पहले वाले (स्वर) को लगाकर **अथ** इसके बाद **तृतीयकं कम्पयित्वा** तीसरे को कंपित करके **विलम्ब्य च** और लंबा करके **आहतं कृत्वा** (तथा) आघातयुक्त करके **द्वितीयकं** दूसरे को **द्वि-त्रिवारं** दो-तीन बार (बजा कर) **ग्रहे न्यासात्** ग्रह पर न्यास (करने) से **भैरवस्य** भैरव का **प्रथमं स्वस्थानं** पहला स्वस्थान **भवेत्** होता है।

(सर०) रागाध्याय में कहे गये भैरव के लक्षण के अनुसार इसमें रि-प वर्जित हैं। इसलिये ध ग्रह होने पर उससे पहले वाला कहने का आशय मध्यम के ग्रहण से है। इसी तरह चौथा कहने से ध से चौथे रि को छोड़कर उससे अगले गान्धार का ग्रहण करना चाहिये। सातवें से पंचम का ग्रहण नहीं होगा, यह समझा जा सकता है।

द्वितीये पञ्चमान्तः स्यादारोहोऽथ तृतीयके।
षष्ठान्तः सप्तमान्तो वा चतुर्थे त्वष्टमावधिः॥ ६९८॥

परे परेऽवरोही स्यात् स्वस्थाने पूर्वपूर्ववत्।

६९८-६९९ ख. (अ०) **अथ** अब **द्वितीये** दूसरे (स्वस्थान) में **पञ्चम-अन्तः** पाँचवें (स्वर) तक, **तृतीयके** तीसरे में **षष्ठ-अन्तः सप्तम-अन्तः वा** छठे तक या सातवें (और) **चतुर्थे तु** चौथे में तो **अष्टम-अवधिः** आठवें (स्वर) तक **आरोहः स्यात्** आरोह होता है। **परे परे स्वस्थाने** बाद-बाद वाले स्वस्थान में **पूर्व-पूर्ववत्** पहले-पहले (स्वस्थान) की तरह **अवरोही स्यात्** अवरोह होता है।

द्वितीयोऽत्र स्वरः स्थायी सर्ववंशेषु दृश्यते॥ ६९९॥

इति भैरवः

६९९ ग-घ. (अ०) **अत्र** इस (राग) में **सर्ववंशेषु** सारे वंशों में **द्वितीयः स्वरः** दूसरा स्वर **स्थायी दृश्यते** स्थायी दिखाई देता है।

भैरव समाप्त

(वराटी)

स्थायिनं द्विगुणं षड्जं कृत्वार्धं वादयेत् ततः।
पूर्वं ग्रहं द्वितीयं च तृतीयमथ वादयेत्॥ ७००॥

अथ द्वितीयमागत्य न्यस्यते स्थायिनि स्वरे।
यदा वराट्याः स्वस्थानं प्रथमं जायते तदा॥ ७०१॥

६—वराटी

७००-७०१. (अ०) **द्विगुणं षड्जं** दुगने षड्ज को **स्थायिनं कृत्वा** स्थायी करके **ततः** उसके बाद **अर्धम्** (उसके) आधे को **वादयेत्** बजाना चाहिये। **पूर्वं** (फिर स्थायी से) पहले वाले को, **ग्रहं** ग्रह को, **अथ** फिर **द्वितीयं तृतीयं च** दूसरे और तीसरे को **वादयेत्** बजाना चाहिये। **अथ** इसके बाद **द्वितीयम् आगत्य** दूसरे (स्वर) पर आकर **यदा** जब **स्थायिनि स्वरे** स्थायी स्वर

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

पर न्यस्यते न्यास किया जाता है तदा तब वराट्याः वराटी का प्रथमं स्वस्थानं पहला स्वस्थान जायते उत्पन्न होता है।

(सर०) कल्लि० के अनुसार दुगना षड्ज यानी मध्य या तार स्थान का षड्ज समझना चाहिये क्योंकि वे अपने पूर्ववर्ती से दुगने होते हैं। तात्पर्य यह है कि मन्द्र की अपेक्षा मध्य और उसकी अपेक्षा तारषड्ज दुगना होता है इसलिये मध्य और तार में से किसी को भी स्थायी बना सकते हैं। लेकिन इस राग में जो स्वरक्रम कहा है उसके अनुसार, तार षड्ज को स्थायी बनाने पर, राग तारप्रधान हो जायगा, यह ध्यान देने की बात है क्योंकि प्रथम स्वस्थान का स्वर क्रम यह बनेगा—

स म नि सं रिं गं रिं सं

अर्धं का अर्थ स्थायी से चौथा (द्व्यर्ध) स्वर कल्लि० ने कहा है। सिंह ने 'ततः' के स्थान पर ततं पाठ के आधार पर यह अर्थ किया है—उसे अर्धस्वर करके 'ततम्' अर्थात् विस्तार से बजाना चाहिये।

इह भैरववत् कार्यं स्वस्थानत्रितयं परम्।
स्वस्थानप्रक्रियैवैष ज्ञेया रागान्तरेष्वपि॥ ७०२॥

७०२. (अ०) इह इसमें परं स्वस्थानत्रितयं बाद वाले तीन स्वस्थान भैरववत् कार्यं भैरव की तरह करने चाहियें। एष एव यही स्वस्थानप्रक्रिया स्वस्थानों की प्रक्रिया रागान्तरेषु अपि दूसरे रागों में भी ज्ञेया जाननी चाहिये।

(सर०) यहाँ से आगे सभी रागों के दूसरे, तीसरे और चौथे स्वस्थानों में भैरव की तरह यानी दूसरे में पाँचवें स्वर तक, तीसरे में छठे या सातवें तक और चौथे में आठवें तक प्रयोग करना चाहिये, यह निर्देश है। दूसरे स्वस्थान में पाँचवें को सीमा कहने का कारण संभवतः यह है कि उन रागों में पाँचवें के बिना राग का रूप व्यक्त नहीं होता या चौथा स्वर वर्जित हो।

द्वितीयोऽस्याः स्वरो लक्ष्ये ग्रहत्वेनोपलक्ष्यते।

इति वराटी

७०३ क-ख. (अ०) लक्ष्ये लक्ष्य में द्वितीयः स्वरः (वंश का) दूसरा स्वर अस्याः ग्रहत्वेन इसके ग्रह के रूप से उपलक्ष्यते दिखाई देता है।

वराटी समाप्त

(गुर्जरी)

ऋषभे स्थायिनि प्राञ्चं कम्पयित्वार्धमस्य च॥ ७०३॥

कृत्वा ग्रहं द्वितीयं च तृतीयं तदधः स्वरम्।
ग्रहमेत्य ततः प्राञ्चं प्रकम्प्योक्त्वार्धमस्य च॥ ७०४॥

ग्रहे न्यासेन गुर्जयाः स्वस्थानं प्रथमं भवेत्।

७—गुर्जरी

७०३ ग-७०५ ख. (अ०) ऋषभे स्थायिनि ऋषभ स्थायी होने पर प्राञ्चम् उससे पहले वाला कम्पयित्वा कम्पित करके अस्य अर्धं च कृत्वा इस (ग्रह) का अर्ध (चौथा स्वर) लगा कर ग्रहं ग्रह, द्वितीयं तृतीयं दूसरा, तीसरा ततः अधःस्वरं च और उससे नीचे वाला (लगा कर), ग्रहम् एत्य ग्रह को लगा कर, ततः उसके बाद प्राञ्चं प्रकम्प्य (उससे) पहले वाले को कम्पित करके अस्य अर्धं च उक्त्वा और इस (ग्रह) का अर्ध (चौथा) कह कर (बजा कर) ग्रहे न्यासेन ग्रह पर न्यास से गुर्जयाः गुर्जरी का प्रथमं स्वस्थानं भवेत् पहला स्वस्थान होता है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

तृतीयो दृश्यते प्रायो ग्रहोऽस्यां लक्ष्यगोचरे॥ ७०५॥

इति गुर्जरी

७०५ ग-घ. (अ०) अस्यां लक्ष्यगोचरे इसके लक्ष्य में प्रायः अधिकतर तृतीयः (वंश का) तीसरा (स्वर) ग्रहः दृश्यते ग्रह दिखाई देता है।

(सर०) तीसरा स्वर यानी वंश के मुद्रित स्वर से तीसरा समझना चाहिये जो अन्तिम तीन छेदों को खुला रखने पर उत्पन्न होता है। आगे वसन्त आदि रागों में भी ऐसा ही समझना चाहिये, ऐसा कल्लि० ने स्पष्ट किया।

गुर्जरी समाप्त

(वसन्तः)

षड्जे ग्रहे द्वितीयं च तृतीयं सकृदाहतम्।
वेगात् कृत्वाथ तुर्यं च तृतीयं तदधस्तनम्॥ ७०६॥

उक्त्वा तृतीयतुर्यौ च तृतीयं तदधस्तनम्।
ग्रहे न्यासो वसन्तस्य स्वस्थाने प्रथमे भवेत्॥ ७०७॥

तृतीयस्त्वस्य वंशेषु स्थायित्वेनोपलभ्यते।

इति वसन्तः

८—वसन्त

७०६-७०८ ख. (अ०) षड्जे ग्रहे षड्ज ग्रह होने पर द्वितीयं तृतीयं च दूसरा और तीसरा सकृत् एक बार वेगात् आहतं कृत्वा वेग से आघातयुक्त करके, अथ इसके बाद तुर्यं चौथा, तृतीयं तीसरा तत् अधःतनं च और उससे नीचे वाला उक्त्वा लगा कर तृतीयतुर्यौ तीसरा और चौथा, तृतीयं तीसरा तत् अधःतनं च और उससे नीचे वाला (लगा कर) वसन्तस्य वसन्त के प्रथमे स्वस्थाने पहले स्वस्थान में ग्रहे ग्रह पर न्यासः भवेत् न्यास होता है। वंशेषु वंशों में तृतीयः तु तीसरा (स्वर) तो अस्य स्थायित्वेन इसके स्थायी के रूप से उपलभ्यते प्राप्त होता है।

वसन्त समाप्त

(धन्नासी)

स्थायिनि द्विगुणे षड्जे तदर्धं लघु वादयेत्॥ ७०८॥

ततस्तत्सकृदाहत्य ग्रहं तस्मात् तृतीयकम्।
तुर्यं चोक्त्वा तृतीयं च सकृदाहत्य तत्परम्॥ ७०९॥

द्रुतं कृत्वा पञ्चमं तु विलम्ब्यास्मादधस्तनौ।
लघूकृत्य ग्रहे न्यासः स्वस्थाने प्रथमे भवेत्॥ ७१०॥

धन्नास्या दृश्यते वंशे स्याद् द्वितीयस्वरो ग्रहः।

इति धन्नासी

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

९—धन्नासी

७०८ ग-७११ ख. (अ०) द्विगुणे षड्जे स्थायिनि दुगना षड्ज स्थायी होने पर तत् अर्धम् उसका आधा (अर्थात् चौथा स्वर) लघु वादयेत् जल्दी बजाना चाहिये। ततः उसके बाद तत् वह सकृत् आहत्य एक बार आघातयुक्त करके, ग्रहं ग्रह, तस्मात् उससे तृतीयकं तुर्यं च उक्त्वा तीसरा और चौथा लगाकर तृतीयं च और तीसरा सकृत् आहत्य एक बार आघातयुक्त करके तत् परम् उसके बाद वाला (चौथा) द्रुतं कृत्वा द्रुत करके पञ्चमं तु विलम्ब्य पाँचवाँ तो लम्बा करके, अस्मात् अधःतनौ इससे नीचे के दो (चौथा और तीसरा) लघू कृत्य छोटा करके (वेग से लगा कर) धन्नास्याः धन्नासी के प्रथमे स्वस्थाने पहले स्वस्थान में ग्रहे ग्रह पर न्यासः भवेत् न्यास होता है। वंशे वंश में द्वितीयः स्वरः दूसरा स्वर ग्रहः ग्रह दृश्यते स्यात् दिखाई देता है।

(सर०) रागाध्याय के लक्षण के अनुसार (श्लो० १०० क) धन्नासी में रि-प वर्जित हैं।

धन्नासी समाप्त

(देशी)

तमेव स्थायिनं कृत्वा द्वितीयं वादयेद् द्रुतम्॥ ७११॥

लघू ग्रहद्वितीयौ च कृत्वा ताभ्यां परं स्वरम्।
विलम्ब्य स्फुरितं तु द्विर्विदध्यात् पञ्चमं ततः॥ ७१२॥

अधरांस्त्रीन् क्रमादुक्त्वा स्थायिनि न्यस्यते यदा।
देश्यास्तदाद्यं स्वस्थानं द्वितीयोऽस्या ग्रहो जने॥ ७१३॥

इति देशी

१०—देशी

७११ ग-७१३. (अ०) तम् एव उसी (दुगने षड्ज़) को स्थायिनं कृत्वा स्थायी करके, द्वितीयं द्रुतं वादयेत् दूसरा द्रुत बजाना चाहिये। ग्रहद्वितीयौ च ग्रह और दूसरे को भी लघू कृत्वा छोटा करके (वेग से बजा कर) ताभ्यां परं स्वरम् उनके बाद वाले स्वर को विलम्ब्य लंबा करके, ततः उसके बाद पञ्चमं तु पाँचवाँ तो स्फुरितं स्फुरित गमकयुक्त द्विः विदध्यात् दो बार धारण करना (बजाना) चाहिये। अधरान् त्रीन् (फिर) नीचे के तीन क्रमात् उक्त्वा क्रम से कहकर (बजा कर) यदा जब स्थायिनि स्थायी पर न्यस्यते न्यास होता है तत् वह देश्याः देशी का आद्यं स्वस्थानं पहला स्वस्थान (होता है)। जने वादकों में द्वितीयः दूसरा (स्वर) अस्याः इसका ग्रहः ग्रह (दिखाई देता है)।

(सर०) रागाध्याय (श्लो० १०२ घ) में देशी में पंचम वर्जित कहा है।

देशी समाप्त

(देशाख्या)

गान्धारे स्थायिनि प्रोच्य द्वितीयं च तृतीयकम्।
तुर्यं विलम्ब्य तत्प्राञ्चं कृत्वा स्पृष्ट्वा द्वितीयकम्॥ ७१४॥

दीर्घीकृत्य तृतीयं चोक्त्वा द्वितीयं ग्रहस्वरे।
न्यासो यदा स्यात् स्वस्थानं देशाख्यायास्तदादिमम्॥ ७१५॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

मुद्रितोऽस्या ग्रहो वंशे लक्ष्यते लक्ष्यवेदिभिः।

इति देशाख्या

इति रागाङ्गाणि

११—देशाख्या

७१४-७१६ ख. (अ०) स्थायिनि गान्धारे स्थायी गान्धार होने पर द्वितीयं तृतीयकं च प्रोच्य दूसरा और तीसरा कह कर (लगा कर) तुर्यं विलम्ब्य चौथा लम्बा करके, तत् प्राञ्चं कृत्वा उससे पहले वाला बजा कर, द्वितीयकं स्पृष्ट्वा दूसरा छूकर, तृतीयं दीर्घीकृत्य तीसरा लम्बा करके द्वितीयं च उक्त्वा और दूसरा लगा कर यदा जब ग्रहस्वरे ग्रह स्वर पर न्यासः न्यास (किया जाय) तत् वह देशाख्यायाः देशाख्या का आदिमं स्वस्थानं स्यात् पहला स्वस्थान होता है। लक्ष्यवेदिभिः लक्ष्य के वेत्ताओं के द्वारा वंशे वंश में मुद्रितः मुद्रित (स्वर) अस्याः ग्रहः इसका ग्रह लक्ष्यते लक्षित होता है।

देशाख्या समाप्त

रागांग समाप्त

(भाषाङ्गाणि)

(डोम्बक्रीः)

ग्रहं द्विगुणसं कृत्वा पूर्वं स्पृष्ट्वा तृतीयकम्॥ ७१६॥

कृत्वा स्पृष्ट्वा ग्रहं प्रोच्य तत्परं स्फुरितो वदेत्।
द्विस्त्रिर्वा ग्रहतत्पूर्वौ न्यस्यते कम्पिते ग्रहे॥ ७१७॥

यदा डोम्बक्रियः प्रोक्तं स्वस्थानं प्रथमं तदा।
सा भूपाली श्रुता लोके द्वितीयं ग्रहमाश्रिता॥ ७१८॥

इति डोम्बक्रीः

भाषांग

१—डोम्बक्री

७१६ ग-७१८. (अ०) द्विगुण-सं दुगने स को ग्रहं कृत्वा ग्रह बनाकर, पूर्वं स्पृष्ट्वा (उससे) पहले वाले को छूकर, तृतीयकं कृत्वा तीसरे को (प्रयुक्त) करके, ग्रहं स्पृष्ट्वा ग्रह को छूकर, तत् परम् प्रोच्य उससे बाद वाले को कह कर (बजा कर) स्फुरितः वदेत् स्फुरित गमकयुक्त बोलना (लगाना) चाहिये। ग्रहतत्-पूर्वौ ग्रह और उससे पहले वाला द्विः त्रिः वा दो या तीन बार (बजा कर) यदा जब कम्पिते ग्रहे कम्पित ग्रह पर न्यस्यते न्यास किया जाता है तदा तब डोम्बक्रियः डोम्बक्री का प्रथमं स्वस्थानं पहला स्वस्थान प्रोक्तं कहा गया (है)। लोके लोक में सा वह भूपाली श्रुता भूपाली (नाम से) सुनी गई (अर्थात् प्रसिद्ध है)। ग्रहं ग्रह(रूप) द्वितीयं दूसरे (स्वर) के आश्रिता आश्रित (होती है)।

(सर०) रागाध्याय में डोम्बकृति भाषांग राग में ऋषभ-पंचम वर्जित है (२/१०८ ख)। इसलिये 'ग्रहं स्पृष्ट्वा' के बाद 'तत्-परं' के द्वारा रि को छोड़कर ग का ग्रहण होना चाहिये।

डोम्बक्री समाप्त

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(वेलावली)

धैवते स्थायितां नीते द्विरुच्चार्य परं लघुम्।
तं चाथ प्राञ्चमस्यार्धं पूर्वं पूर्वं विधाय तम्॥ ७१९॥

विलम्ब्य कम्पयित्वार्धं तस्याहत्य च तन्मुहुः।
पूर्वं प्रकम्प्य तस्यार्धं दीर्घीकृत्य ग्रहं व्रजेत्॥ ७२०॥

अथोर्ध्वप्रेरितौ पूर्वग्रहौ कृत्वा द्वितीयकम्।
प्रोच्य स्पृष्ट्वा ग्रहं तस्मात् परं प्रोच्य प्रकम्प्य तु॥ ७२१॥

तृतीयं ग्रहपाश्चात्यग्रहौ तूच्चारयेन्मुहुः।
ततस्तृतीयमाकम्प्य विलम्ब्य तदधस्तनम्॥ ७२२॥

ईषद्विरम्य स्पृष्ट्वा च द्वितीयं न्यस्यते ग्रहे।
यदा तदाद्यं स्वस्थानं वेलावल्याः प्रकीर्तितम्॥ ७२३॥

तृतीयग्रहता त्वस्या दृश्यते वंशगोचरे।

इति वेलावली

२—वेलावली

७१९-७२४ ख. (अ०) धैवते स्थायितां नीते धैवत (को) स्थायी (के) रूप से ले जाने (लगाने) पर, परं बाद वाले को लघुं द्विः उच्चार्य जल्दी दो बार लगाकर तं च फिर से उस (स्थायी) को अथ प्राञ्चं और (उससे) पहले वाले को, अस्य अर्धम् इस (ग्रह) के अर्ध (चौथे) को पूर्वं पूर्वं विधाय (और) पहले-पहले का विधान करके (लगा कर), तं विलम्ब्य उस (ग्रह) को लम्बा करके, तस्य अर्धं कम्पयित्वा उसके आधे (चौथे स्वर) को कम्पित करके तं च और उसे मुहुः आहत्य बार-बार आघातयुक्त करके, पूर्वं प्रकम्प्य (उससे) पहले वाले को कम्पित करके तस्य अर्धम् (और) उसके आधे (चौथे) को दीर्घीकृत्य लम्बा करके ग्रहं व्रजेत् ग्रह पर जाना चाहिये। अथ इसके बाद पूर्वग्रहौ पूर्व (स्वर) और ग्रह ऊर्ध्वप्रेरितौ कृत्वा ऊपर की ओर प्रेरित करके (बजाये हुए), द्वितीयकं प्रोच्य दूसरे को बजाकर, ग्रहं स्पृष्ट्वा ग्रह को छूकर, तस्मात् परं प्रोच्य उससे बाद वाले को बजा कर, तृतीयं तु तीसरा तो प्रकम्प्य कम्पित करके, ग्रहपाश्चात्यग्रहौ तु ग्रह से पिछला और ग्रह तो मुहुः उच्चारयेत् बार-बार बजाना चाहिये। ततः उसके बाद तृतीयम् आकम्प्य तीसरा कम्पित करके, तत् अधः तनं विलम्ब्य उससे नीचे वाला विलम्बित करके ईषत् विरम्य थोड़ा रुक कर द्वितीयं स्पृष्ट्वा च और दूसरा छूकर यदा जब ग्रहे न्यस्यते ग्रह पर न्यास किया जाता है तत् वह वेलावल्याः वेलावली का आद्यं स्वस्थानं पहला स्वस्थान प्रकीर्तितं कहा गया (है)। वंशगोचरे तु वंश के क्षेत्र में तो अस्याः इसकी तृतीयग्रहता तीसरे (स्वर) की ग्रहरूपता दृश्यते दिखाई देती है।

(सर०) सिंह० ने तन्मुहुः का अर्थ 'उसे फिर से आरोह से गाकर' दिया है। पूर्वग्रहौ का 'ग्रह और नीचे वाला—(ये दो स्वर)', ग्रहपाश्चात्यग्रहौ तूच्चारयेन्मुहुः का 'ग्रह या उससे नीचे का एक बार उच्चारण करना चाहिये'—इस प्रकार अर्थ किया है।

७२१ क में मुद्रित पाठ 'अथोऽर्धप्रेरितौ' है। आनन्द० में 'अथोर्धप्रेरितौ' है। आड्यार० की पादटिप्पणी में 'ऽर्ध्वं प्रेरिता मूं' पाठभेद दिया है। पहले वाले दोनों व्याकरण की दृष्टि से संगत नहीं हैं क्योंकि 'अथ' और 'अर्ध' की सन्धि होने पर 'अथोर्ध' नहीं 'अथार्ध' बनता है। लेकिन आड्यार की पादटिप्पणी के आधार पर अथोर्ध्वप्रेरितौ संगत है जिसका अर्थ है—अब ऊपर की ओर प्रेरित दो (स्वर)।

वेलावली समाप्त

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(प्रथममञ्जरी)

पञ्चमं ग्रहमास्थायरोहिणा पञ्चमं ततः॥ ७२४॥

गत्वा विलम्ब्य तं तस्मादधरं द्रुततां नयेत्।
ततोऽधस्थं द्राघयित्वा स्पृष्ट्वा च द्राघितात् परम्॥ ७२५॥

तत्परं दीर्घतां नीत्वा पुनः प्रोच्यावरोहिणा।
तस्मादेत्य ग्रहन्यासे स्वस्थानं प्रथमं भवेत्॥ ७२६॥

रागे प्रथममञ्जर्यां द्वितीयोऽस्या ग्रहो जने।

इति प्रथममञ्जरी

३—प्रथममंजरी

७२४ ग-७२७ ख. (अ०) पञ्चमं ग्रहम् आस्थाय पंचम को ग्रह स्थापित करके ततः फिर आरोहिणा आरोह से पञ्चमं गत्वा पाँचवें (स्वर) तक जाकर तं विलम्ब्य उसे लम्बा करके तस्मात् अधरम् उससे नीचे वाले को द्रुततां नयेत् द्रुतरूप को ले जाना चाहिये (जल्दी बजाना चाहिये)। ततः फिर अधस्थं (उससे) नीचे वाले को द्राघयित्वा दीर्घ (लम्बा) करके द्राघितात् परं च और लम्बे किये गये (स्वर) के बाद वाले (स्वर) को स्पृष्ट्वा छूकर तत् परम् उसके बाद वाले को दीर्घतां नीत्वा लम्बा लगा कर पुनः प्रोच्य फिर से लगा कर, तस्मात् वहाँ से अवरोहिणा एत्य अवरोह द्वारा जाकर (अवरोह करते हुए) ग्रहन्यासे ग्रह पर न्यास होने पर प्रथममञ्जर्यां रागे प्रथममंजरी राग में प्रथमं स्वस्थानं भवेत् पहला स्वस्थान होता है। जने वादकों में अस्याः ग्रहः इसका ग्रह द्वितीयः (वंश का) दूसरा (स्वर होता है)।

प्रथममंजरी समाप्त

(आडिकामोदी)

स्थायिनो धात् समारुह्य तृतीयादिचतुःस्वरीम्॥ ७२७॥

कम्पयित्वा विलम्ब्यापि षष्ठं तुर्यं विधाय च।
एत्य पञ्चममेतस्माद् ग्रहान्तमवरुह्य च॥ ७२८॥

ग्रहार्धं ग्रहपूर्वं च गत्वा स्पृष्ट्वा ग्रहं ततः।
द्वितीयं कम्पितं कृत्वा तृतीयं स्फुरितं ततः॥ ७२९॥

स्थायिनि न्यस्यते यत्र स्वस्थानं स्यात् तदादिमम्।
आडिकामोदिकायाः स्याद् द्वितीयग्रहता जने॥ ७३०॥

इत्याडिकामोदी

४—आडिकामोदी

७२७ ग-७३०. (अ०) स्थायिनो धात् स्थायी ध से तृतीय-आदिचतुःस्वरीं समारुह्य तीसरे से शुरू करके चार स्वरों तक चढ़ कर षष्ठं कम्पयित्वा छठे को कंपित करके विलम्ब्य अपि लंबा भी करके तुर्यं विधाय च और चौथे को लगा कर, पञ्चमम् एत्य पंचम पर जाकर एतस्मात् उससे ग्रह-अन्तम् अवरुह्य च ग्रह तक अवरोह भी करके, ग्रह-अर्धं ग्रह का आधा

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(चौथा) ग्रहपूर्वं च गत्वा फिर ग्रह से पहले वाले पर जाकर, ततः तब ग्रहं स्पृष्ट्वा ग्रह को छूकर, द्वितीयं कम्पितं कृत्वा दूसरे (स्वर) को कंपित करके ततः उसके बाद तृतीयं स्फुरितं तीसरा स्फुरित गमकयुक्त (करके) यत्र जहाँ स्थायिनि न्यस्यते स्थायी पर न्यास किया जाता है तत् वह आडिकामोदिकायाः आडिकामोदिका का आदिमं स्वस्थानं स्यात् पहला स्वस्थान होता है। जने वादकों में द्वितीयग्रहता स्यात् (वंश के) दूसरे स्वर की ग्रहता होती है।

(सर०) आड्० और आनन्द० दोनों में 'स्थायिनोऽर्धात्' पाठ है। लेकिन इस पाठ के आधार पर इस राग का स्थायी स्वर क्या है इसका पता नहीं चलता। सिंह० ने धैवत स्थायी कहा है। रागा० (श्लो० ११७ ख) में भी धैवत ग्रह दिया है। इसी आधार पर हमने स्थायिनो धात् पाठ रखा है।

इसी तरह 'षष्ठतुर्यं' के बजाय सिंह० की व्याख्या और पाद-टिप्पणी में दिये गये षष्ठं तुर्यं का ग्रहण किया है क्योंकि समासयुक्त 'षष्ठतुर्यं' से सही अन्वय न होने से अभिप्रेत अर्थ प्राप्त नहीं होता। सिंह० ने षष्ठं का अन्वय इससे पहले वाले अंश विलम्ब्यापि से और तुर्यं का विधाय च के साथ किया है।

इस राग का नाम रागा० में आडिकामोदिका है इस आधार पर हमने यही नाम रखा है। आनन्द० में भी आडीकामोदी और आडीकामोदिका नाम हैं।

आडिकामोदिका समाप्त

(शुद्धवराटी)

स्थायिनि द्विगुणे षड्जे द्विराहत्य तृतीयकम्।
त्रिश्चतुर्वा ततः स्पृष्ट्वा ग्रहं पूर्वमुदीर्य च॥ ७३१ ॥

कम्पिते स्थायिनि न्यासात् स्वस्थानं प्रथमं भवेत्।
रागे शुद्धवराट्यां सा द्वितीयस्थायिका जने॥ ७३२ ॥

इति शुद्धवराटी

५—शुद्धवराटी

७३१-७३२. (अ०) द्विगुणे षड्जे स्थायिनि दुगने षड्ज के न्यास होने पर तृतीयकं द्विः आहत्य तीसरा दो बार आघातयुक्त करके, ततः उसके बाद ग्रहं ग्रह को त्रिः चतुः वा स्पृष्ट्वा तीन या चार बार छूकर पूर्वम् उदीर्य च और पहले वाले को कह कर (बजा कर) कम्पिते स्थायिनि कंपित स्थायी (स्वर) पर न्यासात् न्यास (करने) से शुद्धवराट्यां रागे शुद्धवराटी राग में प्रथमं स्वस्थानं भवेत् पहला स्वस्थान होता है। जने वादकों में सा वह द्वितीयस्थायिका (वंश में) दूसरे स्थायी (स्वर) वाली (होती है)।

शुद्धवराटी समाप्त

(शुद्धनट्टा)

तमेव स्थायिनं कृत्वा तं तदर्धं द्विराहतम्।
द्विस्त्रिर्वोक्त्वाथ द्वितीयं कम्पयित्वा विलम्ब्य च॥ ७३३ ॥

आहत्य द्विश्चतुर्वास्मात् परं कृत्वा लघुं ग्रहम्।
उक्त्वा ग्रहार्धं पूर्वं तु दीर्घीकृत्य ग्रहे यदा॥ ७३४॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

न्यस्यते शुद्धनट्टायाः स्वस्थानं प्रथमं तदा।
वंशेष्वस्यामपि प्रायो द्वितीयो दृश्यते ग्रहः॥ ७३५॥

इति शुद्धनट्टा

इति भाषाङ्गाणि

६—शुद्धनट्टा

७३३-७३५. (अ०) तम् एव उसी को (दुगने षड्ज को) स्थायिनं कृत्वा स्थायी करके, तं तत् अर्धम् उसे (और) उसके आधे (स्थायी से चौथे स्वर) को द्विः आहतं दो बार आघातयुक्त किया हुआ (करके) द्विः त्रिः वा उक्त्वा दो या तीन बार बजा कर, अथ इसके बाद द्वितीयं कम्पयित्वा दूसरे को कंपित करके विलम्ब्य च और लम्बा करके अस्मात् परम् इससे बाद वाले को द्विः चतुः वा दो या चार बार आहत्य आघातयुक्त करके, ग्रहं लघुं कृत्वा ग्रह को छोटा करके (जल्दी बजा कर), ग्रह-अर्धपूर्वं तु ग्रह का आधा (चौथा और उससे) पहले वाला तो उक्त्वा बजा कर यदा जब दीर्घीकृत्य ग्रहे लंबे किये हुए ग्रह पर न्यस्यते न्यास किया जाता है तदा तब शुद्धनट्टायाः शुद्धनट्टा का प्रथमं स्वस्थानं पहला स्वस्थान (होता है)। वंशेषु वंशों में अस्याम् अपि इसमें भी प्रायः बहुधा द्वितीयः दूसरा (स्वर) ग्रहः दृश्यते ग्रह दिखाई देता है।

(सर०) 'उक्त्वा ग्रहार्धपूर्वं तु' का अर्थ सिंह० ने 'ग्रह से पूर्व अर्ध के उच्चारण के बाद' दिया है। इसका आशय स्पष्ट नहीं है।

शुद्धनट्टा समाप्त

भाषांग समाप्त

(क्रियाङ्गाणि)

(रामकृतिः)

ग्रहं द्विगुणसं प्रोच्य तदर्धं च द्वितीयकम्।
विलम्बिते तृतीयेऽथ द्वितीयं द्रुततां नयेत्॥ ७३६॥

ग्रहार्धे च स्थिरीभूय कम्पयित्वा ग्रहं ततः।
परौ स्वरौ द्रुतीकृत्य लघूकृत्य परं ग्रहे॥ ७३७॥

न्यासे कृते रामकृतेः स्वस्थानं प्रथमं भवेत्।
द्वितीयस्वरमेवास्या वंशे वीक्षामहे ग्रहम्॥ ७३८॥

इति रामकृतिः

क्रियांग

१—रामकृति

७३६-७३८. (अ०) द्विगुणसं दुगने स को ग्रहं प्रोच्य ग्रह कह कर (योजित करके), तत् अर्धम् उसके अर्ध (चौथे) द्वितीयकं च और दूसरे को (बजा कर), तृतीये विलम्बिते तीसरे के विलंबित होने पर अथ इसके बाद द्वितीयं दूसरे को द्रुततां नयेत् शीघ्रता को ले जाना चाहिये (जल्दी बजाना चाहिये) ग्रह-अर्धे च और ग्रह के अर्ध (चौथे) पर स्थिरीभूय स्थिर होकर, ग्रहं कम्पयित्वा ग्रह को कंपित करके, ततः उसके बाद परौ स्वरौ बाद वाले दो स्वर द्रुतीकृत्य द्रुत करके (जल्दी बजा कर)

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

परं लघूकृत्य बाद वाले (चौथे) को लघु करके, ग्रहे ग्रह पर न्यासे कृते न्यास किये जाने पर रामकृतेः रामकृति का प्रथमं स्वस्थानं पहला स्वस्थान भवेत् होता है। वंशे वंश में द्वितीयस्वरम् एव दूसरा स्वर ही अस्याः ग्रहम् इसका ग्रह वीक्षामहे (हम) देखते हैं।

रामकृति समाप्त

(गौडकृतिः)

तस्मिन्नेव ग्रहे कृत्वा द्वितीयं च तृतीयकम्।
ग्रहार्धं द्रुतमुच्चार्य स्पृष्ट्वा पूर्वं ग्रहस्य च॥ ७३९॥

अर्धं प्रोच्य विरम्याथ पूर्वं स्पृष्ट्वा तृतीयकम्।
लघूकृत्य लघोः पूर्वौ स्पृष्ट्वाथ स्थायिनः परौ॥ ७४०॥

लघूकृत्य द्रुतं कृत्वा द्वितीयं न्यस्यते ग्रहे।
यदा तदा गौडकृतेर्भवेत् स्वस्थानमादिमम्॥ ७४१॥

द्वितीयोऽस्यामपि प्रायो ग्रहो लक्ष्येषु दृश्यते।

इति गौडकृतिः

२—गौडकृति

७३९-७४२ ख. (अ०) तस्मिन् एव उसी (दुगने स) पर ग्रहे कृत्वा ग्रह करके द्वितीयं तृतीयकं च दूसरे और तीसरे को (बजा कर), ग्रह-अर्धं ग्रह के अर्ध (चौथे) को द्रुतम् उच्चार्य शीघ्र बजा कर, पूर्वं स्पृष्ट्वा (उससे) पहले वाले को छूकर ग्रहस्य अर्धं च प्रोच्य और ग्रह के आधे को कह कर (बजा कर) विरम्य रुक कर अथ फिर पूर्वं स्पृष्ट्वा (उससे) पहले वाले को छूकर, तृतीयकं तीसरे को लघूकृत्य जल्दी करके, लघोः पूर्वौ लघु (किये हुए तीसरे) के पहले के दो (स्वर) स्पृष्ट्वा छूकर, अथ इसके बाद स्थायिनः परौ स्थायी के बाद वाले दो (स्वर) लघूकृत्य द्रुत करके, द्वितीयं दूसरे को द्रुतं कृत्वा द्रुत करके यदा जब ग्रहे न्यस्यते ग्रह पर न्यास किया जाता है तदा तब गौडकृतेः गौडकृति का आदिमं स्वस्थानं पहला स्वस्थान भवेत् होता है। अस्याम् अपि इसमें भी लक्ष्येषु लक्ष्यों में प्रायः बहुधा द्वितीयः दूसरा (स्वर) ग्रहः दृश्यते ग्रह दिखाई देता है।

(सर०) रागा० के लक्षण के अनुसार इसमें रि-ध वर्जित होते हैं।

गौडकृति समाप्त

(देवकृतिः)

धैवते स्थायिनि प्राञ्चं ग्रहं ग्रहतृतीयकम्॥ ७४२॥

तुर्यं कृत्वा तमाहत्य द्वितीयं कम्पयेत् ततः।
अवरुह्य तृतीयादिक्रमेण चतुरः स्वरान्॥ ७४३॥

ग्रहन्यासाद् देवकृतेराद्यं स्वस्थानमादिशेत्।
तृतीयग्रहतां त्वस्याः पश्यामो वंशगोचरे॥ ७४४॥

इति देवकृतिः

इति क्रियाङ्गाणि

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

३—देवकृति

७४२ ग-७४४. (अ०) धैवते स्थायिनि धैवत स्थायी होने पर, प्राञ्चम् (उससे) पहले वाले को, ग्रहं ग्रह को, ग्रहतृतीयकं तुर्यं कृत्वा ग्रह से तीसरा और चौथा बजा कर, तम् आहत्य उस (चौथे) को आघातयुक्त करके द्वितीयं कम्पयेत् दूसरे को कंपित करना चाहिये। ततः उसके बाद तृतीय-आदिक्रमेण तीसरे से शुरू करके चतुरः स्वरान् अवरुह्य चार स्वरों तक अवरोह करके ग्रहन्यासात् ग्रह पर न्यास (करने) से देवकृतेः देवकृति का आद्यं स्वस्थानं पहला स्वस्थान आदिशेत् निदर्शित करना (समझना) चाहिये। वंशगोचरे तु वंश में दिखाई देने वाले (लक्ष्य) में तो अस्याः इसकी तृतीयग्रहतां तीसरे (स्वर) की ग्रहता पश्यामः देखते हैं।

(सर०) देवकृति में रि-प वर्जित होते हैं। (रागा०, २/२/२९ ख)

देवकृति समाप्त

क्रियांग समाप्त

(उपाङ्गानि)

(भैरवी)

धैवतं ग्रहमास्थाय तृतीयादवरुह्य च।
स्वरत्रयं विरम्याथ ग्रहं परमथ ग्रहम्॥ ७४५॥

पूर्वं कृत्वा तमाहत्य ग्रहन्यासेन जायते।
स्वस्थानमाद्यं भैरव्यास्तृतीयोऽस्या ग्रहो जने॥ ७४६॥

इति भैरवी

उपांग

१—भैरवी

७४५-७४६. (अ०) धैवतं धैवत को ग्रहम् आस्थाय ग्रह स्थित करके तृतीयात् च और तीसरे से स्वरत्रयम् अवरुह्य तीन स्वर उतर कर (अवरोह करके) विरम्य (और) रुक कर, अथ ग्रहम् अब ग्रह को परम् (उससे) बाद वाले को, अथ ग्रहं फिर से ग्रह को पूर्वम् (और) पहले वाले को कृत्वा करके (बजा कर) तम् आहत्य उस (पूर्व स्वर) को आघातयुक्त करके ग्रहन्यासेन ग्रह पर न्यास (करने) से भैरव्याः भैरवी का आद्यं स्वस्थानं पहला स्वस्थान जायते उत्पन्न होता है। जने लोक में तृतीयः (वंश का) तीसरा (स्वर) अस्याः ग्रहः इसका ग्रह (दिखाई देता है)।

भैरवी समाप्त

(छायानट्टा)

स्थायिनि द्विगुणे षड्जेऽधस्तृतीयं विधाय च।
अधस्तनं प्रकम्प्याथ विलम्ब्य स्थायिनं ततः॥ ७४७॥

प्राचीनं लघुतां नीत्वा द्विस्त्रिर्वाहत्य तं ग्रहम्।
लघूकृत्याधरस्यार्धमास्पृश्य ग्रहपञ्चमम्॥ ७४८॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

विलम्ब्य तं द्रुतीकृत्य तृतीयस्पर्शमाचरेत्।
अथोक्त्वा पञ्चमं तं च दीर्घीकृत्याधरं मनाक् ॥ ७४९ ॥

कम्पयित्वा ग्रहन्यासाद् भवेत् स्वस्थानमादिमम्।
छायानट्टाख्यरागस्य ग्रहो वंशे तृतीयकः ॥ ७५० ॥

एतां सालगनट्टां तु भाषन्ते लक्ष्यवेदिनः।

२—छायानट्टा

७४७-७५१ ख. (अ०) **द्विगुणे षड्जे स्थायिनि** दुगना षड्ज स्थायी होने पर **अधः तृतीयं विधाय** नीचे का तीसरा योजित करके **अधःतनं प्रकम्प्य च** और (उससे) नीचे वाले को कम्पित करके, **अथ स्थायिनं विलम्ब्य** फिर स्थायी को लंबा करके, **ततः** उसके बाद **प्राचीनं** (स्थायी से) पहले वाले को **लघुतां नीत्वा** जलद लेकर **तम्** उसे **द्विः त्रिः वा आहत्य** दो या तीन बार आघातयुक्त करके, **ग्रहं लघूकृत्य** ग्रह को छोटा करके (जल्दी बजा कर) **अधरस्य अर्धम् आस्पृश्य** नीचे वाले का आधा (अर्थात् थोड़ा सा) स्पर्श करके **ग्रहपञ्चमं** ग्रह से पाँचवें को **विलम्ब्य** लंबा करके **तं द्रुतीकृत्य** (फिर) उसे द्रुत करके (द्रुत बजा कर), **तृतीयं स्पर्शम् आचरेत्** तीसरे का स्पर्श करना चाहिए। **अथ** अब **पञ्चमम् उक्त्वा** पंचम को कह कर (बजा कर) **तं च** और उसे **दीर्घीकृत्य** लंबा करके, **अधरं मनाक् कम्पयित्वा** (उससे) नीचे वाले को थोड़ा सा कंपित करके, **ग्रहन्यासात्** ग्रह पर न्यास (करने) से **छायानट्टा-आख्यरागस्य** छायानट्टा नामक राग का **आदिमं स्वस्थानं** पहला स्वस्थान **भवेत्** होता है। **वंशे** वंश में **तृतीयकः** तीसरा (स्वर) **ग्रहः** (इसका) ग्रह (दिखाई देता है)। **एतां तु** इसे तो **लक्ष्यवेदिनः** लक्ष्य के वेत्ता **सालगनट्टां भाषन्ते** सालगनट्टा कहते हैं।

(सर०) **अधरस्य अर्धम् आस्पृश्य** का अर्थ, कल्लि० के अनुसार, ग्रह षड्ज से नीचे के निषाद का अर्धस्पर्श यानी ईषत् स्पर्श ही करना चाहिये। **एतां सालगनट्टां तु** पर कल्लि० ने कहा कि तु शब्द निश्चयबोधक है यानी इसी को सालगनट्टा कहते हैं, यह आशय है। साथ ही यह भी कहा कि इसके अन्वय में भिन्नक्रम है अर्थात् 'सालगनट्टां तु' के बजाय 'एतां तु'—इस क्रम से अर्थ करना चाहिये।

अन्ये तु पञ्चमं कृत्वा स्थायिनं रिं विधाय च ॥ ७५१ ॥

मं प्रकम्प्य स्थिरीभूय पञ्चमे द्विः पमध्यमौ।
कृत्वा गमृषभार्धं च संस्पृश्यार्धं पुनर्व्रजेत् ॥ ७५२ ॥

ततो दीर्घौ रिमौ कृत्वा ग्रहे चेन्न्यस्यते तदा।
आद्यं सालगनट्टायाः स्वस्थानं तद्विदो विदुः ॥ ७५३ ॥

इति च्छायानट्टा

७५१ ग-७५३. (अ०) **अन्ये तु** दूसरे (आचार्य) तो **पञ्चमं स्थायिनं कृत्वा** पंचम को स्थायी करके **रिं विधाय च** और रि का विधान करके, **मं प्रकम्प्य** म को कंपित करके, **पञ्चमे स्थिरीभूय** पंचम पर स्थिर होकर, **प-मध्यमौ द्विः** पंचम और मध्यम दो बार **कृत्वा** बजा कर, **गं ऋषभ-अर्धं च** गान्धार और ऋषभ के आधे को **संस्पृश्य** छूकर **पुनः** फिर से **अर्धं व्रजेत्** (ऋषभ के) अर्ध को जाना (लगाना) चाहिये (ऐसा कहते हैं)। **ततः** उसके बाद **रि-मौ** रि और म **दीर्घौ कृत्वा** लंबे करके **ग्रहे न्यस्यते चेत्** यदि ग्रह पर न्यास किया जाता है **तदा तत् विदः** तब उसके (राग के) वेत्ता **सालगनट्टायाः** सालगनट्टा का **आद्यं स्वस्थानं** पहला स्वस्थान **विदुः** जानते हैं।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(सर०) रागा० में नट्टा जैसी ही छायानट्टा कही गई है (२/२/१४२ क)। नट्टा में षड्ज ग्रह होता है (वही, १२५ ग)। पंचम ग्रह वाले रूप का उल्लेख नहीं है।

कल्लि० ने गमृषभार्धं च संस्पृश्यार्धं पुनर्व्रजेत् की यह व्याख्या की है—गं यानी गान्धार को छूकर, ऋषभ को ईषत् छूकर। अर्धं पुनर्व्रजेत् में पुनः शब्द से वही ऋषभार्ध समझना चाहिये यानी ऋषभार्ध दो बार करना चाहिये।

छायानट्टा समाप्त

(चिन्धमरामक्री)

मं विधाय ग्रहं तं च द्रुतीकृत्य परं ततः।
उक्त्वा तुर्यं विलम्ब्याथ परमास्पृश्य पञ्चमम्॥ ७५४॥

विलम्ब्यातोऽवरोहेण ग्रहमेति यदा तदा।
स्वस्थानमादिमं रामकृतेर्वंशे द्वितीयकः॥ ७५५॥

ग्रहश्चिन्धमरामक्रीः सा सिद्धा लोकवर्त्मनि।

इति चिन्धमरामक्रीः

३—चिन्धमरामक्री

७५४-७५६ ख. (अ०) मं ग्रहं विधाय मध्यम को ग्रह बना कर तं च द्रुतीकृत्य और उसे द्रुत करके (जल्दी बजा कर), ततः परम् उक्त्वा उससे बाद वाला बजा कर, तुर्यं विलम्ब्य चौथे को लंबा करके, अथ अब परम् आस्पृश्य (उसके) बाद वाले को छूकर, पञ्चमं विलम्ब्य पाँचवें को लंबा करके, अतः इससे (इसके बाद) अवरोहेण अवरोह से यदा जब ग्रहम् एति (वादक) ग्रह पर आता है तदा तब रामकृतेः रामकृति का आदिमं स्वस्थानं पहला स्वस्थान (होता है)। वंशे वंश में द्वितीयकः दूसरा (स्वर) ग्रहः ग्रह (दिखाई देता है)। सा वह लोकवर्त्मनि लोक के प्रचार में चिन्धमरामक्रीः चिन्धमरामक्री (नाम से) सिद्धा सिद्ध (जानी जाती है)।

चिन्धमरामक्री समाप्त

(नाट्यरामकृतिः)

रिमेव ग्रहमाश्रित्य द्विस्त्रिर्वाहत्य गं ततः॥ ७५६॥

तं विलम्बिततां नीत्वा द्रुतीकृत्य तु मध्यमम्।
रिगौ रिदलमेतानि द्रुतीकृत्य विलम्ब्य निम्॥ ७५७॥

पुनरुच्चार्य तं कृत्वा धैवतं सकृदाहतम्।
वादयित्वा निषादं च ग्रहन्यासेन जायते॥ ७५८॥

नाट्यरामकृतेराद्यं स्वस्थानमिति तद्विदः।

४—नाट्यरामकृति

७५६ ग-७५९ ख. (अ०) रिम् एव ऋषभ को ही ग्रहम् आश्रित्य ग्रह के आश्रित करके (ग्रह बना कर) गं गान्धार को

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

द्विः त्रिः वा आहत्य दो या तीन बार आघात-युक्त करके, ततः तं फिर उसे विलम्बिततां नीत्वा विलंबितता को ले जाकर (लंबा करके), द्रुतीकृत्य तु मध्यमं मध्यम को तो द्रुत करके, रि-गौ रिदलं ऋषभ और गान्धार (तथा) ऋषभ का दल (अर्ध) एतानि द्रुतीकृत्य ये द्रुत बना कर (जल्दी बजा कर), निं विलम्ब्य निषाद को विलंबित करके, तं पुनः उच्चार्य उसे फिर से उच्चार कर (बजा कर), धैवतं धैवत को सकृत् आहतं कृत्वा एक बार आघातयुक्त करके निषादं वादयित्वा च और निषाद को बजा कर ग्रहन्यासेन ग्रह पर न्यास (करने) से नाट्यरामकृतेः नाट्यरामकृति का आद्यं स्वस्थानं पहला स्वस्थान जायते उत्पन्न होता है इति ऐसा तत् विदः उसके (राग के) वेत्ता (जानते हैं)।

(सर०) आनन्द० और आड्० संस्करणों में 'मं ततः' पाठ है। सिंह० ने इस अंश की व्याख्या में गान्धार का ग्रहण किया है। आड्० की पादटिप्पणी में गं पाठ है। श्लोक में अगली पंक्ति में द्रुतीकृत्य तु मध्यमं में तु से 'मध्यम को तो द्रुत करके'— यह भी इस मध्यम से पहले प्रयुक्त स्वर से इसकी भिन्नता का सूचक है। सिंह० की व्याख्या, पाठ भेद और 'मध्यमं तु' के आधार पर यहाँ गं ही उचित है।

अथवा मध्यमं कृत्वा ग्रहमाहत्य पञ्चमम्॥ ७५९॥
द्विस्त्रिर्वाप्यवरोहेण धात्क्रमादृषभं द्रुतम्।

एत्यार्धं तस्य षड्जं च रेरर्धं वादयेत् पुनः॥ ७६०॥
अथोच्चार्य रिमौ पं तु विलम्ब्य न्यस्यते ग्रहे।

यत्र स्वस्थानमाद्यं तन्नाट्यरामकृतेर्मतम्॥ ७६१॥

इति नाट्यरामकृतिः

७५९ ग-७६१. (अ०) अथवा या (अन्य मत से) मध्यमं मध्यम को ग्रहं कृत्वा ग्रह बना कर, पञ्चमं पंचम को द्विः त्रिः वा आहत्य दो या तीन बार आहत करके, धात् धैवत से क्रमात् क्रम से ऋषभं ऋषभ तक द्रुतम् एत्य जल्दी पहुँच कर, तस्य षड्जं च अर्धम् उस ऋषभ के और षड्ज के अर्ध को, पुनः फिर से रेः अर्धं ऋषभ के आधे को वादयेत् बजाना चाहिये। अथ इसके बाद रि-मौ उच्चार्य ऋषभ और मध्यम उच्चार कर (बजा कर), पं तु विलम्ब्य पंचम को तो लंबा करके यत्र जहाँ ग्रहे न्यस्यते ग्रह पर न्यास किया जाता है तत् वह नाट्यरामकृतेः नाट्यरामकृति का आद्यं स्वस्थानं पहला स्वस्थान मतं माना गया (है)।

(सर०) रामकृति और उसके प्रकारों के संबन्ध में निम्न ध्यातव्य है।

रागा० में रामकृति नाम से एक रागांग में (२/२/१२७) और एक उपांग में (२/२/१४४ ग-१४५)—यों दो प्रकार दिए गए हैं। दोनों का ग्रह षड्ज है। उपांग रामकृति का दूसरा नाम बहुली है जिसका उल्लेख वाद्याध्याय में किया जाएगा, ऐसा कल्लि ने कहा। वाद्याध्याय में किंनरी के वादनक्रम में इसे बहुली रामक्री नाम से दिया गया है जो उपांग है (३८१ ग-३८३)।

वाद्याध्याय में वंश प्रकरण में एक रामकृति क्रियांग है (७३६-३८) जिसमें दुगना षड्ज ग्रह है। उपांग में दो रामकृति हैं— १. जिसे लोक में चिन्धमरामकृति नाम से प्रचलित कहा है (७५४-७५६ ख) और जिसमें मध्यम ग्रह है। २. नाट्यरामकृति (७५६ ग-७६१)। इसमें ऋषभ ग्रह है और अन्य मत से म ग्रह है। चिन्धमरामकृति या नाट्यरामकृति नाम से रागा० में कोई रामकृति नहीं है।

सिंह० की वाद्या० की व्याख्या में रामकृति के बजाय सर्वत्र रामक्री नाम मिलता है। ग्रन्थकार ने किंनरी में रामक्री और अन्यत्र रामकृति नाम ही दिया है। अन्यत्र भी रागों में 'क्री' और 'कृति' पर्याय के रूप में प्रयुक्त होते रहे हैं।

नाट्यरामकृति समाप्त

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(मल्हारः)

ग्रहं कृत्वा धमाहत्य सकृद् ग्रहपरं स्वरम्।
कृत्वा ग्रहात् परौ द्विस्तु ग्रहमागत्य पूर्वकम्॥ ७६२॥

द्वितीयं च क्रमादुक्त्वा ग्रहं चेन्न्यस्यते तदा।
स्वस्थानमाद्यं मल्हारे ग्रहो वंशे द्वितीयकः॥ ७६३॥

इति मल्हारः

५—मल्हार

७६२-७६३. (अ०) धं धैवत को ग्रहं कृत्वा ग्रह करके, ग्रहपरं स्वरं ग्रह के बाद वाले स्वर को सकृत् आहत्य एक बार आघातयुक्त करके, ग्रहात् परौ ग्रह के बाद वाले दो (स्वर) कृत्वा बजा कर ग्रहं ग्रह को द्विः तु आहत्य दो बार तो आघातयुक्त करके, पूर्वकं द्वितीयं च (ग्रह से) पहले वाला और दूसरा क्रमात् उक्त्वा क्रम से कह कर (बजा कर) ग्रहं न्यस्यते चेत् यदि ग्रह पर न्यास किया जाता है तदा तो मल्हारे मल्हार में आद्यं स्वस्थानं पहला स्वस्थान (होता है)। वंश में द्वितीयकः दूसरा (स्वर) ग्रहः (इसका) ग्रह (होता है)।

(सर०) रागा० में इसमें षड्ज-पंचम वर्जित कहे गए हैं। (२/२/१५५ ख)।

मल्हार समाप्त

(कर्णाटगौडः)

ग्रहं द्विगुणसं कृत्वा द्रुतीकृत्य ततोऽधरम्।
तमान्दोल्य द्वितीयं तु विधायाथ तृतीयकम्॥ ७६४॥

स्फुरितं ग्रहतत्पूर्वौ वादयित्वा ग्रहे यदा।
न्यासः कर्णाटगौडस्य स्वस्थानं प्रथमं तदा॥ ७६५॥

वंशे ग्रहस्तृतीयोऽस्य गृह्यते लक्ष्यवेदिभिः।

इति कर्णाटगौडः

६—कर्णाटगौड

७६४-७६६ ख. (अ०) द्विगुणं सं दुगने षड्ज को ग्रहं कृत्वा ग्रह करके, ततः अधरम् उससे नीचे वाला द्रुतीकृत्य द्रुत करके तम् आन्दोल्य (और) उसे आन्दोलित करके, द्वितीयं तु विधाय दूसरा तो योजित करके, अथ इसके बाद तृतीयकं स्फुरितं तीसरा स्फुरित (गमक युक्त करके), ग्रह-तत्-पूर्वौ ग्रह और उससे पहले वाले (ये दो स्वर) वादयित्वा बजा कर यदा जब ग्रहे न्यासः ग्रह पर न्यास (किया जाता है) तदा तब (वह) कर्णाटगौडस्य कर्णाटगौड का प्रथमं स्वस्थानं पहला स्वस्थान (होता है)। लक्ष्यवेदिभिः लक्ष्य जानने वालों के द्वारा वंशे वंश में तृतीयः तीसरा (स्वर) अस्य ग्रहः इसका ग्रह गृह्यते ग्रहण किया जाता है।

(सर०) सिंह० ने द्वितीयं तु विधायं का अर्थ 'द्वितीय को दो बार गाकर' दिया है।

कर्णाटगौड समाप्त

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(देशवालगौडः)

ग्रहं तमेव सं कृत्वा प्रोच्य तुर्यतृतीयकौ ॥ ७६६ ॥

स्थायिनं तद्दलं चोक्त्वा पूर्वस्थायिदलं ततः।
स्थायिन्यासाद् देशवालगौडस्वस्थानमादिमम् ॥ ७६७ ॥

जायतेऽस्यापि वंशे तु द्वितीयो दृश्यते ग्रहः।

इति देशवालगौडः

७—देशवालगौड

७६६ ग-७६८ ख. (अ०) तम् एव सम् उसी (दुगने) षड्ज को ग्रहं कृत्वा ग्रह करके, तुर्यतृतीयकौ प्रोच्य चौथा और तीसरा लगा कर, स्थायिनं स्थायी तत् दलं च उक्त्वा और उसके अर्ध को कह कर, ततः तब पूर्वस्थायिदलं पूर्व स्थायी के अर्ध को (बजा कर) स्थायिन्यासात् स्थायी पर न्यास (करने) से देशवालगौडस्वस्थानम् आदिमं देशवाल गौड का पहला स्वस्थान जायते उत्पन्न होता है। वंशे तु वंश में तो द्वितीयः दूसरा (स्वर) अस्य अपि इसका भी ग्रहः दृश्यते ग्रह दिखाई देता है।

(सर०) सिंह० ने पूर्वस्थायिदलं का अर्थ 'स्थायी से पूर्व अर्ध' किया है। कल्लि० ने 'पूर्व स्थायी का अर्ध'—यह अर्थ देकर यह भी कहा कि 'दुगना स ग्रह होने पर'—इसके अनुसार अगर मध्य षड्ज ग्रह हो तो उसके पूर्व के स्थायी यानी मन्द्र षड्ज का अर्ध और तार षड्ज ग्रह हो तो उसके पूर्व के स्थायी अर्थात् मध्य षड्ज का अर्ध—'पूर्वस्थायिदलं' का यह अर्थ समझना चाहिए।

कल्लि० के अनुसार देशवालगौड ही केदारगौड भी कहा जाता है।

देशवालगौड समाप्त

(तुरुष्कगौडः)

निषादे स्थायिनि प्रोच्य पूर्वं ग्रहमथोत्तरम् ॥ ७६८ ॥

तुर्यं द्वितीयतस्तु त्रीनवरुह्य ग्रहे तदा।
न्यासस्तुरुष्कगौडस्य तदा स्वस्थानमादिमम् ॥ ७६९ ॥

लोके मालवगौडोऽसौ तृतीयोऽस्य ग्रहो मतः।

इति तुरुष्कगौडः

८—तुरुष्कगौड

७६८ ग-७७० ख. (अ०) निषादे स्थायिनि निषाद स्थायी होने पर पूर्वं प्रोच्य पहले वाला कह कर ग्रहं ग्रह, अथ इसके बाद उत्तरम् अगला, तुर्यं चौथा (और फिर) द्वितीयतः तु दूसरे से तो त्रीन् अवरुह्य तीन (स्वर) अवरोह करके (बजा कर) यदा जब ग्रहे न्यासः ग्रह पर न्यास (किया जाता है) तदा तब तुरुष्कगौडस्य तुरुष्कगौड का आदिमं स्वस्थानं पहला स्वस्थान (होता है)। लोके लोक में असौ यह मालवगौडः मालवगौड (कहा जाता है)। तृतीयः (वंश में) तीसरा (स्वर) अस्य ग्रहः इसका ग्रह मतः माना गया (है)।

(सर०) सिंह० ने पहली पंक्ति के साथ अगली पंक्ति के तुर्यं का अर्थ इस तरह किया है—निषाद स्थायी होने पर उससे पहले वाले, ग्रह, दूसरे और चौथे को गाकर। लेकिन कल्लि० ने निषादे स्थायिनि यानी निषाद के स्थायी होने पर 'पूर्वं ग्रहं निषादं प्रोच्य' यानी आदि (शुरू) में ग्रह निषाद को लगाकर फिर उत्तर यानी दूसरा—यों अर्थ किया है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

रागा० में यह राग रि-प वर्जित कहा गया है (२/२/१५७ ख)।

तुरुष्कगौड समाप्त

(द्राविडगौडः)

निषादाद् ग्रहतां नीतादारोहेदाचतुर्थकम्॥ ७७०॥

तं विलम्ब्य ततो गच्छेद् ग्रहे चेदवरोहिणा।
तदा द्राविडगौडस्य स्वस्थानं प्रथमं भवेत्॥ ७७१॥

लोके सालगगौडोऽयं द्वितीयोऽस्य ग्रहो मतः।

इति द्राविडगौडः

इत्युपांङ्गानि

१—द्राविडगौड

७७० ग-७७२ ख. (अ०) ग्रहतां नीतात् निषादात् ग्रह स्वरूपता को ले जाए गए (अर्थात् ग्रह बनाए गए) निषाद से (शुरू करके) आ-चतुर्थकं चौथे (स्वर) तक आरोहेत् आरोह करना चाहिये, तं विलम्ब्य (और) उसे लंबा करके ततः उसके बाद अवरोहिणा अवरोह से ग्रहे गच्छेत् चेत् यदि ग्रह पर जाया जाए (अर्थात् जाएँ) तदा तब द्राविडगौडस्य द्राविडगौड का प्रथमं स्वस्थानं भवेत् पहला स्वस्थान होता है। लोके लोक में अयं यह सालगगौडः सालगगौड (नाम से प्रसिद्ध है)। द्वितीयः (वंश में) दूसरा (स्वर) अस्य ग्रहः मतः इसका ग्रह माना गया (है)।

(सर०) कल्लि० ने सालगगौड नाम पर यह शंका उठाई कि लोक में तो अब इसे सालग—इतना ही कहा जाता है वह कैसे उपपन्न होगा? फिर यह उत्तर दिया कि जैसे भीमसेन के लिए भीम कहा जाता है उसी तरह सालगगौड के लिए सालग भी उचित है।

द्राविडगौड समाप्त

उपांग समाप्त

(भाषाद्वयम्)

(कैशिकी)

पञ्चमं ग्रहमास्थाय तृतीयं च द्वितीयकम्॥ ७७२॥

उक्त्वा तृतीयं स्पृष्ट्वा च प्राञ्चमुक्त्वा तृतीयकम्।
स्पृष्ट्वा विलम्ब्य द्वितीये न्यस्यते कम्पिते ग्रहे॥ ७७३॥

यदा भवति कैशिक्याः स्वस्थानं प्रथमं तदा।
तृतीयोऽस्याः स्वरो वंशे ग्रहो लक्ष्येषु दृश्यते॥ ७७४॥

इति कैशिकी

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

दो भाषाएँ

१—कैशिकी

७७२ ग-७७४. (अ०) पञ्चमं पंचम को ग्रहम् आस्थाय ग्रह स्थिर करके तृतीयं द्वितीयकं च तीसरे और दूसरे को उक्त्वा कह कर तृतीयं स्पृष्ट्वा च और तीसरे को छूकर, प्राञ्चम् उक्त्वा (उससे) पहले वाले को कह कर (लगा कर), तृतीयकं स्पृष्ट्वा तीसरे को छूकर, द्वितीये विलम्ब्य दूसरे को विलंबित करके यदा जब कम्पिते ग्रहे कंपित ग्रह पर न्यस्यते न्यास किया जाता है तदा तब कैशिक्याः कैशिकी का प्रथमं स्वस्थानं पहला स्वस्थान भवति होता है। लक्ष्येषु लक्ष्यों में वंशे वंश में तृतीयः स्वरः तीसरा स्वर अस्याः इसका ग्रहः दृश्यते ग्रह दिखाई देता है।

(सर०) आनन्द० और आड्० दोनों संस्करणों में ७७३ के शुरू में 'मुक्त्वा' पाठ है। सिंह० ने इस अंश का अर्थ 'गाना चाहिए' किया है। तदनुसार 'मुक्त्वा' के बजाय उक्त्वा संगत है जो आड्० की पादटिप्पणी में पाठभेद के रूप में दिया है।

इसी तरह दोनों संस्करणों में उसी पंक्ति में 'प्रान्तमुक्त्वा' पाठ है। सिंह० ने इसका अर्थ 'पूर्वम् उक्त्वा' दिया है। दोनों संस्करणों की पादटिप्पणियों में 'प्राञ्चं' पाठ भेद है जिसका अर्थ है 'पहले वाला'। इसलिए यही संगत पाठ है।

कैशिकी समाप्त

(ललिता)

स्थायिनं द्विगुणं षड्जं द्रुतीकृत्य द्वितीयकम्।
उक्त्वा द्वितीयतृतीयौ द्रुतीकृत्याधराधरम्॥ ७७५॥

उदीर्य तं द्रुतीकृत्य द्वितीयं वादयेत् ततः।
तृतीयं द्विस्त्रिराहत्य स्थायिनि न्यस्यते यदा॥ ७७६॥

ललितायास्तदा प्रोक्तं स्वस्थानं प्रथमं बुधैः।
अस्यामपि स्वरो लक्ष्ये तृतीयो दृश्यते ग्रहः॥ ७७७॥

इति ललिता

इति भाषाद्वयम्

२—ललिता

७७५-७७७. (अ०) स्थायिनं द्विगुणं षड्जं स्थायी दुगने षड्ज को द्रुतीकृत्य द्रुत करके, द्वितीयकम् उक्त्वा दूसरा (स्वर) लगा कर, द्वितीयतृतीयौ दूसरा और तीसरा द्रुतीकृत्य द्रुत करके अधर-अधरं नीचे-नीचे वाले को उदीर्य कह कर तम् उसे द्रुतीकृत्य द्रुत करके द्वितीयं वादयेत् दूसरे को बजाना चाहिए। ततः उसके बाद तृतीयं तीसरे को द्विः त्रिः आहत्य दो तीन बार आघातयुक्त करके यदा जब स्थायिनि न्यस्यते स्थायी पर न्यास किया जाता है तदा तब (उसे) बुधैः बुद्धिमानों के द्वारा ललितायाः ललिता का प्रथमं स्वस्थानं पहला स्वस्थान प्रोक्तं कहा गया (है)। लक्ष्ये लक्ष्य में अस्याम् अपि इसमें भी तृतीयः स्वरः (वंश का) तीसरा स्वर ग्रहः दृश्यते ग्रह दिखाई देता है।

(सर०) रागा० में ललिता नाम से दो भाषाएँ हैं। उनमें से पहली षड्ज ग्रह वाली है जिसमें रि-प वर्जित हैं।

ललिता समाप्त

दो भाषाएँ समाप्त

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(अधुनाप्रसिद्धदेशीरागः)

(श्रीरागः)

ग्रहं द्विगुणसं कृत्वाधस्तनं स्थायिनं तथा।
कृत्वा द्वितीयतुर्यौ च द्वितीयस्थायिनौ स्पृशेत्॥ ७७८॥

विलम्बिते द्वितीयेऽथ स्थायिनि न्यस्यते यदा।
श्रीरागस्य बुधैः प्रोक्तं तदा स्वस्थानमादिमम्॥ ७७९॥

स्वरो वंशे द्वितीयोऽस्य ग्रहत्वेनोपलक्षितः।

इति श्रीरागः

अधुना प्रसिद्ध देशीराग

श्रीराग

७७८-७८० ख. (अ०) द्विगुणं सं दुगने षड्ज को ग्रहं कृत्वा ग्रह बना कर, अधःतनं तथा स्थायिनं (उससे) नीचे वाले और स्थायी को कृत्वा बजा कर द्वितीयतुर्यौ च और दूसरा तथा चौथा (बजा कर), द्वितीयस्थायिनौ दूसरा और स्थायी (स्वर) स्पृशेत् छूना चाहिए। अथ इसके बाद द्वितीये विलम्बिते दूसरा (स्वर) लंबा होने पर यदा जब स्थायिनि न्यस्यते स्थायी पर न्यास किया जाता है तदा तब बुधैः विद्वानों के द्वारा श्रीरागस्य श्रीराग का आदिमं स्वस्थानं पहला स्वस्थान प्रोक्तं कहा गया (है)। वंशे वंश में द्वितीयः स्वरः दूसरा स्वर अस्य ग्रहत्वेन इसके ग्रह के रूप में उपलक्षितः दिखाई देता है।

(सर०) रागा० में दस अधुनाप्रसिद्ध देशीरागों में से सिर्फ़ पहले श्रीराग की वंश में वादनविधि दी गई है।

श्रीराग समाप्त

यो ग्रहः क्रियते वंशे तमपेक्ष्यात्र योजयेत्॥ ७८०॥

लक्षणस्थं द्वितीयादि पदं किंतु ग्रहादयः।
यावन्तो यत्र रागे स्युः स्वरा लक्ष्मणि तावताम्॥ ७८१॥

संभवः स्थायिना येन स्थायिनं तत्र तं श्रयेत्।

७८० ग-७८२ ख. (अ०) वंशे वंश में यः ग्रहः क्रियते जो (स्वर) ग्रह किया (बनाया) जाता है तम् अपेक्ष्य उसकी अपेक्षा से अत्र यहाँ (रागों में) लक्षणस्थं लक्षण में स्थित (कहे गए) द्वितीय-आदि पदं दूसरा आदि शब्द योजयेत् योजित करना चाहिये। किंतु लेकिन यत्र रागे जिस राग में ग्रह-आदयः ग्रह आदि यावन्तः स्वराः स्युः जितने स्वर होते हैं लक्ष्मणि (उस राग के) लक्षण में येन स्थायिना जिस स्थायी से तावतां संभवः उतने (स्वर) संभव (हों) तत्र वहाँ तं स्थायिनम् उस स्थायी को श्रयेत् आश्रय-करना चाहिये (अर्थात् उस स्थायी के आश्रय से वादन करना चाहिये)।

(सर०) कल्लि० ने इन श्लोकों की व्याख्या शुरू करते हुए कहा कि यहाँ ग्रन्थकार ने सभी रागों में साधारण होने वाला (यानी समान रूप से लागू होने वाला) नियम बताया है। साधारण तो यह है कि वंश के वादन में जिस राग में जो स्वर ग्रह हो उसके आधार पर ही दूसरा आदि स्वर समझा जाता है। विशेष पर कल्लि० ने यह कहा कि जिस देशी राग में जो स्वर मन्द्र और तार की सीमा होते हैं (यानी मन्द्र और तार में जिस स्वर तक प्रयोग का नियम हो) उन दोनों स्वरों के साथ उनके बीच के स्वर मिला कर, जिस स्वर को ग्रह बनाने से प्रयोज्य राग के स्वरों की संख्या में कमी न हो उस स्वर को स्थायी बनाना चाहिये, ऐसा प्रयोजन कहा गया है। इसी के अनुसार अन्यत्र भी प्रयोग करना चाहिये।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

सिंह० ने विशेष नियम इस प्रकार कहा—ग्रह से नीचे के जितने स्वर उच्चारणीय के रूप में कहे गये उतने स्वर जिस स्थायी स्वर से संभव हों उस स्थायी के आश्रित करने चाहियें यानी उस स्वर को स्थायी बनाना चाहिये।

अनुग्रहाय मुग्धानामित्येते कतिचिन्मया॥ ७८२॥

रागाः प्रोक्ताः पथानेन संपश्यध्वं बुधाः परान्।

इति वंश प्रकरणम्

७८२ ग-७८३ ख. (अ०) मुग्धानाम् अनुग्रहाय अज्ञानियों पर अनुकम्पा (करने) के लिए इति एते कतिचित् रागाः इस प्रकार ये कुछ राग मया प्रोक्ताः मेरे द्वारा कहे गये। बुधाः बुधजन अनेन पथा इस मार्ग से परान् अन्यों को (दूसरे रागों को) संपश्यध्वं अच्छी तरह देखें (विचार करें)।

(सर०) सिंह० ने संपश्यध्वं पर व्याख्या करते हुए कहा कि यहाँ 'प्रति' का अध्याहार अवश्य करना चाहिये अन्यथा 'सम्' (उपसर्ग) पूर्वक सकर्मक 'दृश्' (धातु) का आत्मनेपदत्व सिद्ध नहीं होगा।

वंश प्रकरण समाप्त

(पावः)

पावो वेणुसमुत्पन्नः स्यान्नवाङ्गुलवंशवत्॥ ७८३॥

कृतावेष्टो वंशपत्रैर्लोकरीत्यैष वाद्यते।

इति पावलक्षणम्

२—पाव

७८३ ग-७८४ ख. (अ०) वेणुसमुत्पन्नः पावः बाँस से उत्पन्न हुआ (बना हुआ) पाव नव-अङ्गुलवंशवत् नौ अंगुल वाले वंश (नागेन्द्र) जैसा स्यात् होता है। वंशपत्रैः आवेष्टः कृतः बाँस के पत्तों से लपेट कर बनाया हुआ एष यह लोकरीत्या लोक की रीति से वाद्यते बजाया जाता है।

(सर०) लोकरीत्या का आशय यह है कि वंशों की तरह पाव को बजाने की नियत विधि नहीं है बल्कि प्रचार के अनुसार बजाया जाता है। इससे यह भी प्रकट होता है कि यह लोकवाद्य है।

पाव का लक्षण समाप्त

(पाविका)

पाविका वैणवी कार्या द्वादशाङ्गुलदैर्घ्य भाक्॥ ७८४॥

स्थौल्येऽङ्गुष्ठमिता गर्भे स्वदैर्घ्ये सुषिरं श्रिता।
कनिष्ठाग्रमितस्थौल्यमस्या लोकानुसारतः॥ ७८५॥

फूत्काररन्ध्रमेकं स्यात् पञ्च स्युः स्वरसिद्धये।
वादनं विविधं नागयक्षावेशविधायकम्॥ ७८६॥

इति पाविकालक्षणम्

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

३—पाविका

७८४ ग-७८६. (अ०) पाविका पाविका वैणवी बाँस से बनी द्वादश-अङ्गुलदैर्घ्यभाक् बारह अंगुल लंबाई वाली कार्या करनी चाहिये। स्थौल्ये मोटाई में अङ्गुष्ठमिता अँगूठे के नाप वाली, गर्भे भीतर स्वदैर्घ्ये अपनी लंबाई में (लंबाई जितना) कनिष्ठा-अग्रमितस्थौल्यं कनिष्ठा (उँगली) के अग्र (भाग) जितना मोटा सुषिरं छेद श्रिता धारण की हुई (होती है)। लोक-अनुसारतः लोक के अनुसार अस्याः इसका (इसमें) एकं फूत्काररन्ध्रम् एक फूत्कार (फूँक भरने का) रन्ध्र स्यात् होता है। स्वरसिद्धये स्वरों की सिद्धि के लिये पञ्च स्युः पाँच (छेद) होते हैं। नागयक्ष-आवेशविधायकं नाग (और) यक्ष के आवेश को उत्पन्न करने वाला वादनम् (इसका) वादन विविधम् अनेक प्रकार का (होता है)।

(सर०) सिंह० ने इसका वादन 'रागयुक्तवेगकारि' कहा है। संभवतः 'नागयक्षावेशविधायकं' के स्थान पर उसका भिन्न पाठ है।

पाविका का लक्षण समाप्त

(मुरली)

हस्तद्वयाधिका माने मुखरन्ध्रसमन्विता।
चतुःस्वरच्छिद्रयुता मुरली चारुनादिनी॥ ७८७॥

इति मुरली

४—मुरली

७८७. (अ०) माने (लंबाई के) नाप में हस्तद्वय-अधिका दो हाथ जितनी (बड़ी), मुखरन्ध्रसमन्विता मुखरन्ध्र से युक्त, चतुःस्वरच्छिद्रयुता चार स्वररन्ध्रों से युक्त मुरली मुरली चारुनादिनी मनोहर नाद वाली (होती है)।

मुरली समाप्त

(मधुकरी)

शृङ्गजा दारवी वा स्यात् काहलाकृतिधारिणी।
अष्टाविंशत्यङ्गुला च दैर्घ्ये मधुकरी शुभा॥ ७८८॥

मुखरन्ध्रं च तस्याः स्यात् तुवरीबीजसंनिभम्।
मुखरन्ध्रादङ्गुलानि त्यक्त्वा चत्वारि वंशवत्॥ ७८९॥

विधाय सप्त रन्ध्राणि कुर्वीत विवरान्तरम्।
तेषां च मुखरन्ध्रस्य मध्येऽधोभागसंस्थितम्॥ ७९०॥

मधुरध्वानसिद्धयै तन्मुखरन्ध्रे तु ताम्रजा॥
निधातव्या यवस्थूला नलिका चतुरङ्गुला॥ ७९१॥

तदूर्ध्वं चक्रिका स्थाप्या दन्तजा शुक्तिजाथवा।
रन्ध्रमध्ये काशमयीं यद्वा देवनलोद्भवाम्॥ ७९२॥

शुक्तिकां किंचिदुन्निद्रमालतीकलिकाकृतिम्।
मृदुलां क्षीरपाकेन क्षिप्त्वा मधुकरीं ततः॥ ७९३॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

वंशवद्वादयेद्रन्ध्रं पिदधीताप्यधस्तनम्।
वामाङ्गुष्ठाग्रभागेनेत्युक्तं निःशङ्कसूरिणा॥ ७९४॥

इति मधुकरीलक्षणम्

५—मधुकरी

७८८-७९४. (अ०) काहला-आकृतिधारिणी काहला का आकार धारण करने वाली शुभा मधुकरी शुभ मधुकरी शृङ्गजा दारवी वा सींग या लकड़ी से बनी दैर्घ्ये अष्टाविंशति-अङ्गुला च और लंबाई में अट्ठाईस अंगुल वाली स्यात् होती है तस्याः मुखरन्ध्रं च और उसका मुखरन्ध्र तुवरीबीजसंनिभं स्यात् तुअर के बीज जैसा होता है। वंशवत् वंश की तरह मुखरन्ध्रात् मुखरन्ध्र से चत्वारि अङ्गुलानि त्यक्त्वा चार अंगुल छोड़ कर सप्त रन्ध्राणि विधाय सात छेद बना कर तेषां च मुखरन्ध्रस्य मध्ये उनके और मुखरन्ध्र के बीच में अधोभागसंस्थितं नीचे की ओर स्थित विवर-अन्तरं कुर्वीत दूसरा छेद करें। मधुरध्वानसिद्ध्यै मधुर नाद की सिद्धि के लिये तत् मुखरन्ध्रे तु उस मुखरन्ध्र में तो यवस्थूला यव जितनी मोटी, चतुः अङ्गुला चार अंगुल वाली ताम्रजा नलिका ताँबे की नली निधातव्या रखनी (डालनी) चाहिये। तत् ऊध्वर्म् उससे ऊपर दन्तजा हाथी दाँत से उत्पन्न (बनी) अथवा या शुक्तिजा चक्रिका सीप से बनी चक्रिका स्थाप्या स्थापित करनी चाहिये। रन्ध्रमध्ये छेद में कासमयीं कास (नामक घास) की बनी हुई यत् वा अथवा देवनल-उद्भवां देवनल से उत्पन्न (बनी) किंचित् उन्निद्रमालतीकलिका-आकृतिं मालती की कुछ खिली हुई कली की आकृति वाली, क्षीरपाकेन मृदुलां दूध के पाक से कोमल हुई शुक्तिकां क्षिप्त्वा सीपी डाल कर ततः तब मधुकरीं मधुकरी को वंशवत् वंश की तरह वादयेत् बजाना चाहिये। अधःतनं रन्ध्रं नीचे वाले छेद को वाम-अङ्गुष्ठ-अग्रभागेन बायें अँगूठे के छोर से पिदधीत अपि ढक कर भी रखें इति ऐसा निःशङ्कसूरिणा निःशंक विद्वान् (शार्ङ्गदेव) के द्वारा उक्तं कहा गया (है)।

(सर०) काहला जैसा आकार कहने का आशय यह है कि मधुकरी काहला की तरह धतूरे के फूल के आकार के मुख वाली होती है।

वर्तमान शहनाई का मूल रूप मधुकरी की बनावट में देखा जा सकता है।

मधुकरी का लक्षण समाप्त

(काहला)

ताम्रजा राजती यद्वा काञ्चनी सुषिरान्तरा।
धत्तूरकुसुमाकारवदनेन विराजिता॥ ७९५॥

हस्तत्रयमिता दैर्घ्ये काहला वाद्यते जनैः।
हाहूवर्णवती वीरबिरुदोच्चारकारिणी॥ ७९६॥

इति काहलालक्षणम्

६—काहला

७९५-७९६. (अ०) ताम्रजा ताँबे से उत्पन्न (बनी), राजती चाँदी वाली यत् वा काञ्चनी अथवा सोने वाली, सुषिर अन्तरा बीच से खोखली, धत्तूरकुसुम-आकारवदनेन विराजिता धतूरे के फूल के मुँह के आकार से शोभित, दैर्घ्ये लंबाई में हस्तत्रयमिता तीन हाथ नाप वाली काहला काहला जनैः वाद्यते लोगों के द्वारा बजाई जाती है। (वह) हाहूवर्णवती 'हाहू' अक्षरों (जैसी ध्वनि) से युक्त (और) वीरबिरुद-उच्चारकारिणी वीरों के बिरुदों (स्तुति) (जैसी ध्वनि का) उच्चारण करने वाली (होती है)।

काहला का लक्षण समाप्त

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(तुण्डकिनी)

हस्तद्वयकृता या सा सैव तुण्डकिनी मता।
तुरतुर्यपि सा लोके तित्तिरी च निगद्यते॥ ७९७॥
यमलं तुण्डकिन्योश्च वाद्यं वाद्यविदो विदुः।

इति तुण्डकिनीलक्षणम्

७—तुण्डकिनी

७९७-७९८ ख. (अ०) सा एव वही (काहला ही) या जो हस्तद्वयकृता दो हाथ (लम्बाई) की बनी हुई (हो) सा वह तुण्डकिनी मता तुण्डकिनी मानी गई (है)। लोके लोक में सा वह तित्तिरी च तुरतुरी अपि तित्तिरी और तुरतुरी भी निगद्यते कही जाती है। तुण्डकिन्योः च दो तुण्डकिनियों की यमलं जोड़ी वाला वाद्यं वाद्य (है ऐसा) वाद्यविदः वाद्यों के वेत्ता विदुः जानते हैं।

तुण्डकिनी का लक्षण समाप्त

(चुक्का)

तुण्डकिन्येव चुक्का स्याद् दैर्घ्ये हस्तचतुष्टया॥ ७९८॥

इति चुक्कालक्षणम्

८—चुक्का

७९८ ग-घ. (अ०) हस्तचतुष्टया चार हाथ वाली दैर्घ्ये लंबाई होने पर तुण्डकिनी एव तुण्डकिनी ही चुक्का स्यात् चुक्का होती है।

(सर०) काहला, तुण्डकिनी और चुक्का के लक्षणों से यह प्रकट है कि मुख्य अन्तर इनकी लंबाई में है। काहला तीन हाथ लंबी, तुण्डकिनी दो हाथ वाली और चुक्का चार हाथ लंबी है। तुण्डकिनी जोड़ी में बजाई जाती है।

चुक्का का लक्षण समाप्त

(शृङ्गम्)

करेणुवदनाकारवदनं दोषवर्जितम्।
शृङ्गं यन्माहिषं श्लक्ष्णं स्निग्धं सुघटितं कृतम्॥ ७९९॥

शृङ्गस्यानडुहस्याथ धत्तूरकुसुमाकृतिः।
खण्डमष्टाङ्गुलं न्यस्य मूलेऽस्य ध्वनिवृद्धये॥ ८००॥

अग्रं द्वित्राङ्गुलं तस्य च्छित्वा फूत्काररन्ध्रकम्।
विधाय तुथुकारेण वादयेद् विविधध्वनिम्॥ ८०१॥

एतद्वै ध्वानगम्भीरं वाद्यं गोपालकेलिषु।

इति शृङ्गलक्षणम्

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

९—शृंग

७९९-८०२ ख. (अ०) करेणुवदन-आकारवदनं हाथी की सूँड के आकार के मुँह वाला, दोषवर्जितं दोषरहित, श्लक्ष्णं चमकदार, स्निग्धं चिकना, सुघटितं कृतम् अच्छा घड़ा हुआ यत् माहिषं शृङ्गं जो भैंसे का सींग अथ अस्य मूले और इसके मूल भाग में अनडुहस्य शृङ्गस्य बैल के सींग का धत्तूरकुसुम-आकृतिः धतूरे के फूल की आकृति वाला अष्ट-अङ्गुलं खण्डम् आठ अंगुल वाला टुकड़ा ध्वनिवृद्धये नाद बढ़ाने के लिये न्यस्य डाल कर तस्य अग्रम् उसका सिरा द्वित्र-अङ्गुलं दो-तीन अंगुल छित्वा छाँट कर फूत्काररन्ध्रकं विधाय फूँक का छेद बना कर तुथुकारेण तु-थु-कार से (अर्थात् तु थु अक्षरों जैसी ध्वनि उत्पन्न करके) विविधध्वनिं विविध प्रकार की ध्वनि वाला गोपालकेलिषु वादयेत् ग्वालों के खेलों में बजाना चाहिये। एतत् वै यह ध्वानगम्भीरं वाद्यं गंभीर ध्वनि वाला वाद्य (कहा जाता है)।

शृंग का लक्षण समाप्त

(शङ्खम्)

निर्दोषस्योत्खातनाभेः शङ्खस्यैकादशाङ्गुलम्॥ ८०२॥

शिखरं निर्मितं धातुसिक्थकाभ्यां मनोहरम्।
मूलतश्चाग्रपर्यन्तं ह्रस्वमानाकृति क्रमात्॥ ८०३॥

रन्ध्रमर्धाङ्गुलमितं शिखरस्य मुखे भवेत्।
अन्तस्तु माषमात्रं स्याच्छङ्खमेवंविधं सुधीः॥ ८०४॥

धृत्वा कर्कटहस्तेन भूरिश्वासभृतोदरम्।
हुंधुंथोदिगिदित्येतद्वर्णोद्बोधेन वादयेत्॥ ८०५॥

इति शङ्खलक्षणम्

इति सुषिरवाद्यलक्षणम्

१०—शंख

८०२ ग-८०५. (अ०) उत्खातनाभेः खुदी हुई नाभि के (अर्थात् भीतर से खोखला किया हुआ) निर्दोषस्य शङ्खस्य दोषरहित शंख का एकादश-अङ्गुलं शिखरं ग्यारह अंगुल वाला शिखर धातुसिक्थकाभ्यां धातु और मोम से मनोहरं निर्मितं सुन्दर बनाया हुआ मूलतः च मूल (ऊपरी भाग) से अग्रपर्यन्तं सिरे तक क्रमात् क्रम से ह्रस्वमान-आकृतिः कम होती हुई (अर्थात् सँकरी) आकृति वाला (होता है)। शिखरस्य मुखे शिखर के मुँह में अर्ध-अङ्गुलमितम् आधा अंगुल नाप वाला रन्ध्रं भवेत् छेद होता है। अन्तः तु बीच का भाग तो माषमात्रं माष (उड़द) जितना स्यात् होता है। एवं विधं शङ्खम् इस तरह के शंख को सुधीः अच्छी बुद्धि वाले (वादक) कर्कटहस्तेन धृत्वा कर्कट हस्त से धारण करके भूरिश्वासभृत-उदरं भरपूर साँस भरे हुए पेट से हुं-धुं-थो-दिगि-दिति हुं, धुं, थो, दिगि, दिति एतत् वर्ण-उद्बोधेन इन वर्णों के (जैसे नाद के) उच्चारण से वादयेत् बजायें।

(सर०) शंख को पकड़ने का ढंग बताने के लिये ग्रन्थकार ने नृत्त का कर्कट हस्त कहा। नर्तनाध्याय में दिये गये लक्षण के अनुसार इस हस्त में दोनों हाथों की उँगलियों को एक दूसरी के बीच इस तरह डाल कर बाहर निकाला जाता है जिससे वे भीतर और बाहर दोनों तरफ़ से दिखाई दें (७/१८८ ग-१९१ ख)। शंख को धारण करने में भी इस हस्त का विनियोग कहा गया है।

शंख का लक्षण समाप्त

सुषिरवाद्यों का लक्षण समाप्त

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(अवनद्धवाद्यानि)

(पटहः)

मार्गदेशीगतत्वेन पटहो द्विविधो भवेत्।
मार्गस्थपटहस्यात्र लक्षणं तावदुच्यते॥ ८०६॥

(इ) अवनद्ध वाद्य

१—पटह

८०६. (अ०) मार्गदेशीगतत्वेन मार्ग और देशी विषयक होने से पटहः द्विविधः पटह दो प्रकार से (मार्ग पटह और देशी पटह) भवेत् होता है। अत्र इनमें से मार्गस्थ मार्ग में स्थित पटहस्य लक्षणं पटह का लक्षण तावत् उच्यते पहले कहा जा रहा है।

(सर०) यहाँ से अवनद्ध वाद्यों का निरूपण शुरू हो रहा है। सबसे पहले पटह कहने का कारण यह है कि उस काल में यही सबसे प्रमुख अवनद्ध वाद्य था। इसीलिये अवनद्ध की पूरी वादन विधि का विस्तृत निरूपण पटह के द्वारा किया है।

राधा० में कहा गया है कि लोक में पटह को ढोल कहते हैं (वाद्या०, पृ० ४८, पं० २२)। लेकिन पटह के लिये ढोल और ढोलकी दोनों शब्दों का प्रयोग किया है। तात्पर्य ढोलक से है जिसे आज भी ढोलक या ढोलकी कहा जाता है।

(तत्र मार्गपटहः)

सार्धहस्तद्वयं तस्य दैर्घ्यं स्यात् परिधिः पुनः।
षष्ट्यङ्गुलो मध्यदेशः पृथुलो दक्षिणं मुखम्॥ ८०७॥

कर्तव्यं संमितं सार्धैरेकादशभिरङ्गुलैः।
वामं तु दशभिः सार्धैः संमितं दक्षिणे मुखे॥ ८०८॥

आयसं वलयं कार्यं वामे वल्लीसमुद्भवम्।

मार्गपटह

८०७-८०९ ख. (अ०) तस्य दैर्घ्यम् उसकी लंबाई स-अर्धहस्तद्वयं स्यात् आधे सहित दो (ढाई) हाथ होती है पुनः परिधिः और घेरा षष्टि-अङ्गुलः साठ अंगुल। मध्यदेशः बीच का भाग पृथुलः मोटा (होता है)। दक्षिणं मुखं दाहिना मुँह स-अर्धैः एकादशभिः अङ्गुलैः आधे सहित ग्यारह (साढ़े ग्यारह) अंगुलों से संमितं नापा हुआ (नाप वाला) वामं तु (और) बायाँ तो स-अर्धैः दशभिः संमितम् आधे सहित दस (साढ़े दस अंगुलों) से नापा गया कर्तव्यं करना चाहिये। दक्षिणे मुखे दाहिने मुँह पर आयसं वलयं लोहे का वलय (गोल कड़ा) वामे (और) बायें (मुँह) पर वल्ली-समुद्भवं लता से उत्पन्न (वलय) कार्यं करना चाहिये।

(सर०) पटह दो मुँह वाला वाद्य है जिसका दाहिना मुँह बायें मुँह से एक अंगुल बड़ा होता है और भाण्ड बीच से मोटा होता है। दाहिने मुँह पर लोहे का और बायें पर किसी लता का गोल कड़े के आकार का वलय होता है।

षाणमासिको मृतो वत्सो यस्तस्यादाय पारिकाम्॥ ८०९॥

तयावगुण्ठ्य वलयं वल्लीजं वामवक्त्रगम्।
सप्तरन्ध्रान्वितं कृत्वा सुदृढैः सूक्ष्मदोरकैः॥ ८१०॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

निक्षिप्तैस्तेषु रन्ध्रेषु बन्धव्याः कलशाः श्लथम्।
ते हेमादिमयाः सप्त दैर्घ्येण चतुरङ्गुला॥ ८११॥

८०९ ग-८११. (अ०) यः जो षाणमासिकः मृतः वत्सः छ महीने का मरा हुआ बछड़ा (हो) तस्य उसकी पारिकाम् आदाय खाल को लेकर तया उससे वामवक्त्रगं बायें मुँह के वल्लीजं वलयं लता से उत्पन्न (बने) वलय को अवगुण्ठ्य लपेट कर, सप्तरन्ध्र-अन्वितं कृत्वा सात छेदों से अन्वित करके (छेद बना कर), तेषु रन्ध्रेषु उन छेदों में निक्षिप्तैः डाले हुए सुदृढैः मज़बूत (अच्छा बल लगे हुए) सूक्ष्मदोरकैः महीन डोरों से सप्त कलशाः सात कलश श्लथं बन्धव्याः ढीले बाँधने चाहियें। ते वे हेम-आदिमयाः सोने आदि से बने हुए दैर्घ्येण लंबाई में चतुः अङ्गुलाः चार अंगुल वाले (होने चाहियें)।

(सर०) बायें मुँह पर लता का जो कड़ा होता है उसे बछड़े की खाल से लपेट कर उसमें सात छेद बना कर उनमें बारीक डोरे डाल कर सोने या किसी दूसरी धातु से बने कलश ढीले बाँधे जाते हैं। कलश चार अंगुल लंबे होते हैं लेकिन उनकी मोटाई नहीं बताई, संभवतः मोटे नहीं होंगे।

त्यक्त्वाङ्गुलानि चत्वारि वामे स्याल्लोहपत्रिकाम्।
अङ्गुलत्रयविस्तारां पटहे वेष्टयेद् दृढम्॥ ८१२॥

बाह्यकायस्य यच्चर्म पशोस्तेन घनेन च।
कम्बलाख्येन बध्नीयात् पिहितं वदनद्वयम्॥ ८१३॥

८१२-८१३. (अ०) वामे बायें (मुँह) पर (अर्थात् बायें मुँह की ओर) चत्वारि अङ्गुलानि त्यक्त्वा चार अंगुल छोड़ कर अङ्गुलत्रयविस्तारां तीन अंगुल चौड़ी लोहपत्रिकां लोहे की पट्टी को पटहे पटह पर (चारों ओर) दृढं वेष्टयेत् मज़बूती से लपेटना चाहिये। पशोः पशु के बाह्यकायस्य बाहरी शरीर का यत् चर्म स्यात् जो चमड़ा होता है तेन कम्बल-आख्येन उस कम्बल नाम वाले घनेन च और मोटे (चमड़े) से वदनद्वयं (पटह के) दोनों मुँह पिहितं ढक कर बध्नीयात् बाँधने चाहियें।

(सर०) दोनों मुँहों को ढकने वाली चमड़े की मोटी परत कम्बल या कवल कहलाती है। बायें मुँह की तरफ़ जो लोहे की पट्टी लपेटी जाती है उसका प्रयोजन स्पष्ट नहीं है। राधा० में कहा गया है कि वह पटह को रखने के लिए लगाई जाती है (वाद्या०, पृ० ४८, पं० १४)।

दक्षिणास्यस्य कवलं परितः कृतरन्ध्रकम्।
रन्ध्रक्षिप्तैर्गुणैर्गाढमाकृष्येतरवक्त्रगैः॥ ८१४॥

वलये तान् गुणान् सम्यग् बध्नीयाद् दार्ढ्यसिद्धये।
वामास्यकवलान्तःस्थसप्तरन्ध्रनिवेशितैः॥ ८१५॥

गुणैरावेष्ट्य कलशानायसैर्वलयैर्दृढैः।
अन्तःक्षिप्त्वा समाकृष्टैर्वलये गाढतां नयेत्॥ ८१६॥

८१४-८१६. (अ०) परितः चारों ओर कृतरन्ध्रकं छेद किये हुए दक्षिण-आस्यस्य कवलं दाहिने मुँह के कवल (कम्बल) को रन्ध्रक्षिप्तैः गुणैः छेद में डाले हुए डोरों से गाढम् आकृष्य कस कर खींच कर इतरवक्त्रगैः दूसरे मुँह में गये हुए तान् गुणान् उन डोरों को, वलये दार्ढ्यसिद्धये दोनों वलय दृढ़ करने के लिये, सम्यक् बध्नीयात् अच्छी तरह बाँधना चाहिये। वाम-आस्यकवल-अन्तःस्थसप्तरन्ध्रनिवेशितैः गुणैः बायें मुँह के कवल में बने सात छेदों में डाले गये डोरों से कलशान् आवेष्ट्य कलशों को लपेट कर आयसैः दृढैः वलयैः लोहे के बने मज़बूत वलयों से अन्तःक्षिप्त्वा भीतर डाल कर समाकृष्टैः अच्छी तरह खिंचे हुए (डोरों से) वलये दोनों वलय गाढतां नयेत् दृढ़ता को ले जाने चाहियें (खींच कर कस देना चाहिये)।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(सर०) बायें मुँह के छेदों में से डोरी डाल कर दाहिने मुँह के वलय के छेदों में से आरपार डालनी चाहिये जिससे दोनों मुँहों के वलय भाण्ड के साथ अच्छी तरह कस जायँ। लेकिन बायें से दाहिने मुँह की ओर जाती हुई डोरी को कलशों में लपेट कर बाँधना चाहिये जिससे पहले ढीले बाँधे हुए कलश भी कस जायँ।

राधा० में कहा गया है कि कलशों को चढ़ाने या उतारने से सात स्वर उत्पन्न होते हैं (वाद्या०, पृ० ४८, पं० २०-२१)।

कलशेभ्यो बहिर्वामवलयान्ते च बध्यते।
वेष्टनाय कटेः कच्छेत्युक्तोऽयं स्कन्ददैवतः॥ ८१७॥
श्रीयज्ञपुरवर्येण पटहो मार्गसंभवः।

इति मार्गपटहः

८१७-८१८ ख. (अ०) वामवलय-अन्ते बायें वलय के अन्त में कलशेभ्यः बहिः कलशों से बाहर की ओर कटेः वेष्टनाय कमर को लपेटने के लिये कच्छा च बध्यते कच्छा भी बाँधी जाती है। श्रीयज्ञपुरवर्येण श्रीयज्ञपुर में श्रेष्ठ (शार्ङ्गदेव) के द्वारा इति अयम् ऐसा यह स्कन्ददैवतः स्कन्द देवता वाला मार्गसंभवः पटहः मार्ग से उत्पन्न पटह (अर्थात् मार्गपटह) उक्तः कहा गया (है)।

(सर०) इस पटह को कमर में बाँध कर बजाया जाता था इसलिये कमर में बाँधने के लिए कच्छा नाम से डोरी की पट्टी जैसा साधन कहा गया है। आगे मर्दल की व्याख्या में (१०२६ क) सिंह० ने कच्छा का अर्थ चपटी पट्टी दिया है।

मार्ग पटह का जो स्वरूप सं०र० में दिया है वर्तमान ढोलक उससे बहुत मिलता है। लेकिन आज दोनों मुँहों के कड़े बाँस को छील कर बनाए हुए होते हैं। पटह में दाहिनी ओर चमड़े में छेद किये जाते हैं और बाईं ओर वल्ली के वलय में। सं०र०. में पटह में बायें मुँह की ओर कहे गये कलश ढोलक में प्रायः नहीं होते। लेकिन ढोलक के बीच के भाग में स्टील के गोल छल्ले होते हैं जिनमें से होकर डोरी डाली जाती है। दोनों का ही प्रयोजन स्वर ऊँचा-नीचा करना है। छल्लों को आगे-पीछे सरका कर स्वरभेद होता है, कलशों को शायद गोल घुमा कर कसने से स्वर चढ़ता और उल्टा घुमाकर ढीला करने से उतरता होगा। बायें सिरे की तरफ़ पटह के घेरे पर लगाई जाने वाली लोहे की पट्टी पटह को रखने के लिये होती है। ढोलक में दाहिने सिरे पर पट्टी होती है जिस पर, दाहिने हाथ के अँगूठे में पहने हुए, धातु के छल्ले से आघात किया जाता है और उसी हाथ की तर्जनी उँगली में लकड़ी की पतली डंडी बाँध कर उस उँगली से आघात किया जाता है। ढोलक और पटह में डोरी बाँधने की विधि में भी कुछ अन्तर है। ढोलक में जिस तरह डोरी डाली जाती है उससे छल्लों को चढ़ाना उतारना आसान हो जाता है। पटह और ढोलक दोनों में नाद को ऊँचा-नीचा करने का साधन बाईं ओर है यद्यपि साधन भिन्न है।

मार्ग पटह समाप्त

(देशीपटहः)

देशीस्थोऽप्येवमेव स्याद् दैर्घ्येऽसौ सार्धहस्तकः॥ ८१८॥

सप्ताङ्गुलं दक्षिणास्यमन्यत् सार्धषडङ्गुलम्।
आन्तरं जाठरं वाङ्क्ष्णं पशोर्गदितमुद्गली॥ ८१९॥

तया तु स्वच्छया वक्त्रं वाममस्य निबध्यते।
विशेषोऽयं भवेद्स्मिन्,

देशीपटह

८१८ ग-८२० ग. (अ०) देशीस्थः अपि देशी में स्थित (अर्थात् देशी पटह) भी एवम् एव स्यात् ऐसा ही होता है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

असौ यह दैर्घ्ये लंबाई में स-अर्धहस्तकः आधे सहित एक (डेढ़) हाथ वाला, दक्षिण-आस्यं दाहिना मुँह सप्त-अङ्गुलं सात अंगुल वाला (और) अन्यत् दूसरा (बायाँ मुँह) स-अर्धषट्-अङ्गुलं आधे सहित छ (साढ़े छ) अंगुल वाला (होता है)। पशोः पशु के जाठरम् आन्तरं पेट के भीतर के वाङ्क्ष्णं जोड़ का (जो चमड़ा) उद्दली गदितम् उद्दली कहा गया है तया स्वच्छया तु उस स्वच्छ चमड़े से तो अस्य इस (देशी पटह) का वामं वक्त्रं बायाँ मुँह निबध्यते बाँधा जाता है। अस्मिन् इस (देशी पटह) में अयं विशेषः यह विशेष भवेत् होता है।

(सर०) देशी पटह की लंबाई और मुँह मार्ग पटह से छोटे होते हैं और देशी पटह के बायें मुँह को पशु के पेट के भीतर के चमड़े से बाँधा जाता है जो उद्दली कहलाता है। दोनों पटहों में इतना ही अन्तर होता है।

उभौ खादिरदारुजौ ॥ ८२० ॥

त्रिधोक्तोऽयं द्वयोरन्यैरुत्तमो मध्यमोऽधमः।
उत्तमः प्रोक्तमानः स्याद् द्वादशांशोनितः पुनः ॥ ८२१ ॥

मध्यमः षष्ठभागेन विहीनस्त्वधमो भवेत्।

इति देशीपटहः

८२० घ-८२२ ख. (अ०) उभौ दोनों (प्रकार के पटह) खादिरदारुजौ खैर की लकड़ी से उत्पन्न (बने हुए होते हैं)। अन्यैः अन्य (आचार्यों) के द्वारा अयं यह (पटह) द्वयोः दोनों उत्तमः मध्यमः अधमः उत्तम, मध्यम (और) अधम (यों) त्रिधा उक्तः तीन प्रकार का कहा गया (है)। प्रोक्तमानः (ऊपर) कहा गया उत्तमः स्यात् उत्तम होता है पुनः और द्वादश-अंश-ऊनितः बारहवाँ भाग कम किया हुआ मध्यमः मध्यम, षष्ठभागेन विहीनः तु छठे भाग से रहित (कम) तो अधमः भवेत् अधम होता है।

(सर०) अन्य मत से मार्ग और देशी दोनों पटहों के उत्तम, मध्यम और अधम—इन तीन भेदों का ग्रन्थकार ने उल्लेख किया है। लक्षणोक्त उत्तम, उससे बारहवाँ भाग छोटा मध्यम और छठा भाग कम होने पर अधम होता है।

आड्० और आनन्द० दोनों, संस्करणों में स्वेच्छया पाठ है जिसका अर्थ है 'अपनी इच्छा के अनुसार'। लेकिन बायें मुँह पर उद्दली को अपनी इच्छा के अनुसार बाँधने में संगति नहीं है। सिंह० ने 'निर्मल' उद्दली अर्थ किया है जो संगत है। आड्० की पादटिप्पणी में स्वच्छया पाठभेद दिया है और यह सिंह० की व्याख्या से पुष्ट भी होता है। तदनुसार इसी का ग्रहण हमने किया है।

देशी पटह समाप्त

(पटहवर्णाः)

अथाद्यवर्णाः—

डवर्जितः कवर्गश्च टतवर्गौ रहावपि ॥ ८२२ ॥

इति षोडश वर्णाः स्युरुभयोः पाटसंज्ञकाः।
संयोगविप्रयोगाभ्यां क्रमव्युत्क्रमयोगतः ॥ ८२३ ॥

सस्वरत्वास्वरत्वाभ्यां पाटास्ते स्युरनेकधा।
उद्दल्यामेव झेंकारो देंकारः कवलेऽधिकः ॥ ८२४ ॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

पटह के वर्ण

८२२ ग-८२४. (अ०) अथ अब आद्यवर्णाः मूल वर्ण—

ङवर्जितः कवर्गः ङ को छोड़ कर कवर्ग **ट-तवर्गौ च** तथा टवर्ग और तवर्ग **र-हौ अपि** और र तथा ह **इति** ये **उभयोः** दोनों (पटहों) के **पाटसंज्ञकाः** पाट संज्ञा वाले **षोडश वर्णाः** सोलह वर्ण **स्युः** होते है। **संयोगविप्रयोगाभ्यां** संयुक्त और असंयुक्त (अलग-अलग) से, **क्रमव्युत्क्रमयोगतः** क्रम और उल्टे क्रम से, **सस्वरत्व-अस्वरत्वाभ्यां** स्वरयुक्त और स्वररहित (प्रकार) से **ते पाटाः** वे पाट **अनेकधा स्युः** अनेक प्रकार के होते हैं। **उड्डल्याम् एव** उड्डली में ही **झेंकार** झेंकार (और) **कवले** कवल में **देंकारः अधिकः** देंकार ज्यादा (उत्पन्न होते हैं)।

(सर०) सोलह वर्ण ये हैं—क ख ग घ, ट ठ ड ढ ण, त थ द ध न, र और ह जो मार्ग और देशी—दोनों तरह के पटह से उत्पन्न होते हैं। इन्हें पाट कहा जाता है। भारतोक्त सोलह अक्षरों में ण और न नहीं है, म और ल हैं।

व्याकरण के अनुसार जिन दो व्यंजनों के बीच अन्तर न हो (यानी अ, इ आदि स्वर न हों) उनमें संयोग होता है जैसे—व् + य् + अ = व्य। इसके विपरीत जिनमें संयोग न हो उनमें विप्रयोग होता है। व्यंजनों के बीच में स्वर आ जाने से व्यंजनों का संयोग नहीं होता, वे अलग-अलग रहते हैं जैसे—त् + आ + ल् + अ = ताल। वर्णों का सीधे क्रम से उच्चारण क्रम और उल्टे क्रम से व्युत्क्रम होता है।

सस्वरत्व-अस्वरत्व पर कल्लि० की व्याख्या का सार यह है कि स्वर से तात्पर्य षड्जादि स्वर हैं भाषा के अ, इ आदि नहीं क्योंकि इनका ग्रहण तो विप्रकर्ष में ही हो जाता है। और षड्जादि से रागयुक्त होना ही विवक्षित है। ऐसा न समझें तो अस्वरत्व निरर्थक हो जाएगा क्योंकि भेदकता नहीं रहेगी। स्वर के द्वारा जिस विशेषता का बोध होता है वह नहीं होगा। षड्जादि एकाध स्वर भी न होने पर तो स्थायी स्वर कहना सार्थक नहीं रहेगा। इसलिए स्वर शब्द को राग का वाचक समझना चाहिये।

ना०शा० के पुष्कराध्याय नामक ३४वें अध्याय में अवनद्ध की वादनविधि का बड़े विस्तार से निरूपण हुआ है। उसके विषय का यह संग्रह है—१६ अक्षर, चतुर्मार्ग, द्विलेपन, षट्करण, त्रियति, त्रिलय, त्रिगत, त्रिप्रचार, त्रिसंयोग, त्रिपाणि, पञ्चपाणिप्रहत, त्रिप्रहार, त्रिमार्जना, २० अलंकार और १८ जातियाँ। किन-किन व्यंजनों का किन-किन स्वरों (अ, इ आदि) से संयोग होता है, उनमें से किसे वाद्य के किस मुँह पर, किस उँगली से, किस तरह के प्रहार से (खुले, बन्द आदि), किस रस-भाव में किन अक्षरों का प्रयोग आदि और वादनविधि संबन्धी अन्य पक्षों को विस्तार से कहा गया है। (दृष्टव्य—'भारतीय संगीत में निबद्ध', अ० १, परिच्छेद क, पृ० ६४-६९)

देशीपटहमेवाहुरिममड्डावजं जनाः।
अष्टादशाङ्गुलः किंचिन्नताग्रो मध्यतः पृथुः॥ ८२५॥

कोणः कार्यो मूलदेशे मदनाम्बरवेष्टितः।

८२५-८२६ ख. (अ०) जनाः लोग **इमं देशीपटहम् एव** इस देशी पटह को ही **अड्डावजम् आहुः** अड्डावज कहते हैं। **अष्टादश-अङ्गुलः** अठारह अंगुल वाला, **किंचित् नत-अग्रः** कुछ झुके हुए सिरे वाला, **मध्यतः पृथुः** बीच से मोटा, **मूलदेशे** मूल भाग में **मदन-अम्बरवेष्टितः** मोम और कपड़े से लपेटा हुआ **कोणः कार्यः** (प्रहार करने के लिए) कोण करना (बनाना) चाहिये।

(सर०) देशी पटह को कोण से बजाया जाता है जिसका मूलभाग यानी जहाँ से उसे पकड़ा जाता है, मोम लगे हुए कपड़े से लपेटा जाता है और सामने का सिरा, जहाँ से पटह पर आघात किया जाता है, सामने कुछ मुड़ा रहता है।

सिंह० ने कोण को वादनकाष्ठ कहा है यानी यह लकड़ी का बना होता है। उसके अनुसार यह मदनाम्बर से 'त्रिवेष्टित' यानी तीन बार लपेटा जाता है।

देशी पटह ही प्रचार में अड्डावज कहलाता है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

पद्मासनोपविष्टेन गोष्ठ्यामूरुद्वयोपरि॥ ८२६॥

संस्थाप्य मार्गपटहो वाद्यो वर्णोद्भवे पटुः।
नाटके ऊर्ध्ववक्त्रोऽयं वाद्यते घटवाद्यवत्॥ ८२७॥

कोणेन पाणिना वास्य वादनं सूरयो विदुः।

इति पटहलक्षणम्

८२६ ग-८२८ ख. (अ०) गोष्ठ्यां सभा में पद्मासन-उपविष्टेन पद्मासन पर बैठे हुए, वर्ण-उद्भवे पटुः वर्णों को उत्पन्न करने में दक्ष (वादक) के द्वारा ऊरुद्वय-उपरि दोनों जाँघों पर (अर्थात् गोद में) मार्गपटहः संस्थाप्य मार्ग पटह रख कर वाद्यः वादन करना चाहिये। नाटके तु नाटक में तो अयं यह ऊर्ध्ववक्त्रः ऊपर की ओर मुँह वाला घटवाद्यवत् घट वाद्य की तरह वाद्यते बजाया जाता है। सूरयः विद्वान् कोणेन पाणिना वा कोण या हाथ से अस्य वादनं विदुः इसका वादन जानते हैं।

(सर०) सभा में गोद में रख कर बजाने का अर्थ है आड़ा रख कर बजाना। नाटक में 'तो' कहने से पहले कहे गये आड़े की अपेक्षा भिन्नता इस 'तो' से सूचित होती है। इस दृष्टि से 'अर्धवक्त्रं' के बजाय 'ऊर्ध्ववक्त्रं' पाठ ज्यादा संगत है। आड्० में पादटिप्पणी में मूल और सिंह० की टीका दोनों के लिये 'ऊर्ध्ववक्त्रं' पाठभेद दिया भी है। यह पाठ इस दृष्टि से भी संगत है कि इसे घटवाद्य की तरह बजाने का निर्देश है और घटवाद्य आज भी ऊपर की ओर मुँह रख कर बजाया जाता है।

पटह का लक्षण समाप्त

हस्तपाटाः

ये पाटाः पटहे प्रोक्तास्तेषां विविधगुम्फनात्॥ ८२८॥

हस्तोद्भवाः पाटभेदा हस्तपाटाः प्रकीर्तिताः।
ते चानन्ता न शक्यन्ते प्रत्येकं वेदितुं जनैः॥ ८२९॥

प्रदर्शनार्थमेतेषु कतिचित् प्रतिपादये।

हस्तपाट

८२८ ग-८३० ख. (अ०) पटहे पटह में ये पाटाः जो पाट प्रोक्ताः कहे गये तेषां विविधगुम्फनात् उनके अनेक प्रकार के संयोग से हस्त-उद्भवाः पाटभेदाः हाथों से उत्पन्न होने वाले पाटों के भेद हस्तपाटाः प्रकीर्तिताः हस्तपाट कहे गये (हैं) ते च और वे अनन्ताः अनन्त (हैं)। जनैः लोगों के द्वारा प्रत्येकं वेदितुम् (उनमें से) हरेक को जानने के लिये (अर्थात् जानना) न शक्यन्ते संभव नहीं है। एतेषु इनमें से कतिचित् कुछ का प्रदर्शन-अर्थम् उदाहरण के लिये प्रतिपादये प्रतिपादन करता हूँ।

(सर०) पटह के जो पाट यानी वर्ण कहे गये उनके विविध मेल से बनने वाले पाटों के समूह हाथों से उत्पन्न किये जाते हैं इसलिये उन्हें हस्तपाट कहा जाता है।

कल्लि० ने हस्तोद्भवा पर कहा कि यह 'हेतुगर्भ' विशेषण है। हाथों से उद्भव होना हेतु यानी कारण है। कोण का प्रयोग भी हाथ की क्रिया के अधीन है इसलिये उसमें भी हस्त से उद्भवत्व होता है। तत वाद्य में भी हाथ की क्रिया तो है लेकिन वहाँ उँगलियों के व्यापार की प्रधानता होती है इसलिये वहाँ हस्तोद्भवत्व नहीं कहा जाता।

सद्योजातान्नागबन्धः स्वस्तिको वामदेवतः॥ ८३०॥

अलग्नोऽभूदघोरात्तु शुद्धिस्तत्पुरुषाभिघात्।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

आसीदीशानवक्त्रात्तु समस्खलितसंज्ञकः॥ ८३१॥

जाताः पञ्चेति पञ्चभ्यो मुखेभ्यः पार्वतीपतेः।
अतस्ते सर्वपाटानां पाटा मुख्यतमा मताः॥ ८३२॥

क्रमात् तद्देवता ब्रह्मविष्णुशर्वरवीन्दवः।

८३० ग-८३३ ख. (अ०) सद्योजातात् (शिव के पश्चिम मुख) सद्योजात से नागबन्धः नागबन्ध, वामदेवतः (उत्तर मुख) वामदेव से स्वस्तिकः स्वस्तिक, अघोरात् तु (दक्षिण मुख) अघोर से तो अलग्नः अलग्न अभूत् (उत्पन्न) हुआ। तत्पुरुष-अभिधात् तत्पुरुष नामक (पूर्व मुख) से शुद्धिः शुद्धि आसीत् (उत्पन्न) हुआ था (और) ईशानवक्त्रात् तु (बीच के) ईशान मुख से तो समस्खलितसंज्ञकः समस्खलित नाम वाला—पार्वतीपतेः पार्वती के पति (शिव) के पञ्चेभ्यः मुखेभ्यः पाँच मुखों से इति पञ्च ये पाँच (पाट) जाताः उत्पन्न हुए। अतः सर्वपाटानां इसलिये सारे पाटों में ते पाटाः वे पाट मुख्यतमाः मताः सबसे मुख्य माने गये (हैं)। तत् देवताः उनके देवता क्रमात् क्रम से ब्रह्मविष्णुशर्वरवि-इन्दवः ब्रह्मा, विष्णु, शिव, सूर्य और चन्द्र (हैं)।

नागबन्धश्च पवनस्तथैकैकसराभिधौ॥ ८३३॥

ततो दुःसरसंचारविक्षेपा नागबन्धजाः।
सप्तेत्यथ स्वस्तिकजाः स्वस्तिको बलिकोहलः॥ ८३४॥

फुल्लपूर्वश्च विक्षेपः कुण्डलीपूर्वकश्च सः।
संचारविलिखी खण्डनागबन्धश्च पूरकः॥ ८३५॥

भेदाः सप्तेत्यलग्नस्य त्वेते सप्त प्रकीर्तिताः।
अलग्नोत्सारविश्रामा विषमाद्या खली सरी॥ ८३६॥

स्फुरी स्फुरणकश्चेति शुद्धेः स्याच्छुद्धिरादिमः।
स्वरस्फुरणकोत्फुल्लवलितावघटास्ततः॥ ८३७॥

तकारो माणिक्यवल्ली भेदाः सप्तेति संमताः।
समस्खलितकस्याद्यः समस्खलितसंज्ञकः॥ ८३८॥

विकटः सदृशः पाटखली चाडुखली ततः।
अनुच्छल्लस्तथा खुत्तो भेदाः सप्तेति सन्त्यमी॥ ८३९॥

पञ्चत्रिंशद्धस्तपाटास्तलपाटाश्च कीर्तिताः।

८३३ ग-८४० ख. (अ०) नागबन्धः पवनः च नागबन्ध और पवन तथा तथा एक-एकसर-अभिधौ एक और एकसर नाम वाले, ततः उसके बाद दुःसरसंचारविक्षेपाः दुःसर, संचार और विक्षेप इति सप्त ये सात नागबन्धजाः नागबन्ध से उत्पन्न हुए (भेद होते हैं)।

अथ इसके बाद स्वस्तिकः स्वस्तिक, बलिकोहलः बलिकोहल, फुल्लपूर्वः च विक्षेपः फुल्ल पूर्व वाला विक्षेप (फुल्लविक्षेप), कुण्डलीपूर्वः च सः और कुण्डली पूर्व वाला वह (कुण्डलीविक्षेप), संचारविलिखी संचारविलिखी, खण्डनागबन्धः च पूरकः खण्डनागबन्ध और पूरक इति ये स्वस्तिकजाः स्वस्तिक से उत्पन्न हुए सप्त भेदाः सात भेद (हैं)।

अलग्नस्य तु अलग्न के तो एते सप्त ये सात प्रकीर्तिताः कहे गये (हैं)— अलग्न-उत्सारविश्रामाः अलग्न, उत्सार और

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

विश्राम, विषम-आद्या खली विषम जिसके शुरू में है ऐसी खली (विषमखली), सरी सरी, स्फुरी स्फुरी स्फुरणकः च इति और स्फुरणक इस प्रकार (ये भेद हैं)।

शुद्धेः शुद्ध में आदिमः पहला शुद्धिः स्यात् शुद्धि होता है (और) स्वरस्फुरणक-उत्फुल्लवलित-अवघटाः स्वरस्फुरण, उत्फुल्ल, वलित और अवघट, ततः उसके बाद तकारः तकार, माणिक्यवल्ली माणिक्यवल्ली इति ये सप्तभेदाः सात भेद संमताः माने गये (हैं)।

समस्खलितकस्य समस्खलित का आद्यः पहला (भेद) समस्खलितसंज्ञकः समस्खलित नाम वाला, ततः उसके बाद विकटः विकट, सदृशः सदृश, पाटखली पाटखली, अड्डुखली च और अड्डुखली, अनुच्छल्लः अनुच्छल्ल तथा खुत्तः और खुत्त इतिं अमी यों ये सप्त भेदाः सात भेद सन्ति होते हैं।

पञ्चत्रिंशत् हस्तपाटाः (ये) पैंतीस हस्तपाट तलपाटाः च तलपाट भी कीर्तिताः कहे गये (हैं)।

(सर०) शिव के पाँच मुँहों से उत्पन्न पाँच प्रमुख हस्तपाटों में से हरेक के ७-७ भेद होने से कुल पैंतीस हस्तपाट होते हैं जो तलपाट भी कहलाते हैं। तल का अर्थ भी हस्त है इसलिये हस्तपाट का पर्याय तलपाट है।

आनन्द० में उत्फुल्ल के स्थान पर उच्छल्ल और वलित के बजाय वलत है।

(नन्दिकेश्वरोक्त पाटभेदाः)

कोणाहतश्च संभ्रान्तो विषमार्धसमाविति॥ ८४०॥

चत्वारो हस्तपाटाः स्युर्नन्दिकेश्वरभाषिताः।

नन्दिकेश्वर द्वारा कहे गये पाटभेद

८४० ग-८४१ ख. (अ०) कोणाहतः च संभ्रान्तः कोणाहत और संभ्रान्त, विषमार्धसमौ विषमार्ध और सम इति ये नन्दिकेश्वरभाषिताः नन्दिकेश्वर द्वारा कहे गये चत्वारः हस्तपाटाः चार हस्तपाट स्युः होते हैं।

(पटहादिषु हस्तपाटाः)

उत्फुल्लः खलकस्तद्वत् पाण्यन्तरनिकुट्टकः॥ ८४१॥

दण्डहस्तः पिण्डहस्तो युगहस्तोर्ध्वहस्तकौ।

स्थूलहस्तोऽर्धार्धपाणिः पार्श्वपाण्यर्धपाण्यपि॥ ८४२॥

कर्तरीसमकर्तर्यौ ततो विषमकर्तरी।

समपाणिश्च विषमपाणिः स्यात् पाणिहस्तकः॥ ८४३॥

नागबन्धोऽप्यवघटः स्वस्तिकश्च समग्रहः।

इत्येकविंशतिर्हस्तपाटाः स्युः पटहादिषु॥ ८४४॥

पटह आदि के हस्तपाट

८४१ ग-८४४. (अ०) उत्फुल्लः खलकः उत्फुल्ल, खलक तत्-वत् उसी तरह पाण्यन्तरनिकुट्टकः पाण्यन्तरनिकुट्टक, दण्डहस्तः दण्डहस्त, पिण्डहस्तः पिण्डहस्त, युगहस्त-ऊर्ध्वहस्तकौ युगहस्त और ऊर्ध्वहस्त, स्थूलहस्तः स्थूलहस्त, अर्धार्धपाणिः अर्धार्धपाणि, पार्श्वपाणि-अर्धपाणि-अपि पार्श्वपाणि और अर्धपाणि, कर्तरीसमकर्तर्यौ कर्तरी और समकर्तरी, ततः उसके बाद विषमकर्तरी विषमकर्तरी, समपाणिः च विषमपाणिः समपाणि और विषमपाणि स्यात् होता है। पाणिहस्तकः नागबन्धः अपि पाणिहस्त और नागबन्ध, अवघटः स्वस्तिकः च अवघट और स्वस्तिक, समग्रहः समग्रह इति ये पटह-आदिषु पटह आदि में एकविंशतिः हस्तपाटाः इक्कीस हस्तपाट स्युः होते हैं।

(सर०) ये इक्कीस हस्तपाट पटह और दूसरे अवनद्ध वाद्यों में साधारण रूप से होते हैं।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

उल्लोलः पाण्यन्तरश्च निर्घोषः खण्डकर्तरी।
दण्डहस्तः समनखो बिन्दुर्यमलहस्तकः॥ ८४५॥

रेचितो भ्रमरो विद्युद् विलासोऽप्यर्धकर्तरी।
अलग्नाख्यस्ततो रेफः समपाणिरतः परम्॥ ८४६॥

परिवृत्त षोडशेति वाद्येषु पटहादिषु।
एतान् प्रायो हुडुक्कायां कुर्वते वाद्यवेदिनः॥ ८४७॥

८४५-८४७. (अ०) उल्लोलः पाण्यन्तरः च उल्लोल और पाण्यन्तर, निर्घोषः निर्घोष, खण्डकर्तरी खण्डकर्तरी, दण्डहस्तः दण्डहस्त, समनखः समनख, बिन्दुः बिन्दु, यमलहस्तकः यमलहस्त, रेचितः रेचित, भ्रमरः भ्रमर, विद्युत् विद्युत् विलासः अपि और विलास, अर्धकर्तरी अर्धकर्तरी, अलग्न-आख्यः अलग्न नामक, ततः रेफः उसके बाद रेफ, समपाणिः समपाणि, अतः परम् इसके बाद परिवृत्तः परिवृत्त इति षोडश ये सोलह पटह-आदिषु वाद्येषु पटह आदि वाद्यों में (होते हैं)। वाद्यवेदिनः वाद्यों (अथवा वादन) के वेत्ता एतान् इन (हस्तपाटों) को प्रायः बहुधा हुडुक्कायां हुडुक्का में कुर्वते करते (बजाते) हैं।

(सर०) पहले कहे गये इक्कीस हस्तपाट सभी अवनद्ध वाद्यों में होते हैं और यहाँ कहे हुए सोलह हस्तपाट विशेष रूप से पटह आदि में और प्रायः हुडुक्का में होते हैं।

(अष्टौ अपाटाः)

अष्टौ विषमपाटाः स्युरपाटाख्यान् ब्रुवेऽधुना।
तलप्रहारः प्रहरो वलितो गुरुगुञ्जितः॥ ८४८॥

अर्धसञ्चस्त्रिसञ्चश्च विषमोऽभ्यस्त इत्यमी।
स्यातामलगपाटौ द्वौ सञ्चविच्छुरिताभिधौ॥ ८४९॥

भ्रमरः कुञ्चितश्चेति चित्रपाटावुभौ मतौ।
अष्टाशीतिरिमे हस्तपाटा निःशङ्ककीर्तिताः॥ ८५०॥

आठ अपाट

८४८-८५०. (अ०) अष्टौ आठ विषमपाटाः स्युः विषमपाट होते हैं। अपाट-आख्यान् अपाट नाम वाले (उन पाटों) को अधुना ब्रुवे अब कहता हूँ। तलप्रहारः तलप्रहार, प्रहरः प्रहर, वलितः वलित, गुरुगुञ्जितः गुरुगुंजित, अर्धसञ्चः त्रिसञ्चः च अर्धसञ्च और त्रिसञ्च, विषमः विषम, अभ्यस्तः अभ्यस्त इति अमी यों ये स्यातां (आठ अपाट) होते हैं। सञ्चविच्छुरित-अभिधौ द्वौ सञ्च और विच्छुरित नाम वाले दो अलगपाटौ अलगपाट (होते हैं)। भ्रमरः कुञ्चितः च इति भ्रमर और कुंचित ये उभौ दो चित्रपाटौ मतौ चित्रपाट माने गये(हैं)। इमे ये अष्ट-अशीतिः हस्तपाटाः अट्ठासी हस्तपाट निःशङ्ककीर्तिताः निःशंक (शार्ङ्गदेव) के द्वारा कहे गये हैं।

(सर०) नागबन्ध से लेकर खुत्त तक ३५, उसके बाद मतान्तर से कहे गये ४, फिर विभिन्न वाद्यों के २१, १६, ८, २, २—यों कुल ८८ हस्तपाट गिनाये गये।

(शिववक्त्रोद्भूतपाटानां स्वरूपम्)

शिववक्त्रोत्थपाटानां स्वरूपं प्रतिपादये।
तेषामुत्पादकान् पाणीँल्लोकतो लक्षयेत् सुधीः॥ ८५१॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

तद्यथा—(१) टनगिन गिननगि—इति नागबन्धः, (२) ननगिड गिडदगि—इति पवनः, (३) गिड गिडदत्था—इत्येकः, (४) किटतत २—इत्येकसरः, (५) नखु नखु—इति दुःसरः, (६) खिरतकिट—इति संचारः (७) थोंगि थोंथि—इति विक्षेपः।

इति सद्योजातोद्भवाः सप्त हस्तपाटाः

शिव के मुँह से उत्पन्न पाटों का स्वरूप

८५१. (अ०) शिववक्त्र-उत्थपाटानां स्वरूपं शिव के मुँह से उत्पन्न पाटों के स्वरूप को प्रतिपादये प्रतिपादित करता हूँ। तेषाम् उन्हें उत्पादकान् पाणीन् उत्पन्न करने वाले पाणि (के प्रकारों) को सुधीः बुद्धिमान् (वादक) लोकतः लोक से लक्षयेत् लक्षित करें।

(सद्योजातोद्भवा हस्तव्यापाराः)

तत् यथा वे इस प्रकार हैं—

(१) टनगिन गिननगि—इति नागबन्धः टनगिन गिननगि—यह नागबन्ध है, (२) ननगिड गिडदगि—इति पवनः ननगिड गिडदगि—यह पवन है, (३) गिड गिडदत्था—इति एकः गिड गिडदत्था—यह एक है, (४) किटतत २—इति एकसरः किटतत २—यह एकसर है, (५) नखु नखु—इति दुःसरः नखु नखु—यह दुःसर है, (६) खिरतकिट—इति संचारः खिरतकिट—यह संचार है, (७) थोंगि थोंथि—इति विक्षेपः थोंगि थोंथि—यह विक्षेप है।

ये सद्योजात से उत्पन्न सात हस्तपाट हैं।

(सर०) पाणि से तात्पर्य पाणिप्रहत है। ना०शा० में पाँच पाणिप्रहत कहे गये हैं—समपाणि, अर्धपाणि, अधार्धपाणि, पार्श्वपाणि और प्रदेशिनी पाणि (ना०शा०, ३६/४०)। अवनद्ध वाद्यों पर हथेली के किस भाग से प्रहार करने से कौन-से अक्षर उत्पन्न होते हैं यह पाणिप्रहत के द्वारा व्यक्त किया गया है। सं०र० में हस्तपाटों में इनके लक्षण दिये गये हैं।

श्लोक के बाद हस्तपाटों के जो स्वरूप दिये हैं वे ग्रन्थ के मूल पाठ के हैं जैसा कि आनन्द० और आड्० के प्रथम संस्क० में हैं। ग्रन्थकार ने स्वयं कहा है कि वे स्वरूप का प्रतिपादन कर रहे हैं। लेकिन आड्० के दूसरे संस्क० में उन्हें कल्लि० की टीका का भाग मान कर स्वरूप के शुरू में (क०) के साथ दिया गया है।

'एक' के हस्तपाट सिंह० ने गिडगिड गिडदत्था दिये हैं। एकसर के पाट दोनों संस्करणों में किटतत हैं। सिंह० का भी यही पाठ है। कल्लि० ने व्याख्या में पहले किटतत दिया है लेकिन बाद में किटतट दिया है। मूल पाठ में किटतट के बाद दिये गये अंक २ पर कल्लि० ने कहा कि इससे यह समझना चाहिये कि किटतट किटतट यों दो बार प्रयोग होगा। आगे भी हस्तपाट के बाद कोई अंक हो तो पिछले वर्णों का उतनी बार प्रयोग होगा।

आगे के चार मुखों के हस्तपाटों का अन्वय नहीं दिया जा रहा है।

(वामदेवोद्भवा हस्तपाटाः)

(१) ततकिटकि—इति स्वस्तिकः, (२) थो हंता—इति बलिकोहलः, (३) थोंगिन थोंगिन थोंगिन—इति फुल्लविक्षेपः, (४) थोंथों गोंगों—इति कुण्डलीविक्षेपः, (५) थोंगिणतत्ता—इति संचारविलिखी, (६) किटथों थोंगिन खेंखें—इति खण्डनागबन्धः, (७) टकु झेंझें—इति पूरकः।

इति वामदेवोद्भवाः सप्त हस्तपाटाः

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(सर०) स्वस्तिक के हस्तपाट सिंह० ने ततकिटकिट दिये हैं।

ये वामदेव से उत्पन्न सात हस्तपाट हैं।

(अघोरोद्भवा हस्तपाटाः)

(१) नग गिडगिड दगिदा—इत्यलग्नः, (२) दत्थरिकि दत्थरिकि—इत्युत्सारः, (३) तकि धिकि तकि धिकि—इति विश्रामः, (४) टगुनगु टगुनगु—इति विषमस्खली विषमस्खलितो वा, (५) खिरितु खिरितु—इति सरी, (६) खिरि खिरि—इति स्फुरी, (७) नरकित्थरिकि—इति स्फुरणः।

इत्यघोरोद्भवाः सप्त हस्तपाटाः

(सर०) सिंह० ने अलग्न के पाट ततकिट दगिडदा दिये हैं।

ये अघोर से उत्पन्न सात हस्तपाट हैं।

(तत्पुरुषोद्भवा हस्तपाटाः)

(१) दरिगिड गिडदगिदा—इति शुद्धिः, (२) टटकुटट—इति स्वरस्फुरणः, (३) ननगिन खरि खरि—इत्युत्फुल्लः, (४) दखें दखें दखें खे—इति वलितः, (५) थों गिनगि थों गिनगि—इति अवघटः, (६) तत्ता—इति तकारः, (७) धिधि—इति माणिक्यवल्ली।

इति तत्पुरुषोद्भवाः सप्त हस्तपाटाः

(सर०) वलित के पाट सिंह० ने दखें दखें खे दिये हैं।

ये तत्पुरुष से उत्पन्न सात हस्तपाट हैं।

(ईशानोद्भवा हस्तपाटाः)

(१) तझें तझें झें—इति समस्खलितः समस्खली वा, (२) गिरिग्ड गिरिग्ड—इति विकटः, (३) कण कणकि—इति सदृशः, (४) धिधिकिटकि—इति खली स्खलितो वा, (५) दिगिनगि दिगिनगि—इत्यडुखली अडुस्खलितो वा, (६) धरकट धरकट—इत्यनुच्छल्लः, (७) दोंनकट दोंनकट—इति खुत्तः।

इतीशानोद्भवाः सप्त हस्तपाटाः

इति सदाशिवपञ्चवक्त्रोद्भवाः पञ्चत्रिंशद्धस्तपाटाः।

(सर०) आनन्द० में अडुस्खलित के बजाय अड्डस्खलित है। सिंह० ने खली और स्खलित के स्थान पर पाटखली और पाटस्खलित कहा है और अडुखली और अडुस्खलित के स्थान पर अड्डखली और अड्डस्खलित दिया है।

ये ईशान से उत्पन्न सात हस्तपाट हैं।

सदाशिव के पाँच मुखों से उत्पन्न पैंतीस हस्तपाट समाप्त

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(नन्दिकेश्वरोक्तपाटचतुष्टयम्)

(कोणाहतः)

कनिष्ठाङ्गुष्ठसंयोगाच्छेषाङ्गुलिविवर्तनात्।
कोणाहतो हस्तपाटः शार्ङ्गदेवोदितो यथा॥ ८५२॥

खुंखुंधरि खुंखुंधरि करगिड करगिड़।

इति कोणाहतः (१)

नन्दिकेश्वर के चार हस्तपाट

१—कोणाहत

८५२. (अ०) कनिष्ठा-अङ्गुष्ठसंयोगात् छोटी उँगली और अँगूठे के संयोग से (अर्थात् जोड़ कर) शेष-अङ्गुलिविवर्तनात् बाक़ी उँगलियों को (चक्कर की तरह) घुमाने से (उत्पन्न होने वाला) हस्तपाटः हस्तपाट शार्ङ्गदेव-उदितः कोणाहतः शार्ङ्गदेव द्वारा कहा गया कोणाहत (है) (कोणाहत कहा गया है)। यथा जैसे—

खुंखुंधरि खुंखुंधरि करगिड करगिड।

यह कोणाहत है। (१)

(सर०) यहाँ से ग्रन्थकार ने नन्दिकेश्वर द्वारा कहे गये चार हस्तपाटों के स्वरूप उन्हें बजाने की विधि और उदाहरण सहित दिये हैं।

सिंह० ने इसका स्वरूप यों दिया है—खुं खुं दरि करकिट।

(संभ्रान्तः)

सर्वाङ्गुल्यग्रघातश्च सर्वाङ्गुलिविवर्तनम्।
यस्य निष्पादकं सोऽत्र संभ्रान्तः कथितो यथा॥ ८५३॥

दरगिड दरगिड गिरिगिडद दाणकिट मटटकु।

इति संभ्रान्तः (२)

२—संभ्रान्त

८५३. (अ०) सर्व-अङ्गुलि-अग्रघातः सारी उँगलियों (की पोरों) की नोक से आघात सर्व-अङ्गुलिविवर्तनं च और सारी उँगलियों को घुमाना यस्य निष्पादकं जिसको निष्पन्न (उत्पन्न) करने वाला हो सः वह अत्र इन (हस्तपाटों) में संभ्रान्तः कथितः संभ्रान्त कहा गया (है)। यथा जैसे—

दरगिड दरगिड गिरिगिडद दाणकिट मटटकु।

(सर०) सिंह० ने यह स्वरूप दिया है—दरि गिड गिरिगिड दण किट मटटकु।

यह संभ्रान्त है। (२)

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(विषमः)

चलनं मणिबन्धस्य पताकस्याथ कम्पनम्।
पादकम्पोऽथ जनको यस्यासौ विषमो यथा॥ ८५४॥

दहें दहें खुंखुं दहें खुंखुं दहें ततकि ततकि।

इति विषमः (३)

३—विषम

८५४. (अ०) **मणिबन्धस्य चलनं** कलाई का हिलना **अथ पताकस्य कम्पनम्** और पताक (हस्त) का कंपन **अथ पादकम्पः** और पैर का कंप **यस्य जनकः** जिसका उत्पन्न करने वाला (हो) **असौ** यह **विषमः** विषम (होता है)। **यथा**—जैसे—

दहें दहें खुंखुं दहें खुंखुं दहें ततकि ततकि।

(सर०) सिंह० द्वारा दिया गया स्वरूप यह है—दखु खुं खुदकु ततकि।

यह विषम है। (३)

(अर्धसमः)

पूर्वलक्ष्मविपर्यासाद् भवेदर्धसमो यथा।

ददगिद गिगिरिकिटदगि थों थों गिदथोंगिद।

इत्यर्धसमः (४)

इति नन्दिकेश्वरोक्ताश्चत्वारो हस्तपाटाः

४—अर्धसम

८५५ क-ख. (अ०) **पूर्वलक्ष्मविपर्यासात्** पिछले वाले (विषम) के लक्षण को उलट देने से **अर्धसमः भवेत्** अर्धसम होता है। **यथा** जैसे—

ददगिद गिगिरिकिटदगि थों थों गिदथोंगिद।

(सर०) सिंह० ने यह स्वरूप दिया है—दडगिदगि गिर गिड दगि थोंगिद।

यह अर्धसम है। (४)

ये नन्दिकेश्वर द्वारा कहे गये चार हस्तपाट हैं।

(पटहादीनाभेकविंशतिहस्तपाटाः)

(उत्फुल्लः)

उत्फुल्लो नखराघातादलपद्मस्य जायते॥ ८५५॥

कहें कहें।

इत्युत्फुल्लः (१)

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

पटह आदि के इक्कीस हस्तपाट

१—उत्फुल्ल

८५५ ग-घ. (अ०) अलपद्मस्य अलपद्म के नखर-आघातात् नख के आघात से उत्फुल्लः जायते उत्फुल्ल उत्पन्न होता है।

कहें कहें।

(सर०) अलपद्म नृत्त का संयुक्त हस्त है। नर्तनांध्याय (७/१४४-१४५ ख) में दिये गये लक्षण के अनुसार व्यावर्तित नामक करण करके, हथेली पर समस्थिति में रखी हुई जिसकी उँगलियाँ एक ओर जाती हुई हों वह अलपल्लव या अलपद्म हस्त होती है।

इस हस्त की मुद्रा से नाखून का आघात करने पर उत्फुल्ल हस्तपाट होता है। कल्लि० ने कहा कि नखर आघात का अर्थ व्यावृत्ति करण के द्वारा करना है।

हस्तपाट आदि में जो नृत्त के हस्त कहे गये हैं उनमें कभी-कभी एकाधिक हस्त और करणों का मेल होता है।

यह उत्फुल्ल है। (१)

(खलकः)

यदा प्रसारिताङ्गुष्ठः शुकतुण्डस्य हन्यते॥
विरलाङ्गुलिभिर्वाद्यं क्रमेण खलकस्तदा॥ ८५६॥

दांगिड गिडदगिदा।

इति खलकः (२)

२—खलक

८५६. (अ०) यदा जब प्रसारित-अङ्गुष्ठः फैलाये हुए अँगूठे वाले शुकतुण्डस्य शुकतुण्ड (हस्त) की विरल-अङ्गुलिभिः अलग-अलग उँगलियों के द्वारा क्रमेण क्रम से वाद्यं हन्यते वाद्य पर आघात किया जाता है तदा तब खलकः खलक (होता है)।

दांगिड गिडदगिदा

(सर०) अराल हस्तयुक्त शुकतुण्ड नृत्त हस्त का लक्षण नर्तन० में दिया है (७/१२२-१२३ ख, १३७ ग-१३८ क)।

यह खलक है। (२)

(पाण्यन्तरनिकुट्टकः)

यस्तु दक्षिणहस्तस्य तर्जन्यङ्गुष्ठघाततः।
क्रमव्युत्क्रमघातात्तु वामहस्तेन रेफवत्॥ ८५७॥
जायते शार्ङ्गिणोक्तोऽसौ पाण्यन्तरनिकुट्टकः।

दगिडदां खरिक्कदां खरिक्क खरिक्कदांदां खरिखरिदां गिडदां।

इति पाण्यन्तरनिकुट्टकः (३)

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

३—पाण्यन्तरनिकुट्टक

८५७-८५८ ख. (अ०) यः तु और जो दक्षिणहस्तस्य दाहिने हाथ की तर्जनि-अङ्गुष्ठघाततः तर्जनी और अँगूठे के आघात के बाद वामहस्तेन बायें हाथ से रेफवत् रेफ की तरह क्रमव्युत्क्रमघातात् तु जायते क्रम और उल्टे क्रम के आघात से उत्पन्न होता है असौ यह शार्ङ्गिणा शार्ङ्गदेव के द्वारा पाण्यन्तरनिकुट्टकः उक्तः पाण्यन्तरनिकुट्टक कहा गया (है)।

दगिडदां खरिक्कदां खरिक्क खरिक्कदांदां खरिखरिदां गिडदां।

(सर०) रेफ का लक्षण वाद्याध्याय में तीन जगहों पर है—१. एकतन्त्री वीणा के उभयहस्त व्यापारों में (७७-७८ ख), २. वीणा की व्यंजन धातु के भेदों में (१५७ ग-घ) और ३. आगे कहे जाने वाले हुडुक्का के १६ हस्तपाटों में (८८६ क-ख)। पहले में दाहिने हाथ की अनामिका से तार पर अन्दर की ओर और बायें हाथ की मध्यमा से बाहर की तरफ़ आघात किया जाता है। दूसरे में क्रम से सारी उँगलियों से एक स्वरस्थान पर आघात होता है और तीसरे में स्कन्ध संच से सारी उँगलियों से आघात कहा है।

सिंह० ने 'बायें हाथ से पूर्वोक्त रेफ की तरह'—रेफ का यह अर्थ किया है। इसलिये ऊपर कहे गये दूसरे रेफ के अनुसार बायें हाथ की सारी उँगलियों का क्रम से आघात पाण्यन्तरनिकुट्टक में संगत लगता है। तीसरे में भी दूसरे का यह लक्षण है। दण्डहस्त की व्याख्या में सिंह० ने रेफ को 'सारी उँगलियों से किया गया' कहा भी है।

यह पाण्यन्तरनिकुट्टक है। (३)

(दण्डहस्तः)

ऊर्ध्वघातं पताकेन कृत्वैकमथ रेफतः॥ ८५८॥

कृतौ यत्रोर्ध्वघातौ द्वौ दण्डहस्तो भवेदसौ।

दातरिकिट दां खरिखरिदां

इति दण्डहस्तः (४)

४—दण्डहस्त

८५८ ग-८५९ ख. (अ०) पताकेन पताक (हस्त) से एकम् ऊर्ध्वघातं कृत्वा ऊपर (के भाग पर) एक आघात करके अथ फिर रेफतः रेफ से यत्र द्वौ ऊर्ध्वघातौ कृतौ जब ऊपर (के भाग पर) दो आघात किये जायँ (तो) असौ यह दण्डहस्तः भवेत् दण्डहस्त होता है।

दातरिकिट दां खरिखरिदां।

(सर०) पताक हस्त का लक्षण नर्तन० में कहा जायेगा (७/१०२)।

यह दण्डहस्त है। (४)

(पिण्डहस्तः)

क्रमाद्रेफोर्ध्वहस्ताभ्यां पिण्डहस्तः प्रजायते॥ ८५९॥

थरिकटझें थरिकटझें।

इति पिण्डहस्तः (५)

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

५—पिण्डहस्त

८५९ ग-घ. (अ०) क्रमात् क्रम से रेफ-ऊर्ध्वहस्ताभ्यां रेफ और ऊर्ध्वहस्तों से पिण्डहस्तः पिण्डहस्त प्रजायते उत्पन्न होता है।

थरिकटझें थरिकटझें।

(सर०) ऊर्ध्वहस्त कुछ ही आगे कहा जाने वाला है।

यह पिण्डहस्त है। (५)

(युगहस्तः)

रेफात्मभ्यां कराभ्यां चेदूर्ध्वघातद्वयं पृथक्।
क्रियते पाटनिष्पत्त्यै युगहस्तस्तदा भवेत्॥ ८६०॥

द्रेंद्रें दांदां।

इति युगहस्तः (६)

६—युगहस्त

८६०. (अ०) पाटनिष्पत्त्यै पाट उत्पन्न करने के लिये रेफ-आत्मभ्यां कराभ्यां चेत् यदि रेफ स्वरूप वाले दोनों हाथों से पृथक् अलग-अलग ऊर्ध्वघातद्वयं क्रियते ऊपर (के भाग पर) दो आघात किये जाते हैं तदा तब युगहस्तः भवेत् युगहस्त होता है।

द्रेंद्रें दांदां।

यह युगहस्त है। (६)

(ऊर्ध्वहस्तः)

ऊर्ध्वहस्तो दक्षिणेन तलेनोद्गाढघातकः।

दरगिड दांदां।

इत्यूर्ध्वहस्तः (७)

७—ऊर्ध्वहस्त

८६१ क-ख. (अ०) दक्षिणेन तलेन दाहिने (हाथ के) तल से उद्गाढघातकः तीव्र आघात वाला ऊर्ध्वहस्तः ऊर्ध्वहस्त (होता है)।

दरगिरु दांदां।

यह ऊर्ध्वहस्त है। (७)

(स्थूलहस्तः)

ऊर्ध्वघातद्वयं कृत्वा तलहस्तेन हन्यते॥ ८६१॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

यदा वाद्यपुटद्वन्द्वं स्थूलहस्तस्तदोदितः।

खुंखुंद खुंखुंद।

इति स्थूलहस्तः (८)

८—स्थूलहस्त

८६१ ग-८६२ ख. (अ०) यदा जब ऊर्ध्वघातद्वयं कृत्वा ऊपर (के भाग पर) दो आघात करके तलहस्तेन तलहस्त से वाद्यपुटद्वन्द्वं वाद्य के दोनों पुटों (पुड़ी, मुँह पर लगाया हुआ चमड़ा) पर हन्यते आघात किया जाता है तदा तो (उसे) स्थूलहस्तः उदितः स्थूलहस्त कहा गया (है)।

खुंखुंद खुंखुंद।

(सर०) पुट को आज पुड़ी कहा जाता है।

यह स्थूलहस्त है। (८)

(अर्धार्धपाणिः)

अर्धार्धपाणिरर्धाभ्यां करयोस्ताडनाद् भवेत्॥ ८६२॥

खुदां खुदां।

इत्यर्धार्धपाणिः (९)

९—अर्धार्धपाणि

८६२ ग-घ. (अ०) करयोः अर्धाभ्यां हाथों के आधे भागों से ताडनात् प्रहार करने से अर्धार्धपाणिः भवेत् अर्धार्धपाणि होता है।

खुदां खुदां।

यह अर्धार्धपाणि है। (९)

(पार्श्वपाणिः)

वादनं नखराग्रेण पार्श्वपाणिरुदाहृतः।

थरगिड दागिड दगिड दगिड।

इति पार्श्वपाणिः (१०)

१०—पार्श्वपाणि

८६३ क-ख. (अ०) नखर-अग्रेण वादनं नख की नोक से (किया हुआ) वादन पार्श्वपाणिः उदाहृतः पार्श्वपाणि कहा गया (है)।

थरगिड दागिड दगिड दगिड।

यह पार्श्वपाणि है। (१०)

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(अर्धपाणिः)

अर्धपाणिर्भवेदेककराग्रकृतताडनात् ॥ ८६३ ॥

दगिड दगिड दरगिड दरगिड

इत्यर्धपाणिः (११)

११—अर्धपाणि

८६३ ग-घ. (अ०) एककर-अग्रकृतताडनात् एक हाथ के (सामने के) सिरे से किये गये प्रहार से अर्धपाणिः भवेत् अर्धपाणि होता है।

दगिड दगिड दरगिड दरगिड

यह अर्धपाणि है। (११)

(कर्तरी)

प्रचालनाद्वामहस्ताङ्गुलीनां कर्तरी मता।

टिरि टिरि टिरि किटथों दिगिदां तिरि टिरि किटझेंझें तकिकिट।

इति कर्तरी (१२)

१२—कर्तरी

८६४ क-ख. (अ०) वामहस्त-अङ्गुलीनां प्रचालनात् बायें हाथ की उँगलियों के (क्रम से किये गये) कंपयुक्त प्रहारों से कर्तरी मता कर्तरी मानी गई (है)।

टिरि टिरि टिरि किटथों दिगिदां तिरि टिरि किटझेंझें तकिकिट।

यह कर्तरी है। (१२)

(समकर्तरी)

कर्तरीभ्यां समं घातः कराभ्यां समकर्तरी ॥ ८६४ ॥

झिंनकिट कँनकिट किटझेंथों दिगिद तिरिटि तिरिटिकि।

इति समकर्तरी (१३)

१३—समकर्तरी

८६४ ग-घ. (अ०) कर्तरीभ्यां दो कर्तरी से कराभ्यां दोनों हाथों से समं घातः एकसाथ आघात समकर्तरी समकर्तरी (होती है)।

झिंनकिट कनकिट किटझेंथों दिगिद तिरिटि तिरिटिकि।

(सर०) दोनों हाथों से एकसाथ कर्तरी करने पर समकर्तरी होती है।

यह समकर्तरी है। (१३)

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(विषमकर्तरी)

क्रमेण ताडनाद् द्वाभ्यां भवेद् विषमकर्तरी।

टिरि टिरि थों दिगिद टिरि टिरि किद।

इति विषमकर्तरी (१४)

१४—विषमकर्तरी

८६५ क-ख. (अ०) द्वाभ्यां दोनों (हाथों) से क्रमेण ताडनात् (कर्तरी हस्त से) क्रम से प्रहार करने से विषमकर्तरी भवेत् विषमकर्तरी होती है।

टिरि टिरि थों दिगिद टिरि टिरि किद।

यह विषमकर्तरी है। (१४)

(समपाणिः)

अङ्गुष्ठाङ्गुलिसंघातौ हस्तयोर्युगपद् यदा॥ ८६५॥

पीडयेतां पुटद्वन्द्वं समपाणिस्तदा भवेत्।

दां गिड गिड दांदां।

इति समपाणिः (१५)

१५—समपाणि

८६५ ग-८६६ ख. (अ०) यदा जब हस्तयोः दोनों हाथों के अङ्गुष्ठ-अङ्गुलिसंघातौ अँगूठे और उँगलियों के समूह युगपत् एकसाथ पुटद्वन्द्वं दोनों पुड़ी पर पीडयेतां दबा कर वादन करते हैं तदा तब समपाणिः भवेत् समपाणि होता है।

दां गिड गिड दांदां।

(सर०) संघात से आशय यह है कि अँगूठे और उँगलियाँ जुड़े हुए हों, अलग-अलग, फैले हुए नहीं।

यह समपाणि है। (१५)

(विषमपाणिः)

व्यत्ययाद् व्यापृतौ हस्तौ साङ्गुष्ठाङ्गुलिभिः क्रमात्॥ ८६६॥

यस्मिन् विषमपाणिं तं ब्रूते शङ्करवल्लभः।

दांदां गिड गिड दांदां।

इति विषमपाणिः (१६)

१६—विषमपाणि

८६६ ग-८६७ ख. (अ०) यस्मिन् जिसमें हस्तौ दोनों हाथ स-अङ्गुष्ठ-अङ्गुलिभिः अँगूठे सहित उँगलियों से क्रमात्

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

क्रम से (और) व्यत्ययात् उल्टे क्रम से व्यापृतौ क्रियाशील हों (अर्थात् वादन करें) तम् उसे शंकरवल्लभः शंकर का प्रिय (शार्ङ्गदेव) विषमपाणिं ब्रूते विषमपाणि कहता है।

दांदां गिड गिड दांदां।

(सर०) क्रम का अर्थ है दाहिना हाथ दाहिने मुँह पर और बायाँ हाथ बायें मुँह पर वादन करें। व्यत्यय यानी इससे उल्टा अर्थात् दाहिने मुँह पर बायें हाथ से और बायें पर दाहिने हाथ से वादन।

यह विषमपाणि है। (१६)

(पाणिहस्तकः)

समपाणेस्तु विरलाङ्गुलित्वे पाणिहस्तकः॥ ८६७॥

तरगिड दरगिड।

इति पाणिहस्तकः (१७)

१७—पाणिहस्तक

८६७ ग-घ. (अ०) समपाणेः तु समपाणि का (प्रयोग) तो विरल-अङ्गुलित्वे अलग-अलग अंगुलियाँ होने पर पाणिहस्तकः पाणिहस्तक (होता है)।

तरगिड दरगिड।

यह पाणिहस्तक है। (१७)

(नागबन्धः)

नागबन्धो विपर्यासात् पुटयोः करघाततः।
प्रत्येकं वा पुटद्वन्द्वे कराभ्यां ताडनादयम्॥ ८६८॥

इति नागबन्धः (१८)

१८—नागबन्ध

८६८. (अ०) विपर्यासात् उल्टे क्रम से पुटयोः पुटों पर करघाततः हाथों के आघात से नागबन्धः नागबन्ध (होता है)। पुटद्वन्द्वे प्रत्येकं वा या दोनों पुड़ी में हरेक पर कराभ्यां दोनों हाथों से ताडनात् प्रहार करने से अयं यह होता है।

(सर०) उल्टे क्रम का अर्थ है दाहिने हाथ से बाईं पुड़ी पर और बायें हाथ से दाहिनी पुड़ी पर। विपर्यस्त विषमपाणि में विपर्यस्त नागबन्ध से अन्तर संभवतः यह है कि विषमपाणि में अँगूठा और उँगलियाँ जुड़ी रहती हैं, नागबन्ध में अँगूठा जुड़ा रहना कहा नहीं है इसलिये शायद सिर्फ़ उँगलियाँ जुड़ी रहती हैं। इनका विपर्यस्त प्रयोग मणिपुरी खोलवादन में आज भी प्रचलित है।

नागबन्ध के दूसरे प्रकार में एक-एक पुड़ी पर दोनों हाथों से वादन किया जाता है। तबले के वर्तमान वादन में इसे 'दुहत्थी' में देखा जा सकता है।

नागबन्ध के पाटाक्षर नहीं दिये गये हैं।

यह नागबन्ध है। (१८)

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(अवघटः)

तलेन हत्वा प्रहरेत् साङ्गुष्ठाङ्गुलिभिः क्रमात्।
पुटमेकैकपाणिश्चेद् भवेदवघटस्तदा॥ ८६९॥

ततगिड गिड दगिटन गिनगिननगि।

इत्यवघटः (१९)

१९—अवघट

८६९. (अ०) **तलेन हत्वा** हथेली से आघात करके **एक-एकपाणिः चेत्** यदि एक-एक हाथ **स-अङ्गुष्ठ-अङ्गुलिभिः** अँगूठे सहित उँगलियों से **क्रमात् प्रहरेत्** क्रम से प्रहार करे **तदा** तो **अवघटः भवेत्** अवघट होता है।

ततगिड गिड दगिटन गिनगिननगि।

यह अवघट है।

(स्वस्तिकः)

पुटमेकं निहन्यातां स्वस्तिके स्वस्तिकौ करौ।

तकिट तकिटतकि।

इति स्वस्तिकः (२०)

२०—स्वस्तिक

८७० क-ख. (अ०) **स्वस्तिके** स्वस्तिक में **स्वस्तिकौ करौ** स्वस्तिक (हस्त वाले) दोनों हाथ **एकं पुटम्** एक पुड़ी पर **निहन्याताम्** आघात करते हैं।

तकिट तकिटतकि।

(सर०) स्वस्तिक हस्त का लक्षण नर्तन० में दिया गया है (७/१९२ ग-१९३ ख)।

यह स्वस्तिक है। (२०)

(समग्रहः)

समं करतलाभ्यां तु पुटघातात् समग्रहः॥ ८७०॥

तले केचिदिह प्राहुरङ्गुष्ठाङ्गुलिवर्जिते।

तकिट किटतक।

इति समग्रहः (२१)

इत्येकविंशतिर्हस्तपाटाः

२१—समग्रह

८७० ग-८७१ ख. (अ०) **करतलाभ्यां तु** दोनों हथेलियों से तो **समं पुटघातात्** एक साथ पुटों पर आघात से **समग्रहः**

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

समग्रह (होता है)। इह इसमें केचित् कुछ लोग अङ्गुष्ठ-अङ्गुलिवर्जिते अँगूठे और उँगलियों के बिना तले दोनों तल प्राहुः कहते हैं।

तकिट किटतक।

यह समग्रह है। (२१)

इक्कीस हस्तपाट समाप्त

(प्रायिकहौडुक्कषोडशहस्तपाटाः)

(उल्लोलः)

लोलो व्यवहिताङ्गुष्ठो दक्षिणो यस्य साधकः॥ ८७१॥

वामश्चोच्छलितो हस्तमुल्लोलं तं प्रचक्षते।
अङ्गुष्ठमध्यमन्येऽत्र ब्रुवते दक्षिणं करं॥ ८७२॥

पुटमध्ये दक्षिणेन साङ्गुष्ठेन हतिं परे।

झेंथां झेंथां थांथां झें।

इति लोलः (१)

प्रायः हुडुक्का के सोलह हस्तपाट

१—उल्लोल

८७१ ग-८७३ ख. (अ०) व्यवहित-अङ्गुष्ठः दक्षिणः अलग (यानी एक ओर किये हुए) अँगूठे वाला दाहिना हाथ वामः च उच्छलितः और बायाँ ऊपर उठा हुआ यस्य साधकः जिसका सम्पन्न करने वाला (हो ऐसा जो) लोलः लोल (नामक हस्तपाट है) तम् उसे उल्लोलं हस्तम् उल्लोल हस्त प्रचक्षते कहा जाता है। अन्ये दूसरे आचार्य अत्र इसमें अङ्गुष्ठमध्यं बीच में अँगूठे वाला दक्षिणं करं ब्रुवते दाहिना हाथ कहते हैं। परे दूसरे (आचार्य) स-अङ्गुष्ठेन दक्षिणेन (इसमें) अँगूठे के सहित दाहिने (हाथ) से पुटमध्ये पुड़ी के बीच में हतिम् आघात (कहते हैं)।

झेंथां झेंथां थांथां झें।

(सर०) यहाँ से उन हस्तपाटों के लक्षण दिये जा रहे हैं जो प्रायः हुडुक्का में होते हैं। इनके अन्त में ग्रन्थकार ने प्रायिकहौडुक्कहस्तपाटाः कहा है।

लक्षण में इसे उल्लोल कहा है लेकिन लक्षण के बाद इति लोलः दिया गया है।

यह उल्लोल है। (१)

(पाण्यन्तरः)

व्यङ्गुष्ठो दक्षिणो हस्तः पुटे चेन्मुहुरुल्लसेत्॥ ८७३॥

स्वपुटं पीडयेद् वामस्तदा पाण्यन्तरो भवेत्।
विश्लिष्टाङ्गुलिसंचारमङ्गुष्ठार्धार्धताडनम्॥ ८७४॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

पाण्यन्तरस्य जनकं केचिदाचक्षते बुधाः।
अन्ये पाण्यन्तरं प्राहुर्व्यङ्गुष्ठाद्युक्तलक्षणम्॥ ८७५॥
हस्तान्तरं ततो भिन्नं विश्लिष्टादिकलक्षणम्।
नखें नखें नखें खेंखेंखें नखें नखें नखें खेंखेंखें दखुं खुंद खुंद।
इति पाण्यन्तरः (२)

२—पाण्यन्तर

८७३ ग-८७६ ख. (अ०) वि-अङ्गुष्ठः अँगूठे के बिना दक्षिणः हस्तः दाहिना हाथ पुटे पुड़ी पर मुहुः उल्लसेत् चेत् यदि बार-बार आघात करता है (और) वामः बायाँ (हाथ) स्वपुटं पीडयेत् अपनी (अर्थात् बाईं) पुड़ी को दबा कर बजाता है तदा तब पाण्यन्तरः भवेत् पाण्यन्तर होता है। विश्लिष्ट-अङ्गुलिसंचारम् अलग-अलग की हुई उँगलियों के संचार वाले अङ्गुष्ठ-अर्धार्धताडनम् अँगूठे का अर्धार्ध प्रहार पाण्यन्तरस्य जनकं पाण्यन्तर का उत्पादक (होता है ऐसा) केचित् बुधाः कोई (कुछ) विद्वान् आचक्षते कहते हैं। अन्ये दूसरे (आचार्य) वि-अङ्गुष्ठ-आदि-उक्तलक्षणं 'अँगूठे के बिना आदि' कहे गए लक्षण वाला पाण्यन्तरं प्राहुः पाण्यन्तर कहते हैं (और) ततः भिन्नम् उससे भिन्न विश्लिष्ट-आदिकं लक्षणं 'अलग-अलग' आदि लक्षण वाला हस्त-अन्तरं दूसरा हस्त कहते हैं।

नखें नखें नखें खेंखेंखें नखें नखें नखें खेंखेंखें दखुं खुंद खुंद।

यह पाण्यन्तर है। (२)

(निर्घोषः)

कोणघातेन निर्घोषं निःशङ्कः समभाषत॥ ८७६॥
नखखि थोंथों दिगिदा।
इति निर्घोषः (३)

३—निर्घोष

८७६ ग-घ. (अ०) निःशङ्कः निःशंक (शार्ङ्गदेव) ने कोणघातेन कोण के प्रहार से निर्घोषं निर्घोष समभाषत कहा है।

नखखि थोंथों दिगिदा।

यह निर्घोष है। (३)

(खण्डकर्तरी)

घाताद् दक्षिणहस्तेन विरलाङ्गुलिना ततः।
अङ्गुष्ठघातैर्वामेन पीडनात् खण्डकर्तरी॥ ८७७॥
दां खुखुदां २ खुखुग थोंटझेंदें झेंदों गिथोंटे।
इति खण्डकर्तरी (४)

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

४—खण्डकर्तरी

८७७. (अ०) विरल-अङ्गुलिना दक्षिणहस्तेन अलग-अलग की हुई उँगलियों वाले दाहिने हाथ से घातात् प्रहार करने से ततः (और) उसके बाद वामेन बायें हाथ से अङ्गुष्ठघातैः पीडनात् अँगूठे के प्रहारों के द्वारा दबाने से खण्डकर्तरी खण्डकर्तरी (होती है)।

दां खुखुदां २ खुखुग थोंटझेंदें झेंदों गिथोंटे।

यह खण्डकर्तरी (है)। (४)

(दण्डहस्तः)

अङ्गुल्यग्रैः पीडयित्वाङ्गुष्ठेन परिघट्टनात्।
वामेन पीडनाद् वाद्ये दण्डहस्तोऽभिजायते॥ ८७८॥

खुखुणं खुखुणं झेंद्रझेंद्र टिरिटिरि।

इति दण्डहस्तः (५)

५—दण्डहस्त

८७८. (अ०) अङ्गुलि-अग्रैः पीडयित्वा (दाहिने हाथ की) उँगलियों की नोकों से दबा कर (बजा कर) अङ्गुष्ठेन परिघट्टनात् अँगूठे को गोल घुमाते हुए (आघात से और) वामेन बायें (हाथ) से वाद्ये पीडनात् वाद्य पर दबा कर (प्रहार करने से) दण्डहस्तः अभिजायते दण्डहस्त उत्पन्न होता है।

खुखुणं खुखुणं झेंद्रझेंद्र टिरिटिरि।

(सर०) परिघट्टन का अर्थ है घोटना जिसमें गोल घुमाने की क्रिया अन्वित है। इसलिए पुड़ी पर अँगूठे को गोल घुमाते हुए बजाना आशय प्रतीत होता है।

यह दण्डहस्त है। (५)

(समनखः)

समत्वं पाटवर्णानामङ्गुलीनखराहते।
दृश्यते यत्र तं प्राहुः पाटं समनखाभिधम्॥ ८७९॥

रह रह तरकिट धिकिट तकिधकि टेंहेटहेंत्र।

इति समनखः (६)

६—समनख

८७९. (अ०) अङ्गुलीनखर-आहते उँगलियों के नखों से आघात करने पर यत्र जिसमें पाटवर्णानां पाटाक्षरों की समत्वं दृश्यते समानता दिखाई देती है तम् उसे समनख-अभिधं पाटं समनख नामक पाट प्राहुः कहते हैं।

रह रह तरकिट धिकिट तकिधकि टेंहेटहेंत्र।

यह समनख है। (६)

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(बिन्दुः)

अवष्टभ्य पुटं वामपाणिना तर्जनीहते।
बिन्दुरुत्पद्यते प्रोक्तमिति सोढलसूनुना॥ ८८०॥

देंदिगि देंदिगि गिरिगिड २।

इति बिन्दुः (७)

७—बिन्दु

८८०. (अ०) वामपाणिना बायें हाथ से पुटम् अवष्टभ्य पुड़ी को थाम कर तर्जनीहते (दाहिने हाथ की) तर्जनी से प्रहार करने पर बिन्दुः उत्पद्यते बिन्दु उत्पन्न होता है इति ऐसा सोढलसूनुना सोढलपुत्र (शार्ङ्गदेव) के द्वारा प्रोक्तं कहा गया (है)।

देंदिगि देंदिगि गिरिगिड २।

यह बिन्दु है। (७)

(यमलहस्तः)

समवष्टभ्य वामेन पुटं दक्षिणपाणिना।
संपीडनं वादयेच्चेत् तदा यमलहस्तकः॥ ८८१॥

कुंद कुंद झेंद्र झेंद्र झेंहें झेंहें।

इति यमलहस्तः (८)

८—यमलहस्त

८८१. (अ०) वामेन बायें हाथ से पुटं सम्-अवष्टभ्य पुड़ी को अच्छी तरह धारण करके दक्षिणपाणिना दाहिने हाथ से संपीडनं वादयेत् चेत् अगर दबा कर बजाया जाता है तदा तब यमलहस्तकः यमलहस्त (होता है)।

कुंद कुंद झेंद्र झेंद्र झेंहें झेंहें।

यह यमलहस्त है। (८)

(रेचितः)

उत्तुंगीकरणं वाद्ये स्कन्धस्य स्फुरणं तथा।
अङ्गुष्ठतर्जनीघातः पाटं कुर्वन्ति रेचितम्॥ ८८२॥

देंदें थोंथों देंदें नखझें ३ नहनझें।

इति रेचितः (९)

९—रेचित

८८२. (अ०) वाद्ये उत्तुङ्गीकरणं वाद्य ऊपर उठाने पर स्कन्धस्य स्फुरणं कन्धे का स्फुरण (थरथराना) तथा और अङ्गुष्ठतर्जनीघातः अँगूठे और तर्जनी का प्रहार रेचितं पाटं रेचित पाट को कुर्वन्ति (उत्पन्न) करते हैं।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

देंदें थोंथों देंदें नखझें ३ नहनझें।

यह रेचित है। (९)

(भ्रमरः)

भ्रमरो हस्तपाटः स्यात् समस्ताङ्गुलिताडनात्।

खेखेणं खुखुणं खु ३ णं झेंद्र २ णह करें झें।

इति भ्रमरः (१०)

१०—भ्रमर

८८३ क-ख. (अ०) समस्त-अङ्गुलिताडनात् सारी उँगलियों से प्रहार करने से भ्रमरः हस्तपाटः स्यात् भ्रमर हस्तपाट होता है।

खेखेणं खुखुणं खु ३ णं झेंद्र २ णह करें झें।

(सर०) सिंह ने कहा है कि 'भ्रमररूप' आघात करने से भ्रमर होता है। शायद यह आशय है कि सारी उँगलियों से इस तरह आघात किया जाय जिससे भौंरे की गुनगुन जैसी ध्वनि उत्पन्न हो।

यह भ्रमर है। (१०)

(विद्युद्विलासः)

अङ्गुष्ठतर्जनीघाताद् वलितार्धार्धहस्ततः ॥ ८८३ ॥

विद्युद्विलासो भणितो विद्युद्विलसितोऽथवा।

तणें ३ तिर झोंझों द्रि ३ त्रां।

इति विद्युद्विलासः (११)

११—विद्युत्विलास

८८३ ग-८८४ ख. (अ०) वलित-अर्धार्धहस्ततः वलित और अर्धार्धहस्त के बाद अङ्गुष्ठतर्जनीघातात् अँगूठे और तर्जनी के प्रहार से विद्युत्-विलासः विद्युद्विलास अथवा या विद्युत्-विलसितः विद्युद्विलसित भणितः कहा गया (है)।

तणें ३ तिर झोंझों द्रि ३ त्रां।

(सर०) सिंह० ने अँगूठे और तर्जनी से घात के बाद वलित-अर्धार्धहस्त से वादन करने पर विद्युद्विलास कहा है।

यह विद्युत्विलास है। (११)

(अर्धकर्तरी)

तर्जनीमध्यमानामा विरलाः प्रहरन्ति चेत् ॥ ८८४ ॥

श्रीश्रीकरणनाथेन तदा प्रोक्तार्धकर्तरी।

दोखुंखुं ३ ग्रेह घेट ३ झेहें धिगिगि थोंटें।

इत्यर्धकर्तरी (१२)

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

१२—अर्धकर्तरी

८८४ ग-८८५ ख. (अ०) तर्जनीमध्यमा-अनामाः तर्जनी, मध्यमा और अनामिका (उँगलियाँ) विरलाः अलग-अलग (रह कर) प्रहरन्ति चेत् यदि प्रहार करें तदा तो (उसे) श्रीश्रीकरणनाथेन श्री श्रीकरणनाथ (शार्ङ्गदेव) के द्वारा अर्धकर्तरी प्रोक्ता अर्धकर्तरी कहा गया (है)।

दोखुंखुं ३ ग्रेह घेट ३ झेहें धिगिगि थोंटें।

यह अर्धकर्तरी है। (१२)

(अलग्नः)

हस्तौ न कुण्डलीलग्नौ यत्रालग्नं तमूचिरे॥ ८८५॥

खुंखुं २ नखें झेहेगि २ थोंटें।

इत्यलग्नः (१३)

१३—अलग्न

८८५ ग-घ. (अ०) यत्र हस्तौ जहाँ दोनों हाथ कुण्डलीलग्नौ न (साँप की) कुंडली की तरह जुड़े हुए न (हों) तम् उसे अलग्नम् ऊचिरे अलग्न कहा जाता है।

खुंखुं २ नखें झेहेगि २ थोंटें।

(सर०) सिंह० की इसकी व्याख्या यों है—'जहाँ दोनों हाथ कुण्डली यानी साँप के आकार से जुड़े हुए हों वह अवलग्न है।' स्पष्टतः उसके अनुसार इस हस्तपाट का नाम अवलग्न है और लक्षण भी ठीक विपरीत है।

यह अलग्न है। (१३)

(रेफः)

स्याद् रेफः स्कन्धसञ्चेन समस्ताङ्गुलिघाततः।

हनथों झेंझें द्रं २ झेंद्र झेंहेंद्र।

इति रेफः (१४)

१४—रेफ

८८६ क-ख. (अ०) स्कन्धसञ्चेन कन्धे के संच के द्वारा समस्त-अङ्गुलिघाततः सारी उँगलियों के प्रहार से रेफः स्यात् रेफ होता है।

हनथों झेंझें द्रं २ झेंद्र झेंहेंद्र।

(सर०) सञ्च का लक्षण कम्प है जो आगे दिया जाने वाला है (८९७)।

यह रेफ है। (१४)

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(समपाणिः)

समपाणिरविश्रान्तविरलाङ्गुलिघाततः ॥ ८८६ ॥

ननगि २ देगि थों गिनह २ झें।

इति समपाणिः (१५)

१५—समपाणि

८८६ ग-घ. (अ०) अविश्रान्तविरल-अङ्गुलिघाततः अनवरत (बीच में न रुकते हुए) अलग-अलग हुई उँगलियों के प्रहार से समपाणिः समपाणि (होता है)।

ननगि २ देगि थों गिनह २ झें।

(सर०) आनन्द० में गिनह के स्थान पर भिनह पाठ है।

यह समपाणि है। (१५)

(परिवृत्तः)

परिवृत्तो हस्तपाटः स्यात् पुटद्वन्द्वताडनात्।

झें थों ४ गिणना ३।

इति परिवृत्तः (१६)

इति षोडश प्रायिकहौडुक्कहस्तपाटाः

१६—परिवृत्त

८८७ क-ख. (अ०) पुटद्वन्द्वताडनात् दोनों पुड़ी पर प्रहार करने से परिवृत्तः हस्तपाटः स्यात् परिवृत्त हस्तपाट होता है।

झें थों ४ गिणना ३।

यह परिवृत्त है। (१६)

प्रायः हुडुक्का के सोलह हस्तपाट समाप्त

(अष्टावपाटाः)

(तलप्रहारः)

तलप्रहारहेतुः स्याद् वामस्कन्धप्रचालनम्॥ ८८७॥

मध्ये वामपुटं वामपाणिना च निपीडनम्।

दें थो द्रें धिकिट किट झेंधितिरि २ त्रा।

इति तलप्रहारः (१)

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

आठ अपाट

१—तलप्रहार

८८७ ग-८८८ ख. (अ०) वामस्कन्धप्रचालनं बायें कन्धे को हिलाना वामपाणिना च और (फिर) बायें हाथ से वामपुटं मध्ये निपीडनं बाईं पुड़ी के बीच में दबाना (दबा कर बजाना) तलप्रहारहेतुः तलप्रहार (अपाट) का कारण स्यात् होता है।

दें थो द्रें धिकिट किट झेंधितिरि २ त्रा।

यह तलप्रहार है। (१)

(प्रहरः)

तलाङ्गुष्ठप्रहारेण प्रहरोऽभिहितो बुधैः ॥ ८८८ ॥

झेदां थो गिदिगिद २ किट धो धो।

इति प्रहरः (२)

२—प्रहर

८८८ ग-घ. (अ०) तल-अङ्गुष्ठप्रहारेण तल और अँगूठे के प्रहार से बुधैः बुद्धिमानों के द्वारा प्रहरः अभिहितः प्रहर कहा गया (है)।

झेदां थो गिदिगिद २ किट धो धो।

यह प्रहर है। (२)

(वलितः)

ऊर्ध्वाग्रे पटहादौ तु तर्जन्यङ्गुष्ठधारिते।
वादनेन समुद्भूतमपाटं वलितं विदुः ॥ ८८९ ॥

खुंखुदरि २ दां थोंगि थोंगि।

इति वलितः (३)

३—वलित

८८९. (अ०) पटह-आदौ तु पटह आदि में तो ऊर्ध्व-अग्रे ऊपर के सिरे पर तर्जनी-अङ्गुष्ठधारिते तर्जनी और अँगूठे से धारण किये हुए वादनेन वादन से समुद्भूतम् अपाटम् उत्पन्न हुए अपाट को वलितं विदुः वलित जाना जाता है।

खुंखुदरि २ दां थोंगि थोंगि।

यह वलित है। (३)

(गुरुगुञ्जितः)

अङ्गुष्ठानामिकाभ्यस्तवलनाद् दक्षिणे पुटे।
उच्छ्वासाद् वामपाणेश्च जायते गुरुगुञ्जितः ॥ ८९० ॥

थुकर ४ थोंरगिडिदा २ धिकि थोंटें।

इति गुरुगुञ्जितः (४)

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

४—गुरुगुंजित

८९०. (अ०) दक्षिणे पुटे दाहिनी पुड़ी पर अङ्गुष्ठ-अनामिका-अभ्यस्तवलनात् अँगूठे और अनामिका को बार-बार वर्तुलाकार (गोल-गोल) घुमाने से वामपाणेः च और बायें हाथ को उच्छ्वासात् उछालने से गुरुगुञ्जितः जायते गुरुगुंजित उत्पन्न होता है।

थुकर ४ थोंरगिडिदा २ धिकि थोंटें।

यह गुरुगुंजित है। (४)

(अर्धसञ्चः)

कम्पनं वामपादस्य नितम्बचलनं तथा।
उच्छ्वासनं करतलस्यार्धसञ्चप्रपञ्चकम्॥ ८९१॥

खें खें दरि २ खें खेंटः २।

इत्यर्धसञ्चः (५)

५—अर्धसंच

८९१. (अ०) वामपादस्य कम्पनं बायें पैर का कंपन, नितम्बचलनं नितम्ब (कमर) का हिलना तथा और करतलस्य उच्छ्वासनं हथेली को उछालना (इस तरह का वादन) अर्धसञ्चप्रपञ्चकम् अर्धसंच का विस्तारक (उत्पन्न करने वाला होता है)।

खें खें दरि २ खें खेंटः २।

यह अर्धसंच है। (५)

(त्रिसञ्चः)

त्रिकस्य चलनाद् वामाङ्गुष्ठस्य परिघट्टनात्।
स्कन्धसञ्चाच्च संजातं त्रिसञ्चं परिचक्षते॥ ८९२॥

खेंद खें खें दखेंद।

इति त्रिसञ्चः (६)

६—त्रिसंच

८९२. (अ०) त्रिकस्य चलनात् कमर के फड़कने से, वाम-अङ्गुष्ठस्य बायें अँगूठे के परिघट्टनात् गोल घूमने से स्कन्धसञ्चात् च और कन्धे के कम्प से संजातम् उत्पन्न (अपाट) को त्रिसञ्चं परिचक्षते त्रिसंच कहा जाता है।

खेंद खें खें दखेंद।

(सर०) सिंह० ने स्कन्धसञ्च का अर्थ 'कन्धे का कुछ झुकना' दिया है।

यह त्रिसंच है। (६)

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(विषमः)

हस्तवैषम्यसंजातो विषमः संमतः सताम्।

खेंदधरि २ थों दिगिधरिखें ४ खरकट २।

इति विषमः (७)

७—विषम

८९३ क-ख. (अ०) हस्तवैषम्यसंजातः हाथों की विषमता से (अर्थात् दाहिने के स्थान पर बायें और बायें के स्थान पर दाहिने हाथ की योजना से) उत्पन्न (अपाट) सतां सज्जनों को विषमः विषम (के रूप में) संमतः मान्य हुआ (है)।

खेंदधरिं २ थों दिगिंधरिखें ४ खरकट २।

यह विषम है। (७)

(अभ्यस्तः)

अपाटोऽभ्यस्तसंज्ञस्तु भवेत् करविवर्तनात्॥ ८९३॥

खणगिणखङ्गि २ तकिधिकित्त।

इत्यभ्यस्तः (८)

इत्यष्टावपाटाख्या हस्तपाटाः

८—अभ्यस्त

८९३ ग-घ. (अ०) अभ्यस्तसंज्ञः अपाटः तु अभ्यस्त नाम वाला अपाट तो करविवर्तनात् हाथ को गोल घुमाने से भवेत् होता है।

खणगिणखङ्गि २ तकधिकित्त।

यह अभ्यस्त है। (८)

(सर०) आठ अपाटों की व्याख्या करने के बाद सिंह० की टीका में अन्तिम दो को छोड़ कर शेष के जो पाटाक्षर दिये हैं वे मूलपाठ से भिन्न हैं।

जैसे—

(१) तलप्रहार—दें थां हें दिकि धकि किटझें कितरि।

(२) प्रहार—झें प्रं थो दिग थो थिं दिग किटथों थों।

(३) वलित—खुं खुं दरि दां थोगि दा थो गि।

(४) गुरुगुंजित—गुं रुं रटन गिदन गिद वि कि थोढें।

(५) अर्धसंञ्च—खें खें दरि खें खें क।

(६) त्रिसंच—खेंद खेंद खे खे द खेद।

अपाट नामक आठ हस्तपाट समाप्त

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(अलगपाटद्वयम्)

(सञ्चः)

अर्धाङ्गुल्यग्रघातोत्थं सञ्चमाचक्षते यथा।

थुकर २ गिणणं २।

इति सञ्चः (१)

दो अलगपाट

१—संच

८९४ क-ख. (अ०) अर्ध-अङ्गुलि-अग्रघात-उत्थम् उँगली के ऊपर के आधे सिरे (नोक) के प्रहार से उत्पन्न होने वाला (पाट) सञ्चम् आचक्षते संच कहा जाता है। यथा जैसे—

थुकर २ गिणणं २।

(सर०) सिंह० ने इसके ये पाट दिये हैं—ढेकर ढेकर गिणना णि।

यह संच है। (१)

(विच्छुरितः)

करसञ्चेन शुद्धेनाङ्गुष्ठघातेन च क्रमात्॥ ८९४॥

उत्पन्नोऽलगपाटः स्यान्नाम्ना विच्छुरितो यथा।

झेंद्र २ झेंगिरि गिडिदा नगिरि गिडनम्।

इति विच्छुरितः (२)

इत्यलगपाटद्वयम्

२—विच्छुरित

८९४ ग-८९५ ख. (अं०) क्रमात् क्रम से शुद्धेन करसञ्चेन शुद्ध हस्तसंच से अङ्गुष्ठ-घातेन च और अँगूठे के प्रहार से उत्पन्नः अलगपाटः उत्पन्न हुआ अलगपाट विच्छुरितः नाम्ना स्यात् विच्छुरित नाम वाला होता है। यथा जैसे—

झेंद्र २ झेंगिरि गिडिदा नगिरि गिडनम्।

(सर०) सिंह० की टीका में संच के पाट देने के बाद तलप्रहारगणपाट नाम से ये पाट दिये हैं—झेंव झेंत्व झिगि रिडि झिगि रिडि न गिन गिमगा। इसके बाद 'अलग्नप्रहारगणपाटद्वयं' तो कहा है लेकिन दूसरे गणपाट के पाटाक्षर नहीं दिये हैं। यहाँ सिंह० की टीका खण्डित प्रतीत होती है।

ये दो अलगपाट हैं।

(चित्रपाटद्वयम्)

(भ्रमरः)

तलप्रहारो वलितभेदितो भ्रमरो यथा॥ ८९५॥

दं थं द्रें झेंद्र ४ खुंखुंधरि दथोंगिं।

इति भ्रमरः (१)

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

दो चित्रपाट

१—भ्रमर

८९५ ग-घ. (अ०) वलितभेदितः वलित से मिश्रित तलप्रहारः तलप्रहार भ्रमरः भ्रमर (होता है)। यथा जैसे—
दं थं द्रें झेंद्र ४ खुंखुंधरि दथोंगिं।

(सर०) सिंह० ने इसके पाट ये दिये हैं—दें खें णं झें त्र झेंद्र खुंदु खुंदरि देथोगि।

यह भ्रमर है। (१)

(कुञ्चितः)

संकरात् करपाटानां कुञ्चितः कथितो यथा।

खुंखुंधरि २ धरिगिगिड २ दह्रें २ खुंखुं दह्रें २ गिरिगिडिद २ दत्थोंगि थोंगि २।

इति कुञ्चितः (२)

इति चित्रपाटद्वयम्

इत्यष्टाशीतिहस्तपाटलक्षणम्

२—कुंचित

८९६ क-ख. (अ०) करपाटानां संकरात् हस्तपाटों के मिश्रण से कुञ्चितः कथितः कुंचित कहा गया (है)। यथा जैसे—
खुंखुंधरि २ धरिगिगिड २ दहें २ खुंखुं दहें २ गिरिगिडिद २ दत्थोंगि थोंगि २।

(सर०) कुंचित के पाट भी सिंह० के भिन्न हैं—खुं खुंदरि र धर गिड २ धझें। खुं खुं द झेंर गिरि गिडि पद थोंगि थोगिदं।

यह कुंचित है। (२)

ये दो चित्रपाट हुए।

अट्ठासी हस्तपाटों के लक्षण समाप्त

(पञ्चसञ्चाः)

पटहस्य हुडुक्कायाः पञ्चसञ्चान् ब्रुवेऽधुना॥ ८९६॥

स्कन्धकूर्परयोस्तद्वदङ्गुष्ठमणिबन्धयोः।
वामस्य चरणस्यापि कम्पः सञ्चोऽभिधीयते॥ ८९७॥

पाँच संच

८९६ ग-८९७. (अ०) अधुना अब पटहस्य हुडुक्कायाः पटह (और) हुडुक्का के पञ्चसञ्चान् ब्रुवे पाँच संचों को कहता हूँ। स्कन्धकूर्परयोः कन्धे और कोहनी का, तत्-वत् उसी तरह अङ्गुष्ठमणिबन्धयोः अँगूठे और कलाई का वामस्य चरणस्य अपि और बायें पैर का कम्पः कम्प (हिलना) सञ्चः अभिधीयते संच कहा जाता है।

(सर०) पटह, हुडुक्का आदि के वादन में वादक के उक्त पाँच अंगों के कम्प यानी हिलने को संच कहा गया है। आज के अवनद्ध वाद्यों के वादन में इन सभी संचों को देखा जा सकता है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

श्रेष्ठः पाटहिकः सञ्चादङ्गुष्ठमणिबन्धयोः।
स्कन्धकूर्परसञ्चात्तु नीचः पटहवादकः॥ ८९८॥

वरो हौडुक्किकोङ्गुष्ठकूर्परस्कन्धसञ्चतः।
सञ्चाभ्यां मणिबन्धोत्थकूर्पराभ्यां तु मध्यमः॥ ८९९॥

असौ वामाङ्घ्रिसञ्चेन वादनादधमो भवेत्॥

इति पञ्चसञ्चलक्षणम्

८९८-९०० ख. (अ०) अङ्गुष्ठमणिबन्धयोः सञ्चात् अँगूठे और कलाई के संच से (वादन करने वाला) पाटहिकः श्रेष्ठः पटहवादक श्रेष्ठ (होता है)। स्कन्ध-कूर्परसञ्चात् तु कंधे और कोहनी के संच से (बजाने वाला) तो पटहवादकः नीचः पटहवादक नीचा (होता है)। अङ्गुष्ठकूर्परस्कन्ध-सञ्चतः अँगूठे, कोहनी और कन्धे के संच से (बजाने वाला) हौडुक्किकः हुडुक्का वादक वरः श्रेष्ठ (होता है)। मणिबन्ध-उत्थकूर्पराभ्यां सञ्चाभ्यां तु कलाई और कोहनी से उत्पन्न संचों से तो मध्यमः मध्यम (होता है)। वाम-अङ्घ्रिसञ्चेन बायें पैर के संच से वादनात् वादन करने से असौ यह (हुडुक्कावादक) अधमः भवेत् अधम होता है।

पाँच संचों का लक्षण समाप्त

(पटहादिषु वाद्याः)

पाटविन्यासभेदाः स्युर्वाद्यानि पटहादिषु॥ ९००॥

पटह आदि के वाद्य

९०० ग-घ. (अ०) पटह-आदिषु पटह आदि में पाटविन्यासभेदाः (हस्त) पाटों के (विशेष) संनिवेशों के प्रकार वाद्यानि स्युः 'वाद्य' होते हैं।

(सर०) ऊपर जो अट्ठासी हस्तपाट कहे गये उनके विभिन्न प्रकार के संयोजन से बनी विशिष्ट रचनाएँ 'वाद्य' कहलाती हैं।

(वाद्यानामुद्देशः)

वोल्लावणी च चल्लावण्युडुवश्च कुचुम्बिणी।
चारुश्रवणिकालग्नः परिश्रवणिका ततः॥ ९०१॥

समप्रहारः कुडुवचारणा करचारणा।
दण्डहस्तो घनरवस्तानीति द्वादशावदन्॥ ९०२॥

वाद्यों का उद्देश

९०१-९०२. (अ०) वोल्लावणी और चल्लावणी, उडुव और कुचुम्बिणी, चारुश्रवणिका, अलग्न, परिश्रवणिका, उसके बाद समप्रहार, कुडुवचारणा, क़रचारणा, दण्डहस्त (और) घनरव इति यों तानि वे (वाद्य) द्वादश अवदन् बारह कहे गये।

(सर०) कल्लि० के अनुसार ये बारह साधारण रूप से पटह आदि सभी वाद्यों में होते हैं।

वल्लिश्च वल्लिपाटः स्यात् घत्ताभेदौ झडप्पणी।
अनुश्रवणिका हस्तो जोडणी त्रिगुणा ततः॥ ९०३॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

पञ्चहस्तः पञ्चपाणिर्वाद्यं स्यात् पञ्चकर्तरी।
ततश्चन्द्रकला प्राहुर्वाद्यानीति त्रयोदश॥ ९०४॥

प्रायेणैतानि दृश्यन्ते हुडुक्कावाद्यगोचरे।
वाद्यानामुभयेषां स्यात् पञ्चविंशतिरित्यसौ॥ ९०५॥

९०३-९०५. (अ०) वल्लि, वल्लिपाट, घत्ता, भेद, झडप्पणी, अनुश्रवणिका, हस्त, जोडणी, त्रिगुणा, पञ्चहस्त, पञ्चपाणि, पञ्चकर्तरी, चन्द्रकला इति त्रयोदश वाद्यानि ये तेरह वाद्य प्राहुः कहते हैं। एतानि ये प्रायेण प्रायः हुडुक्कावाद्यगोचरे हुडुक्का के वादन में प्रत्यक्ष दृश्यन्ते दिखाई देते हैं। उभयेषां वाद्यानां दोनों (प्रकार के) वाद्यों की (मिला कर) पञ्चविंशतिः पच्चीस इति असौ स्यात् यों यह (संख्या) होती है।

(सर०) ये तेरह वाद्य प्रायः हुडुक्का के वादन में दिखाई देते हैं। पूर्वोक्त बारह और ये तेरह—यों कुल मिला कर पच्चीस वाद्य होते हैं।

(वाद्यानां लक्षणानि)

(वोल्लावणी)

आदिमध्यावसानेषु देंकारबहुलं भवेत्।
आद्यखण्डं द्वितीयं च तादृशं वाद्यते पृथक्॥ ९०६॥

यत्र वोल्लावणी सोक्ता पटहे वाद्यवेदिभिः।

यथा—दें३ थों३ दें३।

वाद्यों के लक्षण

१—वोल्लावणी

९०६-९०७ ख. (अ०) यत्र जिसमें आद्यखण्डं पहला खण्ड आदिमध्य-अवसानेषु शुरू, बीच और अन्त में देंकारबहुलं भवेत् दें शब्द की प्रचुरता वाला होता है द्वितीयं च और दूसरा तादृशं वैसा ही पृथक् वाद्यते अलग बजाया जाता है सा वह वाद्यवेदिभिः 'वाद्य' के वेत्ताओं के द्वारा पटहे पटह में वोल्लावणी उक्ता वोल्लावणी कही गई है।

यथा जैसे—दें ३ थों ३ दें ३

(सर०) कल्लि० ने कहा कि पटह में जब वोल्लावणी बजाई जाती है तो उसमें दें का बहुत प्रयोग होता है। दूसरा खण्ड भी वैसा ही होने का अभिप्राय यह है कि उसमें भी दें बहुत होता है।

अस्याः खण्डद्वयं वाद्यान्तरे स्याद् योजनान्वितम्॥ ९०७॥

झेंकृतिर्देंकृतिस्थाने हुडुक्कायां भवेदिह।
डक्कायां मर्दले चैव थों त्रिवल्ल्यां तु दों भवेत्॥ ९०८॥

करटायां तु टेमेव प्रधानाक्षरयोजना।
वाद्यान्तरेष्वपि प्राज्ञैः प्रोह्यतामनया दिशा॥ ९०९॥

इति वोल्लावणी (१)

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

९०७ ग-९०९. (अ०) अस्याः खण्डद्वयम् इसके दो खण्ड वाद्य-अन्तरे दूसरे (अवनद्ध) वाद्यों में योजना-अन्वितं स्यात् योजना से युक्त होते हैं। हुडुक्कायां हुडुक्का में इह इस (वोल्लावणी) में देंकृतिस्थाने देंकार की जगह झेंकृतिः भवेत् झेंकार होता है, डक्कायां मर्दले च एव डक्का और मर्दल में थों थों त्रिवल्ल्यां तु (और) त्रिवली में तो दों भवेत् दों होता है। करटायां तु करटा में तो टेम् एव टें ही (होता है)। वाद्य-अन्तरेषु अपि दूसरे वाद्यों में भी प्राज्ञैः ज्ञाताओं के द्वारा अनया दिशा इसी प्रकार प्रधान-अक्षरयोजना प्र-ऊह्यतां मुख्य अक्षरों की योजना विशेष रूप से समझनी (योजित करनी) चाहिये।

(सर०) वोल्लावणी के दो खण्डों की योजना पटह के अलावा दूसरे वाद्यों में भी होती है। लेकिन उन वाद्यों में दें के स्थान पर उनके अपने-अपने मुख्य अक्षर का प्रयोग होता है। ग्रन्थकार ने उदाहरण देकर स्पष्ट किया कि जैसे हुडुक्का में झें, डक्का और मर्दल में थों, त्रिवली में दों और करटा में टें होता है।

कल्लि० ने यह स्पष्ट किया कि हर वाद्य में दूसरे अक्षरों के साथ प्रधान अक्षर के रूप में उक्त अक्षरों का प्रयोग होगा, यह समझना चाहिए। लेकिन उसने इस पर यह शंका भी उठाई कि प्रधान अक्षर तो एक ही होगा और दूसरे अक्षर बहुत होंगे तब दूसरे वाद्यों का बोध कैसे होगा? इसका यह उत्तर दिया कि जैसे षड्जादि में से एक ही स्वर अंश होता है लेकिन दूसरे स्वरों के बीच अंश का बहुल प्रयोग होने से उसी की प्रधानता होती है और रागविशेष की प्रतीति होती है, दूसरे स्वर अंश को अलंकृत करते हैं उसी तरह यहाँ भी देंकार आदि की अन्य अक्षरों में बहुलता होने से उस-उस प्रधान अक्षर के द्वारा वाद्यविशेष की प्रतीति होती है।

यह वोल्लावणी है (१)

(चल्लावणी)

मण्डले चाल्यते यत्र प्रोचुश्चल्लावणीममूम्।

इति चल्लावणी (२)

२—चल्लावणी

९१० क-ख. (अ०) यत्र जिसमें मण्डले (वाद्य के) मंडल पर चाल्यते चालन किया जाता है अमूम् इसे चल्लावणीं चल्लावणी प्रोचुः कहा गया है।

(सर०) मण्डल का अर्थ गोल होता है। यहाँ शायद वाद्य के बाहरी ओर के गोल स्थान से आशय है।

यह चल्लावणी है (२)

(उडुवः)

वामेन तलहस्तेन दक्षिणेन तु पाणिना॥ ९१०॥

लुलितेन सकोणेन ताडनादुडुवो भवेत्।

इत्युडुवः (३)

३—उडुव

९१० ग-९११ ख. (अ०) वामेन तलहस्तेन बायें (हाथ) से तलहस्त से (और) दक्षिणेन पाणिना तु दाहिने हाथ से तो लुलितेन सकोणेन ताडनात् कंपित कोण सहित प्रहार से उडुवः भवेत् उडुव होता है।

यह उडुव है (३)

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(कुचुम्बिणी)

उद्दलीपिहिते वक्त्रे हस्तस्वस्तिकताडनात्॥ ९११॥
खुंकारबहुलं वाद्यं कीर्तयन्ति कुचुम्बिणीम्।
इति कुचुम्बिणी (४)

४—कुचुंबिणी

९११ ग-९१२ ख. (अ०) उद्दलीपिहिते वक्त्रे उद्दली से ढके हुए मुँह पर हस्तस्वस्तिकताडनात् स्वस्तिक हस्त से प्रहार करने से खुंकारबहुलं वाद्यं खुंकार (खुं) प्रचुर (जो) वाद्य (उत्पन्न होता है उसे) कुचुम्बिणीं कीर्तयन्ति कुचुंबिणी कहा जाता है।

यह कुचुंबिणी है (४)

(चारुश्रवणिका)

वोल्लावण्येव पाणिभ्यां क्रमाद्वा युगपत् कृतैः॥ ९१२॥
भूरिभिः संभृता पाटैश्चारुश्रवणिका भवेत्।
शुद्धैश्चित्रैः क्रमात् पाटैः शुद्धा चित्रेति सा द्विधा॥ ९१३॥
इति चारुश्रवणिका (५)

५—चारुश्रवणिका

९१२ ग-९१३. (अ०) पाणिभ्यां दोनों हाथों से क्रमात् वा क्रम से या युगपत् कृतैः एकसाथ किये हुए भूरिभिः पाटैः संभृता बहुत पाटों से अन्वित वोल्लावणी एव वोल्लावणी ही चारुश्रवणिका भवेत् चारुश्रवणिका होती है। सा वह शुद्धैः चित्रैः च पाटैः शुद्ध और चित्र पाटों से क्रमात् क्रम से शुद्धा चित्रा इति शुद्धा (और) चित्रा यों द्विधा दो प्रकार की (होती है)।

यह चारुश्रवणिका है (५)

(अलग्नः)

अलग्नः कुण्डलीस्पर्शं विना कोणप्रहारतः।
इत्यलग्नः (६)

६—अलग्न

९१४ क-ख. (अ०) कुण्डलीस्पर्शं विना कुंडली को छुए बिना कोणप्रहारतः कोण के प्रहार से अलग्नः अलग्न (होता है)।

(सर०) हुडुक्का के हस्तपाटों में अलग पाट के लक्षण में भी कुण्डली शब्द आया है। सिंह० ने इसका अर्थ 'सर्पाकार' किया। प्रस्तुत प्रबन्ध में कुण्डली का आशय स्पष्ट नहीं है। संभवतः मण्डल से आशय है।

यह अलग्न है (६)

(परिश्रवणिका)

कर्तरी समपाणिश्चावघटो यत्र तु क्रमात्॥ ९१४॥
सोक्ता परिश्रवणिका श्रीयज्ञपुरसूरिणा।
इति परिश्रवणिका (७)

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

७—परिश्रवणिका

९१४ ग-९१५ ख. (अ०) यत्र तु जहाँ तो कर्तरी समपाणिः अवघटः च कर्तरी, समपाणि और अवघट क्रमात् क्रम से (प्रयोग किये जायँ) सा वह श्रीयज्ञपुरसूरिणा श्रीयज्ञपुर के विद्वान् (शार्ङ्गदेव) के द्वारा परिश्रवणिका उक्ता परिश्रवणिका कही गई है।

यह परिश्रवणिका है।

(समप्रहारः)

समप्रहारो युगपत् करद्वन्द्वेन घाततः॥ ९१५॥

इति समप्रहारः

८—समंप्रहार

९१५ ग-घ. (अ०) करद्वन्द्वेन दोनों हाथों से युगपत् घाततः एक साथ आघात से समप्रहारः समप्रहार (होता है)।

यह समप्रहार है (८)

(कुडुवचारणा)

कुडुवोद्धवपाटाभ्यां वाद्यं कुडुवचारणा।
उच्यते वादनो दण्डः कोणः कुडुव इत्यपि॥ ९१६॥

इति कुडुवचारणा (९)

९—कुडुवचारणा

९१६. (अ०) कुडुव-उद्भवपाटाभ्यां कुडुवा से उत्पन्न दो पाटों से कुडुवचारणा वाद्यं कुडुवचारणा वाद्य (होता है) वादनः दण्डः बजाने का दण्ड (डंडी) कोणः कुडुवः इति अपि कोण (और) कुडुव यह भी उच्यते कहा जाता है।

(सर०) कुडुवा अवनद्ध वाद्य है जिसका लक्षण आगे कहा जायगा।

यह कुडुवचारणा है (९)

(करचारणा)

जांता हस्तजपाटैस्तु केवलैः करचारणा।

इति करचारणा (१०)

१०—करचारणा

९१७ क-ख. (अ०) केवलैः हस्तजपाटैः तु केवल हाथों से उत्पन्न होने वाले पाटों से तो करचारणा जाता करचारणा उत्पन्न हुई (निष्पन्न होती है)।

यह करचारणा है (१०)

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(दण्डहस्तः)

एकैको यः करद्वन्द्वान्मृदुदक्षिणपाणिकात्॥ ९१७॥
जायते तादृशैः पाटैर्दण्डहस्तोऽभिधीयते।

इति दण्डहस्तः (११)

११—दण्डहस्त

९१७ ग-९१८ ख. (अ०) यः जो मृदुदक्षिणपाणिकात् कोमल दाहिने हाथ से करद्वन्द्वात् (और) दोनों हाथों से एक-एकः एक-एक ही (पाट) जायते उत्पन्न होता है तादृशैः पाटैः ऐसे पाटों से दण्डहस्तः अभिधीयते दण्डहस्त कहा जाता है।

(सर०) दंडहस्त में दोनों हाथों से एक साथ एक-एक पाट उत्पन्न किया जाता है लेकिन दाहिने हाथ से कोमलता से आघात होता है।

यह दण्डहस्त है (११)

(घनरवः)

यः करेण कराभ्यां वा कृतैः पाटैर्निरन्तरैः॥ ९१८॥
निरन्तरघनध्वानः स स्याद् घनरवाभिधः।

इति घनरवः (१२)

इति द्वादश पटहादिजातानि वाद्यानि

१२—घनरव

९१८ ग-९१९ ख. (अ०) यः जो करेण कराभ्यां वा एक हाथ से या दोनों हाथों से निरन्तैरः कृतैः पाटैः अनवरत किए गए पाटों से निरन्तरघनध्वानः अखण्ड (और) सघन ध्वनि वाला (हो) सः वह घनरव-अभिधः स्यात् घनरव नाम वाला (वाद्य) होता है।

यह घनरव है (१२)

पटह आदि से उत्पन्न बारह वाद्य समाप्त

(प्रायिकहौडुक्कवाद्यानि)

(वल्लिः)

स्कन्धेन मणिबन्धेन कुडुवेन च चालनात्॥ ९१९॥
सोल्लासाज्जायते वल्लिस्त्रिविधा पटहादिषु।

इति वल्लिः (१)

प्रायः हुडुक्का के वाद्य

१—वल्लि

९१९ ग-९२० ख. (अ०) स्कन्धेन मणिबन्धेन कुडुवेन च कन्धे, कलाई या कुडुव के द्वारा स-उल्लासात् चालनात्

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

उल्लासयुक्त कंपन से पटह-आदिषु पटह आदि में त्रिविधा वल्लिः तीन प्रकार से वल्लि जायते उत्पन्न होती है।

यह वल्लि है (१)

(वल्लिपाटः)

अर्धं वार्धद्वयं वल्ल्यां स्वैः स्वैः पाटैरयोजनम्॥ ९२०॥

कृतं संयोजनं वा चेद् वल्लिपाटस्तदा भवेत्।

इति वल्लिपाटः (२)

२—वल्लिपाट

९२० ग-९२१ ख. (अ०) वल्ल्यां वल्लि में अर्धम् अर्धद्वयं वा आधा (भाग) या दो आधे (भाग) स्वैः स्वैः पाटैः अपने-अपने पाटों से अयोजनं संयोजनं वा कृतं चेत् यदि रहित या सहित किये हुए (हों) तदा तो वल्लिपाटः भवेत् वल्लिपाट होता है।

यह वल्लिपाट है (२)

(घत्ता)

निबद्धं वादयेदाद्यं झेंकारार्धं पुरातनम्॥ ९२१॥

अनिबद्धं स्वबुद्ध्यार्धं कराभ्यां वादयेदथ।
वाद्येनाद्यं निबद्धं चेत् पुनर्घत्ता तदोच्यते॥ ९२२॥

इति घत्ता (३)

३—घत्ता

९२१ ग-९२२. (अ०) आद्यं झेंकार-अर्धं झेंकार का पहला आधा (भाग) निबद्धं वादयेत् निबद्ध (पहले से बँधा हुआ) बजाना चाहिये पुरातनम् अर्धम् (उसके बाद) बचा हुआ आधा (भाग) अनिबद्धं स्वबुद्ध्या बिना बँधा अपनी बुद्धि से (उसी समय कल्पित) कराभ्यां वादयेत् दोनों हाथों से बजाना चाहिये। अथ इसके बाद पुनः फिर से आद्यं निबद्धं वाद्येन चेत् यदि पहले वाले निबद्ध वाद्य से (बजाया जाय) तदा तो घत्ता उच्यते घत्ता कहा जाता है।

(सर०) घत्ता में शुरू का आधा भाग पहले से बँधा हुआ बजता है, उसके बाद आधा भाग बिना बँधा हुआ और अन्त में फिर से शुरू का बँधा हुआ बजाया जाता है।

यह घत्ता है (३)

(भेदः)

योगेनैकेन निष्पन्नस्तदुपाङ्गभवोऽपरः।
पाटोऽन्योन्याङ्गजातैर्यः संमिश्रैः पाटपूरणैः॥ ९२३॥

नानावाद्योद्भवैः पाटैर्भेदस्त्रेधा लयत्रयात्।

इति भेदः (४)

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

४—भेद

९२३-९२४ ख. (अ०) एकेन योगेन निष्पन्नः एक ही (अंग) के योग से निष्पन्न (पाट) तत् उपाङ्गभवः (और) उसके उपांग से उत्पन्न हुआ अपरः पाटः दूसरा पाट अन्योन्य-अङ्गजातैः पाटैः (इस तरह) परस्पर अंगों से उत्पन्न पाटों के द्वारा पाटपूरणैः संमिश्रैः पाटों की पूर्ति के लिये मिश्रित नानावाद्य-उद्भवैः पाटैः अनेक वाद्यों से उत्पन्न हुए पाटों से लयत्रयात् तीन लयों (के संयोजन) से भेदः त्रेधा भेद (नामक वाद्य) तीन प्रकार का होता है।

(सर०) अंग और उपांग से आशय मुख्य वाद्य और उसके अंगभूत वाद्य से है। ना०शा० में अंग और प्रत्यंग अवनद्ध वाद्य कहे गये हैं। वहाँ त्रिपुष्कर अंग वाद्य और दर्दर, पणव, झल्लरी, पटह आदि प्रत्यंग वाद्य हैं।

यह भेद है (४)

(झडप्पणी)

यस्यामुपक्रमे मध्येऽन्तेऽथ वाद्यैरनेकधा॥ ९२४॥

सर्ववाद्यानि वाद्यन्ते जगदुस्तां झडप्पणीम्।

इति झडप्पणी (५)

५—झडप्पणी

९२४ ग-९२५ ख. (अ०) यस्यां जिसमें उपक्रमे मध्ये अथ अन्ते शुरू, बीच और अन्त में अनेकधा वाद्यैः अनेक प्रकार के वादनों से सर्ववाद्यानि वाद्यन्ते सारे वाद्य बजाये जाते हैं ताम् उसे झडप्पणीं जगदुः झडप्पणी कहते हैं।

यह झडप्पणी है (५)

(अनुश्रवणिका)

पाटः पाटाक्षरं यद्वा श्रूयते चेत् पुनः पुनः॥ ९२५॥

अनुश्रवणिकां प्राह शंकरानुचरस्तदा॥

इत्यनुश्रवणिका (६)

६—अनुश्रवणिका

९२५ ग-९२६ ख. (अ०) पाटः पाटाक्षरं यत् वा पाट या पाटाक्षर पुनः पुनः श्रूयते चेत् यदि बार बार सुनाई देते हैं तदा तो (उसे) शंकर-अनुचरः शंकर के सेवक (शार्ङ्गदेव) ने अनुश्रवणिकां प्राह अनुश्रवणिका कहा है।

(सर०) पाट का आशय पूरा हस्तपाट है और पाटाक्षर यानी अकेले-अकेले अक्षर।

यह अनुश्रवणिका है (६)

(हस्तः)

द्वे चत्वारि भवन्त्यष्टौ यद्वा खण्डानि षोडश॥ ९२६॥

देंकारादीनि यत्रासौ हस्तः स तु चतुर्विधः।

चतुरश्रत्र्यश्रमिश्रखण्डतालप्रयोगतः॥ ९२७॥

इति हस्तः (७)

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

७—हस्त

९२६ ग-९२७. (अ०) यत्र जिसमें देंकार-आदीनि देंकार से शुरू होने वाले द्वे चत्वारि अष्टौ यत् वा षोडश दो, चार, आठ या सोलह खण्डानि भवन्ति खण्ड होते हैं असौ यह हस्तः हस्त (होता है) स तु और वह चतुरश्रत्र्यश्रमिश्रखण्डताल-प्रयोगतः चतुरश्र, त्र्यश्र, मिश्र (और) खण्ड तालों के प्रयोग से चतुर्विधः चार प्रकार का (होता है)।

यह हस्त है (७)

(जोडणी)

तदर्धार्धादिभेदेन क्रमेण व्युत्क्रमेण वा।
अखण्डतालाः पाटाश्चेद् युज्यन्ते जोडणी तदा॥ ९२८॥

इति जोडणी (८)

८—जोडणी

९२८. (अ०) अ-खण्डतालाः खण्डतालों को छोड़ कर (अन्य तालों से) तत् अर्ध-अर्धादिभेदेन उनके आधे या आधे के आधे (चौथाई) आदि भेद से क्रमेण व्युत्क्रमेण वा अथवा क्रम या उल्टे क्रम से पाटाः युज्यन्ते चेत् यदि पाट योजित होते हैं तदा जोडणी तो जोडणी (होती है)।

यह जोडणी है (८)

(त्रिगुणा)

खण्डानि त्रीणि यत्र स्युरेकैकं त्रिगुणं तथा।
वाद्यते यत्र सा प्रोक्ता त्रिगुणा त्रिविधा च सा॥ ९२९॥

आदिमध्यान्तखण्डानां त्रैगुण्यात् सा पुनर्द्विधा।
क्रमव्युत्क्रमतोऽथास्यास्तत् त्रैगुण्यमुदाहरेत्॥ ९३०॥

९—त्रिगुणा

९२९-९३०. (अ०) यत्र जिसमें त्रीणि खण्डानि स्युः तीन खण्ड होते हैं तथा और एक-एकं हरेक त्रिगुणं वाद्यते तीन बार बजाया जाता है सा वह त्रिगुणा प्रोक्ता त्रिगुणा कही गई है सा च और वह आदिमध्य-अन्तखण्डानां शुरू, बीच और अन्तिम खण्डों के त्रैगुण्यात् तिगुना होने (अर्थात् तीन बार बजाने) से त्रिविधा तीन प्रकार की (होती है)। क्रमव्युत्क्रमतः क्रम और उल्टे क्रम से सा वह पुनः द्विधा फिर से दो प्रकार की (होती है)। अथ अब अस्याः इसका तत् त्रैगुण्यं वह तीन गुना होना (अर्थात् तीन बार योजित होना) उदाहरेत् कहना चाहिये (अर्थात् कहा जा रहा है)।

(सर०) त्रिगुणा का अर्थ है तिगुनी। इसके तीन खण्डों में से हरेक खण्ड ३-३ बार बजाया जाता है इसलिये त्रिगुणा नाम सार्थक है। इन तीनों खण्डों को क्रम और व्युत्क्रम से बजाने पर त्रिगुणा फिर से २-२ प्रकार की होती है।

इसके खण्डों की रचना ग्रन्थकार ने अगले श्लोकों में बताई है।

प्रयुज्य त्रीणि खण्डानि प्रयुञ्जीतादिमद्वयम्।
ततश्चाद्यमिति प्रोक्तं खण्डे त्रैगुण्यमादिमे॥ ९३१॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

इत्यादित्रिगुणा मध्ये त्रिगुणा तु द्विधा भवेत्।
त्रैगुण्यान्मध्यखण्डस्य द्विःप्रकारात् तदुच्यते॥ ९३२॥

९३१-९३२. (अ०) त्रीणि खण्डानि प्रयुज्य तीन खण्डों का प्रयोग करके (बजा कर) आदिमद्वयं प्रयुञ्जीत शुरू के दो (खण्ड) बजाने चाहियें ततः च और उसके बाद आद्यं पहला खण्ड इति इस तरह आदिमे खण्डे पहले खण्ड में त्रैगुण्यं प्रोक्तं त्रैगुण्य कहा गया (है)। इति यह आदित्रिगुणा आदित्रिगुणा (शुरू का खण्ड तीन बार वाली है)। मध्ये त्रिगुणा तु मध्य (खण्ड) में त्रिगुण वाली तो मध्यखण्डस्य बीच के खण्ड के द्विःप्रकारात् त्रैगुण्यात् दो प्रकार से त्रिगुणता से द्विधा भवेत् दो प्रकार की होती है। तत् उच्यते वह कहा जा रहा है (कह रहा हूँ)।

(सर०) आदित्रिगुणा में तीन खण्ड, फिर शुरू के दो और अन्त में पहला खण्ड बजाने से शुरू का खण्ड तीन बार बजता है।

खण्डत्रयं ततः खण्डद्वयमाद्यं प्रयुज्यते।
ततो मध्यममित्येवं यद्वा खण्डत्रयात् परम्॥ ९३३॥

अन्त्यद्वयं वादयित्वा प्रयोज्यं मध्यमं दलम्।
अथान्तस्त्रिगुणायां प्राक् खण्डत्रितयवादनम्॥ ९३४॥

ततोऽन्तिमद्वयं खण्डमन्तिमं वादयेत् तथा।
एवमष्टविधामाह त्रिगुणां भववल्लभः॥ ९३५॥

९३३-९३५. (अ०) खण्डत्रयं तीन खण्ड, ततः उसके बाद आद्यं खण्डद्वयं शुरू के दो खण्ड प्रयुज्यते प्रयुक्त किये जाते हैं ततः (और) उसके बाद मध्यमं बीच वाला खण्ड इति एवम् इस प्रकार यत् वा अथवा खण्डत्रयात् परं तीन खण्डों के बाद अन्त्यद्वयं वादयित्वा अन्तिम दो बजा कर मध्यमं दलं बीच वाला खण्ड प्रयोज्यं प्रयुक्त करना चाहिये (इस तरह मध्यत्रिगुणा होती है) अथ अब अन्तः त्रिगुणायाम् (अन्तिम खण्ड तीन बार वाली) अन्तस्त्रिगुणा में प्राक् पहले खण्डत्रितयवादनं खण्डों के तीन के समूह (अर्थात् तीन खण्ड) बजाना, ततः उसके बाद अन्तिमद्वयम् अन्त के दो तथा और अन्तिमं खण्डम् अन्तिम खण्ड को वादयेत् बजाना चाहिये। एवम् इस तरह भववल्लभः शंकरप्रिय (शार्ङ्गदेव) अष्टविधां त्रिगुणाम् आठ तरह की त्रिगुणा आह कहता है।

(सर०) मध्यत्रिगुणा के दूसरे प्रकार के लिये दोनों संस्करणों का पाठ 'खण्डद्वयात्' है। लेकिन सिंह० की व्याख्या में 'शुरू में तीन खण्ड' कहा गया है। यों भी त्रिगुणा के सभी प्रकारों में शुरू में तीन खण्डों का विधान है। इस दृष्टि से सिंह० की व्याख्या संगत हैं और उसी आधार पर यहाँ खण्डत्रयात् पाठ रखा गया है।

मध्यत्रिगुणा के पहले प्रकार में तीन खण्ड, फिर शुरू के दो खण्ड और अन्त में मध्य खण्ड बजाने से बीच का खण्ड तीन बार प्रयुक्त होता है। इसके दूसरे प्रकार में तीन खण्ड, फिर अन्तिम दो खण्ड और अन्त में बीच का खण्ड प्रयुक्त होता है।

अन्तत्रिगुणा में पहले तीन खण्ड, फिर अन्तिम दो खण्ड और अन्त में अन्तिम खण्ड बजाया जाता है।

इस तरह आदित्रिगुणा का एक प्रकार, मध्यत्रिगुणा के दो और अन्तत्रिगुणा का एक—ये ४ प्रकार क्रम से प्रयोग के द्वारा हुए। इसी तरह व्युत्क्रम से बजाने पर चार अन्य प्रकार, यों कुल ८ भेद त्रिगुणा के होते हैं।

अथवा चतुरश्रादौ क्वापि ताले दलत्रयम्।
प्रयुज्यैकस्य खण्डस्य मानेनाथ दलद्वयम्॥ ९३६॥

कुर्याद् दलत्रयं तावद् यत्र सा त्रिगुणा भवेत्।
चतुरश्रत्र्यश्रमिश्रयुक्तैर्वैषा क्रमाद् दलैः॥ ९३७॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

९३६-९३७. (अ०) अथवा या (अन्य मत से) चतुरश्र-आदौ क्वापि ताले चतुरश्र आदि किसी भी ताल में दलत्रयं प्रयुज्य तीन खण्ड प्रयुक्त करके अथ फिर यत्र जिसमें एकस्य खण्डस्य मानेन एक ही खण्ड के माप से तावत् दलद्वयं दलत्रयं कुर्यात् उतने ही दो खण्ड और तीन खण्ड करने चाहियें (ऐसा करने पर) सा वह त्रिगुणा भवेत् त्रिगुणा होती है। चतुरश्रत्र्यश्रमिश्र-युक्तैः वा अथवा चतुरश्र, त्र्यश्र और मिश्र (तालों) से युक्त दलैः क्रमात् खण्डों से क्रम से सा वह (होती है)।

(सर०) चतुरश्र, त्र्यश्र तालों से सिंह० ने चच्चत्पुट और चाचपुट का ग्रहण किया है।

अन्ये त्वेककले ताले द्विकलेऽथ चतुष्कले।
क्रमाद् विरचितैः खण्डैस्त्रिगुणामभणन् बुधाः॥ ९३८॥

एकं चच्चत्पुटे खण्डद्वयं चाचपुटे ततः।
मिश्रे खण्डत्रयं यत्र त्रिगुणां तां जगुः परे॥ ९३९॥

९३८-९३९. (अ०) अन्ये बुधाः तु अन्य विद्वानों ने तो क्रमात् क्रम से एककले द्विकले अथ चतुष्कले ताले एककल, द्विकल और चतुष्कल ताल में विरचितैः खण्डैः रचित खण्डों से त्रिगुणाम् अभणन् त्रिगुणा कही है। परे अन्य (विद्वान्) यत्र जहाँ एकं चच्चत्पुटे एक (खण्ड) चच्चत्पुट में, ततः उसके बाद खण्डद्वयं चाचपुटे दो खण्ड चाचपुट में (और) खण्डत्रयं मिश्रे तीन खण्ड मिश्र (ताल) में (हो) ताम् उसे त्रिगुणां जगुः त्रिगुणा कहते हैं।

पदैश्चतुर्भिरस्यां स्यात् खण्डमेकं पदं पुनः।
मितं कलाभिरष्टाभिरित्युक्तं सूरिशार्ङ्गिणा॥ ९४०॥

इति त्रिगुणा (९)

९४०. (अ०) अस्याम् इसमें खण्डम् एक खण्ड चतुर्भिः पदैः स्यात् चार पदों से होता है पुनः एकं पदम् और एक पद अष्टाभिः कलाभिः आठ कलाओं से मितं मापा हुआ (होता है) इति ऐसा सूरिशार्ङ्गिणा विद्वान् शार्ङ्गदेव के द्वारा उक्तं कहा गया (है)।

(सर०) पदं की सिंह० ने कोई व्याख्या नहीं की है। पद से आशय वाद्य का आठ कला वाला अवान्तर खण्ड है और ऐसे चार पदों से बड़ा खण्ड बनता है जिसे यहाँ 'खण्ड' कहा है।

त्रिगुणा की रचना और विभिन्न मतों से इसके अनेक भेदों से प्रकट होता है कि अवनद्ध के 'वाद्यों' में यह महत्त्वपूर्ण वाद्य है और काफ़ी बड़ा वाद्य है। यह भी स्पष्ट है कि त्रिगुणा के वादन में विविधता और विस्तार के लिये पर्याप्त क्षेत्र है। यह भी उल्लेखनीय है कि मतान्तर से चच्चत्पुट और चाचपुट—इन दो प्रमुख मार्ग तालों में इसका वादन होता है।

यह त्रिगुणा है (९)

(पञ्चहस्तः)

पञ्चहस्तो हस्तपाटैर्हस्तशब्दान्विताभिधैः।

इति पञ्चहस्तः (१०)

१०—पंचहस्त

९४१ क-ख. (अ०) हस्तशब्द-अन्वित-अभिधैः हस्त शब्द से युक्त नाम वाले हस्तपाटैः हस्तपाटों से पञ्चहस्तः पंचहस्त (होता है)।

यह पंचहस्त है (१०)

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(पञ्चपाणिः)

पञ्चपाणिस्तु पाटैः स्यात् पाणिशब्दयुताभिधैः॥ ९४१॥

इति पञ्चपाणिः (११)

११—पंचपाणि

९४१ ग-घ. (अ०) पञ्चपाणिः तु पंचपाणि तो पाणिशब्दयुत-अभिधैः पाटैः पाणि शब्द से युक्त नाम वाले पाटों से स्यात् होता है।

(सर०) सिंह० ने व्याख्या में कहा कि जिनमें पाणि शब्द से युक्त आदि हो अर्थात् पाटों के शुरू में पाणि शब्द हो ऐसे पाटों से पंचपाणि होता है। इससे यह समझा जा सकता है कि पंचहस्त में भी संभवतः पाटों के शुरू में हस्त शब्द और फिर दूसरे पाट होते हैं। पंचहस्त और पंचपाणि वाद्यों में 'पञ्च' पाँच संख्या का सूचक प्रतीत होता है।

जिस तरह गीत प्रबन्धों में लोली, दन्ती शब्दों का प्रयोग उन-उन प्रबन्धों की पदरचना में कहा गया है उसी तरह पंचहस्त और पंचपाणि वाद्यप्रबन्धों में भी क्रम से हस्त और पाणि शब्द का प्रयोग कहा है।

(पञ्चकर्तरी)

कर्तरीपदवत् संज्ञैः पाटैः स्यात् पञ्चकर्तरी।

इति पञ्चकर्तरी (१२)

१२—पंचकर्तरी

९४२ क-ख. (अ०) कर्तरीपदवत् संज्ञैः पाटैः कर्तरी शब्द जैसी संज्ञा वाले पाटों से पञ्चकर्तरी स्यात् पंचकर्तरी होती है।

(सर०) यहाँ भी पूर्ववत् कर्तरी शब्द से शुरू होने वाले पाट समझ सकते हैं।

सिंह० ने स्पष्ट किया कि कर्तरीपद से कर्तरी, अर्धकर्तरी, विषमकर्तरी आदि के उन-उनके पाटों से पंचकर्तरी होती है। ग्रन्थकार ने 'कर्तरीपदवत्' में 'वत्' का प्रयोग किया है इसलिये सिंह० ने कर्तरी, अर्धकर्तरी, विषमकर्तरी तीनों का ग्रहण किया है। उसके अनुसार इन तीनों के पाटों से पंचकर्तरी होती है।

यह पंचकर्तरी है (१२)

(चन्द्रकला)

वर्धन्ते च ह्रसन्ते चेन्मात्राश्चन्द्रकला इव॥ ९४२॥

तालश्चन्द्रकलाख्यश्च तदा चन्द्रकला भवेत्।
द्वात्रिंशन्मात्रिकामन्ये प्राहुश्चन्द्रकलामिमाम्॥ ९४३॥

द्विमात्राः षोडशकला वृद्धिह्रासयुजो विदुः।
तादृक् चतुःषष्टिकलां तामाहुर्दक्षिणे पथि॥ ९४४॥

इति चन्द्रकला (१३)

इति त्रयोदश प्रायिकहौडुक्कवाद्यानि।

इति पञ्चविंशतिरुभयवाद्यानि।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

१३—चन्द्रकला

९४२ ग-९४४. (अ०) चन्द्रकलाः इव चन्द्रमा की कलाओं की तरह मात्राः वर्धन्ते च ह्रसन्ते चेत् यदि मात्राएँ बढ़ती और घटती हैं चन्द्रकला-आख्यः तालः च और चन्द्रकला नामक ताल (हो) तदा तो चन्द्रकला भवेत् चन्द्रकला होती है। अन्ये अन्य (आचार्य) इमां चन्द्रकलाम् इस चन्द्रकला को द्वात्रिंशमात्रिकां बत्तीस मात्रा वाली प्राहुः कहते हैं (और उसे) वृद्धिह्रास-युजः बढ़ने और घटने से युक्त द्विमात्राः षोडशकलाः दो मात्रा की सोलह कला वाली विदुः जानते हैं। दक्षिणे पथि दक्षिण मार्ग में तादृक् वैसी चतुःषष्टिकलां चौंसठ कला वाली ताम् आहुः उसे (चन्द्रकला को) कहते हैं।

(सर०) ताल की एक कला दो मात्रा की होती है। तदनुसार बत्तीस मात्रा में सोलह कला कही हैं। इससे इसे चित्रमार्ग में समझना चाहिये क्योंकि चित्र की अपेक्षा दक्षिण मार्ग में चौगुनी कला होती हैं। तदनुसार ग्रन्थकार ने कहा कि दक्षिण मार्ग में ६४ कला वाली चन्द्रकला होती है। इसके अनुसार यह बहुत बड़ा वाद्य है। किसी दूसरे वाद्यप्रबन्ध में मार्ग का उल्लेख नहीं है।

यह चन्द्रकला है (१३)

प्रायः हुडुक्का के तेरह वाद्य समाप्त

दोनों मिला कर पच्चीस वाद्य समाप्त

(वाद्यप्रबन्धाः)

उद्ग्राहादिनिबद्धाः स्युरत्र गीतप्रबन्धवत्।
वाद्यप्रबन्धास्तद्भेदलक्ष्माण्यभिदधेऽधुना॥ ९४५॥

वाद्यप्रबन्ध

९४५. (अ०) अत्र यहाँ (वाद्यप्रकरण में) गीतप्रबन्धवत् गीतप्रबन्धों की तरह वाद्यप्रबन्धाः वाद्यप्रबन्ध उद्ग्राह-आदिनिबद्धाः स्युः उद्ग्राह आदि (धातुओं) से बँधे हुए होते हैं। तत् भेदलक्ष्माणि उनके भेद (और) लक्षण अधुना अभिदधे अब कहता हूँ।

(सर०) सं०र० के प्रबन्धाध्याय में उद्ग्राह, मेलापक, ध्रुव और आभोग—ये चार और एक अन्य धातु अन्तर कही जा चुकी हैं (४/७-१२ ख) और गेय प्रबन्धों की रचना और लक्षण धातुओं के आधार पर दिये गये हैं। ग्रन्थकार ने यहाँ अवनद्ध वाद्यों में भी इन धातुओं के आधार पर वाद्यप्रबन्ध यानी अवनद्ध वाद्यों की निबद्ध रचनाएँ और उनके लक्षण दिये हैं।

कल्लि० ने यह उल्लेख किया है कि भाण्डिक यानी अवनद्ध वादकों के प्रचार में उद्ग्राह को लहरी, मेलापक को येड्डु, ध्रुव को अन्तर, वैकल्पिक अन्तर धातु को उपान्तर और आभोग को मुक्तायि कहा जाता है।

(वाद्यप्रबन्धानामुद्देशः)

यतिरोता च गजरो रिगोणी कवितं पदम्।
मेलापकश्चोपशमोद्ग्राहप्रहरणान्यथ॥ ९४६॥

अवत्सकश्छण्डणश्च तुडुका मलपं ततः।
मलपाङ्गं च मलपपाटश्छेदोऽथ रूपकम्॥ ९४७॥

अन्तरोऽन्तरपाटश्च खोजः खण्डयतिस्ततः।
खण्डच्छेदोऽप्यवयतिः खण्डपाटश्च खण्डकः॥ ९४८॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

खण्डहुल्लः समः पाटो ध्रुवकोऽङ्गाङ्गरूपके।
तालो वितालः खलकः समुदायश्च जोडणी॥ ९४९॥

उडवस्तलपाटश्चोट्टवणी तुण्डकस्ततः।
अङ्गपाटश्च पैसारस्त्रिचत्वारिंशदित्यमी॥ ९५०॥

उक्ताः श्रीकरणाग्रण्या प्रबन्धा वाद्यसंश्रयाः।

वाद्यप्रबन्धों का उद्देश

९४६-९५१ ख. (अ०) यति, ओता, गजर, रिगोणी, कवित, पद, मेलापक, उपशम, उद्ग्राह, प्रहरण, अवत्सक, छण्डण, तुडुका, मलप, मलपांग, मलपपाट, छेद, रूपक, अन्तर, अन्तरपाट, खोज, खण्डयति, खण्डच्छेद, अवयति, खण्डपाट, खण्डक, खण्डहुल्ल, सम, पाट, ध्रुवक, अंग, अंगरूपक, ताल, विताल, खलक, समुदाय, जोडणी, उडव, तलपाट, उट्टवणी, तुण्डक, अंगपाट, पैसार इति अमी इस प्रकार ये त्रिचत्वारिंशत् तेतालीस वाद्यसंश्रयाः प्रबन्धाः वाद्यसंश्रित प्रबन्ध श्रीकरण-अग्रण्या श्रीकरणाग्रणी (शार्ङ्गदेव) के द्वारा उक्ताः कहे गये (हैं)।

(सर०) पूर्वोक्त पच्चीस वाद्यों पर आधारित ये तेतालीस वाद्यप्रबन्ध होते हैं।

शीतोदकस्तथा स्नानगर्वोऽन्यो गर्वनिर्णयः॥ ९५१॥

उत्प्रेक्षामात्रजा लक्ष्महीनास्तेऽस्मदुपेक्षिताः।
प्रायो वाद्यप्रबन्धानां देंकारोऽन्ते निधीयते॥ ९५२॥

९५१ ग-९५२. (अ०) शीत-उदकः शीतोदक तथा और स्नानगर्वः स्नानगर्व, अन्यः इनके अलावा गर्वनिर्णयः गर्वनिर्णय उत्प्रेक्षामात्रजाः कल्पनाजनित (और) लक्ष्महीनाः लक्षणरहित (हैं इसलिए) ते वे अस्मद् उपेक्षिताः हमने उपेक्षित किये हैं। वाद्यप्रबन्धानाम् अन्ते वाद्यप्रबन्धों के अन्त में प्रायः प्रायः देंकारः निधीयते देंकार रखा जाता है।

(सर०) उत्प्रेक्षा एक अलंकार है जिसमें उपमान और उपमेय में समानता की कल्पना करके उसके आधार पर एकत्व की संभावना व्यक्त या व्यंजित की जाती है। उक्त तीन प्रबन्धों में भी कल्पना ही आधार है और उनके निश्चित लक्षण नहीं हैं इसलिए ग्रन्थकार ने उन्हें मान्य नहीं किया है।

(वाद्यप्रबन्धनिरूपणम्)

(यतिः)

काभ्यांचित्कूटवर्णाभ्यां रचितोऽत्यन्तकोमलः।
एकरूपाक्षरस्तालच्छन्दोभिव्यञ्जनोज्ज्वलः॥ ९५३॥

यो वाद्यते वाद्यखण्डो विरामैर्बहुभिर्मुहुः।
यतिर्जक्का च सा तज्ज्ञैर्वाद्या मण्ठादिसालगे॥ ९५४॥

आदौ वाद्यप्रबन्धस्य कस्याप्यङ्गतया यदा।
तद्विदो वादयन्त्येतां वदन्त्युट्टवणं तदा॥ ९५५।

पाटानां रचनां केचिदत्र नेच्छन्ति सूरयः।

गड्दगथों गक्कथोंटें गड्दगथों गक्कथोंटें गड्दगथों गक्कथोंटें।

इति यतिः

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

वाद्यप्रबन्धों का निरूपण

१—यति

९५३-९५६ ख. (अ०) काभ्यांचित्-कूटवर्णाभ्यां किन्हीं दो कूटवर्णों से रचितः रचित अत्यन्तकोमलः बहुत कोमल, एकरूप-अक्षरः (शुरू और अन्त में) एक से अक्षर वाला, तालच्छन्दः-अभिव्यञ्जन-उज्ज्वलः ताल (और) छन्द की अभिव्यक्ति से प्रकाशमान यः वाद्यखण्डः जो वाद्यखण्ड मुहुः बार-बार बहुभिः विरामैः बहुत विरामों से वाद्यते बजाया जाता है (वह) यतिः जक्का च यति और (वही) जक्का (होता है)। तत्-ज्ञैः उसके (वाद्यप्रबन्धों के) ज्ञाताओं के द्वारा सा वह मण्ठ-आदिसालगे मण्ठ आदि सालग (सूड प्रबन्धों) में वाद्या बजाई जाती है। यदा जब तत् विदः उसके जानकार कस्य अपि किसी भी वाद्यप्रबन्धस्य आदौ वाद्यप्रबन्ध के शुरू में अङ्गतया वादयन्ति अंग के रूप में बजाते हैं तदा एतां तो इसे उट्टवणं वदन्ति उट्टवण कहते हैं। अत्र इसमें केचित् सूरयः कुछ विद्वान् पाटानां रचनां पाटों की रचना न इच्छन्ति नहीं चाहते (नहीं मानते)।

गड्दगथों गक्कथोंटें गड्दगथों गक्कथोंटें गड्दगथों गक्कथोंटें।

(सर०) कल्लि० ने यति की विस्तार से व्याख्या की है। उसके अनुसार कूटवर्ण वे हैं जो पटह 'आदि' यानी दूसरे वाद्यों में भी प्रयुक्त होते हैं। उनमें से जिनमें परस्पर संयोग संभव हो यति उनसे रचित होती है जैसे, तथोंग कथोटिंग। एकरूप-अक्षरः का अर्थ है 'उपक्रान्त' यानी जिन अक्षरों से शुरू किया जाए उन्हीं से समाप्त हो।

मण्ठ आदि सालगसूडों का निरूपण प्रबन्धाध्याय में किया जा चुका है (४/३१५-३६० ख)। उनके साथ पटह आदि के वादन में यति का प्रयोग कहा है।

ग्रन्थकार ने इसका दूसरा नाम जक्का बताया है। यह स्वतन्त्र वाद्यप्रबन्ध है लेकिन इसे जब किसी दूसरे वाद्य प्रबन्ध के अंग के रूप में शुरू में बजाया जाता है तो यही उट्टवण कहलाता है।

कल्लि० ने कहा कि केचित् सूरयः नेच्छन्ति से यह समझना चाहिये कि नागबन्ध आदि पाटों की रचना कुछ विद्वान् नहीं मानते लेकिन कुछ अन्य विद्वान् पाटरचना स्वीकार करते हैं।

यह यति है (१)

(ओता)

द्विरुद्ग्राहस्ततः खण्डं यस्यां द्विर्भूरिदेंकृति॥ ९५६॥

तत्किंचिदधिकं वारे द्वितीयेऽथ तृतीयकम्।
कियद् दीर्घं शुद्धकूटखण्डैः पाटैर्विमिश्रितैः॥ ९५७॥

व्यस्तैः समस्तै रचितं ततो देंकृतिमत्पुनः।
सकृत् तच्च प्रयोक्तव्यमथ वर्णसरात्मकम्॥ ९५८॥

दीर्घं खण्डं ततोऽल्पं च प्राच्यं शुद्धादिनिर्मितम्।
ओता सोक्ता छण्डणान्ता कैश्चिद् देंकृतिमुक्तिका॥ ९५९॥

२—ओता

९५६ ग-९५९. (अ०) यस्यां जिसमें द्विः उद्ग्राहः दो बार उद्ग्राह, ततः उसके बाद भूरिदेंकृति देंकार बहुल खण्डं द्विः खण्ड दो बार, द्वितीये वारे दूसरी बार में तत् वह (खण्ड) किंचित् अधिकं कुछ ज़्यादा, अथ इसके बाद तृतीयकं तीसरा (खण्ड) कियत् दीर्घं थोड़ा बड़ा, शुद्धकूटखण्डैः विमिश्रितैः पाटैः शुद्ध, कूट और खण्ड मिश्रित पाटों से, व्यस्तैः समस्तैः

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

रचितं अलग-अलग (या) इकट्ठे योजितं (पाटों) से रचित, ततः उसके बाद देंकृतिमत् पुनः देंकार वाला (खण्ड) फिर से तत् च और वह सकृत् प्रयोक्तव्यं एक बार योजित करना चाहिये। अथ इसके बाद वर्णसर-आत्मकं वर्णसर स्वरूप वाला दीर्घं खण्डं बड़ा खण्ड, ततः उसके बाद शुद्ध-आदिनिर्मितं शुद्ध आदि (पाटों) से निर्मित प्राच्यं च अल्पं पहले वाला भी अल्प (रूप से प्रयुक्त करके) छण्डण-अन्ता सा छण्डण से अन्त होने वाली वह ओता उक्ता ओता कही गई (है)। कैः-चित् किन्हीं (आचार्यों) ने देंकारमुक्तिका (उसे) देंकार से समाप्त होने वाली (कहा है)।

(सर०) कल्लि० ने भूरिदेंकृति खण्डं को मेलापक खण्ड कहा है। इस खण्ड को दूसरी बार कुछ ज़्यादा प्रयुक्त करने का अर्थ है उसे भी दो बार बजाना और उसमें कुछ पाटाक्षर भी अधिक योजित करना। तीसरा खण्ड यानी ध्रुव नामक खण्ड है। देंकृतिमत् खण्ड यानी मेलापक नामक दूसरा खण्ड जो एक बार बजाया जाता है। अल्पं प्राच्यं से तात्पर्य तीसरा ध्रुव नामक पहले वाला खण्ड है। छण्डण वाद्यप्रबन्ध का लक्षण आगे दिया जायगा।

वाद्यप्रबन्धों के बारे में यह सामान्य रूप से कहा जा चुका है कि इनके अन्त में प्रायः देंकार होता है। यहाँ देंकृतिमुक्तिका विशेष रूप से कहा गया इसे लक्ष्य करके कल्लि० ने कहा कि इसके द्वारा उसे कुछ आचार्यों का अपवाद कहना दिखाया है।

एषैककलयुग्मे स्यान्निःसारौ छण्डणो भवेत्।
उद्धतो ध्वनिरत्र स्यात् प्रायो मानं विलम्बितम्॥ ९६०॥

दीप्तं नृत्तं च तामाहुः केचित् केदार इत्यपि।
इमामावहनीं प्राहुरेकेऽन्ये त्वन्यथा जगुः॥ ९६१॥

९६०-९६१. (अ०) एषा यह (ओता) एककलयुग्मे एककल युग्म (चच्चत्पुट ताल) में स्यात् होती है। छण्डणः छण्डण निःसारौ भवेत् निःसारु (ताल) में होता है। अत्र इसमें उद्धतः ध्वनिः उद्धत ध्वनि स्यात् होती है। प्रायः प्रायः विलम्बितं मानं विलंबित लय दीप्तं नृत्तं च और दीप्त नृत्त (होता है)। ताम् उसे केचित् कोई (आचार्य) केदारः इति अपि केदार इस प्रकार भी आहुः कहते हैं। एके दूसरे (आचार्य) इमाम् इसे आवहनीं प्राहुः आवहनी कहते हैं। अन्ये तु अन्य तो अन्यथा जगुः (आवहनी को) अलग प्रकार से कहते हैं।

(सर०) तालाध्याय में चच्चत्पुट को युग्मताल कहा जा चुका है जो मार्गताल है। ओता का अन्तिम खण्ड छण्डण निःसारु नामक देशीताल में बद्ध होता है। कल्लि० ने घोष अक्षरों से उत्पन्न ध्वनि को उद्धत कहा है। व्याकरण के अनुसार हर वर्ग के तीसरे, चौथे, पाँचवें वर्ण और य, र, ल, व तथा ह घोष कहे जाते हैं। इस तरह ग, घ, ङ, ज, झ, ञ, ड, ढ, ण, द, ध, न और ब, भ, म—ये १५ तथा य, र, ल, व, ह—ये ५ कुल २० घोष वर्ण होते हैं।

पाटैर्बहुलदेंकारैस्तालैश्च निखिलैः कृता।
बहुधा स्थापना यस्यामाहुरावहनीं बुधाः॥ ९६२॥

आदौ देंकारखण्डं चेद् देंकारादिस्तदोच्यते।

यथा—तद्धिटें कत्थोंकट नगनथोंगकुथोंगदा २, धिक्कट्ट २, तकटथोंगक धिधिक थोरघटे २, इत्युद्ग्राहो द्विवारं कर्तव्यः। गड्दगदे गिनदेंगक् तु थं हं देंगक् देंगनथ गनतदिगि नत्तत्तेक्कटदेंदेंगिनतक्कट खखुघंघं देंगक्, इति देंकारखण्डं द्विः।

द्वितीयवारे त्वधिकं कथ्यते यथा—गड्पक् देंगक् गड्डदक् देंगक्, इति। तदेंगडदक्टें थोंकदथोंगक् तटे कटदकट् दरे होंकथोरेहेटैतक्कें धिकथोटैं थों टैं थों टैं, इति तृतीयखण्डं शुद्धादिपाटरचितम्॥

ततः पुनः प्राचीनदेंकारखण्डं सकृत्। ततः—गड्दक् दगिननधिकाधिकतकदेंगि कथन हकदक

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

दडक् दरगड धिरिगिड धरगड्दक् । दरगरदग धिरगडदग २, तकधिंगथोंगटे धिकथोंगटै थिक थोडिं खुं खुंततक् थोरगड २, तक् थोरगडतक् थोतक् थोतक् थोरगड थोरगड तक् धिकथोंगटें, इति वर्णसरात्मकं खण्डम् ॥

ततः प्राचीनं शुद्धादिनिर्मितं स्वल्पम् । एतावत्पर्यन्तं चच्चत्पुटे । गड्दग् टेंद्रग् थोहटें हेते दहं थो २, तद धिधि थों थों रघटे टैं थों तथों तकथों धिकथोंटें, इति निःसारौ छण्डणः । टेंकारस्थाने देंकार इत्यन्ये ।

इत्योता

९६२-९६३ ख. (अ०) यस्यां जिसमें बहुलदेंकारैः पाटैः बहुत देंकार वाले पाटों से निखिलैः तालैः च और सारे तालों से बहुधा स्थापना कृता बहुधा स्थापना की गई (हो उसे) बुधाः बुधजन आवहनीम् आहुः आवहनी कहते हैं। आदौ शुरू में देंकारखण्डं चेत् यदि देंकारखंड (हो) तदा तो (उसे) देंकारादिः देंकारादि (देंकार से शुरू होने वाली) उच्यते कहा जाता है।

सारा प्रबन्ध न दोहराकर यहाँ सिर्फ़ अन्वय दिया जा रहा है।

यथा जैसे—तद्धिटें.........थोरघटे २, इति उद्ग्राहः यह उद्ग्राह द्विवारं कर्तव्यः दो बार करना (बजाना) चाहिये। गड्दगदे............देंगक् इति यह (मेलापकरूप) देंकारखण्डं द्विः देंकार खंड दो बार (बजाना चाहिये)।

द्वितीयवारे तु दूसरी बार तो अधिकं कथ्यते अधिक कहा (बजाया) जाता है। यथा जैसे—गडपक्..........देंगक् इति यह (अधिक है)। तदेंगड.........थों टैं इति तृतीयखण्डम् ऐसा तीसरा (ध्रुव) खंड शुद्ध-आदिपाटरचितं शुद्ध आदि पाटों से रचित (योजित होता है)।

ततः पुनः उसके बाद फिर से प्राचीनदेंकारखण्डं सकृत् पहले वाला देंकार खंड एक बार (योजित करना चाहिये)। ततः उसके बाद गड्दक्...........धिकथोंगटें इति ऐसा वर्णसर-आत्मकं खण्डं वर्णस्वर के स्वरूप वाला (चौथा) खंड (योजित करना चाहिये)।

ततः उसके बाद प्राचीनं पहले वाला शुद्ध-आदिनिर्मितं शुद्ध आदि (पाटों) से बना हुआ स्वल्पं छोटा (पाँचवाँ खण्ड योजित करना चाहिये)। एतावत्-पर्यन्तं यहाँ तक चच्चत्पुटे चच्चत्पुट (ताल) में (योजित होता है)। गड्दग्.........धिकथोंटें इति यह निःसारौ निःसारु (ताल) में छण्डणः छण्डण (हुआ)। टेंकारस्थाने टेंकार के स्थान पर देंकारः देंकार इति अन्ये ऐसा अन्य (आचार्य कहते हैं)।

(सर०) 'सारे तालों से' कहने का तात्पर्य यह है कि देंकार बहुल पाटों का प्रयोग करके सारे तालों की स्थापना हो तो उसे अवान्तर से आवहनी कहा गया है।

आदौ देंकारखण्डं पर कल्लि० ने कहा कि उद्ग्राह से पहले देंकारखण्ड प्रयुक्त हो तो उसे देंकारादि कहा जाता है।

कल्लि० ने यह भी स्पष्ट किया कि पहला द्विरावृत्त खण्ड उद्ग्राह है। फिर देंकार बहुल दूसरी बार अधिक द्विरावृत्त दूसरा खण्ड मेलापक है। शुद्धादिनिर्मित खंड ध्रुव है। ध्रुव के अन्तिम एक बार वाले देंकार खंड के बाद वर्णसर रूप लंबा चौथा खंड अन्तर है। उसके बाद शुद्धादि से निर्मित पाँचवाँ खंड आभोग है।

उसने यह भी कहा कि इसी तरह अन्यत्र यानी दूसरे प्रबन्धों में भी उद्ग्राह आदि खंड यथासंभव समझने चाहियें। चच्चत्पुट तक ओता का मुख्य स्वरूप है। कल्लि० ने स्पष्ट किया कि छण्डण स्वतंत्र प्रबन्ध होते हुए भी अंग के रूप में विहित होने से यहाँ ओता के अन्तर्भूत होकर निःसारुक ताल में प्रयोग करना चाहिये।

यह ओता है (२)

(गजरः)

कृत्वैकवारमुद्ग्राहं नातिदीर्घो न चाल्पकः ॥ ९६३ ॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

वादकोद्घोषगम्भीरो ध्वनिमुच्चतरं दधत्।
त्रिःखण्डोऽभ्यस्यते कूटैर्बद्धो वर्णसरेण वा॥ ९६४॥
मुहुर्विधायोपशमं छण्डणो यत्र रज्यते।
गजरोऽसावुट्टवणं स्यादस्यादौ पुनः पुनः॥ ९६५॥
एकताल्यामुट्टवणं तस्यां निःसारुकेऽथवा।
भवेदुपशमोऽन्यत्र नास्य तालो नियम्यते॥ ९६६॥
गजरावयवाः सर्वे वाद्यन्ते ते निरन्तराः।

यथा—तथोह तथोह धिथों २, हटे। थोंहदग थोहटें, इत्युट्टवणमेकताल्यां पुनः पुनः। थोंटें दंदगेन थोंगटें गें धिक तक, इत्युद्ग्राहः। प्रतिग्राहणा वोच्यते। अयं किल एकताल्यां कृतः। गड्दगत देंगगनग्दिहिक्। कथोंगतकधिक थोगटेंहें थोंदगक्। गिड्दक्थोंगक्कथों ३ देंथोंहटगथों ३, दें, इति त्रिरेकताल्यां खण्डः। केवलोऽप्ययं खण्डो गजर इत्युच्यते। गड्दक्थोंगक्थोंगक्कथोहरघट थरे, इत्येकताल्यां पुनः पुनरुपशमः। थोहटें, इति च्छण्डणः। एतत्सर्वं नैरन्तर्येण वाद्यते।

इति गजरः (३)

३—गजर

९६३ ग-९६७ ख. (अ०) न अतिदीर्घः न बहुत बड़े न च अल्पकः और न छोटे उद्ग्राहम् उद्ग्राह को एकवारं कृत्वा एक बार (योजित) करके वादक-उद्घोषगम्भीरः वादक के उद्घोष (पाटाक्षरों के उच्चारण) से गंभीर (घन) उच्चतरं ध्वनिं दधत् उच्चतर (बहुत ऊँची) ध्वनि धारण करता हुआ कूटैः वर्णसरेण वा बद्धः कूट (पाटों) से या वर्णसर से बँधा हुआ खण्डः खंड त्रिः अभ्यस्यते तीन बार योजित होता है (और) उपशमम् उपशम को मुहुः बार-बार (योजित करके) यत्र जिसमें छण्डणः रज्यते छण्डण रंजित करता है असौ यह गजरः गजर (होता है)। अस्य आदौ इस (गजर) के शुरू में उट्टवणं पुनः पुनः स्यात् उट्टवण बार-बार (योजित) होता है। उट्टवणम् एकताल्याम् उट्टवण एकताली (ताल) में (होता है)। उपशमः उपशम तस्याम् उस (एकताली) में अथवा या निःसारुके भवेत् निःसारुक में होता है। अन्यत्र (गजर के अलावा) दूसरे प्रबन्धों में अस्य तालः इस (उपशम) का ताल न नियम्यते नियमित नहीं किया जाता। ते वे सर्वे गजर-अवयवाः सारे गजर के अवयव (भाग/खंड) निरन्तराः वाद्यन्ते लगातार बजाये जाते हैं।

यथा जैसे—तथोह.........थोहटें इति उट्टवणं यह उट्टवण एकताल्यां पुनः पुनः एकताली में बार-बार (योजित होता है)। थोंटें........धिकतक इति उद्ग्राहः यह उद्ग्राह (है)। प्रतिग्राहणा वा अथवा (इसे) प्रतिग्राहणा (भी) उच्यते कहा जाता है। अयं किल यह निश्चित रूप से एकताल्यां कृतः एकताली में (प्रयुक्त) किया जाता है। गड्दगत.........दें इति यह खण्डः खंड एकताल्याम् एकताली में त्रिः तीन बार (योजित होता है)। केवलः अयम् अपि खण्डः केवल यही खंड गजरः इति उच्यते गजर इस प्रकार (इस नाम से) कहा जाता है। गड्दक्थों.........थरे इति यह उपशमः उपशम एकताल्याम् एकताली में पुनः पुनः बार-बार (बजाया जाता है)। थोहटें इति च्छण्डणः यह छण्डण (है)। एतत् सर्वं यह सारा नैरन्तर्येण अनवरत रूप से वाद्यते बजाया जाता है।

(सर०) वादकोद्घोषगम्भीरः की व्याख्या में कल्लि० ने कहा कि पाटों के उच्चारण में पटु तालधारी या पटह आदि वाद्यों का वादक अपने मुँह से घन आवाज़ में उच्चारण करे। ऐसे खंड को तीन बार बजाया जाता है। वर्तमान वादन में वादक के ऐसे उच्चारण को 'पढ़न्त' कहा जाता है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अन्यत्र पर कल्लि० ने कहा कि दूसरे प्रबन्धों में या स्वतंत्र रूप से बजाने पर उपशम में ताल का नियम नहीं होता, यहीं यानी गजर के अन्तर्गत ही उपशम में ताल का नियम है।

कल्लि० ने बताया कि प्रतिग्राहणा उद्ग्राह का नामान्तर है। लोक में ताण्डिक (अवनद्धवादक) ऐसा कहते हैं। प्राकृत रूप से इसे पडिधा कहकर इसमें गजर के सारे अवयव बजाये जाते हैं। कल्लि० ने स्पष्ट किया कि निरन्तर कहने का अर्थ यह है कि गजर में कहे गये उपशम, छण्डण, उट्टवण लगातार बजाये जाते हैं।

कल्लि० के अनुसार उद्ग्राह और ध्रुव—ये दो खंड होने से गजर द्विधातुक है। उपशम आदि स्वतंत्र प्रबन्ध होने पर भी अंग के रूप में विहित होने से गजर में बजाये जाते हैं।

यह गजर है (३)

(रिगोणी)

प्रत्येकं द्विः प्रयुक्तेनोपशमेनान्तयोगिना॥ ९६७॥

युक्तं खण्डत्रयं शुद्धैः कूटैः खण्डैश्च निर्मितम्।
पाटैर्व्यस्तैः समस्तैश्च बद्धं वर्णसरेण वा॥ ९६८॥

यस्यां स्याद् वादकस्थूलमिलत्कोलाहलाकुलम्।
छण्डणान्ता रिगोणी सा दधती ध्वनिमुत्तमम्॥ ९६९॥

४—रिगोणी

९६७ ग-९६९. (अ०) प्रत्येकं द्विः प्रयुक्तेन हरेक दो बार प्रयुक्त हुआ, उपशमेन अन्तयोगिना उपशम से अन्त के योग वाला (अर्थात् अन्त होने वाला), शुद्धैः कूटैः खण्डैः च निर्मितं शुद्ध, कूट और खण्ड (पाटों) से बना हुआ, व्यस्तैः समस्तैः च पाटैः युक्तम् अकेले-अकेले और समस्त पाटों से युक्त वर्णसरेण वा बद्धम् अथवा वर्णसर से बद्ध खण्डत्रयं तीन खंडों का समूह यस्यां स्यात् जिसमें होता है (और) वादकस्थूलमिलत्कोलाहल-आकुलं वादक स्थूल (बड़ी और वाद्य की ध्वनि से) मिलती हुई कोलाहल से भरपूर उत्तमं ध्वनिं स्यात् सुखद ध्वनि वाला होता है, छण्डण-अन्ता छण्डण से अन्त होने वाली सा रिगोणी वह रिगोणी (होती है)।

(सर०) कल्लि० के अनुसार हर वाद्य के अपने-अपने नियत अक्षर शुद्ध पाट होते हैं, सभी वाद्यों में प्रयुक्त होने वाले कूट पाट और वर्णसमुदायों के अवयवरूप पाट मिश्र कहे जाते हैं।

कोलाहल का आशय बहुत बड़ी लेकिन सुखकर आवाज़ है। वादक बीच-बीच में वाद्यों की ध्वनि से मेल रखने वाली बड़ी और सुखदायक आवाज़ में पाटाक्षरों का उच्चारण करता है, यह आशय है।

अस्यामुट्टवणं कार्यं वैकल्पिकमुपक्रमे।
दीप्तनृत्ते भवेदेषोपशमा ललिते मता॥ ९७०॥

ललितं यद्युट्टवणं तदा तल्ललिते भवेत्।
अन्त्यखण्डात् सोपशमाच्छण्डणाद् दीप्तनर्तनम्॥ ९७१॥

यथा—तक्कें धिक्कें तकधिक तककि थोंकटगेन २ थोंगक्कथों ३ इति प्रथमखण्डम्।

टैथोंटेंगें त्थोंधिथोंहधिहटें। इत्युपशमो द्विः। तर्क्कर्ग दडरद कुथिकुर्गदडधिक्क दक्कर्ग दडग्दक्थोंगत्त-कधिक कधिकत धिककधि टेंगेनथोंग २ थोंगक्कथों इति द्वितीयखण्डम्।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

टैं थों हटगें थोंटें। इत्युपशमो द्विः। थोंगटं दरगड धिरगड धित्थाः थोंकट तकथों कटधिक्कक्। थोंधिक तद्धितक् इति तृतीयखण्डम्।

कत्थोंटक्क थोंहकटगे धिकटै थौ हटगें थों हटें इत्युपशमो द्विः। तथों गिड्दक् दिगनदिगन दिगनक थोंगतद्धितक्। थोंहटें। इति च्छण्डणः। इत्येकताल्यामुदाहरणम्॥

इति रिगोणी

९७०-९७१. (अ०) अस्याम् उपक्रमे इस (रिगोणी) के शुरू में वैकल्पिकम् उट्टवणं विकल्प वाला (अर्थात् विकल्प से) उट्टवण कार्यं (योजित) करना चाहिये। एषा यह (रिगोणी) दीप्तनृत्ते भवेत् उद्धत नृत्त में (प्रयुक्त) होती है। उपशमा उपशम वाली (रिगोणी) ललिते मता लास्य (नृत्त) में मानी गई (है)। यदि अगर उट्टवणं ललितम् उट्टवण ललित (हो) तदा तत् तो वह (उट्टवण) ललिते भवेत् ललित (नृत्त) में होता है। स-उपशमात् छण्डणात् अन्त्यखण्डात् उपशम सहित छण्डणयुक्त अन्तिम खंड से दीप्तनर्तनम् उद्धत नृत्त (प्रयुक्त होता है)।

यथा जैसे—तक्कें·········थोंगक्कथों ३ इति प्रथमखण्डं यह पहला खंड (है)।

टैथोटेंगें·········धिहटें इति उपशमः यह उपशम द्विः दो बार (होता है)। तक्कर्ग·········थोंगक्कथों इति यह द्वितीयखण्डं दूसरा खंड (है।)

टैं थों·········थोंटें इति उपशमः यह उपशम द्विः दो बार (योजित करना चाहिये)। थोंगटं·········तद्धितक् इति तृतीयखण्डं यह तीसरा खण्ड (है)।

कत्थोंटक्क·········हटें इति उपशमः यह उपशम द्विः दो बार (प्रयोग करना चाहिये)। तथों·········थोंहटें इति च्छण्डणः यह छण्डण (है)। इति यह एकताल्याम् उदाहरणम् एकताली (ताल) में उदाहरण (हुआ)।

(सर०) कल्लि० ने कहा कि 'यह एकताली में उदाहरण' का भाव यह है कि इसी तरह दूसरे तालों में भी हो सकता है। तीन खंड वाला है इसलिए त्रिधातु प्रबन्ध है।

यह रिगोणी है (४)

(कवितम्)

नातिदीर्घं द्विराद्यं स्यात् खण्डं शुद्धादिनिर्मितम्।
यद्वा वर्णसरेणाथ तादृक्खण्डं सकृद्भवेत्॥ ९७२॥

इत्युद्ग्राहध्रुवौ कृत्वा स्वोद्ग्राहान्त्यदलेऽथवा।
स्वोद्ग्राहे यत्र मुक्तिस्तत्कवितं कवयो विदुः॥ ९७३॥

अस्य नामान्तरं प्राहुरन्येऽवच्छेद इत्यपि।
भवेदिह द्रुतं मानं वर्णाः प्रायः स्युरुद्धताः॥ ९७४॥

बाहुल्यान्नर्तनं दीप्तं निःशङ्केनेति कीर्तितम्।

यथा—गड्दक्दगिनदंदं गिनथोंग धिक्कट नकाधितक देंहकदर गडदरिक्थ रिक्थ रिदरगड थरिक थों गंडके। धिंक्थोंटें २, इत्युद्ग्राहो द्विः। झेंकक नखखिन २ तहें हके नखखिनथों, इति ध्रुवाख्यं खण्डम्।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ततो देंहकडरगडेत्यादिनोद्ग्राहान्त्यखण्डेनोद्ग्राहेण वा सकलेन गड्दगित्यादिना त्यागः। निःसारुताले चेदमुदाहरणम्।

इति कवितम् (५)

५—कवित

१७२-१७५ ख. (अ०) शुद्ध-आदिनिर्मितं शुद्ध आदि पाटों से बना हुआ यत् वा अथवा वर्णसरेण वर्णसर से (बना हुआ) न अतिदीर्घं बहुत बड़ा न (हो ऐसा) आद्यं खण्डं पहला (उद्ग्राह) खण्ड द्विः स्यात् दो बार (प्रयुक्त) होता है। अथ इसके बाद तादृक् खण्डं वैसा ही खंड (ध्रुव) सकृत् भवेत् एक बार होता है। इति ऐसे उद्ग्राहध्रुवौ कृत्वा उद्ग्राह और ध्रुव (योजित) करके यत्र जहाँ स्व-उद्ग्राह-अन्त्यदले अपने उद्ग्राह के अन्तिम आधे (भाग) में अथवा या स्व-उद्ग्राहे अपने उद्ग्राह में मुक्तिः समाप्ति (हो) तत् उसे कवयः कवि (प्रबन्धरचयिता) कवितं विदुः कवित जानते हैं। अन्ये दूसरे (आचार्य) अवच्छेदः इति अपि अवच्छेद यह भी अस्य नामान्तरम् इसका दूसरा नाम प्राहुः कहते हैं। इह इसमें द्रुतं मानं द्रुत लय भवेत् होती है। वर्णाः वर्ण प्रायः प्रायः उद्धताः स्युः उद्धत होते हैं। दीप्तं नर्तनं बाहुल्यात् (इसमें) दीप्त नर्तन प्रचुरता से (होता है) इति ऐसा निःशङ्केन निःशंक (शार्ङ्गदेव) के द्वारा कीर्तितं कहा गया है।

यथा जैसे—गड्दक्.........धिक्थोंटें २ इति उद्ग्राहः यह उद्ग्राह द्वि दो बार (योजित होता है)। झेंकक.........नखखिनथों इति ध्रुव-आख्यं खण्डं यह ध्रुव नामक खंड (है)। ततः उसके बाद देंहकड इत्यादिना उद्ग्राह-अन्तखण्डेन इत्यादि उद्ग्राह के अन्तिम खंड से गड्दक् इत्यादिना सकलेन उद्ग्राहेण वा या गड्दक् इत्यादि पूरे उद्ग्राह से त्यागः समाप्ति। इदं च निःसारुताले यह भी निःसारु ताल में उदाहरणम् उदाहरण (है)।

(सर०) 'शुद्ध आदि' में 'आदि' से मिश्र और कूट पाटों का ग्रहण समझना चाहिये। दो बार प्रयुक्त होने वाला पहला खंड उद्ग्राह होता है और वही खण्ड फिर से एक बार प्रयुक्त होने पर ध्रुव होता है। समाप्ति या तो उद्ग्राह में या उद्ग्राह के अन्तिम आधे भाग में होती है। कल्लि० ने इस पर कहा कि कि स्व-उद्ग्राह में यानी पूरे उद्ग्राह में। आशय यह है कि या तो पूरा उद्ग्राह बजा कर उसके अन्त में या पूरा न बजा कर अन्तिम आधा बजा कर उसके अन्त में समाप्त किया जाता है।

कलाशास्त्रों में किसी भी कला रचना के रचनाकार को कवि माना जाता है। यहाँ कवि का अर्थ वाद्यप्रबन्ध का रचयिता है।

यह उदाहरण निःसारु ताल में है, इससे यह समझ सकते हैं कि कवित की योजना दूसरे तालों में भी हो सकती है। इसमें दो खंड हैं इसलिये द्विधातु प्रबन्ध है।

यह कवित है (५)

(पदम्)

उद्ग्राहोऽल्पो ध्रुवो नातिदीर्घः शुद्धादिनिर्मितः॥ १७५॥

स्याद् वर्णसरबद्धो वा छण्डणोऽन्ते यदा तदा।
पदं वदन्ति वाद्यज्ञाः प्रायस्तद्दीप्तनर्तने॥ १७६॥

वादयित्वा यतिं मध्ये प्रबन्धस्य विमुच्यते।
पाटेन यत्र तत् प्रोक्तमपरैः सूरिभिः पदम्॥ १७७॥

यथा—तद्देंहें तद्दें ततक्तद्दें। इत्युद्ग्राहः। तकट धिकट धिधिकिट धिकिट गाँड्दगधिकतक धिकथोंगटें। इति ध्रुवः।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

गतकटधिधि कटधिक्किग्डदगधिधिकट धिक्किरडाडगधिगक्किग्डाहगथोंटेंहंधिक्कथोंगटें। इति च्छण्डणः। इदमुदाहरणं वर्णताले।

इति पदम् (६)

६—पद

९७५ ग-९७७. (अ०) उद्ग्राहः अल्पः उद्ग्राह छोटा, ध्रुवः शुद्ध-आदिनिर्मितः ध्रुव शुद्ध आदि (पाटों) से बना हुआ वर्णसरबद्धः वा या वर्णसर से बँधा हुआ अतिदीर्घः न स्यात् बहुत बड़ा नहीं होता (और) यदा जब अन्ते छण्डणः अन्त में छण्डण (हो) तदा तब वाद्यज्ञाः वाद्यों के ज्ञाता पदं वदन्ति (उसे) पद कहते हैं। तत् वह प्रायः बहुधा दीप्तनर्तने दीप्त नर्तन में (प्रयुक्त होता है)। यत्र जिसमें प्रबन्धस्य मध्ये प्रबन्ध के बीच में यतिं वादयित्वा यति को बजा कर पाटेन विमुच्यते पाट से अन्त किया जाता है तत् वह अपरैः सूरिभिः दूसरे विद्वानों के द्वारा पदं प्रोक्तं पद कहा गया (है)।

यथा जैसे—तद्देहें.........ततक्तदें इति उद्ग्राहः यह उद्ग्राह (है)। तकट.........धिकथोंगटें इति ध्रुवः यह ध्रुव (है)।

गतकट.........थोंगटें इति च्छण्डणः यह छण्डण है। इदम् उदाहरणं यह उदाहरण वर्णताले वर्णताल में (है)।

(सर०) आड्० के दूसरे संस्क० में उद्ग्राहोऽल्पः की कल्लि० की व्याख्या में 'अल्पध्रुवो' पाठ है, पहले संस्क० और आनन्द० में सिर्फ़ 'ध्रुवो' है। यही पाठ संगत है क्योंकि 'अल्प' उद्ग्राह का विशेषण है, जैसा सिंह० की व्याख्या में दिया है। ध्रुवः का नातिदीर्घः के साथ अन्वय है।

कल्लि० ने यह स्पष्ट किया कि 'ध्रुव बहुत बड़ा नहीं' का आशय यह है कि उद्ग्राह की अपेक्षा दुगने से बड़े ध्रुव का निषेध है। 'प्रबन्ध के बीच में' यानी उद्ग्राह और ध्रुव के बीच में पूर्वोक्त यति प्रबन्ध को बजाना अभिप्रेत है। पाटेन यानी पहले जो पैंतीस पाट कहे गये हैं उनमें से किसी को अन्त में योजित करके समाप्त करने पर पद होता है।

उद्ग्राह और ध्रुव होने से द्विधातुक है।

यह पद है (६)

(मेलापकः)

एकताल्यां द्रुते माने नर्तनारम्भगोचरे।
समं च करटाटीपिकाहलावादने सति॥ ९७८॥

अभ्यस्तो वाद्यखण्डोऽल्पः कूटेनैकेन निर्मितः।
तद्धीमिति च्छण्डणान्तः स्मृतो मेलापको बुधैः॥ ९७९॥

विद्यावन्तः स्वसमये प्राहुर्मेलापनीमिमाम्।
वर्णानां टिरिकीत्येषामावृत्तिष्टीपिरुच्यते॥ ९८०॥

यथा—थोंगटें गड्दग्नं थोंगटें। इति यावत् प्रबन्धपूर्तिं पुनःपुनर्वादनीयम्। तद्धीमिति च्छण्डणः। इति मेलापकः।

इति मेलापकः

७—मेलापक

९७८-९८०. (अ०) नर्तन-आरम्भगोचरे नर्तन के शुरू के क्षेत्र में (अर्थात् शुरू में प्रयुक्त होने वाला) एकताल्याम् एकताली में, द्रुते माने द्रुत लय में समं च और एकसाथ करटाटीपिकाहलावादने सति च करटा की टीपि और काहला के वादन

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

में (प्रयुक्त) होने पर, एकेन कूटेन निर्मितः (सिर्फ़) एक कूट (पाट) से रचित, अल्पः छोटा, अभ्यस्तः वाद्यखण्डः आवृत्त वाद्यखण्ड वाला, तद्धीम् इति तद्धीं ऐसे च्छण्डण-अन्तः छण्डण से अन्त होने वाला (वाद्यप्रबन्ध) बुधैः बुधजनों के द्वारा मेलापकः स्मृतः मेलापक माना गया है। विद्यावन्तः प्रयोक्ता स्वसमये अपने संकेत में इमां मेलापनीं प्राहुः इसे मेलापनी कहते हैं। टिरिकि इति एषां वर्णानां टिरिकि यों इन वर्णों की आवृत्तिः आवृत्ति टीपिः उच्यते टीपि कही जाती है।

यथा जैसे—थोंगटें.........थोंगटें इति यह प्रबन्धपूर्तिः यावत् प्रबन्ध पूरा होने तक पुनः पुनः वादनीयं बार-बार बजाना चाहिये। तद्धीम् इति च्छण्डणः तद्धीं—यह छण्डण है।

(सर०) टिरिकि वर्णों की आवृत्ति टीपि कहलाती है जिसका वादन करटा वाद्य में होता है। करटा में इन वर्णों वाली टीपि का और काहला का एकसाथ नर्तन के शुरू में वादन होने पर उस वाद्यखण्ड को मेलापक कहा जाता है। उस खण्ड में शुद्ध और खण्ड पाटों को छोड़ कर सिर्फ़ कूट पाटों का प्रयोग होता है।

वादकों की भाषा में मेलापक को मेलापनी कहा जाता है।

प्रबन्ध की पूर्ति होने का संभवतः यह आशय है कि नर्तन के शुरू का भाग जितना बड़ा हो और उसमें एकताली ताल के जितने आवर्तन हों उतने अंश में थोंगटें गड्दगनं थोंगटें—इन्हीं पाटों का बार-बार प्रयोग हो और उस भाग में करटा में टीपि की यानी टिरिकि टिरिकि टिरिकि टिरिकि—इन पाटों की आवृत्ति होती रहेगी। आगे करटा वाद्य के लक्षण में इसके ३-३ वर्णों के करटा और तिरिकि—ये दो पाट कहे गये हैं।

सिर्फ़ एक खण्ड होने से यह एकधातुक है। स्मरणीय है कि गीत-प्रबन्धों में कम से कम दो धातु अनिवार्य होती हैं। इस संदर्भ में कल्लि० ने आगे उद्ग्राह प्रबन्ध की व्याख्या में भी कहा है।

केवल लक्ष्य के प्रयोक्ताओं को कर्णाटक वासी, लोक में, 'विद्यावन्तरु' कहते हैं।

यह मेलापक है (७)

(उपशमः)

खण्डं शुद्धादिभिः पाटैर्बद्धं वर्णसरेण वा।
अल्पं कोमलनादं च सुकुमाराक्षरान्वितम्॥ ९८१॥
अभ्यस्तं कोमले नृत्ते भवेदुपशमाभिधम्।
यथा—टेंथोंक्कगे थोटेटे थोंहटगे थाथें थोंटे।

इत्युपशमः (८)

८—उपशम

९८१-९८२ ख. (अ०) शुद्ध-आदिभिः पाटैः शुद्ध आदि पाटों से वर्णसरेण वा बद्धं या वर्णसर से बँधा हुआ, अल्पं छोटा, कोमलनादं कोमल ध्वनि वाला सुकुमार-अक्षर-अन्वितं च और कोमल अक्षरों से युक्त अभ्यस्तं खण्डम् आवृत्त होने वाला खण्ड उपशम-अभिधम् उपशम नाम वाला (वाद्यप्रबन्ध) कोमले नृत्ते कोमल नृत्त में भवेत् (प्रयुक्त) होता है।

यथा जैसे—टेंथोंक्कगे थोटेटे थोंहटगे थाथें थोंटे।

(सर०) इसे कोमल अक्षरों से युक्त कहा है लेकिन जो पाट दिये हैं वे कोमल नहीं प्रतीत होते। शायद इनका वादन कोमलता से करना अभिप्रेत है।

यह भी एकधातुक है।

यह उपशम है (८)

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(उद्ग्राहः)

आदौ वाद्यप्रबन्धानां शुद्धकूटादिनिर्मितः॥ ९८२॥
यः खण्डो वाद्यते प्राहुरुद्ग्राहं तं महत्तमाः।
उद्ग्राहोपशमादीनां यद्यप्यन्याङ्गतोदिता॥ ९८३॥
यावत् पूरणमावृत्तेस्तथापि स्यात् प्रबन्धता।
द्विरावृत्तिरनावृत्तिर्वा स्यादङ्गतया स्थितौ॥ ९८४॥

यथा—तें टें है तट्टें तक्कतटे, इति यावत् प्रबन्धपूरणमभ्यासाद् उद्ग्राहः प्रबन्धः। अङ्गत्वं तु द्विःसकृद्वा प्राक्प्रयोगस्तु अङ्गप्रबन्धयोस्तुल्यः।

इत्युद्ग्राहः (१)

१—उद्ग्राह

९८२ ग-९८४. (अ०) शुद्धकूट-आदिनिर्मितः शुद्ध, कूट आदि पाटों से रचित यः खण्डः जो खंड वाद्यप्रबन्धानाम् आदौ वाद्यप्रबन्धों के शुरू में वाद्यते बजाया जाता है तम् उसे महत्तमाः महानतम (आचार्य) उद्ग्राहं प्राहुः उद्ग्राह कहते हैं। यद्यपि हालाँकि उद्ग्राह-उपशम-आदीनाम् उद्ग्राह उपशम आदि की अन्य-अङ्गता उदिता दूसरे (प्रबन्धों) की अंगता (अंग होना) कही गई है तथापि फिर भी आवृत्तेः पूरणं यावत् आवृत्ति की (संख्या) पूरी होने तक प्रबन्धता स्यात् (इसकी) प्रबन्धता होती है। अङ्गतया स्थितौ अंग के रूप में स्थित होने पर द्विः आवृत्तिः दो आवृत्ति (होती हैं) अनावृत्ति वा स्यात् या आवृत्ति नहीं होती।

यथा जैसे तें टें.........तक्कतटे इति यह प्रबन्धपूरणं यावत् प्रबन्ध पूरा होने तक अभ्यासात् आवृत्ति होने से उद्ग्राहः प्रबन्धः उद्ग्राह प्रबन्ध (है)। अङ्गत्वं तु (दूसरे प्रबन्ध का) अंगत्व तो द्विः सकृत् वा दो या एक बार (प्रयोग में होता है) प्राक् प्रयोगः तु (और) पहले प्रयोग तो अङ्गप्रबन्धयोः अंग (के रूप में) और (स्वतंत्र) प्रबन्ध में तुल्यः समान होता है।

(सर०) कल्लि० के अनुसार उद्ग्राह, उपशम, मेलापक, छण्डण आदि दूसरे प्रबन्धों के अंग के रूप में बजाये जाने से अंगरूप होते हैं। फिर उन्हें स्वतंत्र प्रबन्ध कैसे कहा जा सकता है, यह शंका मन में रख कर ग्रन्थकार ने समाधान यह किया कि जितनी बार आवृत्ति होने से यह बोध हो कि प्रबन्ध पूरा हुआ उस अंश में वह स्वतंत्र प्रबन्ध है। जब वह अंगरूप होता है तो वह दो या एक ही बार बजाया जाता है। अनावृत्ति का अर्थ है एक बार प्रयोग।

उद्ग्राह का प्राक् प्रयोग यानी प्रबन्ध शुरू होने से पहले प्रयोग अंग के रूप में भी होता है और प्रबन्ध में भी होता है।

यावत्पूरणं की व्याख्या में कल्लि० ने स्पष्ट किया कि उद्ग्राह आदि अवयवों (भागों) में जहाँ एक ही भाग प्रबन्ध के रूप में कहा जाता है वहाँ दूसरे अवयव के स्थान पर उसी का प्रयोग करके अवयवी के रूप में प्रबन्ध पूरा करना चाहिये। इस तरह उद्ग्राह आदि प्रबन्धों का एकधातुकत्व दोष समाप्त हो जाएगा क्योंकि एक धातु से 'अप्रबन्धत्व' दोष उत्पन्न होता है। प्रबन्ध में कम से कम दो अवयव होने चाहियें। आवृत्ति होने पर अनेकत्व होने से वह दोष नहीं रहता। आशय यह है कि उसी खण्ड को दुबारा बजाने पर दूसरा खण्ड बन जाने से प्रबन्धत्व हो जाता है।

यह उद्ग्राह है (१)

(प्रहरणम्)

उद्धतं ध्वनितं कूटबद्धं खण्डं मुहुर्मुहुः।
प्रयुक्तं स्यात् प्रहरणं ध्रुवाद्याभोगगोचरे॥ ९८५॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

नृत्ते प्रायः प्रयोक्तव्यमन्यत्रापीच्छया भवेत्।

यथा—कथोंगक्क थोंगत्थोंगटथोंगक्क थोग थोगथोक् कथोगक् थोंकट थोगक्थोकटं थोगक्। गड्दक्काधिक थोंगक्। टगें दंथोंह। दिङ्गिकुकुधित्थों हधिक्कं धिटैं इति पुनः पुनः प्रयोज्यम्। एक ताल्यामिदमुदाहरणम्।

इति प्रहरणम् (१०)

१०—प्रहरण

९८५-९८६ ख. (अ०) उद्धतं ध्वनितं कठोर ध्वनि वाला, कूटबद्धं (केवल) कूट (पाटों) से बँधा हुआ, मुहुः मुहुः प्रयुक्तं खण्डं बार-बार प्रयुक्त हुआ खंड प्रहरणं स्यात् प्रहरण होता है। प्रायः प्रायः ध्रुवादि-आभोगगोचरे नृत्ते ध्रुव से शुरू करके आभोग में दिखाई देने वाले नृत्त में प्रयोक्तव्यं प्रयोग करना चाहिये। अन्यत्र अपि अन्य प्रकार में भी इच्छया इच्छानुसार भवेत् (प्रयुक्त) होता है।

यथा जैसे—कथोंगक्क·········धिटैं इति यह पुनः पुनः प्रयोज्यं बार-बार प्रयोग करना चाहिये। इदं यह एकताल्याम् एकताली का उदाहरणम् उदाहरण (है)।

(सर०) ध्रुवादि-आभोगगोचरे की टीका में कल्लि० ने कहा कि ध्रुव आदि सारे भागों से परिमित (बना हुआ) जितना बड़ा नृत्त हो उस सारे में इस खंड की बार-बार आवृत्ति करनी चाहिये। अन्यत्रापि का अर्थ उसने खण्डनृत्त कहा है।

इसमें एक ही खंड है इसलिये एकधातुक है।

यह प्रहरण है (१०)

(अवत्सकः)

उद्ग्राहः स्यात् ततः खण्डं शुद्धकूटादिनिर्मितम्॥ ९८६॥

तद्वर्णसरबद्धं वा प्रयुज्य द्विरिदं द्वयम्।
ततः प्राक्खण्डसहितं तादृक् कूटमयं दलम्॥ ९८७॥

वाद्यते छण्डणोऽन्ते च यत्र सोऽवत्सको भवेत्।
प्रयोज्यो नर्तने दीप्ते शार्ङ्गदेवेन कीर्तितः॥ ९८८॥

यथा—गड्दगदंदं गड्दक्थिक्कट तकधिक्कट तक्धिक्तक्। इत्युद्ग्राहः। खडि खडि खखनख खिदक् झेंखखनख खिदक्तदक्क धिक्ककगिणनग थोंगदिहिकिं थोंगदिहिक्कितक धिकथोंगटे गडक्। तकधिक थोंगटें। इति द्वितीयं खण्डम्। एतच्च सहोद्ग्राहेण पुनर्वादयेत्। झक झखिखिन्नखनखखित हैं खखनखझें खन खरिब तुडि हिदिहि। कथोंगक्। इति तृतीयखण्डं पूर्वखण्डेन सह वादयेत्। तकधिक तक्करे घटथथोंगक्क थोंगक्कटें, इति च्छण्डणः। इदमुदाहरणं रङ्गविद्याधरताले।

इत्यवत्सकः (११)

११—अवत्सक

९८६ ग-९८८. (अ०) उद्ग्राहः स्यात् (शुरू में) उद्ग्राह होता है। ततः उसके बाद शुद्धकूट-आदिनिर्मितं शुद्ध, कूट

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

आदि (पाटों) से बना हुआ तत् वर्णसरबद्धं वा अथवा वह वर्णसर से बँधा हुआ खण्डं (दूसरा) खंड (और) इदं द्वयं द्विः ये दोनों दो बार प्रयुज्य प्रयुक्त करके ततः उसके बाद प्राक्खण्डसहितं पिछले (दूसरे) खंड के सहित तादृक् वैसे ही कूटमयं दलं कूट (वर्णों) के स्वरूप वाला (तीसरा) खंड वाद्यते बजाया जाता है यत्र च अन्ते और जिसमें अन्त में छण्डणः छण्डण (होता है) सः वह अवत्सकः भवेत् अवत्सक होता है। दीप्ते नर्तने दीप्त नर्तन में प्रयोज्यः प्रयुक्त करना चाहिये शार्ङ्गदेवेन कीर्तितम् (ऐसा) शार्ङ्गदेव के द्वारा कहा गया (है)।

यथा जैसे—गड्दग्दंदं·········तक्धिक्तक् इति उद्ग्राहः यह उद्ग्राह (है)। खडि·········थोंगटें इति द्वितीयं खण्डं यह दूसरा खण्ड (है) एतत् च और यह उद्ग्राहेण सह उद्ग्राह के साथ पुनः वादयेत् दुबारा बजाना चाहिये। झक·········कथोंगक् इति तृतीयखण्डं यह तीसरा खंड पूर्वखण्डेन सह पिछले खंड के साथ वादयेत् बजाना चाहिये। तकधिक·········थोंगक्कटें इति च्छण्डणः यह छण्डण है। इदम् उदाहरणं यह उदाहरण रङ्गविद्याधरताले रंगविद्याधर ताल में (है)।

(सर०) कूटमयं का आशय है जिसमें कूट वर्ण बहुल हों। पुल्लिंग अवत्सकः के साथ मुद्रित 'प्रयोज्यं' के स्थान पर प्रयोज्यः संगत है इसलिये हमने यही रखा है।

श्लोक में दिये गये लक्षण के अनुसार पहले और दूसरे—ये दो खंड दो ही बार बजाये जाते हैं, बार-बार नहीं। तदनुसार प्रस्तार में सहोद्ग्राहेण पुनः पुनः वादयेत् में दूसरा 'पुनः' ज्यादा है। इसलिये हमने एक बार ही रखा है।

इसमें उद्ग्राह आदि तीन खंड हैं इसलिये त्रिधातुक है।

यह अवत्सक है (११)

(च्छण्डणः)

कूटादिबद्धः खण्डः स्याच्छण्डणो वाद्यमोक्षकः।

यथा—गड्दग् टैंदवर तकथों थोंहटें हतटहें धों २ तकथों तकथों धिकथों तत धिधि थों थों रघ टै टै थोंः तथोटे॥

इति च्छण्डणः (१२)

१२—छण्डण

९८९ क-ख. (अ०) कूट-आदिबद्धः कूट आदि (पाटों) से बँधा हुआ वाद्यमोक्षकः खण्डः वाद्य(प्रबन्ध) का समापक खंड छण्डणः स्यात् छण्डण होता है।

यथा जैसे—गड्दग्·········तथोटे।

(सर०) वाद्यप्रबन्धों की समाप्ति में छण्डण बजाया जाता है इसलिये वाद्यमोक्षकः कहा है। यह इसकी दूसरे प्रबन्धों में अंगता है, यह कह कर कल्लि० ने यह भी कहा कि जैसा उद्ग्राह में कहा गया यह स्वतंत्र प्रबन्ध भी होता है।

यह छण्डण है (१२)

(तुडुका)

शुद्धकूटादिभिर्बद्धः खण्डो वर्णसरेण वा॥ ९८९॥

अभ्यस्तः स्याद् द्रुते माने तुडुका दीप्तनर्तने।
द्रुताद् द्रुततरं मानमत्र लक्ष्येषु दृश्यते॥ ९९०॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

उद्ग्राहध्रुवकाभोगे यत्रान्यतमखण्डकम्।
वादनीयं परे प्राहुरन्ये तु तुडुकां जगुः॥ ९९१॥

उद्ग्राहध्रुवकाभोगोद्ग्राहाणां वादनं क्रमात्।

यथा—टें दंदगि तथोंगटेंधिकतः रघटे हे कथोः टेगेधिक तटथोंगः गण नगिः थोंगतक धिकथोंगटें। एकताल्यामिदमुदाहरणम्।

इति तुडुका (१३)

१३—तुडुका

९८९ ग-९९२ ख. (अ०) शुद्धकूट-आदिभिः शुद्ध, कूट आदि (पाटों) से वर्णसरेण वा बद्धः या वर्णसर से बँधा हुआ, द्रुते माने द्रुत लय में (और) अभ्यस्तः बार-बार आवृत्त हुआ खण्डः खंड तुडुका स्यात् तुडुका होती है। दीप्तनर्तने दीप्त नर्तन में (उसकी योजना होती है)। अत्र लक्ष्येषु इसके लक्ष्यों में द्रुताद् द्रुततरं मानं द्रुत से भी ज्यादा द्रुत लय (का प्रयोग) दृश्यते दिखाई देता है। यत्र जिसमें उद्ग्राहध्रुवक-आभोगे उद्ग्राह, ध्रुव (और) आभोग में (से) अन्यतमखण्डकं कोई एक खंड वादनीयं बजाया जाता है परे दूसरे (आचार्य) प्राहुः (उसे तुडुका) कहते हैं। अन्ये तु अन्य (आचार्य) तो उद्ग्राहध्रुवक-आभोग-उद्ग्राहाणाम् उद्ग्राह, ध्रुव, आभोग और उद्ग्राह के क्रमात् क्रम से वादनं वादन को तुडुकां जगुः तुडुका कहते हैं।

यथा जैसे—टें दंदगि·········धिकथोंगटें इदं यह एकताल्याम् एकताली में उदाहरणम् उदाहरण (है)।

(सर०) द्रुततरं पर कल्लि० ने कहा कि इसका भाव यह है कि देशीत्व होने से अनियम होता है। यह स्मरणीय है कि देशीस्वरूप में भी द्रुत से आगे तेज़ लय लक्षण में मान्य नहीं हुई है लेकिन लक्ष्य में देशी में जो परिवर्तन आया उसी का संकेत यहाँ लक्ष्य में द्रुततर लय के प्रयोग के रूप में है।

उद्ग्राह, ध्रुव, आभोग में से कोई एक खण्ड होने से यह एकधातुक होना चाहिये लेकिन कल्लि० ने इसे द्विधातुक कहा है। एक अन्य मत से उद्ग्राह, ध्रुव, आभोग और उद्ग्राह होने पर यह प्रबन्ध त्रिधातुक होता है। ग्रन्थकार द्वारा दिये गये प्रस्तार में एक ही खण्ड है।

यह तुडुका है (१३)

(मलपः)

यत्र शुद्धादिभिर्बद्धः खण्डो वर्णसरेण वा॥ ९९२॥

विशालः स्याद् द्रुतलयः पर्यन्ते तु विलम्बितः।
दीप्तैर्वर्णैः क्वचित् क्वापि कोमलैश्चारुगुम्फितः॥ ९९३॥

यत्रासौ मलपः प्रोक्तः प्रायिको दीप्तनर्तने।
यत्रोद्ग्राहः सकृद् द्विर्वा ध्रुवकोऽथ सकृद् भवेत्॥ ९९४॥

व्यापकाक्षरमिश्रैस्तद्धिथोंटेंदेंभिरक्षरैः।
बद्धं निरन्तरयतिं प्राहुस्तं मलपं परे॥ ९९५॥

यथा—गड्दक् तद्धित्थों हथोंहरे घटैं गणनगतक धिकक थौं हटें हैं थोदगक्। तक्क तहधिक

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

थोकथोहक थो ३ हट्ट डिं खिखरखिखिखेरथटैं हैं थोह्रंगक्। दिहं कटदहं कटगड्द गथरिकटं २ थरिकटतक ३ ततक धिधिक थोऽथोंदटें। इदमुदाहरणम् मुद्रितमण्ठताले।

इति मलपः (१४)

१४—मलप

९९२ ग-९९५. (अ०) यत्र जिसमें शुद्ध-आदिभिः शुद्ध आदि (पाटों) से वर्णसरेण वा बद्धः या वर्णसर से बँधा हुआ विशालः खण्डः बड़ा खंड द्रुतलयः द्रुतलय वाला स्यात् होता है पर्यन्ते तु और अन्त में तो विलम्बितः विलंबित (होता है), यत्र जहाँ क्वचित् दीप्तैः वर्णैः कहीं कठोर वर्णों से क्वापि कोमलैः (और) कहीं कोमल (वर्णों) से चारुगुम्फितः सुन्दरता से रचित (होता है) असौ ऐसा मलपः प्रोक्तः मलप कहा गया (है)। प्रायिकः प्रायः दीप्तनर्तने दीप्त नर्तन में (प्रयुक्त होता है)। यत्र जिसमें उद्ग्राहः उद्ग्राह सकृत् द्विः वा एक या दो बार, अथ इसके बाद ध्रुवकः ध्रुव सकृत् भवेत् एक बार होता है, व्यापक-अक्षरमिश्रैः व्यापक अक्षरों से मिश्रित तद्धिथोंटेंदेंभिः अक्षरैः तद्धिथोंटेंदें अक्षरों से बद्धं बँधा हुआ (और) निरन्तरयतिं अनवरत यति वाला (होता है) तम् उसे अपरे दूसरे (आचार्य) मलपं प्राहुः मलप कहते हैं।

यथा जैसे—गड्दक्.........थोंदटें इदम् उदाहरणं यह उदाहरण मुद्रितमण्ठताले मुद्रितमण्ठ ताल में (है)।

(सर०) आनन्द० और आड्० दूसरे सं० में कल्लि० की टीका में विशालः पाठ है। लेकिन सिंह० की टीका के 'वितालः' के आधार पर आड्० प्रथम सं० में 'वितालः' है। तदनुसार उसने तालशून्य अर्थ दिया है।

कल्लि० ने विशालः की व्याख्या करते हुए कहा कि शुरू से आरंभ करके तीन भागों में द्रुत लय का प्रयोग करना चाहिये और पर्यन्ते यानी चौथे भाग में विलंबित लय का प्रयोग करना चाहिये, यह अर्थ है।

व्यापक अक्षर यानी क आदि जो सोलह अक्षर कहे वे और उनके साथ तद्धि आदि कूट अक्षरों से मिश्रित संयोजन होता है। कल्लि० के अनुसार ये अक्षर मर्दल में नियत होने से शुद्ध होते हैं।

अन्य मत में कही गई निरन्तरयति का अर्थ कल्लि० के अनुसार 'अविलम्बितविच्छेद' है। इस मत के मलप को कल्लि० ने द्विधातुक और पहले वाले स्वरूप को एकधातुक कहा है।

यह मलप है (१४)

सोदाहरणलक्ष्माणि बालबोधार्थमभ्यधाम्।
लक्ष्ममात्रमथो वक्ष्ये विस्तरत्रस्तमानसः॥ ९९६॥

९९६. (अ०) बालबोध-अर्थम् अनुभवरहित लोगों के ज्ञान के लिये स-उदाहरण लक्ष्माणि उदाहरणसहित लक्षण अभ्यधां (मैंने) कहे। विस्तरत्रस्तमानसः (अनावश्यक) विस्तार होने से भयभीत मन वाला (मैं) अथ अब लक्ष्ममात्रं वक्ष्ये केवल लक्षण कहूँगा।

(मलपाङ्गम्)

मलपाङ्गं तु मलपेनाङ्गेन मलपेन च।

इति मलपाङ्गम् (१५)

१५—मलपांग

९९७ क-ख. (अ०) मलपाङ्गं तु मलपांग तो मलपेन अङ्गेन मलप अंग से मलपेन च और मलप (अंगी) से (होता है)।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(सर०) मलपांग में मलप अंग और मलप—यों दो प्रकार से मलप कहा गया है। कल्लि० के अनुसार पहले अंग के रूप में मलप का प्रयोग करके फिर अंगी के रूप में यानी मूल प्रबन्ध के रूप में फिर से मलप का प्रयोग करने से मलपांग होता है। उसी खंड के दो बार प्रयोग में उसके अंग और अंगी के रूप में विवक्षा का भेद है।

यह मलपांग है (१५.)

(मलपपाटः)

पाटैर्मलपपाटः स्याद् विषमैर्मलपोपमः ॥ ९९७ ॥

इति मलपपाटः (१६)

१६—मलपपाट

९९७ ग-घ. (अ०) विषमैः पाटैः विषम पाटों से मलप-उपमः मलप सदृश (वाद्यप्रबन्ध) मलपपाटः स्यात् मलपपाट होता है।

यह मलपपाट है (१६)

(च्छेदः)

द्रुतैः करतलाघातैर्विकृतैर्यत्र वाद्यते।
वाद्यं विच्छिद्य विच्छिद्य च्छेदमिच्छन्ति तं बुधाः ॥ ९९८ ॥

इति च्छेदः (१७)

१७—छेद

९९८. (अ०) यत्र जिसमें द्रुतैः विकृतैः करतल-आघातैः हथेलियों के द्रुत और विकृत (द्रुत से भिन्न मध्य और विलंबित) आघातों से विच्छिद्य विच्छिद्य अलग-अलग करके (तोड़-तोड़ कर) वाद्यं वाद्यते वाद्य बजाया जाता है तं बुधाः उसे बुधजन छेदम् इच्छन्ति छेद इच्छित करते हैं (छेद कहते हैं)।

(सर०) कल्लि ने कहा कि यहाँ द्रुत प्रकृत है इसलिये मध्य और विलंबित विकृत कही जाती हैं।

यह छेद है (१७)

(रूपकम्)

ओतां कृत्वा द्विरुद्ग्राहः सकृद् वा व्यापकाक्षरैः।
सपाटैर्विहितो यत्र प्रान्ते रचितदेंकृतिः ॥ ९९९ ॥

मध्ये लये छण्डणः स्याद् रूपकं तन्निरूपितम्।

इति रूपकम्

१८—रूपक

९९९-१००० ख. (अ०) यत्र ओतां कृत्वा जिसमें ओता (प्रयुक्त) करके व्यापक-अक्षरैः सपाटैः व्यापक अक्षर वाले

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

पाटों के द्वारा विहितः रचित प्रान्ते अन्त में रचितदेंकृतिः देंकार से रचित उद्ग्राहः उद्ग्राह द्विः सकृत् वा दो या एक बार (प्रयुक्त हो और) छण्डणः मध्ये लये स्यात् छण्डण मध्य लय में होता है तत् वह रूपकं निरूपितं रूपक निर्धारित (हुआ है)।

यह रूपक है।

(अन्तरः)

निबद्धो वादितो गीतवाद्यसंधौ मतोन्तरः॥ १०००॥

इत्यन्तरः

१९—अन्तर

१००० ग-घ. (अ०) निबद्धः (पाटों से) बँधा हुआ गीतवाद्यसंधौ वादितः गीत और वाद्य की संधि में बजाया हुआ अन्तरः मतः अन्तर माना गया (है)।

यह अन्तर है।

(अन्तरपाटः)

अन्तरं वादयित्वा चेदनिबद्धस्य वादनम्।
क्रियतेऽन्तरपाटः स्यात् तदा निःशङ्कसंमतः॥ १००१॥

इत्यन्तरपाटः

२०—अन्तरपाट

१००१. (अ०) अन्तरं वादयित्वा अन्तर (प्रबन्ध) को बजा कर अनिबद्धस्य वादनं क्रियते चेत् यदि अनिबद्ध का वादन किया जाता है तदा तो (वह) निःशङ्कसंमतः निःशंक (शार्ङ्गदेव) का संमत अन्तरपाटः स्यात् अन्तर पाट होता है।

यह अन्तर पाट है।

(खोजः)

समाश्लिष्टघनश्लक्ष्णपाटवर्णविनिर्मितः।
हस्तलाघवसंपन्नः खोजः संजल्पितो बुधैः॥ १००२॥

इति खोजः

२१—खोज

१००२. (अ०) सम-आश्लिष्टघनश्लक्ष्णपाटवर्णविनिर्मितः समान, जुड़े हुए, निबिड, कोमल पाटाक्षरों से रचित (और) हस्तलाघवसंपन्नः हाथ के हलकेपन (अथवा कौशल) से संपन्न बुधैः बुद्धिमानों के द्वारा खोजः संजल्पितः खोज कहा गया है।

यह खोज है।

(खण्डयतिः)

कृत्वा खण्डं पाटबद्धं यतिवद् वादनं भवेत्।
एवमावृत्तिकरणादाहुः खण्डयतिं बुधाः॥ १००३॥

इति खण्डयतिः

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

२२—खण्डयति

१००३. (अ०) पाटबद्धं खण्डं कृत्वा पाटों से बँधा हुआ खण्ड (योजित) करके यतिवत् यति की तरह वादनं भवेत् वादन होता है। एवम् आवृत्तिकरणात् इस तरह आवृत्ति करने से (दुबारा बजाने से) बुधाः बुधजन खण्डयतिम् आहुः खण्डयति कहते हैं।

यह खण्डयति है।

(खण्डच्छेदः)

खण्डच्छेदः समायोगात् खण्डच्छेदप्रबन्धयोः।
छेदैर्व्यक्तैः समायुक्तं खण्डच्छेदं परे जगुः॥ १००४॥

इति खण्डच्छेदः

२३—खण्डच्छेद

१००४. (अ०) खण्डच्छेदप्रबन्धयोः समायोगात् खंड और छेद प्रबन्धों के संयोग से खण्डच्छेदः खण्डच्छेद (होता है)। व्यक्तैः छेदैः समायुक्तः (स्पष्ट रूप से) व्यक्त होने वाले छेदों (अवयव पाटों) से समायोजित खण्डच्छेदं खण्डच्छेद (होता है ऐसा) परे जगुः दूसरे (आचार्य) कहते हैं।

(सर०) सिंह० की टीका के अनुसार खण्डच्छेदः समायोगात् के आधार पर यही पाठ रखा गया है।

यह खण्डच्छेद है।

(अवयतिः)

यस्यां विरतिरन्ते च तालस्य व्यापकाक्षरैः।
सपाटैर्बद्धखण्डा या साऽऽख्यातावयतिर्बुधैः॥ १००५॥

इत्यवयतिः

२४—अवयति

१००५. (अ०) यस्यां जिसमें तालस्य अन्ते ताल के अन्त में विरतिः विराम (हो) या च और जो सपाटैः व्यापक-अक्षरैः पाट सहित व्यापक अक्षरों से बद्धखण्डा बँधे हुए खंड वाली (हो) सा वह बुधैः बुद्धिमानों के द्वारा अवयतिः ख्याता अवयति कही गई (है)।

यह अवयति है।

(खण्डपाटः)

पाटस्य खण्डनाद् वाद्ये खण्डपाटोऽभिधीयते।

इति खण्डपाटः

२५—खण्डपाट

१००६ क-ख. (अ०) वाद्ये वाद्य में पाटस्य खण्डनात् पाट खंडित करने से खण्डपाटः अभिधीयते खंडपाट कहा जाता है।

यह खण्डपाट है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(खण्डकः)

खण्डः स्यात् खण्डमध्येऽपि खण्डशो वादने सति॥ १००६॥

इति खण्डकः

२६—खण्डक

१००६ ग-घ. (अ०) खण्डमध्ये अपि खंड के बीच में भी खण्डशः टुकड़े करते हुए वादने सति वादन होने पर खण्डः स्यात् खण्डक (प्रबन्ध) होता है।

यह खण्डक है।

(खण्डहुल्लः)

स्रोतोगताख्यया यत्या खण्डहुल्लोऽभिधीयते।

इति खण्डहुल्लः

२७—खण्डहुल्ल

१००७ क-ख. (अ०) स्रोतोगता-आख्यया यत्या स्रोतोगता नामक यति से खण्डहुल्लः अभिधीयते खण्डहुल्ल कहा जाता है।

(सर०) तालाध्याय में स्रोतोगता यति का लक्षण दिया जा चुका है। उसके अनुसार क्रमशः विलंबित से द्रुत की ओर जाने वाली स्रोतोगता होती है। सिंह० ने स्पष्ट किया कि खण्डक में ही स्रोतोगता यति से वादन करने पर खण्डहुल्ल होता है।

यह खण्डहुल्ल है।

(समः)

गीतनृत्तसमो माने प्रबन्धः प्रोच्यते समः॥ १००७॥

इति समः

२८—सम

१००७ ग-घ. (अ०) माने (लय के) प्रमाण में गीतनृत्तसमः प्रबन्धः गीत और नृत्त के समान (होने वाला) प्रबन्ध समः प्रोच्यते सम कहा जाता है।

(सर०) तात्पर्य यह है कि जिस लयप्रमाण में गीत और नृत्त हो रहा हो उसी प्रमाण में अर्थात् उससे एकरूप होकर प्रबन्ध भी हो तो सम कहलाता है।

यह सम है।

(पाटः)

निष्पन्नः केवलैः पाटैः पाट इत्यभिधीयते।

इति पाटः

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

२९—पाट

१००८ क-ख. (अ०) केवलैः पाटैः निष्पन्नः केवल पाटों से निष्पन्न होने वाला पाटः इति अभिधीयते पाट इस प्रकार कहा जाता है।

(सर०) सिंह० ने कहा कि केवल पाट यानी गीत और वाद्य की संधि में प्रयुक्त पाटों से ही निष्पन्न होने वाला पाट कहलाता है।

यह पाट है।

(ध्रुवकः)

ध्रुवको भूरिवाद्येषु स्यादावृत्तोऽन्तरेऽन्तरे॥ १००८॥

इति ध्रुवकः

३०—ध्रुवक

१००८ ग-घ. (अ०) भूरिवाद्येषु अनेक वाद्यों में अन्तरे-अन्तरे बीच-बीच में आवृत्तः आवृत्त होने वाला ध्रुवकः स्यात् ध्रुवक होता है।

यह ध्रुवक है।

(अङ्गम्)

अङ्गमङ्गीकृतं सान्द्रैरपाटैर्व्यापकाक्षरैः।

इत्यङ्गम्

३१—अंग

१००९ क-ख. (अ०) अपाटैः पाटरहित सान्द्रैः घन व्यापक-अक्षरैः व्यापक अक्षरों से अङ्गीकृतम् अंग (रूप से) बनाया हुआ अङ्गम् अंग (होता है)।

यह अंग है।

(अङ्गरूपकम्)

द्विरुद्ग्राहो ध्रुवाभोगं ध्रुवाख्यः क्रमशस्ततः॥ १००९॥

यत्राङ्गरूपकं प्राह तत् तेजोऽन्वयदीपकम्।

इत्यङ्गरूपकम्

३२—अंगरूपक

१००९ ग-१०१० ख. (अ०) यत्र जिसमें द्विः उद्ग्राहः दो बार उद्ग्राह, ध्रुव-आभोगं (फिर) ध्रुव (और) आभोग, ततः उसके बाद ध्रुव-आख्यः ध्रुव नामक (खंड) क्रमशः क्रम से (योजित हों) तत् उसे तेजस् अन्वय-दीपकम् अङ्गरूपकं तेजयुक्त दीपक (दीप्त करने वाला) अंगरूपक प्राह (शार्ङ्गदेव) कहता है।

यह अंगरूपक है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(तालः)

तालश्चतुःषष्टिकलो युग्मे मार्गे च दक्षिणे॥ १०१०॥

इति तालः

३३—ताल

१०१० ग-घ. (अ०) युग्मे चच्चत्पुट (ताल) में **दक्षिणे मार्गे च** और दक्षिण मार्ग में **चतुःषष्टिकलः** चौंसठ कला वाला (प्रबन्ध) **तालः** ताल (होता है)।

यह ताल है।

(वितालः)

वितालस्त्वादिमध्यान्तविकृतस्ताल इष्यते।

इति वितालः

३४—विताल

१०११ क-ख. (अ०) वितालः तु विताल तो **आदिमध्य-अन्तविकृतः तालः** आदि, मध्य (और) अन्त में भिन्न ताल वाला **इष्यते** इच्छित होता है (अर्थात् माना जाता है)।

(सर०) सिंह० ने विकृतः तालः का अर्थ विकार प्राप्त ताल किया है। विकृत का अर्थ प्राकृत या मूल रूप का परिवर्तन या रूपान्तरण होता है। यही अर्थ यहाँ भी संगत है। छेद प्रबन्ध में कल्लि० ने विकृतैः पर यह कह कर कि यहाँ द्रुत प्रकृत है इसलिये मध्य, विलंबित विकृत कही जायँगी। प्रस्तुत श्लोक में भी विकृत का आशय 'भिन्न' ही है।

यह विताल है।

(खलकः)

हस्तेन विततागुष्ठविरलाङ्गुलिना क्रमात्॥ १०११॥

पताकेन हतैर्जातैः पाटैः स्यात् खलकाभिधः।

इति खलकः

३५—खलक

१०११ ग-१०१२ ख. (अ०) वितत-अङ्गुष्ठविरल-अङ्गुलिना फैले हुए अँगूठे और विरल (अलग-अलग) उँगलियों से **पताकेन हस्तेन** पताक हस्त से **क्रमात्** क्रम से **हतैः जातैः पाटैः** प्रहार से उत्पन्न हुए पाटों से **खलक-अभिधः** खलक नाम वाला (प्रबन्ध) **स्यात्** होता है।

यह खलक है।

(समुदायः)

समुदायो निजैः पाटैः समस्तातोद्यवादनात्॥ १०१२॥

इति समुदायः

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

३६—समुदाय

१०१२ ग-घ. (अ०) निजैः पाटैः अपने(-अपने) पाटों से समस्त-आतोद्यवादनात् सारे (अवनद्ध) वाद्यों को बजाने से समुदायः समुदाय (प्रबन्ध होता है)।

(सर०) सिंह० ने निजैः का अर्थ सहज किया है।

यह समुदाय है।

(जोडणी)

पाटानां पृथगुक्तानां मिश्रणाज्जोडणी मता।

इति जोडणी

३७—जोडणी

१०१३ क-ख. (अ०) पृथक् उक्तानां पाटानाम् अलग-अलग कहे गये पाटों के मिश्रणात् मिश्रण से जोडणी मता जोडणी मानी गई (है)।

यह जोडणी है।

(उडवः)

उडवः सलयात् तालाद् द्वितालाच्च लयोज्झितात्॥ १०१३॥

इत्युडवः

३८—उडव

१०१३ ग-घ. (अ०) सलयात् तालात् लयसहित ताल (प्रबन्ध) से लय-उज्झितात् वितालात् च और लय के बिना विताल (प्रबन्ध) से उडवः उडव (होता है)।

(सर०) आनन्द० और आड्० दोनों संस्करणों में 'द्वितालाच्च' पाठ है। लेकिन सिंह० की टीका में 'वितालप्रबन्धाच्च' है। इसके आधार पर हमने वितालाच्च रखा है।

सिंह० ने सलयात् तालात् की व्याख्या यों की है—'पूर्वोक्त तालसहित लयप्रबन्ध से'। ताल नाम से तो एक प्रबन्ध कहा जा चुका है लेकिन लय प्रबन्ध नहीं है। यहाँ क्रम उलट गया लगता है, अभिप्रेत अर्थ लयसहित ताल प्रबन्ध है।

यह उडव है।

(तलपाटः)

तलपाटस्तु मलपोन्मिश्रपाटप्रबन्धजः।

इति तलपाटः

३९—तलपाट

१०१४ क-ख. (अ०) तलपाटः तु तलपाट तो मलप-उन्मिश्रपाटप्रबन्धजः मलप (प्रबन्ध) से मिश्रित पाट प्रबन्ध से उत्पन्न (होता है)।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(सर०) सिंह० ने 'मलप से मिश्रित लयसहित पाट प्रबन्ध से उत्पन्न'—यह व्याख्या की है।

यह तलपाट है।

(उद्ववणी)

निजैर्या तद्धिथोंदेभिर्व्यापकैरक्षरैस्तथा॥ १०१४॥
पाटैर्वा रचिता किंचिद् विलम्बितलयाश्रया॥
देंकारालंकृताद्यन्ता वदन्त्युद्ववणीममूम्॥ १०१५॥

इत्युद्ववणी

४०—उद्ववणी

१०१४ ग-१०१५. (अ०) या जो निजैः अपने तद्धिथोंदेभिः तद्धिथोंदे (वर्णों) से तथा और व्यापक-अक्षरैः व्यापक अक्षरों से पाटैः वा रचिता या पाटों से रचित, किंचित् विलम्बितलय-आश्रया कुछ विलंबित लय वाली देंकार-अलंकृत-आदि-अन्ता देंकार से अलंकृत आदि और अन्त वाली अमूम् इसको उद्ववणीं वदन्ति उद्ववणी कहते हैं।

यह उद्ववणी है।

(तुण्डकः)

वाद्यैकदेशं वर्गान्तमयं वाद्यादिमध्ययोः।
वादयेल्लघुहस्तत्वाद् यं तमाख्याति तुण्डकम्॥ १०१६॥

इति तुण्डकः

४१—तुण्डक

१०१६. (अ०) वाद्य-आदिमध्ययोः वादन के शुरू और बीच में वर्ग-अन्तमयं (कवर्ग आदि) वर्गों के अन्तिम (वर्ण) वाले वाद्य-एकदेशं वाद्य के एक भाग को यं जिसे (वादक) लघुहस्तत्वात् वादयेत् हस्तलाघव से बजाता है तम् उसे तुण्डकम् आख्याति (शार्ङ्गदेव) तुण्डक कहता है।

(सर०) वाद्यैकदेशं पर सिंह० की टीका में 'लयवाद्यैकदेशे' दिया है। लयवाद्य का आशय स्पष्ट नहीं है।

यह तुण्डक है।

(अङ्गपाटकः)

पाटैरेव यतिः सान्द्रैः प्राञ्जलैरङ्गपाटकः।

इत्यङ्गपाटकः

४२—अंगपाट

१०१७ क-ख. (अ०) सान्द्रैः घन प्राञ्जलैः (और) सरल पाटैः एव पाटों से ही यतिः यति अङ्गपाटकः अंगपाट (होता है)।

(सर०) सिंह० का पाठ संभवतः 'अङ्गपाटकैः' है क्योंकि उसकी व्याख्या 'अंगसहित निबिड पाटों से' है। लेकिन अङ्गपाटकः ही संगत है क्योंकि यह प्रबन्ध का नाम है।

यह अंगपाट है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(पैसारः)

खण्डः स्यात् पृथगातोद्यवाद्यैः पैसारसंज्ञकः ॥ १०१७ ॥

इति पैसारः

इति त्रिचत्वारिंशद्वाद्यप्रबन्धाः

४३—पैसार

१०१७ ग-घ. (अ०) पृथक्-आतोद्यवाद्यैः अलग-अलग (अवनद्ध) वाद्यों के वादन से (संपन्न होने वाला) खण्डः खंड पैसारसंज्ञकः स्यात् पैसार नाम वाला होता है।

यह पैसार है।

तेतालीस वाद्यप्रबन्ध समाप्त

प्रदर्शनार्थमित्युक्ताः प्रबन्धाः कतिचिन्मया।
अन्यानपि पथानेन विदांकुर्वन्तु तद्विदः ॥ १०१८ ॥

पाटभेदाश्च वाद्यानि प्रबन्धा वाद्यसंश्रयाः।
यथायोगं मर्दलादिसर्ववाद्येष्विमे मताः ॥ १०१९ ॥

इति वाद्यप्रबन्धलक्षणम्

१०१८-१०१९. (अ०) मया मेरे द्वारा प्रदर्शन-अर्थम् उदाहरण के लिये इति कतिचित् प्रबन्धाः ये कुछ प्रबन्ध उक्ताः कहे गये। अनेन पथा इस मार्ग (रीति) से तत् विदः उसके वेत्ता अन्यान् अपि दूसरे (प्रबन्धों) को भी विदां कुर्वन्तु जान कर करें। इमे पाटभेदाः ये पाटों के प्रकार, वाद्यानि वाद्य, वाद्यसंश्रयाः प्रबन्धाः च और वाद्यसंबन्धी प्रबन्ध मर्दल-आदिसर्ववाद्येषु मर्दल आदि सभी वाद्यों में यथायोगं मताः यथासंभव (जहाँ संभव हों वहाँ) माने गये (हैं)।

(सर०) उदाहरण के लिये कुछ प्रवन्ध कहने का आशय यह है कि इस रीति से नये प्रबन्धों की रचना भी की जा सकती है।

वाद्यप्रबन्धों के लक्षण समाप्त

(मर्दलः)

निर्दोषबीजवृक्षोत्थः पिण्डेऽर्धाङ्गुलसंमितः।
एकविंशत्यङ्गुलः स्याद् दैर्घ्ये वामे मुखे पुनः ॥ १०२० ॥

चतुर्दशाङ्गुलानि स्युर्दक्षिणे तु त्रयोदश।
मानं यस्य मनाङ्मध्यः पृथुरेकाङ्गुलाधिके ॥ १०२१ ॥

वक्त्राभ्यां चर्मणी वृत्ते घने ये प्रान्तयोस्तयोः।
चत्वारिंशत् पृथग्रन्ध्राण्यङ्गुलान्तरवन्ति च ॥ १०२२ ॥

वध्रे तद्रन्ध्रविन्यस्ते सीवनप्रक्रियावति।
प्रोतोर्ध्वाधः स्थिता दृष्टोदरपृष्ठा च विग्निका ॥ १०२३ ॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

क्रियते वेष्ट्यते मध्ये त्रिभिर्बन्धैर्दृढं तथा।
कार्यो गोमूत्रिकाबन्धस्तत्र वध्रद्वयेन च॥ १०२४॥

तथा यथा पिनद्धास्ये भवेतां चर्मणी दृढे।

२—मर्दल

१०२०-१०२५ ख. (अ०) निर्दोषबीजवृक्ष-उत्थः (मर्दल का पात्र) दोषरहित, बीजपूर के पेड़ (की लकड़ी) से उत्पन्न (बना हुआ), पिण्डे मोटाई में अर्ध-अङ्गुलसंमितः आधे अंगुल से नापा हुआ (और) दैर्घ्ये लंबाई में एकविंशति-अङ्गुलः इक्कीस अंगुल स्यात् होता है पुनः और वामे मुखे बायें मुँह पर यस्य मानं जिसका नाप चतुर्दश-अङ्गुलानि चौदह अंगुल (और) दक्षिणे तु दाहिने (मुँह) पर तो त्रयोदश स्युः तेरह (अंगुल) होता है। मध्यः बीच (का भाग) मनाक् पृथुः कुछ मोटा (होता है)। वक्त्राभ्यां दोनों (मुँहों) से एक-अङ्गुल-अधिके एक अंगुल ज़्यादा (नाप वाले) ये जो दो वृत्ते घने चर्मणी गोल मोटे चमड़े (लगाये जायँगे) तयोः प्रान्तयोः उन दोनों सिरों में अङ्गुल-अन्तरवन्ति एक(-एक) अंगुल अंतर वाले चत्वारिंशत् रन्ध्राणि च चालीस छेद भी (होते हैं)। तत्-रन्ध्रविन्यस्ते उन छेदों में डाली हुई सीवनप्रक्रियावति वध्रे सिलाई की प्रक्रिया वाली चमड़े की दो पट्टी (बद्धी) ऊर्ध्व-अधः प्रोता ऊपर नीचे पिरोई हुई दृष्ट-उदरपृष्ठा च स्थिता और जिसका पेट व पीठ दिखाई दे इस तरह स्थित विग्निका क्रियते विग्निका (कर्परा) की जाती है तथा और मध्ये बीच में त्रिभिः बन्धैः तीन बंधनों से दृढं वेष्ट्यते मज़बूती से लपेटी जाती है तत्र च और उसमें वध्रद्वयेन दो वध्रों (बद्धियों) से गोमूत्रिकाबन्धः गोमूत्रिका बन्ध तथा कार्यः उस तरह करना चाहिये यथा जिससे पिनद्ध आस्ये मुँहों को ढके हुए चर्मणी (दोनों) चमड़े दृढे भवेतां कसे हुए हो जाएँ।

(सर०) मर्दल के पात्र की लकड़ी गँठीली, कटी फटी आदि लकड़ी के जो दोष पहले कहे जा चुके हैं उनसे रहित होनी चाहिये।

वध्र यानी चमड़े की पट्टी जिसे आज अवनद्धवादक 'बद्धी' कहते हैं। जिस तरह कपड़े में सिलाई की जाती है उस विधि से ये बद्धियाँ पात्र के मुँह पर लगाये जाने वाले चमड़े में किये गये ४० छेदों में पिरोई जाती हैं।

विग्निका को ग्रन्थकार आगे (श्लोक १११० क-ख) 'कर्परा' कहने वाले हैं। कर्परा का आशय स्पष्ट नहीं है, संभवतः खप्पर हो।

गाय चलते-चलते जब मूत्र विसर्जन करती है तो मूत्र से जैसी आकृति बनती है उस तरह बद्धियों को पिरोया जाता है।

कुण्डल्योः प्रान्तयोर्वामकुण्डल्यां संनिवेश्य च॥ १०२५॥

कच्छां क्षिप्त्वा दक्षिणस्यां कृष्ट्वा द्विगुणतां नयेत्।
साञ्चलद्वितयां पट्टमयीमष्टाङ्गुलायताम्॥ १०२६॥

यद्वान्यवस्त्रजां शोभानुगां न्यस्येत् कटीतटे।
निगदन्ति मृदङ्गं तं मर्दलं मुरजं तथा॥ १०२७॥

प्रोक्तं मृदङ्गशब्देन मुनिना पुष्करत्रयम्।
अत्यन्ताव्यवहार्यत्वान्निःशङ्को न तनोति तत्॥ १०२८॥

१०२५ ग-१०२८. (अ०) प्रान्तयोः कुण्डल्योः दोनों सिरों की कुंडलियों में (से) वामकुण्डल्यां बाईं कुंडली में कच्छां संनिवेश्य कच्छा (पट्टी) को रख कर (डाल कर) दक्षिणस्यां च क्षिप्त्वा और दाहिनी (कुंडली) में डाल कर कृष्ट्वा खींच कर द्विगुणतां नयेत् दुगनेपन को ले जाना चाहिये (अर्थात् दोहरी करनी चाहिये)। स-अञ्चलद्वितयां दो छोर वाली, पट्टमयीं रेशमी यत् वा अथवा अन्यवस्त्रजां किसी दूसरे कपड़े से उत्पन्न (बनी हुई) अष्ट-अङ्गुल-आयताम् आठ अंगुल चौड़ी शोभा-अनुगां

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

शोभा का अनुसरण करने वाली (शोभित होने वाली उस पट्टी) को कटीतटे कमर में न्यस्येत् रखना (बाँधना) चाहिये। तं मृदङ्गम् उस मृदंग को मर्दलं तथा मुरजं मर्दल और मुरज (भी) निगदन्ति कहते हैं। मुनिना (भरत) मुनि के द्वारा मृदङ्गशब्देन मृदंग शब्द से पुष्करत्रयं प्रोक्तं पुष्करत्रय कहा गया। अत्यन्त अव्यवहार्यत्वात् बहुत अप्रचलित होने से निःशंकः (शार्ङ्गदेव) तत् वह (उसका) न तनोति विस्तार नहीं करता।

(सर०) ना०शा० में कई जगह मृदंग के लिये पुष्कर, त्रिपुष्कर, पुष्करत्रय शब्दों का प्रयोग हुआ है। अभि० में स्पष्टतः त्रिपुष्कर को आलिंगक, ऊर्ध्वक और आंकिक कहा है—'ननु त्रिपुष्करमेव वाद्यम्। तच्चालिङ्गकोर्ध्वकाङ्किकेषु पूर्णं.........' (ना०शा०, २९/१३ पर अभि०, पं० १२-१३)। 'पुष्करत्रयव्यतिरिक्ता एवात्र महामर्दलाकारास्ते।...............ते मृदङ्गदर्दरपणवा, मृदङ्गादिषु त्रिपुष्करे प्रत्यङ्गानि' (वही, २९/१५ पर अभि०)। ना०शा० में विभिन्न स्थानों पर इनका जैसा निरूपण है और उस पर अभिनव की टीका के आधार पर इसके स्वरूप के बारे में दो तरह की धारणा बनती हैं। एक, त्रिपुष्कर तीन मुँह वाला एक वाद्य है जिसका बायाँ भाग आलिंगक, दाहिना भाग आंकिक या आंगिक और बीच का भाग ऊर्ध्वक है। त्रिमार्जन पर अभि० से ऐसा भी लगता है कि यह चार मुँह वाला वाद्य है। दूसरी, ये तीन अलग-अलग वाद्य हैं क्योंकि कई जगह 'पुष्करेषु', 'मृदङ्गेषु'—यों बहुवचन प्रयोग हुआ है। ३४/४२ की टीका में अभि० में कहा—'दक्षिणस्य.........द्वौ वर्णौ' अर्थात् दाहिने पुष्कर के दो मुँह हैं। उस दक्षिण (पुष्कर) के दाहिने मुँह पर ६ वर्ण और बायें पर ३ वर्ण उत्पन्न होते हैं। मध्यम में तो प्रधानता होने से अंकिक और आलिंग के द्वारा सार्ध यानी तीन, ऊर्ध्वक में ३, आलिंग में ५। इस तरह १६ वर्ण होते हैं। मार्जना संबन्धी २४/११९ की टीका में कहा गया कि वाम आलिंगक में गान्धार, दक्षिण आंगिक में षड्ज, ऊर्ध्वक में पंचम त्रिश्रुति—यह मायूरी मार्जना है। अवशिष्ट चौथे मुँह पर 'मध्यम इति पूर्वस्वरत्वम्'।

भूतिमिश्रेण भक्तेन चिक्कणेनातिमर्दनात्।
पिण्डिकां पूरिकाकारां वामवक्त्रे निवेशयेत्॥ १०२९॥

बोहणाख्येन तेनास्यं लिम्पेदल्पेन दक्षिणम्।
एवं जलधरध्वानगम्भीरो भवति ध्वनिः॥ १०३०॥

निःशङ्केनात्र च प्रोक्तो देवता नन्दिकेश्वरः।

१०२९-१०३१ ख. (अ०) अतिमर्दनात् चिक्कणेन खूब मलने से चिकने हुए भूतिमिश्रेण भक्तेन राख मिश्रित भात से पूरिका-आकारां पिण्डिकां पूरी के आकार की गोली (बना कर) वामवक्त्रे बायें मुँह पर निवेशयेत् लगानी चाहिये। बोहण-आख्येन तेन बोहण कहे जाने वाले उस (मिश्रण) से दक्षिणम् आस्यं (मर्दल के)दाहिने मुँह को अल्पेन लिम्पेत् हल्का सा लेपना चाहिये। एवम् इस तरह जलधरध्वानगम्भीरः ध्वनिः बादल की ध्वनि जैसी गंभीर ध्वनि भवति (उत्पन्न) होती है। अत्र च इसमें निःशङ्केन निःशंक (शार्ङ्गदेव) के द्वारा देवता नन्दिकेश्वरः देवता नन्दिकेश्वर प्रोक्तः कहा गया (है)।

(सर०) सिंह० ने लकड़ी की राख को भूति कहा है, पूरिका को गुड़ से मिश्रित बताया है जो महाराष्ट्र में 'पूला' कहलाती है।

भात यानी पकाये हुए चावल के साथ राख को खूब मल कर चिकना करके पूरी के आकार की पिंडी बायें मुँह पर और वैसी ही बिल्कुल पतली तह दाहिने मुँह पर लगाने से मर्दल की ध्वनि गंभीर, घन और बुलन्द हो जाती है। पिण्डी के इस सम्मिश्रण को ग्रन्थकार ने बोहण कहा है।

रक्तचन्दनजो यद्वा खादिरोऽन्यैरयं मतः॥ १०३१॥

त्रिंशदङ्गुलदैर्घ्यश्च पिण्डे त्वङ्गुलसंमितः।
एतस्य वामं वदनं द्वादशाङ्गुलसंमितम्॥ १०३२॥

दक्षिणं तु मितं सार्धैरेकादशभिरङ्गुलैः।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

१०३१ ग-१०३३ ख. (अ०) अन्यैः अन्य (आचार्यों) के द्वारा अयं यह (मर्दल) रक्तचन्दनजः यत् वा खादिरः लाल चंदन से उत्पन्न (बना) या खैर (की लकड़ी) का मतः माना गया (है)। त्रिंशत्-अङ्गुल-दैर्घ्यः च (यह) तीस अंगुल लंबा और पिण्डे तु (लकड़ी की) मोटाई में तो अङ्गुलसंमितः एक अंगुल नाप वाला (होता है)। एतस्य वामं वदनम् इसका बायाँ मुँह द्वादश-अङ्गुलसंमितं बारह अंगुल से नापा हुआ (नाप वाला) दक्षिणं तु (और) दाहिना (मुँह) तो स-अर्धैः एकादशभिः अङ्गुलैः आधे सहित ग्यारह (साढ़े ग्यारह) अंगुलों से मितं मापा हुआ (होता है)।

(सर०) मतान्तर से मर्दल लाल चन्दन या खैर की लकड़ी से बना हुआ होता है और तीस अंगुल लंबा कहा गया है। बायाँ मुँह बारह अंगुल का और दाहिना साढ़े ग्यारह अंगुल होता है।

पाटाश्च तद्धिथोंटेंहेंनंदेमित्यत्र कीर्तिताः ॥ १०३३ ॥

तटह्ला दधलाश्चेति पाटानन्यत्र मन्वते।
इह स्युः पटहोक्ताश्च वर्णाः षोडश कादयः ॥ १०३४ ॥

अधिकान् भझमान् वर्णान् वर्णयन्त्यपरे त्विह।

१०३३ ग-१०३५ ख. (अ०) अत्र इस (मर्दल के दाहिने मुँह) पर तद्धिथोंटेंहेंनंदेम् इति तद्धिथोंटेंहेंनंदें ये (सात) पाटाः च पाट भी कीर्तिताः कह गये (हैं)। अन्यत्र दूसरे (बायें मुँह) पर तटह्लाः दधलाः च त, ट, ह्ल और द, ध, ल इति पाटान् ये पाट मन्वते माने जाते हैं। इह यहाँ (मर्दल में) पटह-उक्ताः पटह में कहे गये क-आदयः क आदि षोडश वर्णाः च सोलह वर्ण भी स्युः होते हैं। अपरे तु दूसरे (आचार्य) तो इह इसमें भझमान् अधिकान् वर्णान् भ, झ, म (ये) अधिक वर्ण वर्णयन्ति वर्णित करते हैं (कहते हैं)।

(सर०) पटह आदि में जो १६ वर्ण कहे गये हैं उनके अलावा मर्दल के दाहिने मुँह पर ७ और बायें पर ६ वर्ण भी उत्पन्न होते हैं। अन्य मत से भझम—ये तीन वर्ण भी माने जाते हैं। इस तरह कुल ३२ वर्ण मर्दल में होते हैं। कल्लि० ने कहा कि इनमें से कुछ एकरूप होने पर भी पृथक् प्रयत्न से साधे जाते हैं इसलिये वे अलग वर्ण समझने चाहियें। पृथक् प्रयत्न से आशय हाथ के अलग तरह के आघातों से है।

तेषु तद्ध्यादयः सप्त केवलाः शुद्धसंज्ञकाः ॥ १०३५ ॥

सस्वैररस्वैर्युक्तैरयुक्तैर्वा कखादिभिः।
व्यापकाख्यैः षोडशभिर्मिश्रास्ते कूटसंज्ञकाः ॥ १०३६ ॥

कूटमिश्रास्तु ते शुद्धा बुधैः खण्डाभिधा मताः।

१०३५ ग-१०३७ ख. (अ०) तेषु उनमें (से) केवलाः केवल तद्धि-आदयः सप्त तद्धि आदि सात शुद्धसंज्ञकाः शुद्ध संज्ञा वाले (होते हैं)। ते वे (शुद्ध) सस्वैरः अस्वैरः युक्तैः अयुक्तैः वा (पूर्वोक्त) स्वरसहित, स्वररहित, संयुक्त या असंयुक्त व्यापक-आख्यैः व्यापक नामक कख-आदिभिः षोडशभिः मिश्राः क, ख आदि सोलह (वर्णों) से मिश्रित (होकर) कूटसंज्ञकाः कूट संज्ञा वाले (होते हैं)। ते शुद्धाः वे (तद्धि आदि) शुद्ध (वर्ण) कूटमिश्राः तु कूट (वर्णों) से मिश्रित (होकर) तो खण्ड-अभिधाः मताः खंड नाम वाले (अर्थात् खंड) माने गये (हैं)।

(सर०) अवनद्ध के वाद्यों और वाद्यप्रबन्धों के लक्षणों में वर्णों के शुद्ध, कूट और खंड—इन तीन प्रकारों का उल्लेख हुआ है। यहाँ उनका स्वरूप बताया है। तद्धि आदि ७ शुद्ध वर्ण होते हैं। सस्वर, अस्वर आदि की व्याख्या श्लोक ८२४ में की जा चुकी है। सभी वाद्यों में बजाये जाने वाले वर्ण व्यापक कहे जा चुके हैं। उनके साथ शुद्ध वर्णों के मिश्रण से कूट वर्ण बनते हैं और शुद्ध तथा कूट के मेल से खंड वर्ण बनते हैं।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

छन्दसा भूरिहृद्येन स्फूर्तिमूर्तिरुदारधीः ॥ १०३७ ॥

कविः कवयति श्लोकं श्रवणोत्सवदैः पदैः।
यथा तथा क्वचित् तालैर्वर्णत्रयमनोहरान् ॥ १०३८ ॥

विधाय वादको वाद्यप्रबन्धान् बन्द्धुमर्हति।
इमं कवितकाराख्यं वादकं ब्रुवते जनाः ॥ १०३९ ॥

इति मर्दललक्षणम्

१०३७ ग-१०३९. (अ०) यथा जिस तरह स्फूर्तिमूर्तिः उदारधीः (प्रतिभा जिसकी मूर्ति है ऐसा) प्रतिभावान् और विशाल बुद्धि वाला कविः कवि भूरिहृद्येन छन्दसा अत्यन्त मनोहर छन्द से श्रवण-उत्सवदैः पदैः कानों को सुख देने वाले पदों से श्लोकं कवयति श्लोक को रचता है तथा उसी तरह वादकः वादक क्वचित् तालैः एकाधिक तालों से वर्णत्रयमनोहरान् (शुद्ध, कूट, खंड आदि) तीन (तरह के) मनोहर वर्णों का विधाय विधान करके वाद्यप्रबन्धान् बन्द्धुं वाद्यप्रबन्धों को निबद्ध करने में अर्हति समर्थ होता है। जनाः अवनद्धवादक इमम् इस (ऐसे प्रबन्धरचयिता) को कवितकार-आख्यं वादकं कवितकार नामक वादक ब्रुवते कहते हैं।

(सर०) क्वचित् का अर्थ कल्लि० ने 'कहीं एक ताल से या कहीं दो तालों से' किया है। लेकिन तालैः बहुवचन है इसलिये तात्पर्य एक, दो या अनेक तालों में बद्ध करने से है। कल्लि० के अनुसार जनाः यानी भाण्डिक अर्थात् भाण्ड वाद्यों के वादक हैं।

मर्दल का लक्षण समाप्त

(मार्दलिकभेदाः)

चतुर्विधो मार्दलिको वादको मुखरी तथा।
ततः प्रतिमुखर्याख्यस्तुर्यो गीतानुगो मतः ॥ १०४० ॥

मर्दलवादकों के भेद

१०४०. (अ०) मार्दलिकः मर्दलवादक वादकः तथा मुखरी वादक और मुखरी ततः तब प्रतिमुखरी-आख्यः प्रतिमुखरी नाम वाला (और) तुर्यः चौथा गीत-अनुगः गीतानुग (यों) चतुर्विधः मतः चार प्रकार का माना गया (है)।

(सर०) गीतानुग का अर्थ है गीत का अनुसरण करने वाला।

(तत्र वादकः)

वादको वादकर्ता स्याद् वादः पक्षपरिग्रहः।
स्वपक्षसाधनं तद्वत् परपक्षस्य दूषणम् ॥ १०४१ ॥

येऽन्ये जल्पवितण्डाद्या वादभेदाः सलक्षणाः।
न तान् ब्रवीम्यहं ग्रन्थप्रपञ्चभयभङ्गुरः ॥ १०४२ ॥

१—वादक

१०४१-१०४२. (अ०) वादकः वादक वादकर्ता स्यात् वाद करने वाला होता है। पक्ष-परिग्रहः पक्ष का स्वीकार

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(अर्थात्) स्वनपक्षसाधनम् अपना पक्ष सिद्ध करना तत्-वत् उसी तरह परपक्षस्य दूषणं दूसरे पक्ष (प्रतिपक्ष) का दोष (दिखाना) वादः वाद (होता है)। ये जो जल्पवितण्डा-आद्याः जल्प, वितण्डा आदि सलक्षणाः लक्षण सहित अन्ये भेदाः दूसरे भेद (हैं) तान् उनको ग्रन्थप्रपञ्चभयभङ्गुरः अहं ग्रन्थ के विस्तार के भय से अस्थिर (हुआ) मैं न ब्रवीमि नहीं कहता।

(सर०) तर्कशास्त्र में वाद के जल्प, वितण्डा आदि भेद कहे गये हैं लेकिन बहुत विस्तार होने के डर से इन्हें न कहने का ग्रन्थकार ने मन्तव्य प्रकट किया और वाद का मुख्य अर्थ बताया जो मर्दलवादक के भेदों से संबन्ध रखता है। वाद का अर्थ है अपने पक्ष का प्रतिपादन और दूसरे पक्ष के दोषों को प्रस्तुत करना। वादक मार्दलिक भी अपने पक्ष यानी अपने वादन की स्थापना करता है।

वादे च वादनं कार्यं प्रथमं त्राटनाभिधम्।
मर्दले तालरहिते बोहणेन विना ध्वनिः॥ १०४३॥

यो देहडडगित्यादि कृतोऽसौ त्राटनं मतम्।
वोडवाडं घनरवं हस्तावर्त्यर्थमाचरेत्॥ १०४४॥

मुक्तशब्दात्मकं रेहदडादप्रमुखं ततः।
उधारं स्थापनं पश्चाद् वादयेत् तदथोच्यते॥ १०४५॥

१०४३-१०४५. (अ०) वादे च वाद में भी प्रथमं पहले त्राटन-अभिधं वादनं त्राटन नामक वादन कार्यं करना चाहिये। बोहणेन विना मर्दले बोहण के बिना मर्दल में तालरहिते ताल के बिना यः जो देहडडग्-इत्यादिकृतः ध्वनिः देहडडग् इत्यादि से उत्पन्न ध्वनि (होता है) असौ यह त्राटनं मतं त्राटन माना गया (है)। हस्त-आवर्त्यर्थं हाथ घुमाने (हल्का करने) के लिये घनरवं घनी ध्वनि वाला वोडवाडम् आचरेत् वोडवाड बजाना चाहिये। ततः उसके बाद मुक्तशब्द-आत्मकं खुली ध्वनि वाला रेहदडादप्रमुखं रेहदडाद मुख्य (अक्षर) वाला उधारम् उधार (नामक बजाना चाहिये)। पश्चात् उसके बाद स्थापनं वादयेत् स्थापन बजाना चाहिये। तत् वह अथ अब उच्यते कहा जा रहा है।

(सर०) वाद की विधि काफ़ी लंबी है।

देहडडगित्यादि में प्रयुक्त आदि से इनके अलावा दूसरे अनुकरणयोग्य वर्णों का ग्रहण करना चाहिये, ऐसा कल्लि० ने कहा। हस्तावर्त्यर्थं की व्याख्या में उसने स्पष्ट किया कि वोडवाड का प्रयोजन हाथ की जड़ता को दूर करना है यानी हाथ हल्केपन से घूमने लगे। इसके लिये दोनों हाथों के अँगूठों और कनिष्ठा से लगातार आघात करते हुए वादन किया जाता है। मुक्तशब्दात्मकं यानी ऐसी खुली ध्वनि जिससे अनुरणन हो। कल्लि० ने रेहदडादप्रमुखं में रेहदडाद + प्रमुखं—इस अन्वय के आधार पर इन्हें प्रमुख कहा। लेकिन सिंह० ने 'देहदडगात्। अप्रमुखं कार्यं' यों अप्रमुख अर्थ किया। उसने वोडवाद के बाद उधारस्थापन करना चाहिये और वह स्थापन अप्रमुख कहा जाता है, ऐसा अर्थ किया।

मुखयोर्बोहणं दत्वा वादयेद् वाममाननम्।
गड्दग्धोमिति वक्त्रं तु गड्दग्धामिति दक्षिणम्॥ १०४६॥

ततो मध्यलये ताले द्वितीये मुखयोर्द्वयोः।
कुर्यान्नादसमायोगमथोच्चोच्चं दलत्रयम्॥ १०४७॥

पृथग्विलम्बिते मध्ये द्रुते चैव लये क्रमात्।
तथैकद्वित्रिथोंकाररचितं ग्रहमोक्षभाक्॥ १०४८॥

आलप्तिवच्च त्रिस्थानशुद्धं हस्तद्वयेन यत्।
मधुरं वाद्यते तज्ज्ञैः स्थापनं तदुदाहृतम्॥ १०४९॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

१०४६-१०४९. (अ०) मुखयोः दोनों मुँहों पर बोहणं दत्वा बोहण देकर (लेप करके) वामम्-आननं बायें मुँह पर गड्दग्धोम् इति गड्दग्धों यह (और) दक्षिणं वक्त्रं तु दाहिने मुँह पर तो गड्दग्धाम् इति गड्दग्धां यह वादयेत् बजाना चाहिये। ततः उसके बाद द्वितीये ताले द्वितीय ताल में मध्यलये मध्यलय में द्वयोः मुखयोः दोनों मुँहों पर नादसमायोगं कुर्यात् नाद का मेलन (एकरूप या वादी-संवादी रूप) करना चाहिये। अथ इसके बाद उच्च-उच्चम् (एक की अपेक्षा दूसरे) बड़े-बड़े दलत्रयं तीन खंड पृथक् अलग-अलग क्रमात् क्रम से विलम्बिते विलंबित, मध्ये द्रुते च एव लये मध्य और द्रुत—इन लयों में तथा और एकद्वित्रिथोंकाररचितं ग्रहमोक्षभाक् एक, दो (और) तीन थोंकार से रचित ग्रह (और) मोक्ष वाला आलप्तिवत् च और आलप्ति की तरह त्रिस्थानशुद्धं तीन स्थानों में शुद्ध हस्तद्वयेन दोनों हाथों से यत् मधुरं वाद्यते जो मधुर वादन होता है तत् वह तत्-ज्ञैः उसके (वादन के) ज्ञाताओं के द्वारा स्थापनम् उदाहृतं स्थापन कहा गया (है)।

(सर०) इस अंश का आशय कल्लि० की टीका से स्पष्ट होता है। उसके अनुसार गड्दग्धों और गड्दग्धां बजाने का यह अर्थ है कि जिस तरह बजाने से इन अक्षरों का अनुकरण हो यानी मर्दल के मुँहों से उत्पन्न होने वाली ध्वनियाँ इन अक्षरों जैसी सुनाई दें उस तरह बजाना चाहिये। कल्लि० की इस व्याख्या में इस तथ्य का संकेत है कि अवनद्ध वाद्यों में जो अक्षर कहे गये वास्तव में वे अक्षर उत्पन्न नहीं होते बल्कि उन अक्षरों के जैसी ध्वनि ही सुनाई देती है। इसका प्रमाण यह है कि गड्दग्धों आदि अक्षरों का मुँह से उच्चारण होने पर जैसे स्पष्ट सुनाई देते हैं वाद्यों पर वही अक्षर बजाने पर उनमें वे अक्षर नहीं सुनाई देते। इसीलिये सामान्य व्यक्ति उनमें अक्षर नहीं सुन पाता।

नादसमायोगं पर कल्लि० ने कहा कि या तो दोनों मुँहों का नाद एकाकार हो जाय अथवा वादी-संवादी के रूप में मिल जाय। यानी एक मुँह पर वादी स्वर और दूसरे पर उसका संवादी हो जाय।

उच्चोच्चं के साथ पृथक् की लंबी व्याख्या में उसने यह स्पष्ट किया कि तीन खंडों में से हरेक में पहले विलंबित, फिर मध्य और अन्त में द्रुत लय की योजना होती है और हर खंड पिछले खंड की अपेक्षा बड़ा होता है। इस तरह पहले खंड में पहले विलंबित लय में ग्रह (आदि) और मोक्ष (अन्त) एक-एक थोंकार वाला होता है, फिर मध्य लय में दो-दो थोंकार वाला और द्रुत लय में तीन-तीन थोंकार वाला ग्रह मोक्ष होता है। इसी तरह दूसरा और तीसरा खंड भी होता है।

आलप्तिवत् च त्रिस्थानशुद्धं पर कल्लि० ने कहा कि जिस तरह आलप्ति तीनों स्थानों में शुद्ध रूप में यानी अपस्वरों से रहित की जाती है उसी तरह मर्दल के वादन में स्थापन भी तीन स्थानों यानी विलंबित, मध्य और द्रुत में असंकीर्ण (अमिश्रित) रूप से करना चाहिये। अथवा वादक स्वयं त्रिस्थानों में शुद्ध आलप्ति यानी रागालाप करते हुए उद्घट्टन करके यानी मुँह से पाटों का भी उच्चारण करते हुए बीच-बीच में दोनों हाथों से मर्दल वादन करे तो वह स्थापन कहा जाता है।

ततस्थोंकारबहुलग्रहमोक्षोऽन्तरो भवेत्।
चतुरश्रत्र्यश्रमिश्रखण्डेष्वेकेन केनचित्॥ १०५०॥

तालेन टाकणीवादौ कर्तव्यौ तदनन्तरम्।
तयोरेकसरो जोडा चेति भेदद्वयं मतम्॥ १०५१॥

१०५०-१०५१. (अ०) ततः उसके बाद थोंकारबहुल ग्रहमोक्षः थोंकार (के) बहुल (प्रयोग से युक्त) ग्रह (और) मोक्ष वाला अन्तरः भवेत् अन्तर (धातु) होता है। तत् अनन्तरम् उसके बाद चतुरश्रत्र्यश्रमिश्रखण्डेषु चतुरश्र, त्र्यश्र, मिश्र और खण्ड में से केनचित् एकेन तालेन किसी एक ही ताल से टाकणीवादौ कर्तव्यौ टाकणी और वाद करना चाहिये। तयोः उन दोनों के एकसरः जोडा च एकसर और जोडा इति भेदद्वयं ये दो भेद मतं माने गये (हैं)।

(सर०) टाकणी और वाद दोनों के दो भेद एकसर और जोडा होते हैं यानी एकसर टाकणी और जोडा टाकणी—ये दो टाकणी के भेद और एकसर वाद और जोडा वाद—ये वाद के भेद हैं।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

कृत्वा श्रमस्य वहनीं यस्तालेऽष्टकलादिके।
वाद्यखण्डस्तालकलाप्रस्तारानुगतः कृतः॥ १०५२॥
अखण्डितष्टाकणी सैकसरत्वं सकृत्कृतेः।
एकद्वित्रिचतुर्वारं शुद्धाभ्यसनतो भवेत्॥ १०५३॥
इह श्रमवहन्याख्यः प्रकारो वादने यथा।

तद्धितोटें ततधिधि थों थों टें टें तततधि धिधि थों थों थों टें टें टें ततततधि धि धि धि थो थो थो थो टे टे टे टे। इति श्रमवहनीं कृत्वा एकसरटाकणी यथा—तकधिकट। तकधिकट धिकटतक तकधिकट तकतकधिकट धिकटकंतधिकट इत्यष्टौ वाद्यखण्डस्य खण्डा अष्टासु कलासु, सैव द्विवारं जोडा।

१०५२-१०५४ ख. (अ०) श्रमस्य वहनीं कृत्वा श्रम की वहनी (योजित) करके यः जो वाद्यखण्डः वाद्यखंड अष्टकल-आदिके ताले अष्टकल आदि ताल में तालकलाप्रस्तार-अनुगतः ताल की (दक्षिण आदि मार्ग के अनुसार होने वाली) कला के प्रस्तार के अनुसार अखण्डितः कृतः अखंडित रूप से किया (बजाया) हुआ (हो वह) टाकणी टाकणी (होती है)। सा वह सकृत् कृतैः एक बार करने (बजाने) पर एकसरत्वम् (उसका) एकसर रूप (होता है)। एकद्वित्रिचतुर्वारं एक, दो, तीन, चार बार शुद्ध-अभ्यसनतः (तद्धि आदि सात) शुद्ध (वर्णों में से किन्हीं) की आवृत्ति करने से इह वादने इस वादन में श्रमवहनी-आख्यः श्रमवहनी नामक प्रकारः भवेत् प्रकार होता है। यथा जैसे—तद्धितोटें·········टे टे टे टे इति इस प्रकार श्रमवहनीं कृत्वा श्रमवहनी (योजित) करके एकसरटाकणी एकसरटाकणी (बजानी चाहिये)। यथा जैसे—तकधिकट·········कतधिकट इति ये वाद्यखण्डस्य अष्टौ खण्डाः वाद्यखंड के आठ खंड अष्टासु कलासु आठ कलाओं में (योजित करने चाहियें)। स एव वही द्विवारं दो बार (करने) से जोडा जोडा (टाकणी होती है)।

(सर०) यहाँ टाकणी और उसकी अंगरूप श्रमवहनी का लक्षण दिया है।

'अष्टकल आदि ताल' में अष्टकल का अर्थ है एककल चच्चत्पुट और 'आदि' से द्विकल, चतुष्कल चच्चत्पुट का ग्रहण होता है। तालकलाप्रस्तारानुगत का आशय यह है कि दक्षिण आदि मार्गों में ताल की एक कला जितनी मात्रा की होती है उसके अनुसार बजाया जाता है। अखण्डितः से पूरा टाकणी वाद्यखंड समझना चाहिये। पूरा खंड एक बार बजाने पर एकसर टाकणी होती है।

तद्धिथोंटेंहेंनंदें—ये जो शुद्ध पाट पहले कहे गये इन्हीं में से किन्हीं वर्णों का एक, दो, तीन और चार बार प्रयोग होने पर श्रमवहनी होती है जैसा ऊपर दिये गये प्रस्तार में है। ऐसी श्रमवहनी बजाने के बाद टाकणी एक बार बजाने से एकसर टाकणी होती है जो तकधिकट वाले प्रस्तार में दी गई है। इसी को दो बार बजाने पर जोडा टाकणी होती है।

शुद्ध पाट तद्धिथोंटेंहेंनंदें होते हैं। श्रमवहनी में इन्हीं की योजना होती है। लेकिन आनन्द० और आड्० में दिये गये प्रस्तार के शुरू में तद्धितोटें है, दो-दो बार प्रयोग में 'तो' के बजाय 'थों' है और चार-चार बार में थो थो थो थो टे टे टे टे है। इस पर आड्० की पादटिप्पणी में एक अन्य पाण्डुलिपि के अनुसार इन अक्षरों को अनुस्वर युक्त कहा है। वास्तव में प्रस्तार यह होना चाहिये—

तद्धिथोटें तत धिधि थोंथों टेंटें ततत धिधिधि थोंथोंथों टेंटेंटें ततततत धिधिधिधि थोंथोंथोंथों टेंटेंटेंटें।

एकसर टाकणी में आठ खण्ड होने चाहियें। इसका जो प्रस्तार दिया गया है उसमें शुरू के ४ खंड ५-५ पाटों के हैं, बाद के जो दो बड़े खंड हैं उनमें ७ और ८ पाट हैं। इन दो में ५-५ पाटों के खंड बनायें तो पूरा प्रस्तार यों बनेगा—

तकधिकट तकधिकट धिकटतक तकधिकट तकतकधि कटधिकट कतधिकट।

लेकिन इसमें ७ ही खंड बनते हैं, एक खंड कम है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

टाकणीवत् समस्तं प्राक्खण्डं कृत्वा ततः परम्॥ १०५४॥
खण्डं खण्डं द्विद्विवारं वाद्यते वादसंज्ञके।
तत्रैकसरजोडात्वं टाकणीवदुदाहृतम्॥ १०५५॥

यथा—दंदं। टिरि। टिट्टिकड्द। कडदगझे। कडदगझे। थरिक्कथरि। टगणगणधरि। गणगणधरि। दथरि गडदग। दथरिगडदग। दथरिगडदग दथरि। दथरितर्गड्दक्थरिक्कटतत्तक्। इति षोडशकले ताले षोडशकलासु षोडशखण्डकं वाद्यं कृत्वा तान् षोडश खण्डान् द्विर्द्विः कुर्यात्।

इत्येकसरवादः

१०५४ ग-१०५५. (अ०) वादसंज्ञके वाद नामक (वादन) में समस्तं प्राक्खण्डं पूरा पहला खंड टाकणीवत् कृत्वा टाकणी की तरह (एक बार) बजा कर ततः परम् उसके बाद खण्डं खण्डं हर खंड द्वि-द्विवारं दो-दो बार वाद्यते बजाया जाता है। तत्र उसमें एकसरजोडात्वम् एकसर और जोडा रूप टाकणीवत् टाकणी की तरह उदाहृतं कहा गया (है)।

यथा जैसे—दंदं.........तत्तक् इति यह षोडशकले ताले सोलह कला वाले ताल में षोडशकलासु सोलह कलाओं में षोडशखण्डकं वाद्यं कृत्वा सोलह खंड वाला वादन करके तान् षोडश खण्डान् उन सोलह खंडों को द्विः द्विः कुर्यात् दो-दो बार करना (बजाना) चाहिये।

(सर०) टाकणीवत् उदाहृतं का अर्थ, कल्लि० के अनुसार, यह है कि उक्त वाद्य को एक बार बजाने से एकसर वाद और उन तीनों को दो बार बजाने पर जोडा वाद होता है।

दोनों संस्करणों में 'वाद्यसंज्ञके' मुद्रित पाठ है। लेकिन आनन्द० में कल्लि० की टीका में 'वादसंज्ञके प्राक्कखण्डे' पाठ है जो संगत है क्योंकि यहाँ वाद का लक्षण दिया गया है।

इसके प्रस्तार में १६ खण्ड स्पष्टतः दिखाई नहीं देते। सं० राज में प्रस्तार कुछ अलग है लेकिन उसमें यों १६ खण्ड स्पष्ट हैं—

दंदं॥ १॥ टिरि किटि रिकि॥ २॥ गड्दज्झें गड्दज्झें झें॥ ३॥ थरिक्क थरिक्क॥ ४॥ गण गण गण॥ ५॥ थरिकथरिगड॥ ६॥ दत्थ दत्थ॥ ७॥ थरिगड थरिगड॥ ८॥ दगड दगड॥ ९॥ थरिधि थरिधि॥ १०॥ थरि थरि॥ ११॥ तर्गड्दक्॥ १२॥ थरि थरि॥ १३॥ तक्क तक्क॥ १४॥ धिकट धिकट॥ १५॥ तक्कट गड्दक्॥ १६॥ (सं० राज, ३/४/१/६०)

यह एकसर वाद है।

तकारेण च सर्वेषामेतेषां त्याग इत्यते।
कुर्यात् ततो दिगिदिगिं ताटवादादिकं तथा॥ १०५६॥

वर्णा दिगिदिगीत्येते प्रोक्ता दिगिदिगौ बुधैः।
यः खण्डोऽतिद्रुते माने ताटवादः स कथ्यते॥ १०५७॥

अन्येऽपि वाद्यविधयोऽभ्यूह्यन्तामध्वनामुना।
इति वादप्रकाराणां सम्यक्त्वे विजयो भवेत्॥ १०५८॥

इति वादकः

१०५६-१०५८. (अ०) एतेषां सर्वेषां च इन सभी में तकारेण तकार से त्यागः इष्यते समाप्ति मान्य होती है। ततः उसके बाद दिगिदिगिं दिगिदिगि तथा ताटवाद-आदिकम् और ताटवाद आदि कुर्यात् योजित करना चाहिये (जिसमें) दिगिदिगि इति

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

एते दिगिदिगि यों ये वर्णाः प्रोक्ताः अक्षर कहे गये (हैं)। अतिद्रुते माने अतिद्रुत लय में यः खण्डः जो खंड दिगिदिगौ दिगिदिगि में (अर्थात् दिगिदिगि अक्षरों से योजित किया जाता है) सः वह बुधैः वादकों के द्वारा ताटवादः ताटवाद कथ्यते कहा जाता है। अन्ये वाद्यविधयः अपि दूसरी वाद्य विधियाँ भी अमुना अध्वना इसी मार्ग से अभ्यूह्यन्तां समझनी चाहियें। इति यों वादप्रकाराणां सम्यक्त्वे वाद प्रकारों के समुचित (प्रयोग) होने पर विजयः भवेत् (वादन में) विजय होती है।

(सर०) ताटवादादिकं में आदि से, कल्लि० के अनुसार, ताण्डिकों में प्रसिद्ध वाद्यविशेष (वाद्यप्रबन्ध) समझना चाहिये। वर्णा दिगिदिगीति पर उसने कहा कि इसके द्वारा ताट और वाद का क्रम से स्वरूप दिखाया गया है। लेकिन ताटवादः सः इस एकवचन प्रयोग से यह एक वाद्यप्रबन्ध का नाम है, ताट और वाद यों दो नहीं जैसा कल्लि० के 'ताटवादयोः' द्विवचन से सूचित होता है।

दोनों संस्करणों में 'वादविधयः' मुद्रित पाठ है लेकिन कल्लि० की टीका में वाद्यविधयः है। सिंह० ने टीका में 'वाद्यप्रकाराः' कहा है। तदनुसार यही संगत है।

कल्लि० ने ध्यान दिलाया कि विजयो भवेत् से ग्रन्थकार ने इस प्रकार के वादन का फल दर्शित किया है।

वादक नामक मार्दलिक के वाद यानी अपने वादन की स्थापना में पहले त्राटन, फिर वोडवाड, उधार, स्थापन, अन्तर धातु, श्रमवहनी, एकसर और जोडा भेदों के सहित टाकणी और वाद तथा ताटवाद—इस क्रम से वादन होता है।

यह वादक है।

(मुखरी)

कर्ता वाद्यप्रबन्धानां नृत्तशिक्षाविचक्षणः।
गीतवादननिष्णातः सुरेखोऽन्तर्मुखश्च यः॥ १०५९॥

अर्धाङ्गमिव नर्तक्या वादयेद् रङ्गभूमिगः।
वादकैः प्रेक्षितमुखो वादनार्थं मुखर्यसौ॥ १०६०॥

इति मुखरी

२—मुखरी

१०५९-१०६०. (अ०) वाद्यप्रबन्धानां कर्ता वाद्यप्रबन्धों का रचनाकार, नृत्तशिक्षाविचक्षणः नृत्त की शिक्षा (देने) में दक्ष, गीतवादननिष्णातः गीत के (अनुरूप) वादन में निपुण, सुरेखः (अंग)सौष्ठव वाला अन्तर्मुखः च और अवहित मन वाला यः जो रङ्गभूमिगः रंगभूमि पर रह कर नर्तक्याः नर्तकी के अर्धाङ्गम् इव अर्धांग की तरह वादयेत् बजाता है (और जो) वादकैः (दूसरे) वादकों के द्वारा वादन-अर्थं वादन के लिये प्रेक्षितमुखः जिसका मुँह देखा जाय ऐसा असौ यह मुखरी मुखरी (होता है)।

(सर०) कल्लि० के अनुसार नृत्तशिक्षाविचक्षणः का अर्थ यह है कि नट द्वारा पात्रों को पहले से जो नृत्त सिखाया गया हो उसका, नट के न होने पर, अभ्यास कराने में दक्ष हो। गीतवादननिष्णातः यानी गीत का इस तरह अनुकरण करते हुए वादन करने में निपुण हो जिससे गीत रंजित हो। सुरेखः अंग सौष्ठव से युक्त होता है यानी बजाते समय जिसके अंग दर्शनीय हों। नर्तकी के अर्धांग के समान यानी नर्तकी हाथ-पैर आदि अंगों की जैसी योजना करे उसका अनुसरण करते हुए उसकी अंगयोजना के अनुरूप लय में वादन करना अर्धांग के समान है। प्रेक्षितमुखः इसलिये कहा कि दूसरे वादकों का वादन मुखरी के आश्रित होता है।

यह मुखरी है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(प्रतिमुखरी)

किंचिद्धीनो मुखरिणः प्रोक्तः प्रतिमुखर्यसौ।

इति प्रतिमुखरी

३—प्रतिमुखरी

१०६१ क-ख. (अ०) मुखरिणः किंचित् हीनः मुखरी से (गुणों में) कुछ कम असौ यह प्रतिमुखरी प्रोक्तः प्रतिमुखरी कहा गया (है)।

यह प्रतिमुखरी है।

(गीतानुगः)

शुद्धसालगगीतानां वर्णान् कठिनकोमलान्॥ १०६१॥

समांश्च विषमान्नादं मन्द्रं मध्यं च तारकम्।
प्रौढं वा मधुरं सम्यगनुगच्छति वादनात्॥ १०६२॥

पूर्वभागे तथाभोगे जक्काप्रहरणे क्रमात्।
कुर्याद् वैकल्पिके यद्वा समग्रं गीतमाश्रिते॥ १०६३॥

समुत्थिते वानुलोम्याद् वैलोम्याद् वोभयेन वा।
निःसारौ सालगे गीते यस्तं गीतानुगं विदुः॥ १०६४॥

क्रमात् तकारथोंकारौ स कुर्याद् ग्रहमोक्षयोः।

इति गीतानुगः

इति चतुर्विधमार्दलिकलक्षणम्

४—गीतानुग

१०६१ ग-१०६५ ख. (अ०) यः जो शुद्धसालगगीतानां शुद्ध और सालग गीतों के कठिनकोमलान् कठिन और कोमल, समान् विषमान् च सम और विषम वर्णान् अक्षरों को, मन्द्रं मध्यं तारकं च मन्द्र, मध्य और तार (स्थान) वाले प्रौढं वा मधुरं नादं पुष्ट या मधुर नाद का वादनात् (अपने) वादन से सम्यक् अनुगच्छति समुचित (रूप से) अनुसरण करता है, निःसारौ निःसारु (ताल) में सालगे गीते सालग गीत में पूर्वभागे उद्ग्राह में तथा आभोगे और आभोग में, जक्काप्रहरणे क्रमात् जक्का (यति) और प्रहरण (वाद्यों) के क्रम से, वैकल्पिके विकल्प से यत् वा अथवा समग्रं गीतम् आश्रिते पूरे गीत के आश्रित समुत्थिते उत्पन्न, आनुलोम्यात् वा वैलोम्यात् वा या तो क्रम के अनुसार या उल्टे क्रम से उभयेन वा या दोनों (तरह) से (योजना करता है) तं गीतानुगं विदुः उसे गीतानुग (गीत का अनुसरण करने वाला मार्दलिक) जानते हैं। सः वह ग्रहमोक्षयोः ग्रह (आरंभ) और मोक्ष (अन्त) मं क्रमात् क्रम से तकारथोंकारौ तकार और थोंकार कुर्यात् करे।

यह गीतानुग है।

चार प्रकार के मार्दलिक का लक्षण समाप्त

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(मार्दलिकगुणदोषाः)

वर्णव्यक्तिः सुरेखत्वमनुयायप्रवीणता॥ १०६५॥

मधुरोद्धतवाद्येषु विज्ञता हस्तलाघवम्।
अवधानं श्रमजयो मुखवाद्येषु पाटवम्॥ १०६६॥

रक्तिराविद्धकस्यानुवृत्तिर्बहुलता तथा।
यतिताललयज्ञत्वं गीतानुगमनं तथा॥ १०६७॥

गुणा मार्दलिकस्यैते दोषः स्यात् तद्विपर्ययः।

इति मार्दलिकगुणदोषाः

मार्दलिक के गुण-दोष

१०६५ ग-१०६८ ख. (अ०) वर्णव्यक्तिः वर्णों की स्पष्टता, सुरेखत्वम् अंगसौष्ठव, अनुयायप्रवीणता अनुकरण में प्रवीणता, मधुर-उद्धतवाद्येषु विज्ञता मधुर और बलवान् वाद्यों में विशेष ज्ञान, हस्तलाघवं हाथों का हल्कापन, अवधानं मन की अवहितता, श्रमजयः श्रम पर जय (थकान न होना), मुखवाद्येषु पाटवं मुँह से वादन (मुँह से बोल कहने यानी 'पढ़न्त') में पटुता, रक्तिः रंजकता, आविद्धकस्य अनुवृत्तिः हुडुक्का वादक का अनुसरण तथा बहुलता और बाहुल्य, यतितालयज्ञत्वं यति, ताल और लय का ज्ञान तथा और गीत-अनुगमनं गीत का अनुसरण एते ये मार्दलिकस्य गुणाः मार्दलिक के गुण (हैं)। तत् विपर्ययः उसका उल्टा दोषः स्यात् दोष होता है।

(सर०) वर्णव्यक्तिः से तात्पर्य बजाने में अक्षरों की स्पष्टता है यानी 'बोलों का निकास' स्पष्ट होना चाहिये। अनुयाय का अर्थ सिंह० ने गीत की छाया का अनुकरण किया है और कल्लि० ने वाद्य का अनुकरण किया है। आविद्धक सिंह० के अनुसार हुडुक्कावादक है। इसमें यह संकेत है कि हुडुक्का भी शार्ङ्गदेव के काल में प्रमुख अवनद्ध वाद्य था जिसके अनुसरण को मार्दलिक का गुण कहा है।

मार्दलिक के दोष अलग से न कह कर गुणों का विपर्यास ही दोष कहा गया है।

ये मार्दलिक के गुण-दोष हैं।

(मार्दलिकबृन्दम्)

तद्बृन्दं द्वित्रिचतुरैस्तज्ज्ञैर्मर्दलधारिभिः॥ १०६८॥

प्राधान्येन विधातव्यं तैर्मुखर्यनुवर्तनम्।

इति मार्दलिकबृन्दम्

मार्दलिकवृन्द

१०६८ ग-१०६९ ख. (अ०) तत्-ज्ञैः उसके (मर्दल के) ज्ञाताओं के द्वारा तत् बृन्दम् उसका (मर्दल का) वृन्द द्वित्रिचतुरैः मर्दलधारिभिः दो, तीन (या) चार मर्दल धारण करने वालों (मर्दलवादकों) के द्वारा (कहा जाता है)। तैः उन (मार्दलिकों) के द्वारा प्राधान्येन मुख्य रूप से मुखरी-अनुवर्तनं मुखरी का अनुसरण विधातव्यं करना चाहिये।

यह मार्दलिकवृन्द है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(हुडुक्का)

या हस्तसंमिता दैर्घ्येऽष्टाविंशत्यङ्गुला पुनः ॥ १०६९ ॥

परिधावङ्गुलमिता पिण्डे सप्ताङ्गुले मुखे।
मण्डल्यौ वक्त्रयोर्वल्लीमध्यावेकादशाङ्गुले ॥ १०७० ॥

सपादाङ्गुलकस्थौल्ये उद्दलीकृतबन्धने।
वदनाभ्यां सह स्यातां कुर्याद् रन्ध्राणि षट् तयोः ॥ १०७१ ॥

बन्धरज्जुनिवेशार्थं पुरोभागेऽर्गलात्रयम्।
कलशाकलितद्व्यन्तं पश्चाद्भागेऽर्गलाद्वयम् ॥ १०७२ ॥

बन्धसूत्रान्तरे मध्ये भवेदुदरपट्टिका।
अङ्गुलत्रयविस्तारा श्लक्ष्णा हृदयहारिणी ॥ १०७३ ॥

द्वात्रिंशत् तन्तुसंजातरज्ज्वा पक्षद्वयं दृढम्।
बद्ध्वा तत्रोत्कक्षकौ च विधाय स्कन्धपट्टिकाम् ॥ १०७४ ॥

तयोर्द्विगुणतां न्यस्येदङ्गुलार्धार्धसंमितम्।
छिद्रं यस्याश्चतुर्थांशे नादोद्बोधविधायकम् ॥ १०७५ ॥

हुडुक्का सा बुधैः प्रोक्ता

३—हुडुक्का

१०६९ ग-१०७६ क. (अ०) या जो दैर्घ्ये लंबाई में हस्तसंमिता एक हाथ नाप वाली पुनः परिधौ और घेरे में अष्टाविंशति-अङ्गुला अट्ठाईस अंगुल वाली, पिण्डे मोटाई में अङ्गुलमिता एक अंगुल से नापी गई, सप्त-अङ्गुले मुखे सात अंगुल के दो मुँह वाली, वक्त्रयोः मण्डल्यौ दोनों मुँहों की मंडलियाँ (कड़े) वल्लीमध्यौ लता बीच वाली (अर्थात् लता से बनाई हुई) एकादश-अङ्गुले इक्कीस अंगुल (नाप) वाली (और) सपाद-अङ्गुलकस्थौल्ये सवा अंगुल मोटी उद्दलीकृतबन्धने उद्दली से बाँधने के लिये वदनाभ्यां सह दोनों मुँहों के साथ स्यातां (लगी) होती हैं। तयोः उन (दोनों कुंडलियों) में बन्धरज्जुनिवेश-अर्थं बँधी (उद्दली बाँधने की) डोरी डालने के लिये षट् रन्ध्राणि कुर्यात् छ छेद करने चाहियें। कलश-आकलितद्वि-अन्तं कलश लगाये हुए दोनों सिरे, पुरोभागे सामने वाले भाग में अर्गलात्रयं तीन अर्गला (और) पश्चात्-भागे पीछे के भाग में अर्गलाद्वयं दो अर्गला वाले होते हैं। बद्धसूत्र-अन्तरे मध्ये बाँधने की डोरी के बीच के भाग में उदरपट्टिका भवेत् उदरपट्टी होती है। अङ्गुलत्रयविस्तारा तीन अंगुल चौड़ी, श्लक्ष्णा चिकनी, हृदयहारिणी मनोहर द्वात्रिंशत् तन्तुसंजातरज्ज्वा बत्तीस धागों से उत्पन्न (बट कर बनाई हुई) डोरी से पक्षद्वयं दृढं बद्ध्वा दोनों बाजू (मुँह) मज़बूती से बाँध कर तत्र उत्कक्षकौ च और उनमें दोनों सिरे ऊपर की ओर विधाय रख कर तयोः उनमें द्विगुणतां दोहरी (की हुई) स्कन्धपट्टिकां न्यस्येत् स्कन्धपट्टी रखनी चाहिये। यस्याः जिसके चतुर्थ-अंशे चौथाई भाग पर अङ्गुल-अर्धार्धसंमितम् आधे के आधे (चौथाई) अंगुल नाप वाला, नाद-उद्बोधविधायकं नाद को स्पष्ट (रूप से) उत्पन्न करने वाला छिद्रं छेद (होता है) सा वह बुधैः बुद्धिमानों के द्वारा हुडुक्का प्रोक्ता हुडुक्का कही गई है।

(सर०) हुडुक्का के दोनों मुँहों की उद्दली के गोल सिरों पर लता की गोल कड़ियाँ लगाई जाती हैं। उन कड़ियों में ६-६ छेद करके उनमें से दोनों मुँहों के छेदों में से डोरी के द्वारा उद्दली दोनों मुँहों पर कस दी जाती हैं। इससे यह स्पष्ट है

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

कि पटह की तरह हुडुक्का में भी दोनों मुँहों की चमड़े की झिल्ली डोरी के द्वारा ही कस दी जाती है, तबले-पखावज की तरह गजरे की विधि से झिल्ली नहीं लगाई जाती। अर्गला का आशय स्पष्ट नहीं है।

बायें हाथ से उदरपट्टी को दबा कर या ढीला छोड़ कर ऊँचा-नीचा नाद उत्पन्न किया जाता है क्योंकि गजरे आदि की व्यवस्था न होने से इसे किसी विशेष स्वर में मिलाना संभव नहीं है।

वर्तमान हुडुक्का का आकार, बनावट, धारण करने और बजाने की विधि ग्रन्थोक्त हुडुक्का जैसी ही है। लेकिन आजकल हुडुक्का के पात्र और कड़ों के बीच में रस्सी पर कपड़ा लपेट कर बनाया हुआ गोल घेरा (कड़ा) रखा जाता है। कलश और अर्गला नहीं होती। दोनों मुँहों के कड़ों के ६ छेदों में से हरेक में छोटी डोरी डाल कर फंदा बना कर आरपार जाने वाली डोरी को उस फंदे में से निकाल कर खींच कर मुँहों पर लगी चमड़े की पतली झिल्लियों को पात्र के साथ कस दिया जाता है।

तस्याश्च स्कन्धपट्टिकाम्।
न्यस्य स्कन्धे दक्षिणेन पाणिना वादनं भवेत्॥ १०७६॥

उदरे पट्टिका प्रोक्ता तस्यां वामं निवेशयेत्।
देवता मातरः सप्त शार्ङ्गदेवेन कीर्तिताः॥ १०७७॥

कुर्वीत पाटहान् वर्णानिह देंकारवर्जितान्।
अत्रान्यैरधिकावुक्तौ मझेंकारौ मनीषिभिः॥ १०७८॥

लक्ष्यज्ञास्त्वावजं प्राहुरिमां स्कन्धावजं तथा।

इति हुडुक्कालक्षणम्

१०७६ ख-१०७९ ख. (अ०) तस्याः च और उसकी स्कन्धपट्टिकां स्कन्धपट्टी को स्कन्धे न्यस्य कंधे में डाल कर दक्षिणेन पाणिना दाहिने हाथ से वादनं भवेत् वादन होता है। उदरे पट्टिका प्रोक्ता उदर (हुडुक्का के बीच के भाग) में (जो) पट्टी कही गई तस्याम् उस पर वामं निवेशयेत् बायाँ (हाथ) रखना चाहिये। शार्ङ्गदेवेन शार्ङ्गदेव के द्वारा सप्त मातरः सात माताएँ देवताः कीर्तिताः (इसकी) देवता कही गई हैं। इह इसमें देंकारवर्जितान् देंकार को छोड़ कर पाटहान् वर्णान् पटह के वर्णों को कुर्वीत (योजित) करना चाहिये। अन्यैः मनीषिभिः दूसरे विद्वानों के द्वारा अत्र इसमें म-झेंकारौ मकार और झेंकार (ये वर्ण) अधिकौ उक्तौ ज्यादा कहे गये हैं। लक्ष्यज्ञाः तु लक्ष्य के ज्ञाता तो इमाम् इसको आवजं तथा स्कन्धावजं आवज और स्कन्धावज प्राहुः कहते हैं।

(सर०) बायें हाथ को उदरपट्टी पर रखने का अर्थ है कि बायें हाथ से पट्टी को पकड़ना चाहिये। आजकल इसी पट्टी को दबा कर या ढीला करके ऊँचा-नीचा नाद उत्पन्न किया जाता है।*

हुडुक्का का लक्षण समाप्त

(करटा)

बीजवृक्षोद्भवा पिण्डेऽङ्गुलतुर्यांशसंमिता॥ १०७९॥

एकविंशत्यङ्गुला स्याद् दैर्घ्ये हस्तमिताथवा।
परिधौ दधते मानं या चत्वारिंशदङ्गुलम्॥ १०८०॥

---

* लेखिका ने काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के संगीत संकाय में कार्यरत भूतपूर्व सेवक श्री रूपचन्द कहार को लोकगीत गाने वाले गायकों के साथ हुडुक्का बजाते हुए इसी उदरपट्टी के खिंचाव पर नियंत्रण करके गीत के स्वर उत्पन्न करते सुना था।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

चतुर्दशाङ्गुले वक्त्रे केषांचिद् द्वादशाङ्गुले।
मण्डल्यौ लोहजे सूत्रवेष्टिते चर्मबन्धने॥ १०८१॥

परिधौ संमिते ते च द्वाचत्वारिंशदङ्गुलैः।
तिस्रस्तिस्रस्तथा तन्त्रीर्मुखयोर्वलयद्वयम्॥ १०८२॥

दधते कवलव्याप्तं चतुर्दशभिरन्वितम्।
रन्ध्रैस्तेष्वेकान्तरेषु विग्निकास्तावतीः क्षिपेत्॥ १०८३॥

द्वाभ्यां द्वाभ्यां विग्निकाभ्यां बन्धो मत्स्याकृतिर्भवेत्।
यस्यास्तां करटामाहुः,

४—करटा

१०७९ ग-१०८४ ग. (अ०) बीजवृक्ष-उद्भवा (करटा) बीज के पेड़ से उत्पन्न (बीजासार के पेड़ की लकड़ी से बने पात्र वाली), पिण्डे मोटाई में अङ्गुलतुर्य-अंशसंमिता अंगुल के चौथे भाग (चौथाई अंगुल) नाप वाली, दैर्घ्ये लंबाई में एकविंशति-अङ्गुला इक्कीस अंगुल वाली अथवा हस्तमिता या एक हाथ से नापी गई स्यात् होती है। या जो परिधौ घेरे में चत्वारिंशत्-अङ्गुलं मानं चालीस अंगुल नाप वाली, चतुर्दश-अङ्गुले चौदह अंगुल वाले केषांचित् कुछ (आचार्यों के मत) के अनुसार द्वादश-अङ्गुले बारह अंगुल वाले वक्त्रे दधते दो मुँह धारण करने वाली, मण्डल्यौ दोनों कड़ी लोहजे लोहे से उत्पन्न (बनी हुई), सूत्रवेष्टिते चर्मबन्धने डोरी से लपेटे हुए चमड़े से बँधी हुई ते च और वे परिधौ घेरे में द्वाचत्वारिंशत्-अङ्गुलैः संमिते बयालीस अंगुल नाप वाली (होती हैं) तथा और मुखयोः दोनों मुँहों पर चतुर्दशभिः रन्ध्रैः अन्वितं चौदह छेदों से युक्त कवलव्याप्तं चमड़े से व्याप्त वलयद्वयं दोनों वलय तिस्रः तिस्रः तन्त्रीः दधते तीन-तीन तार धारण करने वाले, तेषु उन (छेदों) में एक-अन्तरेषु एक(-एक छेद) छोड़ कर तावतीः विग्निकाः उतनी ही विग्निका (कर्परा) क्षिपेत् डालनी चाहिये (डालने से) यस्याः जिसकी द्वाभ्यां द्वाभ्यां विग्निकाभ्यां दो-दो विग्निकाओं से मत्स्य-आकृतिः बन्धः भवेत् मछली के आकार का बन्धन होता है ताम् उसे करटाम् आहुः करटा कहते हैं।

(सर०) पहले कहे गये अवनद्ध वाद्यों की अपेक्षा करटा में यह विशेष है कि इसमें दोनों मुँहों के अन्दर वलयों के साथ तीन-तीन तार लगे होते हैं। मुँहों पर रखे गये चमड़े में १४ छेद होते हैं जिनमें एक-एक छेद छोड़ कर विग्निका लगी होती हैं और दो-दो विग्निकाओं को डोरियों से मछली की आकृति में, संभवतः बीच में से एक-दूसरे को काटते हुए, बाँधा जाता है।

चमड़े पर आघात करने पर तार भी अनुनादित होकर अपनी-अपनी स्वर ध्वनि उत्पन्न करके करटा की ध्वनि को विशेष स्वरूप देते होंगे। विग्निका का अर्थ सिंह० ने कर्परा दिया है, कर्परा यानी नारियल का खप्पर। इन्हें लगा कर परस्पर बाँधने का क्या प्रयोगजन है यह स्पष्ट नहीं है। टीकाकारों ने भी कुछ नहीं कहा।

प्रान्तयोः प्रान्तबद्धया॥ १०८४॥

कच्छया स्कन्धदेशे तां कट्यां वा वादने वहेत्।
चर्चिका देवता चास्यां पाटास्तु करटेत्यमी॥ १०८५॥

वादनं कुडुपाभ्यां तु शार्ङ्गदेवेन कीर्तितम्।
तिरिकितिरिकिरीति प्रायः पाटद्वयं मतम्॥ १०८६॥

इति करटालक्षणम्

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

१०८४ घ-१०८६. (अ०) वादने बजाने में (अर्थात् बजाते समय) प्रान्तयोः दोनों सिरों पर प्रान्तबद्धया सिरे से बँधी हुई कच्छया पट्टी से (पट्टी को) स्कन्धदेशे कंधे पर (रख कर) कट्यां वा या कमर में (बाँधकर) ताम् उस (करटा) को वहेत् धारण करना चाहिये। अस्याम् इसमें पाटाः तु पाट तो करट-इति अमी करट यों ये (होते हैं)। शार्ङ्गदेवेन शार्ङ्गदेव के द्वारा कुडुपाभ्यां तु दो कुडुपों (कोणों) से तो वादनं कीर्तितं वादन कहा गया है। देवता च देवता तो चर्चिका चर्चिका (होती है)। प्रायः प्रायः तिरिकि-तिरिकिः इति तिरिकि तिरिकि यह पाटद्वयं दो पाटों का समूह मतं माना गया है।

(सर०) दोनों हाथों में लिये हुए कोणों से इसे बजाया जाता है। कल्लि० के अनुसार इसमें दो पाटसमूह प्रचुर होते हैं—करट और तिरिकितिरिकि। सामान्य रूप से पटह आदि के कूट पाट यथोचित होते हैं।

करटा का लक्षण समाप्त

(घटः)

घनः श्लक्ष्णः सुपक्वश्च स्तोकवक्त्रो महोदरः।
पाणिभ्यां वाद्यते तज्ज्ञैश्चर्मनद्धाननो घटः॥ १०८७॥

कथिताः पाटवर्णा ये मर्दले ते घटे मताः।

इति घटलक्षणम्

५—घट

१०८७-१०८८ ख. (अ०) घनः ठोस, श्लक्ष्णः चिकना सुपक्वः च और अच्छा पकाया हुआ, स्तोकवक्त्रः छोटे मुँह वाला, महा-उदरः बड़े पेट वाला, चर्मनद्ध-आननः घटः चमड़े से मढ़े हुए मुँह वाला घट तत्-ज्ञैः उसके ज्ञाताओं के द्वारा पाणिभ्यां वाद्यते दोनों हाथों से बजाया जाता है। मर्दले मर्दल में ये जो पाटवर्णाः कथिताः पाटवर्ण कहे गये ते वे घटे मताः घट में माने गये (हैं)।

(सर०) घन से तात्पर्य यह है कि उसके पात्र की मिट्टी की तह अन्दर से ठोस हो, पोली न हो।

घट का लक्षण समाप्त

(घडसः)

हुडुक्कयैव घडसौ व्याख्यातः किंतु मण्डली॥ १०८८॥

दक्षिणस्योद्दलीबद्धा वामा रज्ज्वा नियन्त्रिता।
औदर्यां पट्टिकायां च वामोऽत्र न निवेश्यते॥ १०८९॥

गोंकारबहुलं चामुं वादयेदिति तद्विदः।
अङ्गुष्ठमध्यमाङ्गुल्यौ मदनाक्ताग्रभागतः॥ १०९०॥

दक्षिणेन करेणास्ये घर्षणाद् गोंकृतिर्भवेत्।
घातोऽङ्गुलीभिर्वामस्य वामाङ्गुष्ठेन पीडनम्॥ १०९१॥

इति घडसलक्षणम्

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

६—घडस

१०८८ ग-१०९१. (अ०) हुडुक्कया एव हुडुक्का से ही घडसः घडस व्याख्यातः लक्षित हुआ (है)। किंतु लेकिन (अन्तर यह है कि) दक्षिणस्य मण्डली दाहिने (मुँह) की मण्डली (कड़ा) उद्दलीबद्धा उद्दली से बँधी होती है (और) वामा बाईं (मण्डली) रज्ज्वा नियन्त्रिता डोरी से नियंत्रित होती है औदर्यां पट्टिकायां च और उदर पट्टी पर अत्र इसमें वामः बायाँ (हाथ) न निवेश्यते नहीं रखा जाता। गोंकारबहुलं च अमुम् और इसे गोंकार बाहुल्य वाला वादयेत् बजाना चाहिये इति ऐसा तत् विदः उसके वेत्ता (कहते हैं)। अङ्गुष्ठमध्यमा-अङ्गुल्यौ अँगूठा और मध्यमा उँगली मदनाक्त-अग्रभागतः मोम के लेपयुक्त सिरे वाले दक्षिणेन करेण दाहिने हाथ से आस्ये घर्षणात् (इसके दाहिने) मुँह पर घिसने से गोंकृतिः भवेत् गोंकार (का नाद उत्पन्न) होता है। वामस्य बायें (हाथ) की अङ्गुलीभिः घातः उँगलियों से प्रहार (और) वाम-अङ्गुष्ठेन बायें अँगूठे से पीडनं दबाना (दबा कर बजाना चाहिये)।

घडस का लक्षण समाप्त

(ढवसः)

स्याद्धस्तदैर्घ्यः परिधौ सनवत्रिंशदङ्गुलः।
द्वादशाङ्गुलके वक्त्रे वल्लीवलयसंयुते॥ १०९२॥

यो धत्ते सप्त सप्तापि रन्ध्राणि वलयद्वये।
तथा कवलयोस्ताभ्यां तुण्डे वलयसंयुते॥ १०९३॥

पिधाय गाढं बध्येते रन्ध्रविन्यस्तदोरकैः।
यस्यासौ ढवसः प्रोक्तः शार्ङ्गदेवेन सूरिणा॥ १०९४॥

स्कन्धे निक्षिप्य कच्छान्तं वामहस्तेन वादयेत्।
वामास्ये दक्षिणस्थेन कुडुपेन तु दक्षिणे॥ १०९५॥

ढंकारपाटवर्णैश्च रूढोऽयं ढवसो जने।

इति ढवसलक्षणम्

७—ढवस

१०९२-१०९६ ख. (अ०) हस्तदैर्घ्यः (ढवस) एक हाथ लंबा (और) परिधौ घेरे में स-नवत्रिंशत्-अङ्गुलः उन्तालीस अंगुल सहित स्यात् होता है। यः जो वल्लीवलयसंयुते लता के वलयों (कड़ों) से युक्त द्वादश-अङ्गुलके वक्त्रे बारह अंगुल (नाप) के दो मुँहों (और) वलयद्वये दोनों मुँहों में तथा कवलयोः और दोनों कवलों में सप्त सप्त अपि रन्ध्राणि सात-सात छेद धत्ते धारण करता है (और) वलयसंयुते तुण्डे कड़ों से युक्त दोनों मुँह ताभ्यां पिधाय उन (कवलों) से ढक कर रन्ध्रविन्यस्तदोरकैः छेदों में डाली गई डोरियों से यस्य जिसका (जिसके मुँह) गाढं बध्येते मज़बूती से बाँधे जाते हैं असौ यह सूरिणा शार्ङ्गदेवेन विद्वान् शार्ङ्गदेव के द्वारा ढवसः प्रोक्तः ढवस कहा गया (है)। कच्छा-अन्तं पट्टी का सिरा स्कन्धे निक्षिप्य कंधे में डाल कर वामहस्तेन बायें हाथ से वामास्ये बायें मुँह पर दक्षिणस्थेन दाहिने (हाथ) में स्थित (पकड़े हुए) कुडुपेन तु कोण से तो दक्षिणे दाहिने (मुँह) पर वादयेत् बजाना चाहिये। अयं यह ढंकारपाटवर्णैः च ढंकार पाटवर्णों से जने रूढः लोक में रूढ है।

(सर०) ढंकारपाटवर्णों का आशय यह है कि ढंकार की बहुलता वाले पाट इसमें बजाये जाते हैं।

ढवस का लक्षण समाप्त

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(ढक्का)

व्याख्याता ढवसेनैव ढक्का किंतु मुखद्वयम्॥ १०९६॥

त्रयोदशाङ्गुलं तस्या धृत्वा तां वामपाणिना।
तज्ज्ञो दक्षिणहस्तस्थकोणघातेन वादयेत्॥ १०९७॥

ढेंकारः पाटवर्णाः स्युर्निःशङ्केनेति कीर्तितम्।

इति ढक्कालक्षणम्

८—ढक्का

१०९६ ग-१०९८ ख. (अ०) ढवसेन एव ढवस से ही ढक्का व्याख्याता ढक्का का वर्णन किया गया है। किंतु लेकिन (यह अन्तर है कि) तस्याः उसका मुखद्वयं मुँहों का जोड़ा (अर्थात् दोनों मुँह) त्रयोदश-अङ्गुलं तेरह अंगुल (नाप) वाला (होता है)। तत्-ज्ञः उसके ज्ञाता ताम् उसे वामपाणिना धृत्वा बायें हाथ से पकड़ कर दक्षिणहस्तस्थकोणघातेन दाहिने हाथ में पकड़े हुए कोण के प्रहार से वादयेत् बजायें (बजाते हैं)। ढेंकारः ढेंकार (और) पाटवर्णाः (अन्य) पाटवर्ण स्युः (इसमें) होते हैं इति ऐसा निःशङ्केन निःशंक (शार्ङ्गदेव) के द्वारा कीर्तितं कहा गया (है)।

(सर०) इसमें ढेंकार की बहुलता वाले पाटवर्णों से आशय है।

ढक्का का लक्षण समाप्त

(कुडुक्का)

हुडुक्कैवार्गला हीना कुडुक्का किंतु वादनम्॥ १०९८॥

अस्याः करेण कोणेन क्षेत्रपालस्तु देवता।

इति कुडुक्कालक्षणम्

९—कुडुक्का

१०९८ ग-१०९९ ख. (अ०) अर्गलाहीना अर्गला के बिना हुडुक्का एव हुडुक्का ही कुडुक्का कुडुक्का (होती है)। किंतु लेकिन अस्याः वादनम् इसका वादन करेण कोणेन हाथ से (और) कोण से (होता है)। क्षेत्रपालः तु देवता क्षेत्रपाल तो (इसकी) देवता (है)।

कुडुक्का का लक्षण समाप्त

(कुडुवा)

बीजदारुमयी सप्ताङ्गुलगर्भमुखद्वया॥ १०९९॥

एकविंशत्यङ्गुला च यस्या दैर्घ्ये समाकृतिः।
संहताग्नित्रयाकारत्र्यङ्गुलस्थूलतायुते॥ ११००॥

वृत्ते नवाङ्गुले गर्भे वलये वल्लिनिर्मिते।
सप्तसप्तच्छिद्रयुते यस्याः स्यातां मुखद्वये॥ ११०१॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

कवलाभ्यां पिनह्येते मुखे च वलयान्विते।
सरन्ध्रे कवले रन्ध्रन्यस्ततन्त्रीसुयन्त्रिते॥ ११०२॥

कुडुवा सा हुडुक्कोक्तवर्णात् क्रेंकारभूयसी।
कोणांभ्यां मदनाक्ताभ्यां वाद्यते त्यक्तझेंकृतिः॥ ११०३॥

इति कुडुवालक्षणम्

१०—कुडुवा

१०९९ ग-११०३. (अ०) बीजदारुमयी बीज (वृक्ष) की लकड़ी से बनी, सप्त-अङ्गुलगर्भमुखद्वया सात अंगुल मध्यभाग (व्यास) के दो मुँह वाली, दैर्घ्ये एकविंशति-अङ्गुला लंबाई में इक्कीस अंगुल वाली यस्याः च सम-आकृतिः और जिसकी एकसी आकृति (हो), संहत-अग्नित्रय-आकारत्रि-अङ्गुलस्थूलतायुते एकत्र तीन अग्नियों के आकार की (अर्थात् तिकोनी) तीन अंगुल मोटाई से युक्त यस्याः मुखद्वये (और) जिसके दो मुँह वृत्ते गोल नव-अङ्गुले गर्भे नौ अंगुल के मध्य भाग वाले, वल्लीनिर्मिते वलये लता से बने दो कड़े सप्तसप्तछिद्रयुते सात-सात छेद वाले स्यातां होते हैं, ऐते ये वलय-अन्विते मुखे कड़ों से युक्त दोनों मुँह कवलाभ्यां पिनह्य कवलों से आच्छादित करके सरन्ध्रे कवले छेद वाले कवल रन्ध्रन्यस्ततन्त्री-सुयन्त्रिते छेदों में डाली हुई तन्त्री से अच्छी तरह मज़बूत किये हुए (हों) सा कुडुवा वह कुडुवा हुडुक्का-उक्तवर्णात् हुडुक्का में कहे गये वर्ण से, क्रेंकारभूयसी क्रेंकार बहुल (और) त्यक्तझेंकृतिः झेंकार छोड़ी हुई (अर्थात् झेंकार रहित) मदनाक्ताभ्यां कोणाभ्यां मोम लगे हुए दो कोणों से वाद्यते बजाई जाती है।

(सर०) समाकृति का अर्थ है पात्र बीच से मोटा या पतला न होकर शुरू से अन्त तक एकसा होना।

कुडुवा का लक्षण समाप्त

(रुञ्जा)

अष्टादशाङ्गुला दैर्घ्ये दृढा रुञ्जा समाकृतिः।
एकादशाङ्गुले तस्या वदने कुण्डलीयुते॥ ११०४॥

नद्धव्ये चर्मणा वामवक्त्रान्तःकुण्डलीद्वयम्।
तत्रैका वक्त्रमात्रा स्यादपरा चतुरङ्गुला॥ ११०५॥

कुण्डल्योरन्तराले स्यान्नलिका स्नायुनिर्मिता।
सैकच्छिद्रं वामवक्त्रं सूत्रतन्त्वञ्चनीयुतम्॥ ११०६॥

पूर्ववद्विग्निकाः कार्या वक्त्रयोः सप्त सप्त च।
पादोनहस्तमात्रां च नागपाशवतीं दृढाम्॥ ११०७॥

कच्छां स्कन्धे निवेश्यास्या वादनं वेदितं बुधैः।

११—रुंजा

११०४-११०८ ख. (अ०) रुञ्जा रुंजा दैर्घ्ये लंबाई में अष्टादश-अङ्गुला अठारह अंगुल वाली, दृढा मज़बूत, सम-आकृतिः एकसे आकार वाली (होती है)। तस्याः उसका (उसके) एकादश-अङ्गुले ग्यारह अंगुल (नाप) वाले (और) कुण्डलीयुते कड़ों से युक्त वदने दो मुँह चर्मणा चमड़े से नद्धव्ये बँधे हुए होते हैं। वामवक्त्र-अन्तःकुण्डलीद्वयं बायें मुँह के सिरे की ओर दो कड़ी (होती हैं)। तत्र एका उनमें से एक वक्त्र-मात्रा मुँह के बराबर (और) अपरा दूसरी चतुःअङ्गुला

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

चार अंगुल वाली स्यात् होती है। कुण्डल्योः अन्तराले दोनों कड़ियों के (बीच के) अन्तराल में स्नायुनिर्मिता स्नायु से बनी हुई नलिका स्यात् नली होती है। स-एकच्छिद्रं वामवक्त्रम् एक छेद सहित (एक छेद वाला) बायाँ मुँह सूत्रतन्तु-अञ्चनीयुतं सूत के धागों की (धागों को बट कर बनाई हुई) डोरी से युक्त (होता है)। वक्त्रयोः दोनों मुँहों पर सप्त सप्त च सात-सात विग्निकाः कर्परा पूर्ववत् पहले की तरह कार्याः लगानी चाहियें पाद-ऊनहस्तमात्रां च और चौथाई कम (पौन) हस्त जितनी (लंबी) नागपाशवर्ती नागपाश वाली दृढां कच्छां मजबूत पट्टी स्कन्धे निवेश्य कंधे में डाल कर बुधैः बुधजनों के द्वारा वादनं वेदितम् (इसका) वादन जाना गया (है)।

(सर०) सिंह० ने एकादशाङ्गुले का अन्वय 'एकादशाङ्गुलेन चर्मणा नद्धव्ये बन्धयित्वे' यों किया है। इसका अर्थ यह होगा—ग्यारह अंगुल वाले चमड़े से (दो मुँह) बाँधने चाहिये। लेकिन एकादशाङ्गुले और वदने दोनों पद प्रथमा द्विवचन में यानी समान विभक्ति वाले हैं। इसलिये ग्यारह अंगुल दो मुँहों का विशेषण है। तदनुसार यह अर्थ है—ग्यारह अंगुल वाले दो मुँह।

सूत्रतन्त्वञ्चनीयुतं का सिंह० की टीका के अनुसार यह अर्थ होता है—एक छेद वाला बायाँ मुँह सूत के धागों की डोरी से वाद्य को बाँध कर सिरे पर कठिन वादनरज्जु से युक्त होता है।

रुंकारजननाद्रुञ्जा सा भवेद् भृङ्गिदैवता॥ ११०८॥

मतङ्गोक्तास्त्विमे वर्णाः कतदा वनमा रवौ।
उक्तास्त्वन्यैरिमे वर्णाः करगा घटनाः खहौ॥ ११०९॥

विग्निका वाद्यशास्त्रेऽस्मिन् कर्पराः परिकीर्तिताः।

इति रुञ्जालक्षणम्

११०८ ग-१११० ख. (अ०) रुंकारजननात् रुंकार उत्पन्न करने से सा वह रुञ्जा भवेत् रुंजा होती है। भृङ्गिदैवता भृङ्गी (शिव का एक गण इसकी) देवता (है)। कतदाः (इसमें) क, त और द, वनमाः व, न और म, रवौ र और व मतङ्ग-उक्ताः तु मतंग द्वारा कहे गये तो इमे वर्णाः ये वर्ण (हैं)। अन्यैः तु दूसरों (दूसरे आचार्यों) के द्वारा तो करगाः क, र और ग, घटनाः घ, ट और न, खहौ ख और ह इमे वर्णाः ये वर्ण उक्ताः कहे गये (हैं)। अस्मिन् वाद्यशास्त्रे इस वाद्यशास्त्र में विग्निका विग्निका कर्पराः परिकीर्तिताः कर्पराएँ (खप्पर) जानी गई (हैं)।

रुंजा का लक्षण समाप्त

(डमरुकः)

वितस्तिमात्रदैर्घ्यः स्यादष्टाङ्गुलमुखद्वयः॥ १११०॥

यो यस्य मण्डलीयुक्ते मुखे बद्धे च चर्मणा।
त्रिवलीवत् क्षाममध्यो निबद्धः सूत्रदोरकैः॥ ११११॥

मध्ये च गाढतां नीतावञ्चन्यौ वादनाय च।
भवेतां प्रान्तसंलग्नसमून्मदनगोलकैः॥ १११२॥

असौ डमरुको मध्ये धृत्वा हस्तद्वयेन च।
डघवर्णो वादनीयः प्रोक्तो निःशङ्कसूरिणा॥ १११३॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अन्यैः कखरटा वर्णाः प्रोक्ता डमरुकेऽधिकाः।

इति डमरुकलक्षणम्

१२—डमरुक

१११० ग-१११४ ख. (अ०) यः जो वितस्तिमात्रदैर्घ्यः केवल एक वितस्ति लंबाई वाला, अष्ट-अङ्गुलमुखद्वयः आठ अंगुल (नाप के) दो मुँह वाला स्यात् होता है यस्य च और जिसके मण्डलीयुक्ते मुखे कड़ों से युक्त दो मुँह चर्मणा बद्धे चमड़े से बँधे हुए, त्रिवलीवत् त्रिवली की तरह क्षाममध्यः पतले (सँकरे) बीच (के भाग) वाला सूत्रदोरकैः च निबद्धः और सूत की डोरियों से बँधा हुआ प्रान्तसंलग्नसमृण्मदनगोलकैः सिरों पर मिट्टी सहित मोम की (अर्थात् दोनों को मिला कर बनाई हुई) गोलियों से लगी हुई गाढतां नीतौ च गाढ़ता को ले जाई गई (अर्थात् बल लगा कर मज़बूत बनाई गई) अञ्चन्यौ च दो डोरियाँ भी वादनाय (डमरू को) बजाने के लिये मध्ये बीच में भवेतां होती हैं असौ (ऐसा) यह डमरुकः डमरुक (डमरू) मध्ये च बीच में हस्तद्वयेन धृत्वा दोनों हाथों से पकड़ कर डघवर्णः डघ वर्ण वादनीयः बजाना चाहिये (ऐसा) निःशङ्कसूरिणा निःशंक विद्वान् (शार्ङ्गदेव) के द्वारा प्रोक्तः कहा गया (है)। अन्यैः अन्य आचार्यों के द्वारा डमरुके डमरू में कखरटाः वर्णाः क, ख, र और ट वर्ण अधिकाः प्रोक्ताः ज़्यादा कहे गये (हैं)।

(सर०) आजकल डमरू को एक हाथ से पकड़ कर बजाया जाता है।

डमरुक का लक्षण समाप्त

(डक्का)

वितस्तिमात्रं दैर्घ्यं स्यान्मध्यः किंचित् कृशो भवेत्॥ १११४॥

मुखे त्वष्टाङ्गुलैः पिण्डोऽर्धाङ्गुलस्तन्त्रिकाद्वयम्।
मुखे मुखे शङ्कवश्च चत्वारस्ताम्रनिर्मिताः॥ १११५॥

तेषामधो द्वावूर्ध्वं द्वौ तन्त्रीबन्धनसिद्धये।
तन्त्र्योस्तृणशलाकां च निदध्याद् ध्वनिपुष्टये॥ १११६॥

अन्यल्लक्ष्म हुडुक्कावद्यस्याः पाटाक्षराण्यपि।
स्याद् दशाङ्गुलदैर्घ्येण कुडुपेन तु वादनम्॥ १११७॥

निःशङ्कशार्ङ्गदेवेन डक्का सा परिकीर्तिता।

१३—डक्का

१११४ ग-१११८ ख. (अ०) दैर्घ्यं वितस्तिमात्रं (डक्का की) लंबाई केवल एक वितस्ति स्यात् होती है और मध्यः बीच (का भाग) किंचित् कृशः कुछ पतला भवेत् होता है। मुखे तु दो मुँह तो अष्ट-अङ्गुलैः आठ अंगुलों से (नपे हुए) पिण्डः पात्र अर्ध-अङ्गुलः आधा अंगुल (मोटाई) वाला, मुखे मुखे हर मुँह पर तन्त्रिकाद्वयं दो(-दो) तार, ताम्रनिर्मिताः ताँबे से बने हुए चत्वारः शङ्कवः च चार शंकु भी, तन्त्रीबन्धनसिद्धये तार बाँधना संपन्न करने के लिये (अर्थात् तार बाँधने के लिये) तेषाम् उन (शंकुओं) में (से) द्वौ अधः द्वौ ऊर्ध्वं दो नीचे (और) दो ऊपर तन्त्र्योः तारों में ध्वनिपुष्टये नाद की पुष्टि (बढ़ाने) के लिये तृणशलाकां च तृण (घास/सरकंडे) की सींक भी निदध्यात् डालनी चाहिये। अस्याः अन्यत् लक्ष्म इसका शेष लक्षण पाटाक्षराणि अपि (और) पाटाक्षर भी हुडुक्कावत् हुडुक्का जैसे (होते हैं)। दश-अङ्गुलदैर्घ्येण कुडुपेन तु दस अंगुल लंबाई

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

वाले कुडुप से तो वादनं स्यात् वादन होता है। निःशङ्कशार्ङ्गदेवेन निःशंक शार्ङ्गदेव के द्वारा सा वह डक्का परिकीर्तिता डक्का कही गई (है)।

(सर०) तन्त्री वाद्यों में 'जीवा' के द्वारा जैसे नाद बढ़ाया जाता है वही प्रयोजन डक्का में भी सींक डालने का है।

अन्येऽस्या वादनं प्राहुः करेण कुडुपेन च॥ १११८॥

हस्तघातेन डंकारो वादने कुडुपेन तु।
घटस्ततो डगिश्चेति मुखान् पाटान् वदन्त्यमी॥ १११९॥

नगौ खकरटा वर्णा मुख्याः प्रोक्ताः परैरिह।
अस्यां च सूरयः प्राहुर्देवतां विन्ध्यवासिनीम्॥ ११२०॥

अङ्गुलोना मध्यमा सा द्व्यङ्गुलोना कनीयसी।

इति डक्कालक्षणम्

१११८ ग-११२१ ख. (अ०) अन्ये दूसरे (आचार्य) अस्याः वादनम् इसका वादन करेण कुडुपेन च हाथ से और कुडुप से प्राहुः कहते हैं। वादने बजाने में हस्तघातेन हाथ के आघात से डंकारः डंकार कुडुपेन तु (और) कुडुप से तो घटः घ-ट ततः उसके अलावा डगिः इति डगि इस प्रकार अमी ये मुखान् पाटान् च मुखपाट भी वदन्ति कहते हैं। परैः अन्यों के द्वारा इह इस (डक्का) में नगौ न और ग खकरटाः ख, क, र और ट वर्णाः वर्ण मुख्याः प्रोक्ताः मुख्य कहे गये हैं। अस्यां च इसमें सूरयः विद्वान् विन्ध्यवासिनीं देवतां विन्ध्यवासिनी देवता प्राहुः कहते हैं। अङ्गुल-ऊना एक अंगुल कम (नाप) वाली सा वह मध्यमा मध्यम (प्रकार वाली) द्वि-अङ्गुल-ऊना (और) दो अंगुल कम (नाप) वाली कनीयसी कनिष्ठा (होती है)।

(सर०) सिंह० का पाठ 'डंकार' के स्थान पर 'रुंकार' है क्योंकि उसने 'हाथ से घात करने पर रुं शब्द उत्पन्न होता है' ऐसा कहा है। मुखान् पाटान् का अर्थ उसने 'पाटमुखान्' दिया है। मध्यमा और कनिष्ठा की व्याख्या से पहले उसने यह ध्यान दिलाया कि पूर्वोक्त प्रमाण (नाप) वाली उत्तमा होती है।

डक्का का लक्षण समाप्त

(मण्डिडक्का)

डक्कैव मण्डिडक्का स्यात् किं त्वस्याः षोडशाङ्गुलम्॥ ११२१॥

दैर्घ्यमष्टाङ्गुलौ गर्भौ स्यातां वदनयोर्द्वयोः।
षोडशाङ्गुलको मध्यपरिधिर्नात्र चार्गला॥ ११२२॥

न च कच्छोत्कक्षकस्तु मध्ये स्यादञ्चनीद्वयम्।
उत्कक्षं चाञ्चनीद्वन्द्वं वामाङ्गुष्ठाङ्गुलित्रयात्॥ ११२३॥

धृत्वा संपीड्य तर्जन्या मण्डलीप्रान्तमाननम्।
अस्या दक्षिणजानुस्थं हन्याद् दक्षिणपाणिना॥ ११२४॥

उत्कक्षं मणिबन्धोर्ध्वं यद्वान्यस्याञ्चनीद्वयम्।
कनिष्ठानामिकाङ्गुष्ठैः संयुज्यापीड्य मण्डलीम्॥ ११२५॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

तर्जन्या मध्यया वाथ हस्तेनान्येन वादयेत्।
वदन्ति वादनं तस्याः करेण कुडुपेन वा॥ ११२६॥

चर्यागाने च पूजायां शक्तेः सा विनियुज्यते।

इति मण्डिडक्कालक्षणम्

१४—मण्डिडक्का

११२१ ग-११२७ ख. (अ०) डक्का एव मण्डिडक्का स्यात् डक्का ही मण्डिडक्का होती है। किंतु लेकिन अस्याः दैर्घ्यम् इसकी लंबाई षोडश-अङ्गुलं सोलह अंगुल, द्वयोः वदनयोः गर्भौ दोनों मुँहों के अन्दर के भाग अष्ट-अङ्गुलौ स्याताम् आठ अंगुल वाले होते हैं। मध्यपरिधिः बीच का घेरा षोडश-अङ्गुलकः सोलह अंगुल वाला अत्र च और इसमें अर्गला न अर्गला नहीं (होती) न च कच्छा और न कच्छा (होती है)। उत्कक्षकः तु लेकिन ऊपर का भाग मध्ये बीच में अञ्चनीद्वयं दो डोरी वाला स्यात् होता है। उत्कक्षकम् अञ्चनीद्वन्द्वं च ऊपर का भाग और डोरी का जोड़ा वाम-अङ्गुष्ठ-अङ्गुलित्रयात् धृत्वा बायें (हाथ के) अँगूठे और तीन उँगलियों से पकड़ कर मण्डलीप्रान्तं कुण्डली का सिरा तर्जन्या संपीड्य तर्जनी से दबा कर, दक्षिणजानुस्थं दाहिने घुटने पर रखे हुए अस्याः आननम् इसके मुँह को (मुँह पर) दक्षिणपाणिना दाहिने हाथ से हन्यात् प्रहार करना चाहिये। यत् वा अथवा उत्कक्षम् उत्कक्ष को मणिबन्ध-ऊर्ध्वं न्यस्य कलाई के ऊपर रख कर अञ्चनीद्वयं दोनों डोरी कनिष्ठा-अनामिका-अङ्गुष्ठैः कनिष्ठा, अनामिका और अँगूठे से संयुज्य जोड़ कर (अर्थात् पकड़ कर) मण्डलीं कड़े को तर्जन्या वा अथ मध्यमा तर्जनी या मध्यमा से संपीड्य दबा कर अन्येन हस्तेन दूसरे हाथ से वादयेत् बजाना चाहिये। करेण कुडुपेन वा (अन्य आचार्य) हाथ से या कुडुप से तस्याः वादनम् उसका वादन वदन्ति कहते हैं। सा वह चर्यागाने चर्यागान में शक्तेः पूजायां च और शक्ति की पूजा में विनियुज्यते प्रयुक्त होती है।

(सर०) सिंह० के अनुसार चर्या गान जो प्रबन्धाध्याय में कहा जा चुका है, उसके गान से तात्पर्य है (४/२९२ ग-२९४)।

मण्डिडक्का का लक्षण समाप्त

(डक्कुली)

कांस्याद् गोशृङ्गतो दन्तिदन्ताद्वा डक्कुली भवेत्॥ ११२७॥

दैर्घ्ये पञ्चाङ्गुला वक्त्रे तस्याश्च चतुरङ्गुले।
मेषपार्युद्दलीबद्धे स्वस्वचक्रसमन्विते॥ ११२८॥

चक्रे च कांस्यजे ताम्रमये वा लोहजे पृथक्।
पञ्चरन्ध्रे तथोद्दल्यौ रन्ध्रविन्यस्तदोरकैः॥ ११२९॥

सौत्रैर्गाढं निबध्येते मध्ये सूत्रेण वेष्टितम्।
नातिश्लथं नातिगाढं मध्यं सूत्रे त्वनामिकाम्॥ ११३०॥

निधाय मध्यतर्जन्यौ विवृते चक्रसंयुते।
कृत्वाङ्गुष्ठं त्वन्यवक्त्रे न्यस्याथ मदनाञ्चिताम्॥ ११३१॥

विधायाञ्चनिकामेकां तां दुंदुमिति वादयेत्।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

१५—डक्कुली

११२७ ग-११३२ ख. (अ०) डक्कुली डक्कुली कांस्यात् काँसे से, गोशृङ्गतः बैल के सींग से दन्तिदन्तात् वा या हाथीदाँत से (बनी हुई) भवेत् होती है। दैर्घ्ये लंबाई में पञ्च-अङ्गुला पाँच अंगुल वाली तस्याः च वक्त्रे और उसके दो मुँह चतुः अङ्गुले चार अंगुल वाले, मेषपारि-उद्दलीबद्धे भेड़ (या बकरे) की खाल से बनी उद्दली से बँधे, स्वस्वचक्रसमन्विते अपने-अपने चक्र से युक्त चक्रे च और दोनों चक्र कांस्यजे काँसे से उत्पन्न (बने हुए), ताम्रमये ताँबे से निर्मित लोहजे वा या लोहे से उत्पन्न पृथक् हरेक पञ्चरन्ध्रे पाँच छेद वाले तथा और उद्दल्यौ दोनों उद्दली रन्ध्र-विन्यस्तदोरकैः सौत्रैः छेदों में डाली हुई सूत संबन्धी (सूत को बट कर बनाई हुई) डोरियों से गाढं निबध्येते (खींच कर) मज़बूती से बाँधनी चाहियें। मध्ये बीच में सूत्रेण सूत (की डोरी) से न अतिश्लथं न बहुत ढीला न अतिगाढम् (और) न बहुत खींच कर वेष्टितं लपेटा हुआ (होना चाहिये)। मध्यसूत्रे तु सूत के बीच पर तो अनामिकां निधाय अनामिका (उँगली) को रख कर विवृते अलग की हुई (असंयुक्त) मध्यतर्जन्यौ मध्यमा और तर्जनी चक्रसंयुते कृत्वा चक्र से जोड़कर (चक्र पर रख कर) अङ्गुष्ठं तु अँगूठे को तो अन्यवक्त्रे न्यस्य दूसरे मुँह पर रखकर अथ फिर मदन-अञ्चितां मोम लगी हुई एकाम् अञ्चनिकां विधाय एक अंचनी (सूत की डोरी) को लेकर ताम् उस (डक्कुली) को दुंदुम् इति वादयेत् दुंदुं इस प्रकार (इन वर्णों से) बजानी चाहिये।

(सर०) ११३० ग में 'मध्यं सूत्रे त्वनामिकां' में 'मध्यं सूत्रे' के बजाय, सिंह० की टीका के 'मध्यसूत्रेषु' के आधार पर, मध्यसूत्रे संगत है। सं० राज में भी 'मध्यसूत्रे त्वनामिकां' ही है (३/४/४/९४ घ)।

आड्० में 'कृत्वाङ्गुष्ठं त्वन्यचक्रे' पाठ है जिसका अर्थ है 'अँगूठे को दूसरे चक्र पर रखकर'। सिंह० की व्याख्या में अन्यस्मिन् वक्त्रे' है यानी दूसरे मुँह पर अर्थ है। आनन्द० की पादटिप्पणी में 'त्वन्यवक्त्रे' पाठ दिया है। हमने सिंह० की टीका और आनन्द० के आधार पर त्वन्यवक्त्रे ही रखा है।

तुंतुमित्यपरे प्राहुः पाटा मर्दलसंभवाः ॥ ११३२ ॥

यथासंभवमेतस्यां शार्ङ्गदेवेन कीर्तिताः।

इति डक्कुलीलक्षणम्

११३२ ग-११३३ ख. (अ०) अपरे अन्य (आचार्य) तुंतुम् इति प्राहुः तुं तुं ये (वर्ण) कहते हैं। शार्ङ्गदेवेन शार्ङ्गदेव के द्वारा मर्दलसंभवाः पाटाः मर्दल में होने वाले पाट यथासंभवं यथासंभव एतस्यां कीर्तिताः इसमें कहे गये (हैं)।

डक्कुली का लक्षण समाप्त

(सेल्लुका)

षड्विंशत्यङ्गुला दैर्घ्ये परिधौ त्रिंशदङ्गुला ॥ ११३३ ॥

समकाया सेल्लुका स्याद् बीजकाष्ठेन निर्मिता।
दशाङ्गुले मुखे तस्याः परैस्त्वेकादशाङ्गुले ॥ ११३४ ॥

उक्तेन बन्धनोद्दल्यौ ताभ्यामेकाङ्गुलाधिके।
वल्लीजं तर्जनीस्थौल्यं मुखयोर्वलयद्वयम् ॥ ११३५ ॥

सरन्ध्रषट्कं रन्ध्रस्थरज्जुभिर्गाढयन्त्रितम्।
एकाङ्गुलाधिकं तच्च वक्त्राभ्यां वदनं पुनः ॥ ११३६ ॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

तन्त्रिकागर्भितं वामं वामहस्तेन वादयेत्।
मुखं दक्षिणपाणिस्थकुडुपेन तु दक्षिणम्॥ ११३७॥
मुखे वामे तु झेंकारो धिंकारो दक्षिणे मुखे।

इति सेल्लुकालक्षणम्

१६—सेल्लुका

११३३ ग-११३८ ख. (अ०) सेल्लुका सेल्लुका दैर्घ्ये लंबाई में षड्विंशति-अङ्गुला छब्बीस अंगुल वाली, परिधौ घेरे में त्रिंशत्-अङ्गुला तीस अंगुल वाली, समकाया समान शरीर (आकार) वाली, बीजकाष्ठेन निर्मिता स्यात् बीज की लकड़ी से बनी हुई होती है। तस्याः मुखे उसके दो मुँह दश-अङ्गुले दस अंगुल वाले (होते हैं)। परैः तु दूसरे (आचार्यों के मत) से तो एकादश-अङ्गुले उक्तेन ग्यारह अंगुल वाले कहे गये हैं। ताभ्याम् उनसे एक-अङ्गुल-अधिके एक अंगुल ज़्यादा नाप (वाली) बन्धन-उद्दल्यौ बँधी हुई दो उद्दली मुखयोः दोनों मुँहों का वलयद्वयं कड़े का जोड़ा वल्लीजं लता से उत्पन्न (बना हुआ), तर्जनीस्थौल्यं तर्जनी (उँगली) जितनी मोटाई वाला, सरन्ध्रषट्कं ६ छेदों के सहित तत् च और वह (वलयद्वन्द्व) वक्त्राभ्यां मुँहों से एक-अङ्गुल-अधिकम् एक अंगुल ज़्यादा (नाप) वाला रन्ध्रस्थरज्जुभिः छेदों में डाली हुई डोरियों से गाढयन्त्रितं मज़बूती से बँधा हुआ (होता है)। पुनः और तन्त्रिकागर्भितं भीतर तार वाला वामं वदनं बायाँ मुँह वामहस्तेन बायें हाथ से दक्षिणपाणिस्थकुडुपेन तु दाहिने हाथ में स्थित (पकड़े हुए) कोण से तो दक्षिणं मुखं दाहिना मुँह वादयेत् बजाना चाहिये। वामे मुखे तु बायें मुँह पर तो झेंकारः झेंकार (और) दक्षिणे मुखे दाहिने मुँह पर धिंकारः धिंकार (उत्पन्न होता है)।

सेल्लुका का लक्षण समाप्त

(झल्लरी)

पलैः स्यात् पञ्चविंशत्या दैर्घ्ये तु द्वादशाङ्गुला॥ ११३८॥
अष्टादशाङ्गुलमिता परिधौ समविग्रहा।
ससूत्रकटकं रन्ध्रद्वयं कण्ठे च बिभ्रती॥ ११३९॥
चर्मणाऽऽनद्धवदना झल्लरी परिकीर्तिता।
वामहस्तधृता सा च वाद्या दक्षिणपाणिना॥ ११४०॥

इति झल्लरीलक्षणम्

१७—झल्लरी

११३८ ग-११४०. (अ०) पञ्चविंशत्या पलैः (झल्लरी) पच्चीस पलों के (वज़न) से (और) दैर्घ्ये तु लंबाई में तो द्वादश-अङ्गुला बारह अंगुल वाली स्यात् होती है। परिधौ घेरे में अष्टादश-अङ्गुलमिता अठारह अंगुल से नपी हुई (नाप वाली), समविग्रहा समान शरीर (आकार) वाली, ससूत्रकटकं डोरी के कड़े सहित कण्ठे च और गले में रन्ध्रद्वयं बिभ्रती छेदों का जोड़ा धारण करती हुई, चर्मणा आनद्धवदना चमड़े से बँधे हुए मुँह वाली झल्लरी परिकीर्तिता झल्लरी कही गई है सा च और वह वामहस्तधृता बायें हाथ में पकड़ी हुई (पकड़ कर) दक्षिणपाणिना दाहिने हाथ से वाद्या बजानी चाहिये।

(सर०) झल्लरी की बनावट में उसके वज़न का उल्लेख विशेष है। पल सोना-चाँदी आदि धातुओं के वज़न का नाप है। एक पल ६४ माशे के बराबर और १२ माशे एक तोले के बराबर होते हैं। तदनुसार २५ पल (२५ × ६४ =) १६०० माशे यानी (१६०० ÷ १२ =) १३३$\frac{१}{३}$ तोले के बराबर हुए।

झल्लरी का लक्षण समाप्त

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(भाणः)

स्यात् तदर्धपलो भाणः परिधौ द्वादशाङ्गुलः।
अन्यत्तु झल्लरीलक्ष्म तस्य श्रीशार्ङ्गिणोदितम्॥ ११४१॥

इति भाणलक्षणम्

१८—भाण

११४१. (अ०) तत् अर्धपलः उस (झल्लरी) के आधे पल (साढ़े बारह) वाला परिधौ (और) घेरे में द्वादश-अङ्गुलः बारह अंगुल वाला भाणः स्यात् भाण होता है। तस्य अन्यत् तु उसका शेष तो श्रीशार्ङ्गिणा श्रीशार्ङ्गदेव के द्वारा झल्लरीलक्ष्म झल्लरि (जैसा) लक्षण उदितं कहा गया (है)।

भाण का लक्षण समाप्त

(त्रिवली)

सप्ताङ्गुलमुखद्वन्द्वात् त्रिवली हस्तदैर्घ्यभाक्।
मुष्टिग्राह्यश्च मध्योऽस्या वदने कवलावृते॥ ११४२॥

कवले लोहमण्डल्यौ सप्तरन्ध्रे पृथक्पृथक्।
रन्ध्रन्यस्तैर्गुणैर्बद्धो(बद्धे) मध्ये गाढं च वेष्टनम्॥ ११४३॥

सूत्ररज्ज्वा हस्तमात्रा कच्छा स्कन्धावलम्बिनी।
वादनं करयुग्मेन शार्ङ्गदेवेन कीर्तितम्॥ ११४४॥

तदांदोंदेति वर्णाः स्युस्त्रिपुरा चात्र देवता।

१९—त्रिवली

११४२-११४५ ख. (अ०) सप्त-अङ्गुलमुखद्वन्द्वात् सात अंगुल वाले मुँहों के जोड़े से (अर्थात् दो मुँह वाली) हस्तदैर्घ्यभाक् एक हाथ लंबी त्रिवली त्रिवली मध्यः च और बीच (का भाग) मुष्टिग्राह्यः मुट्ठी में पकड़ने जितना अस्याः इसके कवल-आवृते वदने चमड़े से ढके हुए दो मुँह, लोहमण्डल्यौ लोहे के कड़ों वाले पृथक्-पृथक् अलग-अलग (अर्थात् हरेक) सप्तरन्ध्रे कवले सात छेद वाले दोनों कवल रन्ध्रन्यस्तगुणैर्बद्धे छेदों में से डाली गई डोरियों से बँधे मध्ये बीच में गाढं वेष्टनं च मजबूत लपेटना भी (अर्थात् लपेटकर) हस्तमात्रा एक हाथ लंबी सूत्ररज्ज्वा सूत की डोरी से बनी कच्छा पट्टी स्कन्ध-अवलम्बिनी कंधे का अवलंबन लेने वाली (अर्थात् कन्धे में डाली हुई होती है)। करयुग्मेन वादनं दोनों हाथों से (इसका) वादन शार्ङ्गदेवेन कीर्तितं शार्ङ्गदेव के द्वारा कहा गया (है)। तदांदोंद इति वर्णाः त दां दों द ये वर्ण स्युः (इसमें) होते हैं अत्र च और इसमें त्रिपुरा देवता त्रिपुरा देवता (है)।

(सर०) आनन्द० और आड्० दोनों संस्करणों में 'रन्ध्रन्यस्तैर्गुणैर्बद्धो' पाठ है। 'बद्धः'—इस पुल्लिंग एकवचन रूप का अन्वय किसी के साथ नहीं होता। आनन्द० की पादटिप्पणी में 'बद्धैर्मध्ये' पाठ भेद है। सिंह० ने 'रन्ध्रन्यस्तैर्गुणैः मध्यभागे वेष्टनं कार्यं' यानी छेदों में डाली गई डोरियों से मध्यभाग को लपेटना चाहिये—ऐसी व्याख्या की है। इससे ऐसा लगता है कि उसने 'बद्धैर्मध्ये' का ग्रहण किया है। लेकिन गुणैर्बद्धे पाठ रखने पर कवले का विशेषण बनकर ज्यादा संगत यह अर्थ देता है कि दोनों कवल उनके छेदों में डाली गई डोरियों से बँधे होते हैं और डोरी बीच के भाग में लपेटी जाती है। इसलिये हमने कोष्ठक में बद्धे दिया है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

एकादशाङ्गुलमुखी विंशत्यङ्गुलदैर्घ्यभाक् ॥ ११४५ ॥

मुखार्धमानमध्यासौ मध्ये चाञ्चनिकायुता।
तदर्धवर्णसंयुक्ता त्रिकुल्या चोच्यते बुधैः ॥ ११४६ ॥

इति त्रिवलीलक्षणम्

११४५ ग-११४६. (अ०) एकादश-अङ्गुलमुखी ग्यारह अंगुल (नाप) के मुँहों वाली, विंशति-अ ङ्गुलदैर्घ्यभाक् बीस अंगुल लंबाई जितनी, मुख-अर्धमानमध्या मुँह के आधे नाप (साढ़े पाँच अंगुल) के बीच (के भाग) वाली मध्ये च और बीच में अञ्चनिकायुता सूत की डोरी से युक्त, तत् अर्धवर्णसंयुक्ता उस (त्रिवली) के आधे वर्णों से युक्त, बुधैः बुद्धिमानों के द्वारा त्रिकुल्या च त्रिकुली (इस नाम) से भी उच्यते कही जाती है।

(सर०) आधे वर्ण का आशय यह लगता है कि त्रिवली में जो तदांदोंद—ये चार वर्ण कहे गये उनमें से आधे यानी तदां—ये दो अक्षर हों। त्रिवली का जो नाप कहा गया उससे बड़ा नाप और आधे अक्षरों के आधार पर वादन होने की स्थिति में त्रिवली ही त्रिकुली कही जाती है।

त्रिवली का लक्षण समाप्त

(दुन्दुभिः)

आम्रद्रुमसमुद्भूतो महागात्रो महाध्वनिः।
कांस्यभाजनसंभारगर्भो वलयवर्जितः ॥ ११४७ ॥

चर्मनद्धाननो बद्धो वध्रैर्गाढं समन्ततः।
दृढचार्मेण कोणेन वाद्यो वर्णेन दुन्दुभिः ॥ ११४८ ॥

मेघनिर्घोषगम्भीरघोंकारस्यात्र मुख्यता।
मङ्गले विजये चैव वाद्यते देवतालये ॥ ११४९ ॥

इति दुन्दुभिलक्षणम्

२०—दुन्दुभि

११४७-११४९. (अ०) आम्रद्रुमसमुद्भूतः आम के पेड़ (की लकड़ी) से उत्पन्न (बना हुआ), महागात्रः बड़े शरीर (आकार) वाला, महाध्वनिः बड़ी ध्वनि वाला कांस्यभाजनसंभारगर्भः काँसे के पात्रों के समूह से युक्त गर्भ (अन्दर के भाग) वाला, वलयवर्जितः कड़े से रहित, चर्मनद्ध-आननः चमड़े से ढका मुँह, समन्ततः चारों ओर से वध्रैः वध्रों (चमड़े की डोरियों/बद्धियों) से गाढं बद्धः मजबूती से बँधा हुआ, दृढचार्मेण कोणेन मोटे चमड़े के कोण से वर्णेन वर्ण से (वर्ण उत्पन्न करते हुए) दुन्दुभिः वाद्यः दुन्दुभि बजाना चाहिये। अत्र इसमें मेघनिर्घोषगम्भीरघोंकारस्य बादलों के गर्जन जैसे गंभीर घोंकार की मुख्यता प्रधानता (होती है)। मङ्गले (यह) मंगल (प्रसंग) में, विजये विजय (प्राप्ति के अवसर) में देवता-आलये च एव और देवस्थान (मंदिर) में भी वाद्यते बजाया जाता है।

(सर०) संस्कृत में दुन्दुभि स्त्रीलिंग और पुल्लिंग दोनों होता है। यहाँ पुल्लिंग के रूप में प्रयुक्त हुआ है। हिन्दी में दुन्दुभि स्त्रीलिंग है।

दुन्दुभि का लक्षण समाप्त

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(भेरी)

वितस्तित्रयदैर्घ्या स्याद् भेरी ताम्रेण निर्मिता।
चतुर्विंशत्यङ्गुले च वदने वलयान्विते॥ ११५०॥

तस्याः सवलये चर्मच्छन्ने छिद्रसमन्विते।
रज्ज्वा नियन्त्रिते गाढं मध्ये सूत्रेण बन्धनम्॥ ११५१॥

दक्षिणस्थेन कोणेन वामहस्तेन ताडनात्।
उद्भटो भवति ध्वानो गम्भीरोऽरिभयंकरः॥ ११५२॥

तंकारः पाटवर्णोऽस्यां मुख्यो निःशङ्ककीर्तितः।

इति भेरीलक्षणम्

२१—भेरी

११५०-११५३ ख. (अ०) ताम्रेण निर्मिता भेरी ताँबे से बनी हुई भेरी वितस्तित्रयदैर्घ्या तीन वितस्ति लंबी स्यात् होती है तस्याः च और उसके चतुर्विंशति-अङ्गुले वदने चौबीस अंगुल (नाप) वाले दो मुँह वलय-अन्विते कड़ों से युक्त (होते हैं)। छिद्रसमन्विते चर्मच्छन्ने छेदों से युक्त चमड़े से ढके हुए सवलये वलयों के सहित (अर्थात् कड़ों वाले मुँह) रज्ज्वा डोरी से गाढं नियन्त्रिते मज़बूती से नियंत्रित (कसे हुए होते हैं और) मध्ये बीच के भाग में सूत्रेण बन्धनं सूत (की डोरी) से बंधन (होता है)। दक्षिणस्थेन कोणेन दाहिने (हाथ) में स्थित (पकड़े हुए) कोण से (और) वामहस्तेन ताडनात् बायें हाथ से प्रहार करने से गम्भीरः गंभीर, अरिभयंकरः शत्रुओं को भय देने वाला उद्भटः ध्वानः बहुत बड़ा नाद भवति (उत्पन्न) होता है। अस्याम् इसमें तंकारः तंकार मुख्यः पाटवर्णः मुख्य पाटवर्ण निःशङ्ककीर्तितः निःशंक (शार्ङ्गदेव) का कहा हुआ है।

भेरी का लक्षण समाप्त

(निःसाणः)

कांस्यजस्ताम्रजो लौहो वोत्तमो मध्यमोऽधमः॥ ११५३॥

एकवक्त्रो महान् वक्त्रे स्वल्पोऽधोऽर्धयवाकृतिः।
भृतगर्भः कांस्यपात्रभारैर्महिषचर्मणा॥ ११५४॥

छन्नाननो बद्धचर्मा तद्रन्ध्रन्यस्तवध्रकैः।
क्षिप्तोऽधो वध्रवलये निवेश्यावर्तितैर्मुहुः॥ ११५५॥

द्विषद्वित्रासजननो निःसाणः शार्ङ्गिणोदितः।
चार्मणेनास्य कोणेन सद्वितीयस्य वादनम्॥ ११५६॥

दृढशब्देन भीरूणां भिनत्ति हृदयान्ययम्।
स्यादस्माद् युद्धवीराणां रोमाञ्चोपचितं वपुः॥ ११५७॥

इति निःसाणलक्षणम्

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

२२—निःसाण

११५३ ग-११५७. (अ०) **कांस्यजः ताम्रजः लौहः** वा काँसे, ताँबे और लोहे से (उत्पन्न) बना हुआ (निःसाण) **उत्तमः मध्यमः अधमः** (क्रम से) उत्तम, मध्यम (और) अधम (होता है)। **एकवक्त्रः** एक मुँह वाला (होता है)। **वक्त्रे महान्** मुँह पर बड़ा (और) **अधः** नीचे (का भाग) **स्वल्पः** छोटा, **अर्धयव-आकृतिः** आधे जौ के आकार वाला, **कांस्यपात्रभारैः भृतगर्भः** काँसे के पात्रों के भार से भरे हुए गर्भ (भीतर के भाग) वाला, **महिषचर्मणा** भैंसे के चमड़े से **छन्न-आननः** ढके हुए मुँह वाला, **अधः क्षिप्तः** नीचे डाले हुए (लगाये हुए) **वध्रवलये** चमड़े के (बने हुए) कड़े में **निवेश्य** डाल कर **मुहुः आवर्तितैः** बार-बार आवृत्त (दोहरे) किये हुए **तत्-रन्ध्रन्यस्तवध्रकैः** उस (चमड़े) के छेदों में डाले हुए वध्रों (बद्धियों) से **बद्धचर्मा** बँधे हुए चमड़े वाला, **द्विषत्-वित्रासजननः** वैरियों को विशेष भय पैदा करने वाला (ऐसा) **शार्ङ्गिणा** शार्ङ्गदेव के द्वारा **निःसाणः उदितः** निःसाण कहा गया (है)। **चार्मणेन कोणेन** चमड़े के कोण से **सद्वितीयस्य** दूसरे (निःसाण) के साथ **अस्य वादनम्** इसका वादन (होता है)। **दृढशब्देन** बड़ी ध्वनि से **अयं** यह **भीरूणां हृदयानि** भीरुओं के हृदय **भिनत्ति** भेद देता है। **अस्मात्** इससे **युद्धवीराणां वपुः** युद्धवीरों का शरीर **रोमाञ्च-उपचितं स्यात्** रोमांच से भरा हुआ हो जाता है।

(सर०) काँसे का बना निःसाण उत्तम, ताँबे का मध्यम और लोहे का अधम कहने का तात्पर्य संभवतः यह है कि इसका नाद काँसे, ताँबे और लोहे के कारण क्रमशः कम होता जाता है और फलस्वरूप उसका प्रभाव भी कम होता है। यानी भीरु प्रकृति के योद्धाओं को काँसे का निःसाण जितना भयदायक होता है उससे कम ताँबे का और उससे कम लोहे का।

अर्धयव की आकृति यानी जौ को बीच से काटकर कटा भाग ऊपर और सिरा नीचे रखने पर जैसी आकृति होती है उसी तरह निःसाण का भी बड़ा मुँह ऊपर और छोटा भाग नीचे रखने पर आकार होता है।

इसके पात्र के भीतर के खोखले भाग में काँसे के पात्र भरे होने से भयंकर झनझनाहट होती है।

निःसाण का लक्षण समाप्त

(तुम्बकी)

निःसाणवत् तुम्बकी स्यात् ततोऽल्पा गात्रनादयोः।

इति तुम्बकीलक्षणम्

२३—तुम्बकी

११५८ क-ख. (अ०) **निःसाणवत्** निःसाण के समान (लेकिन) **गात्रनादयोः** शरीर और नाद में **तुम्बकी** तुम्बकी **ततः** उससे **अल्पा भवेत्** कम होती है।

(सर०) तुम्बकी की बनावट निःसाण जैसी ही होती है लेकिन उसका आकार छोटा और परिणामस्वरूप नाद भी कम होता है।

दुन्दुभि, भेरी, निःसाण और तुम्बकी युद्धवाद्य होते हैं। काव्यों, नाटकों आदि में इनका उल्लेख प्रायः इसी रूप में होता रहा है। दुन्दुभि मंगल प्रसंग और मन्दिरों में बजाने का भी ग्रन्थकार ने उल्लेख किया है।

तुम्बकी का लक्षण समाप्त

(काष्ठलक्षणम्)

उक्तौ प्रकृतिदारूणामनुक्तौ वा विकल्पतः॥ ११५८॥

ज्ञेयो दारववाद्यानां खदिरो रक्तचन्दनः।
सर्वेषु स्युर्यथायोगं पाटाः पाटहमार्दलाः॥ ११५९॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

लकड़ी का लक्षण

११५८ ग-११५९. (अ०) प्रकृतिदारूणां (वाद्यों की) कारणभूत (मूल) लकड़ी की उक्तौ अनुक्तौ वा कहे होने पर या कहे न होने पर दारववाद्यानां लकड़ी के बने वाद्यों की (प्रकृति) खदिरः खैर (या) रक्तचन्दनः लाल चन्दन विकल्पतः ज्ञेयः विकल्प से जानना (जाननी) चाहिये। सर्वेषु सब (वाद्यों) में यथायोगं जहाँ जो संभव हों पाटहमार्दलाः पाटाः पटह और मर्दल संबन्धी पाट स्युः योजित (होते हैं)।

(सर०) किस लकड़ी से वाद्य बनाया जाय यह बताया गया हो या नहीं, दोनों ही स्थितियों में खैर या लाल चन्दन की लकड़ी का विकल्प से उपयोग किया जा सकता है। इसे स्पष्ट करते हुए कल्लि० ने उदाहरण दिया कि जैसे पटह आदि में खैर आदि की लकड़ी कही गई और कुडुक्का आदि में नहीं कही, ऐसे सभी वाद्यों में खैर या रक्त चन्दन की लकड़ी को प्रकृति समझना चाहिये।

पटह के क, ख आदि १६ वर्ण और मर्दल में मतान्तर से कहे गये तद्धि आदि को मिलाकर जो १६ वर्ण कहे गये उनका यथायोग यानी जिन वाद्यों में जिन वर्णों का स्पष्ट अनुकरण हो सके उनका प्रयोग करना चाहिये, कल्लि० ने यह स्पष्ट किया।

नीरसोच्छ्रितभूजाताज्जीर्णाद् वाताहतात् तरोः।
निर्भिद्योत्सारिते गर्भे शेषाद् वाद्यानि कारयेत्॥ ११६०॥

पूर्वप्ररोहे छिन्नेऽन्यो यः प्ररोहः प्ररोहति।
तदुद्भवद्रुमोद्भूतं वाद्यं सर्वं प्रशस्यते॥ ११६१॥

गर्भस्योत्सारणं त्वेतद् वेणोरन्यत्र पादपे।

११६०-११६२ ख. (अ०) नीरस-उच्छ्रितभूजातात् सूखी (और) ऊँची ज़मीन से उत्पन्न हुए, जीर्णात् पुराने (और) वात-आहतात् तरोः हवा से आन्दोलित पेड़ को निर्भिद्य गर्भे उत्सारिते शेषात् काटकर भीतर का भाग हटाकर (अर्थात् भीतर से खोखला करके) बचे हुए (बाहर के भाग) से वाद्यानि कारयेत् वाद्यों को करना (बनाना) चाहिये। पूर्वप्ररोहे छिन्ने पहले अंकुर को काटने पर यः प्ररोह जो अंकुर प्ररोहति बढ़ता है तत्-उद्भवद्रुम-उद्भूतं वाद्यं उससे उत्पन्न (बढ़े हुए) पेड़ (की लकड़ी) से बना हुआ वाद्य सर्वं प्रशस्यते सबसे ज़्यादा प्रशस्त (अच्छा) होता है। एतत् यह गर्भस्य उत्सारणं तु भीतर से खोखला करना तो वेणोः अन्यत्र पादपे बाँस के अलावा (बाँस को छोड़कर दूसरे) पेड़ में (समझना चाहिये)।

तरूणां जातयस्तिस्रः पित्तला वातला तथा॥ ११६२॥

श्लेष्मला चेति तत्र स्यात् पित्तला नीरसक्षितौ।
अत्यल्परसभूजाता वातला श्लेष्मला पुनः॥ ११६३॥

जलाशयसमीपस्थरससंप्लुतभूमिजा।
पित्तलात्युत्तमा जातिर्वातला त्वधमा भवेत्॥ ११६४॥

श्लेष्मला वर्ज्यते शुष्के वृक्षेऽपि च्छेदनात् पुरा।

इति काष्ठलक्षणम्

११६२ ग-११६५ ख. (अ०) पित्तला पित्तला, वातला वातला तथा और श्लेष्मला च श्लेष्मला भी इति ये तरूणां पेड़ों की तिस्रः जातयः तीन जातियाँ (होती हैं)। तत्र उनमें से नीरसक्षितौ सूखी ज़मीन में (उगे हुए पेड़ की) पित्तला पित्तला (जाति) स्यात् होती है। अति-अल्परसभूजाता बहुत कम पानी वाली भूमि से उत्पन्न वातला वातला पुनः और जलाशयसमीपस्थरस-संप्लुतभूमिजा जलाशय के पास स्थित जलमय हुई भूमि से उत्पन्न हुए (पेड़) की श्लेष्मला श्लेष्मला (जाति होती है)। पित्तला

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

पित्तला अति-उत्तमा जातिः अति उत्तम जाति वातला तु (और) वातला तो अधमा भवेत् अधम होती है। श्लेष्मला श्लेष्मला वर्ज्यते वर्जित होती है। छेदनात् पुरा काटने से पहले वृक्षे शुष्के अपि वृक्ष सूख जाने पर भी (वर्ज्य होती है)।

लकड़ी का लक्षण समाप्त

(काष्ठदोषाः)

कोमलत्वं व्रणग्रन्थिभेदान् दारुषु वर्जयेत्॥ ११६५॥

इति काष्ठदोषाः

लकड़ी के दोष

११६५ ग-घ. (अ०) दारुषु लकड़ियों में **कोमलत्वं** कोमलता, **व्रणग्रन्थिभेदान्** छेद, गाँठ, फटेपन को **वर्जयेत्** वर्जित करना चाहिये।

(सर०) कोमलता का अर्थ है जो कड़ी न हो, नरम हो। वर्जित करना यानी दोषयुक्त लकड़ी का वाद्य बनाने में उपयोग नहीं करना चाहिये।

ये लकड़ी के दोष हैं।

(चर्मगुणाः)

षाण्मासिकस्य वत्सस्य चर्म स्यात् पुटबन्धने।
अन्ये द्विवत्सरस्याहुस्तन्न लक्ष्येषु दृश्यते॥ ११६६॥

वृद्धस्य वृषभस्यास्य चर्मणा वध्रकल्पना।
कुन्देन्दुहिमसंकाशमाम्रपल्लवसंनिभम्॥ ११६७॥

स्नायुमांसविहीनं च चर्म गोसंभवं च यत्।
शीतोदके निशामेकां वासयित्वा समुद्धृतम्॥ ११६८॥

वाद्यावनहनार्थं तद् ग्राह्यं श्रीशार्ङ्गिणोदितम्।

इति चर्मगुणाः

चमड़े का गुण

११६६-११६९ ख. (अ०) पुटबन्धने पुड़ी बाँधने में **षाण्मासिकस्य वत्सस्य चर्म** छ महीने के बछड़े का चमड़ा **स्यात्** (उपयुक्त) होता है। **अन्ये** दूसरे (आचार्य) **द्विवत्सरस्य आहुः** दो साल (के बछड़े) का (चमड़ा) कहते हैं। **तत्** वह **लक्ष्येषु** लक्ष्यों में **न दृश्यते** नहीं दिखाई देता। **वृद्धस्य वृषभस्य चर्मणा** बूढ़े बैल के चमड़े से **अस्य वध्रकल्पना** इसका वध्र (बद्धी) करना चाहिये। **कुन्द-इन्दुहिमसंकाशं** कुन्द (के फूल), चन्द्रमा (या) बर्फ़ जैसा (उज्ज्वल), **आम्रपल्लवसंनिभम्** आम के पत्ते जैसा (कोमल) **स्नायुमांसविहीनं च** और स्नायु व माँस रहित **गोसंभवं च** और बैल से उत्पन्न (अर्थात् बैल का) **यत् चर्म** जो चमड़ा **तत्** वह **एकां निशाम्** एक रात **शीत-उदके वासयित्वा** ठंडे पानी में (भिगोये) रख कर **समुद्धृतं** (बाहर) निकाला हुआ **वाद्य-अवनहन अर्थं** वाद्य का मुँह ढकने (मढ़ने) के लिये **तत् ग्राह्यं** उसे ग्रहण करना चाहिये **श्रीशार्ङ्गिणा उदितम्** (ऐसा) श्रीशार्ङ्गदेव के द्वारा कहा गया (है)।

यह चमड़े का गुण है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(चर्मदोषाः)

मेदोदुष्टं जराक्रान्तं क्लिन्नं काकमुखाहतम्॥ ११६९॥

अग्निधूमहतं जीर्णं न वाद्ये चर्म कर्मकृत्।

इति चर्मदोषाः

चमड़े के दोष

११६९ ग-११७० ख. (अ०) मेदोदुष्टं चर्बी से दूषित, जरा-आक्रान्तं बुढ़ापे से ग्रस्त, क्लिन्नं गीला, काकमुख-आहतं कौअे की चोंच से आघात किया हुआ, अग्निधूमहतम् आग (और) धुएँ से ख़राब हुआ, जीर्णं चर्म पुराना चमड़ा वाद्ये वाद्य में न कर्मकृत् काम में लेने योग्य नहीं (है)।

ये चमड़े के दोष हैं।

गुणैर्भूरितरोदारैर्यस्य नद्धं जगत् त्रयम्॥ ११७०॥

अवनद्धमिदं तेन शार्ङ्गदेवेन कीर्तितम्।

इत्यवनद्धवाद्यप्रकरणम्

११७० ग-११७१ ख. (अ०) यस्य जिसके भूरितर-उदारैः गुणैः बहुत उदार गुणों से त्रयं जगत् तीनों जगत् नद्धं बँधे हुए (हैं) तेन शार्ङ्गदेवेन उस शार्ङ्गदेव के द्वारा इदम् अवनद्धं यह अवनद्ध (वाद्य) कीर्तितं कहा गया (वर्णित हुआ) है।

अवनद्धवाद्य प्रकरण समाप्त

(घनवाद्यम्)

अथ घनवाद्यम्—

कांस्यजे घनवाद्ये स्यात् कांस्यमग्नौ सुशोधितम्॥ ११७१॥

(ई) घनवाद्य

११७१ ग-घ. (अ०) अथ घनवाद्यम्—अब घनवाद्य (कहा जा रहा है)— कांस्यजे घनवाद्ये काँसे से उत्पन्न (बने हुए) घन वाद्य में कांस्यं काँसा अग्नौ आग में (तपा कर) सुशोधितं स्यात् अच्छी तरह शुद्ध किया हुआ होता है।

(तालः)

कांस्यजो वर्तुलस्तालः सपादद्व्यङ्गुलाननः।
मध्योऽस्याङ्गुलविस्तारो निम्नो रन्ध्रं च मध्यगम्॥ ११७२॥

पादोनगुञ्जामात्रं स्यात् पिण्डस्तु यवमात्रकः।
सार्धाङ्गुलः स्यादुत्सेधः समाश्लक्ष्णशुभाकृतिः॥ ११७३॥

कार्या तथा यथा नादो भवेच्छ्रुतिमनोहरः।
नेत्रवस्त्राञ्चलाग्राणि रज्जूकृत्य निवेशयेत्॥ ११७४॥

रन्ध्रेऽग्राणामनिर्गत्यै ग्रन्थिं च रचयेद् दृढम्।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

१—ताल

११७२-११७५ ख. (अ०) कांस्यजः वर्तुलः तालः काँसे से उत्पन्न (और) गोल ताल (नामक घनवाद्य) सपादद्वि-अङ्गुल-आननः चौथाई सहित दो (सवा दो) अंगुल (नाप के) मुँह वाला अस्य (और) इसका मध्यः बीच (का भाग) एक-अङ्गुलविस्तारः एक अंगुल चौड़ा (और) निम्नं नीचा मध्यगं च रन्ध्रम् और बीच में छेद पाद-ऊनगुञ्जामात्रं स्यात् चौथाई कम एक (पौन) गुंजा (घुँघची) के बराबर होता है। पिण्डः तु मोटाई तो यवमात्रकः एक यव वाली (और) उत्सेधः ऊँचाई स-अर्ध-अङ्गुलः आधे सहित एक (डेढ़) अंगुल स्यात् होती है। तथा वैसी समा श्लक्ष्णशुभ-आकृतिः एक बराबर, चिकनी (और) मनोहर आकृति कार्या करनी चाहिये यथा जिससे श्रुतिमनोहरः सुनने में मनोहर नादः भवेत् नाद हो। नेत्रवस्त्र-अञ्चल-अग्राणि रज्जूकृत्य रेशमी कपड़े के छोर के सिरे की डोरी बना कर रन्ध्रे (बीच के) छेद में निवेशयेत् डालनी चाहिये। अग्राणाम् अनिर्गत्यै (डोरी के) सिरों को बाहर न निकलने देने के लिये दृढं ग्रन्थिं च रचयेत् मज़बूत गाँठ भी लगानी चाहिये।

(सर०) ताल छोटा घनवाद्य है जिसे वर्तमान मँजीरा समझना चाहिये। ताल की आकृति और बनावट इन श्लोकों में दी गई है। कोश के अनुसार नेत्र का अर्थ महीन बुना हुआ विशेष प्रकार का वस्त्र है।

ईदृक्तालयुगं कृत्वा तालमेकमथाञ्चलैः॥ ११७५॥

आवेष्ट्य तर्जनीं वामामङ्गुष्ठेन च वेष्टनम्।
आक्रम्य तलमध्यस्थं धृत्वा तिर्यङ्मुखीकृतम्॥ ११७६॥

शेषाङ्गुलीः प्रसार्योर्ध्वाद् दक्षिणेन तु पाणिना।
तालमन्यतरस्यान्तलम्बमानाञ्चलावलिम्॥ ११७७॥

तर्जन्यङ्गुष्ठयोरग्रभागतस्तिर्यगाननम्।
धृत्वा तस्याग्रभागेण मध्यमन्यस्य ताडयेत्॥ ११७८॥

११७५ ग-११७८. (अ०) ईदृक् तालयुगं कृत्वा ऐसा ताल का जोड़ा बना कर अथ फिर एकं तालम् (उनमें से) एक ताल को अञ्चलैः (वस्त्र के) सिरों से वामां तर्जनीम् आवेष्ट्य बाईं तर्जनी (उँगली) को लपेट कर अङ्गुष्ठेन च वेष्टनम् अँगूठे से भी लपेटना (लपेट कर) आक्रम्य (ताल को) पकड़ कर तलमध्यस्थं (हाथ के) तल (हथेली) के बीच में तिर्यक्-मुखीकृतं धृत्वा तिरछे मुँह वाला करके पकड़ कर शेष-अङ्गुलीः ऊर्ध्वा प्रसार्य शेष उँगलियाँ ऊपर की ओर फैला कर दक्षिणेन पाणिना तु दाहिने हाथ से तो तर्जनी-अङ्गुष्ठयोः तर्जनी और अँगूठे के अग्रभागतः सिरे से अन्यतरस्य दूसरे (ताल) के अन्तलम्बमान-अञ्चलावलिं सिरे लम्बमान वाले (लंबी ओर के) (वस्त्र के) छोरों की पंक्ति को तिर्यक् आननं तालं तिरछे मुँह वाले (मुँह तिरछा रहे इस तरह) ताल को धृत्वा पकड़ कर तस्य अग्रभागेण उसके अगले भाग से अन्यस्य मध्यं दूसरे के बीच (के भाग) को (भाग पर) ताडयेत् प्रहार करना चाहिये।

(सर०) मूल पाठ 'अचलावलिं' है जिसका यहाँ कोई संगत अर्थ नहीं निकलता। लेकिन लक्षण में 'अञ्चल' शब्द दो बार आया है। यहाँ भी आशय अञ्चल से ही है इसलिये हमने 'अञ्चल' रखा है।

अल्पनादो भवेच्छक्तिर्भूरिनादः शिवो भवेत्।
शिवे स्निग्धे घनो नादः शक्तौ स्यात् तद् विपर्ययः॥ ११७९॥

वामेन धारयेच्छक्तिं शिवं दक्षिणपाणिना।
अश्वमेधफलं चैव प्राप्नुयाद् दोषमन्यथा॥ ११८०॥

देवता तुम्बरुर्युग्मे शक्तिः शक्तौ शिवे शिवः।
द्रुतादिसिद्ध्यै तन्नादधृतिरूर्ध्वाङ्गुलीकृता॥ ११८१॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

कल्पनेत्युच्यते कार्यमस्य स्यात् तालधारणम्।
निःशङ्कशार्ङ्गदेवेन पाटाः सर्वेऽत्र कीर्तिताः॥ ११८२॥

इति ताललक्षणम्

११७९-११८२. (अ०) **अल्पनादः** (इन दो तालों में से) कम नाद वाला **शक्तिः भवेत्** शक्ति होता है (और) **भूरिनादः** बड़े नाद वाला **शिवः भवेत्** शिव होता है। **स्निग्धे शिवे** स्निग्ध शिव में **घनः नादः** भराव़दार नाद (और) **शक्तौ** शक्ति में **तत् विपर्ययः** उसका उल्टा (होता है)। **वामेन** बायें (हाथ) से **शक्तिं** शक्ति को (और) **दक्षिणपाणिना** दाहिने हाथ से **शिवं धारयेत्** शिव को धारण करना चाहिये। **एव च** इस तरह (धारण करने पर) **अश्वमेधफलं प्राप्नुयात्** (तालवादक) अश्वमेध (यज्ञ) का फल प्राप्त करे (प्राप्त करता है) **अन्यथा दोषं** नहीं तो दोष (प्राप्त करता है)। **युग्मे** (ताल की) जोड़ी में **तुम्बरुः देवता** तुंबरु देवता, **शक्तौ शक्तिः** शक्ति में शक्ति (और) **शिवे शिवः** शिव में शिव (है)। **द्रुत-आदिसिद्ध्यै** द्रुत आदि (लयों) की सिद्धि के लिये **ऊर्ध्व-अङ्गुलीकृता** उँगली ऊपर की हुई **तत्-नादधृतिः** उस (ताल) के नाद का धारण **कल्पना इति उच्यते** कल्पना कहा जाता है। **अस्य कार्यम्** इसका काम **तालधारणं स्यात्** ताल का धारण होता है। **निःशङ्कशार्ङ्गदेवेन** निशंक शार्ङ्गदेव के द्वारा **अत्र** इसमें **सर्वे पाटाः** सभी पाट **कीर्तिताः** कहे गये हैं।

(सर०) द्रुतादि में आदि से लघु, गुरु, प्लुत का ग्रहण समझना चाहिये। 'सिद्धि के लिये' का अर्थ है इन इकाइयों से नापे गये काल को दिखाने के लिये। ऊर्ध्व उँगली से यह समझना चाहिये कि तर्जनी और अँगूठे को छोड़कर बाक़ी उँगलियाँ ऊपर की ओर करके क्योंकि दोनों हाथों की इन दो से दोनों तालों को पकड़ा जाता है। 'नाद का धारण' अर्थात् दोनों तालों से उत्पन्न नाद के अनुकरण के आकार से लम्बे हुए नाद को रोककर समाप्त करना यानी छोटा करना, इस आशय की कल्लि० की टीका ग़ों है—'नादस्यानुकरणेनाकारेण दीर्घस्य दीर्घस्य निरोधेन अवसानकरणं ह्रस्वीकरणमित्यर्थः'। 'अनुकरणेन' के स्थान पर 'अनुरणनेन' पाठ हो तो उसके द्वारा ज़्यादा संगत अर्थ प्राप्त होता है क्योंकि ताल जैसे वाद्य में आघात के बाद जो अनुरणन होता है उससे नाद दीर्घ-दीर्घ यानी लंबा होता है जिसे रोकने पर नाद छोटा होता है यानी बन्द हो जाता है। इसी को नाद की 'धृति' कहना आशय प्रतीत होता है। लक्ष्यज्ञों के द्वारा इसे 'कल्पन' कहा ज़ाता है, यह भी कल्लि ने उल्लेख किया।

मान० में (४/१६/८५४-८७) कई तालों के लक्षणों में संकल्पन, कल्पित, कल्पनायुक्त और धृतनाद, विधृतध्वनि शब्द आये हैं। जिन जगहों पर इन शब्दों का प्रयोग हुआ है वे सं०र० में विरामयुक्त हैं। विराम लघु या द्रुत इकाई के अपने मूल्य में आधे मूल्य की वृद्धि कर देता है, उसका अपना कोई नियत मूल्य नहीं है, जैसे—विरामान्त लघु यानी $१ + \frac{१}{२} = १\frac{१}{२}$, विरामान्त द्रुत यानी $\frac{१}{२} + \frac{१}{४} = \frac{३}{४}$। उसकी कोई स्वतन्त्र क्रिया नहीं कही गई। मान० के ही शब्दों में से नादधृति और कल्पना शब्दों का ताल के लक्षण में प्रयोग इसका संकेतक हो सकता है कि इकाई के विराम वाले अंश में ताल के द्वारा नाद को रोक कर विराम के प्रमाण को धृत (धारण) किया जाता हो। कल्लि० ने लक्ष्यज्ञों के द्वारा नादधृति को कल्पन कहे जाने का उल्लेख किया भी है।

कार्यमस्य में **अस्य** का अर्थ, कल्लि० के अनुसार, तालधारी है और तालधारण का अर्थ उक्त प्रकार से ताल का धारण यानी हाथ में पकड़ना और दूसरा कार्य ताल के नाद को धारण करना। **सर्वे पाटाः** के लिये उसने यह कहा कि तूर्यत्रय (गीत, वाद्य, नृत्त) को नापना ताल का हेतु (प्रयोजन) है इसलिये सारे पाट कहे, यह भाव है।

ताल का लक्षण समाप्त

(कांस्यतालः)

नलिनीदलसंकाशौ कांस्यतालौ समाकृती।
त्रयोदशाङ्गुलौ वक्त्रे कांस्यजे द्व्यङ्गुलौ तले॥ ११८३॥

मध्येऽङ्गुलमितौ निम्नौ तयोरन्यत्तु तालवत्।
पाटा झनकटा मुख्याः सन्ति पाटान्तराण्यपि॥ ११८४॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

नारदो देवता चात्रेत्युक्तं सोढलसूनुना।

इति कांस्यताललक्षणम्

२—कांस्यताल

११८३-११८५ ख. (अ०) नलिनीदलसंकाशौ कांस्यजे कांस्यतालौ कमल के पत्ते जैसे (आकार के) काँसे के बने हुऐ दो कांस्यताल सम-आकृती समान आकार वाले, वक्त्रे मुँह पर त्रयोदश-अङ्गुलौ तेरह अंगुल वाले, तले द्वि-अङ्गुलौ तल में (नीचे के भाग में) दो अंगुल वाले, मध्ये बीच (के भाग) में अङ्गुलमितौ निम्नौ एक अंगुल नाप वाले (और) नीचे (होते हैं)। तयोः उनके अन्यत् तु दूसरे (लक्षण) तो तालवत् ताल जैसे (समझने) चाहियें। झनकटाः मुख्याः पाटाः झनकट मुख्य पाट (और) पाटान्तराणि अपि दूसरे पाट भी सन्ति होते हैं। अत्र च और इसमें नारदः देवता नारद देवता है इति ऐसा सोढलसूनुना उक्तं सोढल के पुत्र (शार्ङ्गदेव) के द्वारा कहा गया है।

(सर०) कांस्यताल की बनावट ताल जैसी ही होती है लेकिन आकार उससे बड़ा होता है।

कांस्यताल का लक्षण समाप्त

(घण्टा)

अर्धाङ्गुलमिता पिण्डे घण्टा कांस्यमयी भवेत्॥ ११८५॥

उच्छ्राये ऽष्टाङ्गुला वक्त्रे विशाला मूलतोऽल्पिका।
सा च प्रासादसंबद्धा शलाकाकारधारिणी॥ ११८६॥

मूले दण्डं त्रिशृङ्गाग्रं दधती मूलसंयुता।
षडङ्गुलायतं सार्धाङ्गुलपिण्डं च लम्बितम्॥ ११८७॥

लोहजं लालकं गर्भे दधानां तामधोमुखीम्।
दण्डे धृत्वा टणत्कारबहुलं वादयेत् सुधीः॥ ११८८॥

सा सर्वदेवता तज्ज्ञैर्वाद्यते देवतार्चने।

इति घण्टालक्षणम्

३—घंटा

११८५ ग-११८९ ख. (अ०) पिण्डे अर्ध-अङ्गुलमिता मोटाई में आधा अंगुल नाप वाली घण्टा घंटा कांस्यमयी भवेत् काँसे की बनी हुई होती है। उच्छ्राये ऊँचाई में अष्ट-अङ्गुला आठ अंगुल वाली, वक्त्रे विशाला मुँह पर बड़ी (और) मूलतः मूल की ओर अल्पिका छोटी (होती है) सा च और वह शलाका-आकारधारिणी शलाका का आकार धारण करने वाली प्रासादसंबद्धा प्रासाद (देवालय) से संबद्ध (अर्थात् लटकती हुई रहती है)। मूले मूल में त्रिशृङ्ग-अग्रं दण्डं तीन सींग के (जैसे) अग्र भाग वाले दंड को मूलसंयुता दधती मूल से जुड़ी (स्थिति में) धारण करती हुई (होती है)। षट्-अङ्गुल-आयतं छ अंगुल लंबा स-अर्ध-अङ्गुलपिण्डं च और आधे सहित एक (डेढ़) अंगुल मोटा लम्बितं लंबमान लोहजं लालकं लोहे का बना दोलक (अथवा ज़ंजीर) गर्भे दधानां भीतर धारण करने वाली ताम् अधोमुखीम् उस नीचे मुँह वाली को दण्डे धृत्वा दंड पर पकड़ कर सुधीः बुद्धिमान् टणत्कारबहुलं टणत्कार (टण् टण् का नाद) प्रचुर (उत्पन्न करते हुए) वादयेत् बजाये। सर्वदेवताः सा सारे देवताओं वाली वह तत्-ज्ञैः उसके ज्ञाताओं के द्वारा देवता-अर्चने देवता की पूजा में वाद्यते बजाई जाती है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(सर०) संस्कृत में घंटा शब्द स्त्रीलिंग है इसलिये अनुवाद तदनुरूप किया गया है।

आड्० में 'अर्धाङ्गुलमिते' पाठ है जो पिण्डे का विशेषण है। आनन्द० का अर्धाङ्गुलमिता घण्टा के विशेषण के रूप में ज़्यादा संगत है इसलिये हमने उसी का ग्रहण किया है।

आड्० में 'लोहजं जालकं' पाठ है। जालक का अर्थ है जाल जिसकी घंटे में सार्थकता प्रतीत नहीं होती। आनन्द० के लालकं का अर्थ रस्सी है। आशय शायद जंजीर से है जिसके टकराने से ध्वनि उत्पन्न होती है।

शलाकाकारधारिणी का आशय बहुत स्पष्ट नहीं है लेकिन शायद यह आशय है कि शलाका यानी सींखचा लगी हुई भवन से लटकने वाली होती हैं क्योंकि घंटा सींखचे के सहार छत से लटकाया जाता है।

प्रासादसंबद्धा और दण्डे धृत्वा से घंटे के दो प्रकार सूचित होते हैं। एक तो देवालय आदि में छत से लटकाया जाने वाला और दूसरा हाथ में पकड़ा जाने वाला। इनमें से पहले में घंटे के बीच के खोखले भाग में नीचे लटकता हुआ दोलक घंटे के पात्र पर हाथ से टकरा कर बजाया जाता है। दूसरे प्रकार में घंटे के मूल में लगे दंड को हाथ में पकड़कर घंटे को हिलाकर बजाया जाता है। जिससे दोलक अपने आप घंटे से टकराता है। दोनों में टणत्कार यानी टण् टण् की ध्वनि उत्पन्न होती है।

घंटा का लक्षण समाप्त

(क्षुद्रघण्टिका)

तैक्ष्णगोलकगर्भाः स्युः कांस्योद्भवपुटद्वयाः॥ ११८९॥

सुघनाः सूक्ष्मजातीयबदरीबीजसंमिताः।
शिरःसुषिरविन्यस्तरज्जवः क्षुद्रघण्टिकाः॥ ११९०॥

ताश्च घर्घरिका लोके भाष्यन्ते मर्मरास्तथा।
ताभिर्घर्घरभेदानां कृतिः पेरणिनर्तने॥ ११९१॥

इति क्षुद्रघण्टिकालक्षणम्

४—क्षुद्रघंटिका

११८९ ग-११९१. (अ०) कांस्य-उद्भवपुटद्वयाः (क्षुद्रघंटिका) काँसे से उत्पन्न (बने हुए) दो पुट (और) तैक्ष्णगोलकगर्भाः लोहे की बनी गोली युक्त गर्भ (भीतर के खोखले भाग) वाली स्युः होती हैं। सुघनाः मज़बूत सूक्ष्मजातीयबदरीबीजसंमिताः छोटी जाति के बेर के बीज के बराबर शिरःसुषिरविन्यस्तरज्जवः सिर के छेद में डाली हुई डोरियों वाली क्षुद्रघण्टिकाः क्षुद्रघंटिकाएँ (होती हैं) ताः च और वे लोके लोक में घर्घरिकाः घर्घरिका तथा मर्मराः और मर्मरा भाष्यन्ते कही जाती हैं। घर्घरभेदानां घर्घर भेदों की ताभिः उन (क्षुद्रघंटिकाओं) से पेरणिनर्तने पेरणि नर्तन में कृतिः कार्य (उपयोग होता है)।

(सर०) तीक्ष्ण का अर्थ सिंह० ने विशेष प्रकार का लोहा दिया है। क्षुद्रघंटिका का अर्थ है छोटी घंटी। घर्घरिका वर्तमान घुँघरू है।

नर्तनाध्याय में नर्तन के प्रकारों में एक पेरणि कहा गया है जिसमें नर्तक कमर में घुँघरुओं का जाल बाँधकर नृत्य करता है।

क्षुद्रघंटिका का लक्षण समाप्त

(जयघण्टा)

कांस्यजा हस्तमात्रा स्यात् पिण्डे त्वर्धाङ्गुला घना।
जयघण्टा समा श्लक्ष्णा वृत्ता प्रान्ते द्विरन्ध्रभाक्॥ ११९२॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

धृत्वा तद्रन्ध्रविन्यस्तरज्जौ तां वामपाणिना।
दक्षिणे दक्षिणस्थेन दृढकोणेन वादयेत्॥ ११९३॥

डेंकारबहुलाः पाटाः सर्वेऽस्याः शार्ङ्गिणोदिताः।

इति जयघण्टालक्षणम्

५—जयघंटा

११९२-११९४ ख. (अ०) जयघण्टा जयघंटा कांस्यजा काँसे से उत्पन्न (बनी), हस्तमात्रा एक हाथ (नाप) वाली, पिण्डे तु मोटाई में तो अर्ध-अङ्गुला आधे अंगुल वाली, घना ठोस, समा समान (आकार वाली), श्लक्ष्णा चिकनी, वृत्ता गोल, प्रान्ते सिरे पर द्विरन्ध्रभाक् दो छेद वाली, तत्-रन्ध्रविन्यस्तरज्जौ उन छेदों में डाली गई डोरी पर तां उस (जयघंटा) को वामपाणिना धृत्वा बायें हाथ से पकड़कर दक्षिणस्थेन दाहिने हाथ में स्थित (पकड़े हुए) दृढकोणेन मज़बूत कोण से दक्षिणे दाहिने (भाग) पर वादयेत् बजाना चाहिये। शार्ङ्गिणा शार्ङ्गदेव के द्वारा अस्याः इसके सर्वे पाटाः सभी पाट डेंकारबहुलाः प्रचुर डेंकार वाले उदिताः कहे गये हैं।

(सर०) जयघंटा बिना उठे किनारे वाली चपटी थाली के आकार का होता है जिसके एक किनारे पर दो छेदों में से मोटी डोरी डालकर उसे बायें हाथ में लटकता हुआ पकड़ा जाता है और दाहिने हाथ के कोण से उस पर प्रहार किया जाता है। मंदिरों में यह आज भी इसी तरह बजता है लेकिन लकड़ी की मोटी डंडी से प्रहार किया जाता है।

जयघंटा का लक्षण समाप्त

(कम्रा)

खादिरं घनवेणूत्थं यद्वा कम्राचतुष्टयम्॥ ११९४॥

श्लक्ष्णं द्व्यङ्गुलविस्तारं द्वादशाङ्गुलदैर्घ्यकम्।
मध्ये पिण्डो यथाशोभं किंचिन्न्यूनस्ततोऽन्तयोः॥ ११९५॥

यस्य तत्कम्रिकावाद्यं तत्र द्वे द्वे तु कम्रिके।
एकैकहस्तन्यस्ते ये तयोरेकैककम्रिकाम्॥ ११९६॥

मध्यमाङ्गुष्ठयोर्मूले धृत्वा प्रान्ते तयोः पुनः।
अपरामपरां धृत्वा शिथिलां वादयेद्धिया॥ ११९७॥

कम्पेन मणिबन्धस्य कम्रिकावादनं मतम्।
पाटाः किटकिटामुख्यास्तत्र पाटान्तराण्यपि॥ ११९८॥

६—कम्रा

११९४ ग-११९८. (अ०) खादिरं खैर का यत् वा या घनवेणु-उत्थं ठोस बाँस से उत्पन्न (बना) कम्राचतुष्टयं कम्रा का चार का समूह श्लक्ष्णं चिकना, द्वि-अङ्गुलविस्तारं (हरेक) दो अंगुल चौड़ा, द्वादश-अङ्गुलदैर्घ्यकं बारह अंगुल लंबाई वाला, मध्ये बीच में पिण्डः मोटापन (मोटाई) यथाशोभं जिस तरह शोभा (हो उसके अनुरूप), ततः अन्तयोः उसके दोनों सिरों पर यस्य जिसका (मोटापन) किंचित् न्यूनः कुछ कम (हो) तत् वह कम्रिकावाद्यं कम्रिका (कम्रा) वाद्य (होता है)। तत्र उनमें से एक-एकहस्तन्यस्ते एक-एक हाथ में रखी ये जो द्वे द्वे तु कम्रिके दो-दो तो कम्रिकाएँ तयोः उनमें से एक-

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

एककम्रिकाम् एक-एक कम्रिका को मध्यमा-अङ्गुष्ठयोः मध्यमा और अँगूठे के मूले धृत्वा मूल में धारण करके (रख कर) पुनः तयोः प्रान्ते फिर उन (अँगूठे और उँगली) के सिरों में अपराम् अपरां दूसरी-दूसरी को शिथिलां धृत्वा ढीली (हल्के से) पकड़ कर धिया बुद्धि (समझदारी) से वादयेत् बजाना चाहिये। मणिबन्धस्य कम्पेन कलाई के कंप से कम्रिकावादनं मतं कम्रिका का वादन माना गया (है)। तत्र उसमें किटकिटामुख्याः पाटाः किटकिटा मुख्य पाट होते हैं पाटान्तराणि अपि (और) दूसरे पाट भी (होते हैं)।

(सर०) एकसे चार हिस्सों वाला यह वाद्य आज भी भारत के विभिन्न प्रदेशों में अलग-अलग नाम और पकड़ने के ढंग में कुछ अन्तर से लोकवाद्य के रूप में बजाया जाता है। राजस्थान की संगीतजीवी जातियों में खड़ताल के नाम से बड़ा प्रचलित वाद्य है और वादन शैली बड़ी विविधता वाली और अत्यन्त आकर्षक है। इसे बजाने में बड़े कौशल की ज़रूरत होती है इसीलिये ग्रन्थकार ने धिया कहा।

कम्राणामन्तरं कृत्वानामया दक्षिणस्थया।
तलघाताङ्गुष्ठमुष्टेर्वामस्येत्यपरे जगुः॥ ११९९॥

इति कम्रालक्षणम्

११९९. (अ०) दक्षिणस्थया अनामया दाहिने (हाथ) की अनामिका (उँगली) से कम्राणाम् अन्तरं कृत्वा कम्राओं (के बीच) में दूरी करके (और) वामस्य बायें (हाथ) के तलघात-अङ्गुष्ठमुष्टेः अँगूठे (और) मुट्ठी का हथेली पर आघात (करके बजाना चाहिये) इति ऐसा अपरे जगुः दूसरे आचार्य कहते हैं।

कम्रा का लक्षण समाप्त

(शुक्तिवाद्यम्)

सर्पाकृतिरथो निम्ना कांस्यजा लोहजाथवा।
शुक्तिस्त्र्यङ्गुलविस्तारा सार्धहस्तद्वया मता॥ १२००॥

तिर्यग्रेखाराजिता च मृगशृङ्गोपमेन सा।
ऋजुना लोहकोणेन सरेखेन विघर्षणात्॥ १२०१॥

वाद्यते किरिकिट्टेति पाटा यक्षास्तु देवताः।
यतिमात्रावबोधेऽत्रेत्युक्तं निःशङ्कसूरिणा॥ १२०२॥

किरिकिट्टकमित्युक्तं तल्लोके रुद्रवल्लभम्।

इति शुक्तिवाद्यम्

७—शुक्ति

१२००-१२०३ ख. (अ०) अथः शुक्तिः शुक्ति सर्प-आकृतिः साँप के आकार वाली, निम्ना नीची, कांस्यजा अथवा लोहजा काँसे या लोहे से उत्पन्न (बनी हुई), त्रि-अङ्गुलविस्तारा तीन अंगुल चौड़ी (और) स-अर्धहस्तद्वया आधे सहित दो (ढाई) हाथ (लंबी) मता मानी गई (है) तिर्यक्रेखाराजिता च और आड़ी रेखाओं से शोभित (होती है)। सा वह मृगशृङ्ग-उपमेन ऋजुना हिरन के सींग जैसे सीधे सरेखेन लोहकोणेन रेखासहित लोहे के कोण से विघर्षणात् वाद्यते घिसकर बजाई जाती है। किरिकिट्ट इति पाटाः (इसमें) किरिकिट्ट ये पाट (होते हैं)। यक्षाः तु देवताः यक्ष तो देवता (हैं)। अत्र इसमें यतिमात्र-अवबोधे सिर्फ़ यति का ज्ञान (होता है) इति ऐसा (यह प्रयोजन) निःशङ्कसूरिणा निःशंक विद्वान् (शार्ङ्गदेव) के द्वारा उक्तं कहा

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

गया। लोके लोक में तत् वह किरिकिट्टकम् इति उक्तं किरिकिट्टक ऐसा (इस नाम से) कहा गया (है) रुद्रवल्लभम् (और यह) रुद्र का प्रिय (है)।

(सर०) तिर्यक्रेखाराजिता और सरेखेन का आशय स्पष्ट नहीं है। राधा० के अनुसार सर्प के आकार वाली शुक्ति के बीच में एक-एक अंगुल के अन्तर पर आधे यव के प्रमाण की ऊँची-ऊँची लीक (लकीर, रेखा) करनी चाहियें और हिरन के सींग के आकार के लोहे के डंके से उन लीकों पर आड़ा तिरछा रगड़कर बजाने से किरिकिट पाटाक्षर उत्पन्न होते हैं।

शुक्ति का लक्षण समाप्त

(पट्टवाद्यम्)

श्रीपर्णीदारुजः पट्टश्चतुरश्रायतो भवेत्॥ १२०३॥

द्वात्रिंशदङ्गुलो दैर्घ्येऽन्यैरुक्तस्त्रिंशदङ्गुलः।
विस्तारो हस्तमात्रः स्यादूर्ध्वाधःस्थितयोर्द्वयोः॥ १२०४॥

लोहमय्योः सरिकयोस्त्रिवृद्रज्जूपमायुजोः।
क्षिप्ताभिस्तादृशक्षुद्रवलयावलिभिर्युतः॥ १२०५॥

वक्षोग्रे जानुनोर्मध्ये यद्वा संधार्य वाद्यते।
अयं च करशाखाग्रै रालालिप्तो विघृष्यते॥ १२०६॥

कखौ थडरटाः पाटाः पाटहाश्चेह संमताः।
सप्तात्र देवमुनयो देवताः शार्ङ्गिणोदिताः॥ १२०७॥

इति पट्टवाद्यम्

८—पट्ट

१२०३ ग-१२०७. (अ०) पट्टः पट्ट श्रीपर्णीदारुजः बेंत की लकड़ी से उत्पन्न (बना) चतुरश्र-आयतः चार कोनों में आयत (आकार) वाला (चौकोना) भवेत् होता है। दैर्घ्ये लंबाई में द्वात्रिंशत्-अङ्गुलः बत्तीस अंगुल (और) अन्यैः दूसरे आचार्यों के द्वारा त्रिंशत्-अङ्गुलः तीस अंगुल वाला उक्तः कहा गया (है)। हस्तमात्रः विस्तारः एक हाथ चौड़ा स्यात् होता है। ऊर्ध्व-अधःस्थितयोः ऊपर नीचे स्थित त्रिवृत्-रज्जु-उपमायुजोः तिहरी रस्सी जैसे द्वयोः दो लोहमय्यः सरिकयोः लोहे की सारिकाओं में क्षिप्ताभिः डाली हुई तादृश वैसी ही क्षुद्रवलय-अवलिभिः युतः छोटे वलयों (छल्लों) की पंक्तियों से युक्त (पट्ट को) वक्षः-अग्रे छाती के सामने यत् वा या जानुनोः मध्ये घुटनों के बीच में (गोद में) संधार्य रख कर वाद्यते बजाया जाता है अयं च और यह राल-आलिप्तः राल लगे करशाखा-अग्रैः हाथ की शाखाओं (अर्थात् उँगलियों) के सिरों से विघृष्यते घिसा जाता है (घिस कर बजाया जाता है)। इह इसमें कखौ क और ख, थडरटाः थ, ड, र और ट पाटहाः पाटाः च और पटह संबन्धी पाट संमताः माने गये (हैं)। अत्र इसमें देवताः देवता सप्त सात देवमुनयः देवर्षि शार्ङ्गिणा उदिताः शार्ङ्गदेव के द्वारा कही गई (कहे गये) हैं।

पट्ट का लक्षण समाप्त

सन्त्यन्यान्यपि वाद्यानि लोके भूयांसि यानि च।
तेषु विस्तारसंत्रासादुदास्ते सोढलात्मजः॥ १२०८॥

इति घनवाद्यलक्षणम्

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

१२०८. (अ०) लोके लोक में यानि च और भी (जो) अन्यानि अपि दूसरे भी भूयांसि वाद्यानि बहुत वाद्य सन्ति होते हैं तेषु उनमें (उनके प्रति) विस्तारसंत्रासात् (ग्रन्थ का) विस्तार होने के भय से सोढल-आत्मजः सोढल का पुत्र (शार्ङ्गदेव) उदास्ते उदासीन रहता है।

घनवाद्य का लक्षण समाप्त

(वाद्यगुणदोषाः)

रक्तं विरक्तं मधुरं समं शुद्धं कलं घनम्।
स्फुटप्रहारः सुभरं विघुष्टं च गुणैरिति॥ १२०९॥

दशभिः संयुतं वाद्यमुक्तं सोढलसूनुना।
अन्वर्थान्यत्र नामानि,

वाद्य के गुण-दोष

१२०९-१२१० ग. (अ०) रक्त, विरक्त, मधुर, सम, शुद्ध, कल, घन, स्फुटप्रहार, सुभर और विघुष्ट इति ये (इन) दशभिः गुणैः संयुतं दस गुणों से युक्त वाद्यं वादन सोढलसूनुना सोढल के पुत्र के द्वारा उक्तं कहा गया (है)। अत्र नामानि ये नाम अन्वर्थानि अन्वर्थ (अर्थ के अनुसार हैं)।

(सर०) ग्रन्थकार ने वाद्यगुणों में से सिर्फ़ सम के भेद और उनके लक्षण दिये हैं, शेष को अन्वर्थ कहकर छोड़ दिया है। सिंह० के अनुसार गुणनामों के अर्थ इस प्रकार हैं। रक्त—रंजक, विरक्त—विभिन्न (अलग-अलग हुआ), मधुर—माधुर्य, शुद्ध—असंसृष्ट (अमिश्रित), कल—सूक्ष्म, घन—ससार (सारयुक्त), स्फुटप्रहार—व्यक्त ध्वनि, सुभर—सुराग, विघुष्ट—गंभीर।

राधा० में वाद्य के लिये बाजा (वाद्ययन्त्र) शब्द का प्रयोग करते हुए चारों बाजों के दस गुण कहे हैं। गुणों का विवरण इस प्रकार है—

रक्ति (रक्त)—जहाँ जिसकी ध्वनि कान को प्रिय लगे।

विरक्त—दूसरे वाद्यों के साथ बजने पर भी जो अपना रस दिखाये।

मधुर—जिसकी ध्वनि मधुर हो।

शुद्ध—जो वाद्य शास्त्र और लोक की रीति से बने।

कल—जो गीत के अनुसार बजे यानी अकारादि अक्षरों के बिना उन अक्षरों की नकल (अनुकरण) करके अनुरंजन करे।

घन—जो ध्वनि की गंभीरता से दूर-दूर तक सुनाई दे।

स्फुटप्रहार—जिसका ताडन (प्रहार) प्रगट (स्पष्ट) समझ में आये।

सुभर—जिसकी गुंजार से कंठ की ध्वनि मनोहर लगे।

विघुष्ट—जो बजाने और सुनने में उदासीनता को दूर करके मनोरंजन (मन का रंजन) करे।

समं त्वष्टविधं मतम्॥ १२१०॥

अक्षराद्यङ्गपूर्वं च तालादि यतिपूर्वकम्।
लयादि न्यासापन्यासपूर्वं पाणिसमं तथा॥ १२११॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

१२१० घ-१२११. (अ०) समं तु सम तो अष्टविधं मतम् आठ प्रकार का माना गया है—अक्षर-आदि अङ्गपूर्वं च अक्षर शुरू में है जिसके (अर्थात् अक्षरसम) और अंगसम, ताल-आदि तालसम, यतिपूर्वकं यतिसम, लय-आदि लयसम, न्यास-अपन्यासपूर्वे न्याससम और अपन्याससम तथा पाणिसमम् और पाणिसम।

स्यादक्षरसमं गीतगुरुलघ्वक्षरानुगम्।
गीतस्य ग्रहमोक्षादीन्यङ्गान्यत्रेति यत्पुनः॥ १२१२॥

स्यात् तदङ्गसमं तालानुगं तालसमं मतम्।
यतेर्लयस्य न्यासस्यापन्यासस्य च साम्यतः॥ १२१३॥

यत्यादिपूर्वकं ज्ञेयं क्रमात् समचतुष्टयम्।
गीतग्रहैः पाणिसंज्ञैः समं पाणिसमं मतम्॥ १२१४॥

वाद्यस्यैते गुणाः प्रोक्ता दोषः स्यात् तद्विपर्ययः।

इति वाद्यगुणदोषाः

१२१२-१२१५ ख. (अ०) गीतगुरुलघु-अक्षर-अनुगं गीत के गुरु-लघु अक्षरों का अनुसरण करने वाला अक्षरसमम् अक्षरसम स्यात् होता है। यत् पुनः और जो गीतस्य गीत का (के) ग्रहमोक्ष-आदीनि-अङ्गानि इति ग्रह (आरंभ) मोक्ष (समाप्ति) आदि—इन अंगों का अत्र स्यात् यहाँ (अनुसरण) होता है तत् वह अङ्गसमम् अंगसम (होता है)। ताल-अनुगं ताल का अनुगमन करने वाला तालसमं मतं तालसम माना गया है। यतेः लयस्य यति के, लय के, न्यास-अपन्यासस्य च न्यास और अपन्यास के साम्यतः साम्य से क्रमात् क्रम से यति-आदिपूर्वकं यति आदि पूर्व वाला समचतुष्टयं सम का चार का समूह (अर्थात् यतिसम, लयसम, न्याससम और अपन्याससम) ज्ञेयं जानना चाहिये। पाणिसंज्ञैः पाणि नाम से गीतग्रहैः समं गीत के ग्रहों के द्वारा होने वाला सम पाणिसमं मतं पाणिसम माना गया है। एते ये वाद्यस्य वाद्य के गुणाः प्रोक्ताः गुण कहे गये हैं। तत् विपर्ययः उनका उल्टा दोषः स्यात् दोष होता है।

(सर०) सम के जो आठ भेद हैं वे गीत के साथ वादन के संबन्ध के आधार पर कहे हैं, यह सम के भेदों के लक्षणों से प्रकट है।

वाद्य के गुण-दोष समाप्त

(वादकगुणदोषाः)

हस्तकोणप्रहारज्ञो गीतवादनकोविदः॥ १२१५॥

यतितालालयाभिज्ञः पाटज्ञः पञ्चसञ्चवित्।
दशहस्तगुणोपेतः पात्राभिप्रेतवादकः॥ १२१६॥

आतोद्यध्वनितत्वज्ञः समादिग्रहवेदिता।
गीतवादननृत्यस्थच्छिद्रच्छादनपण्डितः॥ १२१७॥

ग्रहमोक्षप्रदेशज्ञो गीतनृत्तप्रमाणवित्।
वाद्ये समस्तभेदज्ञो रूपरेखान्वितस्तथा॥ १२१८॥

उद्घट्टनपटुः सर्ववाद्यभेदविवेचकः।
नादवृद्धिक्षयापत्तिकोविदो वादको वरः॥ १२१९॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

गुणैः कतिपयैर्हीनः सर्वैर्वा वादकोऽधमः।

इति वादकगुणदोषाः

वादक के गुण-दोष

१२१५ ग-१२२० ख. (अ०) हस्तकोणप्रहारज्ञः हाथ (और) कोण के (सही) प्रहार को जानने वाला, **गीतवादनकोविदः** गीत के वादन में निष्णात, **यतिताललय-अभिज्ञः** यति, ताल (और) लय को पूरी तरह जानने वाला, **पाटज्ञः** पाटों का ज्ञाता, **पञ्चसञ्चवित्** (अवनद्ध वादन संबन्धी) पाँच संचों का वेत्ता, **दशहस्तगुण-उपेतः** हाथ के दस गुणों से समन्वित, **पात्र-अभिप्रेतवादकः** पात्र (नर्तकी) के अभिप्रेत का वादन करने वाला, **आतोद्यध्वनितत्त्वज्ञः** वाद्यों की ध्वनि के तत्त्व का ज्ञाता, **सम-आदिग्रहवेदिता** सम आदि ग्रहों का ज्ञान, **गीतवादननृत्यस्थच्छिद्रच्छादनपण्डितः** गीत, वादन (और) नृत्य के दोषों को ढकने में पटु, **ग्रहमोक्षप्रदेशज्ञः** ग्रह-मोक्ष के स्थान को जानने वाला, **गीतनृत्तप्रमाणवित्** गीत-नृत्त के (ताल-)प्रमाण का वेत्ता, **वाद्ये समस्तभेदज्ञः** वाद्य (वादन) में सारे भेदों का ज्ञाता तथा **रूपरेखा-अन्वितः** और रूपरेखा (अंगसौष्ठव) से संपन्न, **उद्घट्टनपटुः** मुँह से पाटाक्षर बोलने में पटु, **सर्ववाद्यभेदविवेचकः** सारे वाद्ययन्त्रों के प्रकारों में विवेक (अन्तर) करने वाला, **नादवृद्धिक्षय-आपत्तिकोविदः** नाद की वृद्धि (बढ़ाने) और क्षय (कम) को प्राप्त करने में निष्णात **वादकः वरः** वादक श्रेष्ठ (होता है)। **कतिपयैः सर्वैः वा** कुछ या सारे **गुणैः हीनः** गुणों से हीन **वादकः अधमः** वादक अधम (होता है)।

(सर०) वादक के गुणों में गीत, वाद्य, नृत्त तीनों से संबद्ध गुण आ गये हैं क्योंकि वादन इन तीनों के साथ होता है।

हाथ से आघात तो सभी वाद्यों में होता है लेकिन मुख्यतः अवनद्धों में और कुछ तत व घन वाद्यों में भी कोण से प्रहार किया जाता है। दस हस्तगुण अगले श्लोकों में कहे जाएँगे। नर्तकी के अभिप्रेत का वादन कहा गया, गायक का नहीं क्योंकि नर्तकी का कार्य गायक, वादक से भिन्न प्रकार का होता है। लेकिन छिद्राच्छादन तीनों से संबन्ध रखता है इसलिये गीत, वादन, नृत्य तीनों के दोष ढकने में पटु होना चाहिये।

सिंह० ने **पञ्चसञ्चवित्** का अर्थ गीत, वाद्य, नृत्त, ग्रह, मोक्ष—इन पाँच रन्ध्रों को जानने वाला दिया है। ग्रन्थकार का अभिप्राय अवनद्ध संबन्धी पाँच संचों से है।

गुणैः कतिपयैः..........अधमः को कल्लि० ने इस तरह समझा है कि उक्त गुणों से युक्त वादक श्रेष्ठ, कुछ गुणों से हीन (कम होने पर) मध्यम और सब गुणों से हीन को अधम माना जाता है। सिंह० ने उन गुणों से युक्त वादक को उत्तम, कुछ गुणों से युक्त या हीन को मध्यम और सब गुणों से हीन को अधम कहा है।

वादक के गुण-दोष समाप्त

(हस्तगुणाः)

वाञ्छानुगौ दृढौ व्यक्तौ स्निग्धौ दृढनखौ लघू॥ १२२०॥

विधेयाङ्गुलिसञ्चारौ स्वेदहीनौ जितश्रमौ।
युक्तप्रहारौ च करौ प्रोक्तौ दशगुणाविति॥ १२२१॥

इति हस्तगुणाः

हाथ के गुण

१२२० ग-१२२१. (अ०) वाञ्छा-अनुगौ (वादक की) इच्छा का अनुसरण करने वाले, **दृढौ** दृढ़ (बलवान्), **व्यक्तौ** स्पष्टता वाले, **स्निग्धौ** स्निग्ध, **दृढनखौ** मजबूत नख वाले, **लघू** हल्के, **विधेय-अङ्गुलिसंचारौ** अधीन (स्वाधीन) अंगुलिसंचालन

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

वाले, स्वेदहीनौ पसीने से रहित, जितश्रमौ श्रम जीते हुए युक्तप्रहारौ च और योग्य (सही) प्रहार (करने) वाले इति ये (इन) दशगुणौ करौ दस गुण वाले हाथ प्रोक्तौ कहे गये हैं।

(सर०) वाञ्छानुग यानी वादक जैसा चाहे उस तरह चलना, व्यक्त अर्थात् स्पष्ट प्रहार करने वाले, स्निग्ध यानी कोमलता से चलने वाले, लघु अर्थात् हल्केपन से वादन करने में सक्षम, स्वेदहीन यानी बजाते समय पसीना न आये, जितश्रम यानी बजाने के श्रम से न थकने वाले, युक्तप्रहार यानी जैसा चाहिये वैसा ही प्रहार होना।

मूलपाठ 'विधायाङ्गुलिसंचारौ' है। लेकिन 'विधाय' से संगत अर्थ प्राप्त नहीं होता। सिंह० ने 'विधेयः अधीनः अङ्गुलिसंचारो यथा'—यह अर्थ दिया है। इसके अनुसार उँगलियों का संचालन विधेय यानी अधीन (स्वाधीन) होना—यह संगत अर्थ मिलता है। तदनुसार हमने मूलपाठ विधेयाङ्गुलिसंचारौ रखा है।

इति श्रीमदनवद्यविद्याविनोदश्रीकरणाधिपतिश्रीसोढल-
देवनन्दननिःशङ्कशार्ङ्गदेवविरचिते संगीतरत्नाकरे
वाद्याध्यायः षष्ठः समाप्तः

श्रीमत् अनवद्य-विद्याविनोद श्रीकरणाधिपति श्रीसोढलदेवनन्दन
निःशङ्क श्रीशार्ङ्गदेव द्वारा विरचित
संगीतरत्नाकर का छठा
वाद्याध्याय समाप्त

*

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

संदर्भग्रन्थ-सूची

१. अष्टाध्यायी, पाणिनि।
२. दत्तिलम्, दत्तिल, संगीत कार्यालय, हाथरस, १९६०।
३. नाट्यशास्त्र, भरत (अभि० सहित), ओरियण्टल इन्स्टीट्यूट, बड़ौदा
प्रथम खण्ड, संपा० ऍम्० रामकृष्ण कवि
चतुर्थ खण्ड, संपादक ऍम्० रामकृष्ण कवि और जे०ऍस्० पदे, १९६४
४. भरतभाष्य, नान्यदेव, गवर्नमेण्ट ओरियण्टल मैन्युस्क्रिप्ट्स लाइब्रेरी, मद्रास की प्रतिलिपि
५. भारतीय संगीत में निबद्ध, सुभद्रा चौधरी, राधा पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली, २००४
६. मानसोल्लास, भाग ३, सोमेश्वर, संपा० जी०के० श्रीगोंडेकर, ओरियंटल इंस्टीट्यूट, बड़ौदा, १९६१
७. याज्ञवल्क्यस्मृति (मिताक्षर टीका सहित), याज्ञवल्क्य, संपा० रामनारायण आचार्य, निर्णयसागर प्रेस, बंबई, १९४९
८. राधागोविन्दसंगीतसार, महाराजा प्रतापसिंह देव, बलवन्त त्रयम्बक सहस्रबुद्धे, गायन समाज, पूना, १९१०
९. विष्णुधर्मोत्तरपुराण, तृतीय खण्ड, संपा० प्रियबाला शाह, ओरियण्टल इन्स्टीट्यूट, बड़ौदा, १९५८
१०. संगीतरत्नाकर, शार्ङ्गदेव, (१) (कलानिधि टीका सहित) संपा० मंगेश रामकृष्ण तेलंग, आनन्दाश्रम, पुणे, १९४२
(२) आड्यार लाइब्रेरी, मद्रास, संपा० ऍस्० सुब्रह्मण्य शास्त्री, प्रथम खण्ड, १९४३
द्वितीय खण्ड, संपा० ऍस्० सुब्रह्मण्य शास्त्री और वी० कृष्णमाचार्य, १९५९
तृतीय खण्ड, संपा० ऍस्० सुब्रह्मण्य शास्त्री १९५१ और द्वितीय संस्करण, १९८६
चतुर्थ खण्ड, १९५३
(चारों खण्ड सुधाकर और कलानिधि टीकाओं सहित)
(३) (कलानिधि टीका के अनुवाद/सार और मराठी अनुवाद सहित), ग०हा० तारळेकर, महाराष्ट्र राज्य साहित्य संस्कृति मण्डल, बंबई, प्रथम खण्ड, १९७५, द्वितीय खण्ड, १९७९
(४) प्रथम खण्ड, हिन्दी अनुवाद और व्याख्या, सुभद्रा चौधरी, राधा पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली, २०००
द्वितीय खण्ड, हिन्दी अनुवाद और व्याख्या, सुभद्रा चौधरी, राधा पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली, २००२
११. संगीतसमयसार, पार्श्वदेव, संपा० आचार्य बृहस्पति, श्री कुन्द कुन्दभारती, दिल्ली, १९७७
१२. Musical Forms In Saṅgītaratnākara, N. Ramanathan, Sampradāya, Chennai, 1999

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

सुभद्रा चौधरी (जन्म १९३६)। बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय के संगीतशास्त्र (म्यूज़िकॉलोजी) विभाग से ऍम्. म्यूज़िकॉलोजी, पीऍच्.डी.। पं० ओंकारनाथ ठाकुर से ५ साल तक गायन की शिक्षा।

संगीत की ३० से ज़्यादा विचारगोष्ठियों में शोधपत्र प्रस्तुत। यू.जी.सी. के अनुदान से 'भारतीय संगीत में अनुसन्धान की समस्याएँ और क्षेत्र' विषय पर विचारगोष्ठी का आयोजन। कई विश्वविद्यालयों के संगीत विभागों में और रिफ़्रेशर कोर्सेज़ में व्याख्यान। हॉलेण्ड में सप्रयोग व्याख्यान। रेडियो से वार्ता और फ़ीचर का प्रसारण।

इंदिरा कला संगीत विश्वविद्यालय, खैरागढ़ के संगीतशास्त्र विभाग की पूर्व अध्यक्षा। सेवानिवृत्त प्रौफ़ेसर व विभागाध्यक्षा, संगीतशास्त्र विभाग, बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय।

पुस्तकों का प्रकाशन। प्रमुख—१. भारतीय संगीत में ताल और रूप-विधान, २. संगीत-संचयन, ३. Time Measure and Compositional Types in Indian Music, ४. भारतीय संगीत में निबद्ध, ५. संगीतरत्नाकर, प्रथम खण्ड, 'सरस्वती' व्याख्यासहित हिन्दी अनुवाद, ६. संगीतरत्नाकर, द्वितीय खण्ड, 'सरस्वती' व्याख्यासहित हिन्दी अनुवाद, ७. संगीतरत्नाकर, तृतीय खण्ड, 'सरस्वती' व्याख्यासहित हिन्दी अनुवाद। संपादित—१. भारतीय संगीत में अनुसंधान की समस्याएँ और क्षेत्र, २, ३. पं० ओकारनाथ ठाकुर की 'प्रणवभारती' और 'संगीताञ्जलि-भाग ५' का द्वितीय संस्करणों के लिये संशोधन व संपादन।

Rs. 1200/-

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

राधा पब्लिकेशन्स
4231/1, अंसारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली-110002
फोन : 23261839, 23254306

ISBN 81-7487-409-7
9788174874092

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi